निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(समूलत्थ टिप्पणं)

बीओ भागो

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध-व्यवस्थापक

साहित्य प्रकाशन समिति

(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा)

३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता १

धारक

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक

सरावगी चेरिटेबल फण्ड

२४ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७

प्रकाशन तिथि

माघ महोत्सव, सं० २ २०

(माघ शुक्ला ७ मी)

सं० २०२०

प्रति संख्या

११००

पृष्ठांक

७८८

मूल्य

२५)

मुद्रक

रेफिल आर्ट प्रेस

३१ बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-१

प्रकाशकीय

बहु अपेक्षित दसवेआलियं (दशवैकालिक) आगम जनता के हाथ में है। परमपूज्य आचार्यदेव एवं उनके आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तरकारी है, अतिशयोक्ति नहीं तथ्य है। बहु-मुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य तुलसी ज्ञान-क्षितिज के भी एक महा हैं, और उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों से तपोपुञ्ज है, यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत होता है।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में चिर अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, । सक. दो-तीन को ही नहीं अचिन्त्य भावी पीढ़ियों को प्राप्त रहेगा। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना नहीं, फलवती और रसवती भी हुई है।

दशवैकालिक का दूसरा भाग प्रथम भाग के पूर्व प्रकाशित हो रहा है। यह क्रम-भङ्ग है। इसका कारण प्रथम भाग में मूल पाठ, पाठान्तर और विस्तृत अध्ययन और अनेक परिशिष्ट हैं। इस दूसरे भाग में पाठान्तर नहीं और न पाठान्तरों का परिशिष्ट ही। इसका कारण यह है कि यह विषय प्रथम भाग में चर्चित है। वहाँ जो विस्तृत वह प्रस्तुत भाग की भूमिका का परिपूरक है। तीसरे भाग में दशवैकालिक पर चूर्णि की कथाएँ मूल और हिन्दी अनु- प्रस्तुत की गई हैं। इस तरह यह आगम तीन भागों में पूरा हुआ है।

इस भाग के लगभग ८०० पृष्ठों का काम लघु-सा लगता है—यह एक सत्य है। पर अन्तरङ्ग कठिनाइयों को दे.. कार्य अत्यन्त दुरूह रहा है—यह दूसरा सत्य है। अनेक कठिनाइयों के अतिक्रम के बाद आखिर कार्य सम्पन्न हो । यह है। मुद्रण मे जो कहीं भी कोई स्खलना रही, वह मेरी है। इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

पाण्डुलिपि-प्रणयन

आगम की पाण्डुलिपि का संकलन और धारण एक अत्यन्त कष्ट-साध्य कार्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने का आदर्श साहित्य सघ ने उठाया और अपने ही व्यय से उसे पूरा किया, इसके लिए महासभा एवं समिति उसके चाल. चिर कृतज्ञ रहेगी।

आदर्श साहित्य संघ भारतीय-संस्कृति, जैन-दर्शन एवं वाङ्मय के व्यापक प्रचार-प्रसार का अभिप्रेत लिए पन्द्रह स्पृहणीय कार्य कर रहा है। आगम-संकलन कार्य को सहर्ष स्वीकार कर संघ ने अपनी कार्य-परम्परा को आगे गौरवान्वित किया है। हम आशा करते हैं कि यह महत्तपूर्ण योगदान भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा।

अर्थ-व्यवस्था

इस आगम के मुद्रण-खर्च का भार श्री रामकुमारजी सरावगी की प्रेरणा से श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड, कलकत्ता ने श्री प्यारेलालजी सरावगी, गोविन्दलालजी सरावगी, सज्जनकुमारजी सरावगी एवं कमलनयनजी सरावगी ट्रस्टी किया है।

इस आगम की बिक्री से जो निधि उपलब्ध होगी, वह अलग रखी जायगी तथा वह भविष्य में इसी आगम आगम-साहित्य के प्रकाशन-कार्य में लगाई जायगी।

R

प्रबन्ध-व्यवस्थापक

साहित्य प्रकाशन समिति

(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा)

३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता १

धारक

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक

मगाधगी चेरिटेबल फण्ड

२४ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७

प्रकाशन तिथि

माघ महोत्सव, सं० २०२०

(माघ शुक्ला ७ मी)

सं० २०२०

प्रति संख्या

११००

पृष्ठांक

७८८

मूल्य

२५)

मुद्रक

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१ बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-१

निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(समूलत्थ टिप्पणं)

बीओ भागो

श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड का यह आर्थिक अनुदान स्वर्गीय स्वनामधन्य श्रावक श्री महादेवलालजी सरावगी एवं उनके सुयोग्य दिवंगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी एम० पी० की स्मृति में प्राप्त हुआ है। स्व० महादेवलालजी सरावगी तेरापंथ-सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य श्रावक थे और कलकत्ता के प्रसिद्ध अधिष्ठान महादेव रामकुमार से सम्बन्धित थे। स्व० पन्नालालजी सरावगी एम० पी० महासभा एवं साहित्य प्रकाशन समिति के बड़े उत्साही एवं प्राणवान् सदस्य रहे। आगम प्रकाशन योजना में उनकी आरंभ से ही अत्यन्त अभिरुचि रही।

साहित्य प्रकाशन समिति का गठन ता० १०-६ ६२ के दिन हुआ। महासभा के सभापति (पदेन)—श्री जबरमलजी भण्डारी, श्री पन्नालालजी सरावगी, श्री प्रभुदयालजी डाबड़ीवाला, श्री सुगनचन्दजी आँचलिया, श्री हनूतमलजी सुराना, श्री जयचन्द लालजी दफ्तरी श्री मोहनलालजी बाँठिया, श्री जयचन्दलालजी कोठारी, श्री सन्तोषचन्दजी बरड़िया, श्री मानिकचन्दजी सेठिया एवं संयोजक इसके सदस्य चुने गये। खेद है कि श्री सुगनचन्दजी आँचलिया एवं श्री पन्नालालजी सरावगी आज हमारे बीच नहीं रहे।

सभी सदस्यों का अपने-अपने ढंग से प्रकाशन-कार्य में सहयोग रहा, उसके लिए मैं सबके प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में जिन जिन ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है, उनके लेखक, सम्पादक एवं प्रकाशकों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आशा है दसवेआलिय का यह संस्करण पाठकों की दृष्टि में समुचित स्थान प्राप्त करेगा।

साहित्य-प्रकाशन-समिति
(जै० श्वे० तेरापंथी महासभा)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१
७ जनवरी, १९६४

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक

स म र्प ण

॥१॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग मे प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

॥२॥

विलोडिय आगम दुद्ध मेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं।
सज्झाय सज्झाण रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

॥३॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल सघ मे मेरे मन मे।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन मे,
कालुगणी को विमल भाव से॥

विनयावनत

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुज को ७-
और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्‍
जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन
शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे
धर्म-परिवार उस कार्य मे सलग्न हो गया। अत मेरे इस अन्तस्तोष मे मैं उन सबको समभागी वनाना चाहता हूँ, जो
मे सविभागी रहे हैं। संक्षेप मे वह सविभाग इस प्रकार है :

विवेचक और सम्पादक	: :	मुनि नथमल
विशिष्ट सहयोगी	: :	मुनि मीठालाल
	:	मुनि दुलहराज
पाठ-संपादन	: :	मुनि सुदर्शन
	: .	मुनि मधुकर
	: :	मुनि हीरालाल
संस्कृत छाया	· :	मुनि सुमेर
शब्द-सूची	: ·	मुनि श्रीचन्द्र
	:	साध्वी राजीमती
	· :	साध्वी कमलश्री
प्रतिलिपि	: ·	मुनि सुमन
	: :	मुनि हसराज
	:	मुनि बसत

सविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना सविभाग समर्पित किया
सबको मै आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

आचार्य ६

भूमिका

आलोच्य विषय

भूमिका

आलोच्य विषय

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

ज्ञान पाँच है—मति श्रुत अवधि मनःपर्यव और केवल। इनमें चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार विनिमय और प्रतिपादन होता है।[1] व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक—दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ में होता है। अतएव उसके चौदह विकल्प बनते हैं —

(१) अक्षर-श्रुत।
(२) अनक्षर-श्रुत।
(३) संज्ञी-श्रुत।
(४) असंज्ञी-श्रुत।
(५) सम्यक्-श्रुत।
(६) मिथ्या-श्रुत।
(७) सादि-श्रुत।
(८) अनादि-श्रुत।
(९) सपर्यवसित-श्रुत।
(१०) अपर्यवसित-श्रुत।
(११) गमिक-श्रुत।
(१२) अगमिक-श्रुत।
(१३) अंगप्रविष्ट-श्रुत।
(१४) अनंगप्रविष्ट श्रुत।

संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद' और बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन-शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है। आगम के कर्त्ता विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। इसलिए शेष साहित्य से उनका वर्गीकरण भिन्न होता है।

कालक्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का निरूपण है। दूसरा वर्गीकरण अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख मात्र है। तीसरा वर्गीकरण नन्दी का है वह विस्तृत है। जान पड़ता है कि समवायांग और अनुयोगद्वार का वर्गीकरण प्रासङ्गिक है। नन्दी का वर्गीकरण आगम की सारी शाखाओं का निरूपण करने के ध्येय से किया हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—अनुयोगद्वार सूत्र २: तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति सुयनाणस्स उद्देसो... अणुओगो य पवत्तइ।

२—नन्दी सूत्र ३८: से किं तं सुयनाणपरोक्खं? चोद्दसविहं पण्णत्तं तं जहा अक्खरसुयं... अणंगपविट्ठं।

आगम
अंगप्रविष्ट
आचार
सूत्रकृत्
स्थान
समवाय
व्याख्याप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा
उपाशकदशा
अन्तकृतदशा
अनुत्तरोपपातिकदशा
प्रश्नव्याकरण
विपाक
दृष्टिवाद
अंगबाह्य
आवश्यक
सामायिक
चतुर्विंशतिस्तव
वन्दना
प्रतिक्रमण
कायोत्सर्ग
प्रत्याख्यान
आवश्यक व्यतिरिक्त
कालिक
उत्तराध्ययन
दशाश्रुतस्कध
कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति
महल्लिका विमान-प्रविभक्ति
अङ्गचूलिका
वर्गचूलिका
विवाहचूलिका
अरुणोपपात
वरुणोपपात
गरुलोपपात
धरणोपपात
वेसमणोपपात
वेलन्धरोपपात
देविन्दोपपात
उत्थानश्रुत
समुत्थानश्रुत
नागपरियापनिका
निरयावलिका
कल्पिका
कल्पावतसिका
पुष्पिका
पुष्पचूलिका
वृष्णिदशा
उत्कालिक
दशवैकालिक
कल्पिकाकल्पिक
चुल्लकल्पश्रुत
महाकल्पश्रुत
औपपातिक
राजप्रश्नीय
जीवाभिगम
प्रज्ञापना
महाप्रज्ञापना
प्रमादाप्रमाद
नन्दी
अनुयोगद्वार
देवेन्द्रस्तव
तन्दुलवैचारिक
चन्द्रकवेध्यक
सूर्यप्रज्ञप्ति
पौरुषीमण्डल
मण्डलप्रवेश
गणिविद्या
ध्यानविभक्ति
मरणविभक्ति
आत्मविशोधि
वीतरागश्रुत
सलेखनाश्रुत
विहारकल्प
चरणविधि
आतुरप्रत्याख्यान
महाप्रत्याख्यान

दृष्टिवाद

- (६) विप्रहाण श्रेणिका
  - पृथक् आकाश पद
  - केतुभूत
  - राशिवद्ध
  - एकगुण
  - द्विगुण
  - त्रिगुण
  - केतुभूत
  - प्रतिग्रह
  - ससार-प्रतिग्रह
  - नन्दावर्त
  - विप्रहाणावर्त
- (७) च्युताच्युत श्रेणिका
  - पृथक् आकाश पद
  - केतुभूत
  - राशिवद्ध
  - एकगुण
  - द्विगुण
  - त्रिगुण
  - केतुभूत
  - प्रतिग्रह
  - ससार-प्रतिग्रह
  - नन्दावर्त
  - च्युताच्युतावर्त
- सूत्र[1]
  - ऋजुसूत्र
  - परिणतापरिणत
  - वहुभगिक
  - विजय चरित
  - अनन्तर
  - परम्पर
  - समान
  - सयूथ
  - सभिन्न
  - यथात्याग
  - सौवस्तिकघट
  - नन्दावर्त
  - वहुल
  - पृष्टापृष्ट
  - यावर्त
  - एवभूत
  - द्व यावर्त
  - वर्तमान पद
  - समभिरूढ
  - सर्वतोभद्र
  - पन्यास
  - दुष्प्रतिग्रह
- पूर्वगत[2]
  - उत्पाद
  - अग्रायणीय
  - वीर्य
  - अस्तिनास्तिप्रवाद
  - ज्ञानप्रवाद
  - सत्यप्रवाद
  - आत्मप्रवाद
  - कर्मप्रवाद
  - प्रत्याख्यान
  - विद्यानुप्रवाद
  - अवन्ध्य
  - प्राणायु
  - क्रियाविशाल
  - लोकविन्दुसार
- अनुयोग[3]
  - मूलप्रथमानुयोग
  - गंडिकानुयोग[4]
    - कुलकर गडिका
    - तीर्थंकर गडिका
    - चक्रवर्ती गडिका
    - दशार्ह गडिका
    - बलदेव गडिका
    - वासुदेव गडिका
    - गणधर गडिका
    - भद्रबाहु गडिका
    - तप कर्म गडिका
    - हरिवश गडिका
    - अवसर्पिणी गडिका
    - उत्सर्पिणी गडिका
    - चित्रान्तर गडिका
- (चूलिका)
  - उत्पादपूर्व — चार चूलिकायें
  - अग्रायणीय — वारह चूलिकायें
  - वीर्य — आठ चूलिकायें
  - अस्तिनास्तिप्रवाद — दस चूलिकायें

१—नदी सूत्र ६६। २—नदी सूत्र १०१। ३—नदी सूत्र ११६। ४—नदी सूत्र ११८। ५—चार पूर्वो के चूलिकायें हैं, शेष पूर्वो के चूलिकायें नहीं है। नदी सूत्र ११९।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है [1] :—

आगम

- अंगप्रविष्ट
  - आचार
  - सूत्रकृत्
  - स्थान
  - समवाय
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - ज्ञात धर्मकथा
  - उपासकदशा
  - अन्तकृद्दशा
  - अनुत्तरोपपातिकदशा
  - प्रश्नव्याकरण
  - विपाक
  - दृष्टिवाद
    - परिकर्म
      - चन्द्रप्रज्ञप्ति
      - सूर्यप्रज्ञप्ति
      - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
      - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
      - व्याख्याप्रज्ञप्ति
    - सूत्र
    - प्रथमानुयोग
    - पूर्वगत
      - उत्पाद
      - अग्रायणीय
      - वीर्यानुप्रवाद
      - अस्तिनास्तिप्रवाद
      - ज्ञानप्रवाद
      - सत्यप्रवाद
      - आत्मप्रवाद
      - कर्मप्रवाद
      - प्रत्याख्यानप्रवाद
      - विद्यानुप्रवाद
      - कल्याण
      - प्राणावाय
      - क्रियाविशाल
      - लोकबिन्दुसार
    - चूलिका
      - जलगता
      - स्थलगता
      - मायागता
      - आकाशगता
      - रूपगता
- अंगबाह्य
  - सामायिक
  - चतुर्विंशतिस्तव
  - वन्दना
  - प्रतिक्रमण
  - वैनयिक
  - कृतिकर्म
  - दशवैकालिक
  - उत्तराध्ययन
  - कल्प व्यवहार
  - कल्पाकल्प
  - महाकल्प
  - पुंडरीक
  - महा पुंडरीक
  - अशीतिका

1—तत्त्वार्थ सूत्र १.२० (श्रुतसागरीय वृत्ति)।

आगम-विच्छेद का क्रम

आगमो के ये वर्गीकरण प्राचीन हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आज कोई भी आगम उपलब्ध नही है। वीर निर्वाण से १ के पश्चात् अग साहित्य लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[१]—

		तिलोयपण्णत्ती	धवला (वेदनाखड)	जयधवला	आदि पुराण	श्रुतावतार	काल
केवली	१	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	३ केवली
	२.	सुधर्मा	लोहार्य	सुधर्मा	सुधर्मा	सुधर्मा	६२ वर्ष
	३.	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	
श्रुत केवली	१	नन्दि	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	४ श्रुत केव
	२.	नन्दिमित्र	नन्दि	नन्दिमित्र	नन्दिमित्र	नन्दि	१०० वर्ष
	३	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	
	४.	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धव	
	५	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	
दशपूर्वधारी	१	विशाख	विशाख	विशाखाचार्य	विशाख	विशाखदत्त	११ द[illegible]
	२.	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	१८३ वर्ष
	३	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
	४	जय	जय	जयसेन	जय	जय	
	५.	नाग	नाग	नागसेन	नाग	नाग	
	[illegible]	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	
	७	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिषेण	
	८	विजय	विजय	विजय	विजय	विजयसेन	
	९	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिमान्	
	१०.	गगदेव	गगदेव	गगदेव	गगदेव	गग	
	११.	सुधर्म	धर्मसेन	सुधर्म	सुधर्म	धर्म	
एकादशांगधारी	१.	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	५ एकाद[illegible]
	२.	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	२२० वर्ष
	३.	पाडु	पाडु	पाडु	पाडु	पाडु	
	४.	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	द्रुमसेन	
	५.	कसार्य	कस	कसाचार्य	कसार्य	कस	
आचारांगधारी	१.	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	४ आचार[illegible]
	२.	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	अभयभद्र	११८/६८३ वर्ष
	३	यशोवाहु	यशोवाहु	यशोवाहु	भद्रवाहु	जयवाहु	
	४.	लोहार्य	लोहाचार्य	लोहार्य	लोहार्य	लोहार्य	

दिगम्बर जैन कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्रायः सर्व लुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत का कुछ अश ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषाश भी लिपिवद्ध नहीं किया जाय

१—जय धवला—प्रस्तावना पृष्ठ ४९।

। जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। फलतः उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरिनार की न्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषियों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष पस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन रहा है[1]।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी आगमों का विच्छेद और ह्रास हुआ है फिर भी कुछ आगम आज भी उपलब्ध हैं। उनके विच्छेद ौर ह्रास का क्रम इस प्रकार है—

केवली :—
- (१) सुधर्मा
- (२) जम्बू

१४पूर्वी —
- (१) प्रभव
- (२) शय्यंभव
- (३) यशोभद्र
- (४) संभूत विजय
- (५) भद्रबाहु (वीर निर्वाण—१५२ १७०)
- (६) स्थूलभद्र[2] (वीर निर्वाण १७० २१५) } सूत्रतः १४ पूर्वी, अर्थतः दस पूर्वी

दसपूर्वी—
- (१) महागिरी
- (२) सुहस्ती
- (३) गुण सुन्दर
- (४) श्यामाचार्य
- (५) स्कंदिलाचार्य
- (६) रेवती मित्र
- (७) श्रीधर्म
- (८) भद्रगुप्त
- (९) श्रीगुप्त
- (१०) विजय सूरि

तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्य रक्षित नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे।[3] आर्य रक्षित के वंशज आर्य नंदिल (वि २१७)[4] भी ९॥ पूर्वी थे ऐसा उल्लेख मिलता है।[5] आर्य रक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वी थे।

---

1 धवला टीका भा १ भूमिका पृ ११ १२।

2 चौदह पूर्वों की तरह ११ १० ११ पूर्वी की परम्परा रही हो—ऐसा इतिहास नहीं मिलता। सम्भव है ये चारों पूर्व एक साथ ही पढ़ाये जाते रहे हों। आचार्य द्रोण ने ओघनिर्युक्ति की टीका (पत्र ३) में यह उल्लेख किया है कि १४ पूर्वी के बाद १० पूर्वी ही होते हैं।

3 प्रभावक चरित्र—'आर्य रक्षित' श्लोक ८०-८८।

4 प्रबन्ध पर्यालोचन पृ २।

5 प्रभावक चरित्र—'पादलिप्तसूरि'।

दस पूर्वी या ९-१० पूर्वी के वाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का एक पूर्वी के रूप मे उल्लेख हुआ है। प्रश्न होता है कि क्या ९, ८, ७, आदि पूर्वी भी हुए है या नही ? इस प्रश्न का समुचित समावान उल्लिखित नही मिलता। परन्तु यत्र-तत्र के विकीर्ण उल्लेखो से यह ज्ञा है कि ८, ७, ६ आदि पूर्वो के धारक अवश्य रहे है। जीतकल्प सूत्र की वृत्ति में ऐसा उल्लेख है कि आचार प्रकल्प से आठ पूर्व तक धारक को श्रुत-व्यवहारी कहा है। इसमे सभव है कि आठ पूर्व तक के धारक अवश्य थे। इसके अतिरिक्त कई चूर्णियों के धारक ' घर थे।[1]

"आर्य रक्षित, नन्दिलक्ष्मण, नाग हस्ति, रेवति नक्षत्र, सिंह सूरि—ये साढे नौ और उससे अल्प-अल्प पूर्व के ज्ञान वाले थे। ... श्री हिमवन्त क्षमाश्रमण, नागार्जुन सूरि—ये सभी समकालीन पूर्व वित् थे। श्री गोविन्द वाचक, सयमविष्णु, भूतदिन्न, लोहित्य सूरि, दु ... और देव वाचक—ये ११ अग तथा १ पूर्व से अधिक के ज्ञाता थे।[2]"

भगवती (२० ८) में यह उल्लेख है कि तीर्थङ्कर सुविधिनाथ से तीर्थङ्कर शान्तिनाथ तक के आठ तीर्थङ्करो के सात अन्तरो में क ... सूत्र का व्यवच्छेद हुआ। शेष तीर्थङ्करो के नही। दृष्टिवाद का विच्छेद महावीर से पूर्व-तीर्थङ्करो के समय में होता रहा है।

इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि महावीर के निर्वाण के वाद एक हजार वर्ष में पूर्व गत का विच्छेद हुआ और एक पूर्व क पूरा जानने वाला कोई न वचा।

यह भी माना जाता है कि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती आचार्यों में पूर्व-ज्ञान का कुछ अश अवश्य था। इसकी पुष्टि स्थान-स्थान पर उल्लिखित पूर्वो की पक्तियों तथा विपय-निरूपण से होती है।[3]

अर्द्ध नाराच सहनन और दस पूर्वों का ज्ञान वज्र स्वामी के साथ २ विच्छिन्न हो गया[4]।

प्रथम संहनन—वज्र ऋषभनाराच, प्रथम सस्थान—समचतुरस और अन्तर्-मुहूर्त में चौदह पूर्वों को सीखने का सामर्थ्य—ये तीनो स्थूलिभद्र के साथ-साथ व्युच्छिन्न हो गए।[5]

वज्र स्वामी के वाद तथा शीलाक सूरि मे पूर्व आचाराग के 'महा परिज्ञा' अध्ययन का ह्रास हुआ। यह भी कहा जाता है कि इसी अध्ययन के आधार पर दूसरे श्रुत-स्कघ की रचना हुई।

स्थानाग में वर्णित प्रश्न व्याकरण का स्वरूप उपलब्ध प्रश्न व्याकरण से अत्यन्त भिन्न है। उस मूल स्वरूप का कव, कैसे ह्रास हुआ, यह अज्ञात है।

इसी प्रकार ज्ञात धर्मकथा की अनेक उपाख्यायिकाओ का सर्वथा नाश हुआ है।

इस प्रकार द्वादशांगी के ह्रास और विच्छेद का यह सक्षिप्त चित्र है।

उपलब्ध आगम

आगमों की सख्या के विपय में अनेक मत प्रचलित है। उनमें तीन मुख्य है—

(१) ८४ आगम

(२) ४५ आगम

(३) ३२ आगम

---

१. सिद्ध चक्र वर्ष ४ अक १२ पृ० २८४।

२. जैन सत्य प्रकाश (वर्ष १, अक १, पृ० १५)।

३. आव० नि० पत्र ५६६।

४. .. .. ..तम्मि य भयव ते अद्धनाराय दस पुव्वा य वोच्छिन्ना। (आव० नि०......द्वितीय भाग पत्र ३६६)

५. आव० नि० द्वितीय भाग पत्र ३६५।

(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृत्दशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्न व्याकरण
(११) विपाक
(१२) दृष्टिवाद
(२९+३०+१२=७१)
(७२) आवश्यक[1]
(७३) अन्तकृत्दशा (अन्यवाचना का)
(७४) प्रश्नव्याकरणदशा
(७५) अनुत्तरोपपातिकदशा (अन्यवाचना का)
(७६) वन्धदशा
(७७) द्विगृद्धिदशा
(७८) दीर्घ दशा[2]
(७९) स्वप्न भावना
(८०) चारण भावना
(८१) तेजोनिसर्ग
(८२) आशीविष भावना
(८३) दृष्टि विष भावना[3]
(८४) ५५ अध्ययन कल्याणफल विपाक
५५ अध्ययन पापफल विपाक

४५ आगम[4]

अंग :—
(१) आचार
(२) सूत्र कृत्
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृत्दशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपाग :—
(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्य प्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्र प्रज्ञप्ति
(८) निरयावली
(९) कल्पावतसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णिदशा

प्रकीर्णक :—
(१) चतुशरण
(२) चन्द्रवेध्यक
(३) आतुरप्रत्याख्यान
(४) महाप्रत्याख्यान

१. उपरोक्त ७२ नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते हैं।
२ ये छह (७३ से ७८) स्थानांग (सूत्र २३४७) में हैं।
३ ये पांच (७९ से ८३) व्यवहार में है।
४. समाचारी शतक : आगमस्थापनाधिकार (३८ वां)—समय सुदरगणि विरचित।

(५) भक्तप्रत्याख्यान
(६) तन्दुल वैकालिक (वैचारिक)
(७) गणिविद्या
(८) मरणसमाधि
(९) देवेन्द्रस्तव
(१) संस्तारक

छेद :—
(१) निशीथ
(२) महानिशीथ
(३) व्यवहार
(४) बृहत्कल्प
(५) जीतकल्प
(६) दशाश्रुतस्कंध

मूल :—
(१) ओघनिर्युक्ति
अथवा
आवश्यक निर्युक्ति
(२) पिण्डनिर्युक्ति
(३) दशवैकालिक
(४) उत्तराध्ययन
(५) नंदी
(६) अनुयोग द्वार

३२ आगम

अंग :—
(१) आचार
(२) सूत्रकृत्
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासक-दशा
(८) अन्तकृद्-दशा
(९) अनुत्तरोपपातिक दशा
(१) प्रश्न व्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—
(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्र प्रज्ञप्ति
(८) निरयावली
(९) कल्पावतंसिका
(१) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णि दशा

मूल :—
(१) दशवैकालिक
(२) उत्तराध्ययन
(३) नन्दी
(४) अनुयोग द्वार

छेद :—
(१) निशीथ
(२) व्यवहार
(३) बृहत्कल्प
(४) दशाश्रुतस्कंध
(११+१२+४+४=३१)

(३२) आवश्यक

उपरोक्त विभागों में स्वतः प्रमाण केवल ग्यारह अंग ही हैं। शेष सब परतः प्रमाण हैं।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्य रक्षित सूरि ने आगमो को चार भागों में वर्गीकृत किया—

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत ।

(२) धर्मानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि ।

(३) गणितानुयोग—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि ।

(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत् आदि ।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है । व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमो के दो रूप बनते है—

(१) अपृथक्त्वानुयोग ।

(२) पृथक्त्वानुयोग ।

आर्य रक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था । उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी । यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था । आर्य रक्षित ने देखा दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेघावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने में श्रान्त-क्लान्त हो रहा है तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पायेंगे । एक प्रेरणा मिली और उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया । उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयो की दृष्टि से आगमों का विभाजन हो गया ।[१]

सूत्रकृत् चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग काल में प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयों से की जाती थी । पृथक्त्वानुयोग काल में चारो अनुयोगो की व्याख्या पृथक् २ की जाने लगी ।[२]

वाचना

वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के मध्य में आगम साहित्य के सकलन की चार प्रमुख वाचनाएँ हुई ।

पहली वाचना—

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (वी० नि० के १६० वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पडा । उस समय श्रमण सघ छिन्न-भिन्न हो गया । अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए । अन्यान्य दुविधाओं के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नही हो सका, अत आगम ज्ञान की श्रृङ्खला टूट-सी गई । दुर्भिक्ष मिटा । उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए । ग्यारह अग एकत्रित किए । उस समय बारहवें अग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे । सघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अग की वाचना देना स्वीकार किया । उन्होने दस पूर्व अर्थ सहित सीख लिए । ग्यारहवें पूर्व की वाचना चालू थी । बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बनाया । भद्रबाहु ने इसे जान लिया । आगे वाचना बन्द कर दी । फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम चार पूर्वो की वाचना दी, किन्तु अर्थ नही बताया । अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे । स्थूलिभद्र शाब्दिक-दृष्टि से चौदह पूर्वी थे किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस पूर्वी ही थे ।

१—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७३-७७४ · अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुममासज्ज विहत्तो अणुओगो ताकओ चउहा ॥

२—सूत्रकृत् चूर्णि पत्र ४ · जत्थएते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिह वक्खाणिज्जति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुण जं एक्केक्क सुत्तं एतेहिं चउहि वि अणुयोगेहिंसत्तहि णयसत्तेहिं वक्खाणिज्जति ।

दूसरी वाचना—

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल में हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ। अंग और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उसका भी बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण संघ स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। उस समय जिन जिन श्रमणों को जितना जितना स्मृति में था उसका अनुसन्धान किया। इस प्रकार कालिक सूत्र और पूर्वगत के कुछ अंश का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। युग प्रधान आचार्य स्कंदिल ने उस संकलित-श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को "स्कन्दिली वाचना" भी कहा गया।

मतान्तर के अनुसार यह भी माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था। किन्तु आचार्य स्कंदिल के अतिरिक्त अन्य सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कंदिल ने मथुरा में पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उसे 'माथुरी वाचना" कहा गया। और वह सारा अनुयोग 'स्कंदिल' सम्बन्धी गिना गया।[1]

तीसरी वाचना—

इसी समय (वीर निर्वाण ८२७-८४०) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। किन्तु वे बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके थे। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाय इसलिए जो कुछ स्मृति में था उसे संकलित किया। उसे "वल्लभी वाचना" या "नागार्जुनीय वाचना" कहा गया।

चौथी वाचना—

वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुनः श्रमण संघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य परावर्तन की न्यूनता धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था। किन्तु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एक रूपता देने का प्रयास हुआ। जहाँ अत्यन्त मतभेद रहा वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस संकलना में सारे आगमों को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था उन्हें संक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्ति-संकेत एक दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना है तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों?

१—(क) नंदी गा० ३३ मलयगिरि वृत्ति पत्र ५१।
(ख) नंदी चूर्णि पत्र ८।

इसके दो कारण हो सकते है—

(१) जो श्रमण उस समय जीवित थे और जिन्हें जो-जो आगम कण्ठस्थ थे, उन्ही के अनुसार आगम सकलित किये गए। यह जानते हुए भी कि एक ही वात दो भिन्न आगमो में भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गई है, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उनमें हस्तक्षेप करना अपना अधिकार नही समझा।

(२) नौवी शताब्दी मे सम्पन्न हुई माथुरी तथा वल्लभी वाचना की परम्परा के अवशिष्ट श्रमणो को जैसा और जितना स्मृति मे था उसे सकलित किया गया। वे श्रमण वीच-वीच में अनेक आलापक भूल भी गये हो—यह भी विसवादो का मुख्य कारण हो सकता है।[1]

ज्योतिष्करड की वृत्ति में कहा गया है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुयोगद्वार सूत्र माथुरी वाचना का है और ज्योतिष्करण्ड के कर्त्ता वल्लभी वाचना की परम्परा के आचार्य थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करड के सख्या स्थानो मे अन्तर प्रतीत होता है।[1]

अनुयोग द्वार के अनुसार शीर्ष प्रहेलिका की सख्या १९३ अकों की है और ज्योतिष्करड के अनुसार वह २५० अको की।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ (लगभग १९५-१८२ ई०) में उच्छिन्न अगो के संकलन का प्रयास हुआ था। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध "हाथी गुम्फा" अभिलेख में यह उपलब्ध होता है कि उसने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का एक सघ बुलाया और मौर्य काल में जो अग उच्छिन्न हो गए थे उन्हें उपस्थित किया।[२]

इस प्रकार आगम की व्यवस्थिति के लिए अनेक वार अनेक प्रयास हुए।

यह भी माना जाता है कि प्रत्येक अवसर्पिणी में चरम श्रुतघर आचार्य सूत्र-पाठ की मर्यादा करते है और वे दशवैकालिक का नवीन सस्करण प्रस्तुत करते हैं। यह अनादि सस्थिति है। इस अवसर्पिणी में अन्तिम श्रुतघर वज्र स्वामी थे। उन्होने सर्वप्रथम सूत्र-पाठ की मर्यादा की। प्राचीन नामो में परिवर्तन कर मेघकुमार, जामालि आदि के नामो को स्थान दिया।[२]

इस मान्यता का प्राचीनतम आधार अन्वेपणीय है। आगम-सकलन का यह सक्षिप्त इतिहास है।

प्रस्तुत आगम : स्वरूप और परिचय

प्रस्तुत आगम का नाम दशवैकालिक है। इसके दस अध्ययन हैं और वह विकाल मे रचा गया इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्त्ता श्रुतकेवली शय्यभव हैं। अपने पुत्र शिष्य—मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर सम्वत् ७२ के आस-पास "चम्पा" में इसकी रचना हुई। इसकी दो चूलिकाएँ हैं।

अध्ययनो के नाम, श्लोक सख्या और विषय इस प्रकार है—

अध्ययन	श्लोक सख्या	विषय
(१) द्रुम पुष्पिका[५]	५	धर्म-प्रशसा और माधुकरी वृत्ति।
(२) श्रामण्य पूर्वक	११	सयम में धृति और उसकी साधना।
(३) क्षुल्लकाचार्य	१५	आचार और अनाचार का विवेक।
(४) धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	२८ तथा सूत्र २३	जीव-सयम तथा आत्म-सयम का विचार।

१—सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।
२—(क) सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।
(ख) गच्छाचार पत्र ३-४।
३—जर्नल आफ दी विहार एण्ड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी भा० १३ पृ० २३६।
४—प्रवचन परीक्षा विश्राम ४ गाथा ६७ पत्र ३०७-३०६।
५—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति में इसका नाम "वृक्ष कुसुम" दिया है। देखिए पृष्ठ १६ पाद-टिप्पणी ४।

(५) पिण्डैषणा	१५०	गवेषणा ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
(६) महाचार	६८	महाचार का निरूपण।
(७) वाक्यशुद्धि	५७	भाषा विवेक।
(८) आचार प्रणिधि	६३	आचार का प्रणिधान।
(९) विनय-समाधि	६२ तथा सूत्र ७	विनय का निरूपण।
(१०) सभिक्षु	२१	भिक्षु के स्वरूप का वर्णन।
पहली चूलिका—रतिवाक्या	१८ और सूत्र १	संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण का उपदेश।
दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या	१६	विविक्तचर्या का उपदेश।

दशवैकालिक : विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में

निर्युक्तिकार के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरण-करणानुयोग में होता है। इसका फलित अर्थ यह है कि इसका प्रतिपाद्य आचार है। वह दो प्रकार का होता है।[1]

(१) चरण—व्रत आदि।

(२) करण—पिंड विशुद्धि आदि।

धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[2]

अंगपण्णत्ति के अनुसार इसका विषय गोचर विधि और पिंड विशुद्धि है।[3]

तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय वृत्ति में इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेद कथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[4]

उक्त प्रतिपादन से दशवैकालिक का स्थूल रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है किन्तु आचार्य शय्यंभव ने आचार-गोचर की प्ररूपणा के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया है। जीव विद्या योग विद्या आदि के अनेक सूक्ष्म बीज इसमें विद्यमान हैं।

दशवैकालिक का महत्त्व

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। अनेक व्याख्याकारों ने अपने अभिमत की पुष्टि के लिए इसे उद्धृत किया है।[5]

इसके निर्माण के पश्चात् श्रुत के अध्ययनक्रम में भी परिवर्तन हुआ है। इसकी रचना के पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ा जाता था। किन्तु इसकी रचना होने पर दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाने लगा।[6] यह परिवर्तन मौलिक था। क्योंकि साधु को

१—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४ : अपुहुत्त पुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरण करणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति॥

२—षट्खण्डागम प्रस्तावना पृ० ९० : दसवेयालियं आयारगोयरविहिं वण्णेइ।

३—अंगपण्णत्ति चूलिका गाथा २४ : जदि गोयरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेदि।
दसवेयालियं सुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता॥

४—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति पृ० ६७ : वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकं च दशवैकालिकम्।

५—देखो उत्तरा० बृहद् वृत्ति निशीथ चूर्णि आदि-आदि।

६—व्यवहार उद्देशक ३ भाष्य गाथा १७६ (मलयगिरि वृत्ति) : आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणाउ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं इयाणि किं ते न होंती उ॥

पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्योपर्यासीरन् इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठिष्यामि। किं तानि तथाभूतानि न भवन्ति? भवन्त्येवेति भावः।

सर्व प्रथम आचार का ज्ञान कराना आवश्यक होता है और उस समय वह आचारांग के अध्ययन-अध्यापन से कराया जाता था। परन्तु दशवैकालिक की रचना ने आचार-बोध को सहज और सुगम बना दिया और इसीलिए आचाराग का स्थान इसने ले लिया।

प्राचीन-काल में आचाराग के अन्तर्गत 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन को अर्थत: जाने-पढे बिना साधु को महाव्रतों की विभागत: उपस्थापना नही दी जाती थी। किन्तु बाद में दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन 'षड्‌जीवनिका' को अर्थत जानने-पढने के पश्चात् महाव्रतो की विभागत: उपस्थापना दी जाने लगी।[१]

प्राचीन परम्परा में आचाराग सूत्र के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक 'ब्रह्मचर्य' के 'आम गन्ध' सूत्र को जाने-पढे बिना कोई भी पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) नही हो सकता था। परन्तु बाद में दशवैकालिक के पाँचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को जानने-पढने वाला पिण्ड-कल्पी होने लगा।[२] दशवैकालिक के महत्त्व और सर्वग्राहिता को बताने वाले ये महत्त्वपूर्ण सकेत हैं।

निर्यूहण कृति

रचना दो प्रकार की होती है—स्वतन्त्र और निर्यूहण। दशवैकालिक निर्यूहण कृति है, स्वतत्र नहीं। आचार्य शय्यभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने विभिन्न पूर्वो से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।[३]

दशवैकालिक की निर्युक्ति के अनुसार चौथा अध्ययन—आत्म प्रवाद पूर्व से, पाँचवा अध्ययन—कर्म प्रवाद पूर्व से, सातवा अध्ययन—सत्य प्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन—प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशाङ्गी से किया गया।[४] किस अध्ययन का किस अग से उद्धरण किया गया, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु तीसरे अध्ययन का विषय सूत्रकृताग १।९ से प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।११।७,८, आचाराग १।१ का क्वचित् सक्षेप और क्वचित् विस्तार है। पाँचवें अध्ययन का विषय आचारांग के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक और आठवें 'विमोह' अध्ययन के दूसरे उद्देशक से प्राप्त होता है। छठा अध्ययन समवायांग १९ के 'वयछक्क कायछक्क' इस श्लोक का विस्तार है। सातवें अध्ययन के बीज आचारांग १।६।५ में मिलते हैं। आठवें अध्ययन का आशिक विषय

१—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७५ वितितमि बभचेरे पचम उद्देसे आमगधम्मि।
छत्तमि पिंडकप्पी इह पुण पिंडेसणाएओ ॥'

मलयगिरि टीका—पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्य पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्र सव्वामगध परिच्चय इति तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्, । इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिक क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति।

२—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ पुव्व सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा।
इण्हि च्छज्जीवणया किं सा उ न होउ उवट्ठवणा ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुन· सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति भवत्येवेत्यर्थ।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७· आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्क सुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—वही १८· बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवाल सगाओ।
एअ किर णिज्जूढ मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥

सर्व प्रथम आचार का ज्ञान कराना आवश्यक होता है और उस समय वह आचाराग के अध्ययन-अध्यापन से कराया जाता था। परन्तु दशवैकालिक की रचना ने आचार-बोध को सहज और सुगम बना दिया और इसीलिए आचाराग का स्थान इसने ले लिया।

प्राचीन-काल में आचाराग के अन्तर्गत 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन को अर्थत जाने-पढे बिना साधु को महाव्रतो की विभागतः उपस्थापना नही दी जाती थी। किन्तु बाद में दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन 'षड्जीवनिका' को अर्थत जानने-पढने के पश्चात् महाव्रतो की विभागत. उपस्थापना दी जाने लगी।[1]

प्राचीन परम्परा में आचाराग सूत्र के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक 'ब्रह्मचर्य' के 'आम गन्ध' सूत्र को जाने-पढे बिना कोई भी पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) नहीं हो सकता था। परन्तु बाद में दशवैकालिक के पाँचवें अध्ययन 'पिण्डैपणा' को जानने-पढने वाला पिण्ड-कल्पी होने लगा।[2] दशवैकालिक के महत्त्व और सर्वग्राहिता को बताने वाले ये महत्त्वपूर्ण सकेत हैं।

निर्यूहण कृति

रचना दो प्रकार की होती है—स्वतन्त्र और निर्यूहण। दशवैकालिक निर्यूहण कृति है, स्वतत्र नहीं। आचार्य शय्यभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने विभिन्न पूर्वो से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।[3]

दशवैकालिक की निर्युक्ति के अनुसार चौथा अध्ययन—आत्म प्रवाद पूर्व से, पाँचवा अध्ययन—कर्म प्रवाद पूर्व से, सातवा अध्ययन—सत्य प्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन—प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशाङ्गी से किया गया।[4] किस अध्ययन का किस अग से उद्धरण किया गया, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु तीसरे अध्ययन का विषय सूत्रकृताग १।९ से प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृताग १।१।१।७,८, आचाराग १।१ का क्वचित् सक्षेप और क्वचित् विस्तार है। पाँचवें अध्ययन का विषय आचाराग के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक और आठवें 'विमोह' अध्ययन के दूसरे उद्देशक मे प्राप्त होता है। छठा अध्ययन समवायाग १९ के 'वयछक्क कायछक्क' इस श्लोक का विस्तार है। सातवें अध्ययन के बीज आचाराग १।६।५ में मिलते हैं। आठवें अध्ययन का आंशिक विषय

१—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ वितितमि बभचेरे पचम उद्देसे आमगधम्मि।
सुत्तमि पिंडकप्पी इह पुण पिंडेसणाएओ ॥'

मलयगिरि टीका—पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्य पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्र सव्वामगध परिच्चय इति तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्, । इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैपणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीताया पिण्डकल्पिक क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति।

२—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ पुव्व सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा।
इण्हि च्छज्जीवणया किं सा उ न होउ उवट्ठवणा ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामर्थतो ज्ञाताया पठिताया सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुन सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकाया दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठिताया च न भवति भवत्येवेत्यर्थ।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७ आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्क सुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—वही १८ बीओऽवि अ आएसो गणिपिढगाओ दुयाल सगाओ।
एअ किर णिज्जूढ मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥

हरिभद्रसूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि में हैं। इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती है।

इसके बाद चूर्णियाँ लिखी गई है। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं। एक के कर्त्ता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं और दूसरी के कर्त्ता जिनदास महत्तर (वि० ७ वी शताब्दी)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार अगस्त्यसिंह की चूर्णि का रचना-काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[1]

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थो का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएँ भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रखने की औत्सर्गिक और आपवादिक—दोनो विधियों की चर्चा की है।[2] इस चर्चा का आरम्भ देवर्द्धिगणी ने आगम पुस्तकारूढ किए तब या उसके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की ५-६ वी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियो के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके अवशेष हरिभद्रसूरि की टीका में मिलते है।[3]

प्राकृत युग समाप्त हुआ और संस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ संस्कृत भाषा में लिखी जाने लगीं। इस पर हरिभद्रसूरि ने संस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है।

यापनीय संघ के अपराजितसूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवीं शताब्दी) ने इसपर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होंने स्वरचित आराधना की टीका में किया है।[4] परन्तु वह अभी उपलब्ध नही है। हरिभद्रसूरि की टीका को आधार मान कर तिलकाचार्य (१३-१४ वीं शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वी शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयसुन्दर (विक्रम १६११) ने दीपिका, विनयहंस (विक्रम १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्रसूरि (विक्रम १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम १८ वी शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नही है। ये सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही है—दो चूर्णियाँ और तीसरी हारिभद्रीय वृत्ति।

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि इन सब में प्राचीनतम है इसलिए वह सर्वाधिक मूल-स्पर्शी है। जिनदास महत्तर अगस्त्यसिंह स्थविर के आस-पास भी चलते हैं और कहीं-कही इनसे दूर भी चले जाते हैं। टीकाकार तो कहीं-कही बहुत दूर चले जाते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान टिप्पणियों में किया गया है।[5]

१—बृहत्कल्प भाष्य भाग-६ आमुख पृ० ४।

२—दशवैकालिक १।१ अगस्त्य चूर्णि उवगरण संजमो—पोत्थएसु घेप्पतेसु असंजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जण तु संजमो, काल पडुच्च चरणकरणट्ठ अव्वोच्छित्तिनिमित्त गेण्हतस्स संजमो भवति।

३—हा० टी० प० १६५ तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगभावस्स मेहुण पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छण-अवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णायवेसाइदसणे अदत्तादाण, ममत्तकरणे परिग्गहो, एव सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण ससयो उण्णिक्खमणे त्ति।

जिनदास चूर्णि (पृ० १७१) में इस आशय की जो पंक्तियाँ हैं, वे इन पंक्तियों से भिन्न हैं। जैसे—"जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुण पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसण न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—कि जोएसि ?, ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउ अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्त करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।"

अगस्त्य चूर्णि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—तस्स पीडा वयाण तासु गयचित्तो रिय न सोहेतित्ति पाणातिवातो पुच्छितो किं जोएसित्ति ? अवलवति मुसावातो, अदत्तादाण मणणुण्णातो तित्थकरेहिमिहुणे वि गयभावो मुच्छाए परिग्गहो वि।

४—गाथा ११९७ की वृत्ति दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।

५—उदाहरण के लिए देखो पृ० २६६ टि० १७७।

लगता है चूर्णि के रचना-काल में भी दशवैकालिक की परम्परा अविच्छिन्न नहीं रही थी। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अनेक स्थलों पर अर्थ के कई विकल्प किए हैं। उन्हें देखकर सहज ही जान पड़ता है कि वे मूल अर्थ के बारे में असंदिग्ध नहीं हैं।

आर्य सुहस्ती ने एक बार जो आचार-शैथिल्य की परम्परा का सूत्र-पात किया वह आगे चल कर उग्र बन गया। ज्यों-ज्यों जैन आचार्य लोक-संग्रह की ओर अधिक झुके त्यों-त्यों अपवादों की बाढ़ सी आ गई। वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी (८८२) में चैत्य-वास का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शिथिलाचार की परम्परा बहुत ही सबल हो गई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी) के बाद चैत्य-वास का प्रभुत्व बढ़ा और वह जैन परम्परा पर छा गया। अभयदेवसूरि ने इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है—"देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव-परम्परा मानता हूँ। इसके बाद शिथिलाचारियों ने अनेक द्रव्य परम्पराओं का प्रवर्तन कर दिया।[1] आचार-शैथिल्य की परम्परा में जो ग्रन्थ लिखे गये उनमें ऐसे अपवाद भी हैं जो आगम में प्राप्त नहीं हैं। प्रस्तुत आगम की चूर्णि और टीका तात्कालिक वातावरण से मुक्त नहीं हैं। इन्हें पढ़ते समय इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए।

उत्सर्ग की भाँति अपवाद भी मान्य होते हैं। पर उनकी भी एक निश्चित सीमा है। जिनका बनाया हुआ आगम प्रमाण होता है उन्हीं के किए हुए अपवाद मान्य हो सकते हैं। वर्तमान में जो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं वे चतुर्दशपूर्वी या दशपूर्वी की नहीं हैं इसलिए उन्हें आगम (अपौरुषेय) की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

दोनों चूर्णियों में पाठ और अर्थ का भेद है। टीकाकार का मार्ग तो उनसे बहुत ही भिन्न है।

चैत्यवासी और संविग्न-पक्ष के आपसी खिंचाव के कारण संभव है उन्हें (टीकाकार को) अगस्त्य चूर्णि उपलब्ध न हुई हो। उसके उपलब्ध होने पर भी यदि इतने बड़े पाठ और अर्थ के भेदों का उल्लेख न किया हो तो यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। पर लगता यही है कि टीका-काल में टीकाकार के सामने अगस्त्यसिंह चूर्णि नहीं रही। यदि वह उनके सम्मुख होती तो टीका और चूर्णि में इतना अर्थ भेद नहीं होता। टीकाकार ने 'अन्ने तु' 'एवं च वृद्धसम्प्रदाय' 'तथा च वृद्धव्याख्या' आदि के द्वारा जिनदास महत्तर का उल्लेख किया है[2] पर उनके नाम और चूर्णि का उल्लेख स्पष्ट नहीं किया।

हरिभद्रसूरि संविग्न पाक्षिक थे। उनका समय चैत्यवास के उत्कर्ष का समय है। पुस्तकों का संग्रह अधिकांशतया चैत्यवासियों के पास था। संविग्न पक्ष एक प्रकार से नया था। चैत्यवासी इसे मिटा देना चाहते थे। इस परिस्थिति में टीकाकार को पुस्तक-प्राप्ति की दुर्लभता रही हो यह भी आश्चर्य की बात नहीं है।

आगमों की माथुरी और वलभी—ये दो वाचनाएँ हुईं। देवर्द्धिगणी ने आगमों को पुस्तकारूढ़ करते हुए इन दोनों का समन्वय किया। माथुरी में वलभी से भिन्न पाठ थे। उन्हें पाठ-भेद मान शेष अंश को वलभी में समन्वित कर दिया। यह पाठ-भेद की परम्परा मिटी नहीं। कुछ आगमों के पाठ-भेद केवल आगमों की व्याख्याओं में उपलब्ध हैं। व्याख्याकार—"नागार्जुनीयास्तु एवं पठन्ति" लिखकर उसका निर्देश करते रहे हैं और कुछ आगमों के पाठ-भेद मूल से ही सम्बद्ध रहे इस कारण से उनका परम्परा-भेद चलता ही रहा। दशवैकालिक सम्भवतः इसी दूसरी कोटि का आगम है। इसकी उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन व्याख्या अगस्त्य चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलों पर परम्परा भेद का उल्लेख है।[3] इस सारी वस्तु सामग्री को देखते हुए लगता है कि चूर्णिकार और टीकाकार के सामने भिन्न भिन्न परम्परा के आदर्श रहे हैं और टीकाकार ने अपनी परम्परा के आदर्श और व्याख्या-पद्धति को ग्रहण किया हो और सम्भव है कि परम्परा भेद के कारण चूर्णियों की उपेक्षा की हो। कल्पना की इस भूमिका पर पहुँचने के बाद चूर्णि और टीका के पाठ और अर्थ के भद की पहेली सुलझ जाती है।

१—देवड्ढिखमासमणजा परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया दव्वेण परंपरा बहुहा॥

२—(क) हा० टी० प० ७ ; जि० चू० पृ० ४ : 'अन्ने तु'।
(ख) हा० टी० प० ११ ; जि० चू० पृ० १ : 'एवं च वृद्धसम्प्रदायः'।
(ग) हा० टी० प० २४५, २४६ ; जि० चू० पृ० २११-२१२ : 'तथा च वृद्धव्याख्या'।

३—उदाहरण स्वरूप देखो पृ० २११ टि० २४ तथा पृ० २४२ टि० ७८।

अनुवाद और सम्पादन

हमने वि० स० २०१२ औरगावाद में महावीर-जयन्ती के अवमर पर जैन-आगमो के हिन्दी अनुवाद और सम्पादन के निश्चय की घोपणा की। उसी चातुर्मास (उज्जैन) मे आगमो की शब्द-सूची के निर्माण मे कार्य का प्रारम्भ हुआ। साथ-साथ अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया गया। उसके लिए सबसे पहले दशवैकालिक को चुना गया।

लगभग सभी स्थलों के अनुवाद में हमने चूर्णि और टीका का अवलम्बन लिया है फिर भी सूत्र का अर्थ मूल-स्पर्शी रहे, इसलिए हमने व्याख्या-ग्रन्थों की अपेक्षा मूल आगमों का आधार अधिक लिया है। हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहा है कि आगमो के द्वारा ही आगमो की व्याख्या की जाए। आगम एक दूसरे से गुथे हुए हैं। एक विपय कहीं सक्षिप्त हुआ है तो कहीं विस्तृत। दशवैकालिक की रचना सक्षिप्त शैली की है। कही-कहीं केवल सकेत मात्र है। उन साकेतिक शब्दो की व्याख्या के लिए आचाराङ्ग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) की चूलिका और निशीथ का उपयोग न किया जाय तो उनका आशय पकडने में वडी कठिनाई होती है। इस कठिनाई का सामना टीकाकार को करना पडा। निदर्शन के लिए देखिए ५।१।६६ की टिप्पणी[1]। दशवैकालिक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलो पर वैकल्पिक अर्थ किए है। वहाँ चूर्णिकार का वौद्धिक विकास प्रस्फुटित हुआ है पर वे यह वताने मे सफल न हो सके कि यहाँ सूत्रकार का निश्चित प्रतिपाद्य क्या है ? उदाहरण के लिए देखिए ३।६ के उत्तरार्द्ध की टिप्पणी[2]।

अनुवाद को हमने यथासम्भव मूल-स्पर्शी रखने का यत्न किया है। उसका विशेष अर्थ टिप्पणियो में स्पष्ट किया है। व्याख्याकारों के अर्थ-भेद टिप्पणियों में दिए हैं। कालक्रम के अनुसार अर्थ कैसे परिवर्तित हुआ है, हमें वताने की आवश्यकता नही हुई किन्तु इसका इतिहास व्याख्या की पक्तिया स्वय वता रही है। कहीं-कही वैदिक और वौद्ध साहित्य से तुलना भी की है। जिन सूत्रो का पाठ-सशोघन करना शेष है, उनके उद्धरणों में सूत्राक अन्य मुद्रित पुस्तकों के अनुसार दिए हैं। इस प्रकार कुछ एक रूपो में यह कार्य सम्पन्न होता है।

यह प्रयत्न क्यों ?

दशवैकालिक की अनेक प्राचीन व्याख्याएँ है और हिन्दी मे भी इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं फिर नया प्रयत्न क्यों आवश्यक हुआ ? इसका समाधान हम शब्दो में देना नहीं चाहेंगे। वह इसके पारायण से ही मिल जाएगा।

सूत्र-पाठ के निर्णय में जो परिवर्तन हुआ है—कुछ श्लोक निकले हैं और कुछ नए आए है, कही शब्द वदले हैं और कही विभक्ति—उसके पीछे एक इतिहास है। 'धूवणेत्ति वमणे य' (३।९) इसका निर्धारण हो गया। 'धूवणे' को अलग माना गया और इति को अलग। उत्तराध्ययन (३५।४) में धूप से सुवासित घर में रहने का निपेध है। आचाराग (२।२।१३) में धूपन-जात से पैरो को धूपित करने का निपेध है। इस पर से लगा कि यहाँ भी उपाश्रय, शरीर और वस्त्र आदि के धूप खेने को अनाचार कहा है। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक रूप मे 'धूवणेत्ति' को एक शब्द माना भी गया है। पर उस ओर ध्यान आकृष्ट नही हुआ। एक दिन इसी सिलसिले में चरक का अवलोकन चल रहा था। प्रारम्भिक स्थलों में 'धूमनेत्र' शब्द पर ध्यान टिका और 'धूवणेत्ति' शब्द अब फिर आलोचनीय बन गया। उत्तराध्ययन के 'धूमणेत्त' की भी स्मृति हो आई। परामर्श चला और अन्तिम निर्णय यही हुआ कि 'धूवणेत्ति' को एक पद रखा जाए। फिर सूत्रकृताग में 'णो धूमणेत्त परियापिएज्जा' जैसा स्पष्ट पाठ भी मिल गया। इस प्रकार अनेक शब्दो की खोज के पीछे घटनाए जुडी हुई हैं। अर्थ-चिन्तन में भी वहुधा ऐसा हुआ है। मौलिक अर्थ को ढूढ निकालने में तटस्थ दृष्टि से काम लिया जाए, वहा साम्प्रदायिक आग्रह का लेश भी न आए—यह दृष्टिकोण कार्यकाल के प्रारम्भ से ही रखा गया और उसकी पूर्ण सुरक्षा भी हुई है। परम्परा-भेद के स्थलो में कुछ अधिक चिन्तन हो, यह स्वाभाविक है। 'नियाग' का अर्थ करते समय हमें यह अनुभव हुआ। 'नियाग' का अर्थ हमारी परम्परा में एक घर से नित्य आहार लेना किया जाता है। प्राचीन सभी व्याख्याओ में इसका अर्थ—'निमत्रण पूर्वक एक घर से नित्य आहार लेना' मिला तो वह चिन्तन स्थल वन गया। हमने प्रयत्न किया कि इसका समर्थन किसी दूसरे स्रोत से हो जाए तो और अच्छा हो। एक दिन भगवती में 'अनाहूत' शब्द मिला। वृत्तिकार ने उसका वही अर्थ किया है, जो दशवैकालिक की व्याख्याओं में 'नियाग' का है। श्रीमज्जयाचार्य की 'भगवती की जोड़'

1—देखिए पृ० २६६ टि० १७७

2— देखिए पृ० ८८—९१ टि० ३६ और ३७

(भगवती की पद्यात्मक व्याख्या) को देखा तो उसमें भी यही अर्थ मिला। फिर 'निर्मथन पूर्वक' इस वाक्यांश के आगम सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रहा । इस प्रकार अनेक अर्थों के साथ कुछ इतिहास जुड़ा हुआ है।

हमने चाहा कि दशवैकालिक का प्रत्येक शब्द अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट हो—अमुक शब्द कुछ विशेष काल-विशेष क्षेत्र-विशेष पात्र विशेष का वाचक है इस प्रकार अस्पष्ट न रहे। इस विषय में आज के युग की साधन-सामग्री ने हमें अपनी कल्पना को सफल बनाने का मय किया है।

तीन विभाग

दशवैकालिक को तीन विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम विभाग में 'एक समीक्षात्मक-अध्ययन' मूलपाठ पाठान्तर, शब्दानुक्रमणी आदि है। द्वितीय विभाग में मूलपाठ संस्कृतछाया हिन्दी अनुवाद टिप्पण पद्यानुक्रमणी आदि हैं। तृतीय विभाग में चूर्णि की कथाएँ हैं।

प्रथम भाग में दशवैकालिक का समग्र दृष्टि से अध्ययन होता है और द्वितीय भाग में पाठ-क्रम से। प्रथम भाग में निर्युक्ति चूर्णि और वृत्ति के विशिष्ट-स्थल हैं और द्वितीय भाग में विशद टिप्पणियाँ हैं। दोनों भाग अपने आप में स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं और परस्पर संबद्ध होते हुए भी अपने आपमें स्वतन्त्र हैं। इसीलिए क्वचित् कोई विषय पुनरुक्त भी है। पुनरुक्ति सर्वत्र अप्रिय नहीं होती कहीं-कहीं वह रुचिकर भी होती है।

प्रथम विभाग के 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' में दशवैकालिक सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा हो चुकी है। इस तरह यह भूमिका और 'एक समीक्षात्मक अध्ययन'—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए प्रस्तुत भूमिका में अध्ययनगत विषयों की चर्चा नहीं की गई। यहाँ 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' के पाँच अध्यायों का विषयानुक्रम दिया जा रहा है जिस से उसकी रूपरेखा की कल्पना हो सके।

'एक समीक्षात्मक अध्ययन' के पहले अध्याय में निम्नलिखित विषय चर्चित हैं—

(१) आगम की परिभाषा (२) आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान (३) दशवैकालिक के कर्त्ता, (४) रचना का उद्देश्य (५) रचनाकार का जीवन-परिचय (६) रचनाकाल (७) नामकरण (८) उपयोगिता और स्थापना (९) रचना-शैली (१) व्याकरण विमर्श (११) भाषा की दृष्टि से (१२) शरीर-परामर्श (१३) छन्द विमर्श (१४) चूलिका (१५) दशवैकालिक और आचाराङ्ग चूलिका (१६) दशवैकालिक और आचाराङ्ग चूलिका का तुलनात्मक अध्ययन और (१७) दशवैकालिक की उत्तरवर्ती साहित्य में चर्चा।

उसके दूसरे अध्याय में निम्न विषयों की चर्चा है :

(१) समत्व दर्शन (२) अहिंसा का दृष्टिकोण (३) संयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण (४) प्रवचन-गौरव का दृष्टिकोण (५) परीषह-सहन का दृष्टिकोण (६) निषेध हेतुओं का स्थूल विभाग (७) विनय का दृष्टिकोण और ( ) साधना में सत्कर्म का दृष्टिकोण।

उसके तीसरे अध्याय के विषय इस प्रकार हैं

(१) जीवों का वर्गीकरण (२) अहिंसा और समता (३) पृथ्वी जगत् और अहिंसक निर्देश (४) अप् जगत् और अहिंसक निर्देश (५) तैजस जगत् और अहिंसक निर्देश (६) वायु जगत् और अहिंसक निर्देश (७) वनस्पति जगत् और अहिंसक निर्देश (८) त्रस जगत् और अहिंसक निर्देश (९) सत्य के निर्देश (१) अचौर्य के निर्देश (११) ब्रह्मचर्य के निर्देश (१२) अपरिग्रह के निर्देश (१३) चर्या और विहार (१४) वेष निर्णय (१५) कैसे चले? (१६) कैसे बैठे? (१७) कैसे खड़ा रहे? (१८) कैसे बोले? (१९) भिक्षु की उपमा क्यों और कैसे? (२) भिक्षा कैसे ले? (२१) कैसे खाए? (२२) इन्द्रिय और मनोनिग्रह के निर्देश (२३) किस लिए? (२४) पूज्य कौन? (२५) भिक्षु कौन? (२६) स्थिरीकरण के सूत्र (२७) विनय और (२८) मोक्ष का क्रम।

---

१ देखिए—निशाथ (१५) सूत्र की टिप्पणी (पृ ५१ टि १)।

चौथे अध्याय में निम्न विषय चर्चित हुए हैं :

(१) निक्षेप पद्धति—धर्म—अर्थ—अपाय—उपाय—आचार—पद—काय , (२) जैन शासन और परम्परा , (३) आहार चर्या , (४) मुनि कैसा हो ? और (५) सभ्यता और संस्कृति ।

अध्ययन के पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत विषय इस प्रकार हैं :

(१) परिभाषाएँ , (२) उपमा , (३) सूक्त और सुभाषित , (४) मुनि के विशेषण , (५) निरुक्त और (६) तुलनात्मक अध्ययन ।

साधुवाद

इस कार्य में तीन वर्ष लगे हैं । इसमें अनेक साधु-साध्वियो व श्रावको का योगदान है । उसके कुछ अध्ययनो के अनुवाद व टिप्पणियाँ तैयार करने में मुनि मीठालाल ने बहुत श्रम किया है । मुनि दुलहराज ने टिप्पणियो के सकलन व समग्र ग्रन्थ के समायोजन में सर्वाधिक प्रयत्न किया है । सस्कृत-छाया में मुनि सुमेरमल (लाडनू) का योग है । मुनि सुमन तथा कहीं-कही हसराज और वसत भी प्रतिलिपि करने में मुनि नथमल के सहयोगी रहे हैं । श्रीचन्दजी रामपुरिया ने इस कार्य में अपने तीव्र अध्यवसाय का नियोजन कर रखा है । मदनचन्दजी गोठी भी इस कार्य में सहयोगी रहे है । इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियो व श्रावको के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है ।

दशवैकालिक सूत्र के सर्वाङ्गीण सम्पादन का बहुत कुछ श्रेय शिष्य मुनि नथमल को ही मिलना चाहिए । क्योंकि इस कार्य मे अहर्निश वे जिस मनोयोग से लगे है, इसीसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है अन्यथा यह गुरुतर कार्य बडा दुरूह होता । इनकी वृत्ति मूलत योगनिष्ठ होने से मन की एकाग्रता सहज बनी रहती है, साथ ही आगम का कार्य करते-करते अन्तर्-रहस्य पकडने मे इनकी मेधा काफी पैनी हो गई है । विनय-शीलता, श्रम-परायणता और गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव ने इनकी प्रगति मे बड़ा सहयोग दिया है । यह वृत्ति इनकी बचपन से ही है । जब से मेरे पास आए, मैंने इनकी इस वृत्ति में क्रमश वर्धमानता ही पाई है । इनकी कार्य-क्षमता और कर्तव्य-परता ने मुझे बहुत संतोष दिया है ।

मैंने अपने सघ के ऐसे शिष्य साधु-साध्वियों के बल-बूते पर ही आगम के इस गुरुतर कार्य को उठाया है । अब मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे शिष्य साधु-साध्वियों के नि स्वार्थ, विनीत एवं समर्पणात्मक सहयोग से इस बृहत् कार्य को असाधारण रूप से सम्पन्न कर सकूगा ।

मुनि पुण्यविजयजी का समय-समय पर सहयोग और परामर्श मिला है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ है । उनका यह सकेत भी मिला था कि आगम कार्य यदि अहमदाबाद में किया जाय तो साधन-सामग्री की सुविधा हो सकती है ।

हमारा साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-समाज भी चिरकाल से दशवैकालिक की प्रतीक्षा मे है । प्रारम्भिक कार्य होने के कारण कुछ समय अधिक लगा फिर भी हमें सतोष है कि इसे पढकर उसकी प्रतीक्षा सतुष्टि में परिणत होगी ।

आजकल जन-साधारण में ठोस साहित्य पढने की अभिरुचि कम है । उसका एक कारण उपयुक्त साहित्य की दुर्लभता भी है । मुझे विश्वास है कि चिरकालीन साधना के पश्चात् पठनीय सामग्री सुलभ हो रही है, उससे भी जन-जन लाभान्वित होगा ।

इस कार्य-सकलन में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूँ ।

भिक्षु-बोधि-स्थल
राजसमन्द
वि स २०१९ फाल्गुन शुक्ला तृतीया

आचार्य तुलसी

प्रयुक्त ग्रन्थ एवं संकेत-सूची

ग्रन्थ-सकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	अगविज्जा	
अग० चू०	अगपण्णत्ति चूलिका	
अंत०	अतगडदशा	
अ० चू० अग० चू०	अगस्त्यसिह चूर्णि (दशवैकालिक)	
अ० वे०	अथर्व वेद	
अनु०	अनुयोगद्वार	
अनु० वृ०	अनुयोगद्वार वृत्ति	
अन्त०	अन्तकृद्दशा	
	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	
अ० चि० अ० चिं०	अभिधान चिन्तामणि	
अमर०	अमरकोष	
अ० प्र०	हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण	
	अष्टाध्यायी (पाणिनि)	
आ० अ०	आगम अठोत्तरी	
आ० आचा०	आचाराङ्ग	
आचा० नि०	आचाराङ्ग निर्युक्ति	
आचा० नि० वृ०	आचाराङ्ग निर्युक्ति वृत्ति	
आचा० वृ०	आचाराङ्ग वृत्ति	
आव०	आवश्यक	
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	
आ० हा० वृ० आव० हा० वृ०	आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति	
	आह्निक प्रकाश	
उत्त०	उत्तराध्ययन	
उत्त० चू०	उत्तराध्ययन चूर्णि	
उत्त० नि०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	
उत्त० ने० वृ०	उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्ति	
उत्त० बृ० उत्त० बृ० वृ० बृ० वृ०	उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति	
उत्त० स०	उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
उपा०	उपासकदशा	
उपा० टी	उपासकदशा टीका	
	ऋग्वेद	
ओ० नि० ओघ० नि०	ओघ निर्युक्ति	
ओ० नि० भा०	ओघ निर्युक्ति भाष्य	
ओ० नि० वृ०	ओघ निर्युक्ति वृत्ति	
औप०	औपपातिक	
औप० टी०	औपपातिक टीका	
	कठोपनिषद् शाङ्कर भाष्य	
कल्प	कल्पसूत्र	
	कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक	
	कालीदास का भारत	
कौटि० अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र	
कौ० अ०	कौटलीय अर्थशास्त्र	
	गच्छाचार	
गीता शा भा	गीता शाङ्कर भाष्य	
गोभिल स्मृ	गोभिल स्मृति	
च०	चरक	
चरक सिद्धि	चरक सिद्धिस्थानम्	
च० सू	चरक सूत्रस्थानम्	
चू (दश०)	चूलिका (दशवैकालिक)	
छान्दो	छान्दोग्योपनिषद्	
छान्दो० शा भा०	छान्दोग्योपनिषद् शाङ्कर भाष्य	
जम्बू	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	
ज ध धवला	जय धवला	
जा० प्र० ख	जातक प्रथम खण्ड	
जि चू	जिनदास चूर्णि (दशवैकालिक)	
जीवा वृ जी वृ	जीवाभिगम वृत्ति	
जै भा	जैन भारती (साप्ताहिक पत्रिका)	
	जैन सत्य प्रकाश (पत्रिका)	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
जै० सि० दी० जै० सि०	जैन सिद्धान्त दीपिका	
ज्ञातृ०	ज्ञातधर्म कथा	
तत्त्वा०	तत्त्वार्थाधिगम सूत्र	
त० भा० तत्त्वा० भा०	तत्त्वार्थ भाष्य	
तत्त्वा० भा० टी०	तत्त्वार्थ भाष्य टीका	
दशवै० दश०	दसवेआलिय सुत्त दशवैकालिक	(के० वी० अभ्यङ्कर) (मनसुख लाल) (जी० घेलाभाई) (तिल्काचार्य वृत्ति)
दशवै० चू० दश० चू०	दशवैकालिक चूलिका	
दशवै० दी० दी०	दशवैकालिक दीपिका	
दश० नि०	दशवैकालिक निर्युक्ति	
दशा०	दशाश्रुत स्कन्ध	
दे० ना०	देशी नाममाला	
द्वा० कु०	द्वादश कुलक	
ध० ना० धन० नाम०	धनञ्जय नाममाला	
धम्म०	धम्मपद	
	धर्म निरपेक्ष भारत की प्रजातन्त्रात्मकपरम्पराएँ	
न० न० सू० नन्दी सू०	नन्दी सूत्र	
न० सू० गा०	नन्दी सूत्र गाथा	
नाया०	नायाधम्म कहा	
	नालन्दा विशाल शब्द सागर	
नि०	निशीथ	
नि० चू० उ०	निशीथ चूर्णि उद्देशक	
नि० चू०	निशीथ चूर्णि	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	प्राचीन भारत	
	प्राचीन भारतीय मनोरजन	
बृं० हि०	बृहद् हिन्दीकोप	
	ब्रह्मचर्य	
भग० जो०	भगवती जोड	
भग०	भगवती	
भग० टी०, भग० वृ०	भगवती टीका	
भा० गा०	भाष्य गाथा	
भिक्षु ग्रन्थ ०	भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर	
भिक्षु०	भिक्षु शब्दानुशासन	
	भिक्खुनी पात्तिमोख	
म० नि०	मज्झिम निकाय	
म० स्मृ०	मनुस्मृति	
म० भा०, महा०	महाभारत	
महा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व	
	महावग्गो (विनय पिटक)	
मूला०	मूलाचार	
मेघ० उ०	मेघदूत उत्तरार्द्ध	
	मोहत्यागाष्टकम्	
	यजुर्वेद	
	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
	रस तरंगिणी	
	लघुहारीत	
व० च०	वनस्पति चन्द्रोदय	
व० स्मृ०, वशिष्ठ०	वशिष्ठ स्मृति	
वि० पि०	विनय पिटक	
	विनय पिटक महावग्ग	
	,, ,, चुल्लवग्ग	
	,, ,, भिक्खुनी पातिमोक्ष छत्तवग्ग	
	,, ,, भिक्षु पातिमोक्ष	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	व० पाति मोक्ष	
	विशुद्धि मार्ग भूमिका	
वि० पु०	विष्णु पुराण	
वृ० गौ० स्मृ०	वृद्ध गौतम स्मृति	
व्य व्यव०	व्यवहार	
व्य० भा०	व्यवहार भाष्य	
व्य० भा० टी०	व्यवहार भाष्य टीका	
शा नि भू० शा नि शालि० नि०	शालिग्राम निघंटु भूषण	
शु० शुक्र० नी०	शुक्र नीति	
श्रमण०	श्रमण सूत्र	
	श्री महावीर कथा	
	षड् भाषा चन्द्रिका	
सं नि०	संयुक्त निकाय	
	सन्देह विषौषधि	
सम	समवायाङ्ग	
सम टी सम० वृ०	समवायाङ्ग टीका	
	समाचारी शतक	
	समी सांकळो उपदेश (गो भो पटेल)	
	सिद्ध चक्र (पत्रिका)	
सु नि	सुत्त निपात	
सु नि० (गुज)	सुत्त निपात (गुजराती)	
सु	सुश्रुत	
सु चि	सुश्रुत चिकित्सा स्थान	
सु सू०	सुश्रुत सूत्र स्थान	
सू सूत्र	सूत्रकृताङ्ग	
सूत्र चू	सूत्रकृताङ्ग चूर्णि	

ग्रन्थ-सकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
सूत्र० टी०	सूत्रकृताङ्ग टीका	
	स्कन्द पुराण	
स्था०	स्थानाङ्ग	
स्था० टी० स्था० वृ०	स्थानाङ्ग टीका	
स्मृ० अ०	स्मृति अर्थशास्त्र	
हल० हला०	हलायुध कोप	
हा० टी० प०	हारिभद्रीय टीका पत्र (दशवैकालिक)	
	हिन्दू राज्यतन्त्र (दूसरा खण्ड)	
हैम० हैमश०	हैम शब्दानुशासन	
	A Dictionery of Urdu, Classical Hindi & English	
	A Sanskrit English Dictionery	
	Dasavealiya Sutra	By K V. Abhyankar, M A
	Dasvaikalika Sutra A Study	By M V. Patwardhan
	History of Dharmashastra	By P V Kane, M. A , LL M
	Journal of the Bihar & Orissa Research Society	
	The Book or Gradual Sayings	Translated by E. M Hare
	The Book of the Discipline	(Sacred Books of the Buddhists) (Vol XI)
	The Uttaradhyayan Sutra	By J Charpentier, Ph. D

अनुक्रमणिका

दसवेआलियं (दशवैकालिक)

विषय-सूची

सूत्र १६ रात्रि भोजन विरमण —व्रत का निरूपण और स्वीकार-पद्धति।
१७ पांच महाव्रत और रात्रि भोजन विरमण व्रत के स्वीकार का हेतु।

३ यतना

„ १८ पृथ्वीकाय की हिंसा के विविध साधनों से बचने का उपदेश।
१६ अप्काय की हिंसा के विविध साधनों से बचने का उपदेश।
२० तेजस्काय की हिंसा के विविध साधनों से बचने का उपदेश।
२१ वायुकाय की हिंसा के विविध साधनों से बचने का उपदेश।
२२ वनस्पतिकाय की हिंसा के विविध साधनों से बचने का उपदेश।
२३ त्रसकाय की हिंसा से बचने का उपदेश।

४ उपदेश

श्लोक १ अयतनापूर्वक चलने से हिंसा बन्धन और परिणाम।
२ अयतनापूर्वक खड़े रहने से हिंसा बन्धन और परिणाम।
„ ३ अयतनापूर्वक बैठने से हिंसा बन्धन और और परिणाम।
„ ४ अयतनापूर्वक सोने से हिंसा बन्धन और परिणाम।
„ ५ अयतनापूर्वक भोजन करने से हिंसा बन्धन और परिणाम।
„ ६ अयतनापूर्वक बोलने से हिंसा बन्धन और परिणाम।
„ ७ प्रवृत्ति में अहिंसा की जिज्ञासा।
८ प्रवृत्ति में अहिंसा का निरूपण
„ ९ आत्मौपम्य-बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति और अबन्ध।
„ १० ज्ञान और दया (संयम) का पौर्वापर्य और अज्ञानी की भर्त्सना।
„ ११ श्रुति का माहात्म्य और श्रेयस् के आचरण का उपदेश।

५ धर्म-फल

„ १२-२५ धर्म-मुक्ति की प्रक्रिया—आत्म-शुद्धि का आरोह क्रम।
संयम के ज्ञान का अधिकारी गति विज्ञान बन्धन और मोक्ष का ज्ञान आसक्ति व वस्तु-उपभोग का त्याग संयोग का त्याग मुनि-पद का स्वीकरण चारित्रिक भावों की वृद्धि, पूर्वसंचित कर्मरजों का निर्जरण, केवल ज्ञान और केवल-दर्शन की संप्राप्ति लोक-अलोक का प्रत्यक्षीकरण योग निरोध शैलेशी अवस्था की प्राप्ति, कर्मों का संपूर्ण क्षय शाश्वत सिद्धि की प्राप्ति।
„ २६ सुगति की दुर्लभता।
२७ सुगति की सुलभता।
„ २८ यतना का उपदेश और उपसंहार।

पञ्चम अध्ययन पिण्डैषणा [प्रथम उद्देशक] (एषणा-गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि) ११७-२११

१ गवेषणा

श्लोक १ २ ३ भोजन पानी की गवेषणा के लिए कब, कहाँ और कैसे जाय ?
„ ४ विषम मार्ग से जाने का निषेध।
५ विषम मार्ग में जाने से होने वाले दोष।

श्लोक ७ आचार के अठारह स्थानों का निर्देश।

पहला स्थान अहिंसा

८,९,१० अहिंसा की परिभाषा जीव-वध न करने का उपदेश अहिंसा के विचार का व्यावहारिक आधार।

दूसरा स्थान सत्य

" ११,१२ मृषावाद के कारण और मृषा न बोलने का उपदेश।

मृषावाद वर्जन के कारणों का निरूपण।

तीसरा स्थान अचौर्य

१३,१४ अदत्त-ग्रहण का निषेध।

चौथा स्थान ब्रह्मचर्य

१५,१६ अब्रह्मचर्य सेवन का निषेध और उसके कारण।

पाँचवाँ स्थान अपरिग्रह

१७,१८ सन्निधि का निषेध सन्निधि चाहने वाले श्रमण की गृहस्थ से तुलना।

१९ धर्मोपकरण रखने के कारणों का निर्देश।

" २० परिग्रह की परिभाषा।

" २१ निर्ग्रन्थों के ममत्व का निरूपण।

छठा स्थान रात्रि-भोजन का त्याग

" २२ एकभक्त भोजन का निर्देशन।

२३,२४,२५ रात्रि-भोजन का निषेध और उसके कारण।

सातवाँ स्थान पृथ्वीकाय की यतना

२६,२७,२८ श्रमण पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

दोष-दर्शन पूर्वक पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

आठवाँ स्थान : अप्काय की यतना

" २९,३०,३१ श्रमण अप्काय की हिंसा नहीं करते।

दोष-दर्शनपूर्वक अप्काय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

नवाँ स्थान : तेजस्काय की यतना

३२ श्रमण अग्नि की हिंसा नहीं करते।

" ३३,३४,३५ तेजस्काय की भयानकता का निरूपण।

दोष-दर्शनपूर्वक तेजस्काय की हिंसा का निषेध और उसका निरूपण।

दसवाँ स्थान वायुकाय की यतना

३६ श्रमण वायु का समारम्भ नहीं करते।

" ३७,३८,३९ विभिन्न साधनों से वायु उत्पन्न करने का निषेध। दोष-दर्शन पूर्वक वायुकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

ग्यारहवाँ स्थान : वनस्पतिकाय की यतना

" ४०,४१,४२ श्रमण वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते।

दोष-दर्शन पूर्वक वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

श्लोक ७ आचार के अठारह स्थानों का निर्देश।

पहला स्थान अहिंसा

८,९,१० अहिंसा की परिभाषा जीव-वध न करने का उपदेश, अहिंसा के विचार का व्यावहारिक आधार।

दूसरा स्थान : सत्य

११,१२ मृषावाद के कारण और मृषा न बोलने का उपदेश।
मृषावाद वर्जन के कारणों का निरूपण।

तीसरा स्थान अचौर्य

१३,१४ अदत्त-ग्रहण का निषेध।

चौथा स्थान : ब्रह्मचर्य

" १५,१६ अब्रह्मचर्य सेवन का निषेध और उसके कारण।

पाँचवाँ स्थान : अपरिग्रह

" १७,१८ सन्निधि का निषेध, सन्निधि चाहने वाले श्रमण की गृहस्थ से तुलना।
" १९ धर्मोपकरण रखने के कारणों का निर्देश।
" २० परिग्रह की परिभाषा।
" २१ निर्ग्रन्थों के अममत्व का निरूपण।

छठा स्थान रात्रि-भोजन का त्याग

२२ एकभक्त भोजन का निर्देशन।
२३,२४,२५ रात्रि भोजन का निषेध और उसके कारण।

सातवाँ स्थान : पृथ्वीकाय की यतना

" २६,२७,२८ श्रमण पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।
दोष-दर्शन पूर्वक पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

आठवाँ स्थान अप्काय की यतना

" २९,३०,३१ श्रमण अप्काय की हिंसा नहीं करते।
दोष-दर्शनपूर्वक अप्काय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

नवाँ स्थान तेजस्काय की यतना

" ३२ श्रमण अग्नि की हिंसा नहीं करते।
" ३३,३४,३५ तेजस्काय की भयानकता का निरूपण।
दोष-दर्शनपूर्वक तेजस्काय की हिंसा का निषेध और उसका निरूपण।

दसवाँ स्थान वायुकाय की यतना

३६ श्रमण वायु का समारम्भ नहीं करते।
" ३७,३८,३९ विभिन्न साधनों से वायु उत्पन्न करने का निषेध। दोष-दर्शन पूर्वक वायुकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

ग्यारहवाँ स्थान : वनस्पतिकाय की यतना

" ४०,४१,४२ श्रमण वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते।
दोष-दर्शन पूर्वक वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

★

शुद्धि-पत्रक
(१)

अ० गा० चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१।३।२	लाए	लोए
२।४।४ (छाया)	विनयेद्	विनये
३।६।३ (छाया)	निर्वृ'त	निर्वृ'त
३।१४।४	सिळ्फति	सिज्झति
४।सू०६ (छाया)	उद्‌भिजाः	उद्‌भिदः
४।सू०१०	जाणार्मि	जाणामि
४।सू०११	सव्वाव्वो	सव्वाओ
४।सू०१३	मणण	मणेण
४।सू०१३ (छाया)	वहु	बहु
४।सू०१३ (छाया)	अणु	अणु
५(उ०१)४।४ (छाया)	पराक्रमे	परक्रमे
५(उ०१)६५।३	जेइ	जइ
६।२८।२ (छाया)	पृथ्त्री०	पृथ्वी०
६।३१।३ (छाया)	काय	
६।३४।२ (छाया)	हव्व०	
६।४६।४ (छाया)	सयम-म	
६।६२।२ (छाया)	ऊष्णेन	
६।६८।३ (छाया)	चन्द्रमा	
६।६८।४ (छाया)	० यान्ति०	
७।१५।३ (छाया)	भागिनेयि	
७।२७।१ (छाया)	प्रासादस्तम्भाभ्यां	
७।५१।१	सीउण्ह	
७।५२।४ (छाया)	वदेद	
८।१०।२ (छाया)	च	
८।१६।३ (छाया)	यतेत्	
८।१८।२ (छाया)	'खेल'	
८।१६।३ (छाया)	'भाषेत्	भाषेत
८।२३।२ (छाया)	दुगञ्छ	दुगुञ्छ०
६(उ०४) सू०७-५।२	मायट्ठिए	
१०।२०।३	निक्खम्म	निक्खम्म

अ० गा० चरण	अशुद्ध	शुद्ध
चू०१सू०१(पं०४)	गर्मकुसं	गर्मकुस
चू०१सू०१८।५ (छाया)	अप्टादशपर्व	अप्टादशं पर्व
चू०१।१२।३	कुसीलं	कुसीला
चू०२।१।३ (छाया)	स पुण्यानां	सपुण्यानां
चू २।७।२	गया	गओ
चू २।६।१ (छाया)	क्या	कैया

(२)

पृष्ठ	उद्धरण, टिप्पण पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	उ ३	८ १ १७१	८-१-२७१
१२	प० ७	गेरुम	गेरुक
१६	पं० ४	दन्त	वान्त
२	उ १ पं २	भयं समुत्तं	भयसंमुत्तं
२	उ० १ पं० २	पिभित	पिबति
२	उ १ पं ८	सं	सं
२०	उ १ पं० १३	माति	मति
२५	पं ९	कहते	करते
२८	टि १४	(पिट्ठि")	(बिपिट्ठि)
३१	टि० २२	८।१।२८	८।१।२९
३६	पं १७	तेमसो०	तेऽमसो
३९	पं ८	यह परिशिष्ट में दी जा रही है ।	×
११७	पं० १	कौष्ठिक	कैठ
१७९	पं ११	हिंसा	अहिंसा
१८९	टि १६६ के बाद	श्लोक २८	×
१८९	टि १६७	श्लोक २७	×
१८९		श्लोक २९	श्लोक २८
२१९	पं १६	मानी	पानी
२२१	पं० १	'संति'	'सन्ति'
३११	पं ६	श्रुत,	श्रुत अथवा
३८७	पं ६	संवहन योग्य	संवहन
३९९	पं १७	मन्न	मुन्न
४ ५	पं ९	अहिंसक	नित्य अहिंसक
४४६	पं ३	'विय'	'विय

पढमं अज्झयणं

दुमपुप्फिया

प्रथम अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

पढमं अज्झयणं

दुमपुप्फिया

प्रथम अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

आमुख

भारतीय चिन्तन का निचोड है—'अस्तिवाद'। 'आत्मा है'—यह उसका अमर घोष है। उसकी अन्तिम परिणति है—'मोक्षवाद'। 'आत्मा की मुक्ति संभव है'—यह उसकी चरम अनुभूति है। मोक्ष साध्य है। उसकी साधना है—'धर्म'।

धर्म क्या है? क्या सभी धर्म मगल हैं? अनेक धर्मों में से मोक्ष-धर्म—सत्य-धर्म की पहचान कैसे हो? ये चिर-चिंत्य प्रश्न रहे हैं। व्यामोह उत्पन्न करने वाले इन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रथम श्लोक के दो चरणों में किया गया है। जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिनसे यह हित नहीं सधता वे धर्म नहीं धर्माभास हैं।

'धर्म' का अर्थ है—धारण करनेवाला। मोक्ष का साधन वह धर्म है जो आत्मा के स्वभाव को धारण करे। जो विजातीय तत्त्व को धारण करे वह धर्म मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अहिंसा, सयम और तप है। साधना-काल में ये आत्मा की उपलब्धि के साधन रहते हैं और सिद्धि-काल में ये आत्मा के गुण—स्वभाव। साधना-काल में ये धर्म कहलाते हैं और सिद्धि-काल में आत्मा के गुण। पहले ये साधे जाते हैं फिर ये स्वयं सध जाते हैं।

मोक्ष परम मगल है, इसलिए इसकी उपलब्धि के साधन को भी परम मगल कहा गया है। वही धर्म परम मगल है जो मोक्ष की उपलब्धि करा सके।

'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है और मोक्ष-धर्म की भी अनेक व्याख्याएँ हैं। इसलिए उसे कसौटी पर कसते हुए बताया गया है कि मोक्ष-धर्म वही है जिसके लक्षण अहिंसा, सयम और तप हों।

प्रश्न है—क्या ऐसे धर्म का पालन सम्भव है? समाधान के शब्दों में कहा गया है—जिसका मन सदा धर्म में होता है उसके लिए उसका पालन भी सदा सम्भव है। जो इस लोक में निस्पृह होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

सिद्धि-काल में शरीर नहीं होता, वाणी और मन नहीं होते, इसलिए आत्मा स्वयं अहिंसा बन जाती है। साधना-काल में शरीर, वाणी और मन ये तीनों होते हैं। शरीर आहार बिना नहीं टिकता। आहार हिंसा के बिना निष्पन्न नहीं होता। यह जटिल स्थिति है। अब भला कोई कैसे पूरा अहिंसक बने? जो अहिंसक नहीं, वह धार्मिक नहीं। धार्मिक के बिना धर्म कोरी कल्पना की वस्तु रह जाती है। साधना का पहला चरण इस उलझन से भरा है। शेष चार श्लोकों में इसी समस्या का समाधान दिया गया है। समाधान का स्वरूप माधुकरी वृत्ति है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ है·

(१) मधुकर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे।

(२) मधुकर पुष्पों से स्वभाव-सिद्ध रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थों के घरों से, जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार ले।

(३) मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोडा-थोडा रस पीता है। वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोडा-थोडा ग्रहण करे।

(४) मधुकर उतना ही मधु ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है। वह दूसरे दिन के लिए कुछ संग्रह कर नहीं रखता। वैसे ही श्रमण सयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ग्रहण करे—सञ्चय न करे।

(५) मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता परन्तु विविध वृक्ष और फूलों से रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी एक गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदानिक रूप से भिक्षा करे।

आमुख

भारतीय चिन्तन का निचोड है—'अस्तिवाद'। 'आत्मा है'—यह उसका अमर घोष है। उसकी अन्तिम परिणति है—'मोक्षवाद'। 'आत्मा की मुक्ति सभव है'—यह उसकी चरम अनुभूति है। मोक्ष साध्य है। उसकी साधना है—'धर्म'।

धर्म क्या है? क्या सभी धर्म मंगल हैं? अनेक धर्मों में से मोक्ष-धर्म—सत्य-धर्म की पहचान कैसे हो? ये चिर-चिंत्य प्रश्न रहे हैं। व्यामोह उत्पन्न करने वाले इन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रथम श्लोक के दो चरणो में किया गया है। जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिनसे यह हित नहीं सधता वे धर्म नहीं धर्माभास हैं।

'धर्म' का अर्थ है—धारण करनेवाला। मोक्ष का साधन वह धर्म है जो आत्मा के स्वभाव को धारण करे। जो विजातीय तत्त्व को धारण करे वह धर्म मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अहिंसा, संयम और तप है। साधना-काल में ये आत्मा की उपलब्धि के साधन रहते हैं और सिद्धि-काल में ये आत्मा के गुण—स्वभाव। साधना-काल में ये धर्म कहलाते हैं और सिद्धि-काल में आत्मा के गुण। पहले ये साधे जाते हैं फिर ये स्वयं सध जाते हैं।

मोक्ष परम मगल है, इसलिए इसकी उपलब्धि के साधन को भी परम मगल कहा गया है। वही धर्म परम मगल है जो मोक्ष की उपलब्धि करा सके।

'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है और मोक्ष-धर्म की भी अनेक व्याख्याएँ हैं। इसलिए उसे कसौटी पर कसते हुए बताया गया है कि मोक्ष-धर्म वही है जिसके लक्षण अहिंसा, सयम और तप हों।

प्रश्न है—क्या ऐसे धर्म का पालन सम्भव है? समाधान के शब्दों में कहा गया है—जिसका मन सदा धर्म मे होता है उसके लिए उसका पालन भी सदा सम्भव है। जो इस लोक में निस्पृह होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

सिद्धि-काल में शरीर नहीं होता, वाणी और मन नहीं होते, इसलिए आत्मा स्वयं अहिंसा बन जाती है। साधना-काल में शरीर, वाणी और मन ये तीनों होते हैं। शरीर आहार बिना नहीं टिकता। आहार हिंसा के बिना निष्पन्न नहीं होता। यह जटिल स्थिति है। अब भला कोई कैसे पूरा अहिंसक बने? जो अहिंसक नहीं, वह धार्मिक नहीं। धार्मिक के बिना धर्म कोरी कल्पना की वस्तु रह जाती है। साधना का पहला चरण इस उलझन से भरा है। शेष चार श्लोकों में इसी समस्या का समाधान दिया गया है। समाधान का स्वरूप माधुकरी वृत्ति है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ है :

(१) मधुकर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे।

(२) मधुकर पुष्पों से स्वभाव-सिद्ध रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थों के घरों से, जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार ले।

(३) मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोड़ा-थोड़ा रस पीता है। वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(४) मधुकर उतना ही मधु ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है। वह दूसरे दिन के लिए कुछ संग्रह कर नहीं रखता। वैसे ही श्रमण सयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ग्रहण करे—सञ्चय न करे।

(५) मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता परन्तु विविध वृक्ष और फूलों से रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी एक गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदानिक रूप से भिक्षा करे।

इस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान हैं तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय। यह देश उपमा है[1]। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं[2] (१) अनियत-वृत्ति और (२) अहिंसा-पालन।

अनियत-वृत्ति का सूचन—'जे भवंति अणिस्सिया'[3] (१५) और अहिंसा पालन का सूचन—'न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं' (१२) से होता है। द्रुम-पुष्प की उपमा का हेतु है—सहज निष्पन्नता। इसका सूचक 'अहागडेसु रीयन्ते, पुप्फेसु भमरा जहा' (१४) यह श्लोकार्ध है।

अहिंसा-पालन में श्रमण क्या ले और कैसे ले?—इन दोनों प्रश्नों पर विचार हुआ है और अनियत-वृत्ति में केवल कैसे ले? इसका विचार है। कैसे ले? यह दूसरा प्रश्न है। पहला प्रश्न है—क्या ले? इसमें मधुकर की अपेक्षा द्रुम-पुष्प का सम्बन्ध निकटतम है।

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम-पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुम-पुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुम-पुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी-वृत्ति का गौरवतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन में श्रमण को भ्रामरी-वृत्ति से आजीविका प्राप्त करने का बोध दिया गया है। चूँकि इस वृत्ति का सूचन द्रुम-पुष्पिका शब्द से अच्छी तरह होता है। अतः इसका नाम द्रुम-पुष्पिका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य माधुकरी-वृत्ति नहीं है, उनका मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म के आचरण की सम्भवता। निस्सन्देह यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्देशन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे यथाकृत आहार ले जीवन को संयम और तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे।

धार्मिक का महत्त्व धर्म होता है। धर्म की प्रशंसा है वह धार्मिक की प्रशंसा है और धार्मिक की प्रशंसा है वह धर्म की प्रशंसा है। धार्मिक और धर्म के इस अभेद को लक्षित कर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने कहा है—"पढमे धम्मपसंसा" (नि० गा० २०) पहले अध्ययन में धर्म की प्रशंसा—महिमा है।

१—(क) नि० गा० ९९ : जह भमरोत्ति य एत्थं दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।

(ख) नि० गा० १०० : एवं भमराहरणे अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं। गहणं.........॥

२—नि० गा० १२१ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

३—हा० टी० प० ७२ : 'अनिश्रिताः' कुलादिषु अप्रतिबद्धाः।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
—[1]धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो । देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥	धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टम् अहिंसा संयमः तपः । देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥	धर्म[2] उत्कृष्ट मंगल[3] है। अहिंसा[4], संयम[5] और तप[6] उसके लक्षण हैं[7]। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव[8] भी नमस्कार करते हैं।
२—जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं । न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥	यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम् । न च पुष्पं क्लामयति स च प्रीणाति आत्मकम् ॥ २ ॥	जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है[9]—किसी पुष्प को[10] म्लान नहीं करता[11] और अपने को भी तृप्त करता है—
३—एमेए[12] समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो[15] । विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥	एवमेते श्रमणा मुक्ताः ये लोके सन्ति साधवः । विहङ्गमा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणे रताः ॥ ३ ॥	उसी प्रकार लोक में जो मुक्त[13] श्रमण[14] साधु[16] हैं वे दानभक्त[17]—दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार—की एषणा में रत[18] रहते हैं जैसे भ्रमर पुष्पों में।
४—वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मई । अहागडेसु रीयंति पुप्फेसु भमरा जहा ॥	वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कोऽप्युपहन्यते । यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥ ४ ॥	हम[19] इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो। श्रमण यथाकृत[20]—सहज रूप से बना—आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों से रस।
५—महुकारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया । नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो ॥ त्ति बेमि	मधुकर-समा बुद्धाः ये भवन्त्यनिश्रिताः । नाना-पिण्ड-रता दान्ताः तेन उच्यन्ते साधवः ॥ ५ ॥ इति ब्रवीमि	जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं[21]—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिण्ड में रत हैं[22] और जो दान्त हैं[23] वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं[24]। ऐसा मैं कहता हूँ।

★

इस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान हैं तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय। यह इस उपमा है[1]। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं[2] (१) अनियत-वृत्ति और (२) अहिंसा-पालन।

अनियत-वृत्ति का सूचन—'जे भवंति अणिस्सिया'[3] (१५) और अहिंसा पालन का सूचन—'न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं' (१२) से होता है। द्रुम-पुष्प की उपमा का हेतु है—सहज निष्पन्नता। इसका सूचक 'अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा' (१४) यह श्लोकार्ध है।

अहिंसा-पालन में श्रमण क्या ले और कैसे ले?—इन दोनों प्रश्नों पर विचार हुआ है और अनियत-वृत्ति में केवल कैसे ले? इसका विचार है। कैसे ले? यह दूसरा प्रश्न है। पहला प्रश्न है—क्या ले? इससे मधुकर की अपेक्षा द्रुम-पुष्प का सम्बन्ध निकटतम है।

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम-पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुम-पुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुम-पुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी-वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन में श्रमण को भ्रामरी-वृत्ति से आजीविका प्राप्त करने का बोध दिया गया है। चूँकि इस वृत्ति का सूचन द्रुम-पुष्पिका शब्द से अच्छी तरह होता है। अतः इसका नाम द्रुम-पुष्पिका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य माधुकरी-वृत्ति नहीं है, उनका मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म के आचरण की सम्भवता। निःसन्देह यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निदर्शन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे, यथाकृत आहार ले जीवन को संयम और तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे।

धार्मिक का महत्त्व धर्म होता है। धर्म की प्रशंसा है वह धार्मिक की प्रशंसा है और धार्मिक की प्रशंसा है वह धर्म की प्रशंसा है। धार्मिक और धर्म के इस अभेद को लक्षित कर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने कहा है—"पढमे धम्मपसंसा" (नि० गा २०) पहले अध्ययन में धर्म की प्रशंसा—महिमा है।

१—(क) नि० गा० ९९ : जह भमरोत्ति य एत्थं दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।

(ख) नि० गा० १०० : एवं भमराहरणे अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं। गहणं...... .. ... ॥

२—नि० गा० १२९ : [illegible] । अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

३—हा० टी० प० ७३ : 'अनिश्रिताः' कुलादिषु अप्रतिबद्धाः।

जो दुर्गति में नहीं पड़ने देता वह धर्म[1] यहाँ अभीष्ट है। ऐसा धर्म संयम में प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति रूप है[2] तथा अहिंसा, संयम और तप लक्षणवाला है। उसे ही यहाँ उत्कृष्ट मंगल कहा है[3]।

३. उत्कृष्ट मंगल (मंगलमुक्किट्ठं क) :

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते हैं[4]। मंगल के दो भेद हैं :—(१) द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और (२) भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार में पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंखध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन-प्राप्ति, कार्य-सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक-मंगल हैं—लोक-दृष्टि में मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं कहते, क्योंकि इनमें आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाला मंगल 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अत वह भाव-मंगल है[5]।

धर्म एकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख रूप है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक क्षय करता है, जिससे उसके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलों में एकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता[6]। धर्म आत्मा की सिद्धि करनेवाला, उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला होता है (सिद्धि त्ति काऊण—नि० ४४)। वह भव—जन्म-मरण के बन्धनों को गलानेवाला—काटनेवाला होता है (भवगालनादिति—नि० ४४, हा० टी० प० २४)। संसार-बंधन से बड़ा कोई दुःख नहीं। संसार-मुक्ति से बड़ा कोई सुख नहीं। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल—अनुत्तर मंगल है[7]।

४. अहिंसा (अहिंसा ख) :

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना[8]। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना—अहिंसा है[9] अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है[10]। "जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सर्व जीवों को है। जैसे मैं जीने

१—जि० चू० पृ० १५ यस्मात् जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतत धारयतीति धर्म । उक्त च—

"दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते तत ।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थित ॥"

२—जि० चू० पृ० १७ असजमाउ नियत्ती सजमम्मि य पवित्ती।

३—(क) नि० गा० ८६ धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममगल पइन्ना।

(ख) जि० चू० पृ० १५ अहिंसातवसजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस णिद्देसोत्ति।

४—हा० टी० प० ३ मग्यते हितमनेनेति मगल, मग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।

५—(क) नि० गा० ४४ दव्वे भावेऽवि अ मगलाइं दव्वम्मि पुण्णकलसाई।

धम्मो उ भावमगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊण॥

(ख) जि० चू० पृ० १६ जाणि दव्वाणि चेव लोगे मगलबुद्धीए घेप्पति जहा सिद्धत्थगदहिसालिअक्खयादीणि ताणि दव्वमगल, भावमगल पुण एसेव लोगुत्तरो धम्मो, जम्हा एत्थ ठियाण जीवाण सिद्धी भवइ।

६—(क) जि० चू० पृ० १६ दव्वमगल अणेगतिग अणच्चन्तिय च भवति, भावमगल पुण एगतिय अच्चतिय च भवइ।

(ख) नि० गा० ४४, हा० टी० प० २४ अयमेव चोत्कृष्ट—प्रधान मगलम्, एकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च।

७—जि० चू० पृ० १५ उक्किट्ठ णाम अणुत्तर, ण तओ अग्गं उक्किट्ठयरति।

८—जि० चू० पृ० २० मणवयणकाएहि जोएहि दुप्पउत्तेहिं ज पाणववरोवण कज्जइ सा हिंसा।

९—नि० गा० ४५ हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसऽजीवाइवाओत्ति॥

१०—(क) जि० चू० पृ० १५ अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।

(ख) दी० टीका पृ० १ न हिंसा अहिंसा जीवदया प्राणातिपातविरति ।

जो दुर्गति में नहीं पड़ने देता वह धर्म[1] यहाँ अभीष्ट है। ऐसा धर्म संयम मे प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति रूप है[2] तथा अहिंसा, संयम और तप लक्षणवाला है। उसे ही यहाँ उत्कृष्ट मंगल कहा है[3]।

३. उत्कृष्ट मंगल (मंगलमुक्किट्ठं क):

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते हैं[4]। मंगल के दो भेद हैं —(१) द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और (२) भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार मे पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंखध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन-प्राप्ति, कार्य-सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक-मंगल हैं—लोक-दृष्टि मे मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं कहते, क्योंकि इनमे आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाला मंगल 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अतः वह भाव-मंगल है[5]।

धर्म एकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख रूप है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक क्षय करता है, जिससे उसके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलों मे एकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता[6]। धर्म आत्मा की सिद्धि करनेवाला, उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला होता है (सिद्धि त्ति काऊण—नि० ४४)। वह भव—जन्म-मरण के बन्धनों को गलानेवाला—काटनेवाला होता है (भवगालनादिति—नि० ४४, हा० टी० प० २४)। संसार-बंधन से बड़ा कोई दुःख नहीं। संसार-मुक्ति से बड़ा कोई सुख नहीं। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल—अनुत्तर मंगल है[7]।

४. अहिंसा (अहिंसा ख):

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना[8]। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना—अहिंसा है[9] अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है[10]। "जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सर्व जीवों को है। जैसे मैं जीने

१—जि० चू० पृ० १५ यस्मात् जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुपदेवत्वेपु प्रपतत धारयतीति धर्म । उक्त च—
"दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते तत ।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थित ॥"

२—जि० चू० पृ० १७ असजम्माउ नियत्ती सजमंमि य पवित्ती।

३—(क) नि० गा० ८९ धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममगल पइन्ना।
(ख) जि० चू० पृ० १५ अहिंसातवसजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस णिद्देसोत्ति।

४—हा० टी० प० ३ मग्यते हितमनेनेति मगल, मग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।

५—(क) नि० गा० ४४ दव्वे भावेऽवि अ मगलाइ दव्वम्मि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊण॥
(ख) जि० चू० पृ० १६ जाणि दव्वाणि चेव लोगे मगलबुद्धीए घेप्पति जहा सिद्धत्थगदहिसालिअक्खयादीणि ताणि दव्वमगलं, भावमगल पुण एसेव लोगुत्तरो धम्मो, जम्हा एत्थ ठियाण जीवाण सिद्धी भवइ।

६—(क) जि० चू० पृ० १६ दव्वमगल अणेगतिग अणच्चन्तिय च भवति, भावमगल पुण एगतिय अच्चतिय च भवइ।
(ख) नि० गा० ४४, हा० टी० प० २४ अयमेव चोत्कृष्ट—प्रधान मगलम्, एकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च।

७—जि० चू० पृ० १५ उक्किट्ठ णाम अणुत्तर, ण तओ अण्ण उक्किट्ठयरति।

८—जि० चू० पृ० २० मणवयणकाएहिं जोएहिं दुप्पउत्तेहिं ज पाणववरोवण कज्जइ सा हिंसा।

९—नि० गा० ४५ हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसऽजीवाइवाओत्ति॥

१०—(क) जि० चू० पृ० १५ अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।
(ख) दी० टीका पृ० १ न हिंसा अहिंसा जीवदया प्राणातिपातविरति ।

टिप्पणियाँ अध्ययन १

[टिप्पणियों में प्रयुक्त 'क' 'ख' 'ग' 'घ' संकेत क्रमशः श्लोक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण के द्योतक हैं। ये संकेत चिह्नित शब्द किस चरण में है इसके निर्देशक हैं।]

श्लोक १

१ तुलना

'धम्मपद' (धम्मट्ठवग्गो १९.६) के निम्नलिखित श्लोक की इससे आंशिक तुलना होती है

> यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
> स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति॥

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

> जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम होता है।
> उस मल रहित धीर भिक्षु को स्थविर कहा जाता है॥

२ धर्म (धम्मो क)

'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना। उसके अन्त में 'मन्' या 'म' प्रत्यय लगने से 'धर्म' शब्द बनता है। उत्पाद व्यय और स्थिति—ये अवस्थाएँ जो द्रव्यों को धारण कर रखती हैं—उनके अस्तित्व को टिकाए रखती हैं—'द्रव्य-धर्म' कहलाती हैं। गति में सहायक होना स्थिति में सहायक होना स्थान देने में सहायक होना मिलने और बिछुड़ने की शक्ति से सम्पन्न होना जानने-देखने की क्षमता का होना धर्म आदि पाँच अस्तिकायों के ये स्वभाव या लक्षण—जो उनके पृथक्त्व को सिद्ध करते हैं और उनके स्वरूप को स्थिर करते हैं—'अस्तिकाय धर्म' कहे जाते हैं। इसी तरह सुनना देखना सूँघना स्वाद लेना और स्पर्श करना जो जिस इन्द्रिय का प्रचार—विषय होता है वह उसका 'इन्द्रिय-धर्म' कहलाता है। विवाह्याविवाह्य भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेयादि के नियम—जो किसी स्थान की विवाह तथा खान-पान विषयक परम्परा के निर्णायक होते हैं—'गम्य धर्म' कहलाते हैं। वस्त्राभूषणादि के रीति रिवाज—जो किसी देश की रहन-सहन विषयक प्रथा के आधारभूत होते हैं—'देश धर्म' कहलाते हैं। करादि के विधान—जो राज्य की आर्थिक स्थिति को संतुलित रखते हैं—'राज्य-धर्म' कहलाते हैं। गणों की पारस्परिक व्यवस्था—जो गणों को संगठित रखती है—'गण-धर्म' कहलाती है। दण्डादि की विधि—जो राजसत्ता को सुरक्षित रखती है—'राज-धर्म' कहलाती है।

इस तरह द्रव्यों के पर्याय और गुण इन्द्रियों के विषय तथा लौकिक रीति रिवाज देशाचार व्यवस्था विधान दण्डनीति आदि सभी धर्म कहलाते हैं पर यहाँ उपयुक्त द्रव्य आदि धर्मों गम्य आदि सावद्य लौकिक धर्मों और कुप्रावचनिक धर्मों को उत्कृष्ट नहीं कहा है।

१—(क) जि० चू० पृ० १५ : 'धृञ् धारणे' अस्य धातोर्मन्प्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति।
(ख) हा० टी० प० : 'धृञ् धारणे' इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति।
२—नि० गा० ४ : दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स।
३—जि० चू० पृ० १५ : अत्थि देसाणि काया य अत्थिकाया, ते इमं पंच तेसिं पंचण्हवि धम्मो नाम सब्भावो लक्खणंति एगट्ठा।
४—जि० चू० पृ० १५ : पयारधम्मा नाम सोयादीण इन्दियाणं जो जस्स विसयो सो पयारधम्मो भण्णइ।
५—(क) नि० गा० ४०-४१ : दव्वं च अत्थिकायप्पयारधम्मो य भावधम्मो य। दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स॥
धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य। लोइयकुप्पावयणिय लोगुत्तर लोगऽणेगविहो॥
गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं। सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहि उ पसत्थो॥
(ख) नि० गा० ४१ हा० टी० प० : कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव।
(ग) जि० चू० पृ० १७ : वज्जो नाम गरहिओ सह वज्जेण सावज्जो भण्णइ।
(घ) नि० गा० ४१ हा० टी० प० : अवद्य—पापं सह अवद्येन सावद्यम्।

भिक्षाचर्या—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का सकोच करना , (४) रस-परित्याग—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान-भोजन का वर्जन , (५) कायक्लेश—वीरासनादि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना ; (६) प्रतिसलीनता—इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग द्वेष न करना, अनुदीर्ण क्रोधादि का निरोध तथा उदय में आए क्रोधादि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल में प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुसक-रहित एकान्त स्थान में वास, (७) प्रायश्चित्त—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना, (८) विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना, (९) वैयावृत्त्य—सयमी साधु की शुद्ध आहारादि से निरवद्य सेवा, (१०) स्वाध्याय—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्त्तना—गुणना, अनुप्रेक्षा—चिन्तन और धर्मकथा, (११) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म-ध्यान या शुक्ल ध्यान में आत्मा की स्थिरता और (१२) व्युत्सर्ग—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड़ धर्म के लिये शरीर का व्युत्सर्ग करना।

७. लक्षण हैं :

प्रश्न होता है कि अहिंसा, सयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है और धर्म से भिन्न अहिंसा, सयम और तप नहीं हैं, फिर धर्म और अहिंसा आदि का पृथक् उल्लेख क्यों ?

इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। गम्य-धर्म आदि लौकिक-धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों से मोक्ष-धर्म को पृथक् करने के लिए इसके अहिंसा, सयम और तप ये लक्षण बतलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, सयम और तपोमय है वही उत्कृष्ट मगल है, शेष धर्म उत्कृष्ट मगल नहीं हैं[1]। अहिंसात्मक धर्म ही निरवद्य है, शेष धर्म निरवद्य नहीं हैं।

दूसरी बात—धर्म और अहिंसा आदि में कार्य कारण भाव है। अहिंसा, सयम और तप धर्म के कारण हैं। धर्म उनका कार्य है। कार्य कथञ्चित् भिन्न होता है, इसलिये धर्म और उसके कारण—अहिंसा, सयम और तप का पृथक् उल्लेख किया गया है।

घट और मिट्टी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इस दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, किन्तु घट मिट्टी से पूर्व नहीं होता इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। धर्म और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता इसलिए ये अभिन्न हैं और अहिंसा के पूर्व धर्म नहीं होता इसलिये ये भिन्न भी हैं।

धर्म और अहिंसा के इस भेदात्मक सम्बन्ध को समझाने और अहिंसात्मक धर्मों से हिंसात्मक-धर्म का पृथक्करण करने के लिए धर्म और अहिंसा आदि लक्षणों को अलग-अलग कहा गया है[2]।

१—नि० गा० ८६ धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममङ्गल पइन्ना।

२—(क) जि० चू० पृ० २७-२८ सीसो आह— 'धम्मग्गहणेण चेव अहिंसासजमतवा घेप्पति, कम्हा ? जम्हा अहिंसा सजमे तवो चेव धम्मो भवइ, तम्हा अहिंसासजमतवग्गहण पुनरुत्त काऊण ण भणियव्व। आचार्याह—अनैकान्तिकमेतत्, अहिंसासजमतवा हि धर्मस्य कारणानि, धर्म कार्य, कारणाच्च कार्य स्याद् भिन्न, कथमिति ? अत्रोच्यते, अन्यत्कार्य कारणात् , अभिधानवृत्तिप्रयोजनभेददर्शनात् घटपडवत् 'अहवा अहिंसासजमतवगहणे सीसस्स सदेहो भवइ धम्मबहुत्वे कतरो एतेसिं गम्मपसुदेसादीण धम्माण मगलमुक्किट्ठ भवइ ? अहिंसासजमतवग्गहणेण पुण नज्जइ जो अहिंसासजमतवजुत्तो सो धम्मो मगलमुक्किट्ठ भवइ।

(ख) नि० गा० ४८, हा० टी० प० ३२ धर्मग्रहणे सति अहिंसासयमतपोग्रहणमयुक्त , तस्य अहिंसासयमतपोरूपत्वाव्यभिचारादिति, उच्यते, न, अहिंसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्त च—'णत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति ज तेण जुज्जइ अणण्णो। ज पुण घडुत्ति पुव्व नासी पुढवीइ तो अन्नो।' गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वाऽहिंसादिग्रहणमदुष्ट इति।

की कामना करता हूँ वैसे ही सब जीव जीने की इच्छा करते हैं कोई मरने की नहीं। अतः मुझे किसी भी जीव को अल्प से अल्प पीड़ा भी नहीं पहुँचानी चाहिए"—ऐसी भावना को समता या आत्मौपम्य कहते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है—"जैसे कोई बेंत हड्डी मुष्टि, कंकर ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दुःख दे व्याकुल करे भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दुःख होता है जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है वैसे ही सब प्राणी भूत जीव और सत्त्वों को होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी भूत जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव नित्य और शाश्वत है[1]।"

यहाँ 'अहिंसा' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। इसलिए मृषावाद विरति अदत्तादान-विरति मैथुन विरति परिग्रह विरति भी इसमें समाविष्ट हैं।

५ संयम (संजमो [5])

जिनदास महत्तर के अनुसार 'संयम' का अर्थ है 'उपरम'। 'राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव—समभाव में स्थित होना संयम है[2]।' हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—'आस्रवद्वारोपरम'' अर्थात् कर्म आने के हिंसा मृषा अदत्त मैथुन और परिग्रह ये जो पाँच द्वार हैं उनसे उपरमता—उनसे विरति। पर यहाँ 'संयम' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। हिंसा आदि पाँच अविरतियों—पापों का त्याग कषायों पर विजय इन्द्रियों का निग्रह समितियों का—आवश्यक प्रवृत्तियों को करते समय विहित नियमों का—पालन तथा मन वचन काया की गुप्ति ये सब अर्थ 'संयम' शब्द में अन्तर्निहित हैं।

अहिंसा की परिभाषा "सव्व भूएसु संजमो" मिलती है। संयम में भी हिंसा का त्याग आता है। क्योंकि यह हिंसा आदि आस्रवों से उपरमरूप कहा गया है। इस तरह जो अहिंसा है वही संयम है। अतः प्रश्न उठता है—फिर संयम का उल्लेख अलग क्यों किया गया? जब अहिंसा ही तत्त्वतः संयम है तब संयम का अलग उल्लेख क्या अयुक्त नहीं है? इसका उत्तर यह है कि संयम के बिना अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा का अर्थ है सब प्राणातिपात विरमण आदि पाँच महाव्रत। संयम का अर्थ है उनकी रक्षा के लिए आवश्यक नियमों का पालन। इस प्रकार संयम का अहिंसा पर उपग्रहकारित्व है। दूसरी बात यह है—अहिंसा से केवल निवृत्ति का भाव परिलक्षित होता है। संयम में संयत प्रवृत्ति भी अन्तर्निहित है। संयमी के ही भावतः सम्पूर्ण अहिंसा हो सकती है अतः धर्म के अवयव रूप में अहिंसा के साथ संयम का उल्लेख आवश्यक है और जरा भी अयुक्त नहीं[3]।

६ तप (तवो [6])

जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है उसे तप कहते हैं। तप बारह प्रकार का कहा गया है:—(१) अनशन—आहार-जल आदि का एक दिन अधिक दिन या जीवन-पर्यन्त के लिए त्याग करना अर्थात् उपवास आदि करना; (२) ऊनोदरता—आहार की मात्रा में कमी करना पेट को कुछ भूखा रखना क्रोधादि को न्यून करना उपकरणों को न्यून करना;

१—सूत्र० १ १।४।

—जि० चू० पृ० १५ : संजमो नाम उवरमो रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति।

३—(क) जि० चू० पृ० : सिस्सो आह—ननु जा चेव अहिंसा सो चेव संजमोऽवि। आयरिओ आह—अहिंसागहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ। संपुण्णाए अहिंसाए संजमोऽवि तस्स भवइ।

(ख) हि० टी० प० १ : आह—अहिंसैव तत्त्वतः संयम इतिकृत्वा तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्, न संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादिति कृतं प्रसङ्गेन।

४—जि० चू० पृ० १५ : तवो नाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं, नासेतित्ति वुत्तं भवइ।

भिक्षाचर्या—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का सकोच करना , (४) रस-परित्याग—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान भोजन का वर्जन , (५) कायक्लेश—वीरासनादि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना , (६) प्रतिसलीनता—इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग द्वेष न करना, अनुदीर्ण क्रोधादि का निरोध तथा उदय में आए क्रोधादि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल में प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुसक-रहित एकान्त स्थान में वास, (७) प्रायश्चित्त—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना, (८) विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना, (९) वैयावृत्त्य—सयमी साधु की शुद्ध आहारादि से निरवद्य सेवा, (१०) स्वाध्याय—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्त्तना—गुणना, अनुप्रेक्षा—चिन्तन और धर्मकथा, (११) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म-ध्यान या शुक्ल-ध्यान में आत्मा की स्थिरता और (१२) व्युत्सर्ग—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड धर्म के लिये शरीर का व्युत्सर्ग करना।

७. लक्षण हैं :

प्रश्न होता है कि अहिंसा, सयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है और धर्म से भिन्न अहिंसा, सयम और तप नहीं हैं, फिर धर्म और अहिंसा आदि का पृथक् उल्लेख क्यों ?

इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। गम्य-धर्म आदि लौकिक-धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों से मोक्ष-धर्म को पृथक् करने के लिए इसके अहिंसा, सयम और तप ये लक्षण बतलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, सयम और तपोमय है वही उत्कृष्ट मगल है, शेष धर्म उत्कृष्ट मगल नहीं हैं[1]। अहिंसात्मक धर्म ही निरवद्य है, शेष धर्म निरवद्य नहीं हैं।

दूसरी बात—धर्म और अहिंसा आदि में कार्य कारण भाव है। अहिसा, सयम और तप धर्म के कारण हैं। धर्म उनका कार्य है। कार्य कथञ्चित् भिन्न होता है, इसलिये धम और उसके कारण—अहिंसा, सयम और तप का पृथक् उल्लेख किया गया है।

घट और मिट्टी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इस दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, किन्तु घट मिट्टी से पूर्व नहीं होता इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। धर्म और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता इसलिए ये अभिन्न हैं और अहिंसा के पूर्व धर्म नहीं होता इसलिये ये भिन्न भी हैं।

धर्म और अहिंसा के इस भेदात्मक सम्बन्ध को समझाने और अहिंसात्मक धर्मों से हिंसात्मक-धर्म का पृथक्करण करने के लिए धर्म और अहिंसा आदि लक्षणों को अलग-अलग कहा गया है[2]।

१—नि० गा० ८९ धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममङ्गल पइन्ना।

२—(क) जि० चू० पृ० ३७-३८ सीसो आह— 'धम्मग्गहणेण चेव अहिंसासजमतवा घेप्पति, कम्हा ? जम्हा अहिंसा सजमे तवो चेव धम्मो भवइ, तम्हा अहिंसासजमतवग्गहण पुनरुत्त काऊण ण भणियव्व। आचार्याह—अनैकान्तिकमेतत्, अहिंसासजमतवा हि धर्मस्य कारणानि, धर्म कार्यं, कारणाच्च कार्यं स्याद् भिन्न, कथमिति ? अत्रोच्यते, अन्यत्कार्यं कारणात्, अभिधानवृत्तिप्रयोजनभेददर्शनात् घटपडवत् 'अहवा अहिंसासजमतवगहणे सीसस्स सदेहो भवइ धम्मयहुत्वे कतरो एतेसि गम्मपसुदेसादीण धम्माण मगलमुक्किट्ठ भवइ ? अहिंसासजमतवग्गहणेण पुण नज्जइ जो अहिंसासजमतवजुत्तो सो धम्मो मगलमुक्कट्ठ भवइ।

(ख) नि० गा० ४८, हा० टी० प० ३२ धर्मग्रहणे सति अहिंसासयमतपोग्रहणमयुक्त, तस्य अहिंसासयमतपोरूपत्वाव्यभिचारादिति, उच्यते, न, अहिंसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्त च—'णत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति ज तेण जुज्जइ अणण्णो। ज पुण घडुत्ति पुव्व नासी पुढवीइ तो अन्नो।' गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वाऽहिंसादिग्रहणमदुष्ट इति।

८ देव भी (देवा वि ग)

जैन धर्म में चार गति के जीव माने गये हैं—नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव। इनमें देव[1] सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और प्रभुत्वशाली होते हैं। साधारण लोग उनके अनुग्रह को पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। यहाँ कहा गया है कि जिसकी आत्मा धर्म में लीन रहती है उस धर्मात्मा की महिमा देवों से भी अधिक होती है क्योंकि मनुष्य की तो बात ही क्या लोकपूज्य देव भी उसे नमस्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नरपति आदि तो धर्मी की पूजा करते ही हैं महाऋद्धि-सम्पन्न देव भी उसकी पूजा करते हैं। यहाँ धर्म-पालन का यह आनुषंगिक फल बतलाया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि धर्म से धर्मी की आत्मा के उत्कर्ष के साथ-साथ उसे असाधारण सांसारिक पूजा—मान-सम्मान आदि भी स्वयं प्राप्त होते हैं। पर यहाँ यह विवेक सीख लेना चाहिए कि धर्म से आनुषंगिक रूप में सांसारिक ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर भी धर्म का पालन ऐसे सावद्य हेतु के लिए नहीं करना चाहिए। 'नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए'—निर्जरा—आत्मा को शुद्ध करने के सिवा अन्य किसी हेतु के लिए धर्म की आराधना न की जाय यह भगवान् की आज्ञा है।

श्लोक २

९ थोड़ा-थोड़ा पीता है (आवियइ ख) :

'आवियइ' का अर्थ है थोड़ा-थोड़ा पीना अर्थात् मर्यादापूर्वक पीना। तात्पर्य है—जिस प्रकार फूलों से रस-ग्रहण करने में भ्रमर मर्यादा से काम लेता है उसी प्रकार गृहस्थों से आहार की गवेषणा करते समय भिक्षु मर्यादा से काम ले—थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

१० किसी पुष्प को (पुप्फं ग)

द्वितीय श्लोक के प्रथम पाद में 'पुप्फेसु' बहुवचन में है। तीसरे पाद में 'पुप्फं' एकवचन में है। न य पुप्फं का अर्थ है—एक भी पुष्प को नहीं—किसी भी पुष्प को नहीं।

११ म्लान नहीं करता (न य किलामेइ ग)

यह मधुकर की वृत्ति है कि वह फूल के रूप वर्ण या गन्ध को हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार श्रमण भी किसी को लेश खिन्न किये बिना जो जितना प्रसन्न मन से दे उतना ले। 'धम्मपद (पुप्फवग्गो ४ ६) में कहा है :

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥

—जिस प्रकार फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

श्लोक ३

१२ (एमए क)

अगस्त्य-चूर्णि में 'एमए' (एवम् एते) के 'एव' के 'व' का लोप माना है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' का रूप 'एमेव' बनता है। 'एमेव' पाठ अधिक उपयुक्त है। किन्तु सभी आदर्शों और व्याख्याओं में 'एमए' पाठ मिलता है इसलिये मूल-पाठ उसीको माना है।

१—(क) जि चू पृ १५ : देवा नाम वीर्यं बलमान्यं तेषि अगामात्र धर्मनि त देवा।
(ख) हा टी प १०-२१ : "दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु" इत्यस्य धातोरच्प्रत्ययान्तस्य अपि इत्यादि भवति। 'दीव्यन्तीति देवा क्रीडन्तीत्यादि भावार्थः।
—अ चू : वकार लोपो सिलोगपादाणुलोमत्थं।
१—हैम ८-१-२७१ : यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः।

१३. मुक्त (मुत्ता क) :

पुरुष चार प्रकार के होते हैं[1]—

(१) बाह्य परिग्रह से मुक्त और आसक्ति से भी मुक्त।

(२) बाह्य परिग्रह से मुक्त किन्तु आसक्ति से मुक्त नहीं।

(३) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं किन्तु आसक्ति से मुक्त।

(४) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं और आसक्ति से भी मुक्त नहीं।

यहाँ 'मुक्त' का अर्थ है—ऐसे उत्तम श्रमण जो बाह्य-परिग्रह और आसक्ति दोनों से मुक्त होते हैं[2]।

१४. समण (समणा क) :

'समण' के संस्कृत रूप—समण, समनस्, श्रमण और शमन—ये चार हो सकते हैं।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' का अर्थ है सब जीवों को आत्म तुला की दृष्टि से देखनेवाला समता-सेवी[3]। 'समनस्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मनवाला—मध्यस्थवृत्ति[4]। ये दोनों आगम और नियुक्तिकालीन निरुक्त हैं। इनका सम्बन्ध 'सम' (सममणति और सममनस्) शब्द से ही रहा है। स्थानाङ्ग-वृत्ति में 'समन' का अर्थ पवित्र मनवाला भी किया गया है[5]। टीका-साहित्य में 'समण' को 'श्रम' धातु से जोडा गया और उसका संस्कृत रूप बना 'श्रमण'। उसका अर्थ किया गया है—तपस्या से खिन्न[6]—क्षीणकाय और तपस्वी[7]। 'शमन' की व्याख्या हमें अभी उपलब्ध नहीं है।

'समण' को कैसा होना चाहिए या 'समण' कौन हो सकता है—यह आगम और निर्युक्ति में उपमा द्वारा समझाया गया है[8]।

प्रवृत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' की व्यापक परिभाषा 'सूत्रकृताङ्ग' में मिलती है—"जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात्—अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य—मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट-काय—शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है[9]।

१—स्था० ४ ४ ३६६ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं० मुत्ते णाममेगे मुत्ते मुत्ते णाममेगे अमुत्ते, ४।

२—हा० टी० प० ६८ 'मुक्ता' बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन।

३—नि० गा० १५४ जह मम न पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाण। न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥

४—नि० गा० १५५-१५६ नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु॥

५—स्था० ४ ४ ३६३ अभयदेव टीका पृ० २६८ सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनस।

६—(क) श्रम तपसि खेदे।
(ख) सूत्र० १ १६ १ शीलाकाचार्य टीका प० २६३। श्राम्यति—तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमण॥

७—हा० टी० प० ६८ श्राम्यन्तीति श्रमणा, तपस्यन्तीत्यर्थ।

८—नि० गा० १५७ उरग-गिरि-जलण-सागर-नहयल-तरुगणसमो य जो होइ। भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो जओ समणो॥

९—सूत्र० १ १६ २ एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाण च, अतिवाय च, मुसावाय च, बहिद्ध च, कोह च, माण च, माय च, लोह च, पिज्ज च, दोस च, इच्चेव जओ जओ आदाण अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्व पडिविरते पाणाइवाया सिआदते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे।

१७. दानभक्त (दाणभत्त [घ]) :

श्रमण साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है। उसके पास रुपये-पैसे नहीं होते। शिष्य पूछता है—तब तो जैसे भ्रमर फूलों से रस पीता है वैसे ही साधु क्या वृक्षों के फल और कन्द-मूल आदि तोड़कर ग्रहण करें? ज्ञानी कहते हैं—श्रमण फल-फूल, कन्द-मूल कैसे ग्रहण करेगा? ये जीव हैं और वह सम्पूर्ण अहिंसा का व्रत ले चुका है। वृक्षों के फल आदि को ग्रहण करना वृक्ष सन्तान की चोरी है। शिष्य पूछता है—तब क्या श्रमण आटा-दाल आदि माँग कर आहार पकाए? ज्ञानी कहते हैं—अग्नि जीव है। पचन-पाचन आदि क्रियाओं—आरंभों में अग्नि, जल आदि जीवों का हनन होगा। अहिंसक श्रमण ऐसा नहीं कर सकता। शिष्य पूछता है—तब श्रमण उदरपूर्ति कैसे करे? ज्ञानी कहते हैं—वह दानभक्त-दत्तभक्त की गवेषणा करे। चोरी से बचने के लिये वह दाता द्वारा दिया हुआ ले। बिना दी हुई कोई चीज कहीं से न ले और दत्त ले—अर्थात् दाता के घर स्वप्रयोजन के लिए बना प्रासुक—निर्जीव ग्रहणयोग्य जो आहार-पानी हो वह ले[1]। ऐसा करने से वह अहिंसा-व्रत की अक्षुण्ण रक्षा कर सकेगा। शिष्य ने पूछा—भ्रमर बिना दिया हुआ कुसुम-रस पीते हैं और श्रमण दत्त ही ले सकता है, तब श्रमण को भ्रमर की उपमा क्यों दी गई है? आचार्य कहते हैं—उपमा एकदेशीय होती है। इस उपमा में अनियतवर्तिता आदि धर्मों से श्रमण की भ्रमर के साथ तुलना होती है। किन्तु सभी धर्मों से नहीं। भ्रमर अदत्त रस भले ही पीता हो किन्तु श्रमण अदत्त लेने की इच्छा भी नहीं करते[2]।

१८. एषणा में रत (एसणे रया [घ]) :

साधु को आहारादि की खोज, प्राप्ति और भोजन के विषय में जो उपयोग—सावधानी रखनी होती है, उसे एषणा-समिति कहते हैं[3]। एषणा तीन प्रकार की होती है : (१) गोचर्या के लिये निकलने पर साधु आहार के कल्प्याकल्प्य के निर्णय के लिये जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे गो+एषणा=गवेषणा कहते हैं। (२) आहार आदि को ग्रहण करते समय साधु जिन-जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं। (३) मिले हुए आहार का भोजन करते समय साधु जिन नियमों का पालन अथवा दोषों का निवारण करता है, उन्हें परिभोगैषणा कहते हैं[4]। निर्युक्तिकार ने यहाँ प्रयुक्त 'एषणा' शब्द में तीनों एषणाओं को ग्रहण किया है[5]। अगस्त्यसिंह चूर्णि और हारिभद्रीय टीका में भी ऐसा ही अर्थ है[6]। जिनदास महत्तर 'एषणा' शब्द का अर्थ केवल गवेषणा करते हैं[7]। एषणा में रत होने का अर्थ है—एषणा-समिति के नियमों में तन्मय होना—पूर्ण उपयोग के साथ समस्त दोषों को टालकर गवेषणा आदि करना।

१—(क) नि० गा० १२३ दाणंत्ति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेगहणया। एसणतिगम्मि निरया उवसंहारस्स सुद्धि इमा॥
(ख) हा० टी० प० ६८ दानग्रहणाद्दत्तं गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं न पुनराधाकर्मादि।
(ग) तिलकाचार्य वृत्ति दानभक्तैषणे—दात्रा दानाय आनीतस्य भक्तस्य एषणे।

२—(क) नि० गा० १२६ उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥
(ख) नि० गा० १२४ अवि भमरमहुयरिगणा अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं। समणा पुण भगवंतो नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति॥

३—उत्त० २४ २ इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।

४—(क) उत्त० २४ ११ गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य। आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
(ख) उत्त० २४ १२ उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं। परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

५—नि० गा० १२३ एसणतिगम्मि निरया ॥

६—(क) अ० चू० एषणे इति गवेषणा—गहण—घासेसणा सूइता।
(ख) हा० टी० प० ६८ एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः।

७—जि० चू० पृ० ६७ एसणागहणेण दसएसणादोसपरिसुद्धं गेण्हति, ते य इमे—तंजहा —
सकियमक्खियनिक्खित्तपिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय एसणदोसा दस हवंति॥

श्लोक ५ :

२१. अनिश्रित हैं (अणिस्सिया ख) :

मधुकर किसी एक फूल पर आश्रित नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न फूलों से रस पीता है। कभी किसी पर जाता है और कभी किसी पर। उसकी वृत्ति अनियत होती है। श्रमण भी इसी तरह अनिश्रित हो। वह किसी एक पर निर्भर न हो। वह अप्रतिबद्ध हो[1]।

२२. नाना पिंड में रत हैं (नाणापिण्डरया ग) :

इसका अर्थ है, साधु—

(१) अनेक घरों से थोडा-थोडा ग्रहण करे।

(२) कहाँ, किससे, किस प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो ले, इस तरह के अनेक अभिग्रहपूर्वक अथवा भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करता हुआ ले[2]।

(३) विविध प्रकार का नीरस आहार ले[3]।

जो भिक्षु इस तरह किसी एक मनुष्य या घर पर आश्रित नहीं होता तथा आहार की गवेषणा में नाना प्रकार के वृत्तिसंक्षेप से काम लेता है वह हिंसा से सम्पूर्णत· बच जाता है और सच्चे अर्थ में साधुत्व को सिद्ध करता है।

२३. दान्त हैं (दता ग) :

साधु के गुणों का उल्लेख करते हुए 'दान्त' शब्द का प्रयोग सूत्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। 'उत्तराध्ययन' में ८ और 'सूत्रकृतांग' में ९ स्थलों पर यह शब्द व्यवहृत हुआ है। साधु दान्त हो, यह भगवान् को अत्यन्त अभीष्ट था। शीलांकाचार्य ने 'दान्त' शब्द का अर्थ किया है—इन्द्रियों को दमन करनेवाला[4]। चूर्णिकार भी यही अर्थ करते हैं। सूत्र के अनुसार 'दान्त' शब्द का अर्थ है—सयम और तप से आत्मा को दमन करनेवाला[5]। जो दूसरों के द्वारा वध और बन्धन से दमन किया जाता है, वह द्रव्य-दान्त होता है, भाव-दान्त नहीं। भाव-दान्त वह साधु है जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

यह शब्द लक्ष्य के विना जो नानापिण्ड-रत जीव हैं उनसे साधु को पृथक् करता है। नानापिण्ड-रत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य से और भाव से। अश्व, गज आदि प्राणी लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत नहीं होते, इसलिये वे भाव से दान्त नहीं बनते। साधु लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत होने के कारण भावत· दान्त होते हैं[6]।

१—जि० चू० पृ० ६८ अणिस्सिया नाम अपडिबद्धा।

२—सूत्र० २ २ २४

३—(क) जि० चू० पृ० ६९ णाणापिण्डरया णाम उक्खित्तचरगादी पिंडस्स अभिग्गहविसेसेण णाणाविधेसु रता, अहवा अतपताईसु नाणा-विहेसु भोयणेसु रता, ण तेसु अरइ करेति। भणितं चहे—
जं व तं च आसिय जत्थ व तत्थ व सुहोवगतनिद्दा। जेण व तेण सतुट्ठ धीर ! मुणिओ तुमे अप्पा॥

(ख) नि० गा० १२९ हा० टी० प० ७२ नाना—अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिंड—आहारपिण्ड, नाना चासौ पिंडश्च नानापिण्ड, अन्तप्रान्तादिर्वा, तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्त।

४—सूत्र० १६ १ टी० पृ० ५५५ दान्त इन्द्रियदमनेन।

५—उत्त० १ १६ वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य। माह परेहि दम्मतो बधणेहि वहेहि य॥

६—जि० चू० पृ० ६९ णाणापिण्डरता दुविधा भवति, तजहा—दव्वओ भावओ य, दव्वओ आसहत्थिमादि, ते णो दन्ता भावओ, (साहवो पुणो) इदिएसु दन्ता।

श्लोक ५ :

२१. अनिश्रित हैं (अणिस्सिया ख) :

मधुकर किसी एक फूल पर आश्रित नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न फूलों से रस पीता है। कभी किसी पर जाता है और कभी किसी पर। उसकी वृत्ति अनियत होती है। श्रमण भी इसी तरह अनिश्रित हो। वह किसी एक पर निर्भर न हो। वह अप्रतिबद्ध हो[1]।

२२. नाना पिंड में रत हैं (नाणापिण्डरया ग) :

इसका अर्थ है, साधु—

(१) अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(२) कहाँ, किससे, किस प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो ले, इस तरह के अनेक अभिग्रहपूर्वक अथवा भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करता हुआ ले[2]।

(३) विविध प्रकार का नीरस आहार ले[3]।

जो भिक्षु इस तरह किसी एक मनुष्य या घर पर आश्रित नहीं होता तथा आहार की गवेषणा मे नाना प्रकार के वृत्तिसक्षेप से काम लेता है वह हिंसा से सम्पूर्णत वच जाता है और सच्चे अर्थ में साधुत्व को सिद्ध करता है।

२३. दान्त हैं (दता ग) :

साधु के गुणों का उल्लेख करते हुए 'दान्त' शब्द का प्रयोग सूत्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। 'उत्तराध्ययन' में ८ और 'सूत्रकृताग' में ६ स्थलों पर यह शब्द व्यवहृत हुआ है। साधु दान्त हो, यह भगवान् को अत्यन्त अभीष्ट था। शीलाकाचार्य ने 'दान्त' शब्द का अर्थ किया है—इन्द्रियों को दमन करनेवाला[4]। चूर्णिकार भी यही अर्थ करते हैं। सूत्र के अनुसार 'दान्त' शब्द का अर्थ है—सयम और तप से आत्मा को दमन करनेवाला[5]। जो दूसरो के द्वारा वध और वन्धन से दमन किया जाता है, वह द्रव्य-दान्त होता है, भाव-दान्त नहीं। भाव-दान्त वह साधु है जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

यह शब्द लक्ष्य के विना जो नानापिण्ड-रत जीव हैं उनसे साधु को पृथक् करता है। नानापिण्ड-रत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य से और भाव से। अश्व, गज आदि प्राणी लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत नही होते, इसलिये वे भाव से दान्त नहीं बनते। साधु लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत होने के कारण भावत दान्त होते हैं[6]।

१—जि० चू० पृ० ६८ अणिस्सिया नाम अपडियद्धा।

२—सूत्र० २ २ २४

३—(क) जि० चू० पृ० ६९ णाणापिण्डरया णाम उक्खित्तचरगादी पिंडस्स अभिग्गहविसेसेण णाणाविधेसु रता, अहवा अतपताईसु नाणाविहेसु भोयणेसु रता, ण तेसु अरइ करेंति। भणित चहे—

ज व त च आसिय जत्थ व तत्थ व सुहोवगतनिद्दा। जेण व तेण सतुट्ठ धीर ! मुणिओ तुमे अप्पा॥

(ख) नि० गा० १२९ हा० टी० प० ७३ नाना—अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिंड—आहारपिण्ड, नाना चासौ पिंडश्च नानापिण्ड, अन्तप्रान्तादिर्वा, तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्त।

४—सूत्र० १६ १ टी० पृ० ५५५ दान्त इन्द्रियदमनेन।

५—उत्त० १ १६ वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य। माह परेहि दम्मंतो वधणेहि वहेहि य॥

६—जि० चू० पृ० ६९ णाणापिण्डरता दुविधा भवति, तजहा—दव्वओ भावओ य, दव्वओ आसहत्थिमादि, ते णो दन्ता भावओ, (साहवो पुणो) इदिएसु दन्ता।

बीयं अज्झयणं

सामण्णपुव्वयं

द्वितीय अध्ययन

श्रामण्यपूर्वक

आमुख

जो सयम में श्रम करे—उसे श्रमण कहते हैं। श्रमण के भाव को—श्रमणत्व को—श्रामण्य कहते हैं।

बीज बिना वृक्ष नहीं होता—वृक्ष के पूर्व बीज होता है ; दूध बिना दही नहीं होता—दही के पूर्व दूध होता है ; समय बिना आवलिका नहीं होती—आवलिका के पूर्व समय होता है ; दिवस बिना रात नहीं होती—रात के पूर्व दिन होता है। पूर्व दिशा के बिना अन्य दिशाएँ नहीं बनतीं—अन्य दिशाओ के पूर्व पूर्व दिशा होती है। प्रश्न है,—श्रामण्य के पूर्व क्या होता है ?—वह कौन सी बात है जिसके बिना श्रामण्य नही होता, नहीं टिकता।

इस अध्ययन में जिस बात के बिना श्रामण्य नहीं होता—नहीं टिकता, उसकी चर्चा होने से इसका नाम श्रामण्यपूर्वक रखा गया है।

टीकाकार कहते है · "पहले अध्ययन में धर्म का वणन है। वह धृति बिना नहीं टिक सकता। अत इस अध्ययन में धृति का प्रतिपादन है। कहा है

जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा।
जे अधिइमत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्हो तेसिं॥

—जिसके धृति होती है, उसके तप होता है। जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है। जो अधृतिवान् पुरुप हैं, उनके लिए तप भी निश्चय ही दुर्लभ है।"

इसका अर्थ होता है · धृति—अहिंसा, सयम, तप और इनका समुदाय—श्रामण्य की जड है। श्रामण्य का मूल बीज धृति है। अध्ययन के पहले ही श्लोक में कहा है—"जो काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रामण्य का पालन कैसे कर सकेगा ?" इस तरह काम-राग का निवारण करते रहना श्रामण्य का मूलाधार है—उसकी रक्षा का मूल कारण है।

साधु रथनेमि साध्वी राजीमती से विपय-सेवन की प्रार्थना करते हैं। उस समय साध्वी राजीमती उन्हें सयम में दृढ़ करने के लिए जो उपदेश देती है, अथवा इस कायरता के लिए उनकी जो समभावपूर्वक भर्त्सना करती है, वही बिना घटना-निर्देश के यहाँ अकित है।

चूर्णि और टीकाकार सातवाँ, आठवाँ और नवाँ श्लोक ही राजीमती के मुह से कहलाते हैं[1]। किन्तु लगता ऐसा है कि १ से ९ तक के श्लोक राजीमती द्वारा रथनेमि को कही गई उपदेशात्मक बातो के सकलन हैं। रथनेमि राजीमती से भोग की प्रार्थना करते हैं। वह उन्हें धिक्कारती है और संयम में फिर से स्थिर करने के लिए उन्हें (१) काम और श्रामण्य का विरोध (श्लोक १), (२) त्यागी का स्वरूप (श्लोक २-३) और (३) राग-विनयन का उपाय (श्लोक ४-५) बतलाती है। फिर सवेग भावना को जागृत करने के लिए उद्‌बोधक उपदेश देती है (श्लोक ६-९)। इसके बाद राजीमती के इस सारे कथन का जो असर हुआ उसका उल्लेख है (श्लोक १०)। अन्त में सकलनकर्त्ता का उपसहारात्मक उपदेश है (श्लोक ११)।

१—देखिए पृ० २० पाद-टिप्पणी १

चूर्णिकार श्लोक ६ और ७ की व्याख्या में रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख निम्न रूप में करते हैं :

"[जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गये उनके ज्येष्ठ-भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे, जिससे कि वह उन्हें चाहने लगे। भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण—उदासीन हो चुका था। उसे यह मालूम हुआ। एकबार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पिया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख में ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली—"इस पेय को पीएँ।" रथनेमि बोले—'वमन किए हुए को कैसे पीऊँ?' राजीमती बोली—"यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि समझ गए और प्रव्रज्या ली। राजीमती भी उन्हें बोध दे प्रव्रजित हुई।

बाद में किसी समय रथनेमि द्वारिका में भिक्षाटन कर वापस अरिष्टनेमि के पास आ रहे थे[१]।] रास्ते में वर्षा से घिर जाने से एक गुफा में प्रविष्ट हुए। राजीमती अरिष्टनेमि के वंदन के लिए गई थी। वन्दन कर वह वापस आ रही थी। रास्ते में वर्षा शुरू हो गई। भीग कर वह भी उसी गुफा में प्रविष्ट हुई जहाँ रथनेमि थे। वहाँ उसने भीग वस्त्रों को फैला दिया। उसके अंग-प्रत्यङ्गों को देख रथनेमि का भाव कलुषित हो गया। राजीमती ने जब उन्हें देखा। उनके अशुभ भाव को जानकर उसने उन्हें उपदेश दिया[२]।"

इस अध्ययन की सामग्री प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में से ली गई है ऐसी परम्परा धारणा है[३]। इस अध्ययन के कुछ श्लोक ७ से ११ 'उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन के श्लोक ४२ ४३ ४४ ४६ ४९ से अक्षरशः मिलते हैं[४]।

१—ज चू अरिट्ठनेमिसामिणो भाया रहणेमी भडारं पव्वइत रायमतिं आराहेति 'जति इच्छेज्ज'। सा णिव्विण्णकामभोगा तस्स चित्ताभिप्पाया [illegible] मधु-घयसंजुत्तं पज्जं पिबित आगत कुमारे मदणफलं मुहे पक्खिप्प पाणीए छड्डेति—पिबसि पेज्जं? तेण पडिभणितं कहमुव्वमित। तया 'किमिदं'? इति भणित भणति-इत्थमवि पुवं प्रकारमेव भगवतो हं भगवता परिचत्त चि धंता धत्तो तुज्झ मामभिलसंतस्स

　　　धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवियकारणा।
　　　वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

कयाति रहणमी बारवतीतो भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छंतो वद्दलाहतो एगं गुहमणुपविट्ठो। रातीमती य भगवंतमभिवंदिऊण सं वसयं गच्छंती 'वासमुवगतं' ति तमेव गुहमणुगता। सं पुव्वपविट्ठमपस्समाणी उदओल्लुपरिवत्थं विमोचेऊण विसारेंती विवसणोपरिसरीरा दिट्ठा कुमारेण, चित्तक्खित्ती जातो। सा तु भगवती सभिच्चसत्ता तं दट्ठुं तस्स [illegible] संजमे धीतिमुप्पायंती भणति :—

　　　अहं च भोगरातिस्स तं च सि अंधगवण्हिणो।
　　　मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥
　　　जति तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि णारीओ।
　　　वायाइद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥

—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ७ वाँ श्लोक यहाँ। देखिए पाद-टिप्पणी १।

१—उत्तराध्ययन सूत्र के　वें अध्ययन में भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। प्रसंगवश रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख भी आया है। कोष्ठक के अन्दर का चूर्णि लिखित वर्णन उत्तराध्ययन में नहीं मिलता।

२—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ८ वाँ और ९ वाँ श्लोक यहाँ। देखिए पाद-टिप्पणी १।

३—नि गा १७ सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
　　　अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—उत्तराध्ययन और दशवैकालिक दोनों सूत्रों पर आधारित पूरी कथा के लिए देखिए—'[illegible]' नामक पुस्तक (टि सं) पृ ११-

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वयं : श्रामण्यपूर्वक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥	कथ नु कुर्याच्छ्रामण्य, यः कामान्न निवारयेत्। पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वश गतः ॥१॥	जो मनुष्य संकल्प के वश हो,[2] पद-पद पर[3] विषाद-ग्रस्त[4] होता है[5] और काम[6]—विषय-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा[7] ?
२—वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुजन्ति न से चाइ[11] त्ति वुच्चइ ॥	वस्त्र गन्ध अलङ्कार, स्त्रियः शयनानि च। अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥२॥	जो वस्त्र, गध, अलकार, स्त्रियों और पलङ्गों का परवश होने से, (या उनके अभाव में[8]) सेवन नहीं करता[9], वह त्यागी नहीं कहलाता[10]।
३—जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥	यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति। स्वाधीनः त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥३॥	त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय[12] भोग[13] उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है[14] और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है[15]।
४—समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा। न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव[22] ताओ विणएज्ज रागं ॥	समया प्रेक्षया परिव्रजन् (तस्य), स्यान्मनो निःसरति बहिस्तात्। न सा मम नापि अहमपि तस्याः, इत्येव तस्या विनयेद् रागम् ॥४॥	समदृष्टि पूर्वक[16] विचरते हुए भी[17] यदि कदाचित्[18] यह मन बाहर निकल जाय[19] तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ,'[20] मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे[21]।
५—[23]आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं। छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए ॥	आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्। छिन्धि दोष विनयेद् राग, एव सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥	अपने को तपा[24]। सुकुमारता[25] का त्याग कर। काम—विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप क्रांत होगा। (सयम के प्रति) द्वेप-भाव[26] को छिन्न कर। (विषयों के प्रति) राग-भाव[27] को दूर कर। ऐसा करने से तू ससार में सुखी होगा[28]।

चूर्णिकार श्लोक ६ और ७ की व्याख्या में रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख निम्न रूप में करते हैं

[जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गये उनके ज्येष्ठ-भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे जिससे कि वह उन्हें चाहने लगे। भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण—उदासीन हो चुका था। उसे यह मालूम हुआ। एकबार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पिया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख में ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली—"इस पेय को पीएँ।" रथनेमि बोले—"वमन किए हुए को कैसे पीऊँ?" राजीमती बोली—"यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है?" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि समझ गए और प्रव्रज्या ली। राजीमती भी उन्हें बोध दे प्रव्रजित हुई।

बाद में किसी समय रथनेमि द्वारिका में भिक्षाटन कर वापस अरिष्टनेमि के पास आ रहे थे[१]।] रास्ते में वर्षा से घिर जाने से एक गुफा में प्रविष्ट हुए। राजीमती अरिष्टनेमि के वंदन के लिए गई थी। वन्दन कर वह वापस आ रही थी। रास्ते में वर्षा शुरू हो गई। भीग कर वह भी उसी गुफा में प्रविष्ट हुई जहाँ रथनेमि थे। वहाँ उसने भीगे वस्त्रों को फैला दिया। उसके अंग-प्रत्यङ्गों को देख रथनेमि का भाव कलुषित हो गया। राजीमती ने जब उन्हें देखा। उनके अशुभ भाव को जानकर उसने उन्हें उपदेश दिया।"

इस अध्ययन की सामग्री प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में से ली गई है ऐसी परम्परा धारणा है[४]। इस अध्ययन के कुछ श्लोक ७ से ११ उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन के श्लोक ४२, ४३, ४४, ४६, ४९ से अक्षरशः मिलते हैं[५]।

१—अ० चू०: अरिट्ठणेमिसामिणो भाया रहणेमी भट्टारे पव्वइते रायमतिं आराहेति 'जति इच्छेज्ज'। सा निव्विण्णकामभोगा तस्स चित्ताभिप्पायं जाणिऊण मधु-घतसंजुत्तं पेज्जं पिवित आगते कुमारे मदणफलं मुहे पक्खिप्प छड्डेति—पिवसि पेज्जं? तेण पडिभणितं—वंतमुच्चमणति। तत्थ 'किमिदं'? इति भणित मणति-इममवि एवं प्रकारमेव भाव्यतो हं भगवता परिचत त्ति। ततो तुज्झ भामभिलसंतस्स

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥ ७॥

कयाति रहणमी वारवतीतो भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छंतो वासाभिहतो एगं गुहमणुपविट्ठो। रायीमती य भगवंतमभिवंदिऊण तं चेव गच्छंती 'वासमुवागतं' ति तमेव गुहमणुगाता। तं पुव्वपविट्ठमपेच्छमाणी उवओल्लमुपरिवत्थं विप्पिसेऊण वियारेती निव्वसणोपरिसरीरा दिट्ठा कुमारेण, विप्परिणयचित्तो जातो। सा तु भगवती सचिवचक्खुणा तं दठ्ठुं तस्स संसारविरतिकरणेण संजमे धीतिसमुप्पादणत्थमाह —

अहं च भोयरायस्स तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर॥ ८॥
जति तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि णारिओ।
वाताइद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥ ९॥

२—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ७ वाँ श्लोक यहाँ। देखिए पाद-टिप्पणी १।

३—उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। प्रसंगवश रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख भी आया है। कोष्ठक के अन्दर का चूर्णि लिखित वर्णन उत्तराध्ययन में नहीं मिलता।

४—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ८ वाँ और ९ वाँ श्लोक यहाँ। देखिए पाद टिप्पणी १।

५—नि० गा० १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वयं : श्रामण्यपूर्वक

मूल	सस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[१]कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए । पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥	कथ नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामान्न निवारयेत् । पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वश गतः ॥१॥	जो मनुष्य संकल्प के वश हो,[२] पद-पद पर[३] विषाद-ग्रस्त[४] होता है[५] और काम[६]—विषय-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा[७] ?
२—वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य । अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ[११] त्ति वुच्चइ ॥	वस्त्र गन्ध अलङ्कार, स्त्रियः शयनानि च । अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥२॥	जो वस्त्र, गध, अलकार, स्त्रियों और पलङ्गों का परवश होने से, (या उनके अभाव में[८]) सेवन नहीं करता[९], वह त्यागी नहीं कहलाता[१०] ।
३—जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई । साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥	यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति । स्वाधीनः त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥३॥	त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय[१२] भोग[१३] उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है[१४] और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है[१५] ।
४—समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा । न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव[२२]ताओ विणएज्ज रागं ॥	समया प्रेक्षया परिव्रजन् (तस्य), स्यान्मनो निःसरति बहिस्तात् । न सा मम नापि अहमपि तस्याः, इत्येव तस्या विनयेद् रागम् ॥४॥	समदृष्टि पूर्वक[१६] विचरते हुए भी[१७] यदि कदाचित्[१८] यह मन बाहर निकल जाय[१९] तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ,'[२०] मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे[२१] ।
५—[२३]आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए ॥	आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्त खलु दुःखम् । छिन्धि दोष विनयेद् राग, एव सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥	अपने को तपा[२४] । सुकुमारता[२५] का त्याग कर । काम—विषय वासना का अतिक्रम कर । इससे दुःख अपने-आप क्रांत होगा । (सयम के प्रति) द्वेष-भाव[२६] को छिन्न कर । (विषयों के प्रति) राग-भाव[२७] को दूर कर । ऐसा करने से तू ससार में सुखी होगा[२८] ।

६—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिष,
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं,
कुले जाता अगन्धने ॥६॥

अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प[१९] ज्वलित, विकराल[२] धूमशिख[२१]—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते[२] ।

७—[२२]धिरत्थु ते जसोकामी
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन्,
यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं,
श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥७॥

हे यशःकामिन् ! [२३] धिक्कार है तुझे ! जो तू भोगी-जीवन के लिए[२४] वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेय है[२५] ।

८—अहं च भोयरायस्स
तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर ॥

अहं च भोजराजस्य,
त्वं चाऽसि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव,
संयमं निभृतश्चर ॥८॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ[२६] और तू अंधकवृष्णि का पुत्र । हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों[२] । तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर ।

९—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दच्छसि नारिओ ।
वायाइद्धो व्व हढो
अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं,
या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हठः,
अस्थितात्मा भविष्यसि ॥९॥

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग भाव करेगा तो वायु से आहत हठ[२] की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा ।

१०—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा,
संयतायाः सुभाषितम् ।
अंकुशेन यथा नागो,
धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥१०॥

संयमिनी के इन सुभाषित[४] वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गये, जैसे अंकुश से नाग —हाथी होता है।

११—एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो ॥
त्ति बेमि

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः,
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः,
यथा स पुरुषोत्तमः ॥११॥
इति ब्रवीमि ।

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण[३] पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे कि पुरुषोत्तम[४] रथनेमि हुए ।

मैं ऐसा कहता हूँ ।

★

टिप्पणियाँ : अध्ययन २

श्लोक १ :

१. तुलना :

यह श्लोक 'सयुत्त-निकाय' के निम्न श्लोक के साथ अद्भुत सामञ्जस्य रखता है

दुक्कर दुत्तितिक्खञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञ। वहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति।
कतिह चरेय्य सामञ्ञ चित्त चे न निवारये। पदे पदे विसीदेय्य सकप्पानं वसानुगोति ॥

१.१७

इस श्लोक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

कितने दिनों तक श्रमण-भाव को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश मे नहीं ला सकता।
पद-पद मे फिसल जायगा, इच्छाओं के अधीन रहने वाला ॥

—सयुक्त-निकाय १।२।७ पृ० ८

२. संकल्प के वश हो (संकप्पस्स वसं गओ घ) :

यहाँ सकल्प का अर्थ काम-अध्यवसाय है[1]। काम का मूल सकल्प है। सकल्प से काम और काम से विषाद यह इनके होने का क्रम है। सूक्त के रूप मे यू कहा जा सकता है—"सकल्पाज्जायते कामो विषादो जायते तत।"

सकल्प और काम का सम्बन्ध दरसाने के लिये 'अगस्त्य-चूर्णि' मे एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"काम ! जानामि ते रूप, सङ्कल्पात् किल जायसे।
न ते सङ्कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥"

—काम ! मैं तुझे जानता हूँ। तू सकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा सकल्प ही नहीं करूँगा। तू मेरे मन में फिर उत्पन्न कैसे होगा ? नहीं हो सकेगा।

३. पद-पद पर (पए पए ग) :

स्पर्शन आदि इन्द्रिय, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय, क्रोधादि कषाय, क्षुधा आदि परीषह, वेदना, असुखानुभूति और पशु आदि द्वारा कृत उपसर्ग अपराध-पद कहे गए हैं[2]। अपराध-पद अर्थात् ऐसे विकार-स्थल जहाँ हर समय मनुष्य के विचलित होने की सभावना रहती है।

४. विषाद-ग्रस्त (विसीयंतो ग) :

क्षुधा, तृषा, ठण्डक—सर्दी, गर्मी, डांस—मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ—आहारादि का न मिलना, शय्या का अभाव—ऐसे परीषह—कष्ट साधु को होते ही रहते हैं। वध—मारे जाने, आक्रोश—कठोर वचन कहे जाने आदि के उपसर्ग—यातनाएँ उसके सामने आती

१—जि० चू० पृ० ७८ सकप्पोत्ति वा छदोत्ति वा कामज्झवसायो।

२—नि० गा० १७५ : इदियविसयकसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा।
एए अवराहपया जत्थ विसीयति दुम्मेहा ॥

६—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं,
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं,
कुले जाता अगन्धने ॥६॥

अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प[११] ज्वलित, विकराल[१२] धूमशिख[१३]—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते[१४] ।

७—धिरत्थु ते जसोकामी
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन्,
यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं,
श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥७॥

हे यशःकामिन्![१५] धिक्कार है तुझे! जो तू भोगी-जीवन के लिए[१६] वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है[१७] ।

८—अहं च भोयरायस्स
तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर ॥

अहं च भोजराजस्य
त्वं चाऽसि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव,
संयमं निभृतश्चर ॥८॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ[१८] और तू अन्धकवृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों[१९] । तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर।

९—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं,
या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हठः,
अस्थितात्मा भविष्यसि ॥९॥

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग भाव करेगा तो वायु से आहत हट[२०] की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा[२१] ।

१०—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा,
संयतायाः सुभाषितम् ।
अंकुशेन यथा नागो
धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥१०॥

संयमिनी के इन सुभाषित[२२] वचनों को सुनकर रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गये जैसे अंकुश से नाग[२३]—हाथी होता है।

११—एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो ॥
त्ति बेमि

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः,
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो
यथा स पुरुषोत्तमः ॥११॥
इति ब्रवीमि ।

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण[२४] पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे कि पुरुषोत्तम[२५] रथनेमि हुए।

मैं ऐसा कहता हूँ।

★

इच्छा अर्थात् एषणा—चित्त की अभिलाषा। अभिलाषा रूप काम को इच्छा-काम कहते हैं[1]। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह की होती है[2]। धर्म और मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है। युद्ध की इच्छा, राज्य की इच्छा, विषय-सेवन की इच्छा अप्रशस्त है[3]।

वेदोपयोग को मदन काम कहते हैं[4]। वेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुषोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा करना तथा विषय-भोग में प्रवृत्ति करना मदन काम है। मदमय होना मदन-काम है[5]।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकरण में काम शब्द मदन-काम का द्योतक है[6]।

चूर्णिकार और टीकाकार भी कहते हैं कि निर्युक्तिकार का यह कथन—"विषय-सुख में आसक्त और काम राग में प्रतिवद्ध जीव को काम धर्म से गिराते हैं। पण्डित काम को रोग कहते हैं। जो कामों की प्रार्थना करते हैं वे प्राणी निश्चय ही रोगों की प्रार्थना करते हैं[7]"—मदन-काम से सम्बन्धित है।

पर वास्तव में कहा जाय तो श्रमणत्व पालन करने की शर्त्त के रूप में अप्रशस्त इच्छा-काम और मदन काम, दोनों के समान रूप से निवारण करने की आवश्यकता है।

७. श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा ? (कह नु कुज्जा सामण्ण क) :

'अगस्त्य चूर्णि में' 'कह' शब्द को प्रकार वाचक माना है और बताया है कि उसका प्रयोग प्रश्न करने में किया जाता है। वहाँ 'नु' को 'वितर्क' वाचक माना है[8]। 'कह नु' का अर्थ होता है—किस प्रकार—कैसे ?

जिनदास के अनुसार 'कह नु' (सं० कथ नु) का प्रयोग दो तरह से होता है। एक क्षेपार्थ मे और दूसरा प्रश्न पूछने मे[9]। कथ नु स राजा, यो न रक्षति'—वह कैसा राजा, जो रक्षा न करे! 'कथ नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते'—वह कैसा वैयाकरण जो अपशब्दों का प्रयोग करे! 'कह नु' का यह प्रयोग क्षेपार्थक है। 'कथ नु भगवन् जीवा सुखवेदनीय कर्म्म वध्नति,'—भगवान्! जीव सुखवेदनीय कर्म का बंधन कैसे करते हैं ? यहाँ 'कथ नु' का प्रयोग प्रश्नवाचक है। 'कह नु कुज्जा सामण्ण' मे इसका प्रयोग क्षेप—आक्षेप रूप मे हुआ है। आक्षेपपूर्ण शब्दों में कहा गया है—वह श्रामण्य को कैसे निभाएगा जो काम का निवारण नही करता! काम-राग का निवारण श्रामण्य-पालन की योग्यता की पहली कसौटी है।

जो ऐसे अपराध-पदो के सम्मुख खिन्न होता है, वह श्रामण्य का पालन नही कर सकता। शीलागों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि सयमी अपराध-पदों के अवसर पर ग्लानि, खेद, मोह आदि की भावना न होने दे।

१—नि० १६२ हा० टी० प० ८५ तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा।

२—नि० गा० १६३ इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य

३—जि० चू० पृ० ७६ तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्म कामयति मोक्ख कामयति, अपसत्था इच्छा रज्ज वा कामयति जुद्ध वा कामयति एवमादि इच्छाकामा।

४—नि० गा० १६३ मयणमि वेयउवओगो।

५—(क) जि० चू० पृ० ७६ जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी।
(ख) नि० १६२, १६३ हा० टी० प० ८५-८६ मदयतीति तथा मदन—चित्रो मोहोदय स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामा मदनकामा 'वेद्यत इति वेद—स्त्रीवेदादिस्तदुपयोग—तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुष प्रार्थयत इत्यादि।

६—नि० गा० १६३ मयणमि वेयउवओगो।
तेणहिगारो तस्स उ वयति धीरा निरुत्तमिणा॥

७—नि० गा० १६४-१६५ विसयसुहेसु पसत्त अबुहजणं कामरागपडिबद्ध।
उक्कामयति जीव धम्माओ तेण ते कामा॥
अन्नपि य से नामं कामा रोगत्ति पडिया विंति।
कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जन्तू॥

८—अ० चू० कह सद्दो प्रकारवाचीति नियमेण पुच्छाए वट्टति। णु—सद्दो वितक्के, प्रकार वियक्केति, केण णु प्रकारेण सो सामण्ण कुज्जा।

९—जि० चू० पृ० ७५ कहणुत्ति—किं—केन प्रकारेण। कथ नु शब्द क्षेपे प्रश्ने च वर्त्तते।

ही रहती है। रोग तृण-स्पर्श की वेदना, उग्र विहार और मैल की असह्यता, एकान्त-वास के भय, एकान्त में किसी द्वारा अनुराग किया जाना, सत्कार-पुरस्कार की भावना, प्रज्ञा और ज्ञान के न होने से हीन भावना से उत्पन्न हुई ग्लानि आदि अनेक पद हैं—बातें हैं, जहाँ मनुष्य विचलित हो जाता है। परीषह, उपसर्ग और वेदना के समय आचार का भंग कर देना, खेद खिन्न हो जाना, 'इससे तो पुनः गृहवास में चला जाना अच्छा' ऐसा सोचना, अनुताप करना, इन्द्रियों के विषयों में फँस जाना, कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ कर बैठना—इसे विषाद-ग्रस्त होना कहते हैं। संयम और श्रम के प्रति अरुचि की भावना को उत्पन्न होने देना विषाद है।

५ पद-पद पर विषाद-ग्रस्त होता है (पए पए विसीयंतो ग)

पद-पद पर विषाद-ग्रस्त होने की बात को समझाने के लिए एक कहानी मिलती है[1] जिसके पूर्वार्द्ध का सार इस प्रकार है—

एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ। बेटा वृद्ध साधु को अतीव इष्ट था। एक बार दुःख प्रकट करते हुए वह कहने लगा: 'बिना जूते के चला नहीं जाता।' अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब बेटा बोला "ऊपर का तला ठण्ड से फटता है।" वृद्ध ने मोजे करा दिए। तब कहने लगा—'सिर अत्यन्त जलने लगता है।' वृद्ध ने—सिर ढकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला—'भिक्षा के लिए नहीं घूमा जाता।' वृद्ध ने वहीं उसे लाकर देना शुरू किया। फिर बोला—'भूमि पर नहीं सोया जाता।' वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला—'लोच करना नहीं बनता।' वृद्ध ने क्षुर को काम में लाने की आज्ञा दी। फिर बोला—"बिना स्नान नहीं रहा जाता।" वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला—"मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता।" वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ और अयोग्य है उसे अपने आश्रम से दूर कर दिया।

इच्छाओं के वश होनेवाला इसी तरह बात-बात में शिथिल हो कायरता दिखा अपना विनाश करता है।

६ काम (काम घ)

काम दो प्रकार के हैं: द्रव्य-काम और भाव-काम[3]। विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य—इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं[4]। जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं—जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य-काम हैं[5]।

भाव-काम दो तरह के हैं—इच्छा-काम और मदन-काम[6]।

१—(क) अ चू
(ख) जि चू पृ ७८
(ग) हा टी पृ ९२

२—हरिभद्र सूरि के अनुसार यह कौंकण देश का था (हा टी प० ९२)।

३—नि गा १६१ : नामं ठवणा कामा दव्वकामा य भावकामा य।

४—(क) जि चू पृ० ७८ : त इट्ठा सद्दरसरूवगंधफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवंति।
(ख) हा० टी प० ९२ : शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः।

५—(क) नि गा १६२ : सद्दरसरूवगंधफासा उदयंकरा य जे दव्वा।
(ख) जि चू पृ ७८ : जाणि य मोहोदयकारणाणि वियडमादीणि दव्वाणि तेहिं अब्भवहरिएहिं सद्दादिणो विसया उदिज्जंति एते दव्वकामा।
(ग) हा० टी प० ९२ : मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वात् द्रव्यकामा इति।

६—नि गा० १६३ : दुविहा य भावकामा इच्छाकामा मयणकामा य।

इच्छा अर्थात् एषणा—चित्त की अभिलाषा। अभिलाषा रूप काम को इच्छा-काम कहते हैं[1]। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह की होती है[2]। धर्म और मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है। युद्ध की इच्छा, राज्य की इच्छा, विषय-सेवन की इच्छा अप्रशस्त है[3]।

वेदोपयोग को मदन काम कहते हैं[4]। वेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुषोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा करना तथा विषय-भोग में प्रवृत्ति करना मदन काम है। मदमय होना मदन-काम है[5]।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकरण में काम शब्द मदन-काम का द्योतक है[6]।

चूर्णिकार और टीकाकार भी कहते हैं कि निर्युक्तिकार का यह कथन—"विषय-सुख मे आसक्त और काम राग में प्रतिबद्ध जीव को काम धर्म से गिराते हैं। पण्डित काम को रोग कहते हैं। जो कामों की प्रार्थना करते हैं वे प्राणी निश्चय ही रोगों की प्रार्थना कहते हैं[7]" —मदन काम से सम्बन्धित है।

पर वास्तव में कहा जाय तो श्रमणत्व पालन करने की शर्त्त के रूप में अप्रशस्त इच्छा-काम और मदन काम, दोनों के समान रूप से निवारण करने की आवश्यकता है।

७. श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा? (कहं नु कुज्जा सामण्ण [क]) :

'अगस्त्य चूर्णि में' 'कह' शब्द को प्रकार वाचक माना है और बताया है कि उसका प्रयोग प्रश्न करने में किया जाता है। वहाँ 'नु' को 'वितर्क' वाचक माना है[8]। 'कह नु' का अर्थ होता है—किस प्रकार—कैसे ?

जिनदास के अनुसार 'कह नु' (स० कथ नु) का प्रयोग दो तरह से होता है। एक क्षेपार्थ मे और दूसरा प्रश्न पूछने में[9]। कथ नु स राजा, यो न रक्षति'—वह कैसा राजा, जो रक्षा न करे! 'कथ नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते'—वह कैसा वैयाकरण जो अपशब्दों का प्रयोग करे! 'कह नु' का यह प्रयोग क्षेपार्थक है। 'कथ नु भगवन् जीवा सुखवेदनीय कर्म्म बध्नन्ति,'—भगवान्! जीव सुखवेदनीय कर्म का बंधन कैसे करते हैं? यहाँ 'कथ नु' का प्रयोग प्रश्नवाचक है। 'कह नु कुज्जा सामण्ण' में इसका प्रयोग क्षेप—आक्षेप रूप में हुआ है। आक्षेपपूर्ण शब्दों में कहा गया है—वह श्रामण्य को कैसे निभाएगा जो काम का निवारण नहीं करता? काम-राग का निवारण श्रामण्य-पालन की योग्यता की पहली कसौटी है।

जो ऐसे अपराध-पदो के सम्मुख खिन्न होता है, वह श्रामण्य का पालन नहीं कर सकता। शीलागों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि सयमी अपराध-पदो के अवसर पर ग्लानि, खेद, मोह आदि की भावना न होने दे।

१—नि० १६२ हा० टी० प० ८५ तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा।

२—नि० गा० १६२ इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य

३—जि० चू० पृ० ७६ ...तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्मं कामयति मोक्खं कामयति, अपसत्था इच्छा रज्ज वा कामयति जुद्ध वा कामयति एवमादि इच्छाकामा।

४—नि० गा० १६३ मयणमि वेयउवओगो।

५—(क) जि० चू० पृ० ७६ जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी।

(ख) नि० १६२, १६३ हा० टी० प० ८५-८६ मदयतीति तथा मदन —चित्रो मोहोदय· स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामा मदनकामा 'वेद्यत इति वेद —स्त्रीवेदादिस्तदुपयोग —तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयत इत्यादि।

६—नि० गा० १६३ मयणमि वेयउवओगो।
तेणहिगारो तस्स उ वयति धीरा निरुत्तमिणं॥

७—नि० गा० १६४-१६५ विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं।
उक्कामयंति जीवं धम्माओ तेण ते कामा॥
अन्नपि य से नामं कामा रोगत्ति पंडिया बिंति।
कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जन्तू॥

८—अ० चू० कह सद्दो प्रकारवाचीति नियमेण पुच्छाए वट्टति। णु—सद्दो वितक्के, प्रकार वियक्केति, केण णु प्रकारेण सो सामण्ण कुज्जा।

९—जि० चू० पृ० ७५ कहणुत्ति—कि—केन प्रकारेण। कथ नु शब्द क्षेपे प्रश्ने च वर्त्तते।

हरिभद्र सूरिने 'नु' को केवल क्षेपात्मक माना है[1]।

जिनदास ने इस चरण के दो विकल्प पाठ दिये हैं (१) कइ अहं कुज्जा सामण्णं (२) कयाऽहं कुज्जा सामण्णं। 'वह कितने दिनों तक श्रामण्य का पालन करेगा?' 'मैं श्रामण्य का पालन कब करता हूँ'—ये दोनों अर्थ क्रमशः उपरोक्त पाठान्तरों के हैं। तीसरा विकल्प 'कह या कुज्जा सामण्णं' मिलता है। अगस्त्य चूर्णि में भी ऐसे ही विकल्प पाठ हैं तथा चौथा विकल्प 'कह न कुज्जा सामण्णं' दिया है।

श्लोक २

८ परवश होने से, या उनके अभाव में (अच्छन्दा ग)

'अच्छन्दा' शब्द के बाद मूल चरण में जो 'जे' शब्द है वह साधु का द्योतक है। 'अच्छन्दा' शब्द साधु की विशेषता बतलानेवाला है। इसी कारण हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ 'अस्ववशाः' किया है अर्थात् जो साधु स्वाधीन न होने से—परवश होने से भोगों को नहीं भोगता।

'अच्छन्दा' का प्रयोग कर्तृ वाचक बहुवचन में हुआ है। पर उसे कर्मवाचक बहुवचन में भी माना जा सकता है। उस हालत में वह वस्त्र आदि वस्तुओं का विशेषण होगा और अर्थ होगा अस्ववश पदार्थ—जो पदार्थ पास में नहीं या जिन पर वश नहीं। अनुवाद में इन दोनों अर्थों को समाविष्ट किया गया है।

इसका भावार्थ समझने के लिए चूर्णि-द्वय[2] और टीका[3] में एक कथा मिलती है। उसका सार इस प्रकार है—

चन्द्रगुप्त ने नन्द को बाहर निकाल दिया था। नन्द का अमात्य सुबन्धु था। वह चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य के प्रति द्वेष करता था। एक दिन अवसर देख कर सुबन्धु ने चंद्रगुप्त से कहा— 'आप मुझे धन नहीं देते तो भी आपका हित किसमें है, यह बताना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। आपकी माँ को चाणक्य ने मार डाला है।" धाय से पूछने पर उसने भी राजा से ऐसा ही कहा। जब चाणक्य राजा के पास आया तो राजा ने उसे स्नेह-दृष्टि से नहीं देखा। चाणक्य नाराजगी की बात समझ गया। उसने यह समझ कर कि मौत आ गई—अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों में बांट दी। फिर गंधचूर्ण इकट्ठा कर एक पत्र लिखा। पत्र को गंध के साथ डिब्बे में रखा। फिर एक के बाद एक इस तरह चार मंजूषाओं के अन्दर उसे रखा। फिर मंजूषा को सुगन्धित कोठे में रख उसे कीली से जड़ दिया। फिर जंगल के गोकुल में जा इंगिनी मरण अनशन ग्रहण किया। राजा को धाय से यह बात मालूम हुई। वह पछताने लगा— 'मैंने बुरा किया।" वह रानियों सहित चाणक्य से क्षमा माँगने के लिए गया और क्षमा माँग उससे वापस आने का निवेदन किया। चाणक्य बोले— 'मैं सब कुछ त्याग चुका। अब नहीं आता।' मौका देखकर सुबन्धु बोला— 'आप आज्ञा दें तो मैं इनकी पूजा करूँ।" राजा ने आज्ञा दी। सुबन्धु ने धूप जला वहाँ एकत्रित कण्डों पर अंगार फेंक दिया। अचानक अग्नि में चाणक्य जल गया। राजा और सुबन्धु वापस आए। राजा को प्रसन्न कर मौका पा सुबन्धु ने चाणक्य का घर तथा घर की सारी सामग्री माँग ली। फिर घर सम्भाला। कोठा देखा। पेटी देखी। अन्त में डिब्बा देखा। सुगन्धित पत्र देखा। उसे पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—जो सुगन्धित चूर्ण सूंघने के बाद स्नान करेगा, अलंकार धारण करेगा, ठण्डा जल पीयेगा, महती शय्या पर शयन करेगा, यान पर चढ़ेगा, गन्धर्व-गान सुनेगा और इसी तरह अन्य इष्ट विषयों का भोग करेगा—साधु की तरह नहीं रहेगा—वह मृत्यु को प्राप्त होगा। और इनसे विरत हो साधु की तरह रहेगा—वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। सुबन्धु ने दूसरे मनुष्य को गन्ध सूंघा भोग पदार्थों का सेवन करा परीक्षा की; वह मारा गया। जीवनार्थी सुबन्धु साधु की तरह रहने लगा।

मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी जैसे वह सुबन्धु साधु नहीं कहा जा सकता वैसे ही विवशता के कारण भोगों को न भोगने से कोई त्यागी नहीं कहा जा सकता।

१—हा० टी० प० ९८ : 'कहं' केन प्रकारेण, नु क्षेपे यथा कथं नु स राजा यो न रक्षति ?, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते ?

२—अ० चू० ; जि० चू० पृ० ८२

३—हा० टी० प० ९९

९. सेवन नहीं करता (न भुंजन्ति [ग]) :

'भुजन्ति' वहुवचन है। इसलिए इसका अर्थ 'सेवन नहीं करते' ऐसा होना चाहिए था, पर श्लोक का अन्तिम चरण एकवचनान्त है, इसलिए एकवचन का अर्थ किया है। चूर्णि और टीका में जैसे एकवचन के प्रयोग को वहुवचन के स्थान में माना है, वैसे ही वहुवचन के प्रयोग को एकवचन के स्थान में माना जा सकता है।

टीकाकार वहुवचन एकवचन की असगति देखकर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—सूत्र की गति—रचना विचित्र प्रकार की होने से तथा मागधी का सस्कृत में विपर्यय भी होता है इससे ऐसा है (अत्र सूत्रगतेर्विचित्रत्वात् वहुवचने अपि एकवचननिर्देश' विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवति एव इति कृत्वा)।

१०. त्यागी नहीं कहलाता (न से चाइ त्ति वुच्चइ [घ]) :

प्रश्न है—जो पदार्थों का सेवन नहीं करता वह त्यागी क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है—त्यागी वह होता है जो परित्याग करता है। जो अपनी वस्तु का परित्याग नहीं करता केवल अपनी अस्ववशता के कारण उसका सेवन नहीं करता, वह त्यागी कैसे कहा जायगा? इस तरह वस्तुओं का सेवन न करने पर भी जो काम के सकल्पों से सक्लिष्ट होता है वह त्यागी नहीं होता[१]।

११. से चाइ [घ] :

'से'—वह पुरुष[२]। यहाँ वहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है—यह व्याख्याकारों का अभिमत है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने वहुवचन के स्थान में एकवचन का आदेश माना है[३]। जिनदास महत्तर ने एकवचन के प्रयोग का हेतु आगम की रचना-शैली का वैचित्र्य, सुखोच्चारण और ग्रन्थलाघव माना है[४]। हरिभद्र सूरि ने वचन-परिवर्तन का कारण रचना शैली की विचित्रता के अतिरिक्त विपर्यय और माना है[५]। प्राकृत में विभक्ति और वचन का विपर्यय होता है।

स्थानाङ्ग में शुद्ध वाणी के दश अनुयोग बतलाए हैं। उनमें 'सक्रामित' नाम का एक अनुयोग है। उसका अर्थ है, विभक्ति और वचन का सक्रमण—एक विभक्ति का दूसरी विभक्ति और एकवचन का दूसरे वचन मे वदल जाना। टीकाकार अभयदेव सूरि ने 'सकामिय' अनुयोग के उदाहरण के लिए इसी श्लोक का उपयोग किया है।

श्लोक ३ :

१२. कांत और प्रिय (कते पिए [क]) :

अगस्त्यसिंह मुनि के अनुसार 'कान्त' सहज सुन्दर और प्रिय अभिप्रायकृत सुन्दर होता है[६]।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र के अनुसार 'कान्त' का अर्थ है रमणीय और प्रिय का अर्थ है इष्ट[७]।

१—(क) जि० चू० पृ० ८१ एते वत्थादय परिभोगा केचिदच्छदा न भुंजते नासौ परित्याग ।
(ख) जि० चू० पृ० ८२ अच्छदा अभुंजमाणा य जीवा णो परिचत्तभोगिणो भवति। एव अभुंजमाणो कामे सकप्प-सकिलिट्ठत्ताए चागी न भण्णइ।

२—से अत एत् सौ पुसि मागध्याम्—हैमश० ८।४।२८७

३—अ० चू० वहुवयणस्स त्थाणे एगवयणमादिट्ठ ।

४—जि० चू० पृ० ८२ विचित्तो सुत्तनिबधो भवति, छह मुहोच्चारणत्थ गथलाघवत्थ च।

५—हा० टी० प० ९१ किं वहुवचनोद्देशेऽपि एकवचननिर्देश' ? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा।

६—अ० चू० कत इति सामन्न, प्रिय इति अभिप्रायकत किंचि अकतमवि कस्सति साभिप्रायतोप्रियम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ८२ कमनीया' कान्ता शोभना इत्यर्थ', पिया नाम इट्ठा।
(ख) हा० टी० प० ९२ 'कान्तान्' कमनीयान् शोभनानित्यर्थ' 'प्रियान्' इष्टान्।

१५. स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है (साहीणे चयइ भोए ग) :

प्रश्न है—जब 'लब्ध' शब्द है ही तब पुन 'स्वाधीन' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? क्या दोनों एकार्थक नहीं ?

चूर्णिकार के अनुसार 'लब्ध' शब्द का सम्बन्ध पदार्थों से है और स्वाधीन का सम्बन्ध भोक्ता से। स्वाधीन अर्थात् स्वस्थ और भोग समर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित पराधीन हैं[1]। वे अपनी परवशता के कारण भोगों का सेवन नहीं कर पाते। यह उनका त्याग नहीं है।

हरिभद्र सूरि ने व्याख्या में कहा है—किसी बन्धन में बंधे होने से नहीं, वियोगी होने से नहीं, परवश होने से नहीं, पर स्वाधीन होते हुए भी जो लब्ध भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी है[2]।

जो विविध प्रकार के भोगों से सम्पन्न है, जो उन्हें भोगने में भी स्वाधीन है वह यदि अनेक प्रकार की शुभ भावना आदि से उनका परित्याग करता है तो वह त्यागी है।

व्याख्याकारों ने स्वाधीन भोगों को त्यागनेवाले व्यक्तियों के उदाहरण में भरत चक्रवर्ती आदि का नामोल्लेख किया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगों को परित्याग करनेवाले ही त्यागी हैं, तो क्या निर्धनावस्था में प्रव्रज्या लेकर अहिंसा आदि से युक्त हो श्रामण्य का सम्यक् रूप से पालन करनेवाले त्यागी नहीं हैं ? आचार्य उत्तर देते हैं—ऐसे प्रव्रजित भी दीन नही। वे भी तीन रत्नकोटि का परित्याग कर प्रव्रज्या होते हैं। लोक में अग्नि, जल और महिला—ये तीन सार रत्न हैं। इन्हें छोड़कर वे प्रव्रजित होते हैं, अत. वे त्यागी हैं। शिष्य पूछता है—ये रत्न कैसे हैं ? आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं एक लकड़हारा ने सुधर्म-स्वामी के समीप प्रव्रज्या ली। जब वह भिक्षा के लिए अटन करता तब लोग व्यंग में कहते—'यह लकड़हारा है जो प्रव्रजित हुआ है।' साधु बालक बुद्धि से आचार्य से बोला—'मुझे अन्यत्र ले जायें, मैं ताने नहीं सह सकता।' आचार्य ने अभयकुमार से कहा—'हम विहार करेंगे।' अभयकुमार बोला—'क्या यह क्षेत्र मासकल्प के योग्य नहीं कि उसके पहले ही आप विहार करने का विचार करते हैं ?' आचार्य ने सारी बातें कही। अभयकुमार बोला—'आप विराजें। मैं लोगों को युक्ति से निवारित करूँगा।' आचार्य वहीं विराजे। दूसरे दिन अभयकुमार ने तीन रत्नकोटि के ढिग स्थापित किये। नगर में उद्घोषणा कराई—'अभयकुमार दान देते हैं।' लोग आये। अभयकुमार बोले—'ये तीन रत्नकोटि के ढिग हैं। जो अग्नि, पानी और स्त्री—इन तीन को छोड़ेगा उसे मैं ये तीन रत्नकोटि दूंगा।' लोग बोले—'इनके बिना रत्नकोटियों से क्या प्रयोजन ?' अभयकुमार बोले—'तब क्यों व्यंग करते हो कि दीन लकड़हारा प्रव्रजित हुआ है ? उसके पास धन भले ही न हो, उसने तीन रत्नकोटि का परित्याग किया है।' लोग बोले—'स्वामिन् ! सत्य है।' आचार्य कहते हैं—इस तरह तीन सार पदार्थ—अग्नि, उदक और महिला को छोड़कर प्रव्रज्या लेनेवाला धनहीन व्यक्ति भी संयम में स्थित होने पर त्यागी कहलायेगा[3]।

श्लोक ४ :

१६. समदृष्टि पूर्वक (समाए पेहाए क) :

चूर्णि और टीका के अनुसार 'समाए' का अर्थ है—अपने और दूसरे को समान देखते हुए[4]। अपने और दूसरे में अन्तर न करते हुए। 'पेहाए' का अर्थ है प्रेक्षा, चिन्ता, भावना, ध्यान या दृष्टि पूर्वक।

१—जि० चू० पृ० ८३ साहिणो णाम कल्लसरीरो, भोगसमत्थोत्ति वुत्त भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओ वा।

२—हा० टी० प० ९२ स च न बन्धनबद्ध प्रोषितो वा किन्तु ? 'स्वाधीन' अपरायत्त स्वाधीनानेव त्यजति भोगान् स एव त्यागीत्युच्यते।

३—अ० चू०, जि० चू० पृ० ८४, हा० टी० प० ९३।

४—(क) जि० चू० पृ० ८४ समा णाम परमप्पाण च सम पासइ, णो विसम, पेहा णाम चिन्ता भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० ९३ 'समया' आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा—दृष्टिस्तया प्रेक्षया—दृष्ट्या।

पर यहाँ 'समाए पेहाए' का अर्थ—'रूप-कुरूप में समभाव रखते हुए—राग-द्वेष की भावना न करते हुए'—अधिक संगत लगता है। समदृष्टि पूर्वक अर्थात् प्रशस्त ध्यान पूर्वक।

अगस्त्य चूर्णि में इसका वैकल्पिक पाठ 'समाय' माना है[1]। उस हालत में अर्थ होगा—'संयम के लिए प्रेक्षापूर्वक विचरते हुए।'

१७ (परिव्वयंतो क)

अगस्त्य चूर्णि में 'परिव्वयंतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है[2]। वैकल्पिक रूप में इसे मन के साथ जोड़ा है[3]। इसका अनुवाद इन शब्दों में होगा—साम्य चिंतन में रमता हुआ मन।

जिनदास महत्तर 'परिव्वयंतो' को प्रथमा का एकवचन मानते हैं और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तस्स' का अध्याहार करते हैं[4]।

१८ यदि कदाचित् (सिया ख):

अगस्त्य चूर्णि में सिया शब्द का अर्थ 'यदि' किया गया है[5]। इसका अर्थ—स्यात् कदाचित् भी मिलता है[6]। भावार्थ है: प्रशस्तध्यान-स्थान में वर्तते हुए भी यदि हठात् मोहनीय कर्म के उदय से[7]।

१९ मन बाहर निकल जाय (मणो निस्सरई बहिद्धा ख):

'बहिद्धा' का अर्थ है बहिस्तात्—बाहर। भावार्थ है—जैसे घर मनुष्य के रहने का स्थान होता है वैसे ही श्रमण-साधु के मन के रहने का स्थान संयम होता है। कदाचित् कर्मोदय से भुक्तभोगी होने पर पूर्व-क्रीड़ा के अनुस्मरण से अथवा अभुक्तभोगी होने पर कौतूहलवश मन—अंतःकरण—काबू में न रहे—संयमरूपी घर से बाहर निकल जाय[8]।

स्थानाङ्ग-टीका में 'बहिद्धा' का अर्थ "मैथुन" मिलता है[9]। यह अर्थ लेने से अर्थ होगा—मन मैथुन में प्रवृत्त हो जाय।

'कदाचित्' शब्द के भाव को समझाने तथा ऐसे समय में क्या कर्तव्य है इसको बताने के लिये चूर्णि और टीकाकार एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं[10]। मूल दृष्टान्त प्राकृत में है। उसका भावार्थ इस प्रकार है: 'एक राजपुत्र बाहर उपस्थानशाला में खेल रहा था। एक दासी उसके पास से जल का भरा घड़ा लेकर निकली। राजपुत्र ने गोली मारकर उसके घड़े में छेदकर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोती

१—अ० चू० : अथवा 'समाय' समो—संजमो तदत्थं पेहा—प्रेक्षा।

२—अ० चू० : वृत्तभंगभयात् अकारस्स अणुस्सारो।

३—अ० चू० : अहवा तेण मणोऽभिसंबज्झति।

४—जि० चू० पृ० ८४ : परिव्वयंतो नाम गामणगरादीणि उवदेसेणं विचरंतोत्ति वुत्तं भवइ तस्स।

५—अ० चू० : सिय सद्दो आसंकावादी 'जति' एतम्मि अत्थे वट्टति।

६—हा० टी० प० ९४ : 'स्यात्' कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेः।

७—जि० चू० पृ० ८४ : पसत्थेहिं झाणट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स मोहणीयस्स कम्मस्स उदएणं।

८—(क) जि० चू० पृ० ८४ : बहिद्धा नाम संजमाओ बाहिं गच्छइ, कहं? पुव्वरयाणुसरणेण वा भुत्तभोइणो अभुत्तभोगिणो वा कोउहल्लवत्तियाए।

(ख) हा० टी० प० ९४ : 'बहिर्धा' बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः—अन्तःकरणं निःसरति—निर्गच्छति बहिर्धा—संयमगेहाद्बहिरित्यर्थः।

९—स्था० ४.१.२११ टी० : बहिद्धा—मैथुनम्।

१०—अ० चू०; जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० प० ९४।

देख राजपुत्र ने फिर गोली चलाई। दासी सोचने लगी : यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो पुकार कहाँ की जाय ? जलसे उत्पन्न अग्नि कैसे बुझायी जाय ? यह सोचकर दासी ने कर्दम की गोली से तत्क्षण ही उस घट-छिद्र को स्थगित कर दिया—ढक दिया। इसी तरह सयम में रमण करते हुए भी यदि सयमी का मन योगवश बाहर निकल जाय—भटकने लगे तो वह प्रशस्त परिणाम से उस अशुभ सकल्प रूपी छिद्र को चरित्र-जल के रक्षण के लिए शीघ्र ही स्थगित करे।"

२०. वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ (न सा महं नोवि अहं पि तीसे ग) :

यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को मोह-त्याग का बहुत बड़ा साधन माना है[1]। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओं से होता है और अन्त में वह 'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्', यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूँ—यहाँ तक पहुँच जाता है। चूर्णिकार ने भेद को समझाने के लिए एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका सार इस प्रकार है :

एक वणिक्-पुत्र था। उसने स्त्री छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की। वह इस प्रकार घोष करता—"वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूँ।" ऐसा रटते रटते वह सोचने लगा—"वह मेरी है, मैं भी उसका हूँ। वह मुझ में अनुरक्त है। मैंने उसका त्याग क्यों किया ?" ऐसा विचार कर वह अपने उपकरणों को ले उस ग्राम मे पहुँचा, जहाँ उसकी पूर्व स्त्री थी। उसने अपने पूर्व पति को पहचान लिया पर वह उसे न पहचान सका। वणिक्-पुत्र ने पूछा—"अमुक की पत्नी मर चुकी या जीवित है ?" उसका विचार था—यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड दूगा, नहीं तो नहीं। स्त्री ने सोचा—यदि इसने प्रव्रज्या छोड़ दी तो दोनों ससार में भ्रमण करेंगे। यह सोच वह बोली—"वह दूसरे के साथ गई"। वह सोचने लगा—"जो पाठ मुझे सिखलाया गया वह ठीक है—"वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूँ।" इस तरह उसे पुन परम सवेग उत्पन्न हुआ। वह बोला—"मैं वापस जाता हूँ।"

गाथा ४ मे कहा गया है कि यदि कभी काम-राग जाग्रत हो जाय, तो इस तरह विचार कर सयमी सयम में स्थिर हो जाय। सयम में विषाद-प्राप्त आत्मा को ऐसे ही चिन्तन-मत्र से पुन: सयम में सुप्रतिष्ठित करे।

२१. विषय-राग को दूर करे (विणएज्ज रागं घ)

'राग' का अर्थ है रजित होना। ऐसे, चरित्र मे भेद डालने वाले, प्रसग के उपस्थित होने पर विषय-राग का विनयन करे, उसका दमन करे अर्थात् मन का निग्रह करे।

२२. (इच्चेव घ) :

मांसादेर्वा—हैमश० ८।१।२८ अनेन एवशब्दस्य अनुस्वारलोप।

श्लोक ५ :

२३. श्लोक ५ :

इस श्लोक में विषयों को जीतने और भाव-समाधि प्राप्त करने के उपायों का सक्षिप्त विवरण है। इसमें निम्न उपाय बताये हैं—

(१) आतापना,

(२) सौकुमार्य का त्याग,

(३) द्वेष का उच्छेद और

(४) राग का विनयन

१—मोहत्यागाष्टकम् अय ममेति मन्त्रोऽय, मोहस्स जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्व, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्॥

मैथुन की उत्पत्ति चार कारणों से मानी गयी है[1]—(१) मांस शोणित का उपचय—उसकी अधिकता, (२) मोहनीय कर्म का उदय, (३) मति—तद्विषयक बुद्धि और (४) तद्विषयक उपयोग। यहाँ इन सबसे बचने के उपाय बतलाए हैं।

२४ अपने को तपा (आयावयाहि क) :

मन का निग्रह उपचित शरीर से संभव नहीं होता[2]। अतः सर्व प्रथम कायबल निग्रह का उपाय बताया गया है[3]—मांस और शोणित के उपचय—उनकी अधिकता को घटाने का मार्ग दिखाया है।

सर्दी-गर्मी में तितिक्षा रखना, शीत काल में आवरणरहित होकर शीत सहना, ग्रीष्म काल में सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहना, आतापना तप है। उपलक्षण रूप से अन्य तप करने का भाव भी उसमें समाया हुआ है[4]। इसीलिए अर्थ किया—'अपने को तपा' अर्थात् तप कर।

२५ सुकुमारता (सोउमल्लं क) :

प्राकृत में सोउमल्ल, सोमल्ल, सोयमल्ल, सोगुमल्ल ये चारों रूप मिलते हैं।

जो सुकुमार होता है उसे काम—विषयेच्छा सताने लगती है तथा वह स्त्रियों का काम्य हो जाता है। अतः सौकुमार्य को छोड़ने की आवश्यकता बताई है[5]।

२६ द्वेष-भाव (दोसं ग)

संयम के प्रति अरतिभाव—घृणा—अरति को द्वेष कहते हैं। अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा को भी द्वेष कहा है[6]।

२७ राग-भाव (रागं घ) :

इष्ट शब्दादि विषयों के प्रति प्रेम भाव—अनुराग को राग कहते हैं।

दुःख का मूल कामना है। राग-द्वेष कामना की उत्पत्ति के आन्तरिक हेतु हैं। पदार्थ-समूह, देह, काल और सौकुमार्य ये उसकी उत्पत्ति के बाहरी हेतु हैं।

काम विजय ही सुख है। इसीसे कहा है—काम को क्रांत कर दुःख अपने आप क्रांत होगा।

१—जि० चू० पृ० ८८ : 'चउहिं ठाणेहिं मेहुणं समुप्पज्जिज्जा तं० चियमंससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए, तदट्ठोवओगेणं'।

२—जि० चू० पृ० ८८ : सो य न सक्का उवचियसरीरेण निग्गहेउं।

३—जि० चू० पृ० ८८ : तम्हा कायबलनिग्गहे इमं सुत्तं भण्णइ।

४—(क) जि० चू० पृ० ८९ : एगग्गहणे तज्जाइयाण गहणंति न केवलं आयावयाहि,—ऊणोदरियमवि करेहि।

(ख) हा० टी० प० ९५ : 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्' इतिन्यायादनशनमूनोदरतादेरपि विधिः।

५—(क) जि० चू० पृ० ८९ : सुकुमालभावो सोकुमल्लं, सुकुमालस्स य कामेहिं इच्छा भवइ कमणिज्जो य इत्थीणं भवति सुकुमालो, तम्हा एवं सुकुमालभावं छड्डेहि।

(ख) हा० टी० प० ९५ : सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति।

६—जि० चू० पृ० ८९ : ते य कामा सद्दादयो विसया तेसु अणिट्ठेसु दोसो छिंदियव्वो, इट्ठेसु य जो अणुरागो सो विणियव्वो, रागो दोसो य असंजमस्स हेउणो भवंति सम्मं नाणेण त दमणिज्जत्ति।

२८. संसार में सुखी होगा (सुही होहिसि संपराए [ष])

'सपराय' शब्द के अर्थ ससार, परलोक, उत्तरकाल—भविष्य होते हैं[1]।

ससार में सुखी होगा, इसका अर्थ है संसार दु:ख-वहुल है। पर यदि तू चित्त-समाधि प्राप्त करने के उपर्युक्त उपायों को करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व यहाँ सुखी रहेगा। भावार्थ है—जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, प्राणी को ससार में जन्म-जन्मान्तर करते रहना पडता है। इन जन्म-जन्मान्तरों में तू देव और मनुष्य योनि को प्राप्त करता हुआ उनमें सुखी रहेगा[2]।

चूर्णिकारों के अनुसार 'सपराय' शब्द का दूसरा अर्थ 'सग्राम' होता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने मतान्तर के रूप में इसका उल्लेख किया है। यह अर्थ ग्रहण करने से तात्पर्य होगा—परीषह और उपसर्ग रूपी सग्राम मे सुखी होगा—प्रसन्न मन रह सकेगा। अगर तू इन उपायों को करता रहेगा, रागद्वेष में मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा तो जब कभी विकट सकट उपस्थित होगा तब तू उसमे विजयी हो सुखी रह सकेगा[3]।

प्रथम अर्थ से यह दूसरा अर्थ यहाँ अधिक सगत है। मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न दे विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे सकट के समय सयम में पुन स्थिर होने के जो उपाय हैं उन्हीं का निर्देश इस श्लोक में है। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-सग्राम मे विजयी हो सुखी होता है।

श्लोक ६ :

२६. अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प (कुले जाया अगन्धणे [ष]) :

सर्प दो तरह के होते हैं। गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प वे हैं, जो डँसने के बाद मन्त्र से आकृष्ट किए जाने पर व्रण से मुह लगाकर विष को वापस पी लेते हैं। अगन्धन जाति के सर्प प्राण गवाँ देना पसन्द करते हैं पर छोड़े हुए विष को वापस नहीं पीते[4]। अगधन सर्प की कथा 'विसवन्त जातक' (क्रमांक ६९) मे मिलती है। उसका सार इस प्रकार है

खाजा खाने के दिनों में, मनुष्य, सघ के लिए बहुत-सा खाजा लेकर आये। बहुत-सा (खाजा) बाकी बच गया। स्थविर से लोग कहने लगे,—"भन्ते। जो (भिक्षु) गाँव में गये हैं, उनका (हिस्सा) भी ले लें।" उस समय स्थविर का (एक) बालक—शिष्य

१—(क) अ० चू० सपराओ ससारो

(ख) जि० चू० पृ० ८६ सपरातो—ससारो भण्णइ।

(ग) कठोपनिषद् शाकरभाष्य १ २ ६ सम्पर ईयत इति सम्पराय परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजन साधनविशेष शास्त्रीय साम्पराय।

(घ) हलायुध कोष ।

२—(क) अ० चू० सपरायेवि दु क्ख बहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि।

(ख) जि० चू० पृ० ८६ जाव ण परिणेव्वाहिसि ताव दुक्खाउले ससारे सुही देवमणुएसु भविस्ससि।

(ग) हा० टी० प० ९५ यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि।

३—(क) अ० चू० जुद्ध वा सपराओ बावीस पवीस परीसहोव सग्ग जुद्ध लब्ध विजतो पर सुही भविस्ससि।

(ख) जि० चू० पृ० ८६ जुत्त भण्णइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्ससि तओ (जिय) परीसहसपराओ सुही भविस्ससित्ति।

(ग) हा० टी० प० ९५ 'सपराये' परीषहोपसर्गसग्राम इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० गधणा अगधणाय सप्पा, गधणा हीणा, अगधणा उत्तमा, ते डकातो विस न पिबति मरता वि।

(ख) जि० चू० पृ० ८७ तत्थ नागाण दो जातीयो—गधणा य अगधणा य, तत्थ गधणा णाम जे डसिऊण गया मतेहिं आगच्छिया तमेव विस वणमुहट्ठिया पुणो आवियति ते, अगधणा णाम मरण ववसति ण य वतय आवियति।

(ग) हा० टी० प० ९५ नागाना हि भेदद्वय—गधनाश्चागन्धनाश्च—शेष जि० चू० वत्

गाँव में गया था। (लोगों ने) उनका हिस्सा स्थविर को दे दिया। स्थविर ने जब उसे खा लिया तो वह लड़का आया। स्थविर ने उससे कहा— 'आयुष्मन्! मैंने तेरे लिए रखा हुआ खाद्य खा लिया।' वह बोला— 'भन्ते! मधुर चीज किसे अप्रिय लगती है?' महास्थविर को खेद हुआ। उन्होंने निश्चय किया— 'अब इसके बाद (कभी) खाद्य न खायेंगे।' यह बात भिक्षु-संघ में प्रगट हो गई। इसकी चर्चा हो रही थी। शास्ता ने पूछा— 'भिक्षुओ! क्या बात कर रहे हो?' भिक्षुओं के बात कहने पर शास्ता ने कहा— 'भिक्षुओ! एकबार छोड़ी हुई चीज को सारिपुत्र प्राण छोड़ने पर भी ग्रहण नहीं करता।' ऐसा कहकर शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही—

'पूर्व समय में वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व एक विष-वैद्य कुल में उत्पन्न हो वैद्यक से जीविका चलाते थे। एकबार एक देहाती को साँप ने डँस लिया। उसके रिश्तेदार देर न कर जल्दी से वैद्य को बुला लाये। वैद्य ने पूछा— 'दवा के जोर से विष को दूर करूँ? अथवा जिस साँप ने डँसा है उसे बुलाकर उसी से डँसे हुए स्थान से विष निकलवाऊँ?' लोगों ने कहा—'सर्प को बुलाकर विष निकलवाओ।' वैद्य ने साँप को बुलाकर पूछा—'इसे तूने डँसा है?' 'हाँ! मैंने ही'—साँप ने उत्तर दिया। 'अपने डँसे हुए स्थान से तू ही विष को निकाल।' साँप ने उत्तर दिया—'मैंने एकबार छोड़े हुए विष को फिर कभी ग्रहण नहीं किया, तो मैं अपने छोड़े हुए विष को नहीं निकालूँगा।' वैद्य ने लकड़ियाँ मँगवा आग जलाकर कहा—'यदि! अपने विष को नहीं निकालता तो इस आग में प्रवेश कर।' सर्प बोला: 'आग में प्रविष्ट हो जाऊँगा लेकिन एकबार छोड़े हुए अपने विष को फिर नहीं खाऊँगा।' यह कहकर उसने यह गाथा कही:

> धिरत्थु तं विसं वन्तं यमहं जीवितकारणा।
> वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीवितावरं॥

'धिक्कार है उस विष को जिसे जीवन की रक्षा के लिए एकबार उगलकर मैं फिर निगलूँ। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है' यह कहकर सर्प अग्नि में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हुआ। वैद्य ने उसे रोक रोगी को औषधि तथा दवाई से निरोग कर दिया। फिर सर्प को सदाचारी बना 'अब से किसी को दुःख न देना' कह कर छोड़ दिया।

"पूर्व जन्म का सर्प अब का सारिपुत्र है। 'एकबार छोड़ी हुई चीज को सारिपुत्र किस प्रकार प्राण छोड़ने पर भी फिर ग्रहण नहीं करता'—इस सम्बन्ध में यह उसके पूर्व जन्म की कथा है।"

३० विकराल (दुरासयं)

चूर्णिकार ने 'दुरासयं' शब्द का अर्थ 'दहन-समर्थ' किया है। इनके अनुसार जिसका संयोग सहन करना दुष्कर हो वह दुरासद है[२]।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'दुर्गम' किया है। जिसके समीप जाना कठिन हो उसे दुरासद कहा है। 'विकराल' शब्द दोनों अर्थों की भावना को अभिव्यक्त करता है।

१—धिरत्थु धिक्कारार्थक निपात है। तं विसं उस विष को यमहं जीवित कारणा (जिस मैं (अपने) जीवन की रक्षा के लिए) वन्तं विसं (उगले हुए विष को) पच्चावमिस्सामि (निगलूँगा), उस उगले हुए विष को धिक्कार है। मतम्मे जीविता वरं उस विष को फिर न निगलने के कारण जो आग में प्रविष्ट होकर मरना है वह मेरे जीवित रहने की अपेक्षा अच्छा है।—जातक प्र० खं० पृ० ४०४।
—जातक प्र० खं० पृ० ४ -४ में संक्षिप्त।

२—जि० चू० पृ० ९० : दुरासयो नाम दहनसमत्थत्तणं, दुक्खं तस्स संजोगो सहिज्जइ दुरासओ तम।

३१. धूमशिख (धूमकेउं ख) :

चूर्णि के अनुसार यह 'जोइ'—ज्योति—अग्नि का ही दूसरा नाम है। धूम ही जिसका केतु हो उसको धूमकेतु कहते हैं और वह अग्नि ही होती है[१]। टीका के अनुसार यह 'ज्योति' शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है और इसका अर्थ है जो ज्योति, उल्कादि रूप नहीं पर धूमकेतु, धूमचिन्ह, धूमध्वज वाली है[२] अर्थात् जिससे धुआँ निकल रहा है वह अग्नि।

३२. वापस पीने की इच्छा नहीं करते (नेच्छंति वन्तयं भोत्तु ग) :

प्राण भले ही चले जांय पर अगन्धन कुल मे उत्पन्न सर्प विष को वापस नहीं पीता। इस बात का सहारा ले राजीमती कहती है साधु को सोचना चाहिए—अविरत होने पर तथा धर्म को नहीं जानने पर भी केवल कुल का अवलम्बन ले तिर्यञ्च अगन्धन सर्प अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है पर वमन पीने जैसा घृणित काम नहीं करता। हम तो मनुष्य हैं, जिन-धर्म को जानते हैं फिर भला क्या हमें जाति-कुल के स्वाभिमान को त्याग, परित्यक्त भोगों का पुन कायरतापूर्वक आसेवन करना चाहिए? हम दारुण दु ख के हेतु त्यक्त भोगों का फिर से सेवन कैसे कर सकते हैं[४]?

३३. श्लोक ७ से ११ :

इनकी तुलना के लिए देखिए 'उत्तराध्ययन' २२ ४२, ४३, ४४, ४६, ४६।

श्लोक ७ :

३४. हे यशःकामिन्! (जसोकामी क)

चूर्णि के अनुसार 'जसोकामी' शब्द का अर्थ है—हे क्षत्रिय[५]। हरिभद्र सूरि ने इस शब्द को रोष में क्षत्रिय के आमन्त्रण का सूचक कहा है[६]। डा० यॉकोवी ने इसी कारण इसका अर्थ 'famous knight' किया है[७]।

अकार का प्रश्लेष मानने पर 'धिरत्थु तेजसोकामी' ऐसा पाठ बनता है[८]। उस हालत में—हे अयश कामिन्!—ऐसा सम्बोधन बनेगा। 'यश' शब्द का अर्थ सयम भी होता है। अत अर्थ होगा—हे असयम के कामी! धिक्कार है तुझे!

इस श्लोक के पहले चरण का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—हे कामी। तेरे यश को धिक्कार है।

१—जि० चू० पृ० ८७ जोती अग्गी भण्णइ, धूमो तस्सेव परियायो, केऊ उस्सओ चिंध वा, सो धूमे केतू जस्स भवइ धूमकेऊ।

२—हा० टी० प० ९५ अग्नि 'धूमकेतु' धूमचिह्न धूमध्वज नोल्कादिरूपम्।

३—जि० चू० पृ० ८७ साहुणावि चिंतेयव्वं जइ णामाविरएण होऊण धम्म अयाणमाणेण कुलमवलवतेण य जीविय परिचत्त ण य वन्तमावीत, किमगपुण मणुस्सेण जिणवयण जाणमाणेण जातिकुलमत्तणो अणुगणितेण ? तहा करणीय जेण सद्देण दोसे ण भवइ अविय-मरण अज्झवसियव्व, ण य सीलविराहण कुज्जा।

४—हा० टी० प० ९५ यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवित परित्यजन्ति न च वान्त भुञ्जते तत्कथमह जिनवचनाभिज्ञो विपाक-दारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ?

५—जि० चू० पृ० ८८ जसोकामिणो खत्तिया भण्णति।

६—हा० टी० प० ९६ हे यशस्कामिन्निति सासूय क्षत्रियामन्त्रणम्।

७—The Uttaradhyayana Sutra P 118

८—(क) जि० चू० पृ० ८८ अहवा धिरत्थु ते अयसोकामी, गथलाघवत्थ अकारस्स लोव काऊण एव पढिज्जइ 'धिरत्थु तेऽजसोकामी'।
(ख) हा० टी० प० ९६ अथवा अकारप्रश्लेपादयशस्कामिन्!

९—(क) हा० टी० प० १८८ 'जस सारक्खमप्पणो (ठ० ५ २ ३६)—यश शब्देन सयमोऽभिधीयते।
(ख) भगवती श० ४१ उ० १ तेण भते जीवा! कि आयजसेण उववज्जति ? 'आत्मन सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यश'—सयम आत्मयशस्तेन।

गाँव में गया था। (लोगों ने) उसका हिस्सा स्थविर को दे दिया। स्थविर ने जब उसे खा लिया, तो वह लड़का आया। स्थविर ने उससे कहा—"आयुष्मान् ! मैंने तेरे लिए रक्खा हुआ खाद्य खा लिया।" वह बोला—'भन्ते ! मधुर चीज किसे अप्रिय लगती है ?" महास्थविर को खेद हुआ। उन्होंने निश्चय किया—'अब इसके बाद (कभी) खाद्य न खायेंगे।" यह बात भिक्षु-संघ में प्रगट हो गई। इसकी चर्चा हो रही थी। शास्ता ने पूछा—"भिक्षुओ ! क्या बात कर रहे हो ?" भिक्षुओं के बात कहने पर शास्ता ने कहा—'भिक्षुओ ! एकबार छोड़ी हुई चीज को सारिपुत्र प्राण छोड़ने पर भी ग्रहण नहीं करता।" ऐसा कहकर शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही—

'पूर्व समय में वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व एक विष-वैद्य कुल में उत्पन्न हो वैद्यक से जीविका चलाते थे। एकबार एक देहाती को साँप ने डँस लिया। उसके रिश्तेदार देर न कर जल्दी से वैद्य को बुला लाये। वैद्य ने पूछा—'दवा के जोर से विष को दूर करूँ ? अथवा जिस साँप ने डँसा है उसे बुलाकर उसी से डँसे हुए स्थान से विष निकलवाऊँ ? लोगों ने कहा—सर्प को बुलाकर विष निकलवाओ।' वैद्य ने साँप को बुलाकर पूछा—'इसे तूने डँसा है ?' 'हाँ ! मैंने ही'—साँप ने उत्तर दिया। अपने डँसे हुए स्थान से तू ही विष को निकाल। साँप ने उत्तर दिया—'मैंने एकबार छोड़े हुए विष को फिर कभी ग्रहण नहीं किया ; सो मैं अपने छोड़े हुए विष को नहीं निकालूँगा। वैद्य ने लकड़ियाँ मँगवा आग जलाकर कहा—'यदि ! अपने विष को नहीं निकालता तो इस आग में प्रवेश कर। सर्प बोला : 'आग में प्रविष्ट हो जाऊँगा लेकिन एकबार छोड़े हुए अपने विष को फिर नहीं चाटूँगा !' यह कहकर उसने यह गाथा कही :

> धिरत्थु तं विसं वन्तं यमहं जीवितकारणा।
> वन्तं पच्चावमिस्सामि मतम्मे जीविता वरं ॥

'धिक्कार है उस विष को जिसे जीवन की रक्षा के लिए एकबार उगलकर मैं फिर निगलूँ। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है' यह कहकर सर्प अग्नि में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हुआ। वैद्य ने उसे रोक, रोगी को औषधि तथा दवाई से निरोग कर दिया। फिर सर्प को सदाचारी बना 'अब से किसी को दुःख न देना' कह कर छोड़ दिया।

'पूर्व जन्म का सर्प अब का सारिपुत्र है। 'एकबार छोड़ी हुई चीज को सारिपुत्र किस प्रकार प्राण छोड़ने पर भी फिर ग्रहण नहीं करता'—इस सम्बन्ध में यह उसके पूर्व जन्म की कथा है।"

३० विकराल (दुरासय [ ])

चूर्णिकार ने 'दुरासयं' शब्द का अर्थ 'दहन-समर्थ' किया है। इसके अनुसार जिसका संयोग सहन करना दुष्कर हो वह दुरासद है[३]।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'दुराप' किया है। जिसके समीप जाना कठिन हो उसे दुरासद कहा है[४]। 'विकराल' शब्द दोनों अर्थों की भावना को अभिव्यक्त करता है।

१—धिरत्थु विस्तावक निपात है। तं विसं उस विष का यमहं जीवित कारणा (जिस मैं (अपने) जीवन की रक्षा के लिए) वन्तं विसं (उगले हुए विष को) पच्चावमिस्सामि (निगलूँगा) उस उगले हुए विष को धिक्कार है। मतम्मे जीविता वरं उस विष को फिर न निगलने के कारण जो आग में प्रविष्ट होकर मरना है वह मेरे जीवित रहने की अपेक्षा अच्छा है।—जातक प्र० सं० पृ० ४०४।
—जातक प्र० सं० पृ० [illegible] [illegible]।

३—जि० चू० पृ० ८० : दुरासदो नाम दहनसमत्थतणं, दुक्खं तस्स संजोगो सहिज्जइ दुरासओ तम।

४—हा० टी० प० ९४ : 'दुरासदं' दुःखेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्तं दुरभिभवमित्यर्थः।

यह द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि ये दो राजनैतिक-दल यहाँ का शासन चलाते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को विरुद्ध-राज्य कहा जाता रहा[1]।

अन्धकों के नेता अक्रूर थे। उनके दल के सदस्यों को 'अक्रूरवर्ग्य' और 'अक्रूरवर्गीण' कहा गया है। वृष्णियों के नेता वासुदेव थे। उनके दल के सदस्यों को 'वासुदेव वर्ग्य' और 'वासुदेव वर्गीण' कहा गया है[2]। भोजों के नेता उग्रसेन थे।

३८. कुल में गन्धन सर्प ··न हों (मा कुले गंधणा होमो ग) :

राजीमती कहती है—हम लोग दोनों ही महाकुल में उत्पन्न हैं। जिस तरह गधन सर्प छोड़े हुए विष को वापस पी लेते हैं, उस तरह से हम परित्यक्त भोगों को पुन सेवन करनेवाले न हों।

जिनदास महत्तर ने 'मा कुले गधणा होमो' के स्थान मे 'मा कुलगंधिणो होमो' ऐसा विकल्प पाठ बतलाकर 'कुलगधिणो' का अर्थ कुल-पूतना किया है अर्थात् कुल में पूतना की तरह कलक लगानेवाले न हों[3]।

श्लोक ९ :

३९. हट (हडो ग) :

'सूत्रकृताङ्ग' में 'हड' को 'उदक-योनिक', 'उदक सभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है[4]। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है[5]। इसी सूत्र में साधारण शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को बताते हुए 'हढ' वनस्पति का नाम आया है[6]। 'आचाराङ्ग' निर्युक्ति मे अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है[7]। इन समान उल्लेखों से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है[8]। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाब आदि में होनेवाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है[9]। इससे पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है।

१—आचा० २ ३ १ १९९, २ ११ १ ४४१

२—कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक ४.२ १०४

३—जि० चू० पृ० ८९ अहवा कुलगंधिणो कुलपूयणा मा भवामो।

४—सूत्र० (प० ३४९) २ ३ ५४ अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविह-जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलबुगत्ताए हढत्ताए कसेरुगत्ताए विउट्टन्ति।

५—प्रज्ञा० (पृ० १०५) १ ४३ से किं त जलरुहा ?, जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलबुया, हढे य।

६—प्रज्ञा० (पृ० १०८-९) १ ४५ से किं त साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ? साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा किमिरासि भद्दमुत्था णंगलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी ॥६॥

७—आचा० (पृ० ५४) नि० गा० १४१

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अराणे अणेगविहा ॥

८—हा० टी० प० ९७ अबद्धमूलो वनस्पतिविशेष।

९—जि० चू० ८९ हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिसु छिण्णमूलो भवति।

३५ भोगी-जीवन के लिए (वा स जीवियकारणा ग)

जिनदास गणि ने—'कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु के समान चंचल जीवन के लिए'—ऐसा अर्थ किया है[1]। हरिभद्र सूरि ने—'असंयमी जीवन के लिए'—ऐसा अर्थ किया है[2]।

३६ इससे तो तेरा मरना श्रेय है। (सेयं ते मरणं भवे घ)

जैसे जीने के लिए वमन की हुई वस्तु का पुनः भोजन करने से मरना अधिक गौरवपूर्ण होता है वैसे ही परित्यक्त भोगों को भोगने की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है।

भूखा मनुष्य कष्ट भले ही पाने पर धिक्कारा नहीं जा सकता पर वमन को खानेवाला जीते-जी ही धिक्कारा जाता है। जो शील-भंग करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करता है वह एक बार ही मृत्यु का कष्ट अनुभव करता है पर अपने गौरव और धर्म की रक्षा कर लेता है। जो परित्यक्त भोगों का पुनः आसेवन करता है वह अनेक बार धिक्कारा जाकर बार-बार मृत्यु का अनुभव करता है। इतना ही नहीं वह अनादि और दीर्घ संसार अटवी में नाना योनियों में जन्म मरण करता हुआ बार-बार कष्ट पाता है[3]। अतः मर्यादा का उल्लंघन करने की अपेक्षा तो मरना श्रेय होता है[4]।

श्लोक ८

३७ मैं भोजराज की पुत्री हूँ (अहं च भोयरायस्स क)

राजीमती ने रथनेमि से कहा—मैं भोज राज की सन्तान हूँ और तुम अन्धक-वृष्णि की सन्तान हो[5]। यहाँ 'भोज' और 'अन्धक वृष्णि' शब्द कुल—वंश—वाचक हैं[6]।

हरिभद्र सूरी ने 'भोज' का संस्कृत रूप 'भोग' किया है। शान्त्याचार्य ने इसका रूप 'भोज' दिया है[6]। महाभारत[7] और कौटलीय अर्थशास्त्र[8] में 'भोज' शब्द का प्रयोग मिलता है। महाभारत[9] और विष्णुपुराण[10] के अनुसार 'भोज' यादवों का एक विभाग है। कृष्ण जिस संघ-राज्य का नेतृत्व करते थे उसमें यादव कुकुर, भोज अन्धक और वृष्णि सम्मिलित थे[11]। जैनागमों के अनुसार कृष्ण उग्रसेन आदि सोलह हजार राजाओं का आधिपत्य करते थे[1]। अन्धक-वृष्णियों के संघ-राज्य का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है[12]।

१—जि चू पृ० ८८ : जो तुमं इमस्स कुसग्गजलबिंदुचंचलस्स जीवियस्स अट्ठाए।

२—हा टी प ९९ : 'जीवितकारणात्' असंयमजीवितहेतो।

३—जि चू पृ ८८ : अन्नाणि य अणंताणि दीहमद्धं संसारकंतारे तत्थ तत्थ जाईसु बहूणि जम्मणमरणाणि पावेति।

४—हा टी प ९९ : अकार्यसमाचरणाद्ध 'श्रेयस्ते मरणं भवेत् शोभनतरं तव मरणं न पुनरिदमकार्यासेवनमिति।

५—जि चू पृ ८८ : भोगा खत्तियाणं जातिविसेसा भवन्ति।

तुमं च तस्स नारिसस्स अंधगवण्हिणो कुले पसूओ समुद्दविजयस्स पुत्तो।

६—उत्त : २२.४३ वृ।

७—म भा शान्तिपर्व : ८१ १४ : अकरभोजप्रभवा : ।

८—कौ अ १ ६.६ : यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।

९—म भा सभापर्व : १४।

१०—विष्णुपुराण : ४ १३.७

११—म भा शान्तिपर्व : ८१ ९ : यादवाः कुकुरा भोजाः, सर्वे चान्धकवृष्णयः।

त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये॥

१—अंत १ १ : तत्थ णं बारवईए णयरीए कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ। से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं, पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं ... उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं ... आहेवच्चं जाव पालेमाणे विहरइ।

१२—अष्टाध्यायी (पाणिनि) : ६ २ ३४

यह द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि ये दो राजनैतिक-दल यहाँ का शासन चलाते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को विरुद्ध-राज्य कहा जाता रहा[1]।

अन्धकों के नेता अक्रूर थे। उनके दल के सदस्यों को 'अक्रूरवर्ग्य' और 'अक्रूरवर्गीण' कहा गया है। वृष्णियो के नेता वासुदेव थे। उनके दल के सदस्यों को 'वासुदेव वर्ग्य' और 'वासुदेव वर्गीण' कहा गया है[2]। भोजों के नेता उग्रसेन थे।

३८. कुल में गन्धन सर्प...न हों (मा कुले गंधणा होमो ग) :

राजीमती कहती है—हम लोग दोनो ही महाकुल में उत्पन्न हैं। जिस तरह गधन सर्प छोड़े हुए विप को वापस पी लेते हैं, उस तरह से हम परित्यक्त भोगों को पुन सेवन करनेवाले न हों।

जिनदास महत्तर ने 'मा कुले गधणा होमो' के स्थान मे 'मा कुलगंधिणो होमो' ऐसा विकल्प पाठ वतलाकर 'कुलगधिणो' का अर्थ कुल-पूतना किया है अर्थात् कुल में पूतना की तरह कलक लगानेवाले न हों[3]।

श्लोक ९ :

३९. हट (हडो ग) :

'सूत्रकृताङ्ग' में 'हड' को 'उदक-योनिक', 'उदक-सभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है[4]। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को वताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है[5]। इसी सूत्र में साधारण शरीरी वादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को वताते हुए 'हढ' वनस्पति का नाम आया है[6]। 'आचाराङ्ग' निर्युक्ति मे अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है[7]। इन समान उल्लेखों से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अवद्धमूल वनस्पति किया है[8]। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाव आदि मे होनेवाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है[9]। इससे पता चलता है कि 'हड' विना मूल की जलीय वनस्पति है।

१—आचा० २ ३ १ १९९, २ ११ १ ४४१

२—कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक ४ २ १०४

३—जि० चू० पृ० ८९ अहवा कुलगंधिणो कुलपूयणा मा भवामो।

४—सूत्र० (प० ३४९) २ ३ ५४ अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविह-जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंवुगत्ताए हढत्ताए कसेरुगत्ताए' 'विउट्टन्ति।

५—प्रज्ञा० (पृ० १०५) १ ४३ से कि तं जलरुहा?, जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलवुया, हढे य।

६—प्रज्ञा० (पृ० १०८-९) १ ४५ से कि त साहारणसरीरवादरवणस्सइकाइया? साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा' 'किमिरासि भद्दमुत्था णगलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी॥६॥

७—आचा० (पृ० ५४) नि० गा० १४१

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे अणेगविहा॥

८—हा० टी० प० ९७ अवद्धमूलो वनस्पतिविशेष'।

९—जि० चू० ८९ हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिसु छिण्णमूलो भवति।

'सुश्रुत' में सेवाल के साथ 'हट', तृण पद्मपत्र आदि का उल्लेख है[1]। इससे पता चलता है कि संस्कृत में 'हढ' का नाम 'हट' प्रचलित रहा। वहाँ हट से आच्छादित जल को दूषित माना है। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हढ' वनस्पति जल को आच्छादित कर रहती है। 'हट' को संस्कृत में 'हठ' भी कहा गया है[2]।

'हढ' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादों में घास[3] अथवा वृक्ष[4] किया गया है। पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अर्थ अशुद्ध हैं।

'हट' का अर्थ जलकुम्भी किया गया है[5]। इसकी पत्तियाँ बहुत बड़ी-बड़ी और मोटी होती हैं। ऊपर की सतह मोम जैसी चिकनी होती है। इसलिए पानी में डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है। जलकुम्भी के आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध हैं[6]।

४० अस्थितात्मा हो जायगा (अट्ठियप्पा भविस्ससि ग)

राजीमती इस श्लोक में जो कहती है उसका सार इस प्रकार है: हढ वनस्पति के मूल नहीं होता। वायु के एक हल्के से झोंके से ही यह वनस्पति जल में इधर उधर बहने लगती है। इसी तरह यदि तू दृष्ट नारी के प्रति अनुराग करने लगेगा तो संयम में अबद्धमूल होने से तुझे संसार-समुद्र में प्रमाद-पवन से प्रेरित हो इधर-उधर भव भ्रमण करते रहना पड़ेगा[7]।

पृथ्वी अनन्त स्त्री-रत्नों से परिपूर्ण है। जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ दृष्टिगोचर होंगी। उन्हें देख कर यदि तू उनके प्रति ऐसा भाव[8] करने लगेगा जैसा कि तू मेरे प्रति कर रहा है तो संयम में अबद्धमूल हो श्रमण-गुणों से रिक्त हो केवल द्रव्यलिंगधारी हो जायगा[9]।

१—सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५.७: तत्र यत् पङ्कशैवालहठतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टं तद्व्यापन्नमिति विद्यात्।

२—आप्टे (पृ० ५८) नि० भा० १४१ की टीका [illegible] गदिता।

३—(क) Das. (अ० वा० अभ्यङ्कर) नोट्स पृ० ११: The writer of the Vritti explains it as a kind of grass which leans before every breeze that comes from any direction

(ख) समीसांजको उपदेश (गो० जी० पटेल) पृ० ११: [illegible] 'हढ' नामना घास''।

४—दस० (जी० घेलाभाई) पत्र ६: हढ नामा वृक्ष समुद्रने कीनारे होय छे। तेनुं मूल बराबर होतुं नथी अने भाव भार थो होय छे अने समुद्रने कीनारे पवननुं जोर थतुं होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमां पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे।

५—सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५.७: पाद-टिप्पणी न० १ में उद्धृत अंश का अर्थ—हठः जलकुम्भिका [illegible] इत्येके।

६—शा० नि० पृ० १६:

कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली जलकुम्भिका।
आकाशमूली कुम्भी [illegible] [illegible]॥

७—हा० टी० प० ९७: [illegible] संयमगुणेषु (प्रति) अबद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति।

८—(क) जि० चू० पृ० ८८: भावं करेहिसि—प्रार्थनी अभिप्रायम्।

(ख) हा० टी० प० ९७: भावं—अभिप्रायं प्रार्थनाभिलक्षणं, [illegible]।

९—जि० चू० पृ० ८८: हढो ''वातेण य [illegible] इतो इतो य [illegible] तहा तुमंपि एवं करेंतो संजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवलं दव्वलिंगधारी भविस्ससि।

श्लोक १० :

४१. सुभाषित (सुभासियं ख) :

यह वचन (वयण) का विशेषण है। इसका अर्थ है—अच्छे कहे हुए। राजीमती के वचन संसार-भय से उद्विग्न करनेवाले[१], संवेग—वैराग्य उत्पन्न करने वाले हैं[२] अत सुभाषित कहे गये हैं।

४२. जैसे अंकुश से नाग (अंकुसेण जहा नागो ग) :

जिस तरह अंकुश से अनुशासित हाथी शीघ्र ही रास्ते पर आ जाता है उसी तरह से राजीमती के वैराग्योत्पादक उपदेश से रथनेमि का मन पुन संयम में स्थिर हो गया। अंकुश से हाथी कैसे स्थिर होता है इस पर चूर्णिकार एवं हरिभद्र सूरि एक कथा देते हैं। वह परिशिष्ट में दी जा रही है।

श्लोक ११ :

४३. संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण (संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा क-ख) :

प्राय प्रतियों में 'संबुद्धा' पाठ मिलता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में भी 'संबुद्धा' पाठ ही है[३]। पर चूर्णिकार ने 'संपण्णा' पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है।

चूर्णिकार के अनुसार 'संप्राज्ञ' का अर्थ है—प्रज्ञा—बुद्धि से सम्पन्न[४]। 'पण्डित' का अर्थ है—परित्यक्त भोगों के प्रत्याचरण में दोषों को जाननेवाला[५]। 'प्रविचक्षण' का अर्थ है—पाप-भीरु—जो संसार-भय से उद्विग्न हो, थोड़ा भी पाप करना नहीं चाहता[६]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख 'संबुद्धा' पाठ वाली प्रतियाँ ही रहीं। उन्होंने निम्न रूप से व्याख्या की है

'संबुद्ध'—'बुद्ध' बुद्धिमान को कहते हैं। जो बुद्धिमान सम्यक्-दर्शन सहित होता है, वह संबुद्ध कहलाता है। विषयों के स्वभाव को जाननेवाला सम्यक् दृष्टि—'संबुद्ध' है। 'पण्डित'—जो सम्यक्-ज्ञान से सम्पन्न हो। 'प्रविचक्षण'—जो सम्यक्-चारित्र से युक्त हो[७]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख चूर्णिकार से प्राय मिलती हुई व्याख्या भी थी, जिसका उल्लेख उन्होंने मतान्तर के रूप में किया है[८]।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि चूर्णिकार कृत व्याख्या ही अधिक संगत और प्रसंगोपेत है।

४४. पुरुषोत्तम (पुरिसोत्तमो घ) :

प्रश्न है—प्रव्रजित होने पर भी रथनेमि विषय की अभिलाषा करने लगे फिर उन्हें पुरुषोत्तम क्यों कहा गया है? इसका उत्तर

१—जि० चू० पृ० ६१ संसारभउव्वेगकरेहिं वयणेहिं।

२—हा० टी० प० ६७ 'सुभाषित' संवेगनिबन्धनम्।

३—उत्त० २२ ४६

४—जि० चू० पृ० ६२ संपण्णा णाम पण्णा—बुद्धी भण्णइ, तीए बुद्धीए उववेता संपण्णा भण्णंति।

५—जि० चू० पृ० ६२ पंडिया णाम चत्ताण भोगाण पडियाइणे जे दोसा परिजाणंती पंडिया।

६—जि० चू० पृ० ६२ पवियक्खणा णामावज्जभीरू भण्णति, वज्जभीरुणो णाम संसारभउव्विग्गा थोवमवि पाव णेच्छंति।

७—हा० टी० प० ६६ 'संबुद्धा' बुद्धिमन्तो बुद्धा सम्यग्-दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धा संबुद्धा—विदितविषयस्वभावा, सम्यग्दृष्टय 'पण्डिता'—सम्यग्ज्ञानवन्त प्रविचक्षणा—चरणपरिणामवन्त।

८—हा० टी० प० ६६ अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धा सामान्येन बुद्धिमन्त पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञा प्रविचक्षणा अवद्यभीरव।

इस प्रकार है : मन में अभिलाषा होने पर कापुरुष अभिलाषा के अनुरूप ही चेष्टा करता है पर पुरुषार्थी पुरुष मोहोदय के वश ऐसा संकल्प उपस्थित होने पर भी आत्मा को जीत लेता है—उसे पाप से वापस मोड़ लेता है। गिरती हुई आत्मा को पुनः स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखाया उसी कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहा है। राजीमती के उपदेश को सुन कर धर्म में पुनः स्थिर होने के बाद उनकी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा गया है 'मनगुप्त वचनगुप्त कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय हो उन दृढ़व्रती रथनेमि ने निश्चलता से जीवन-पर्यन्त श्रमण-धर्म का पालन किया। उग्र तप का आचरण कर वे केवलज्ञानी हुए और सब कर्मों का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त किया'[1]। इस कारण से भी वे पुरुषोत्तम थे।

१—उत्त० २२.४७,४८ :

मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे जावज्जीवं दढव्वओ॥
उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

तइयं अज्झयणं

खुड्डियायारकहा

तृतीय अध्ययन

क्षुल्लकाचार-कथा

आमुख

समूचे ज्ञान का सार आचार है। धर्म में जिसकी धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद महत्त्व नहीं रखता। जो धर्म में धृतिमान है वह आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है[1]। निष्कर्ष की भाषा में अहिंसा आचार और हिंसा अनाचार है[2]। शास्त्र की भाषा में जो अनुष्ठान मोक्ष के लिए हो या जो व्यवहार शास्त्र-विहित हो वह आचार है और शेष अनाचार।

आचरणीय वस्तु पाँच हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य। इसलिए आचार पाँच बनते हैं—ज्ञानाचार, दशनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार[3]।

आचार से आत्मा संयत होती है अथवा जिसकी आत्मा सयम से सुस्थित होती है वही आचार का पालन करता है। सयम की स्थिरता और आचार का गहरा सम्बन्ध है। अनाचार आचार का प्रतिपक्ष है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य का शास्त्र-विधि के प्रतिकूल जो अनुष्ठान है वह अनाचार है। मूल सख्या में ये भी पाँच हैं। विवक्षा-भेद से आचार और अनाचार—इन दोनों के अपार भेद हैं।

'अनाचार' का अर्थ है प्रतिषिद्ध-कर्म, परिज्ञातव्य—प्रत्याख्यातव्य-कर्म या अनाचीर्ण-कर्म। आचार धर्म या कर्तव्य है और अनाचार अधर्म या अकर्तव्य।

इस अध्ययन में अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया है, इसलिए इसका नाम 'आचार-कथा' है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन (महाचार-कथा) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त प्रतिपादन है, इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लकाचार-कथा' है[4]।

सूत्रकार ने सख्या-निर्देश के बिना अनाचारों का उल्लेख किया है। चूर्णिद्वय तथा वृत्ति में भी सख्या का निर्देश नहीं है। दीपिकाकार चौवन की सख्या का उल्लेख करते हैं[5]। इस परम्परा के अनुसार निर्ग्रन्थ के चौवन अनाचारों की तालिका इस प्रकार बनती है

१—(क) अ० चू० धम्मे धितिमतो आयारछट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसहारे।

(ख) अ० चू० इदाणि तु विसेसो णियमिज्जति—धिती आयारे करणीय त्ति।

(ग) जि० चू० पृ० ९२ इदाणि दढधितियस्स आयारो भाणितव्वो, अहवा सा धिती कहि करेय्या ?, आयारे।

(घ) हा० टी० प० १०० इह तु सा धृतिराचारे कार्या नत्वनाचारे, अयमेवात्मसयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

"तस्यात्मा सयतो यो हि, सदाचारे रत· सदा।
स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदित·॥"

२—सूत्र० १ ११ १० एय खु नाणिणो सार, ज न हिंसति कचण।
अहिंसा समय चेव, एतावत विजाणिया॥

३—(क) स्था० ५ २ ४३२ पचविधे आयारे प० त० णाणायारे दसणायारे चरित्तायारे तपायारे वीरीयायारे।

(ख) नि० गा० १८१ दसणनाणचरित्ते तवआयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पञ्चविहो होइ नायव्वो॥

४—नि० गा० १७८ एएसि महताण पडिवक्खे खुड्डया होंति॥

५—दी० पृ० ७ सर्वमेतत् पूर्वोक्त चतु पञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकादिक यदनन्तरमुक्त तत् सर्वमनाचारित ज्ञातव्यम्।

इस प्रकार उक्त चार परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमें सख्या का भेद होने पर भी तत्त्वत कोई भेद नहीं है।

प्रस्तुत आगम के छठे अध्ययन में प्रथम चार अनाचारों का सकेत एक 'अकल्प्य' शब्द द्वारा किया गया है[1]। वहीं केवल 'पलियङ्क' शब्द के द्वारा आसदी, पर्यङ्क, मच, आशालकादिको सगृहीत किया गया है[2]। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त अनाचारों मे कुछ स्वतंत्र हैं और कुछ उदाहरणस्वरूप। सौवर्चल, सैंधव आदि नमक के प्रकार स्वतत्र अनाचार नहीं, किन्तु सचित्त लवण अनाचार के ही उदाहरण हैं।

इसी तरह सचित्त मूलक, शृ गबेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल, बीज, सचित्त वनस्पति नामक एक अनाचार के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। सूत्र का प्रतिपाद्य है—सजीव नमक न लेना, सजीव फल, बीज और शाक न लेना। जिनका अधिक व्यवहार होता था उनका नामोल्लेख कर दिया गया है।

सामान्यतः सभी सचित्त वस्तुओं का ग्रहण करना अनाचार है। ऐसी दृष्टि से वर्गीकरण करने पर अनाचारो की सख्या कम भी हो सकती है।

'सूत्रकृताङ्ग' में धोयण (वस्त्र आदि धोना), रयण (वस्त्रादि रंगना), पामिच्च (साधु को देने के लिए उधार लिया गया लेना), पूय (आधाकर्मी आहार से मिला हुआ लेना), कयकिरिए (असयम-अनुष्ठान की प्रशंसा), पसिणायतणाणि (ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर), हत्थकम्म (हस्तकर्म), विवाय (विवाद), परकिरियं (परस्पर की क्रिया), परवत्थ (गृहस्थ के वस्त्र का व्यवहार) तथा गामकुमारिय किड्ड (ग्राम के लडकों का खेल) आदि निर्ग्रन्थ के लिए वर्ज्य हैं[3]। वास्तव में ये सब अनाचार हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि अनाचारों की जो तालिका प्रस्तुत आगम में उपलब्ध है वह अन्तिम नहीं, उदाहरणस्वरूप ही है। ऐसे अन्य अनाचार भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं पाया जाता, जो अन्यत्र उल्लिखित और वर्जित हैं। विवेकपूर्वक सोचने पर ऐसी बातें सहज ही समझ मे आ सकती हैं, जिनका अनाचार नाम से उल्लेख भले ही न हो पर जो स्पष्टत. ही अनाचार है।

यहाँ वर्णित अनाचारों में से कुछ के सेवन से साधु प्रत्यक्ष जीव-हिंसा का दोषी होता है। कुछ के सेवन से वह हिंसा का निमित्त बनता है। कुछ के सेवन से हिंसा का अनुमोदक होता है। कुछ कार्य स्वय में कोई दोष पूर्ण नहीं, पर कालांतर में वे शिथिलाचार के हेतु बन सकते हैं। अत' उनका वर्जन है। कुछ का वर्जन विभूषा की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन सावद्य-अनुमोदन की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन परिग्रह की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन अति शरीर-शुश्रूषा की दृष्टि से है। कुछ का

१—दश० ६ ८, ४८-५०

२—दश० ६ ८, ५४-५६

३—सूत्र० १ ६ १२ धोयण रयण चेव, बत्थीकम्म विरेयणं।

,, ,, १४ उद्देसिय कीयगड, पामिच्च चेव आहडं।
पूय अणेसणिज्ज च, त विज्ज परिजाणिया॥

,, ,, १६ सपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य।

,, ,, १७ हत्थकम्म विवाय च, त विज्ज परिजाणिया॥

,, ,, १८ परकिरिय अन्नमन्न च, त विज्ज परिजाणिया॥

,, ,, २० परवत्थ अचेलोऽवि, त विज्ज परिजाणिया॥

,, ,, २६ गामकुमारिय किड्ड, नातिवेल हसे मुणी॥

१—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाये गये आहारादि का लेना),
२—क्रीतकृत (साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना),
३—नित्याग्र (निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना),
४—अभिहृत (दूर से लाये गये आहार आदि ग्रहण करना)
५—रात्रि-भोजन
६—स्नान
७—गन्ध-विलेपन
८—माल्य (माला आदि धारण करना)
९—वीजन (पंखादि से हवा लेना),
१०—सन्निधि (खाद्य पेय आदि वस्तुओं का संग्रह कर रखना),
११—गृहि-अमत्र (गृहस्थ के पात्रों का उपयोग)
१२—राज पिण्ड (राजा के घर का आहार ग्रहण)
१३—किमिच्छक (क्या चाहिए ? ऐसा पूछकर दिया हुआ आहार आदि),
१४—संबाधन (शरीर-मर्दन),
१५—दन्त-प्रधावन (दांतों को धोना),
१६—संप्रश्न (गृहस्थों से सावद्य प्रश्न)
१७—देह-प्रलोकन (आइने आदि में शरीर देखना),
१८—अष्टापद (शतरंज खेलना),
१९—नालिका (द्यूत विशेष),
२०—छत्र-धारण
२१—चिकित्सा
२२—उपानह पहनना
२३—अग्नि-समारम्भ
२४—शय्यातर पिण्ड (वसति दाता का आहार लेना),
२५—आसंदी का व्यवहार
२६—पर्यङ्क (पलंग का व्यवहार),
२७—गृहि निषद्या (गृही के घर बैठना)
२८—गात्र-उद्वर्तन (शरीर-मालिश)
२९—गृहि-वैयावृत्य (गृहस्थ की सेवा)
३०—आजीववृत्तिता (शिल्प आदि से आजीविका),
३१—तप्तानिवृत भोजित्व (अमिश्र व सजीव पान),
३२—आतुर-स्मरण अथवा आतुर शरण (पूर्व भोगों का स्मरण अथवा चिकित्सालय में शरण लेना)
३३—सचित्त मूलक,
३४—सचित्त शृङ्गबेर (अदरक),
३५—सचित्त इक्षु-खण्ड
३६—सचित्त कन्द,
३७—सचित्त मूल,
३८—सचित्त फल
३९—सचित्त बीज
४०—सचित्त सौवर्चल लवण,
४१—सचित्त सैन्धव लवण,
४२—सचित्त लवण
४३—सचित्त रुमा लवण
४४—सचित्त सामुद्र लवण
४५—सचित्त पांशु-क्षार लवण
४६—सचित्त कृष्ण लवण
४७—धूमनेत्र (धूम्रपान),
४८—वमन,
४९—वस्तिकर्म
५०—विरेचन
५१—अंजन,
५२—दन्तवन
५३—गात्राभ्यङ्ग और
५४—विभूषा

अनाचारों की संख्या बावन अथवा तिरपन होने की परम्पराएँ भी प्रचलित हैं । बावन और तिरपन की संख्या का उल्लेख पहले पहल किसने किया यह अभी शोध का विषय है ।

तिरपन की परम्परावाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं । बावन की एक परम्परा में 'आसन्दी' और 'पर्यङ्क' तथा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक-एक माना गया है । इसकी दूसरी परम्परा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक मानने के स्थान में 'लवण' को 'सैन्धव' का विशेषण मान कर दोनों को एक अनाचार मानती है ।

१— अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ बनती है क्योंकि इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को तथा सैन्धव और लवण को अलग-अलग न मानकर एक-एक माना है ।

जिनदास चूर्णि के अनुसार भी अनाचारों की संख्या ५२ ही है । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एवं गात्राभ्यङ्ग और विभूषण को एक-एक माना है ।

हरिभद्रसूरि एवं समतिसाधु सूरि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ बनती है । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को अलग-अलग माना है ।

आचार्य आत्मारामजी के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ है । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को अलग-अलग मान सैन्धव और लवण को एक माना है ।

इस प्रकार उक्त चार परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमें सख्या का भेद होने पर भी तत्त्वत कोई भेद नही है।

प्रस्तुत आगम के छठे अध्ययन में प्रथम चार अनाचारों का संकेत एक 'अकल्प्य' शब्द द्वारा किया गया है[1]। वही केवल 'पलियङ्क' शब्द के द्वारा आसदी, पर्यङ्क, मच, आशालकादिको सगृहीत किया गया है[2]। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त अनाचारों में कुछ स्वतन्त्र हैं और कुछ उदाहरणस्वरूप। सौवर्चल, सैंधव आदि नमक के प्रकार स्वतन्त्र अनाचार नहीं, किन्तु सचित्त लवण अनाचार के ही उदाहरण हैं।

इसी तरह सचित्त मूलक, शृ गबेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल, बीज, सचित्त वनस्पति नामक एक अनाचार के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। सूत्र का प्रतिपाद्य है—सजीव नमक न लेना, सजीव फल, बीज और शाक न लेना। जिनका अधिक व्यवहार होता था उनका नामोल्लेख कर दिया गया है।

सामान्यतः सभी सचित्त वस्तुओं का ग्रहण करना अनाचार है। ऐसी दृष्टि से वर्गीकरण करने पर अनाचारो की सख्या कम भी हो सकती है।

'सूत्रकृताङ्ग' में धोयण (वस्त्र आदि धोना), रयण (वस्त्रादि रगना), पामिच्च (साधु को देने के लिए उधार लिया गया लेना), पूय (आधाकर्मी आहार से मिला हुआ लेना), कयकिरिए (असयम-अनुष्ठान की प्रशसा), पसिणायतणाणि (ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर), हत्थकम्म (हस्तकर्म), विवाय (विवाद), परकिरियं (परस्पर की क्रिया), परवत्थ (गृहस्थ के वस्त्र का व्यवहार) तथा गामकुमारिय किड्ड (ग्राम के लडको का खेल) आदि निर्ग्रन्थ के लिए वर्ज्य हैं[3]। वास्तव में ये सब अनाचार हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि अनाचारों की जो तालिका प्रस्तुत आगम में उपलब्ध है वह अन्तिम नहीं, उदाहरणस्वरूप ही है। ऐसे अन्य अनाचार भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं पाया जाता, जो अन्यत्र उल्लिखित और वर्जित हैं। विवेकपूर्वक सोचने पर ऐसी बातें सहज ही समझ में आ सकती हैं, जिनका अनाचार नाम से उल्लेख भले ही न हो पर जो स्पष्टत ही अनाचार हैं।

यहाँ वर्णित अनाचारों में से कुछ के सेवन से साधु प्रत्यक्ष जीव-हिंसा का दोषी होता है। कुछ के सेवन से वह हिंसा का निमित्त बनता है। कुछ के सेवन से हिंसा का अनुमोदक होता है। कुछ कार्य स्वय में कोई दोष पूर्ण नहीं, पर कालांतर में वे शिथिलाचार के हेतु बन सकते हैं। अत उनका वर्जन है। कुछ का वर्जन विभूषा की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन सावद्य-अनुमोदन की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन परिग्रह की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन अति शरीर-शुश्रूषा की दृष्टि से है। कुछ का

१—दश० ६ ८, ४८-५०

२—दश० ६ ८, ५४-५६

३—सूत्र० १ ६ १२ धोयण रयण चेव, बत्थीकम्म विरेयणा।

" " १४ उद्देसिय कीयगड, पामिच्च चेव आहडं।
पूय अणेसणिज्ज च, त विज्ज परिजाणिया॥

" " १६ सपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य।

" " १७ हत्थकम्म विवाय च, त विज्ज परिजाणिया॥

" " १८ परकिरिय अन्नमन्न च, त विज्ज परिजाणिया॥

" " २० परवत्थं अचेलोऽवि, त विज्ज परिजाणिया॥

" " २९ गामकुमारिय किड्ड, नातिवेल हसे मुणी॥

१—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाये गये आहारादि का लेना),
२—क्रीतकृत (साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना),
३—नित्याग्र (निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना),
४—अभिहृत (दूर से लाये गये आहार आदि ग्रहण करना),
५—रात्रि भोजन,
६—स्नान
७—गन्ध विलेपन
८—माल्य (माला आदि धारण करना),
९—वीजन (पंखादि से हवा लेना)
१०—सन्निधि (खाद्य पेय आदि वस्तुओं का संग्रह कर रखना),
११—गृहि-अमत्र (गृहस्थ के पात्रों का उपयोग)
१२—राज पिण्ड (राजा के घर का आहार ग्रहण)
१३—किमिच्छक (क्या चाहिए ? ऐसा पूछकर दिया हुआ आहार आदि)
१४—संबाधन (शरीर-मर्दन),
१५—दन्त प्रधावन (दांतों को धोना)
१६—संप्रश्न (गृहस्थों से सावद्य प्रश्न),
१७—देह-प्रलोकन (आइने आदि में शरीर देखना),
१८—अष्टापद (शतरंज खेलना),
१९—नालिका (द्यूत विशेष)
२०—छत्र धारण
२१—चिकित्सा
२२—उपानह पहनना
२३—अग्नि-समारम्भ
२४—शय्यातर पिण्ड (वसति दाता का आहार लेना),
२५—आसंदी का व्यवहार
२६—पर्यङ्क (पलंग का व्यवहार)
२७—गृहि निषद्या (गृही के घर बैठना)
२८—गात्र-उद्वर्तन (शरीर-मालिश)
२९—गृहि-वैयावृत्य (गृहस्थ की सेवा)
३०—आजीववृत्तिता (शिल्प आदि से आजीविका),
३१—तप्तानिवृत भोजित्व (अमिश्र जल पान)
३२—आतुर-स्मरण अथवा आतुर शरण (पूर्व भोगों का स्मरण अथवा चिकित्सालय में शरण लेना),
३३—सचित्त मूलक,
३४—सचित्त शृंगबेर (अदरक),
३५—सचित्त इक्षु-खण्ड
३६—सचित्त कन्द,
३७—सचित्त मूल
३८—सचित्त फल
३९—सचित्त बीज,
४०—सचित्त सौवर्चल लवण
४१—सचित्त सैन्धव लवण
४२—सचित्त लवण
४३—सचित्त रुमा लवण
४४—सचित्त सामुद्र लवण,
४५—सचित्त पांशु-क्षार लवण
४६—सचित्त कृष्ण लवण
४७—धूमनेत्र (धूम्रपान),
४८—वमन
४९—वस्तिकर्म
५०—विरेचन
५१—अंजन
५२—दन्तवण
५३—गात्राभ्यङ्ग और
५४—विभूषा

अनाचारों की संख्या बावन अथवा तिरपन होने की परम्पराएँ भी प्रचलित हैं[1]*। बावन और तिरपन की संख्या का उल्लेख पहले पहल किसने किया यह अभी शोध का विषय है।*

तिरपन की परम्परावाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं। बावन की एक परम्परा में 'आसन्दी' और 'पर्यङ्क' तथा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक-एक माना गया है। इसकी दूसरी परम्परा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक मानने के स्थान में 'लवण' को 'सैन्धव' का विशेषण मान कर दोनों को एक अनाचार मानती है।

१— अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ बनती है क्योंकि इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को तथा सैन्धव और लवण को अलग-अलग न मानकर एक-एक माना है।

जिनदास चूर्णि के अनुसार भी अनाचारों की संख्या ५२ ही है। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एवं गात्राभ्यङ्ग और विभूषण को एक-एक माना है।

हरिभद्रसूरि एवं समयसुन्दर सूरि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ बनती है। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को अलग-अलग माना है।

आचार्य आत्मारामजी के अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ है। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को अलग-अलग मान सैन्धव और लवण को एक माना है।

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लकाचार-कथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजमे सुट्ठिअप्पाण विप्पमुक्काण ताइणं । तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥	सयमे सुस्थितात्मना विप्रमुक्ताना त्रायिणाम । तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थाना महर्षीणाम ॥२॥	जो संयम में सुस्थितात्मा हैं,[1] जो विप्रमुक्त हैं[2], जो त्राता है[3],—उन निर्ग्रन्थ[4] महर्षियों[5] के लिए[6] ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण हैं[7] (अग्राह्य है, असेव्य हैं, अकरणीय हैं)।

औद्देशिक[8]—निर्ग्रन्थ के निमित्त वनाया गया। क्रीतकृत[9]—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया। नित्याग्र[10]—आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार। अभिहृत[11]—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया। रात्रि-भक्त[12]—रात्रि-भोजन। स्नान[13]—नहाना। गंध—गध सूघना या ... का विलेपन करना। ... पहनना। वीजन[15]—पखा

—खाद्य-वस्तु का सग्रह ...भी रखना। गृहि-अमत्र[17]—...त्र में भोजन करना। राज-...पिण्ड राजा के घर से भिक्षा ...च्छक[18]—'कौन क्या चाहता पूछकर दिया जानेवाला राजकीय-...दि लेना। सवाधन[19]—अङ्ग-...त-प्रधावन[20]—दात पखारना। [21]—गृहस्थ को कुशल पूछना ... शरीर के अवयवों को पोंछना)। ...[22]—दर्पण आदि में शरीर

४—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥

अष्टापदश्च नालिका
छत्रस्य धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः
समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

अष्टापद[१३]—शतरंज खेलना। नालिका[१४]—नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना। छत्र[१५]—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना। चैकित्स्य[१६]—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना। उपानत्[१७]—पैरों में जूते पहनना। ज्योति-समारम्भ[१८]—अग्नि जलाना।

५—सेज्जायरपिंडं च
आसंदीपलियंकए ।
गिहंतरनिसेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥

शय्यातरपिण्डश्च
आसन्दी-पर्य(ल्य)ङ्कः ।
गृहान्तरनिषद्या च
गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥५॥

शय्यातरपिण्ड[१९]—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना। आसंदी[२०]—पर्यङ्क[२१]—आसंदी और पलंग पर बैठना। गृहान्तर निषद्या[२२]—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना। गात्र-उद्वर्तन[२३]—उबटन करना।

६—गिहिणो वेयावडियं
जा य आजीववित्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं
आउरस्सरणाणि य ॥

गृहिणो वैयापृत्यं
या च आजीववृत्तिता ।
तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं
आतुरस्मरणानि च ॥६॥

गृहि-वैयापृत्य[२४]—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना। आजीववृत्तिता[२५]—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना। तप्तानिर्वृत भोजित्व[२६]—अर्द्ध-पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना। आतुर-स्मरण[२७]—आतुर-दशा में पूर्व भोगों का स्मरण करना।

७—मूलए सिंगबेरे य
उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते
फले बीए य आमए ॥

मूलकं शृङ्गबेरं च
इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।
कन्दो मूलं च सचित्तं
फलं बीजं चामकम् ॥७॥

अनिर्वृत[२८] मूलक—सजीव मूली लेना व खाना। अनिर्वृत शृङ्गबेर—सजीव अदरक लेना व खाना। अनिर्वृत इक्षु-खण्ड—सजीव इक्षु-खंड लेना व खाना। सचित्त कंद—सजीव कंद लेना व खाना। सचित्त मूल—सजीव मूल लेना व खाना। आमक फल—अपक्व फल लेना व खाना। आमक बीज—अपक्व बीज लेना व खाना

८—सोवच्चले सिंधवे लोणे
रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य
कालालोणे य आमए॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं
रुमालवणं चामकम्।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च
काललवण चामकम्॥८॥

आमक सौवर्चल[४२]—अपक्व सौवर्चल नमक लेना व खाना। **सैन्धव**—अपक्व सैन्धव नमक लेना व खाना। **रुमा लवण**—अपक्व रुमा नमक लेना व खाना। **सामुद्र**—अपक्व समुद्र का नमक लेना व खाना। **पांशु-क्षार**—अपक्व ऊषर-भूमि का लेना व खाना। **काल लवण**—अपक्व नमक लेना व खाना।

९—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंगविभूसणे॥

धूम-नेत्रं वमनञ्च
वस्तिकर्म विरेचनम्।
अंजनं दन्तवणं च
गात्राभ्यङ्गविभूषणे॥९॥

धूम-नेत्र[४३]—धूम्र-पान की रखना। **वमन**—रोग की बचने के लिए, रूप-बल आदि रखने के लिए वमन करना कर्म—रोग की संभावना से रूप-बल आदि को बनाए अपान-मार्ग से तैल **विरेचन**[४४]—रोग की रूप-बल आदि को बन विरेचन करना। आँजना। **दंतवण**

१०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं॥

सर्वमेतदनाचीर्णं
निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम्।
संयमे च युक्तानां
लघुभूतविहारिणाम्॥१०॥

११—पंचासवपरिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥

परिज्ञातपञ्चाश्रवाः
त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः।
पञ्चनिग्रहणा धीराः
निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः॥११॥

पंचाश्रव का तीन गुप्तियों से जीवों के प्रति संयत,[५] का निग्रह करने वाले,[५३] ऋजुदर्शी[५५] होते हैं।

१२—आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा । वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया ॥	आतापयन्ति ग्रीष्मेषु हेमन्तेष्वप्रावृताः । वर्षासु प्रतिसंलीनाः संयताः सुसमाहिताः ॥१२॥	सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं[६१]—एक स्थान में रहते हैं।
१३—परीसहरिऊदंता धुयमोहा जिइंदिया । सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥	दान्तपरीषहरिपवः धुतमोहा जितेन्द्रियाः । सर्वदुःखप्रहाणाय प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥१३॥	परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले,[६२] धुत मोह[६३] जितेन्द्रिय महर्षि सब दुःखों के प्रहाण[६४]—नाश के लिए पराक्रम करते हैं[६५]।
१४—दुक्कराइं करेत्ताणं दुस्सहाइं सहेत्तु य । केइत्थ देवलोएसु केई सिज्झंति नीरया ॥	दुष्कराणि कृत्वा दुस्सहानि सहित्वा च । केचिदत्र देवलोकेषु केचित् सिध्यन्ति नीरजसः ॥१४॥	दुष्कर[६६] को करते हुए और दुःसह[६७] को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज[६८]—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं।
१५—खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य । सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडा ॥ त्ति बेमि	क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि संयमेन तपसा च । सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥१५॥ इति ब्रवीमि ।	स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर[६९] सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[७०] परिनिर्वृत[७१]—मुक्त होते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

★

टिप्पणियाँ : अध्ययन ३

श्लोक १ :

१. सुस्थितात्मा हैं (सुट्ठिअप्पाणं [क]) :

इसका अर्थ है अच्छी तरह स्थित आत्मावाले। सयम में सुस्थितात्मा अर्थात् जिनकी आत्मा सयम में भली-भाँति—आगम की रीति के अनुसार—स्थित—टिकी हुई—रमी हुई है[१]।

अध्ययन २ श्लोक ६ में 'अट्ठिअप्पा' शब्द व्यवहृत है[२]। 'सुट्ठिअप्पा' शब्द ठीक उसका विपर्ययवाची है।

२. विप्रमुक्त हैं (विप्पमुक्काण [ख]) :

वि—विविध प्रकार से, प्र—प्रकर्ष से, मुक्त—रहित हैं। जो विविध प्रकार से—तीन करण और तीन योग के सर्व भङ्गों से, तथा तीव्र भाव के साथ बाह्याभ्यन्तर ग्रथ—परिग्रह को छोड़ चुके हैं, उन्हें विप्रमुक्त कहते हैं[३]। 'विप्रमुक्त' शब्द अन्य आगमों में भी अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है[४]। उन स्थलों को देखने से इस शब्द का अर्थ सब सयोगो से मुक्त, सर्व सग से मुक्त होता है।

कई स्थलों पर 'सव्वओ विप्पमुक्के' शब्द भी मिलता है जिसका—अर्थ है सर्वत. मुक्त।

३. त्राता हैं (ताइणं [ख]) :

'ताई', 'तायी' शब्द आगमों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं[५]। 'तायिण' के सस्कृत रूप 'त्रायिणाम्' और 'तायिनाम्' दो होते हैं।

१—(क) अ० चू० तम्मि सजमे सोभण ठितो अप्पा जेसि ते सजमे सुट्ठितप्पाणो।

(ख) जि० चू० पृ० ११० सयमे शोभनेन प्रकारेण स्थित आत्मा येषां ते भवति सयमे सुस्थितात्मान ।

(ग) हा० टी० प० ११६ शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मान ।

२—'अट्ठिअप्पा' शब्द पर टिप्पणी के लिए देखिए पृ० ३८—अ० २ श्लोक ६ टि० ४०।

३—(क) अ० चू० विप्पमुक्काण—अब्भितर-बाहिरगथबधणविविहप्पगारमुक्काण विप्पमुक्काण।

(ख) जि० चू० पृ० ११०-११ विविहेण बाहिरब्भतरेण गथेण मुक्काण।

(ग) हा० टी० प० ११६ विविधम्—अनेकै प्रकारै प्रकर्षेण—भावसार मुक्ता —परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ता ।

४—(क) उत्त० १ १ सजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणय पाउकरिस्सामि, आणुपुव्वि सुणेह मे॥

(ख) वही ११ १ सजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयार पाउकरिस्सामि, आणुपुव्वि सुणेह मे॥

(ग) वही १८ ५४ कहिं धीरे अहेऊहिं, अत्ताणं परियावसे।
सव्वसगविनिम्मुक्के, सिद्धे भवइ नीरए॥

(घ) वही १५ १६ असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चेच्चा गिह एगचरे स भिक्खु॥

(ङ) वही ६ १६ बहुं खु मुणिणो भद्द, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ॥

५—(क) दश० ३ १५, ६ ३६,६६,

(ख) उत्त० ११ ३१, २३ १०, ८ ६

(ग) सूत्र० १।२ ? १७, १।२ २ २४, १।१४ २६, २।६ २४, २।६ २०, २।६ ५५

'त्रायी' का शाब्दिक अर्थ रक्षक है[1]। जो शत्रु से रक्षा करे उसे 'त्रायी' कहते हैं। लौकिक-पक्ष में इस शब्द का यही अर्थ है। आत्मिक-क्षेत्र में इसकी निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं :

(१) आत्मा का त्राण—रक्षा करनेवाला—अपनी आत्मा को दुर्गति से बचानेवाला।

(२) सदुपदेश-दान से दूसरों की आत्मा की रक्षा करनेवाला—उन्हें दुर्गति से बचानेवाला।

(३) स्व और पर दोनों की आत्मा की रक्षा करनेवाला—दोनों को दुर्गति से बचानेवाला[2]।

(४) जो जीवों को आत्मतुल्य मानता हुआ उनके अतिपात से विरत है वह[3]।

(५) सुसाधु[4]।

'तायी' शब्द की निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं :

(१) सुदृष्ट मार्ग की देशना के द्वारा शिष्यों का संरक्षण करनेवाला[5]।

(२) मोक्ष के प्रति गमनशील[6]।

प्रस्तुत प्रसंग में दोनों चूर्णियों तथा टीका में इसका अर्थ स्व पर और उभय तीनों का त्राता किया है[7]। पर यहाँ 'त्रायी' का उपयुक्त सीधा अर्थ लेना ही संगत है। जो बातें नीचे अनाचीर्ण—परिहार्य कही गयी हैं, वे हिंसा-बहुल हैं। निर्ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि वह त्रायी होता है—वह मन, वचन, काया तथा कृत कारित, अनुमति से सर्व प्रकार के जीवों की सर्व हिंसा से विरत होता है। वह छोटे-बड़े सब जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य मानता हुआ उनकी रक्षा करता है—उनके अतिपात—विनाश से सर्वथा दूर रहता है। निर्ग्रन्थ को उसकी इस विशेषता की स्मृति 'ताइणं'—त्रायी शब्द द्वारा कराते हुए कहा है—भिन्न हिंसापूर्ण कार्य उनके लिए अनाचीर्ण हैं। अतः इस शब्द का यहाँ 'सर्वभूतसंयत' अर्थ करना ही समीचीन है। यह अर्थ आगमिक भी है[8]। 'ताइणं' शब्द 'उत्तराध्ययन अ० २३ के १० वें श्लोक में केशी और गौतम के शिष्य-संघों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। वहाँ टीकाकार इसका अर्थ करते हैं : 'तायिनाम्'—षड्जीवरक्षाकारिणाम्।" अतः षड्जीवनिकाय के अतिपात से विरत—सर्वथा अहिंसक यही अर्थ संगत है।

१—(क) अ० चू० : त्रायन्तीति त्रातारः

(ख) जि० चू० पृ० १११ : आत्मानं परमात्मानं च त्रायंत इति त्रातारः।

२—(क) सूत्र० १४।१६ : शी० टी० प० २५० : आत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी सम्यक्‌ सदुपदेशदानतस्त्रायतेऽन्यानिति त्रायी वा उभय-त्राणकारीति।

(ख) उत्त० ८।४ : शान्त्या० टी० पृ० ११ : त्रायते आत्मानं परं च रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति त्रायी त्रायी वेति।

३—(क) दश० ६।३७ : अनिलस्स समारंभं बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं नेयं ताईहि सेवियं॥

(ख) उत्त० ८।९ : पाणे य नाइवाएज्जा से समीए त्ति वुच्चई ताई।

४—दश० ६।३६ : हा० टी० प० २११ : 'ताईहिं'—'साधुभिः' सुसाधुभिः।

५—हा० टी० प० ११२ : तायोऽस्यास्तीति तायी तायः सुदृष्टमार्गोक्तिः सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः।

६—सूत्र० १।२।२।१ : प० १६६ 'तायी अवश्यगमनस्वभावः गतौ' इत्यस्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपं मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः।

७—(क) अ० चू० : ते तिविहा—आयतातिणो परतातिणो उभयतातिणो।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : आत्मपरोभयत्रातीणं।

(ग) हा० टी० प० ११६ : त्रायन्त आत्मानं परमुभयं चेति त्रातारः।

८—देखिए पाद-टिप्पणी ३।

४. निर्ग्रन्थ (निग्गंथाण घ) :

जैन मुनि का आगमिक और प्राचीनतम नाम[१]।

'ग्रथ' का अर्थ है बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह। जो उससे—ग्रथ से—सर्वथा मुक्त—रहित होता है, उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं[२]।

आगम में 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है : "जो राग-द्वेष रहित होने के कारण अकेला है, बुद्ध है, निराश्रव है, सयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद को जानने वाला है, विद्वान् है, बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार से जिसके स्रोत छिन्न हो गए हैं, जो पूजा, सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्ष-मार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्य का आचरण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने योग्य है और निर्मम है वह निर्ग्रन्थ कहलाता है[३]।"

उमास्वाती ने कर्म-ग्रथि की विजय के लिए यत्न करने वाले को निर्ग्रन्थ कहा है[४]।

५. महर्षियों (महेसिणं घ) :

'महेसी' के सस्कृत रूप 'महर्षि' या 'महैषी' दो हो सकते हैं। महर्षि अर्थात् महान् ऋषि और महैषी अर्थात् महान्—मोक्ष की एषणा करने वाला। अगस्त्यसिंह स्थविर[५] और टीकाकार[६] को दोनों अर्थ अभिमत हैं। जिनदास महत्तर ने केवल दूसरा अर्थ किया है[७]।

हरिभद्र सूरि लिखते हैं '—

"सुस्थितात्मा, विप्रमुक्त, त्रायी, निर्ग्रन्थ और महर्षि में हेतुहेतुमद्भाव है। वे सुस्थितात्मा हैं, इसीलिए विप्रमुक्त हैं। विप्रमुक्त हैं इसीलिए त्रायी हैं, त्रायी हैं इसीलिए निर्ग्रन्थ हैं और निर्ग्रन्थ हैं इसीलिए महर्षि हैं। कई आचार्य इनका सम्बन्ध व्युत्क्रम—पश्चानुपूर्वी से बताते हैं—वे महर्षि हैं इसीलिए निर्ग्रन्थ हैं, निर्ग्रन्थ हैं इसीलिए त्रायी हैं, त्रायी हैं इसीलिए विप्रमुक्त हैं और विप्रमुक्त हैं इसीलिए सुस्थितात्मा हैं[८]।"

१—(क) उत्त० १२ १६ अवि एय विणस्सउ अन्नपाण, न य ण दाहामु तुम नियठा॥

(ख) उत्त० २१ २ निग्गथे पावयणे, सावए से वि कोविए।

(ग) उत्त० १७ १ जे केइ उ पव्वइए नियठे।

(घ) जि० चू० पृ० १११ निग्गथग्गहणेण साहूण णिद्देसो कओ।

(ङ) हा० टी० प० ११६ 'निर्ग्रन्थाना' साधूनाम्।

२—अ० चू० निग्गथाण ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति।

३—सूत्र० १ १६ ४ पृ० २६५ एत्थवि णिग्गथे एगे एगविऊ बुद्धे सछिन्नसोए सुसजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विऊदुहओवि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे समि (म) य चरे दते दविए वोसट्ठकाए निग्गथेत्ति वच्चे।

४—प्रशम० (पृ० ६८) श्लोक १४२

ग्रन्थ कर्माष्टविध, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तज्जयहेतोरशठ, सयतते य स निर्ग्रन्थ॥

५—अ० चू० महेसिण ति इसी—रिसी, महरिसी—परमरिसिणो सवज्झति, अहवा महानिति मोक्खो त एसति महेसिणो।

६—जि० चू० पृ० १११ महान्मोक्षोऽभिधीयते 'महांत एषितु शील येषां 'ते महैषिणो, मग्गणति वा एसणति वा एगट्ठा।

७—हा० टी० प० ११६ महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थ, अथवा महान्त एषितु शील येषां ते महैषिण।

८—हा० टी० प० ११६ इह च पूर्वपूर्वभाव एव उत्तरोत्तरभावो नियमितो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्य, यत एव सयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ता, सयमसुस्थितात्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्ते, एव शेषेष्वपि भावनीय, अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थ वर्णयन्ति—यत एव महर्षयोऽत एव निर्ग्रन्था, एव शेषेष्वपि द्रष्टव्यम्।

६ उन के लिए (तेसिं ग) :

श्लोक २ से ९ में अनेक कार्यों को अनाचीर्ण कहा है। प्रथम श्लोक में बताया है कि ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अनाचीर्ण हैं[1]। प्रश्न हो सकता है—ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ही अनाचीर्ण क्यों कहे गए ? इसका उत्तर निर्ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त महर्षि, संयम में सुस्थित, विप्रमुक्त, त्रायी आदि विशेषणों में है। निर्ग्रन्थ महान् की एषणा में रत होता है। वह महाव्रती होता है—संयम में अच्छी तरह स्थित होता है। वह विप्रमुक्त होता है। अहिंसक होता है। बाद के श्लोकों में बताए गये कार्य सावद्य, आरम्भ और हिंसा-युक्त हैं, निर्ग्रन्थ संयमी के जीवन से विपरीत हैं, गृहस्थों द्वारा आचरित हैं। अतीत में निर्ग्रन्थ महर्षियों ने उनका कभी आचरण नहीं किया। इन सब कारणों से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना में प्रवृत्त निर्ग्रन्थों के लिए वे अनाचीर्ण हैं।

श्रमण अनेक प्रकार के होते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण को कैसे पहचाना जाय—यह एक प्रश्न है जो नवागन्तुक उपस्थित करता है। आचार्य बतलाते हैं—निम्नलिखित बातें ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ द्वारा अनाचरित हैं। जिनके जीवन में उनका सेवन पाया जाता हो वे श्रमण निर्ग्रन्थ नहीं हैं। जिनके जीवन में वे आचरित नहीं हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। इन चिह्नों से तुम निर्ग्रन्थ श्रमण को पहचानो। निम्न वर्णित अनाचीर्णों के द्वारा निर्ग्रन्थ श्रमण का लिङ्ग निर्धारित करते हुए उसकी विशेषताएँ प्रतिपादित कर दी गई हैं।

७ अनाचीर्ण हैं (अणाइण्णं ग)

'अनाचरित'। शब्दार्थ होता है आचरण नहीं किया गया, पर भावार्थ है—आचरण नहीं करने योग्य—अकल्प्य। जो वस्तुएँ, बातें या क्रियाएँ इस अध्ययन में बताई गई हैं वे अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य और अकरणीय हैं। अतीत में निर्ग्रन्थों द्वारा ये कार्य अनाचरित रहे अतः वर्तमान में भी वे अनाचीर्ण हैं[2]।

श्लोक २ से ९ तक में उल्लिखित कार्यों के लिए अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य, अकरणीय आदि भावों में से जहाँ जो लागू हो उस भाव का अध्याहार समझना चाहिए।

श्लोक २

८ औद्देशिक (उद्देसियं क) :

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है :—(१) निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से अथवा (२) परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि औद्देशिक कहलाता है[3]। ऐसी वस्तु या भोजन निर्ग्रन्थ-

---

१—(क) अ॰ चू॰ : तेसिं पुव्व भणिताणं बाहिर-अब्भंतरगंथबन्धण-विप्पमुक्काणं आयपरोभयतातीणं एतं णं उवरि एतम्मि अज्झयणे भणिहिति तं एतमणाइण्णं दरिसेति ।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १११ : तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाणं संजमे सुट्ठियाणं बाहिरब्भंतरगंथविप्पमुक्काणं आयपरोभयताईणं एयं नाम जं उवरि एयंमि अज्झयणे भणिहिति एयं तेसिमणाइण्णं ।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ ११६ : तेषामिदं—वक्ष्यमाणलक्षणं ।

२—(क) अ॰ चू॰ : अणाचिण्णं अकप्पं । अणाचिण्णमिति जं अतीतकालनिद्देसं करेति तं आयपरोभयतातिणिग्गंथसम्बन्धं जं पुव्व रिसीहिं अणाचिण्णं तं कहमायरितव्वं ?

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १११ : अणाइण्णं नाम अकप्पणिज्जंति वुत्तं भवइ, अणाइण्णग्गहणेण जमेयं अतीतकालग्गहणं करेइ तं आयपरोभयताईणं कीरइ, किं कारणं ? जइ ताव अम्ह पुव्वपुरिसेहिं अणाइण्णं तं कहमम्हे आयरिस्सामोत्ति ?

(ग) हा॰ टी॰ प॰ ११६ : अनाचरितम्—अकल्प्यं ।

३—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १११ : उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं साधुनिमित्तं आरंभोत्ति वुत्तं भवति ।

(ख) अ॰ चू॰ : उद्देसितं जं उद्दिस्स कज्जति ।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ ११६ : 'उद्देसियं' ति उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः तत्र भवमौद्देशिकं ।

श्रमण के लिए अनाचीर्ण है—अग्राह्य और असेव्य है। इसी आगम (५.१.४७-५४) में कहा गया है—"जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय में साधु इस प्रकार जान ले कि वह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचकों के लिए तथा श्रमणों—भिक्षुओं के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान उसके लिए अग्राह्य होता है। अतः साधु दाता से कहे—'इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता'।" इसी तरह औद्देशिक ग्रहण का वर्जन अनेक स्थानों पर आया है[1]। औद्देशिक का गम्भीर विवेचन आचार्य भिक्षु ने अपनी साधु-आचार की ढालों में अनेक स्थलों पर किया है। इस विषय के अनेक सूत्र-सन्दर्भ वहाँ संगृहीत हैं[2]।

भगवान् महावीर स्वामी का अभिमत था—'जो भिक्षु औद्देशिक आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट-आहार बनाने में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना करता है—'वह ते समणुजाणन्ति'[3]। उन्होंने उद्दिष्ट-आहार को हिंसा और सावद्य से युक्त होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य बताया[4]।

बौद्ध भिक्षु उद्दिष्ट खाते थे। इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ प्राप्त हैं। उनमें से एक यह है'—

बुद्ध वाराणसी से विहार कर साढे बारह सौ भिक्षुओं के महान् भिक्षु संघ के साथ अंधकविंद की ओर चारिका के लिए चले। उस समय जनपद के लोग बहुत-सा नमक, तेल, तन्दुल और खाने की चीजें गाडियों पर रख 'जब हमारी बारी आएगी तब भोजन करायेंगे'—सोच बुद्ध सहित भिक्षु-संघ के पीछे-पीछे चलते थे। बुद्ध अंधकविंद पहुंचे। एक ब्राह्मण को बारी न मिलने से ऐसा हुआ—'पीछे-पीछे चलते हुए दो महीने से अधिक हो गए बारी नहीं मिल रही है। मैं अकेला हूँ, मेरे घर के बहुत से काम की हानि हो रही है। क्यों न मैं भोजन परसने को देखूँ? जो परसने में न हो उसको मैं दूँ।' ब्राह्मण ने भोजन में यवागू और लड्डू को न देखा। तब ब्राह्मण आनन्द के पास गया और बोला —'तो आनन्द! भोजन में यवागू और लड्डू मैंने नहीं देखा। यदि मैं यवागू और लड्डू को तैयार कराऊँ तो क्या आप गौतम उसे स्वीकार करेंगे?' 'ब्राह्मण! मैं इसे भगवान् से पूछूँगा।' आनन्द ने सभी बातें बुद्ध से कहीं। बुद्ध ने कहा 'तो आनन्द! वह ब्राह्मण तैयार करे।' आनन्द ने कहा—'तो ब्राह्मण तैयार करो।' ब्राह्मण दूसरे दिन बहुत-सा यवागू और लड्डू तैयार करा बुद्ध के पास लाया। बुद्ध और सारे संघ ने इन्हें ग्रहण किया[5]।

इस घटना से स्पष्ट है कि बौद्ध साधु अपने उद्देश्य से बनाया खाते थे और अपने लिए बनवा भी लेते थे।

६. क्रीतकृत (कीयगड क) :

चूर्णि के अनुसार जो दूसरे से खरीदकर दी जाय वह वस्तु 'क्रीतकृत'[6] कहलाती है। टीका के अनुसार जो साधु के लिए क्रय की गई हो—खरीदी गई हो वह क्रीत, जो उससे निर्वर्तित है—कृत है—बनी हुई है—वह क्रीतकृत[7] है। इस शब्द के अर्थ—साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु अथवा साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु से बनाई हुई वस्तु—दोनों होते हैं। क्रीतकृत का वर्जन भी हिंसा-परिहार की दृष्टि से ही है। इस अनाचीर्ण का विस्तृत वर्णन आचार्य भिक्षु कृत साधु-आचार की ढालों में मिलता है[8]। आगमों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्जन है वहाँ-वहाँ प्रायः सर्वत्र ही क्रीतकृत का वर्जन जुड़ा हुआ है। बौद्ध भिक्षु क्रीतकृत लेते थे, उसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं।

१—(क) दश० ५.१.५५, ६.४८-४९, ८.२३, १०.४
(ख) प्रश्न० (संवर-द्वार) १,५
(ग) सूत्र० १.९.१४
(घ) उत्त० २०.४७

२—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८८-८९ आ० चौ० २९.१—२२

३—दश० ६.४८

४—प्रश्न० (संवर-द्वार) २.५

५—विनयपिटक महावग्ग ६.४.३ पृ० २३४ से संक्षिप्त

६—(क) अ० चू० कीतकड ज किणिऊण दिज्जति
(ख) जि० चू० पृ० १११ क्रेतुम् अन्यसत्क यत्क्रेतु दीयते क्रीतकृत।

७—हा० टी० प० ११६ क्रयण—क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्यय', साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृत—निर्वर्तित क्रीतकृत।

८—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८९-९० आचार री चौपाई २९.२४-३१

भाष्यकार ने 'णितिय-अग्गपिंड' के कल्पाकल्प के लिए चार विकल्प उपस्थित किये हैं—निमन्त्रण, प्रेरणा, परिमाण और स्वाभाविक। गृहस्थ साधु को निमन्त्रण देता है—भगवन्! आप मेरे घर आएँ और भोजन लें—यह निमन्त्रण है। साधु कहता है—मैं अनुग्रह करूँ तो तू मुझे क्या देगा? गृहस्थ कहता है—जो आपको चाहिए वही दूँगा। साधु कहता है—घर पर चले जाने पर तू देगा या नहीं? गृहस्थ कहता है—दूँगा। यह प्रेरणा या उत्पीड़न है। इसके बाद साधु कहता है—तू कितना देगा और कितने समय तक देगा? यह परिमाण है। ये तीनों विकल्प जहाँ किए जायँ वह 'णितिय-पिंड' साधु के लिए अग्राह्य है। और जहाँ ये तीनों विकल्प न हों, गृहस्थ के अपने लिए बना हुआ सहज-भोजन हो और साधु सहज-भाव से भिक्षा के लिए चला जाये, वैसी स्थिति में 'णितिय-अग्गपिंड' अग्राह्य नहीं है[1]।

इसके अगले चार सूत्रों में क्रमश नित्य-पिंड, नित्य-अपार्ध, नित्य-भाग और नित्य-अपार्ध-भाग का भोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[2]। इनका निषेध भी निमन्त्रण आदि पूर्वक नित्य भिक्षा ग्रहण के प्रसग में किया गया है।

निशीथ का यह अर्थ 'दशवैकालिक' के अर्थ से भिन्न नहीं है। शब्द-भेद अवश्य है। 'दशवैकालिक' में इस अर्थ का वाचक 'नियाग' शब्द है। जबकि निशीथ में इसके लिए 'णितिय-अग्गपिंड' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। निशीथ-भाष्य (१००७) की चूर्णि में 'णितिय-अग्गपिंड' के स्थान में 'णीयग्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। यहाँ 'णीयग्ग' शब्द विशेष मननीय है। इसका सस्कृत-रूप होगा 'नित्याग्र'। 'नित्याग्र' का प्राकृत-रूप 'णितिय-अग्ग' और 'णीयग्ग' दोनों हो सकते हैं। सम्भवत 'नियाग' शब्द 'णीयग्ग' का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार 'णियग्ग' और 'णितिय-अग्ग' के रूप में 'दशवैकालिक' और 'निशीथ' का शाब्दिक-भेद भी मिट जाता है।

कुछ आचार्य 'नियाग' का सस्कृत-रूप 'नित्याक'[4] या 'नित्य' करते हैं, किन्तु उक्त प्रमाणों के आधार पर इसका सस्कृत-रूप 'नित्याग्र' होना चाहिए। निशीथ चूर्णिकार ने 'नित्याग्र पिंड' के अर्थ में निमन्त्रणादि-पिंड और निकाचना-पिंड का प्रयोग किया है[5]। इनके अनुसार 'नित्याग्र' का अर्थ नियमित-रूप से ग्राह्य-भोजन या निमन्त्रण-पूर्वक ग्राह्य भोजन होता है।

'नियाग' नित्याग्रपिण्ड का सक्षिप्त रूप है। 'पिंड' का अर्थ अग्र में ही अन्तर्निहित किया गया है। यहाँ 'अग्र' का अर्थ अपरिभुक्त[6], प्रधान अथवा प्रथम हो सकता है[7]।

'णितिय-अग्ग' का 'नियाग' के रूप में परिवर्तन इस क्रम से हुआ होगा—णितिय-अग्ग = णिइय-अग्ग = णीय-अग्ग = णीयग्ग = णियग्ग = णियाग।

इसका दूसरा विकल्प यह है कि 'नियाग' का सस्कृत-रूप 'नियाग' ही माना जाए। 'यज्' का एक अर्थ दान है। जहाँ दान निश्चित हो वह घर 'नियाग' है[8]।

बौद्ध-साहित्य में 'अग्ग' शब्द का घर के अर्थ में प्रयोग हुआ है[9]। इस दृष्टि से 'नित्याग्र' का अर्थ 'नित्य-गृह' (नियत घर से भिक्षा लेना) भी किया जा सकता है। 'अग्र' का अर्थ प्रथम मानकर इसका अर्थ किया जाए तो जहाँ नित्य (नियमत) अग्र-पिण्ड दिया जाए वहाँ भिक्षा लेना अनाचार है—यह भी हो सकता है।

१—नि० भा० १०००-१००२

२—नि० २ ३४—३६ जे भिक्ख णितिय पिंड भुजइ, भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय अवड्ढभाग भुंजइ, भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय भाग भुंजइ, भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय अवड्ढभाग भुंजइ, भुजत वा सातिज्जति।

३—नि० भा० १००७ ताहे णीयग्गपिंड गेण्हति

४—उत्तराध्ययन २० ४७ की बृहद्वृत्ति

५—नि० भा० १००५ चू० तस्मान्निमन्त्रणादि-पिण्डो वर्ज्य
नि० भा० १००६ चू० कारणे पुण णिकायणा-पिंड गेण्हेज्ज

६—जी० वृ०।

७—नि० चू० २ ३२ 'अग्र' वर प्रधान

८—निश्चितो नियतो यागो दान यत्र तन्नियागम्।

९—खुग्ग—क्षौर-गृह।

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षु स्थायी निमन्त्रण पर एक ही घर से रोज-रोज दवाइयाँ ला सकते थे। भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओ के लिए ऐसा करना अनाचीर्ण बतलाया है।

११. अभिहृत (अभिहडाणि [ख]) :

आगमों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक, क्रीतकृत आदि का वर्णन है वहाँ अभिहृत का भी वर्णन है।

अभिहृत का शाब्दिक अर्थ है—सम्मुख लाया हुआ। अनाचीर्ण के रूप में इसका अर्थ है—साधु के निमित्त—उसको देने के लिये गृहस्थ द्वारा अपने ग्राम, घर आदि से उसके अभिमुख लाई हुई वस्तु[1]। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निशीथ में मिलता है। वहाँ बताया है कि कोई गृहस्थ भिक्षु के निमित्त तीन घरों के आगे से आहार लाये तो उसे लेने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[2]। तीन घरों की सीमा भी वही मान्य है जहाँ से दाता की देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती हो[3]। पिण्ड-निर्युक्ति में सौ हाथ या उससे कम हाथ की दूरी से लाया हुआ आहार आचीर्ण माना है[4]। वह भी उस स्थिति में जबकि उस सीमा में तीन घरों से अधिक घर न हों।

'अभिहडाणि' शब्द बहुवचन में है। चूर्णि और टीकाकार के अभिमत से अभिहृत के प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग किया है[5]। पिण्ड-निर्युक्ति और निशीथ-भाष्य में इनके अनेक प्रकार बतलाए हैं[6]।

बौद्ध-भिक्षु अभिहृत लेते थे। इसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं। एक घटना इस प्रकार है :

१—(क) अ० चू० अभिहड ज अभिमुहाणीत उवस्सए आणेऊण दिगण

(ख) जि० चू० पृ० ११२ अभिहढ णाम अभिमुखमानीत।

(ग) हा० टी० प० ११६ स्वग्रामादे साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृत।

२—नि० ३ १५ जे भिक्खू गाहावइ-कुल पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठे समाणे पर ति-घरतराओ असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा अभिहड आहट्टु दिज्जमाण पडिग्गाहेति पडिग्गाहेंत वा सातिज्जति।

३—पि० नि० ३४४ आइन्नमि (३) तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा

४—पि० नि० ३४४ हत्थसय खलुदेसो आरेण होई देसदेसोय

५—(क) जि० चू० पृ० ११२ अभिहडाणित्ति बहुवयणेण अभिहडभेदा दरिसिता भवन्ति

(ख) हा० टी० प० ११६ बहुवचन स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम्।

(ग) अ० चू० अहवा अभिहड भेद सवणत्थ, सग्गाम परग्गामे निसिहाभिहढ च नो नीसीह च णिसिहाभिहढ ठप्प णोय णिसीह तु वोच्छामि॥

६—पि० नि० ३२६—४६, नि० भा० १४८३—८८
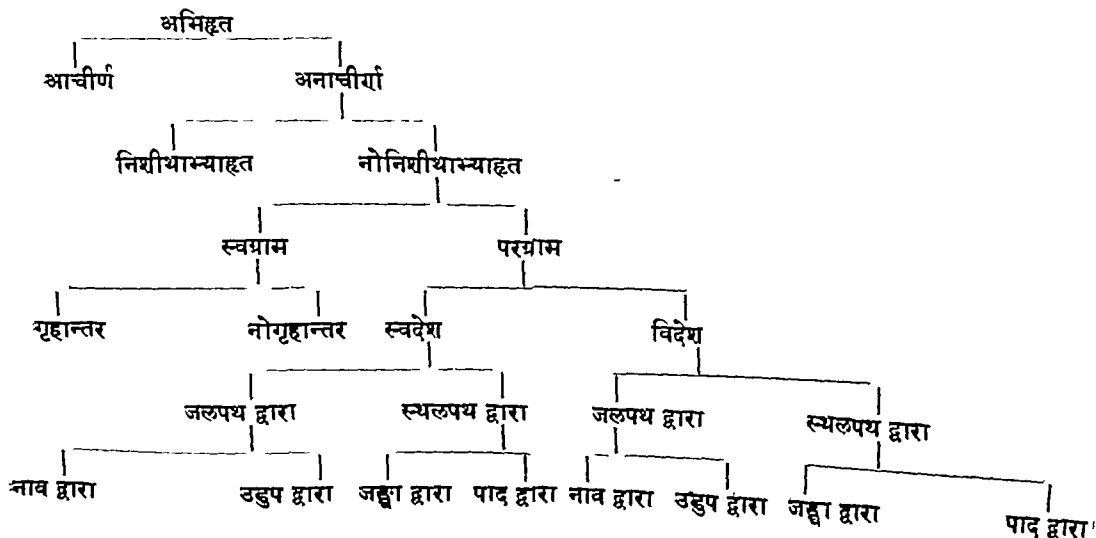
'एक बार एक ब्राह्मण ने नये तिलों और नये मधु को बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को प्रदान करने के विचार से बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वह इन चीजों को देना भूल गया कि बुद्ध और भिक्षु-संघ वापस चले गए। जाने के थोड़ी ही देर बाद ब्राह्मण को अपनी भूल याद आई। उसको विचार आया : 'क्यों न मैं नये तिलों और नये मधु को कुण्डों और घड़ों में भर आराम में ले चलूँ। ऐसा ही कर उसने बुद्ध से कहा—'भो गौतम ! जिनके लिए मैंने बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को निमन्त्रित किया था उन्हीं नये तिलों और नये मधु को देना मैं भूल गया। आप गौतम उन नये तिलों और मधु को स्वीकार करें। बुद्ध ने कहा : 'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ वहाँ से (गृहपति के घर से) लाए हुए भोजन की पूर्ति हो जाने पर भी अतिरिक्त न हो तो उसका भोजन करने की'। [1]

यह अभिहृत का अच्छा उदाहरण है। भगवान् महावीर ऐसे अभिहृत को हिंसायुक्त मानते थे और इसका लेना साधु के लिए अकल्प्य घोषित किया था।

'अगस्त्य चूर्णि में नियागा—ऽभिहडाणि च 'नियागं अभिहडाणि य ये पाठान्तर मिलते हैं। यहाँ समास के कारण प्राकृत में बहुवचन के व्यवहार में कोई दोष नहीं।

औद्देशिक यावत् अभिहृत : औद्देशिक क्रीतकृत नियाग और अभिहृत का निषेध अनेक स्थलों पर आया है। इसी आगम में देखिए—५।१.५५ ६.४७-५ ८-२३। 'उत्तराध्ययन' (२०.४८) में भी इसका वर्णन है। 'सूत्रकृताङ्ग' में अनेक स्थलों पर है। इस विषय में महावीर के समकालीन बुद्ध का क्या अभिप्राय था सम्पूर्णतः जान लेना आवश्यक है। हम यहाँ ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं जो बड़ी ही मनोरंजक है और जिससे बौद्ध और जैन नियमों के विषय में एक तुलनात्मक प्रकाश पड़ता है। घटना इस प्रकार है :

"निगंठ सिंह सेनापति बुद्ध के दर्शन के लिए गया। समझ कर उपासक बना। शास्ता के शासन में स्वतन्त्र हो तथागत से बोला : 'भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें। तथागत ने मौन से स्वीकार किया। सिंह सेनापति स्वीकृति जान तथागत को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा— जा तू तैयार मांस को देख तो।

तब सिंह सेनापति ने उस रात के बीतने पर अपने घर में उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा तथागत को काल की सूचना दी। तथागत वहाँ जा भिक्षु संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे।

उस समय बहुत से निगंठ वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर बाँह उठाकर चिल्लाते थे— आज सिंह सेनापति ने मोटे पशु को मार कर श्रमण गौतम के लिये भोजन पकाया; श्रमण गौतम जान-बूझ कर (अपने ही) उद्देश्य से किये उस मांस को खाता है।

तब किसी पुरुष ने सिंह सेनापति के कान में यह बात डाली।

सिंह बोला : 'जाने दो आर्यो ! चिरकाल से आयुष्मान् (निगंठ) बुद्ध धर्म संघ की निंदा चाहनेवाले हैं। यह असत्, तुच्छ मिथ्या—अ-भूत निंदा करते नहीं शरमाते। हम तो (अपने) प्राण के लिये भी जान-बूझ कर प्राण न मारेंगे।

सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य-भोज्य से संतर्पित कर परिपूर्ण किया।

तब तथागत ने इसी संबन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को संबोधित किया—'भिक्षुओ ! जान-बूझ कर (अपने) उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिये। जो खाये उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिये मारे को) देखे सुने संदेह-युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की'। [2]

इस घटना से निम्नलिखित बातें फलित होती हैं : (१) सिंह ने किसी प्राणी को नहीं मारा था (२) उसने बाजार से सीधा मांस मँगवाकर उसका भोजन बनाया था (३) सीधा मांस लाकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए भोजन बना खिलाना बुद्ध की दृष्टि में औद्देशिक नहीं

१—विनय पिटक : महावग्ग ६.३.११ पृ० २४८ से संक्षिप्त

—वही ६.२८ ।

२—विनय पिटक : महावग्ग ६.४.८ पृ० २४५ से संक्षिप्त

था, (४) पशु को मार कर मांस तैयार करना ही बुद्ध-दृष्टि में औद्देशिक था और (५) अशुद्ध मांस टालने के लिए बुद्ध ने जो तीन नियम दिये वे जैनों की आलोचना के परिणाम थे। उससे पहले ऐसा कोई नियम नहीं था।

उपर्युक्त घटना इस बात का प्रमाण है कि बुद्ध और बौद्ध-भिक्षु निमन्त्रण स्वीकार कर आमन्त्रित भोजन ग्रहण करते थे। त्रिपिटक में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं[१]। संघ-भेद की दृष्टि से देवदत्त ने श्रमण गौतम बुद्ध से जो पाँच बातें मांगी थीं उनमें एक यह भी थी कि भिक्षु जिन्दगी भर पिण्डपातिक (भिक्षा माग कर खाने वाले) रहें। जो निमन्त्रण खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया[२]। इससे यह स्पष्ट ही है कि निमन्त्रण स्वीकार करने का रिवाज बौद्ध-सघ में शुरू से ही था। बुद्ध स्वय पहले दिन निमन्त्रण स्वीकार करते और दूसरे दिन सैकडों भिक्षुओं के साथ भोजन करते। बौद्ध श्रमणोपासक भोजन के लिए बाजार से वस्तुएँ खरीदते, उससे खाद्य वस्तुएँ बनाते। यह सब भिक्षु-सघ को उद्देश्यकर होता था और बुद्ध अथवा बौद्ध-भिक्षुओं की जानकारी के बाहर भी नहीं हो सकता था। इसे वे खाते थे। इस तरह निमन्त्रण स्वीकार करने से बौद्ध-भिक्षु औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग और अभिहृत चारों प्रकार के आहार का सेवन करते थे, यह भी स्पष्ट ही है। देवदत्त ने दूसरी बात यह रक्खी थी कि भिक्षु जिन्दगी भर मछली-मास न खायें, जो खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे भी स्वीकार नहीं किया और बोले "अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशकित इन तीन कोटि से परिशुद्ध मास की मैंने अनुज्ञा दी है[३]।" इसका अर्थ भी इतना ही था कि उपासक द्वारा पशु नहीं मारा जाना चाहिए। उपासक ने भिक्षुओं के लिए पशु मारा है—यदि भिक्षु यह देख ले, सुन ले अथवा उसे इसकी शका हो जाय तो वह ग्रहण न करे अन्यथा वह ग्रहण कर सकता है[४]।

बौद्ध-भिक्षुओं को खिलाने के लिए सीधा मास खरीद कर उसे पकाया जा सकता था—यह सिंह सेनापति की घटना से स्वय ही सिद्ध है। ऐसा करनेवाले के पाप नहीं माना जाता था उलटा पुण्य माना जाता था, यह भी निम्नलिखित घटना से प्रकट होगा

"एक श्रद्धालु तरुण महामात्य ने दूसरे दिन के लिए बुद्ध सहित भिक्षु-सघ को निमन्त्रित किया। उसे हुआ कि साढे बारह सौ भिक्षुओं के लिए साढे बारह सौ थालियाँ तैयार कराऊँ और एक-एक भिक्षु के लिए एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। रात बीत जाने पर ऐसा ही कर उसने तथागत को सूचना दी—'भन्ते! भोजन का काल है, भात तैयार है।' तथागत जा भिक्षु-सघ सहित बिछे आसन पर बैठे। महामात्य चौके में भिक्षुओं को परोसने लगा। भिक्षु बोले 'आवुस! थोडा दो। आवुस! थोडा दो।' 'भन्ते! यह श्रद्धालु महामात्य तरुण है—यह सोच थोड़ा-थोडा मत लीजिए। मैंने बहुत खाद्य-भोज्य तैयार किया है, साढे बारह सौ मास की थालियाँ तैयार की हैं जिससे कि एक-एक भिक्षु को एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। भन्ते! खूब इच्छापूर्वक ग्रहण कीजिये।' 'आवुस! हमने सवेरे ही भोज्य यवागू और मधुगोलक खा लिया है, इसलिए थोड़ा थोड़ा ले रहे हैं।' महामात्य असतुष्ट हो भिक्षुओं के पात्रों को भरता चला गया—'खाओ या ले जाओ। खाओ या ले जाओ।'

"तथागत सतर्पित हो वापस लौटे। महामात्य को पछतावा हुआ कि उसने भिक्षुओं के पात्रों को भर उन्हें यह कहा कि खाओ या ले जाओ। वह तथागत के पास आया और अपने पछतावे की बात बता पूछने लगा—'मैंने पुण्य अधिक कमाया या अपुण्य?' तथागत बोले 'आवुस! जो कि तूने दूसरे दिन के लिए बुद्ध-सहित भिक्षु सघ को निमत्रित किया इससे तूने बहुत पुण्य उपार्जित किया। जो कि तेरे यहाँ एक-एक भिक्षु ने एक-एक दान ग्रहण किया इस बात से तूने बहुत पुण्य कमाया। स्वर्ग का आराधन किया।' 'लाभ है मुझे, सुलाभ हुआ मुझे, मैंने बहुत पुण्य कमाया, स्वर्ग का आराधन किया'—सोच हर्षित हो तथागत को अभिवादन कर महामात्य प्रदक्षिणा कर चला गया[५]।"

यह घटना इस बात पर सुन्दर प्रकाश डालती है कि उपर्युक्त औद्देशिक, क्रीतकृत और नियाग आहार बौद्ध-भिक्षुओं के लिए वर्जनीय नहीं थे।

१—Sacred Books of The Buddhists Vol XI Book of The Discipline part II & III · Indexes pp 421 & 430 See "Invitation"

२—विनयपिटक चुल्लवग्ग ७ २ ७ पृ० ४८८

३—विनयपिटक चुल्लवग्ग ७ २ ७ पृ० ४८८

४—उपर्युक्त स्थल।

५—विनयपिटक महावग्ग ६ ७ ५ पृ० २३५-३६ से सक्षिप्त।

बुद्ध और महावीर के भिक्षा नियमों का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। महावीर औद्देशिक आदि चारों प्रकार के आहार ग्रहण में ही नहीं, अन्य वस्तुओं के ग्रहण में भी स्पष्ट हिंसा मानते जब कि बुद्ध ऐसा कोई दोष नहीं देखते थे और आहार की तरह ही अन्य ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करते थे। बौद्ध-संघ के लिए विहार आदि बनाये जाते थे और बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षु उनमें रहते थे[१] जबकि महावीर औद्देशिक मकान में नहीं ठहरते थे।

महावीर की विचारधारा को व्यक्त करते हुए उनके सिद्धान्त का अच्छी तरह निचोड़ करनेवाले सेज्जंभव लिखते हैं : 'महर्षि ने कहा है—'जो कोई नियाग क्रीत औद्देशिक और अभिहृत को ग्रहण करता है वह प्राणी-वध की अनुमोदना करता है। अतः जो स्थितात्मा धर्मजीवी निर्ग्रन्थ हैं वे नियाग यावत् अभिहृत अशन आदि का वर्जन करते हैं।

महावीर के इन नियमों में अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन और गंभीर विवेक है। जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा उन्हें मालूम दी वहाँ उससे बचने का मार्ग उन्होंने ढूँढ़ बताया। सूक्ष्म हिंसा से बचाने के लिए ही उन्होंने भिक्षुओं से कहा था : "गृहस्थों द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों से लोक-प्रयोजन के लिए कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। गृहस्थ अपने लिए, पुत्रों के लिए, पुत्रियों के लिए पुत्र-वधुओं के लिए, ज्ञातियों के लिए, धाइयों के लिए, दासों के लिए, दासियों के लिए, कर्मकरों के लिए, कर्मकरियों के लिए, अतिथियों के लिए, विभिन्न उपहारों या उत्सवों के लिए, शाम के भोजन के लिए, प्रातराश—कलेवे के लिए, संसार के किसी-न-किसी मानव के भोजन के लिए, सन्निधि-संचय करते हैं। भिक्षा के लिए उठा हुआ आर्य आगमज्ञ आर्यदर्शी अनगार सर्व प्रकार के आमगंध—औद्देशिक आदि आहार को जान उसे ग्रहण न करे, न कराए, न उसके ग्रहण का अनुमोदन करे, निरामगंध होकर विचरण करे।"

१२ रात्रि-भक्त (राइभत्ते ग)

रात्रि में आहार करना। रात्रि-भक्त के चार विकल्प होते हैं—(१) दिन में लाकर दूसरे दिन दिन में खाना; (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना; (३) रात में लाकर दिन में खाना और (४) रात में लाकर रात में खाना। इन चारों का ही निषेध है[२]। जो सूर्यास्त होते-होते भोजन करता है उसे पापी-श्रमण कहा है[३]। रात्रि-भोजन वर्जन को श्रामण्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता[४]।

१३ स्नान (सिणाणे ग) :

स्नान दो तरह के होते हैं—देश-स्नान और सर्व-स्नान। शौच स्थानों के सिवा आँखों के भौं तक का भी धोना देश-स्नान है। सारे शरीर का स्नान सर्व-स्नान कहलाता है[५]। दोनों प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

१—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ६.२.१ पृ० ४६१-६२

—आचा० १.१.५ ८८

२—(क) अ० चू० : तं रातिभत्तं चउव्विहं, तं जहा—दिवा घेत्तुं बितियदिवसे दिवा भुंजति १ दिवा घेत्तुं रातिं भुंजति २ रातिं घेत्तुं दिवा भुंजति ३ रातिं घेत्तुं रातिं भुंजति ४।

(ख) जि० चू० पृ० ११ : तत्थ राइभत्तं चउव्विहं तं०—दिवा गेण्हित्ता बितियदिवसे भुंजति १ दिवा घेत्तुं राइं भुंजइ २ राइं घेत्तुं दिवा भुंजइ ३ राइं घेत्तुं राइं भुंजइ ४।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'रात्रिभक्तं' रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम्।

३—उत्त० १७.१६ : अत्थंतम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

४—उत्त० १९.३० : चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।

५—(क) अ० चू० : सिणाणं दुविहं देसतो सव्वतो वा। देससिणाणं लेवाडं मोत्तूणं सेसं अच्छि पम्हपक्खालणमवि, सव्वसिणाणं जं ससीसो ण्हाति।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : सिणाणं दुविहं भवति, तं०—देससिणाणं सव्वसिणाणं च, तत्थ देससिणाणं लेवाडं मोत्तूण सेसं अच्छिपम्हपक्खालणमवि देससिणाणं भवइ, सव्वसिणाणं जो ससीसओ ण्हाइ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'स्नानं च'—देशसर्वभेदभिन्नं देशस्नानमविष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि सर्वस्नानं तु प्रतीतं।

स्नान-वर्जन में भी अहिंसा की दृष्टि ही प्रधान है। इसी सूत्र (६६१-६३) में यह दृष्टि बड़े सुन्दर रूप में प्रकट होती है। वहाँ कहा गया है—"रोगी अथवा निरोग जो भी साधु स्नान की इच्छा करता है वह आचार से गिर जाता है और उसका जीवन संयम-हीन होता है। अत: उष्ण अथवा शीत किसी जल से निर्ग्रन्थ स्नान नहीं करते। यह घोर अस्नान-व्रत यावज्जीवन के लिए है।" जैन-आगमों में स्नान का वर्जन अनेक स्थलों पर आया है[1]।

स्नान के विषय में बुद्ध ने जो नियम दिया वह भी यहाँ जान लेना आवश्यक है। प्रारम्भ में स्नान के विषय में कोई निषेधात्मक नियम बौद्ध-संघ में था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बौद्ध-साधु नदियों तक में स्नान करते थे, ऐसा उल्लेख है। स्नान-विषयक नियम की रचना का इतिहास इस प्रकार है—उस समय भिक्षु तपोदा में स्नान किया करते थे। एक बार मगध के राजा सेणिय-बिम्बिसार तपोदा में स्नान करने के लिए गए। बौद्ध-साधुओं को स्नान करते देख वे एक ओर प्रतीक्षा करते रहे। साधु रात्रि तक स्नान करते रहे। उनके स्नान कर चुकने पर सेणिय बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर का द्वार बन्द हो चुका था। देर हो जाने से राजा को नगर के बाहर ही रात बितानी पड़ी। सुबह होते ही गन्ध-विलेपन किए वे तथागत के पास पहुँचे और अभिनन्दन कर एक ओर बैठ गए। बुद्ध ने पूछा—'आवुस! इतने सुबह गन्ध-विलेपन किए कैसे आए?' सेणिय-बिम्बिसार ने सारी बात कही। बुद्ध ने धार्मिक-कथा कह सेणिय-बिम्बिसार को प्रसन्न किया। उनके चले जाने के बाद बुद्ध ने भिक्षु-संघ को बुलाकर पूछा—'क्या यह सत्य है कि राजा को देख चुकने के बाद भी तुम लोग स्नान करते रहे?' 'सत्य है भन्ते!' भिक्षुओं ने जवाब दिया। बुद्ध ने नियम दिया 'जो भिक्षु १५ दिन के अन्तर से पहले स्नान करेगा उसे पाचित्तिय का दोष लगेगा।' इस नियम के बन जाने पर गर्मी के दिनों में भिक्षु स्नान नहीं करते थे। गात्र पसीने से भर जाता इससे सोने के कपड़े गन्दे हो जाते थे। यह बात बुद्ध के सामने लाई गई। बुद्ध ने अपवाद किया—'गर्मी के दिनों में १५ दिन से कम अन्तर पर भी स्नान किया जा सकता है।' इसी तरह रोगी के लिए यह छूट दो। मरम्मत में लगे साधुओं के लिए यह छूट दी। वर्षा और आँधी के समय में यह छूट दी[2]।

महावीर का नियम था—"गर्मी से पीड़ित होने पर भी साधु स्नान करने की इच्छा न करे[3]।" उनकी अहिंसा उनसे स्नान के विषय में कोई अपवाद नहीं करा सकी। बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा-बुद्धि सुविधा-असुविधा का विचार करती हुई अपवाद गढ़ती गई।

भगवान् के समय में शीतोदक-सेवन से मोक्ष पाना माना जाता था। इसके विरुद्ध उन्होंने जोरदार आवाज मे कहा था—"प्रात: स्नान आदि से मोक्ष नहीं है[4]।" उन्होंने कहा था—"सायंकाल और प्रात:काल जल का स्पर्श करते हुए जल-स्पर्श से जो मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्पर्श से मुक्ति हो तो जल में रहने वाले अनेक जीव मुक्त हो जाएँ! जो जल-स्नान में मुक्ति कहते हैं वे अस्थान में कुशल हैं। जल यदि कर्म-मल को हरेगा तो सुख-पुण्य को भी हर लेगा। इसलिए स्नान से मोक्ष कहना मनोरथ मात्र है। मंद पुरुष अन्धे नेताओं का अनुसरण कर केवल प्राणियों की हिंसा करते हैं। पाप-कर्म करने वाले पापी के उस पाप को अगर शीतोदक हर सकता तब तो जल के जीवों की घात करने वाले जल-जन्तु भी मुक्ति प्राप्त कर लेते। जल से सिद्धि बतलाने वाले मृषा बोलते हैं। अज्ञान को दूर कर देख कि त्रस और स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं। तू त्रस और स्थावर जीवों की घात की क्रिया न कर। जो अचित्त जल से भी स्नान करता है वह नाग्न्य से—श्रमणभाव से दूर है[5]।"

१—उत्त० २६, १५ ८, आचा० २ २ २ १, २ १३, सूत्र० १ ७ २१-२२, १ ६ १३

२—Sacred Book of The Buddhists Vol XI Part II LVII pp 400-405

३—उत्त० २६ उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाण वि नो पत्थए।
गाय नो परिसिचेज्जा न वीएज्जा य अप्पय॥

४—सूत्र० १ ७ १३ पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।

५—सूत्र० १ ७ १२-२२

बुद्ध और महावीर के भिक्षा नियमों का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। महावीर औद्देशिक आदि चारों प्रकार के आहार ग्रहण में ही नहीं अन्य वस्तुओं के ग्रहण में भी स्पष्ट हिंसा मानते थे जब कि बुद्ध ऐसा कोई दोष नहीं देखते थे और आहार की तरह ही अन्य ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करते थे। बौद्ध-संघ के लिए विहार आदि बनाये जाते थे और बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षु उनमें रहते थे जबकि महावीर औद्देशिक मकान में नहीं ठहरते थे।

महावीर की विचारधारा को व्यक्त करते हुए उनके सिद्धान्त का अच्छी तरह निचोड़ करनेवाले शेय्यंभव लिखते हैं : 'महर्षि ने कहा है—जो कोई नियाग क्रीत औद्देशिक और अभिहृत को ग्रहण करता है वह प्राणी-वध की अनुमोदना करता है। अतः जो स्थितात्मा धर्मजीवी निर्ग्रन्थ हैं वे नियाग यावत् अभिहृत अशन आदि का वर्जन करते हैं।

महावीर के इन नियमों में अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन और गंभीर विवेक है। जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा उन्हें मालूम दी वहाँ उससे बचने का मार्ग उन्होंने ढूंढ बताया। सूक्ष्म हिंसा से बचाने के लिए ही उन्होंने भिक्षुओं से कहा था 'गृहस्थों द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों से लोक-प्रयोजन के लिए कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। गृहस्थ अपने लिए, पुत्रों के लिए, पुत्रियों के लिए, पुत्र-वधुओं के लिए, ज्ञातियों के लिए, धात्रियों के लिए, दासों के लिए, दासियों के लिए, कर्मकरों के लिए, कर्मकरियों के लिए, अतिथियों के लिए, विभिन्न उपहारों या कलवों के लिए, शाम के भोजन के लिए प्रातराश—कलेवे के लिए, संसार के किसी-न किसी मानव के भोजन के लिए, सन्निधि संचय करते हैं। भिक्षा के लिए खड़ा हुआ आर्य आर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी अनगार सर्व प्रकार के आमगंध—औद्देशिक आदि आहार को जान उसे ग्रहण न करे, न कराए, न उसके ग्रहण का अनुमोदन करे, निरामगंध होकर विचरण करे[२]।"

१२ रात्रि-भक्त (राइभत्ते ग)

रात्रि में आहार करना। रात्रि भक्त के चार विकल्प होते हैं—(१) दिन में लाकर दूसरे दिन दिन में खाना (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना; (३) रात में लाकर दिन में खाना और (४) रात में लाकर रात में खाना। इन चारों का ही निषेध है[३]। जो सूर्यास्त होते-होते भोजन करता है उसे पापी-श्रमण कहा है[४]। रात्रि-भोजन वर्जन को श्रामण्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता[५]।

१३ स्नान (सिणाणे ग)

स्नान दो तरह के होते हैं—देश-स्नान और सर्व-स्नान। शौच स्थानों के सिवा आँखों के भौं तक का भी धोना देश-स्नान है। सारे शरीर का स्नान सर्व-स्नान कहलाता है[६]। दोनों प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

१—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ६ ३ १ पृ० ४६१-६२

२—आचा० १ ५.८८

३—(क) अ० चू० : तं रातिभत्तं चतुव्विधं, तं जहा—दिवा घेत्तुं बितियदिवसे दिवा भुंजति १ दिवा घेत्तुं रातिं भुंजति २ रातिं घेत्तुं दिवा भुंजति ३ रातिं घेत्तुं रातिं भुंजति ४।

(ख) जि० चू० पृ० ११ : तत्थ राइभत्तं चउव्विहं तं०—दिया घेत्तुं बितियदिवसे भुंजति १ दिया घेत्तुं राइं भुंजइ २ राइं घेत्तुं दिया भुंजइ ३ राइं घेत्तुं राइं भुंजइ ४।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'रात्रिभक्तं' रात्रिभोजनं दिवसग्रहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम्।

४—उत्त० १७.१६ अत्थन्तम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

५—उत्त० १६.३० : चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।

६—(क) अ० चू० : सिणाणं दुविहं देसतो सव्वतो वा। तत्थ देससिणाणं लेवाडं मोत्तूणं तं चेव वि, सव्वसिणाणं जं ससीसोण्हाति।

(ख) जि० चू० पृ० ११ : सिणाणं दुविहं भवति तं०—देससिणाणं सव्वसिणाणं च तत्थ देससिणाणं लेवाडं मोत्तूण सेसं अच्छिपम्हपक्खालणमेत्तमवि देससिणाणं भवइ, सव्वसिणाणं जो ससीसतो ण्हाइ।

(ग) हा० टी० प० ११६-१७ : 'स्नानं च'—देशतः सर्वतश्च देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि सर्वस्नानं तु प्रतीतं।

श्लोक ३ :

१६. सन्निधि (सन्निही क) :

सन्निधि का वर्जन अनेक स्थलों पर मिलता है। सन्निधि-सचय का त्याग श्रामण्य का एक प्रमुख अग माना गया है।[1] कहा है—"सयमी मुनि लेश मात्र भी सग्रह न करे[2]।" "सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी वस्तु के सग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है साधु नहीं—ऐसा मै मानता हूँ[3]।"

सन्निधि शब्द बौद्ध-त्रिपिटकों में भी मिलता है। बौद्ध-साधु आरम्भ में सन्निधि करते थे। सग्रह न करने के विषय में कोई विशेष नियम नहीं था। सर्वप्रथम नियम बनाया गया उसका इतिहास इस प्रकार है—उस समय श्रमण वेलत्थसीस,[4] आनन्द के गुरु, जगल में ठहरे हुए थे। वे भिक्षा के लिए निकले और पक्के चावल लेकर आराम में वापस आए। चावलों को सूखा दिया। जब जरूरत होती पानी से भिगो कर खाते। अनेक दिनों के बाद फिर वे ग्राम में भिक्षा के लिए निकले। साधुओं ने पूछा—'इतने दिनों के बाद आप भिक्षा के लिए कैसे आए?' उन्होंने सारी बातें कही। साधुओं ने पूछा—'क्या आप सन्निधिकारक भोजन करते हैं?' 'हाँ, भन्ते।' यह बात बुद्ध के कानों तक पहुची। बुद्ध ने नियम बनाया—'जो भी सन्निधिकारक भोजन खाएगा उसे पाचित्तिय दोष होगा[5]।' रोगी साधु को छूट थी 'भिक्षु को घी, मक्खन, तेल, मधु, खाड (   ) आदि रोगी भिक्षुओं के सेवन करने लायक पथ्य (भैषज्य) को ग्रहण कर अधिक से अधिक सप्ताह भर रखकर भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से उसे निस्सग्गियपाचित्तिय है[6]।'

रोगी साधु के लिए भी भगवान् महावीर का नियम था—"साधु को अनेक प्रकार के रोग-आतक उत्पन्न हों, वात-पित्त-कफ का प्रकोप हो, सन्निपात हो, तनिक भी शान्ति न हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त कर देने वाले रोग उपस्थित हो जाएँ तो भी उसको अपने लिए या अन्य के लिए औषध, भैषज्य, आहार-पानी का सचय करना नहीं कल्पता[7]।"

१७. गृहि-अमत्र (गिहिमत्ते क) :

अमत्र या मात्र का अर्थ है भाजन, बरतन। गृहि-अमत्र का अर्थ है गृहस्थ का भाजन[8]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"दूसरे के (गृहस्थ के) बरतन में साधु अन्न या जल कभी न भोगे[9]।" इस नियम का मूलाधार अहिंसा की दृष्टि है। दशवैकालिक अ० ६ गा०

१—उत्त० १९ ३० सन्निहीसचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्कर।

२—(क) दश० ८ २४ सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायपि सजए।
(ख) उत्त० ६ १५ सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए सजए।

३—दश० ६ १८

४—ये हजार जटिल साधुओं के स्थविर नेता थे।

५—Sacred Books of the Buddhists Vol VI Book of Discipline Part II pp. 338 340

६—विनयपिटक भिक्षु-पातिमोक्ष ४ २३

७—प्रश्न० २ ५ पृ० २७७-२७८ जपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पकारमि समुप्पन्ने वाताहिक-पित्त-सिभ-अतिरित्त कुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल-तिउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे असुभ-कडुय फरूसे चडफल-विवागे महब्भये जीवियत्त करणे सव्वसरीर-परितावण करे न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसह भेसज्ज, भत्त-पाण च तपि सन्निहिकय।

८—(क) अ० चू० अत्र गिहिमत्त गिहिभायण कसपत्तादि।
(ख) जि० चू० पृ० ११२ गिहिमत्त गिहिभायणति।
(ग) हा० टी० प० ११७ 'गृहिमात्र' गृहस्थभाजन।

९—सूत्र० १ ९ २० परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइवि।

१४ गंध, माल्य (गन्धमल्ले ^ग)

गन्ध—इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ[१]। माल्य—फूलों की माला । इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। गन्ध-माल्य साधु के लिए अनाचीर्ण है यह उल्लेख भी अनेक स्थलों पर मिलता है[२]।

'प्रश्नव्याकरण' में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा कैसे होती है यह बताया गया है। वहाँ उल्लेख है कि गन्ध माल्य के लिए मूढ़ दारुण-मति लोग वनस्पतिकाय के प्राणियों का घात करते हैं। गन्ध बनाने में फूल या वनस्पति विशेष का मर्दन घर्षण करना पड़ता है। माला में वनस्पतिकाय के जीवों का विनाश प्रत्यक्ष है। गन्ध-माल्य का निषेध वनस्पतिकाय और तदाश्रित अन्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से भी किया गया है। विभूषा-त्याग और अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा की दृष्टि भी इसमें है। साधु को नाना पदार्थों की मनोज्ञ और भद्र सुगन्ध में आसक्त नहीं होना चाहिए—ऐसा कहा है[४]। चूर्णि और टीका में मालाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं—ग्रथित, वेष्टित, पूरिम और संघातिम[६]। बौद्ध-आगम विनयपिटक में अनेक प्रकार की मालाओं का उल्लेख है।

१५ वीजन (वीयणे ^ग)

तालवृन्तादि द्वारा शरीर अथवा ओदनादि को हवा डालना वीजन है।

जैन-दर्शन में षड्जीवनिकायवाद एक विशेष वाद है। इसके अनुसार वायु भी जीव है[९]। तालवृन्त पंखा व्यजन मयूरपंख आदि पंखों से उत्पन्न वायु के द्वारा सजीव वायु का हनन होता है तथा संपातिम जीव मारे जाते हैं[१०]। इसीलिए व्यजन का व्यवहार साधु के लिए अनाचीर्ण कहा है। इसी आगम में अन्य स्थलों तथा अन्य आगमों में भी[१२] स्थान-स्थान पर इसका निषेध किया गया है। ग्रीष्म गर्मी में निर्ग्रन्थ साधु पंखी आदि से हवा नहीं ले सकता[१३]।

१—(क) अ चू गंधा कोट्ठ पुडादयो।
(ख) जि चू पृ ११२ : गंधगहणेण कोट्ठपुडादयो गंधा गहिया ।
(ग) हा टी प ११७ गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः।
—(क) अ चू : मल्लं गंथिम-पूरिम-संघातिमं।
(ख) जि चू पृ० ११२ : मल्लग्गहणेण गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमं चउव्विहंपि मल्लं गहितं।
(ग) हा टी प ११ माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य।
३—सूत्र १ ९.१३
४—प्रश्न ११ : गंध-मल्ल अणुलेवणं" पुप्फमादिएहिं बहुहिं कारणसतेहिं हिंसंति ते तरुगणे, भणिता एवमादी सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमती।
५—प्रश्न ९.५
६—देखिए ऊपर पाद-टि २
७—विनयपिटक : चुल्लवग्ग १ ३ १ पृ ३४१
८—(क) अ चू : वीयणं सरीरस्स भत्तादिणो वा उक्खेवादीहिं।
(ख) जि चू पृ ११ : वीयणं नाम धम्मत्तो अत्ताणं ओदणादि वा तालवेंटादीहिं वीयेति।
(ग) हा टी प ११७ वीजनं तालवृन्तादिना धर्म एव।
९—दस ४, सूत्र० २१
१०—प्रश्न ३ : वाउ विधणंतमरुतपाणा अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणए।
११—(क) प्रश्न १ १ : सुप्प वियण तालयंट पेहुण मुह करयल सागपत्त वत्थमादिएहिं अणिलं हिंसति।
(ख) अ चू : वीयणे संपातिमवाउवहो।
१२—दस० ४ १ ; ६.३८-३९ ; ८.९
१३—आ १ १.७ ; सूत्र १.९ ८-९ ; १.९.१८
१४—उत्त० २.९ (पृ ६१ पाद-टि ३ में उद्धृत)।

श्लोक ३ :

१६. मन्निधि (सन्निही क) :

सन्निधि का वर्जन अनेक स्थलों पर मिलता है। सन्निधि-सचय का त्याग श्रामण्य का एक प्रमुख अग माना गया है।[१] कहा है—"सयमी मुनि लेश मात्र भी संग्रह न करे[२]।" "सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी वस्तु के सग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है साधु नहीं—ऐसा मै मानता हूँ[३]।"

सन्निधि शब्द बौद्ध-त्रिपिटकों में भी मिलता है। बौद्ध-साधु आरम्भ में सन्निधि करते थे। सग्रह न करने के विषय में कोई विशेष नियम नहीं था। सर्वप्रथम नियम बनाया गया उसका इतिहास इस प्रकार है—उस समय श्रमण वेलथसीस,[४] आनन्द के गुरु, जगल में ठहरे हुए थे। वे भिक्षा के लिए निकले और पक्के चावल लेकर आराम में वापस आए। चावलों को सूखा दिया। जब जरूरत होती पानी से भिगो कर खाते। अनेक दिनो के बाद फिर वे ग्राम में भिक्षा के लिए निकले। साधुओं ने पूछा—'इतने दिनों के बाद आप भिक्षा के लिए कैसे आए?' उन्होंने सारी बातें कही। साधुओं ने पूछा—'क्या आप सन्निधिकारक भोजन करते हैं?' 'हाँ, भन्ते।' यह बात बुद्ध के कानों तक पहुची। बुद्ध ने नियम बनाया—'जो भी सन्निधिकारक भोजन खाएगा उसे पाचित्तिय दोष होगा[५]।' रोगी साधु को छूट थी 'भिक्षु को घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड ( ) आदि रोगी भिक्षुओं के सेवन करने लायक पथ्य (भैषज्य) को ग्रहण कर अधिक से अधिक सप्ताह भर रखकर भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से उसे निस्सग्गियपाचित्तिय है[६]।'

रोगी साधु के लिए भी भगवान् महावीर का नियम था—"साधु को अनेक प्रकार के रोग-आतक उत्पन्न हों, वात-पित्त-कफ का प्रकोप हो, सन्निपात हो, तनिक भी शान्ति न हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त कर देने वाले रोग उपस्थित हो जाएँ तो भी उसको अपने लिए या अन्य के लिए औषध, भैषज्य, आहार-पानी का सचय करना नहीं कल्पता[७]।"

१७. गृहि-अमत्र (गिहिमत्ते क) :

अमत्र या मात्र का अर्थ है भाजन, बरतन। गृहि-अमत्र का अर्थ है गृहस्थ का भाजन[८]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"दूसरे के (गृहस्थ के) बरतन में साधु अन्न या जल कभी न भोगे[९]।" इस नियम का मूलाधार अहिंसा की दृष्टि है। दशवैकालिक अ० ६ गा०

१—उत्त० १९ ३० सन्निहीसचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्कर।

२—(क) दश० ८ २४ सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायपि सजए।
(ख) उत्त० ६ १५ सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए सजए।

३—दश० ६ १८

४—ये हजार जटिल साधुओं के स्थविर नेता थे।

५—Sacred Books of the Buddhists Vol VI Book of Discipline Part II.pp. 338 340

६—विनयपिटक भिक्षु-पातिमोक्ष ४ २३

७—प्रश्न० २ ५ पृ० २७७-२७८ जपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पकारमि समुप्पन्ने वाताहिक-पित्त-सिंभ-अतिरित्त कुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल-तिउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे असुभ-कहुय फरुसे चडफल-विवागे महब्भये जीवियत करणे सव्वसरीर-परितावण करे न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसह भेसज्ज, भत्त-पाण च तपि सन्निहिकय।

८—(क) अ० चू० अत्र गिहिमत्त गिहिभायण कसपत्तादि।
(ख) जि० चू० पृ० ११२ गिहिमत्त गिहिभायणति।
(ग) हा० टी० प० ११७ 'गृहिमात्र' गृहस्थभाजन।

९—सूत्र० १ ९ २० परमत्ते अन्नपाण, ण भुजेज्ज कयाइवि।

५.-२१ में कहा है : "ऐसा करनेवाला आचार से भ्रष्ट होता है। गृहस्थ बरतनों को धोते हैं, जिनमें सचित्त जल का आरम्भ होता है। बरतनों के धोवन के जल को यत्र-तत्र गिराने से जीवों की हिंसा होती है। इसमें असंयम है।" साधु के निमित्त गृहस्थ को पहले या बाद में कोई सावद्य क्रिया—हलन-चलन न करनी पड़े—यह भी इसका तत्त्व है[1]।

निर्ग्रन्थ-साधु ग्लान साधुओं के लिए आहार आदि लाते और उन्हें देते। अन्य दर्शनी आलोचना करते : "तुम लोग एक दूसरे में मूर्छित हो और गृहस्थ के समान व्यवहार करते हो जो रोगी को इस प्रकार पिण्डपात लाकर देते हो। तुम लोग सरागी हो—एक दूसरे के वश में रहते हो सत्पथ और सद्भाव से हीन हो। अतः तुम इस संसार का पार नहीं पा सकते।" संयमजीवी और मोक्ष-विशारद भिक्षु को इसका किस प्रकार उत्तर देना चाहिए यह बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा— भिक्षुओ! ऐसा आक्षेप करने वालों को तुम कहना—'तुम लोग दो पक्षों का सेवन करते हो। तुम लोग गृहस्थ के पात्रों में भोजन करते हो तथा रोगी साधु के लिए गृहस्थ द्वारा लाया हुआ भोजन ग्रहण करते हो। इस तरह बीज और कच्चे जल तथा उस साधु के लिए जो औद्देशिक किया है उसका उपभोग करते हो। तुम लोग सद्विवेक से रहित और असमाहित हो तीव्र अभिताप से उपलिप्त हो। व्रण को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं क्योंकि उससे उसमें विकार उत्पन्न होता है। अपने को अपरिग्रही मान तुम भिक्षा-पात्र नहीं रखते उससे तुम्हें अशुद्ध आहार का परिभोग करना पड़ रहा है। यह तर्क कि गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेय है और भिक्षु के द्वारा लाया हुआ नहीं, उतना ही तुच्छ है जितना कि बाँस का अग्रभाग। 'साधु को दान देकर उसका उपकार करना चाहिए'—यह जो धर्म-देशना है वह आरंभी—गृहस्थों को शुद्ध करने वाली है साधुओं को नहीं—तुम्हारी यह दृष्टि भी उचित नहीं है। भगवान् के द्वारा पहले कभी भी इस दृष्टि से देशना नहीं की गई थी कि यथा में अनुपयुक्त गृहस्थ ग्लान साधु का वैयावृत्त्य करे यथा में उपयुक्त साधु न करे।" इस प्रसंग में जहाँ औद्देशिक और अभिहृत का वर्जन है वहाँ गृहस्थ के पात्र में भोजन करने पर भी आक्षेप है। इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि अन्य श्रमण गृहि-पात्र में भोजन करते थे।

१८ राजपिण्ड, किमिच्छक (रायपिंडे किमिच्छए ग) :

अगस्त्य सिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण माना है और हरिभद्र सूरि 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण भी मानते हैं और विकल्प के रूप में स्वतन्त्र भी[3]।

दोनों चूर्णिकारों के अभिमत से 'किमिच्छक-राजपिण्ड'—यह एक अनाचार है। इसका अर्थ है—राजा याचक को वह जो चाहे वही दे उस पिण्ड—आहार का नाम है 'किमिच्छक-राजपिण्ड'।

टीकाकार के अनुसार—कौन क्या चाहता है ? यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन आदि 'किमिच्छक' कहलाता है।

'निशीथ' में राजपिण्ड के ग्रहण और भोग का चातुर्मासिक-प्रायश्चित्त बतलाया है[5]। वहाँ 'किमिच्छक' शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

१—सू० १.२०

२—सूत्र० १.३.३.८-२१ का सार।

३—(क) अ० चू० : मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिंडो। रायपिंडे-किमिच्छए—राया जो जं इच्छति तस्स तं देति—एस रायपिंडो किमिच्छओ। 'किमिच्छयं'—एयवा रत्तणाय पुरिसं अनाचिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो पिंडो—रायपिंडो, सो य किमिच्छओ जति भवति,—किमिच्छओ नाम राया किर पिंडं देंतो भणति केस इच्छियं देमि अओ सो रायपिंडो गेण्हियव्वो पसज्झ...

४—हा० टी० प० ११७ : राजपिण्डो—नृपाहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन।

५—नि० ९.१-२ : जे भिक्खू रायपिंडं गेण्हइ गेण्हंतं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू रायपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा सातिज्जति।

इस प्रसङ्ग में राजा का अर्थ 'मुर्धाभिषिक्त राजा' किया है।

निशीथ-चूर्णि के अनुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य-भोग करता है, उसका पिण्ड नहीं लेना चाहिए। अन्य राजाओं के लिए विकल्प है—दोष की सम्भावना हो तो न लिया जाए और सम्भावना न हो तो ले लिया जाए[1]।

राजघर का सरस भोजन खाते रहने से रस-लोलुपता न बढ़ जाय और 'ऐसा आहार अन्यत्र मिलना कठिन है' यों सोच मुनि अनेषणीय आहार लेने न लग जाय—इन सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर 'राजपिण्ड' लेने का निषेध किया है। यह विधान एषणा शुद्धि की रक्षा के लिए है[2]। ये दोनों कारण उक्त दोनों सूत्रों की चूर्णियों में समान हैं। इनके द्वारा 'किमिच्छक' और 'राजपिण्ड' के पृथक् या अपृथक् होने का निर्णय नहीं किया जा सकता।

निशीथ-चूर्णिकार ने आकीर्ण दोष को प्रमुख बतलाया है। राज प्रासाद में सेनापति आदि आते-जाते रहते हैं। वहाँ मुनि के पात्र आदि फूटने की तथा चोट लगने की सम्भावना रहती है इसलिए 'राजपिण्ड' नहीं लेना चाहिए आदि-आदि[3]।

'निशीथ' के आठवें उद्देशक मे 'राजपिण्ड' से सम्बन्ध रखने वाले छ सूत्र हैं[4] और नवें उद्देशक में बाईस सूत्र हैं[5]। 'दशवैकालिक' में इन सबका निषेध 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' इन दो शब्दों मे मिलता है। मुख्यतया 'राजपिण्ड' शब्द राजकीय भोजन का अर्थ देता है और 'किमिच्छक' शब्द 'अनाथपिण्ड', 'कृपणपिण्ड' और 'वनीपकपिण्ड' (निशीथ ८.१९) का अर्थ देता है। किन्तु सामान्यतः 'राजपिण्ड' शब्द में राजा के अपने निजी भोजन और 'राजसत्क' भोजन—राजा के द्वारा दिए जाने वाले सभी प्रकार के भोजन, जिनका उल्लेख निशीथ के उक्त-सूत्रों में हुआ है—का सग्रह होता है। व्याख्या-काल में 'राजपिण्ड' का दुहरा प्रयोग हो सकता है—स्वतन्त्र रूप में और 'किमिच्छक' के विशेष्य के रूप में। इसलिए हमने 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को केवल विशेष्य-विशेषण न मानकर दो पृथक् अनाचार माना है और 'किमिच्छक' की व्याख्या के समय दोनों को विशेष्य-विशेषण के रूप में सयुक्त भी माना है।

१९. संबाधन (संबाहणा ग) :

इसका अर्थ है—मर्दन। सबाधन चार प्रकार के होते हैं

(१) अस्थि-सुख—हड्डियों को आराम देने वाला।
(२) मांस-सुख—मांस को आराम देने वाला।
(३) त्वक्-सुख—चमड़ी को आराम देने वाला।
(४) रोम-सुख—रोओं को आराम देने वाला[6]।

१—नि० भा० गा० २४९७ चू०।

२—देखिए पृ० ९६ पाद-टि० ३

३—नि० भा० गा० २५०३-२५१०

४—नि० ८ १४-१९

५—नि० ९ १,२,६,८,१०,११,१३ १९,२१ २९

६—(क) अ० चू० सबाधणा अट्ठिसुहा मससुहा तयासुहा रोमसुहा।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ सबाहणा नाम चउव्विहा भवति, तजहा—अट्ठिसुहा मससुहा तयासुहा रोमसुहा एव सबाहण सय न करेइ परेण न कारवेइ करेंतपि अन्न न समणुजाणामि।

(ग) हा० टी० प० ११७ तथा 'सबाधनम्' अस्थिमासत्वग्रोमसुखतया चतुर्विध मर्दन।

२० दत-प्रधावन (दतपहोयणा [ग])

देखिए 'दंतवण' शब्द की टिप्पणी ४५

२१ संप्रच्छन (संपुच्छणा [घ])

'संपुच्छणो' पाठान्तर है। 'संपुच्छणा' का संस्कृत रूप 'संप्रश्न' और 'संपुच्छणो' का संस्कृत 'संप्रोञ्छन' होता है। इस अनाचीर्ण के कई अर्थ मिलते हैं

(१) अपने अंग-अवयवों के बारे में दूसरे से पूछना। जो अङ्ग-अवयव स्वयं न दीख पड़ते हों जैसे आँख, सिर, पीठ आदि उनके बारे में दूसरे से पूछना—ये सुन्दर लगते हैं या नहीं ? मैं कैसा दिखाई दे रहा हूँ ? आदि आदि।

(२) गृहस्थों से सावद्य आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न करना।

(३) शरीर पर गिरी हुई रज को पोंछना लूहना।

(४) अमुक ने यह कार्य किया या नहीं यह दूसरे व्यक्ति (गृहस्थ) के द्वारा पुछवाना।

(५) रोगी (गृहस्थ) से पूछना—तुम कैसे हो कैसे नहीं हो अर्थात् (गृहस्थ) रोगी से कुशल प्रश्न करना।

'अगस्त्य चूर्णि' में प्रथम तीनों अर्थ किये हैं। तीसरा अर्थ 'संपुच्छणो' पाठान्तर मानकर किया है। जिनदास महत्तर ने केवल पहला अर्थ किया है। हरिभद्र सूरि ने पहले दो अर्थ किये हैं[3]। 'सूत्रकृताङ्ग चूर्णि' में पाँचों अर्थ मिलते हैं। शीलाङ्कसूरि ने प्रथम तीन अर्थ किये हैं।

चूर्णिकार और टीकाकार इस शब्द के बारे में संदिग्ध हैं। अतः इसके निर्णय का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता कि यह अनाचार 'संपुच्छण' है या 'संपुच्छणो'। इसके विकल्प से भी कई अर्थ मिलते हैं। इसलिए सूत्रकार का अभिप्राय क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक बात यहाँ अवश्य ध्यान देने योग्य है कि छेद सूत्रों में 'संपुच्छण' के प्रायश्चित्त की कोई चर्चा नहीं मिलती किन्तु शरीर को सँवारने और मैल आदि उतारने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है[6]।

'संपुच्छण' का सम्बन्ध जल्ल-परीषह से होना चाहिए। पंक, रज, मैल आदि को सहना जल्ल-परीषह है।

१—(क) अ चू : संपुच्छणं—जं अंगावयवा सयं न पेच्छति अच्छि-सिर-पिट्ठमादि ते परं पुच्छति—'सोभंति णव त्ति'—अहवा गिहीण सावज्जारंभा कता पुच्छति।

(ख) अ चू : अहवा एवं पाढो 'संपुच्छणो" कहंचि कीं रयं पडितं पुंछति लूहेति।

—जि चू पृ ११३ : संपुच्छणा णाम अप्पणो अंगावयवाणि आपुच्छमाणो परं पुच्छइ।

३—हा टी प ११७ : 'संप्रश्नः'—सावद्यो गृहस्थविषयः राद्यर्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः।

४—सूत्र १.९.२१ चू : संपुच्छणं णाम किं तत्कृतं न कृतं वा पुच्छावेति अन्नेण " गहणं वा पुच्छति—किं ते वट्टति ? ण वट्ट वा ?

५—सूत्र १.९.२१ टी पृ १८२ : तथा गृहस्थगृहे कुशलादिप्रश्नं आत्मीयशरीरावयवप्रश्नं (पुञ्छनं) वा।

६—(क) नि० ३.२२ जे भिक्खू अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा।

(ख) नि ३.६७ जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा।

७—उत्त २.३६-३७ : किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण सायं नो परिदेवए ॥
वेएज्ज निज्जरापेही आरियं धम्मणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए ॥

सवाधन, दत-प्रधावन और देह-प्रलोकन ये सारे शरीर से सम्बन्धित हैं और सपुच्छ(पुछ)ण इनके साथ में है इसलिए यह भी शरीर से सम्बन्धित होना चाहिए। निशीथ के छः सूत्रों से इस विचार की पुष्टि होती है[1]। वहाँ क्रमशः शरीर के प्रमार्जन, संवाधन, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन और रंगने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

२२. देह-प्रलोकन (देहपलोयणा घ) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है दर्पण में रूप निरखना। हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है 'दर्पण आदि' में शरीर देखना[2]। शरीर पात्र, दर्पण, तलवार, मणि, जल, तेल, मधु, घी, फाणित—राब, मद्य और चर्बी में देखा जा सकता है। इनमें शरीर देखना अनाचार है और निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है[3]।

श्लोक ४ :

२३. अष्टापद (अट्ठावए क) :

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने इसके तीन अर्थ किये हैं।

(१) द्यूत[4]।

१—नि० ३ २२-२७ जे भिक्खू अप्पणो काय आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जत वा पमज्जत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो काय सबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, सबाहेंत वा पलिमद्देंत वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो काय तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा, णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा,
मक्खेत वा भिलिंगेंत वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो काय लोद्धेण वा कक्केण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलेंत वा उवट्टेंत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो कायं सीयोदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा,
उच्छोलेंत वा पधोवेंत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो काय फुमेज्ज वा रएज्ज वा, फुमेत वा रएत वा सातिज्जति।

२—(क) अ० चू० पलोयणा अगमगाइ पलोएति 'सोभति ण वा ?'
(ख) जि० चू० पृ० ११३ पलोयणा नाम अद्दागे रूवनिरिक्खण।
(ग) हा० टी० प० ११७ 'देहप्रलोकन च' आदर्शादावनाचरितम्।

३—नि० १३ ३१-४१ जे भिक्खू मत्तए अत्ताण देहइ, देहत वा सातिज्जति।
" " अद्दाए अप्पाण " " " "
" " असीए " " " " "
" " मणिए " " " " "
" " कुड्डापाणे " " " " "
" " तेल्ले " " " " "
" " महुए " " " " "
" " सप्पिए " " " " "
" " फाणिए " " " " "
" " मज्जए " " " " "
" " वसाए " " " " "

४—जि० चू० पृ० ११३ : अट्ठावय जूय भण्णइ।

(२) एक प्रकार का द्यूत।

(३) अर्थ-पद—अर्थ-नीति[1]।

शीलाङ्क सूरि ने सूत्रकृताङ्ग में प्रयुक्त 'अष्टापद' का मुख्य अर्थ—अर्थ-शास्त्र और गौण अर्थ द्यूत-क्रीड़ा किया है[2]।

बहत्तर कलाओं में 'द्यूत'—द्यूत दसवीं कला है और 'अष्टापद'—अष्टापद तेरहवीं कला है[3]। इसके अनुसार द्यूत और अष्टापद एक नहीं हैं।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने 'अष्टापद' का अर्थ द्यूत किया है तथा अगस्त्यसिंह स्थविर और शीलाङ्क सूरि ने उसका अर्थ एक प्रकार का द्यूत किया है। इसे आज की भाषा में शतरंज कहा जा सकता है। द्यूत के साथ द्रव्य की हार-जीत का लगाव होता है अतः वह निर्ग्रन्थ के लिए सम्भव नहीं है। शतरंज का खेल प्रधानतया आमोद-प्रमोद के लिए होता है। वह द्यूत की अपेक्षा अधिक सम्भव है इसलिए इसका निषेध किया है—ऐसा प्रतीत होता है।

निशीथ चूर्णिकार ने 'अष्टापद' का अर्थ संक्षेप में द्यूत या चतुरंग द्यूत किया है और वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ—अर्थ-पद किया है। किसी ने पूछा—भगवन्! क्या सुभिक्ष होगा? श्रमण बोला—मैं निमित्त नहीं जानता पर इतना जानता हूँ कि इस वर्ष प्रभात काल में कुत्ते भी अन्न खाना नहीं चाहेंगे। यह अर्थ-पद है। इसकी ध्वनि यह है कि सुभिक्ष होगा। अगस्त्यसिंह चूर्णि भी इसका अर्थ अर्थ-पद बतलाती है। देखिए पाद टिप्पणी—१ (क)

दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ ही वास्तविक लगता है और चतुरंग शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। मानवेर विल्से ने इस चतुरंग (चतुरंग) शब्द को ही शतरंज का मूल माना है।

मनमथराय ने अष्टापद को शतरंज या उसका पूर्वज खेल माना है। वे लिखते हैं— 'उन दिनों शतरंज का आविष्कार हुआ था या नहीं, इस विषय में कुछ सन्देह है तथापि प्राचीन पाली और संस्कृत-साहित्य में 'अष्टपद' और 'दस-पद' शब्दों का बारम्बार उल्लेख हुआ है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने इसको 'एक प्रकार का जूआ' कहकर अपना पिंड छुड़ाया है। सुमंगल विलासिनी से पता चलता है कि पटरी पर आठ या दस छोटे-छोटे चौकोर खाने बने रहते थे तथा प्रत्येक खाने में एक-एक गोटी होती थी। ऐसी दशा में यह समझना गलत नहीं होगा कि यह एक प्रकार का शतरंज का खेल रहा होगा। कम से कम हम लोग इसे शतरंज का पूर्वज मान सकते हैं। इसका अंग्रेजी नाम 'ड्राफ्ट' है। प्राचीन मिस्र में यह खेल प्रचलित था[6]।"

अन्यतीर्थिक परिव्राजक व गृहस्थ को अष्टापद सिखाने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[7]।

१—(क) अ० चू०: अट्ठावयं जूयप्पकारो। अहवा अट्ठं पयं [illegible] निमित्तत्थं वा अट्ठावयं देति। कहिं लोकाओ? ति पुच्छितो भणति न याणामि आगमेस्स पुण सुणका वि साविज्जहं न भुंजंति।

(ख) हा० टी० प० ११७: 'अष्टापदं' द्यूतम्, अर्थपदं वा—गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम्।

२—सूत्र० १.९.१७ प० १८१: 'अट्ठावयं न सिक्खिज्जा'—अर्थते इत्यर्थो—धनधान्यहिरण्यादिकः पदं—पद्यते गम्यते येनार्थस्तत्पदं—शास्त्रं अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणक्यादिकमर्थशास्त्रं तन्न 'शिक्षेत' नाभ्यसेत्, नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा—'अष्टापदं' द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षेत नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति।

३—समवा० ७२ सू०: लेहं गणियं ''' अट्ठावयं।

४—जि० चू० पृ० ११: अट्ठावयं जूयं। नि० भा० ४२४८ चू० अट्ठापदं चतुरंगेहिं जूयं।

५—नि० भा० गा० ४२८० चू०: अहवा—इमं अट्ठापदं—अण्णे ण वि जाणामो सुद्धो अट्ठावयं इमं वदि।

सुणगा वि साविज्जहं णेच्छन्ति वरं पभातम्मि॥

सुभिक्खो अदुभिक्खो''' "पुच्छितं [illegible] जाणामी [illegible] सुणगा वि [illegible]। अर्थसेन [illegible] सुभिक्खं।

६—प्राचीन भारतीय मनोरंजन पृ० ४८।

७—नि० १३.१२: जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा ''' अट्ठावयं ''' सिक्खावेइ, सिक्खावेंतं वा सा०।

२४. नालिका (नालीय क) :

यह द्यूत का ही एक विशेष प्रकार है। 'चतुर खिलाड़ी अपनी इच्छा के अनुकूल पासे न डाल दे'—इसलिए पासों को नालिका द्वारा डालकर जो जुआ खेला जाये उसे नालिका कहा जाता है[1]। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के अभिमत इससे भिन्न नहीं हैं[2]।

सूत्रकृताङ्ग में 'अट्ठावय' का उल्लेख श्रु० १ अ० ६ के १७ वें श्लोक में और 'णालिय' का उल्लेख १८ वें श्लोक में हुआ है और उसका पूर्ववर्ती शब्द 'छत्र' है[3]। दशवैकालिक में 'णालिय' शब्द 'अट्ठावय' और 'छत्त' के मध्य में है। सम्भव है 'अट्ठावय' की सन्निधि के कारण व्याख्याकारों ने नालिका का अर्थ द्यूत विशेष किया हो किन्तु 'छत्तस्स' के आगे 'धारणट्ठाए' का प्रयोग है। उसकी ओर ध्यान दिया जाए तो 'नालिका' का सम्बन्ध छत्र के साथ जुड़ता है। जिसका अर्थ होगा कि छत्र को धारण करने के लिए नालिका रखना अनाचार है।

भगवान् महावीर साधना-काल में वज्रभूमि में गए थे। वहाँ उन्हें ऐसे श्रमण मिले जो यष्टि और नालिका रखते थे[4]। वृत्तिकार ने यष्टि को देह-प्रमाण और नालिका को देह से चार अगुल अधिक लम्बा कहा है[5]। वे श्रमण कुत्तों से बचाव करने के लिए यष्टि और नालिका रखते थे[6]। भगवान् ने दूसरों को डराने का निषेध किया है[7]। इसलिए सम्भव है स्वतन्त्ररूप से या छत्र धारण करने के लिए नालिका रखने का निषेध किया हो। नालिका का अर्थ छोटी या बड़ी डंडी भी हो सकता है। जहाँ नालिका का उल्लेख है, वहाँ छत्र-धारण, उपानत् आदि का भी उल्लेख है। चरक में भी पदत्र-धारण, छत्र-धारण, दण्ड-धारण आदि का पास-पास में विधान मिलता है।

नालिका नाम घड़ी का भी है। प्राचीन काल में समय की जानकारी के लिए नलीवाली रेत की घड़ी रखी जाती थी। ज्योतिष्करण्ड में नालिका का प्रमाण बतलाया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में नालिका के द्वारा दिन और रात को आठ-आठ भागों में विभक्त करने का निरूपण मिलता है[8]।

नालिका का एक अर्थ मुरली भी है। वास के मध्य में पर्व होते हैं। जिस बांस के मध्य में पर्व नहीं होते, उसे 'नालिका', लोकभाषा में मुरली कहा जाता है[9]।

१—अ० चू० णालिया जूयविसेसो, जत्थ 'मा इच्छित पाडेहिति' त्ति णालियाए पासका दिज्जति।

२—(क) जि० चू० पृ० ११३ पासाओ छोढूण पाणिज्जति, मा किर सिक्खागुणेण इच्छतिए कोई पाडेहिति।

(ख) हा० टी० प० ११७ 'नालिका चे' ति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र मा भूत्कलयाऽन्यथा पाशकपातनमिति नलिकया पात्यन्त इति।

३—सूत्र० १ ६ १८ पाणहाओ य छत्त च, णालीय वालवीयण।

४—आचा० १ ६ ३ ८५ लट्ठिं गहाय नालियं समणा तत्थ य विहरिंसु।

५—आचा० १ ६ ३ ८५ टीका —ततस्तत्रान्ये श्रमणा शाक्यादयो यष्टि—देहप्रमाणां चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजहु रिति।

६—आचा० १ ६ ३ ८५-८६ एलिक्खए जणा भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं समणा तत्थ य विहरिंसु॥
एवंपि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।
सलुञ्चमाणा सुणएहिं दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं॥

७—नि० ११ ६५ जे भिक्खू पर बीभावेति, बीभावेंत वा सातिज्जति।

८—अधिकरण १ प्रकरण १६ नालिकाभिरहरष्टधारात्रिश्च विभजेत्।

९—(क) नि० भा० गा० २३६ छप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य॥

(ख) नि० भा० गा० २३६ चू० पृ० ८४ पव्वए त्ति वसो भण्णति, तस्स मज्झे पव्व भवति, णालिय त्ति अपव्वा भवति, सा पुण लोए 'मुरली' भण्णति।

होना चाहिए, वर्षा या आतप जैसी परिस्थितियों का नहीं। इस बात की पुष्टि स्वय पाठ से ही हो जाती है। यहाँ पाठ में 'छत्तस्स य' के बाद में 'धारणट्ठाए' शब्द और है। 'अट्ठाए' का तात्पर्य—अर्थ या प्रयोजन है। भावार्थ हुआ अर्थ या प्रयोजन से छत्ते का धारण करना अर्थात् धूप या वर्षा से बचने के लिए छत्र का धारण करना अनाचार है[1]।

(२) टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—बिना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है—आगाढ़ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नहीं है[2]। प्रश्न हो सकता है टीकाकार अनर्थ छत्र धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए? इसका स्पष्टीकरण स्वय टीकाकार ने ही कर दिया है। उनके मत से सूत्र पाठ अर्थ की दृष्टि से "छत्तस्स य धारणमणट्ठाए" है। किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत शैली के अनुसार अनुस्वार, अकार और नकार का लोप करने से "छत्तस्स य धारणट्ठाए" ऐसा पद शेष रहा है। साथ ही वह कहते हैं—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जाता रहा है। अत श्रुति-प्रमाण भी इसके पक्ष मे है[3]। इस तरह टीकाकार ने 'अट्ठाए' के स्थान में 'अणट्ठाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है। उनके अनुसार गाढ रोगादि अवस्था में छत्र धारण किया जा सकता है और वह अनाचार नहीं।

(३) आगमों में इस सम्बन्ध में अन्यत्र प्रकाश नहीं मिलता। केवल व्यवहार सूत्र में कहा है· "स्थविरों को छत्र रखना कल्पता है[4]।"

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलता है

(१) वर्षा और आतप निवारण के लिए साधु के द्वारा छत्र धारण करना अनाचार है।

(२) शोभा महिमा के लिए छत्र-धारण करना अनाचार है।

(३) गाढ रोगादि की अवस्था में छत्र धारण करना अनाचार नहीं।

(४) स्थविर के लिए भी छत्र धारण करना अनाचार नहीं।

ये नियम स्थविर कल्पी साधु को लक्ष्यकर किए गए हैं। जिन-कल्पी के लिए हर हालत में छत्र-धारण करना अनाचार है।

छत्ता धारण करने के विषय में बौद्ध-भिक्षुओं के नियम इस प्रकार हैं। नीरोग अवस्था में छत्ता धारण करना भिक्षुणी के लिए दोषकारक था[5]।

भिक्षु पहले छत्ता धारण नहीं करते थे। एक बार सघ को छत्ता मिला। बुद्ध ने छत्ते की अनुमति दी। षड्वर्गीय भिक्षु छत्ता लेकर टहलते थे। उस समय एक बौद्ध उपासक बहुत से यात्री आजीवकों के अनुयायियों के साथ बाग में गया था। उन आजीवक-अनुयायियों ने षड्वर्गीय भिक्षुओं को छत्ता धारण किये आते देखा। देखकर वे उस उपासक से बोले "आवुसो! यह तुम्हारे भदन्त हैं, छत्ता धारण करके आ रहे हैं, जैसे कि गणक महामात्य।" उपासक बोला "आर्यो! ये भिक्षु नहीं हैं, ये परिव्राजक हैं।" पर पास मे आने पर वे बौद्ध-भिक्षु ही निकले। उपासक हैरान हुआ—"कैसे भदन्त छत्ता धारण कर टहलते हैं!" भिक्षुओं ने उपासक के हैरान होने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने नियम किया—"भिक्षुओ! छत्ता न धारण करना चाहिए। यह दुक्कट का दोष है।" बाद में रोगी को छत्ते के धारण की अनुमति दी। बाद में अरोगी को आराम में और आराम के पास छत्ता धारण की अनुमति दी[6]।

१—मिलावे Dasavealiya sutta (K V Abhyankar) 1938 · Notes chap III p 11 "The writer of the vritti translates the word as धारणमर्थाय, and explains it as 'holding the umbrella for a purpose"

२—हा० टी० प० ११७ 'छत्रस्य च' लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मान पर वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढग्लानाद्यालम्बन मुक्त्वाऽनाचरितम्।

३—हा० टी० प० ११७ प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति।

४—व्यव० ८५ थेराण थेरभूमिपत्ताण कप्पइ दडए वा भडए वा छत्तए वा।

५—विनयपिटक भिक्खुनी-पातिमोक्ख · छत्त-वग्ग ऽऽ ४.८४ पृ० ५७

६—विनयपिटक चुल्लवग्ग ५ऽऽ३ ३ पृ० ४३८-३९

२६ चैकित्स्य (तेगिच्छं ग) :

चूर्णिकार और टीकाकार ने चैकित्स्य का अर्थ 'रोगप्रतिकर्म' अथवा 'व्याधिप्रतिक्रिया' किया है[1] अर्थात् रोग का प्रतिकार करना—उपचार करना चैकित्स्य है।

उत्तराध्ययन में कहा है : "रोग उत्पन्न होने पर वेदना से पीड़ित साधु दीनतारहित होकर अपनी बुद्धि को स्थिर करे और उत्पन्न रोग को समभाव से सहन करे। आत्मशोधक मुनि चिकित्सा का अभिनंदन न करे। चिकित्सा न करना और न कराना—यही निश्चय से उसका श्रामण्य है[2]।"

निर्ग्रंथों के लिए निष्प्रतिकर्मता—चिकित्सा न करने का विधान रहा है। यह महाराज बलभद्र, महारानी मृगा और राजकुमार मृगापुत्र के सम्वाद से भी स्पष्ट है। माता पिता ने कहा पुत्र! श्रामण्य में निष्प्रतिकर्मता महान् कष्ट है। तुम उसे कैसे सह सकोगे?" मृगापुत्र बोला : अरण्य में पशु-पक्षियों के रोग उत्पन्न होने पर उनका प्रतिकर्म कौन करता है? कौन उन्हें औषध देता है? कौन उनसे सुख पूछता है? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है? जब वे सहज-भाव से स्वस्थ होते हैं तब भोजन पानी के लिए निकल पड़ते हैं। माता! पिता! मैं भी इस मृग-चर्या को स्वीकार करना चाहता हूँ[3]।"

भगवान् महावीर ने अपने दीर्घ साधना-काल में कभी चैकित्स्य का सहारा नहीं लिया। आचारांग में कहा है : "रोग से स्पृष्ट होने पर भी वे चिकित्सा की इच्छा तक नहीं करते थे[4]।"

उत्तराध्ययन के अनुसार जो चिकित्सा का परित्याग करता है वही भिक्षु है[5]।

१—(क) अ० चू० : तेगिच्छं रोगपडिकम्मं।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : तिगिच्छा नाम रोगपडिकम्मं करेइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : चिकित्सायाः भावश्चैकित्स्यं—व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितम्।

२—उत्त० २.३२-३३ :
नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थहियासए॥
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा संचिक्खत्तगवेसए।
एयं खु तस्स सामण्णं जं न कुज्जा न कारवे।

३—उत्त० १९.७५,७६,७७,७८ :
तं बिंतम्मापियरो छंदेणं पुत्त पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे दुक्खं निप्पडिकम्मया॥
सो बेइ अम्मापियरो एवमेयं जहा फुडं।
पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं॥
जहा मिगस्स आयंको महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि को णं ताहे तिगिच्छई॥
को वा से ओसहं देइ को वा से पुच्छई सुहं।
को से भत्तं च पाणं च आहरित्तु पणामए॥

४—(क) आचा० १.९.४.१ : पुट्ठे वा अपुट्ठे वा णो से सातिज्जति तेइच्छं॥
(ख) आचा० १.९.४.१ [illegible]
[illegible]

५—उत्त० १५.८ : आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है—साधु 'आसूणि' को छोड़े[1]। यहाँ 'आसूणि' का अर्थ घृतादि के आहार अथवा रसायन क्रिया द्वारा शरीर को बलवान बनाना किया गया है[2]।

उक्त सदर्भों के आधार पर जान पड़ता है कि निर्ग्रंथों के लिए निष्प्रतिकर्मता का विधान रहा। पर साथ ही यह भी सत्य है कि साधु रोगोपचार करते थे। द्रव्य औषध के सेवन द्वारा रोग-शमन करते थे। आगमों मे यत्र-तत्र निर्ग थों के औषधोपचार की चर्चा मिलती है।

भगवान् महावीर पर जब गोशालक ने लेश्या का प्रयोग किया तब भगवान् ने स्वय औषध मगाकर उत्पन्न रोग का प्रतिकार किया था[3]। श्रावक के बारहवें व्रत—अतिथि सविभाग व्रत का जो स्वरूप है उसमें साधु को आहार आदि की तरह ही श्रावक औषध-भैषज्य से भी प्रतिलाभित करता रहे ऐसा विधान है[4]।

ऐसी परिस्थिति में सहज ही प्रश्न होता है—जब चिकित्सा एक अनाचार है तो साधु अपना उपचार कैसे करते रहे? सिद्धान्त और आचार में यह असगति कैसे? हमारे विचार में चिकित्सा अनाचीर्ण का अर्थ है—अपनी सावद्य चिकित्सा करना या दूसरे से अपनी सावद्य चिकित्सा करवाना। इसका समर्थन आगमों से भी होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में पुष्प, फल, कन्द-मूल तथा सब प्रकार के बीज साधु को औषध, भैषज्य, भोजन आदि के लिए अग्राह्य बतलाये हैं[5]। क्योंकि ये जीवों की योनियाँ हैं। उनका उच्छेद करना साधु के लिए अकल्पनीय है[6]। ऐसा उल्लेख है कि कोई गृहस्थ मत्रबल, अथवा कन्दमूल, छाल या वनस्पति को खोद या पकाकर मुनि की चिकित्सा करना चाहे तो मुनि को उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करानी चाहिए[7]।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बौद्ध-भिक्षु चिकित्सा में सावद्य-निरवद्य का भेद नहीं रखते थे। बौद्ध-भिक्षुओं को रीछ, मछली, सोंस, सुअर आदि की चर्बी काल से ले, काल से पका, काल से मिला सेवन करने से दोष नहीं होता था। हल्दी, अदरक, वच तथा अन्य भी जड़ वाली दवाइयाँ ले बौद्ध-भिक्षु जीवन भर उन्हें रख सकते थे और प्रयोजन होने पर उनका सेवन कर सकते थे। इसी

१—सूत्र० १ ६ १५ आसूणिमक्खिराग च, ।
, त विज्ज परिजाणिया ॥

२—सूत्र० १ ६ १५ की टीका येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशून सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते।

३—भग० श० १५ पृ० ३६३-४ त गच्छह ण तुम सीहा ! मेंढियगाम नगर, रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ ण रेवतीए गाहावतिणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया; तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमसए, तमाहराहि, एएण अट्ठो। तए ण समणे भगव महावीरे अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने बिलमिव पन्नगभूएण अप्पाणेण तमाहार सरीरकोट्ठगसि पक्खिवति। तए ण समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहार आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायके खिप्पामेव उवसम पत्ते, हट्ठे जाए, आरोग्गे, बलियसरीरे।

४—उपा० १ ५८ कप्पइ मे समणे निग्गथे फासुएण एसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण ओसह-भेसज्जेण च पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

५—प्रश्न० स० ५ पृ० २७२ ण यावि पुप्फफलकदमूलादियाइ सणसत्तरसाइ सव्वधन्नाइ तिहिवि जोगेहिं परिघेत्तु ओसह-भेसज्ज भोयणट्ठाए सजयेण।

६—प्रश्न० स० ५ पृ० २७२ किं कारण जिणवरिंदेहिं एस जोणी जगमाण दिट्ठा ण कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति, तेण वज्जति समणसीहा।

७—आचा० २ २ ३९६ से सिया परो सुद्धेण असुद्धेण वा वइबलेण वा तेइच्छ आउट्टे से सिया परो सुद्धेण असुद्धेण वइबलेण तेइच्छ आउट्टे, से सिया परो गिलाणस्स सचित्ताणि वा कदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणित्तु वा कड्ढित्तु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छ आउट्टाविज्ज णो त सायए णो त णियमे।

'पाणहा' के बाद 'पाए' शब्द है। प्रश्न उठता है जूते पैरों में ही पहने जाते हैं, हाथ में या गले आदि में नहीं। फिर पाणहा पाए'—'पैरों में उपानत्' ऐसा क्यों लिखा ? इसका उत्तर यह है कि गमन निरोग के पैरों से ही हो सकता है। 'पाद' शब्द निरोग शरीर का सूचक है। भाव यह है कि निरोग श्रमण द्वारा 'उपानत्' धारण करना अनाचार है[1]।

बौद्ध-भिक्षुओं के जूता पहनने के नियम के विषय में बौद्ध-आगम 'विनयपिटक' में निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं[2]।

सोण कोटीविंश को अर्हत्व की प्राप्ति हुई उसके बाद बुद्ध बोले—"सोण ! तू सुकुमार है। तेरे लिए एक तल्ले के जूते की अनुमति देता हूँ।" सोण बोला—"यदि भगवान् भिक्षु-संघ के लिए अनुमति दें तो मै भी इस्तेमाल करूँगा, अन्यथा नहीं।" बुद्ध ने भिक्षु-संघ को एक तल्ले वाले जूते की अनुमति दी और एक से अधिक तल्ले वाले जूते के धारण करने में दुक्कट दोष घोषित किया।

बाद में बुद्ध ने पहन कर छोड़े हुए बहुत तल्ले के जूते की भी अनुमति दी। नये बहुत तल्लेवाले जूते पहनना दुक्कट दोष था। आराम में जूते पहनने की मनाही थी। बाद में विशेष अवस्थामें आराम में जूते पहनने की अनुमति दी। पहले बौद्ध-भिक्षु जूते पहनकर गाँव में प्रवेश करते थे। बाद में बुद्ध ने ऐसा न करने का नियम किया। बाद में रोगियों के लिए छूट दी।

बौद्ध-भिक्षु नीले-पीले आदि रंग तथा नीली-पीली आदि पत्तीवाले जूते पहनते। बुद्ध ने दुक्कट का दोष बता उन्हें रोक दिया। इसी तरह एँड़ी ढँकनेवाले पुट-बद्ध, पलि गुंठिम, रुईदार, तीतर के पखों जैसे, भेंड़े के सींग से बँधे, बकरे के सींग से बँधे, बिच्छू के डंक की तरह नोकवाले, मोर-पख सिये, चित्र जूते के धारण में भी बुद्ध ने दुक्कट दोष ठहराया। उन्होंने सिंह चर्म, व्याघ्र-चर्म, चीते के चर्म, हरिण के चर्म, उद्‌बिलाव के चर्म, बिल्ली के चर्म, कालक-चर्म, उल्लू के चर्म से परिष्कृत जूतों को पहनने की मनाही की।

खट-खट आवाज करनेवाले काठ के खड़ाऊँ धारण करने में दुक्कट दोष माना जाता था। भिक्षु ताड़ के पौधों को कटवा, ताड़ के पत्तों की पादुका बनवा कर धारण करते थे। पत्तों के काटने से ताड़ के पौधे सूख जाते। लोग चर्चा करते—शाक्यपुत्रीय श्रमण एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करते हैं। बुद्ध के पास यह बात पहुची। बुद्ध बोले—"भिक्षुओ ! (कितने ही) मनुष्य वृक्षों में जीव का ख्याल रखते हैं। ताल के पत्र की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"

भिक्षु बांस के पौधों को कटवाकर उनकी पादुका बनवा धारण करने लगे। बुद्ध ने उपर्युक्त कारण से रुकावट की। इसी तरह तृण, मंज, बल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल की पादुका के मण्डन में लगे रहनेवाले भिक्षुओं को इनके धारण की मनाही की। स्वर्णमयी, रौप्यमयी, मणिमयी, वैदूर्यमयी, स्फटिकमयी, कांसमयी, काँचमयी, रांगे की, शीशे की, ताँबे की पादुकाओं और कांची तक पहुँचनेवाली पादुका की भी मनाही हुई।

नित्य रहने की जगह पर तीन प्रकार की पादुकाओं के—चलने की, पेशाब-पाखाने की और आचमन की—इस्तेमाल की अनुमति थी।

२८. ज्योति-समारम्भ (समारंभं च जोइणो घ) :

ज्योति अग्नि को कहते हैं। अग्नि का समारम्भ करना अनाचार है[3]। इसी आगम में बाद में कहा है[4]—"साधु अग्नि को

१—(क) अ० चू० उवाहणा पादत्राण पाए। एत किं भगणति ? सामरणे विसेस ण (? विसेसण) जुत्त निस्सामरण पाद एव उवाहणा भवति ण हत्यादौ, भगणति—इसके बाद देखिए पृ० ७६ पाद-टिप्पणी १२ (क)।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ सीसो आह—पाहणागहणेण चेव नज्जइ-जातो पाहणाओ ताओ पाएसु भवति, ण पुण ताओ गलए आविधिज्जति, ता किमत्थ पायग्गहणति, आयरिओ भणइ—इसके बाद देखिए पृ० ७६ पाद-टिप्पणी १२ (ख) का 'पादग्गहणेण' से लेकर 'काल' शब्द तक का अंश।

२—विनयपिटक महावग्ग ५ऽऽ१ ३-११ पृ० २०४ से २०८ तथा महावग्ग ५ऽऽ२ ८ पृ० २११।

३—(क) अ० चू० जोती अग्गी तस्स ज समारभण।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ जोई अग्गी भगणइ, तस्स अग्गिणो ज समारम्भण।

४—दश० ६ ३२-३३

करने वाला प्राणियों की घात करता है और आग बुझाने वाला मुख्यतया अग्निकाय के जीवों की घात करता है। धर्म को सीख मेधावी पण्डित अग्नि का समारभ न करे। अग्नि का समारभ करने वाला पृथ्वी, तृण और काठ में रहनेवाले जीवों का दहन करता है[१]।"

भगवान् महावीर के समय में बड़े-बड़े यज्ञ—होम होते थे। उनसे मोक्ष माना जाता था। उनमें महान् अग्नि समारभ होता था। महावीर ने उनका तीव्र विरोध किया था। उन्होंने कहा—"कई मूढ हुत से—अग्नि-होम से मोक्ष कहते हैं[२]। प्रात:काल और सायकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हुत से—होम से मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि इस प्रकार सिद्धि हो तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुम्हार, लुहार आदि की सिद्धि सहज हो जाए[३]। अग्नि-होम से सिद्धि माननेवाले बिना परीक्षा किये ही ऐसा कहते हैं। इस तरह सिद्धि नहीं होती। ज्ञान प्राप्त कर देखो—त्रस, स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं [४]।"

श्लोक ५ :

२६. शय्यातरपिण्ड (सेज्जायरपिंड [क]) :

'सेज्जायर' शब्द के सस्कृत रूप तीन बनते हैं—शय्याकर, शय्याधर और शय्यातर। शय्या को बनाने वाला, शय्या को धारण करने वाला और श्रमण को शय्या देकर भव-समुद्र को तैरने वाला—ये क्रमश: इन तीनों के अर्थ हैं[५]। यहाँ 'शय्यातर' रूप से अभिप्राय है[६]।

शय्यातर का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ है—वह गृह-स्वामी जिसके घर में श्रमण ठहरे हुए हों[७]।

शय्यातर कौन होता है? कब होता है? उसकी कितनी वस्तुएँ अग्राह्य होती हैं? आदि प्रश्नों की चर्चा भाष्य ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक है। निशीथ-भाष्य के अनुसार उपाश्रय का स्वामी अथवा उसके द्वारा सदिष्ट कोई दूसरा व्यक्ति शय्यातर होता है[८]।

१—सूत्र० १ ७ ६-१७ उज्जालओ पाण निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्म, ण पडिए अगणि समारभिज्जा॥
पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य सपाइम सपयति।
ससेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभन्ते॥

२—सूत्र० १ ७ १२ हुएण एगे पवयति मोक्ख॥

३—सूत्र० १ ७ १८ हुतेण जे सिद्धिमुदाहरति, साय च पाय अगणि फुसता।
एव सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणि फुसताण कुकम्मिणपि॥

४—सूत्र० १ ७ १६ अपरिक्ख दिट्ठ ण हु एव सिद्धी, एहिति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहि जाण पडिलेह सात, विज्ज गहाय तसथावरेहि॥

५—नि० भा० गा० २ ४५-४६ पृ० १३१ सेज्जाकर-दातारा तिण्णि वि जुगव वक्खाणेति—
अगमकरणादगार, तस्स हु जोगेण होति सागारी।
सेज्जा करणा सेज्जाकरो उ दाता तु तद्दाणा॥

"अगमा" रुक्खा, तेहि कत "अगार" घर तेण सह जस्स जोगो सो सागरिउ त्ति भण्णति। जम्हा सो सिज्ज करेति तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। जम्हा सो साहूण सेज्ज ददाति तेण भण्णति सेज्जादाता। जम्हा सेज्ज पडमाणि छज्ज-लेप्पमादीहि धरेति तम्हा सेज्जाधरो अहवा—सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाण णरकादिसु पडत धरेति त्ति तम्हा सेज्जाधरो। सेज्जाए सरक्खण सगोवण, जेण तरति काउ तेण सेज्जातरो। अहवा—तत्थ वसहीए साहुणो ठिता ते वि सारक्खिउ तरति, तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्द तरति त्ति सिज्जातरो।

६—(क) अ० चू० सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण ससार तरति सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।

(ख) जि० चू०पृ० ११३ आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूण ससार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्त भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११७ शय्या—वसतिस्तया तरति ससार इति शय्यातर —साधुवसतिदाता, तत्पिण्ड।

७—हा० टी० प० ११७ पा०-टि० ६ (ग)।

८—नि० भा० गा० ११४४ सेज्जातरो पभू वा, पभुसदिट्ठो व होति कातव्वो।

शय्यातर का पिण्ड लेने का निषेध उद्गम-शुद्धि आदि कई दृष्टियों से किया गया है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ एक वैकल्पिक पाठ माना है—"पाठ विसेसो—'सेज्जातर पिंड च, आसएण परिवज्जए'।" इसके अनुसार—"शय्यातर-पिण्ड लेना जैसे अनाचार है, वैसे ही उसके घर से लगे हुए सात घरों का पिण्ड लेना भी अनाचार है। इसलिए श्रमण को शय्यातर का तथा उसके समीपवर्ती सात घरों का पिंड नहीं लेना चाहिए[2]।"

जिनदास महत्तर ने भी इस पाठान्तर व इसकी व्याख्या का उल्लेख किया है[3]। किन्तु टीका में इसका उल्लेख नही है।

सूत्रकृताङ्ग में 'शय्यातर' के स्थान में 'सागारियपिण्ड' का उल्लेख है[4]। टीकाकार ने इसका एक अर्थ—सागारिक पिण्ड—अर्थात् शय्यातर का पिण्ड किया है[5]।

३०. आसंदी (आसंदी ख) :

यह एक प्रकार के बैठने का आसन है[6]। शीलाङ्क सूरि ने आसन्दी का अर्थ वर्द्धी, मूज, पाट या सन के सूत से गुँथी हुई खटिया किया है[7]। निशीथ-भाष्य-चूर्णि में काष्ठमय आसंदक का उल्लेख मिलता है[8]। जायसवालजी ने भी 'हिन्दू राज्य-तन्त्र' में इसकी चर्चा की है—"आविद् या घोषणा के उपरात राजा काठ के सिंहासन (आसदी) पर आरूढ होता है, जिस पर साधारणत शेर की खाल बिछी रहती है[9]। आगे चलकर हाथी-दात और सोने के सिंहासन बनने लगे थे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था (देखो महाभारत (कुम) शान्ति पर्व ३६, २ ४ १३ १४)। यद्यपि वह (खदिर की) लकडी का बनता था, परन्तु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरण से जान पड़ता है, विस्तृत और विशाल हुआ करता था[10]।"

कोपकार वेत्रासन को आसदी मानते हैं[11]। अथर्ववेद में आसदी का सावयव वर्णन मिलता है—

१५ ३ १ स सवत्सरो मूर्ध्वो अतिष्ठत् त देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥

वह सवत्सर (या सवत्सर भर से ऊपर) खड़ा रहा। उससे देवों ने पूछा व्रात्य तू क्यों खडा है?

१—नि० भा० गा० ११५६, ११६८ तित्थकरपडिकुट्ठो, आणा-अण्णाय-उग्गमो ण सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो॥
थल-देउलियट्ठाण, सति काल दट्ठु दट्ठु तहि गमण।
णिग्गते वसही भुजण, अण्णे उब्भामगा ऽऽउट्टा॥

२— अ० चू० एतम्मि पाढे सेजातरपिंढ इति भणिते किं पुणो भण्णति—"आसण्ण परिवज्जए?" विसेसो दरिसिज्जति—जाणि वि तदासण्णाणि सेज्जातर तुल्लाणि ताणि सत्त वज्जेतव्वाणि।

३— जि० चू० पृ० ११३-४ अहवा एत सुत्त एव पढिज्जइ 'सिज्जातरपिंड च आसन्न परिवज्जए'। सेज्जातरपिंढ च, एतेण चेव सिद्धे ज पुणो आसन्नग्गहण करेइ त जाणिवि तस्स गिहाणि सत्त अणतरासण्णाणि ताणिवि। सेज्जातरतुल्लाणि दट्ठव्वाणि, तेहिंतोवि परओ अन्नाणि सत्त वज्जेयव्वाणि।

४—सूत्र० १ ६ १६ सागरिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया।

५—सूत्र १ ६ १६ टीका प० १८१ 'सागारिक' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहार।

६—(क) अ० चू० ३ ५ आसदी—उपविसण, अ० चू० ६ ५३ आसदी—आसण।
(ख) सूत्र० १ ६ २१ टीका प० १८२ 'आसन्दी' त्यासनविशेष।

७—सूत्र० १ ४ २ १५ टी० प० ११८ 'आसदिय च नवसुत्त'—आसदिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकाम् नव—प्रत्यग्र सूत्रं वल्कवलितं यस्या सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्वध्रचर्मावनद्धां वा।

८—नि० भा० गा० १७२३ चू० आसदगो कट्ठमओ अज्भुसिरो लब्भति।

९—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८।

१०—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८ का पाद-टिप्पण।

११—अ० चि० ३ ३४८ स्याद् वेत्रासनमासन्दी।

शय्यातर कब होता है ? इस विषय में अनेक मत हैं। निशीथ भाष्यकार ने उन सबका संकलन किया है[1]। भाष्यकार का अपना मत यह है कि श्रमण रात में जिस उपाश्रय में रहे, सोए और चरमावश्यक काम करे उसका स्वामी शय्यातर होता है[2]।

शय्यातर के अशन, पान खाद्य स्वाद्य, वस्त्र पात्र आदि अग्राह्य होते हैं। तिनका राख पाट-बाजोट आदि ग्राह्य होते हैं[3]।

1—नि० भा० गा० ११४६-५० चू० : एत्थ अणेगादेस-पच्चासत्तिया आहु।

एक्को भणति—अणुण्णविए उवस्सए सागारिओ भवति।
अण्णो भणति—जता सागारियस्स उग्गहं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता अंगणं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता पादपुंछणं डगलगादि अणुण्णवितं।
अण्णो भणति—जता वसहिं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता दोच्चियादिसंथारं इच्छादि कुडुकम्माए व अहिगाए।
अण्णो भणति—जता सज्झायं आरद्धा काउं।
अण्णो भणति—जता अवमोयं काउं भिक्खाए गता।
अण्णो भणति—जता भुंजिउमारद्धा।
अण्णो भणति—भायणाइं णिक्खित्ताइं।
अण्णो भणति—जता देवसियं आवस्सयं कतं।
अण्णो भणति—रातीए पढमे जामे गते।
अण्णो भणति—बितिए।
अण्णो भणति—ततिए।
अण्णो भणति—चउत्थे।

2—नि० भा० ११४८ चू० : जत्थ रातो ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमावस्सयं कतं तो सेज्जातरो भवति।

3—नि० भा० गा० ११५१-५२ चू० : दुविह चउव्विह छव्विह अट्ठविहो होति बारसविहो वा।
सेज्जातरस्स पिंडो तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥

दुविहं चउव्विहं छव्विहं च एगगाहाए वक्खाणेति—

आहारोवधि दुविधो चिदु असण पाण ओहुवग्गहिओ।
असणादि चउरो ओहे उवग्गहे छव्विधो एसो॥

आहारो उवकरणं च एस दुविहो। से दुवा चउरो त्ति सो इमो—असणं पाणं ओहियं उवग्गहियं च। असणादि चउरो ओहिए उवग्गहिए य एसो छव्विहो।

इमो अट्ठविहो—

असण पाण वत्थ, पात सूचादिया य चउरट्ठा।
असणादी चत्तारी सूयादि चउक्का तिविह॥

असण पाण वत्थ पादे एते चउरो सूयीमादिया—सूयी पिप्पलगो णखरदणी कण्णसोहणयं। इमो बारसविहो—असणादिया चत्तारि वत्थादिया चत्तारि सूयिमादिया चत्तारि एते तिविह चउक्का बारस भवंति।

इमो पुणो अपिंडो— तण-डगल-छार-मल्लग सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी।
सेज्जातरपिंडो ण होति सेहोय सोवहि य॥

लेवादी आदिग्गहणेणं कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिंडो ण भवति। जति सेज्जातरस्स पुणो पूता वा अणण्णवाणिता सवत्थया सो सेज्जातरपिंडो ण भवति।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है—घर में अथवा दो घरों के अन्तर में बैठना[1]। शीलाङ्काचार्य ने भी ऐसा ही अर्थ किया है[2]। बृहत्कल्प-भाष्य में गृहान्तर के दो प्रकार बतलाए हैं—सद्भाव गृह-अन्तर और असद्भाव गृह-अन्तर। दो घरों के मध्य को सद्भाव-गृह-अन्तर और एक ही घर के मध्य को असद्भाव-गृह-अन्तर माना है[3]।

दशवैकालिक सूत्र (५.२.८) में कहा है "गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि कहीं न बैठे"—(गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थई)। 'कहीं' शब्द का अर्थ जिनदास महत्तर ने घर, देवकुल, सभा, प्रपा आदि-आदि किया है[4]। हरिभद्र सूरि ने भी 'कहीं' का ऐसा ही अर्थ किया है[5]।

दशवैकालिक सूत्र (६.५७, ५६) में कहा है "गोचराग्र में प्रविष्ट होने पर जो मुनि घर में बैठता है, वह अनाचार को प्राप्त होता है, अत उसका वर्जन करना चाहिए।"

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'गृहान्तर' शब्द का अर्थ उपाश्रय से भिन्न घर किया है[6]। सूत्रकृताङ्ग (१.६.२६) में कहा है : "साधु पर-गृह में न बैठे (परगेहे ण णिसीयए)। यहाँ गृहान्तर के स्थान में 'पर-गृह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शीलाङ्क सूरि ने 'पर-गृह' का अर्थ गृहस्थ का घर किया है[7]।

उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ श्रमण ठहरा हुआ हो उस स्थान के लिए 'स्व-गृह' और उसके अतिरिक्त घरों के लिए 'पर-गृह' शब्द का प्रयोग किया गया है[8]। दशवैकालिक में भी 'परागार' शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। उक्त सन्दर्भों के आधार पर 'गृहान्तर' का अर्थ 'पर-गृह'—उपाश्रय से भिन्न गृह होता है। यहाँ 'अन्तर' शब्द बीच के अर्थ में नहीं है किन्तु 'दूसरे के' अर्थ में प्रयुक्त है—जैसे—रूपान्तर, अवस्थान्तर आदि। अत "दो घरों के अन्तर में बैठना" यह अर्थ यहाँ नही घटता।

'गृहान्तर-निषद्या' का निषेध 'गोचराग्र-प्रविष्ट' श्रमण के लिए है, या साधारण स्थिति में, इसकी चर्चा अगस्त्यसिंह स्थविर ने नहीं की है और आगम में गोचाराग्र-प्रविष्ट मुनि के लिए यह अनाचार है, यह स्पष्ट है।

१—(क) जि० चू० पृ० ११४ गिह चेव गिहतर तमि गिहे निसेज्जा न कप्पइ, निसेज्जा णाम जमि निसत्थो अच्छइ, अहवा दोण्ह गिहाण अतरे, एत्थ गोचरग्गगतस्स णिसेज्जा ण कप्पइ, चकारग्गहणेण निवेसणवाडगादि सूइया, गोयरग्गगतेण न णिसियव्वति।

(ख) हा० टी० प० ११७ तथा गृहान्तरनिषद्या अनाचरिता, गृहमेव गृहान्तर गृहयोर्वा अपान्तराल तत्रोपवेशनम्, च शब्दात्पाटकादिपरिग्रह।

२—सूत्र० १.६.२१ टीका प० १८२ णिसिज्ज च गिहतरे—गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्या वाऽऽसन वा सयमविराधनाभयात्परिहरेत्।

३—बृहत्० भा० गा० २६३१ सब्भावमसब्भाव, मज्झमसब्भावतो उ पासेण।
निव्वाहिमनिव्वाहि, ओकमइतेछ सब्भाव॥

मध्य द्विधा—सद्भावमध्यमसद्भावमध्य च। तत्र सद्भावमध्य नाम—यत्र गृहपतिगृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डिकयेत्यर्थ, "ओकमइतेछ" त्ति गृहस्थानाम् ओक—गृह सयता सयताना च गृहस्था मध्येन यत्र 'अतियन्ति' प्रविशन्ति उपलक्षणत्वाद् निर्गच्छन्ति वा तदेतदुभयमपि सद्भावत—परमार्थतो मध्य सद्भावमध्यम्।

४—जि० चू० पृ० १९५ गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्व कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि।

५—हा० टी० प० १८४ भिक्षार्थं प्रविष्ट 'नोपविशेत् "क्वचिद्" गृहदेवकुलादौ।

६—अ० चू० गिहतर पडिस्सपातो बाहिं ज गिह गेयतीति गिह, गिह अतर च गिहतर गिहतरनिसेज्जा ज उवविट्ठो अच्छति, च सद्देण वाडगसाहि-निवेसणादीछ।

७—सूत्र० १.६.२६ टीका प० १८४ साधुर्भिक्षादिनिमित्त ग्रामादौ प्रविष्ट सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृह परगृह तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत्।

८—उत्त० १७.१८ सय गेह परिच्चज्ज परगेहसि वावरे।
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

९—(क) दश० ८.१९ पविसित्तु परागार पाणट्ठा भोयणस्स वा।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ अगार गिह भण्णइ, परस्स अगार परागार।

(ग) हा० टी० प० २३१ 'पविसित्तु' सूत्रं, प्रविश्य 'परागार' परगृह।

२—जिनदास महत्तर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के साथ अन्नपानादि का सविभाग करना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों का आदर करना, उनका प्रीतिजनक असयम की अनुमोदना करने वाला उपकार करना[1]।

हरिभद्र सूरि ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ को अन्नादि देना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के उपकार के लिए उनके कर्म को स्वय करना[2]।

अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन मे 'वैयापृत्य' का प्रयोग उपकार करने की व्यापक प्रवृत्ति में हुआ है—ऐसा लगता है और जिनदास महत्तर तथा हरिभद्र सूरि की व्याख्या से ऐसा लगता है कि इसका यहाँ प्रयोग—अन्नपान के सविभाग के अर्थ में हुआ है।

सूत्रकृताङ्ग (१ ६) में इस अनाचार का नामोल्लेख नहीं मिलता, पर लक्षण रूप से इसका वर्णन वहाँ आया है। वहीं श्लोक २३ में कहा है—"भिक्षु अपनी सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अन्नपान ग्रहण करता है उसे दूसरों को—गृहस्थों को—देना अनाचार है[3]।"

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में 'वेयावडिय' शब्द दो जगह व्यवहृत है[4]। वहाँ इसका अर्थ अनिष्ट निवारण के लिए अर्थात् परिचर्या के लिए व्यापृत होना है। अध्यापक की बात सुन बहुत से कुमार दौड आये और भिक्षा के लिए यज्ञवाडे मे आये, ऋषि हरिकेशी को दण्ड, बेंत और चाबुक से मारने लगे। ऋषि हरिकेशी का 'वैयापृत्य' करने के लिए यक्ष कुमारों को रोकने लगा[5]। यक्ष ने कुमारों को बुरी तरह पीटा। पुरोहित ने मुनि से माफी मांगी। उसने कहा—"ऋषि महाकृपालु होते हैं। वे कोप नहीं करते।" ऋषि बोले—"मेरे मन में न तो पहले द्वेष था न अब है और न आगे होगा, किन्तु यक्ष मेरा 'वैयापृत्य' करता है, उसीने इन कुमारों को पीटा है[6]।" आगमों में 'वेयावच्च' शब्द भी मिलता है[7]। इसका सस्कृत रूप 'वैयावृत्त्य' है। इसका अर्थ

१—(क) जि० चू० पृ० ११४ गिहिवेयावडीय ज गिहीण अण्णपाणादीहिं विसूरताण विसविभागकरण, एथ वेयावडिय भण्णइ।
(ख) वही पृ० ३७२ गिह-पुत्तदार त जस्स अत्थि सो गिही, एगवयण जातीअत्थसवदिस्सति, तस्स गिहिणो "वेयावडिय न कुज्जा" वेयावडिय नाम तथाऽऽदरकरण, तेसिं वा पीतिजणण, उपकारक असजमाणुमोदण ण कुज्जा।

२—(क) हा० टी० प० ११७ व्यावृत्तभावो—वैयावृत्त्य, गृहस्थ प्रति अन्नादिसपादनम्।
(ख) हा० टी० प० २८१ 'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्त्य' गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभाव न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेय समायोजनदोषात्।

३—सूत्र० १ ६ २३ जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाण तहाविह।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, त विज्ज परिजाणिया॥

४—उत्त० १२ २४,३२
एयाइ तीसे वयणाइ सोच्चा पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति॥
पुव्विं च इण्हिं च अणागय च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडिय करेन्ति तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

५—उत्त० १२ २४ बृ० प० ३६५ वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।

६—उत्त० १२ ३२ बृ० प० ३६७ वैयावृत्त्य प्रत्यनीक प्रतिघात रूपम्।

७—(क) उत्त० २९ ४३ वेयावच्चेण भन्ते जीवे किं जणयइ। वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबन्धइ।
(ख) उत्त० ३० ३० पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥
(ग) स्था० ५ ३ ४११ टी० प० ३४६ वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणणिमित्त।
अण्णाइयाण विहिणा सपायणमेस भावत्थो॥
(घ) भग० २५ ७ पृ० २८०
(ङ) औप० सू० ३० पृ० २६

इन सब आधारों पर ही यहाँ 'गृहान्तर निषद्या' का अर्थ—'भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना'[1] केवल इतना ही किया है।

अवकाश में शयन-गृह, रसोई-घर, पानी-घर, स्नान-गृह आदि ऐसे स्थानों को जहाँ बैठना श्रमण के लिए उचित न हो गृहान्तर या अन्तर घर माना है[2]।

निशीथ और उत्तराध्ययन[3] में 'गिहि निसेज्जा' (गृही निषद्या) शब्द मिलता है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ पलंग आदि शय्या किया है[4]। इसलिए यह गृहान्तर से भिन्न अनाचार है।

यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि रोगी-वृद्ध-तपस्वी के लिए 'गृहान्तर निषद्या' अनाचार नहीं है। प्रस्तुत आगम (६.५९) और सूत्रकृताङ्ग[5] के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

'गृहान्तर निषद्या' को अनाचार क्यों कहा इस विषय में दशवैकालिक (६.५७-५९) में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ कहा है : "इससे ब्रह्मचर्य को विपत्ति होती है। प्राणियों का अवध काल में वध होता है। दीन भिक्षार्थियों को बाधा पहुँचती है। गृहस्थों को क्रोध उत्पन्न होता है। कुशील की वृद्धि होती है।" इन सब कारणों से 'गृहान्तर निषद्या' का वर्जन है।

३३ गात्र-उद्वर्तन (गायस्सुव्वट्टणाणि घ) :

शरीर में पीठी (उबटन) आदि का मलना गात्र-उद्वर्तन कहलाता है[6]। इसी आगम में (६.६४-६७) में विभूषा—शरीर-शोभा—को वर्जनीय बताकर उसके अन्तर्गत गात्र-उद्वर्तन का निषेध किया गया है। वहाँ कहा गया है : "संयमी पुरुष स्नान-चूर्ण कल्क लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीर के उबटन के लिए कदापि सेवन नहीं करते। शरीर विभूषा सावद्य-बहुल है। इससे गाढ़ कर्म-बन्धन होता है।' इस अनाचीर्ण का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग में भी हुआ है[7]।

श्लोक ६

३४ गृहि-वैयापृत्य (गिहिणो वेयावडियं क)

'वेयावडियं' शब्द का संस्कृत रूप 'वैयापृत्य' होता है[8]। गृहि-वैयापृत्य को यहाँ अनाचरित कहा है। इसी सूत्र की दूसरी चूलिका के ९ वें श्लोक में स्पष्ट निषेध है—"गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा"—मुनि गृहियों का वैयापृत्य न करे।

उपर्युक्त दोनों ही स्थलों पर चूर्णिकार और टीकाकार की व्याख्याएँ प्राप्त हैं। उनका सार नीचे दिया जाता है :

१—अगस्त्यसिंह स्थविर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ का उपकार करने में प्रवृत्त होना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहि-व्यापारकरण—गृहस्थ का व्यापार करना अथवा उसका असंयम की अनुमोदना करनेवाला प्रीतिजनक उपकार करना[9]।

१—सन्देह विषौषधी पत्र १८।

२—नि० १२.१२ : जे भिक्खू गिहिणिसेज्जं वाहेइ वाहेंतं वा सातिज्जति।

३—उत्त० १७.१९ : गिहिनिसेज्जं च वाहेइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

४—बृहद् वृत्ति : गृहिणां निषद्या पर्यङ्क तूल्यादि रूपा।

५—सूत्र० १.९.२९ : नन्नत्थ अंतराएणं परगेहे ण णिसीयए।

६—(क) अ० चू० : गातं सरीरं तस्स उव्वट्टणं अब्भंगणुव्वलणादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : गातं नाम सरीरं भण्णइ तस्स उव्वट्टणं न कप्पइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : गात्रस्य-कायस्योद्वर्तनानि।

७—सूत्र० १.९.१५ : आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

८—हा० टी० प० ११७ : गृहस्थस्य 'व्यापृत्यम्'।

९—(क) अ० चू० : गिहीणं वेयावडियं जं तेसिं उवकारे वट्टति।
(ख) वही : गिहीणो वयावडियं नाम तव्वावारकरणं तप्पीतिजणणं उवकारं असंजमाणुमोयणं ण कुज्जा।

२—कुल का अर्थ उग्रादिकुल अथवा पितृपक्ष है[१]। कुल का आश्रय लेकर अर्थात् कुल बतलाकर आजीविका करना कुलाजीव-वृत्तिता है।

३—कर्म का अर्थ कृषि आदि कर्म हैं। आचार्यादि से शिक्षण पाये बिना किये जानेवाले कार्य कर्म कहे जाते हैं। जो कृषि आदि में कुशल हैं, उन्हें अपनी कर्म-कुशलता की बात कह आहारादि प्राप्त करना कर्माजीववृत्तिता है[२]।

४—बुनना, सिलाई करना आदि शिल्प हैं। शिक्षण द्वारा प्राप्त कौशल शिल्प कहा जाता है। जो शिल्प में कुशल हैं, उन्हें अपने शिल्प-कौशल की बात कह आहारादि प्राप्त करना शिल्पाजीववृत्तिता है[३]।

५—लिङ्ग वेष को कहते हैं। अपने लिङ्ग का सहारा ले आजीविका करना लिङ्गाजीववृत्तिता है[४]।

६—गण का अर्थ मल्लादि गण (गण-राज्य) है। अपनी गणविद्याकुशलता को बतलाकर आजीविका करना गणाजीववृत्तिता है[५]।

७—अपने तप के सहारे अर्थात् अपने तप का वर्णन कर, आजीविका प्राप्त करना तप-आजीववृत्तिता है[६]।

८—श्रुत का अर्थ है शास्त्रज्ञान। श्रुत के सहारे अर्थात् अपने श्रुत ज्ञान का बखान कर आजीविका प्राप्त करना श्रुताजीव-वृत्तिता है[७]।

जाति आदि का कथन दो तरह से हो सकता है (१) स्पष्ट शब्दों में अथवा (२) प्रकारान्तर से सूचित कर। दोनों ही प्रकार से जात्यादि का कथन कर आजीविका प्राप्त करना आजीववृत्तिता है[८]।

साधु के लिए आजीववृत्तिता अनाचार है। मैं अमुक जाति, कुल, गण का रहा हूँ। अथवा अमुक कर्म या शिल्प करता था अथवा मैं बड़ा तपस्वी हूँ अथवा बहुश्रुत हूँ—यह स्पष्ट शब्दों में कहकर या अन्य तरह से जताकर यदि भिक्षु आहार आदि प्राप्त करता है तो आजीववृत्तिता अनाचार का सेवन करता है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"जो भिक्षु निष्किंचन और सुरूक्षवृत्ति होने पर भी मान-प्रिय और स्तुति की कामना करनेवाला है उसका सन्यास आजीव है। ऐसा भिक्षु मूल-तत्त्व को न समझता हुआ भव-भ्रमण करता है[९]।"

१—(क) पि० नि० ४३८ टी० कुलम्—उग्रादि अथवा पितृसमुत्थ कुलम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० एत्र सप्तविधम् आजीव य उपजीवति—जीवनार्थमाश्रयति, तद्यथा—जातिं कुलं चात्मीय लोकेभ्य कथयति।

२—पि० नि० ४३८ टी० कर्म—कृष्यादि 'अन्ये त्वाहु'—अनाचार्योपदिष्ट कर्म।

३—(क) पि० नि० ४३८ टी० शिल्प—तूर्णादि—तूर्णनसीवनप्रभृति। आचार्योपदिष्ट तु शिल्पमिति।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० कर्मशिल्पकुशलेभ्य कर्मशिल्पकौशल कथयति।
(ग) नि० भा० गा० ४४१२ चू० कम्मसिप्पाण इमो विसेसो—विणा आयरिओवदेसेण ज कज्जति तणहारगादि त कम्म, इतर पुण ज आयरिओवदेसेण कज्जति त सिप्प।

४—स्था० ५ १ ४०७ टी० प० २८६ लिङ्ग—साधुलिङ्ग तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयतीत्यर्थ।

५—(क) पि० नि० ४३८ टी० गण—मल्लादिवृन्दम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्व कथयति।

६—व्य० भा० २५३ टी० तपस उपजीवना तप कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्य कथयति।

७—व्य० भा० २५३ टी० श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति स कुशील।

८—(क) पि० नि० ४३७ सूयाए असूयाए व अप्पाण कहेहि एक्केक्के।
(ख) इसी सूत्र की टीका—सा चाऽऽजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा—सूचया आत्मान कथयति, असूचया च, तत्र 'सूचा' वचनं भङ्गिविशेषेण कथनम्, 'असूचा' स्फुटवचनेन।
(ग) स्था० ५ १ ४०७ टी० प० २८६ सूचया—व्याजेनासूचया—साक्षात्।

९—सूत्र० १ १३ १२ णिक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारव होइ सलोगगामी।
आजीवमेय तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेति॥

है—साधु को शुद्ध आहारादि से सहारा पहुँचाना[1]। दिगम्बर साहित्य में अतिथि-संविभाग व्रत का नाम वैयावृत्त्य है। इसका अर्थ दान है[2]। कौटलीय अर्थ शास्त्र में वैयावृत्त्य और वैयापृत्य दोनों शब्द मिलते हैं। वैयावृत्त्य का अर्थ परिचर्या[3] और वैयापृत्य का अर्थ फुटकर बिक्री है[4]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थ को आहारादि का संविभाग देना तथा गृहस्थों की सेवा करना—ये दोनों भाव 'गिहिणो वेयावडियं' अनाचार में समाए हुए हैं।

३५ आजीववृत्तिता (आजीववित्तिया [ख])

'आजीव' शब्द का अर्थ है—आजीविका के उपाय या साधन[5]। स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिङ्ग ये पाँच आजीव हैं[6]। पिण्ड निर्युक्ति, निशीथ-भाष्य आदि ग्रन्थों में 'लिङ्ग' के स्थान पर 'गण' का उल्लेख मिलता है[7]। व्यवहार भाष्य में तप और श्रुत इन दो को भी 'आजीव' कहा है[8]। इनसे—जाति आदि से—जीवन निर्वाह करने की वृत्ति को 'आजीववृत्तिता' कहते हैं[9]। आजीविका के साधन जाति आदि भेदों के आधार से आजीववृत्तिता के निम्न आठ प्रकार होते हैं—

१—जाति का अर्थ ब्राह्मण आदि जाति अथवा मातृपक्ष होता है। अपनी जाति का आश्रय लेकर अर्थात् अपनी जाति बताकर आहारादि प्राप्त करना जात्याजीववृत्तिता है[10]।

१—(क) अग० चू० पृ० ६०।
(ख) स्था० ५.१.४११ टी० प० ३३१ : व्यावृत्तभावो वैयावृत्त्यं धर्मसाधनार्थं अन्नादिदानमित्यर्थः।
(ग) स्था० ३.१.१८८ टी० प० १४५ : व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं—भक्तादिभिरुपष्टम्भः।
(घ) औप० टी० पृ० ८१ : 'वेयावच्चे' त्ति—वैयावृत्त्यं भक्तपानादिभिरुपष्टम्भः।
(ङ) उत्त० ३.३३ बृ० प० १०८ : व्यावृत्तभावो वैयावृत्त्यम् उचित आहारादि सम्पादनम्।

२—रत्नकरण्ड श्रावकाचार १११ : दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

३—कौटलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २ प्रकरण ३१.२ : षड्वैयावृत्त्यकाराणामर्थक्षयः। व्याख्या—षड्वैयावृत्त्यकाराणां तस्य वैयावृत्त्यकारा: विक्षेपेण आसमन्तात् वर्तन्त इति। व्यावृत: परिचारकः तस्य कर्म वैयावृत्त्यं परिचर्या तद् कुर्वन्त: परिचारकाः तेषां अर्थक्षयः।
वैयावृत्त्य शब्द का प्रयोग कौ० अ० चतुर्थ अधिकरण प्रकरण ३.११ में भी मिलता है।

४—वही अधिकरण २ प्रकरण १२.३८ : वैयापृत्यविक्रयस्तु। व्याख्या—व्यापृतो व्यापृतस्तस्य कर्म वैयापृत्यं वैयापृत्यकरा इति पृ तत्र पाठे यथा कर्म करार्थता तथा व्याख्यातमवसेयम्।

५—(क) सूत्र० १.१३.१२ टी० प० २३९ : आजीवम्—आजीविकाम् आत्मवर्तनोपायम्।
(ख) सूत्र० १.१३.१५ टी० प० २४० : आ—समन्तादाजीवन्त्यनेन इति आजीवः।

६—स्था० ५.१.३७० : पंच विधे आजीविते पं० तं० जातिआजीवे कुलाजीवे कम्माजीवे सिप्पाजीवे लिंगाजीवे।

७—(क) पि० नि० ४३७ : जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा
(ख) नि० भा० गा० ४४११ : जाती-कुल-गण-कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।
(ग) स्था० ५.१.३७० टी० प० २८८ : लिङ्गस्थानेऽन्यत्र गणोऽधीयते।
(घ) अ० चू० ; जि० चू० पृ० ११३ : 'जाती कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंच विहा।

८—व्य० भा० ५.१ : जाती कुले गणे वा कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।
सत्तविहं आजीवं उवजीवइ जो कुसीलो उ॥

९—हा० टी० प० ११ : जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनम् आजीवः तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता—जात्याद्याजीवनेनात्मपालनमित्यर्थः, इयं चानाचरिता।

१०—(क) पि० नि० ४३८ टी० : जाति—ब्राह्मणादिका……अथवा मातृ समुत्था जातिः।
(ख) स्था० ५.१.३७० टी० प० २८८ : जाति—ब्राह्मणादिकाम् आजीवति—उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति जात्याजीवकः, एवं सर्वत्र।

२—कुल का अर्थ उग्रादिकुल अथवा पितृपक्ष है[1]। कुल का आश्रय लेकर अर्थात् कुल बतलाकर आजीविका करना कुलाजीववृत्तिता है।

३—कर्म का अर्थ कृषि आदि कर्म हैं। आचार्यादि से शिक्षण पाये बिना किये जानेवाले कार्य कर्म कहे जाते हैं। जो कृषि आदि में कुशल हैं, उन्हें अपनी कर्म-कुशलता की बात कह आहारादि प्राप्त करना कर्माजीववृत्तिता है[2]।

४—बुनना, सिलाई करना आदि शिल्प हैं। शिक्षण द्वारा प्राप्त कौशल शिल्प कहा जाता है। जो शिल्प में कुशल हैं, उन्हें अपने शिल्प-कौशल की बात कह आहारादि प्राप्त करना शिल्पाजीववृत्तिता है[3]।

५—लिङ्ग वेष को कहते हैं। अपने लिङ्ग का सहारा ले आजीविका करना लिङ्गाजीववृत्तिता है[4]।

६—गण का अर्थ मल्लादि गण (गण-राज्य) है। अपनी गणविद्याकुशलता को बतलाकर आजीविका करना गणाजीववृत्तिता है[5]।

७—अपने तप के सहारे अर्थात् अपने तप का वर्णन कर, आजीविका प्राप्त करना तप-आजीववृत्तिता है[6]।

८—श्रुत का अर्थ है शास्त्रज्ञान। श्रुत के सहारे अर्थात् अपने श्रुत ज्ञान का बखान कर आजीविका प्राप्त करना श्रुताजीववृत्तिता है[7]।

जाति आदि का कथन दो तरह से हो सकता है : (१) स्पष्ट शब्दों में अथवा (२) प्रकारान्तर से सूचित कर। दोनों ही प्रकार से जात्यादि का कथन कर आजीविका प्राप्त करना आजीववृत्तिता है[8]।

साधु के लिए आजीववृत्तिता अनाचार है। मैं अमुक जाति, कुल, गण का रहा हूँ। अथवा अमुक कर्म या शिल्प करता था अथवा मैं बड़ा तपस्वी हूँ अथवा बहुश्रुत हूँ—यह स्पष्ट शब्दों में कहकर या अन्य तरह से जताकर यदि भिक्षु आहार आदि प्राप्त करता है तो आजीववृत्तिता अनाचार का सेवन करता है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"जो भिक्षु निष्किंचन और सुरूक्षवृत्ति होने पर भी मान-प्रिय और स्तुति की कामना करनेवाला है उसका सन्यास आजीव है। ऐसा भिक्षु मूल-तत्त्व को न समझता हुआ भव-भ्रमण करता है[9]।"

१—(क) पि० नि० ४३८ टी० कुलम्—उग्रादि अथवा पितृसमुत्थ कुलम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० एव सप्तविधम् आजीव य उपजीवति—जीवनार्थमाश्रयति, तद्यथा—जाति कुल चात्मीय लोकेभ्य कथयति।

२—पि० नि० ४३८ टी० कर्म—कृष्यादि. 'अन्ये त्वाहु —अनाचार्योपदिष्ट कर्म।

३—(क) पि० नि० ४३८ टी० शिल्प—तूर्णादि—तूर्णनसीवनप्रभृति। आचार्योपदिष्ट तु शिल्पमिति।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० कर्मशिल्पकुशलेभ्य कर्मशिल्पकौशल कथयति।
(ग) नि० भा० गा० ४४१२ चू० कम्मसिप्पाण इमो विसेसो—विणा आयरिओवदेसेण ज कज्जति तणहारगादि त कम्म, इतर पुण ज आयरिओवदेसेण कज्जति त सिप्प।

४—स्था० ५ १ ४०७ टी० प० २८६ लिङ्ग —साधुलिङ्ग तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयतीत्यर्थ।

५—(क) पि० नि० ४३८ टी० गण —मल्लादिवृन्दम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्व कथयति।

६—व्य० भा० २५३ टी० तपस उपजीवना तप कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्य कथयति।

७—व्य० भा० २५३ टी० श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति स कुशील।

८—(क) पि० नि० ४३७ सूयाए असूयाए व अप्पाण कहेहि एक्केक्के।
(ख) इसी सूत्र की टीका—सा चाऽऽजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा—सूचया आत्मान कथयति, असूचया च, तत्र 'सूचा' वचनं भङ्गिविशेषेण कथनम्, 'असूचा' स्फुटवचनेन।
(ग) स्था० ५ १ ४०७ टी० प० २८६ सूचया—व्याजेनासूचया—साक्षात्।

९—सूत्र० १ १३ १२ णिक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारव होइ सलोगगामी।
आजीवमेय तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥

दश० ५ २ २२ में 'वियड वा तत्तनिव्वुड' और ८६ में 'उसिणोदग तत्तफासुय'—इन दोनों स्थलों में क्रमश तप्तानिर्वृ त जल का निषेध और तप्तप्रासुक जल का विधान है। किन्तु प्रस्तुत स्थल में तप्तानिर्वृ त के साथ भोजिल्ल शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए इसका सम्बन्ध भक्त और पान दोनों से है। इसलिए एक बार भुने हुए शमी—धान्य को लेने का निषेध किया गया है[१]। गर्म होने के बाद ठडा हुआ पानी कुछ समय में फिर सचित्त हो जाता है उसे भी 'तप्तानिर्वृ त' कहा गया है।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार ग्रीष्म काल में एक दिन-रात के बाद गर्म पानी फिर सचित्त हो जाता है। तथा हेमन्त और वर्षा-ऋतु में पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त हो जाता है[२]। जिनदास महत्तर का भी यही अभिमत रहा है। टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नहीं की है। ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में अचित्त वस्तु के फिर से सचित्त होने का वर्णन मिलता है। जल की योनि अचित्त भी होती है[३]।

सूत्रकृताङ्ग (२ ३ ५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते हैं—वात-योनिक और उदक-योनिक। उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं। वे सचित्त उदक में ही पैदा हों, अचित्त में नहीं हो ऐसे विभाग का आधार नहीं मिलता क्योंकि वह अचित्त-योनिक भी है। इसलिए यह सूक्ष्म दृष्टि से विमर्शनीय है। प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्व का है।

भगवान् महावीर ने कहा है[४]—"साधु के सामने ऐसे अवसर, ऐसे तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं—'अन्य दर्शनियों द्वारा मोक्ष का सम्बन्ध खाने-पीने के साथ नहीं जोड़ा गया है और न सचित्त अचित्त के साथ। पूर्व में तप तपने वाले तपोधन कच्चे जल का सेवन कर ही मोक्ष प्राप्त हुए। वैसे ही नमि आहार न कर सिद्ध हुए और रामगुप्त ने आहार कर सिद्धि प्राप्त की। बाहुक कच्चा जल पीकर सिद्ध हुए और तारागण ऋषि ने परिणत जल पीकर सिद्धि प्राप्त की। आसिल ऋषि, देविल ऋषि तथा द्वैपायन और पराशर जैसे जगत विख्यात और सर्व सम्मत महापुरुष कच्चे जल, बीज और हरि वनस्पति का भोजन कर सिद्ध हो चुके हैं'।" उन्होने पुन कहा है—"यह सुनकर मन्द बुद्धि साधु उसी प्रकार विषादादि को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कि बोझ आदि से लदा हुआ गधा, अथवा अग्नि आदि उपद्रवों के अवसर पर लकड़ी के सहारे चलने वाला लूला पुरुष।" महावीर के उपदेश का सार है कि अन्य दर्शनियों के द्वारा सिद्धान्तों की ऐसी आलोचना होने पर घबराना नहीं चाहिए। उत्तराध्ययन में कहा है—"अनाचार से घृणा करने वाला

१—दश० ५ २ २०

२—(क) अ० चू० अहवा तत्त पाणित पुणो सीतलीभूत आउक्कायपरिणाम जाति त अपरिणय अणिव्वुड गिम्हे अहोरतेण सच्चित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु पुव्वण्हे कत अवरण्हे।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ तत्त पाणीय त पुणो सीतलीभूतमनिव्वुड भण्णइ, त च न गिम्हे, रत्ति पज्जुसिय सचित्तीभवइ, हेमतवासासु पुव्वण्हे कय अवरण्हे सचित्ती भवति, एव सचित्त जो भुजइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ।

३—स्था० ३ १ १४० तिविहा जोणी पण्णत्ता तजहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया। एव एगिंदियाण विगलिंदियाण समुच्छिमपचिंदियतिरिक्खजोणियाण समुच्छिममणुस्साण य।

४—सूत्र० १ ३ ४ १-५
आहसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मदो विसीयति॥
अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुजिआ।
बाहुए उदग भोच्चा, तम्हा नारायणे रिसी॥
असिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥
एते पुव्व महापुरिसा, अहिता इह समता।
भोच्चा बीओदग सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअ॥
तत्थ मदा विसीअति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पति, पिट्ठसप्पी य सभमे॥

शक्तिमान् संयमी प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त जल का सेवन न करे किन्तु प्रासुक पानी की गवेषणा करे। निर्जन मार्ग से जाता हुआ मुनि तीव्र प्यास से व्याकुल हो जाय तथा मुँह सूखने लगे तो भी दीनतारहित होकर कष्ट सहन करे[१]।'

३७ आतुर-स्मरण (आउरस्सरणाणि [ख])

सूत्रकृताङ्ग में केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग मिलता है[२]। पर वहाँ चर्चित विषय की समानता से[३] यह स्पष्ट है कि 'सरण' शब्द से आउरस्सरण ही अभिप्रेत है। उत्तराध्ययन में 'आउरे सरणं' पाठ मिलता है[४]।

'सरण' शब्द के संस्कृत रूप 'स्मरण' और शरण ये दो बनते हैं[५]। स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण के अर्थ हैं—(१) त्राण और (२) घर—आश्रय—स्थान[६]।

इन दो रूपों के आधार से पाँच अर्थ निकलते हैं

(१) केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग होने से सूत्रकृताङ्ग की चूर्णि में इसका अर्थ पूर्व-भुक्त काम-क्रीड़ा का स्मरण किया है[७]। शीलाङ्क सूरि को भी यह अर्थ अभिप्रेत है[८]।

(२) दशवैकालिक के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने 'आउर' शब्द जुड़ा होने से इसका अर्थ क्षुधा आदि से पीड़ित होने पर पूर्व-भुक्त वस्तुओं का स्मरण करना किया है[९]। जिनदास और हरिभद्र सूरि को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[१०]।

(३) उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र सूरि ने इसका अर्थ—रोगातुर होने पर माता पिता आदि का स्मरण करना किया है[११]।

(४) दशवैकालिक की चूर्णियों में 'शरण' का अर्थ आतुर को शरण देना ऐसा अर्थ है। हरिभद्र सूरि ने दोषातुरों को आश्रय देना अर्थ किया है[१२]।

१—उत्त० २.४,५ : तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे॥
छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहाऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं॥

२—सूत्र० १.९.२१ : पासत्थं पलियंकं च निसिज्जं च गिहंतरे।
संपुच्छणं सरणं वा तं विज्जं परिजाणिया॥

३—सूत्र० १.९.१२, १३, १४, १५, १६, १७, १८.

४—उत्त० १५.८ : मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

५—हा० टी० प० ११७-११८ : आतुरस्मरणानि......आतुरशरणानि वा।

६—अ० चि० ४ : ६०

७—सरणं पुव्वरतपुव्वकीलियाणं।

८—सू० १.९. २१ टीका प० १८० : पूर्वक्रीडितस्मरणं।

९—अ० चू० : छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेणं सिणोदकादिपुव्वभुत्तसरणं।

१०—(क) जि० चू० पृ० ११४ : आउरीभूतस्स पुव्वभुत्ताणुसरणं।
(ख) हा० टी० प० ११७ : क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि।

११—उत्त० १५.८ ने० टी० प० ४१ : तदनन्तरमातुरस्य रोगपीडितस्य 'स्मरणं 'हा तात ! हा मातः !' इत्यादिरूपम्।

१२—(क) अ० चू० : अणुहिं वा अभिभूतस्स सरणं भवति धारेति लोवास्सं वा देति ...अहवा सरणं आरोग्गसाला, तम्म पवेसो गिलाणस्स।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा सत्तुहिं अभिभूतस्स सरणं देइ सरणं नाम उवस्सए ठावेति इतरं भवइ......अहवा आउरसरणाणि आरोग्गसालाओ भण्णंति।
(ग) हा० टी० प० ११७ : आतुरशरणानि वा—दोषातुराश्रयदानानि।

(५) रुग्ण होने पर आतुरालय या आरोग्यशाला में भर्ती होना यह अर्थ भी प्राप्त है[1]।

इस प्रकार 'आउस्सरण' के पाँच-अर्थ हो जाते हैं। तीन 'स्मरण' रूप के आधार पर और दो 'शरण' रूप के आधार पर।

'आतुर' शब्द का अर्थ है—'पीड़ित'। काम, क्षुधा, भय आदि से मनुष्य आतुर होता है और आतुर दशा में वह उक्त प्रकार की सावद्य चेष्टाएँ करता है। किन्तु निर्ग्रन्थ के लिए ऐसा करना अनाचार है।

प्रश्न उठता है—शत्रुओं से अभिभूत को शरण देना अनाचार क्यों है? इसके उत्तर में चूर्णिकार कहते हैं—"जो साधु स्थान—आश्रय देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि उसके शत्रु को प्रद्वेष होता है[2]।" इसी तरह आरोग्यशाला में प्रवेश करना साधु को न कल्पने से अनाचार है[3]।

श्लोक ७:

३८. अनिर्वृत, सचित्त, आमक (अणिव्वुडे ख, सचित्ते ग, आमए घ)

इन तीनों का एक ही अर्थ है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का व्यवहार तो हुआ है पर जो प्रासुक—जीव-रहित—नहीं हो पायी हो उसे अनिर्वृत कहते हैं। 'निर्वृत' का अर्थ है शान्त। अनिर्वृत—अर्थात् जिससे प्राण अलग नहीं हुए हैं—अपरिणत। जिस पर शस्त्र का प्रयोग नहीं हुआ, अत जो वस्तु मूलत. ही सजीव है उसे सचित्त कहते हैं। आमक का अर्थ है—कच्चा। जो फलादि कच्चे हैं, वे भी सचित्त होते हैं[4]। इस तरह 'अनिर्वृत' और 'आमक' ये दोनों शब्द सचित्त के पर्यायवाची हैं। ये तीनों शब्द सजीवता के द्योतक हैं।

३९. इक्षु-खण्ड (उच्छुखंडे ख):

यहाँ सचित्त इक्षु-खण्ड के ग्रहण को अनाचार कहा है। ५ १ ७३ में इक्षु खण्ड लेने का जो निषेध है, उसका कारण इससे भिन्न है। उसमें फेंकने का अंश अधिक होने से वहाँ उसे अग्राह्य कहा है।

चूर्णिकार द्वय और टीका के अनुसार जिसमें दो पोर विद्यमान हों, वह इक्षु-खण्ड सचित्त ही रहता है[5]।

४०. कंद मूल (कंदे मूले ग):

कंद-मूल तथा मूल-कंद ये दो भिन्न प्रयोग हैं। जहाँ मूल और कंद ऐसा प्रयोग होता है वहाँ वे वृक्ष आदि की क्रमिक अवस्था

१—देखिए—पृ० ६० पाद-टि० १२

२—(क) अ० चू० वारेति वा तोवास वा देति तत्थ अधिकरण दोसा, पदोस वा ते सत्तू जाएज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ तत्थ उवस्सए ठाणा देंतस्स अहिकरणदोसो भवति सो वा तस्स सत्तु पओसमावज्जेज्जा।

३—जि० चू० पृ० ११४ तत्थ न कप्पइ गिलाणस्स पविसिउ एतमवि तेसिं अणाइण्ण।

४—(क) अ० चू० अणिव्वुड त पुण जीवअविप्पजढ, निव्वुडो सातो मतो, आमग अपरिणत, आमगं सचित्त।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ निव्वुड पुण जीवविप्पजढ भण्णइ, जहा निव्वातो जीवो, पसतोत्तिवुत्त भवइ आमग भवति असत्थपरिणय।

(ग) हा० टी० प० ११८ अनिर्वृतम्—अपरिणतम्, आमक सचित्त।

५—(क) अ० चू० उच्छुखड दोसु पोरेसु धरमाणेसु अणिव्वुड।

(ख) जि० चू० पृ ११५ उच्छुखडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अनिव्वुड भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११८ 'इक्षुखण्ड' चापरिणत द्विपर्वान्त यद्वर्तते।

पाशुक्षार[1]—खारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक[2]।

काला नमक—चूर्णिकार के अनुसार कृष्ण नमक सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच की खानों में होता है[3]। कोषकारों ने कृष्ण नमक को सौवर्चल का ही एक प्रकार माना है, उसके लिए तिलक शब्द है[4]।

चरक में काले नमक और सोंचल (सौवर्चल) को गुण में समान माना गया है। काले नमक में गन्ध नहीं होती—सौवर्चल से इसमें यही भेद है[5]। चक्र ने काले नमक का दक्षिण-समुद्र के समीप होना बतलाया है[6]।

श्लोक ६ :

४३. धूम-नेत्र (धूव-णेत्ति क) :

शिर-रोग से बचने के लिए धूम्र-पान करना अथवा धूम्र-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप खेना—यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है[7], जो क्रमश· धूम, धूम-नेत्र और धूपन शब्द के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है[8]। यद्यपि टीकाकारों ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह अभ्रान्त नहीं है। नेत्र को पृथक् मानने के कारण उन्हें उसका अर्थ अञ्जन करना पड़ा[9], जो कि बलात् लाया हुआ-सा लगता है।

जिनदास महत्तर के अनुसार रोग की आशका व शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक-आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था[10]।

निशीथ में अन्य तीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा घर पर लगे धूम को उतरवाने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[11]। भाष्यकार के अनुसार दद्रु आदि की औषध के रूप में धूम का प्रयोग होता था[12]।

१—चरक० सूत्र० २७ ३०६ टीका पाशुज पूर्वसमुद्रजम्।

२—(क) अ० चू० पसुखारो ऊसो कड्डिज्जतो अट्टुप्प भवति।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ पसुखारो ऊसो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० ११८ पांशुक्षारश्च' ऊपरलवण।

३—(क) अ० चू० तस्सेव सेन्धवपव्वतस्स अतरतरेसु (कालालोण) खाणीसु सभवति।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अतरतरेसु काला लोण खाणीओ भवति।

४—अ० चि० ४ ६ सौवर्चलेऽक्ष रुचक दुर्गन्ध शूलनाशनम्, कृष्णे तु तत्र तिलक ।

५—चरक० सूत्र० २७ २९८ न काललवणे गन्ध' सौवर्चलगुणाश्च ते।

६—चरक० सूत्र० २७ २९६ पाद-टि० १ चक्रस्तु काललवणटीकायां काललवण सौवर्चलमेवागन्ध दक्षिणसमुद्रसमीपे भवतीत्याह।

७—अ० चू० धूम पिबति 'मा सिररोगातिणो भविस्सति' आरोगपडिकम्म, अहवा "धूमणे" त्ति धूमपानसलागा, धूवेति वा अप्पाण वत्थाणि वा।

८—उत्त० १५ ८ 'वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाण।
आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

९—उत्त० १५ ८ नेमि० वृ० प० २१७ 'नेत्त' त्ति नेत्रशब्देन नेत्तसस्कारकमिह समीराञ्जनादि गृह्यते।

१०—जि० चू० पृ० ११५ धूवणेत्ति नाम आरोग्यपडिकम्म करेइ धूमपि, इमाए सोगाइणो न भविस्सति, अहवा अन्न वत्थाणि वा धवेई।

११—नि० १ ५७ जे भिक्खू गिहधूम अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसाडावेइ, परिसाडावेंत वा सातिज्जति।

१२—(क) नि० भा० गा० ७६८ घरधूमोसहकज्जे, ददुदु किडिभेदकच्छुअगतादी।
घरधूमम्मि णिबधो, तज्जातिअ सूयणट्ठाए॥

(ख) चरक० सूत्र० ३ ४-६ पृ०२६ कुष्ठ, दद्रु, भगन्दर, अर्श, पामा आदि रोगों के नाश के लिए छह योग बतलाए हैं। उनमें छठे योग में और वस्तुओं साथ गृह-धूम भी है—

मनःशीलाले गृहधूम एला काशीसमुस्तार्जुनरोध्रसर्जा ॥ ४ ॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नव किलास सुरेन्द्रलुप्त किटिम सदद्रु।
भगन्दरार्शांस्यपचीं सपामा हन्यु प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम्॥ ६॥

यह उल्लेख गृह धूम के लिए है किन्तु अनाचार के प्रकरण में जो धूम-नेत्र (धूम-पान की नली) का उल्लेख है उसका सम्बन्ध चरकोक्त वैरेचनिक स्नैहिक और प्रायोगिक धूम से है। प्रतिदिन धूम-पानार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को प्रायोगिकी-वर्ति स्नेहनार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को स्नैहिकी-वर्ति और दोष विरेचन के लिए उपयुक्त होनेवाली वर्ति को वैरेचनिकी-वर्ति कहा जाता है। प्रायोगिकी वर्ति के पान की विधि इस प्रकार बतलाई गई है—घी आदि स्नेह से चुपड़ कर वर्ति का एक पार्श्व धूम-नेत्र पर लगाएँ और दूसरे पार्श्व पर आग लगाएँ। इस हितकर प्रायोगिकी-वर्ति द्वारा धूम-पान करे[1]।

उत्तराध्ययन के व्याख्याकारों ने धूम को मेनशिल आदि से सम्बन्धित माना है[2]। चरक में मेनशिल आदि के धूम को शिरोविरेचन करने वाला माना गया है[3]।

धूम-नेत्र कैसा होना चाहिए किसका होना चाहिए और कितना बड़ा होना चाहिए तथा धूम-पान क्यों और कब करना चाहिए इनका पूरा विवरण प्रस्तुत प्रकरण में है। सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के चालीसवें अध्याय में धूम का विशद वर्णन है। वहाँ धूम के पाँच प्रकार बतलाए हैं।

चरकोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'कासघ्न' और 'वामनीय' ये दो और हैं।

सूत्रकृताङ्ग में धूपन और धूम-पान दोनों का निषेध है[4]। शीलाङ्क सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि मुनि शरीर और वस्त्र को धूप न दे और खाँसी आदि को मिटाने के लिए योग-वर्ति निष्पादित धूम न पीए[5]।

सूत्रकार ने धूप के अर्थ में 'धूपन' का प्रयोग किया है और सर्वनाम के द्वारा धूम के अर्थ में उसीको ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि तात्कालिक साहित्य में धूप और धूम दोनों के लिए 'धूपन' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। हरिभद्र सूरि ने भी इसका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्लोक में केवल 'धूपन' शब्द का ही प्रयोग होता तो इसके धूप और धूम ये दोनों अर्थ हो जाते किन्तु यहाँ 'धूम-णेत्ति' शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन विरेचन और वस्ति-कर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है[6]। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर[7]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मान कर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है[8]। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकारों के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति में मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होता है किन्तु इसके साथ जुड़े हुए 'इति' शब्द

१—चरक० सूत्र० ५.२१ : शुष्कां निगर्भां तां वर्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः।
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम्॥

२—उत्त० १५.८ नेमि० वृ० प० २१७ : धूमं—मनःशिलादिसम्बन्धि।

३—चरक० सूत्र० ५.२६ : श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमाः शीर्षविरेचनम्॥

४—(क) सूत्र० २.१.१५ प० २६० : णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा।
(ख) वही २.४.१० प० १०० : णो धूवणित्ति पिबाइत्ते।

५—सूत्र० १.१५ टी० प० ४४ : तथा नो शरीरस्य वस्त्रादेर्वा धूपनं कुर्यात् नापि कासाद्यपनयनाय तं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति।

६—चरक० सूत्र० ५.१७-२०

७—अ० चू० : धूवणेत्ति सिलोगो।

८—हा० टी० प० ११८ : धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'धूमणेत्त' के आधार[1] पर ऐसा लगता है कि मूल पाठ 'धूमणेत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद में प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणे' त्ति के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिङ्ग अतन्त्र होते हैं, इसलिए सम्भव है यह 'धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम-पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हें धूम-नेत्र की अनुमति दी[2]। फिर भिक्षु सुवर्ण, रौप्य आदि के धूम-नेत्र रखने लगे[3]। इससे लगता है कि भिक्षुओं और सन्यासियों में धूम-पान के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा थी, किन्तु भगवान् महावीर ने अपने निर्ग्रन्थों को इसे रखने की अनुमति नहीं दी।

४४. वमन, वस्तिकर्म, विरेचन (वमणे य[क] ···वत्थीकम्म विरेयणे[ख]) :

वमन का अर्थ है उल्टी करना, मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना। इसे ऊर्ध्व-विरेक कहा है[४]।

अपान-मार्ग के द्वारा स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मों का उल्लेख मिलता है[५]। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार चर्म की नली को 'वस्ति' कहते हैं। उसके द्वारा स्नेह का चढ़ाना वस्तिकर्म है[६]। जिनदास और हरिभद्र ने भी यही अर्थ किया है[७]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वात, अर्श आदि को मिटाने के लिए किया जाता था[८]। विरेचन का अर्थ है—जुलाब के द्वारा मल को दूर करना। इसे अधो-विरेक कहा है[९]। इन्हें यहाँ अतिचार कहा है। इनका निषेध सूत्रकृताङ्ग में भी आया है[१०]।

निशीथ-भाष्यकार के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए नहीं किन्तु मेरा वर्ण सुन्दर हो जाय, स्वर मधुर हो जाय, बल बढ़े अथवा मैं दीर्घ-आयु बनूँ, मैं कृश होऊँ या स्थूल होऊँ—इन निमित्तों से वमन, विरेचन आदि करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[११]।

चूर्णिकारों ने वमन, विरेचन और वस्तिकर्म को अरोग-प्रतिकर्म कहा है। जिनदास ने रोग न हो, इस निमित्त से इनका सेवन

१—देखो पृ० ६३ पाद-टि० न० ८

२—विनयपिटक महावग्ग ६ २ ७ अनुजानामि, भिक्खवे, धूमनेत्त ति।

३—विनयपिटक महावग्ग ६ २ ७ भिक्खू उच्चावचानि धूमनेत्तानि धारेन्ति—सोवण्णमय रूपियमय।

४—(क) अ० चू० वमण छड्डण।
(ख) हा० टी० प० ११८ वमन मदनफलादिना।
(ग) सूत्र० १ ६ १२ टी० प० १८० वमनम्—ऊर्ध्वविरेक।

५—चरक० सिद्धि० १

६—अ० चू० वत्थीणिरोहादिदाणत्थ चम्ममयो णलियाउत्तो कीरति तेण कम्म अपाणाण सिणेहदिदाण वत्थिकम्म।

७—(क) जि० चू० पृ० ११५ वत्थीकम्म नाम वत्थी दइओ भण्णइ, तेण दइएण घयाईणि अधिट्ठाणे दिज्जति।
(ख) हा० टी० प० ११८ वस्तिकर्म्म पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदान।

८—नि० भा० गा० ४३३० चूर्णि पृ० ३६२ कडिवायअरिसविणासणत्थ च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाण वत्थिकम्म।

९—(क) अ० चू० विरेयण कसायादीहिं सोधण।
(ख) हा० टी० प० ११८ विरेचन दन्त्यादिना।
(ग) सूत्र० १ ६ १२ टी० प० १८० विरेचन—निरूहात्मकमधोविरेको।

१०—सूत्र० १ ६ १२ धोयण रयण चेव, वत्थीकम्म विरेयण।
वमणजण पलीमथ, त विज्ज परिजाणिया॥

११—नि० भा० गा० ४३३१ वण्ण-सर-रूव-मेहा, वगवलीपलित-णासणट्ठा वा।
दीहाउ तट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व त कुणा॥

अवकाश्य कहा है[1]। इसी आधार पर हमने इन दोनों शब्दों के अनुवाद के साथ 'रोग की सम्भावना से बचने के लिए रूप बल आदि को बनाए रखने के लिए' जोड़ा है।

निशीथ में वमन विरेचन के प्रायश्चित्त-सूत्र के अनन्तर अरोग प्रतिकर्म का प्रायश्चित्त सूत्र है[2]।

रोग की संभावना से बचने की आकांक्षा और वर्ण बल आदि की आकांक्षा भिन्न भिन्न हैं।

वमन, वस्तिकर्म विरेचन के निषेध के कारण ये दोनों प्रयोजन रहे हैं यह उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है।

४५ दंतवण (दंतवणे ग):

श्लोक ३ में दन्तपहोयणा अनाचार का उल्लेख है और यहाँ 'दन्तवणे' का। दोनों में समानता होने से यहाँ संयुक्त विवेचन किया जा रहा है।

'दन्तपहोयणा' का संस्कृत रूप 'दन्तप्रधावन' होता है। इसके निम्न अर्थ मिलते हैं:

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इस शब्द का अर्थ काष्ठ पानी आदि से दाँतों को पखालना किया है[3]।

(२) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दाँतों का अंगुली आदि से प्रक्षालन करना किया है[4]। अंगुली आदि में दन्तकाष्ठ शामिल नहीं है। उसका उल्लेख उन्होंने 'दन्तवण' के अर्थ में किया है।

अतः दोनों अर्थों में यह पार्थक्य ध्यान देने जैसा है। 'दन्तवण' के निम्न अर्थ किये गये हैं:

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ दाँतों की विभूषा करना किया है[5]।

(२) जिनदास ने इसे 'लोकप्रसिद्ध' कहकर इसके अर्थ पर कोई प्रकाश नहीं डाला। संभवतः उनका आशय दंतमंजन से है।

(३) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दंतकाष्ठ किया है[6]।

जिससे दाँतों का मल घिस कर उतारा जाता है उसे दंतकाष्ठ कहते हैं।

'दंतवण' शब्द देशी प्रतीत होता है। वनस्पति वृक्ष आदि के अर्थ में 'वन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संभव है काष्ठ या लकड़ी के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता हो। यदि इसे संस्कृत-सम माना जाय तो दंत-पवन से दंत पवन—दंतवण हो सकता है।

जिस काष्ठ खण्ड से दाँत पवित्र किये जाते हैं उसे दन्त (पा)वन कहा गया है[7]।

दंतवण अनाचार का अर्थ दातुन करना होता है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने दोनों अनाचारों का अर्थ बिलकुल भिन्न किया है पर 'दन्तवण' शब्द पर से 'दाँतों की विभूषा करना'—यह

१—(क) अ॰ चू॰: एताणि अरोग्गपडिकम्माणि रूवबलत्थमणाइण्णं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ ११५: एयाणि आरोग्गपडिकम्मनिमित्तं वा न कप्पइ।

२—नि॰ १३.४२, ४३, ४४: जे भिक्खू वमणं करेइ करेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू विरेयणं करेइ करेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अरोगियपडिकम्मं करेति करेंतं वा सातिज्जति।

३—(क) अ॰ चू॰: दंतपहोयणं दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १११: दंतपहोयणं नाम दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं।

४—हा॰ टी॰ प॰ ११७: दन्तप्रधावनं चाङ्गुल्यादिना क्षालनं।

५—अ॰ चू॰: दंतमणं दसणाणं विभूसा।

६—हा॰ टी॰ प॰ ११८: दन्तकाष्ठं च प्रतीतं।

७—उपा॰ १.५ टी॰ पृ॰ ७: दन्तमलापकर्षणकाष्ठम्।

८—मव॰ ४.५१ टी॰ प॰ २१: दन्ताः पूयन्ते—पवित्रा क्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद्दन्तपावनम्।

नहीं निकला। हरिभद्र सूरि ने अगुली और काष्ठ का भेद कर दोनों अनाचारों के अर्थों के पार्थक्य को रखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग में 'दतपक्खालणं' शब्द मिलता है[1]। जिससे दांतों का प्रक्षालन किया जाता है—दांत मल-रहित किये जाते हैं, उस काष्ठ को दत-प्रक्षालन कहते हैं[2]। कदम्ब काष्ठादि से दांतों को साफ करना भी दत-प्रक्षालन है[3]।

शाब्दिक दृष्टि से विचार किया जाय तो दतप्रधावन के अर्थ, दत-प्रक्षालन की तरह, दतौन और दांतों को धोना दोनों हो सकते हैं जब कि दतवन का अर्थ दतौन ही होता है। दोनों अनाचारों के अर्थ-पार्थक्य की दृष्टि से यहाँ 'दतप्रधावन' का अर्थ दांतों को धोना और 'दतवन' का अर्थ दातुन करना किया है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है 'णो दत पक्खालणेण दत पक्खालेज्जा'। शीलाङ्क सूरि ने इसका अर्थ किया है—मुनि कदम्ब आदि के प्रक्षालन—दतौन से दातों का प्रक्षालन न करे—उन्हें न धोए। यहाँ 'प्रक्षालन' शब्द के दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग है[4]। यह दोनों अनाचारो के अर्थ को समाविष्ट करता है।

अनाचारो की प्रायश्चित्त विधि निशीथ सूत्र में मिलती है। वहाँ दातों से सम्बन्ध रखने वाले तीन सूत्र हैं[5]।

(१) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दातों को एक दिन या प्रतिदिन घिसता है, वह दोष का भागी होता है।

(२) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दातों का एक दिन या प्रतिदिन प्रक्षालन करता है या प्रधावन करता है, वह दोष का भागी होता है।

(३) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दातो को फूँक मारता है या रगता है, वह दोष का भागी होता है।

इससे प्रकट है कि किसी एक दिन या प्रतिदिन दतमजन करना, दांतों को धोना, दतवन करना, फूँक मारना और रगना ये सब साधु के लिए निषिद्ध कार्य हैं इन कार्यों को करनेवाला साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

प्रो० अभ्यकर ने 'दतमण्ण' पाठ मान उसका अर्थ दातों को रगना किया है। यदि ऐसा पाठ हो तो उसकी आर्थिक तुलना निशीथ के दन्त राग से हो सकती है।

आचार्य वट्टकेर ने प्रक्षालन, घर्षण आदि सारी क्रियाओं का 'दतमण' शब्द से सग्रह किया है—अंगुली, नख, अवलेखिनी (दतौन) काली (तृण विशेष), पैनी, ककणी, वृक्ष की छाल (वल्कल) आदि से दात के मैल को शुद्ध नहीं करना, यह इन्द्रिय-सयम की रक्षा करने वाला 'अदतमन' मूल गुणव्रत है[6]।

बौद्ध-भिक्षु पहले दतवन नहीं करते थे। दतवन करने से—(१) आँखों को लाभ होता है, (२) मुख में दुर्गन्ध नहीं होती, (३) रस वाहिनी नालियाँ शुद्ध होती हैं, (४) कफ और पित्त भोजन से नहीं लिपटते, (५) भोजन में रुचि होती है—ये पाँच गुण बता बुद्ध ने भिक्षुओं को दतवन की अनुमति दी। भिक्षु लम्बी दतवन करते थे और उसीसे श्रामणेरों को पीटते थे। 'दुक्कट' का दोष बता

१—सूत्र० १ ९ १३ गधमल्लसिणाण च, दतपक्खालण तहा।
परिग्गहित्थिकम्म च, त विज्ज परिजाणिया॥

२—सूत्र० १ ४ २ ११ टी० प० ११८ दन्ता प्रक्षाल्यन्ते—अपगतमला क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालन दन्तकाष्ठम्।

३—सूत्र० १ ९ १३ टी० प० १८० 'दन्तप्रक्षालन' कदम्बकाष्ठादिना।

४—सूत्र० २ १ १५ टी० प० २६६ नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बादि काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्।

५—नि० १५ १३१-३३ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दते आघसेज्ज वा पघसेज्ज वा, सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दते उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दते फूमेज्ज वा रएज्ज वा, सातिज्जति।

६—मूलाचार अगुलि, णहावलेहिणी, कालीहिं पासाण-छल्लियादीहिं।
दतमला सोहणाय, सजमगुत्ती अदतमण॥

बुद्ध ने उत्कृष्ट में आठ अंगुल तक के दतवन की और जघन्य में चार अंगुल के दतवन की अनुमति दी[1]।

हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए दन्तधावन वर्जित है[2]। यतियों के लिए दन्तधावन का वैसा ही विधान रहा है जैसा कि गृहस्थों के लिए[3]। वहाँ दन्तधावन को स्नान के पहले रखा है और उसे स्नान और सन्ध्या का अङ्ग न मान केवल मुख-शुद्धि का स्वतंत्र हेतु माना है[4]। दन्तधावन की विधि इस प्रकार बताई गई है—अमुक वृक्ष की छाल सहित टहनी को ले। उसका अमुक लम्बा टुकड़ा करे। दाँतों से उसका अग्रभाग कूँचे और कूँचा हो जाने पर दन्तकाष्ठ के उस अग्रभाग से दाँतों को मलकर उन्हें साफ करे[5]। इस तरह दन्तधावन का अर्थ दन्तकाष्ठ से दाँतों को साफ करना होता है और उसका वही अर्थ है जो अगस्त्यसिंह ने दन्तप्रधावना का किया है।

हिन्दू शास्त्रों में दन्तधावन और दन्तप्रक्षालन के अर्थों में अन्तर मालूम देता है। केवल जल से मुख शुद्धि करना प्रक्षालन है और दन्तकाष्ठ से दाँत साफ करना दन्तधावन है[6]। नदी में या घर पर दन्तप्रक्षालन करने पर मंत्र का उच्चारण नहीं करना पड़ता पर दन्तधावन करने पर मंत्रोच्चारण करना पड़ता है : "हे वनस्पति! मुझे लम्बी आयु बल यश वर्चस् सन्तान पशु धन ब्रह्म (वेद), प्रज्ञा और मेधा प्रदान कर[7]।"

प्रतिपदा पर्व तिथियों (पूर्णिमा, अष्टमी चतुर्दशी), छट्ठ और नवमी के दिनों में दन्तधावन वर्जित कहा है[8]। श्राद्ध दिन यज्ञ दिन नियम दिन-उपवास या व्रत के दिनों में भी इसकी मनाही है[9]। इसीसे स्पष्ट है कि दन्तप्रधावन का हिन्दू शास्त्रों में भी धार्मिक क्रिया के रूप में विधान नहीं है। शुद्धि की क्रिया के रूप में ही उसका स्थान है।

१—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५.५.२ पृ० ४४४।

२—वशिष्ठ० ७.१५ : मध्वामकमांसाञ्जनदन्तधावनप्रक्षालनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी।

३—History of Dharmasastra vol II part II p. 964 : Ascetics have to perform saucha, brushing the teeth, bath, just as householders have to do.

४—आह्निकप्रकाश पृ० १११ : अत्र संध्यायां स्नाने च दन्तधावनस्य नाङ्गत्वम् ... इति दन्तधावनप्रकरणेन स्वतन्त्रस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात्।

५—गोभिलस्मृति १.१३८ : नारदाद्युक्तवार्क्षं यदष्टाङ्गुलमपाटितम्।
सत्वचं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण प्रधावयेत्॥

६—(क) गोभिलस्मृति १.१३७ : दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गृहे चेत्तदमन्त्रकम्।
(ख) वही १.१३६ : परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

७—(क) गोभिलस्मृति १.१३७।
(ख) वही १.१३६।
(ग) वही १.१४० आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशून् वसूनि च।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते॥

८—(क) लघुहारीत ४ पृ० १८३।
(ख) नृसिंह पुराण ५८.५०-५२ :
प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवम्यां चैव सत्तमाः।
दन्तानां काष्ठसंयोगाद्दहत्या सप्तमं कुलम्॥
अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिं समाचरेत्॥

९—स्मृति अर्थसार पृ० ५।

४६. गात्र-अभ्यङ्ग (गायाभंग घ) :

शरीर के तेलादि की मालिश करना[१]। निशीथ से पता चलता है कि उस समय गात्राभ्यङ्ग तैल, घृत, वसा—चर्बी और नवनीत से किया जाता था[२]।

४७. विभूषण (विभूसणे घ) :

सुन्दर-परिधान, अलङ्कार और शरीर की साजसज्जा, नख और केश काटना, बाल सवारना आदि विभूषा है[३]।

चरक में इसे 'सप्रसादन' कहा है।

केश, श्मश्रु (दाढी, मूँछ) तथा नखो को काटने से पुष्टि, वृष्यता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एव सुन्दर रूप वाला हो जाता है[४]। 'सप्रसाधनम्' पाठ स्वीकार करने पर केश आदि को कटवाने से तथा कघी देने से उपर्युक्त लाभ होते हैं।

निशीथ (तृतीय अ०) में अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन आदि के लिए मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और भाष्य तथा परम्परा के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए ये विहित भी हैं। सम्भवत इसमें सभी श्वेताम्बर एक मत हैं। विभूषा के निमित्त अभ्यङ्ग आदि करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[५]।

इस प्रायश्चित्त-भेद और पारपरिक-अपवाद से जान पडता है कि सामान्यत अभ्यङ्ग आदि निषिद्ध हैं, रोग-प्रतिकार के लिए निषिद्ध नहीं भी हैं और विभूषा के लिए सर्वथा निषिद्ध हैं। इसलिए विभूषा को स्वतन्त्र अनाचार माना गया है।

विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी को विभूषानुपाती नहीं होना चाहिए। विभूषा करने वाला स्त्री-जन के द्वारा प्रार्थनीय होता है। स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य में सदिग्ध हो जाता है और आखिर में फिसल जाता है। विभूषा-वर्जन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवीं बाड़ है[६]। महाचार-कथा का अठारहवाँ वर्ज्य स्थान है (६ ६४-६६)। आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा को तालपुट विषय कहा है (८ ५६)।

दश० (६ ६५) में कहा है "नग्न, मुडित और दीर्घ रोम, नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा का कोई प्रयोजन ही नहीं है।" विभूषण जो अनाचार है उसमें सप्रसादन, सुन्दर-परिधान और अलङ्कार इन सबका समावेश हो जाता है।

१—(क) अ० चू० गायब्भगो सरीरब्भगणमद्दणाईणि।
(ख) हा० टी० प० ११८ गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना।

२—नि० ३ १८ जे भिक्खू अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वसाए वा णवणीए ण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंत वा भिलिंगेंत वा सातिज्जति।

३—अ० चू० विभूसण अलकरण।

४—चरक० सूत्र० ५ ६६ पौष्टिक वृष्यमायुष्य, शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीना कल्पन सप्रसादनम्॥

५—नि० १५ १०८ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो काय तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंत वा भिलिंगेंत वा सातिज्जति।

६—उत्त० १६ ६ नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। त कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ ण इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे सका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेद वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा।

४६. गात्र-अभ्यङ्ग (गायाभंग घ) :

शरीर के तेलादि की मालिश करना[1]। निशीथ से पता चलता है कि उस समय गात्राभ्यङ्ग तैल, घृत, वसा—चर्बी और नवनीत से किया जाता था[2]।

४७. विभूषण (विभूसणे घ) :

सुन्दर-परिधान, अलङ्कार और शरीर की साजसज्जा, नख और केश काटना, बाल सवारना आदि विभूषा हैं[3]।

चरक में इसे 'सप्रसादन' कहा है।

केश, श्मश्रु (दाढी, मूँछ) तथा नखों को काटने से पुष्टि, वृष्यता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एव सुन्दर रूप वाला हो जाता है[4]। 'सप्रसाधनम्' पाठ स्वीकार करने पर केश आदि को कटवाने से तथा कघी देने से उपर्युक्त लाभ होते हैं।

निशीथ (तृतीय अ०) में अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन आदि के लिए मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और भाष्य तथा परम्परा के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए ये विहित भी हैं। सम्भवतः इसमें सभी श्वेताम्बर एक मत हैं। विभूषा के निमित्त अभ्यङ्ग आदि करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[5]।

इस प्रायश्चित्त-भेद और पारंपरिक-अपवाद से जान पड़ता है कि सामान्यतः अभ्यङ्ग आदि निषिद्ध हैं, रोग-प्रतिकार के लिए निषिद्ध नहीं भी हैं और विभूषा के लिए सर्वथा निषिद्ध हैं। इसलिए विभूषा को स्वतन्त्र अनाचार माना गया है।

विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी को विभूषानुपाती नहीं होना चाहिए। विभूषा करने वाला स्त्री-जन के द्वारा प्रार्थनीय होता है। स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य में सदिग्ध हो जाता है और आखिर में फिसल जाता है। विभूषा-वर्जन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवीं बाड है[6]। महाचार-कथा का अठारहवाँ वर्ज्य स्थान है (६ ६४-६६)। आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा को तालपुट विषय कहा है (८ ५६)।

दश० (६ ६५) में कहा है "नग्न, मुडित और दीर्घ रोम, नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा का कोई प्रयोजन ही नहीं है।" विभूषण जो अनाचार है उसमें सप्रसादन, सुन्दर-परिधान और अलङ्कार इन सबका समावेश हो जाता है।

१—(क) अ० चू० गायब्भगो सरीरब्भगणमद्दणादीणि।
(ख) हा० टी० प० ११८ गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना।

२—नि० ३ १८ जे भिक्खू अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वसाए वा णवणीए ण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंत वा भिलिंगेंत वा सातिज्जति।

३—अ० चू० विभूसण अलकरण।

४—चरक० सूत्र० ५ ६६ पौष्टिक वृष्यमायुष्य, शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीना कल्पन सप्रसादनम्॥

५—नि० १५ १०८ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो काय तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंत वा भिलिंगेंत वा सातिज्जति।

६—उत्त० १६ ६ नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। त कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ ण इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे सका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेद वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा।

आगमों में (१) मिथ्यात्व—मिथ्या दृष्टि, (२) अविरत—अत्याग, (३) प्रमाद—धर्म के प्रति अरुचि—अनुत्साह, (४) कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और (५) योग—हिंसा, झूठ आदि प्रवृत्तियाँ—इनको भी आश्रव कहा है। हिंसा आदि पाँच योगाश्रव के भेद हैं।

'परिज्ञाता'—परिज्ञा दो हैं—ज्ञान-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। जो पचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त है—वह पचाश्रवपरिज्ञाता कहलाता है[1]। किसी एक वस्तु को जानना ज्ञान-परिज्ञा है। पाप कर्मों को जानकर उन्हें नहीं करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। निश्चयवक्तव्यता से जो पाप को जानकर पाप नहीं करता वही पापकर्म और आत्मा का परिज्ञाता है और जानते हुए भी जो पाप का आचरण करता है, वह पाप का परिज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह बालक की तरह अज्ञानी है। बालक अहित को नहीं जानता हुआ अहित में प्रवृत्त होता हुआ एकांत अज्ञानी होता है पर वह तो पाप को जानता हुआ उससे निवृत्त नहीं होता और उसमें अभिरमण करता है, फिर वह अज्ञानी कैसे नहीं कहा जायगा[2]। पचाश्रवपरिज्ञाता—अर्थात् जो पाँच आश्रवों को अच्छी तरह जानकर उन्हें छोड़ चुका है—उनका निरोध कर चुका है।

५१. तीन गुप्तियों से गुप्त (तिगुत्ता ख) :

मन, वचन और काया—इन तीनों का अच्छी तरह निग्रह करना क्रमश मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित है, वह त्रिगुप्त कहलाता है[3]।

५२. छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत (छसु संजया ख) :

पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस प्राणी ये छ प्रकार के जीव हैं। इनके प्रति मन, वचन और काया से सयत—उपरत[4]।

१—(क) अ० चू० परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्चक्खाणपरिण्णा य, जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाणपरिण्णाए ठिता ते पचासवपरिणाता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ ताणि दुविहपरिण्णाए परिण्णाताणि, जाणणापरिण्णाए पच्चक्खाणपरिण्णाए य ते पचासवा परिण्णाया भवति।

(ग) हा० टी० प० ११८ 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया—ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि—समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रव-परिज्ञाता।

२—जि० चू० पृ० ११६ तत्थ जाणणापरिण्णा णाम जो ज किंचि अत्थ जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति, जहा घड जाणतस्स घडपरिण्णा भवति, घड जाणतस्स घडपरिण्णा भवति, एसा जाणणापरिण्णा, पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पाव कम्म जाणिऊण तस्स पावस्स ज अकरण सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति, किंच—तेण चैवेक्केण पाव कम्म अप्पा य परिण्णाओ भवइ जो पाव नाऊण न करेइ, जो पुण जाणित्तावि पाव आयरइ तेण निच्छयवत्तव्वयाए पाव न परिण्णाय भवइ, कह ? सो वालो इव अयाणओ दट्ठव्वो, जहा बालो अहिय अयाणमाणो अहिए पवत्तमाणो एगतेणेव अयाणओ भवइ तहा सोवि पाव जाणिऊण ताओ पावाओ न नियत्तइ तमि पावे अभिरमइ।

३—(क) अ० चू० मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ तिविहेण मणवयणकायजोगे सम्म निग्गहपरमा।

(ग) हा० टी० प० ११८ 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभि गुप्ता।

४—(क) अ० चू० छसु पुढविकायादिसु त्रिकरणएकभावेण जता सजता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ छसु पुढविकायाइसु सोहणेण पगारेण जता सजता।

(ग) हा० टी० प० ११६ पट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः।

श्लोक १०

४८ संयम में लीन (संजमम्मि य जुत्ताणं [ग])

'युक्त' शब्द के संबद्ध, उद्युक्त, सहित, समन्वित आदि अनेक अर्थ होते हैं[1]। गीता (६.८) के शांकर-भाष्य में इसका अर्थ समाहित किया है[2]। हमने इसका अनुवाद 'लीन' किया है। तात्पर्यार्थ में संयम में लीन और समाहित एक ही हैं।

जिनदास महत्तर ने 'संजमम्मि य जुत्ताणं' के स्थान में 'संजमं अणुपालंता' ऐसा पाठ स्वीकार किया है। 'संजमं अणुपालेंति'—ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है—संयम का अनुपालन करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं[3]।

४९ वायु की तरह मुक्त विहारी (लहुभूयविहारिणं [घ])

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'लघु' का अर्थ वायु और 'भूत' का अर्थ सदृश किया है। जो वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विचरण करता हो वह 'लघुभूतविहारी' कहलाता है[4]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि भी ऐसा ही अर्थ करते हैं[5]।

आचाराङ्ग में 'लहुभूयगामी' शब्द मिलता है[6]। वृत्तिकार ने 'लहुभूय' का अर्थ 'मोक्ष' या 'संयम' किया है[7]। उसके अनुसार 'लघुभूतविहारी' का अर्थ मोक्ष के लिए विहार करने वाला या संयम में विचरण करने वाला हो सकता है।

श्लोक ११

५० पञ्चास्रव का निरोध करनेवाले (पंचासवपरिन्नाया [क])

जिनसे आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है उन्हें आस्रव कहते हैं। हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच आस्रव हैं—इनसे आत्मा में कर्मों का स्राव होता है[8]।

आगम में कहा है : "प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो विरत होता है वह अनास्रव होता है। साथ ही जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों से गुप्त है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, गौरवरहित है, निःशल्य है वह अनास्रव है[9]।"

१—हा० टी० प० ११८ : युक्तानाम्—अभियुक्तानां।

२—गीता शां० भा० ६.८ पृ० १०० : 'युक्त इत्युच्यते योगी'—युक्तः समाहितः।

३—जि० चू० पृ० ११५ : संजमो गुणमणिओ अणुपालंतीति पालयंति तं संजमं रक्खंतीति।

४—अ० चू० : लहुभूतविहारिणं लहु जं ण गुरु, स पुण वायुः, लहुभूतो लहुसरिसो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो एवं अपडिबद्धगामिणो।

५—(क) जि० चू० पृ० ११५ : भूता नाम तुल्ला, लहुभूतो लहु वाऊ तेण तुल्लो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।
(ख) हा० टी० प० ११८ : लघुभूतो—वायुः ततश्च लघुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणः।

६—आचा० १.३.२ : छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी।

७—आचा० १.३.२ वृत्ति प० १५८ : 'लघुभूतो' मोक्षः, संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी।

८—(क) अ० चू० : पंच आसवा पाणातिवातादीणि पंच आसवदाराणि।
(ख) जि० चू० पृ० ११५-१६ : 'पंच' त्ति संखा, आसवग्गहणेण हिंसादीणि पंच कम्मस्स आसवदाराणि गहियाणि।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'पञ्चाश्रवाः' हिंसादयः।

९—उत्त० ३०.२-३ : पाणिवहमुसावायाअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो॥
पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो॥

आगमों में (१) मिथ्यात्व—मिथ्या दृष्टि, (२) अविरत—अत्याग, (३) प्रमाद—धर्म के प्रति अरुचि—अनुत्साह, (४) कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और (५) योग—हिंसा, झूठ आदि प्रवृत्तियाँ—इनको भी आश्रव कहा है। हिंसा आदि पाँच योगाश्रव के भेद हैं।

'परिज्ञाता'—परिज्ञा दो हैं—ज्ञान-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। जो पचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त है—वह पचाश्रवपरिज्ञाता कहलाता है[1]। किसी एक वस्तु को जानना ज्ञान-परिज्ञा है। पाप कर्मों को जानकर उन्हें नहीं करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। निश्चयवक्तव्यता से जो पाप को जानकर पाप नहीं करता वही पापकर्म और आत्मा का परिज्ञाता है और जानते हुए भी जो पाप का आचरण करता है, वह पाप का परिज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह बालक की तरह अज्ञानी है। बालक अहित को नहीं जानता हुआ अहित में प्रवृत्त होता हुआ एकात अज्ञानी होता है पर वह तो पाप को जानता हुआ उससे निवृत्त नहीं होता और उसमें अभिरमण करता है, फिर वह अज्ञानी कैसे नहीं कहा जायगा[2]? पचाश्रवपरिज्ञाता—अर्थात् जो पाँच आश्रवों को अच्छी तरह जानकर उन्हें छोड चुका है—उनका निरोध कर चुका है।

५१. तीन गुप्तियों से गुप्त (तिगुत्ता ख):

मन, वचन और काया—इन तीनों का अच्छी तरह निग्रह करना क्रमश मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित है, वह त्रिगुप्त कहलाता है[3]।

५२. छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत (छसु संजया ख):

पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस प्राणी ये छ प्रकार के जीव हैं। इनके प्रति मन, वचन और काया से सयत—उपरत[4]।

१—(क) अ० चू० परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्चक्खाणपरिण्णा य, जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाणपरिण्णाए ठिता ते पचासवपरिणाता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ . ताणि दुविहपरिण्णाए परिण्णाताणि, जाणणापरिण्णाए पच्चक्खाणपरिण्णाए य ते पचासवा परिण्णाया भवति।

(ग) हा० टी० प० ११८ 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया—ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि—समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रव-परिज्ञाता'।

२—जि० चू० पृ० ११६ तत्थ जाणणापरिण्णा णाम जो ज किंचि अत्थ जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति, जहा पड जाणतस्स पडपरिण्णा भवति, घड जाणतस्स घडपरिण्णा भवति, एसा जाणणापरिण्णा, पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पाव कम्म जाणिऊण तस्स पावस्स ज अकरण सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति, किच—तेण चैवेक्केण पाव कम्म अप्पा य परिण्णाओ भवइ जो पाव नाऊण न करेइ, जो पुण जाणित्तावि पाव आयरइ तेण निच्छयवत्तव्वयाए पाव न परिण्णाय भवइ, कह ? सो बालो इव अजाणओ दट्ठव्वो, जहा बालो अहिय अयाणमाणो अहिए पवत्तमाणो एगतेणेव अयाणओ भवइ तहा सोवि पाव जाणिऊण ताओ पावाओ न णियत्तइ तमि पावे अभिरमइ।

३—(क) अ० चू० मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ तिविहेण मणवयणकायजोगे सम्म निग्गहपरमा।

(ग) हा० टी० प० ११८ 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभि' गुप्ता।

४—(क) अ० चू० · छसु पुढविकायादिछ त्रिकरणएकमावेण जता सजता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ · छसु पुढविक्कायाइसु सोहणेण पगारेण जता सजता।

(ग) हा० टी० प० ११६ षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यता।

५३ पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले (पंचनिग्गहणा [ग]) :

श्रोत्र-इन्द्रिय (कान), चक्षु-इन्द्रिय (आँख), घ्राण-इन्द्रिय (नाक), रसना-इन्द्रिय (जिह्वा) और स्पर्शन-इन्द्रिय (त्वचा)—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों का दमन करनेवाले—पंचनिग्रही कहलाते हैं[1]।

५४ धीर (धीरा [ग]) :

धीर और शूर एकार्थक हैं[2]। जो बुद्धिमान् हैं, स्थिर हैं, वे धीर कहलाते हैं[3]। स्थविर अगस्त्य सिंह ने 'वीरा' पाठ माना है, जिसका अर्थ शूर विक्रान्त होता है[4]।

५५ ऋजुदर्शी (उज्जुदंसिणो [घ]) :

'ऋजु' का अर्थ संयम और सम है। जो केवल संयम को देखते हैं—संयम का ध्यान रखते हैं तथा जो स्व और पर में समभाव रखते हैं, उन्हें 'उज्जुदंसिणो' कहते हैं[5]। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है। अगस्त्य सिंह स्थविर ने इसके राग-द्वेष रहित, अविग्रहगति दर्शी और मोक्षमार्गदर्शी अर्थ भी किए हैं[6]।

मोक्ष का सीधा रास्ता संयम है। जो संयम में ऐसा विश्वास रखते हैं उन्हें ऋजुदर्शी कहते हैं[7]।

श्लोक १२

५६ ग्रीष्म में प्रतिसंलीन होते हैं (आयावयंति पडिसंलीणा [क-ग]) :

श्रमण की ऋतु-चर्या में तपस्या का प्राधान्य होता है। जिस ऋतु में जो परिस्थिति संयम में बाधा उत्पन्न करे उसे उसके प्रतिकूल आचरण द्वारा जीता जाए। श्रमण की ऋतुचर्या के विधान का आधार यही है। ऋतु के मुख्य विभाग तीन हैं : ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा। ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने का विधान है। श्रमण को ग्रीष्म ऋतु में स्थान मौन और वीरासन आदि अनेक प्रकार के तप करने चाहिए। यह उनके लिए है जो आतापना न ले सकें और जो आतापना ले सकते हों उन्हें सूर्य के सामने मुख कर, एक पैर पर दूसरा पैर टिका कर—एक पादासन कर, खड़े-खड़े आतापना लेनी चाहिए[8]। जिनदास महत्तर ने उत्कट आसन में आतापना को मुख्यता दी है। जो वैसा न कर सकें वे अन्य तप करें[9]।

1—(क) अ० चू० : पंच सोतादीणि इंदियाणि णिगिण्हंति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : पंचण्हं इंदियाणं निग्गहकरा।
(ग) हा० टी० प० ११६ : निगृह्णन्तीति निग्रहणाः कर्तरि ल्युट्, पञ्चानां निग्रहणाः पञ्चनिग्रहणाः, पञ्चानामितीन्द्रियाणाम्।

2—जि० चू० पृ० ११६ : धीरा नाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।

3—हा० टी० प० ११६ : 'धीराः' बुद्धिमन्तः स्थिरा वा।

4—अ० चू० : वीरा सूरा विक्कन्ता।

5—जि० चू० पृ० ११६ : उज्जु—संजमो भण्णइ तमेव एगं पासंतीति तेण उज्जुदंसिणो अहवा उज्जुत्ति समं भण्णइ, सममप्पाणं परं च पासंतित्ति उज्जुदंसिणो।

6—अ० चू० : उज्जु—संजमो समता वा उज्जू—रागदोसपक्खविरहिता अविग्गहगती वा उज्जू—मोक्खमग्गो तं पस्संतीति उज्जुदंसिणो एवं च ते भयंतो गच्छविरहिता उज्जुदंसिणो।

7—हा० टी० प० ११६ : 'ऋजुदर्शिनः' इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः—संयमप्रतिबद्धाः।

8—(क) अ० चू० : गिम्हासु ठाण मोणवीरासणादि अणेगा विधं तवं करेंति, विसेसेणं तु सूराभिमुहा एगपादट्ठिता उड्ढंभूता आतावेंति।
(ख) हा० टी० प० ११६ : आतापयन्ति—ऊर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति।

9—जि० चू० पृ० ११६ : गिम्हेसु उड्डुयाउक्कुडुयमादीहिं आयावेंति जेवि न आयावेंति ते अन्नं तवविसेसं कुव्वन्ति।

हेमन्त ऋतु में अप्रावृत होकर प्रतिमा-स्थित होना चाहिए। यदि अप्रावृत न हो सके तो प्रावरण सीमित करना चाहिए[1]।

वर्षा ऋतु में पवन रहित स्थान में रहना चाहिए, ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए[2]। स्नेह—सूक्ष्म जल के स्पर्श से बचने के लिए शिशिर में निवात-लयन का प्रसंग आ सकता है। भगवान् महावीर शिशिर में छाया में बैठकर और ग्रीष्म में ऊकड़ू आसन से बैठ, सूर्याभिमुख हो आतापना लेते थे[3]।

श्लोक १३ :

५७. परीषह (परीसह क) :

मोक्ष-मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिए वे परीषह हैं[4]। वे क्षुधा, तृषा आदि बाईस हैं[5]।

५८. धुत-मोह (धुयमोहा ख) :

अगस्त्य सिंह ने 'धुतमोह' का अर्थ विकीर्णमोह, जिनदास ने जितमोह और टीकाकार ने विक्षिप्तमोह किया है। मोह का अर्थ अज्ञान किया गया है[6]। 'धुत' शब्द के कम्पित, त्यक्त, उच्छलित आदि अनेक अर्थ होते हैं।

जैन और बौद्ध साहित्य में 'धुत' शब्द बहुत व्यवहृत है। आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कध) के छठे अध्ययन का नाम भी 'धुय' है। निर्युक्तिकार के अनुसार जो कर्मों को धुनता है, प्रकम्पित करता है, उसे भाव-धुत कहते हैं[7]। इसी अध्ययन में 'धुतवाद' शब्द मिलता है[8]। 'धुतवाद' का अर्थ है, कर्म को नाश करने वाला वाद।

बौद्ध-साहित्य में 'धुत' 'धुतांग' 'धुतांगवादी' 'धुतगुण' 'धुतवाद' 'धुतवादी' आदि विभिन्न प्रकार से यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्लेशों के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत तापस होते थे। जिनको वैखानस कहते थे। बौद्ध-भिक्षुओं में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतांग' कहते हैं। 'धुतांग' १३ होते हैं वृक्षमूल-निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकासवास, पांशु-कूल-धारण आदि।

१—(क) अ० चू० हेमंते अग्गिणिवातसरणविरहिता तहा तवो वीरिय सपण्णा अवगुता पडिम ठायति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : हेमते पुण अपगुला पडिम ठायति, जेवि सिसिरे णावगुंडिता पडिम ठायति तेवि विधीए पाउणति।
(ग) हा० टी० प० ११६ : 'हेमन्तेषु' शीतकालेषु 'अप्रावृता' इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति।

२—(क) अ० चू० सदा इदियनोइदियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेहसघट्टपरिहरणत्थ णिवातलतणगता वासासु पडिसलीणा गामाणुगाम दूतिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : वासासु पडिसल्लीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थ', तवविसेसेसु उज्जमती, नो गामनगराइसु विहरति।
(ग) हा० टी० प० ११६ वर्षाकालेषु 'सलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

३—आचा० १ ९ ४ ६७–६८ सिसिरमि एगया भगव छायाए झाइ आसीय।
आयावइ य गिम्हाण अच्छइ उक्कुडुए अभितावे॥

४—तत्त्वा० ९ ८ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा'।

५—उत्त० द्वि० अध्य०

६—(क) अ० चू० धुतमोहा विकिण्णमोहा। मोहो मोहणीयमण्णाण वा।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ 'धुयमोहा' नाम जितमोहत्ति वुत्त भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११६ 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थ', मोह'—अज्ञानम्।

७—आचा० नि० गा० २५१ जो विहुणइ कम्माइ भावधुय त वियाणाहि॥

८—आचा० १ ६ १ १७६ आयाण भो सुस्सूस ! भो धुयवाय पवेयइस्सामि।

५९ सर्व दुःखों के (सव्वदुक्ख ग)

चूर्णियों और टीका में इसका अर्थ सर्व शारीरिक और मानसिक दुःख किया गया है[1]। उत्तराध्ययन के अनुसार जन्म, जरा, रोग और मरण दुःख हैं। यह संसार ही दुःख है जहाँ प्राणी क्लिष्ट होते हैं[2]। उत्तराध्ययन में एक जगह प्रश्न किया है : "शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अव्याबाध स्थान कौन-सा है ?" इसका उत्तर दिया है : 'लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुव स्थान है जहाँ जरा मृत्यु व्याधि और वेदना नहीं है। वही सिद्धि-स्थान या निर्वाण क्षेम शिव और अव्याबाध है[3]।"

उत्तराध्ययन में अन्यत्र कहा है— 'कर्म ही जन्म और मरण के मूल हैं। जन्म और मरण ये ही दुःख हैं[4]।"

जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दुःखों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् उनके आधार-भूत कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं। कर्मों के क्षय से सारे दुःख अपने आप क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

६० (पक्कमंति महेसिणो घ) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान पर 'ते वयंति सिवं गतिं' यह पाठ है और अध्ययन की समाप्ति इसीसे होती है। उनके अनुसार कुछ आचार्य अग्रिम दो श्लोकों को प्रक्षिप्त मानते हैं और कई आचार्य उन्हें मूल-सूत्र मानते हैं। जो उन्हें मूल मानते हैं उनके अनुसार तेरहवें श्लोक का चतुर्थ चरण 'पक्कमंति महेसिणो'[5] है।

'ते वयंति सिवं गतिं' का अर्थ है—वे शिवगति को प्राप्त होते हैं।

१—(क) अ० चू० : सारीर-माणसाणि अणेगागाराणि सव्वदुक्खाणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ : सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा नाम सव्वेसिं सारीरमाणसाणं दुक्खाणं पहाणाय खयनिमित्तंति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'सर्वदुःखप्रक्षयार्थं' शारीरमानसानेकदुःखप्रक्षयनिमित्तं।

२—उत्त० १९.१५ : जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥

३—उत्त० २३.८०-८४ :
सारीरमाणसे दुक्खे बज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणाबाहं ठाणं किं मन्नसी मुणी॥
अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू वाहिणो वेयणा तहा॥
ठाणे य इइ के वुत्ते केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी॥
निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरन्ति महेसिणो॥
तं ठाणं सासयं वासं लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति भवोहन्तकरा मुणी॥

४—उत्त० ३२.७ : कम्मं च जाइमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति।

५—अ० चू० : 'ते वयंति सिवं गतिं' " केसिंचि 'सिवं गतिं वयंति' ति एतम्मि सिलोगे [illegible] परिसमत्तमिणमज्झयणं इति केसिं चि सरो दो दुप्पभिति तेसिं वृत्तिगतमिदमुत्तियं सिलोकदुगं। केसिंचि सुत्तमेव, जेसिं सुत्तं, ते वयंति सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो।

श्लोक १४ :

६१. दुष्कर (दुक्कराइं क) :

टीका के अनुसार औद्देशिकादि के त्याग आदि दुष्कर हैं[१]। श्रामण्य में क्या-क्या दुष्कर है इसका गम्भीर निरूपण उत्तराध्ययन में है[२]।

६२. दुःसह (दुस्सहाइं ख) :

आतापना, आक्रोश, तर्जना, ताडना आदि दुःसह्य हैं[३]। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "बहुत-सारे परीषह दुःसह होते हैं। कायर मनुष्य उनसे विषाद को प्राप्त होता है। भिक्षु उनके उपस्थित होने पर व्यथा-ग्रस्त नहीं होता जिस तरह की नागराज संग्राम के मोर्चे पर। उनके सहन करने से भिक्षु पूर्व सचित रज का क्षय कर देता है[४]।"

६३. नीरज (नीरिया घ) :

सांसारिक प्राणी की आत्मा में कर्म-पुद्गलों की रज, कुपी में काजल की तरह, भरी हुई होती है। उसे सम्पूर्ण बाहर निकाल—कर्म-रहित हो। अर्थात् अष्टविध कर्मों का ऐकान्तिक आत्यन्तिक क्षय कर[५]। 'केइ सिज्झन्ति नीरया' की तुलना उत्तराध्ययन के (१८.५४ के चौथे चरण) 'सिद्धे भवइ नीरए' के साथ होती है।

श्लोक १५ :

६४. संयम और तप द्वारा···कर्मों का क्षयकर (खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य क, ख) :

जो इसी भव में मोक्ष नहीं पाते वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से पुन: मनुष्य-भव में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य-भव में वे संयम और तप द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

कर्मक्षय के दो तरीके हैं—एक नये कर्मों का प्रवेश न होने देना, दूसरा सञ्चित कर्मों का क्षय करना। संयम संवर है। वह नये कर्मों के प्रवेश को—आश्रव को रोक देता है। तप पुराने कर्मों को झाड़ देता है। वह निर्जरा है।

"जिस तरह महा तलाव के जल जाने के मार्गों को रोक देने पर उत्सिचन और धूप से वह सूख जाता है उसी तरह निराश्रवसंयत के करोड़ों भवों के सञ्चित पाप कर्म तप से निर्जरा को प्राप्त होते हैं[६]।"

१—(क) अ० चू० दुक्ख कज्जति दुक्कराणि ताइं करेंता।
(ख) हा० टी० प० ११६ दुष्कराणिकृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि।

२—उत्त० १९ २४-४२

३—(क) अ० चू० 'आतावयति गिम्हासु' एवमादीणि दुस्सहादीणि [सहेत्तु य]।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ आतापनाअकण्डूयनाक्रोशतर्जनाताडनाधिसहनादीनि, दूसहाइं सहिउ।
(ग) हा० टी० प० ११६ दुःसहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि।

४—उत्त० २१ १७-१८ परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू संगामसीसे इव नागराया॥
।
रयाइं खेवेज्ज पुरे कयाइं॥

५—(क) जि० चू० पृ० ११७ णीरया नाम अट्ठकम्मपगडीविमुक्का भण्णति।
(ख) हा० टी० प० ११६ 'नीरजस्का' इति अष्टविधकर्मविप्रमुक्ता, न तु एकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता।

६—उत्त० ३०.५-६ जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे। उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे। भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥

श्लोक १४ और १५ में मुक्ति-क्रम की एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए श्रमण वर्तमान जन्म में ही यदि सब कर्मों का क्षय कर देता है तब तो वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि सब कर्मों का क्षय नहीं कर पाता तो देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ से च्यवकर वह पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। सुकुल को प्राप्त करता है। धर्म के साधन उसे सुलभ होते हैं। जिन प्ररूपित धर्म को पुन पाता है, इस तरह सयम और तप से कर्मों का क्षय करता हुआ वह सम्पूर्ण सिद्धि-मार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—को प्राप्त हो अवशेष कर्मों का क्षय कर जरा-मरण-रोग आदि सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित हो मुक्त होता है। जघन्यत. एक भव में और उत्कृष्टतः सात-आठ भव ग्रहण कर मुक्त होता है[1]। इस क्रम का उल्लेख [illegible] में अनेक स्थलों पर है[2]।

इस अध्ययन के श्लोक १३ और १५ की तुलना उत्तराध्ययन के निम्नलिखित श्लोकों से होती है :

खवेत्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो[3] ॥
खवित्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा सिद्धिं पत्ता अणुत्तर[4] ॥

१—(अ) अ० चू० कदाति अणतरे उक्कोसेण सत्त-ऽट्ठभवग्गणेसु सुकुलपच्चायाता बोधिमुवभित्ता।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ केइ पुण तेण भवग्गहणेण सिज्झति, 'तत्थ जे तेणेव भवग्गहणेण न सिज्झति ते ' तत्तोवि य चइऊण धम्मचरणकाले पुव्वकयसावसेसेण सुकुलेसु पच्चाययति, तओ पुणोवि जिणपण्णत्त धम्म एगेण भवग्गहणेण उक्कोसेण सत्तहि भवग्गहणेहि 'जाणि तेसिं तत्थ सावसेसाणि कम्माणि ताणि सजमतवेहि तवनियमेहि कम्मखवणट्ठमब्भुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता 'जाइजरामरणरोगादीहि सव्वप्पगारेणवि
(ग) हा० टी० प० ११६ टीका में भी ऐसे ही क्रम का उल्लेख है।
२—उत्त० ३ १४-२०
३—वही २८ ३६
४—वही २५ ४५

इस तरह संयम और तप आत्म-शुद्धि के दो मार्ग हैं। संयम और तप के साधनों से धर्माराधना करने का उल्लेख अन्यत्र भी है[1]। भावार्थ है—मनुष्य भव प्राप्त कर संयम और तप के द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ मनुष्य पूर्व कर्मों का क्रमशः क्षय करता हुआ उत्तरोत्तर सिद्धि मार्ग को प्राप्त करता है।

६५ सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर (सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ग)

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी सिद्धि मार्ग को प्राप्त कर[2]—उसकी साधना करते हुए[3]।

केशी ने गौतम से पूछा : "लोक में कुपथ बहुत हैं जिनके अनुसरण से जन नाश को प्राप्त होते हैं। वह कौन-सा मार्ग है जिस पर आप उपस्थित हैं और नाश को प्राप्त नहीं होते?" गौतम ने उत्तर दिया : "मुझे मार्ग और उन्मार्ग दोनों का ज्ञान है।" "वह मार्ग कौन-सा है?" केशी ने पूछा। गौतम बोले : "जिनाख्यात मार्ग सन्मार्ग है। यही उत्तम मार्ग है। और सब उन्मार्ग हैं[4]।"

उत्तराध्ययन में 'मोक्खमग्गगई'—मोक्षमार्गगति नामक २८ वाँ अध्याय है। वहाँ जिनाख्यात मोक्षमार्ग—सिद्धिमार्ग को चार कारणों से संयुक्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला कहा है[5]। वहाँ कहा है : "सर्वदर्शी जिन ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मार्ग कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग को प्राप्त कर जीव सुगति को जाते हैं। दर्शन-रहित व्यक्ति के ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चरण-गुण नहीं होता, चरण-गुण से हीन के मोक्ष नहीं होता। जिसके मोक्ष नहीं उसे निर्वाण नहीं होता। ज्ञान से भाव जाने जाते हैं। दर्शन से उन पर श्रद्धा की जाती है। चारित्र से कर्मों का निग्रह किया जाता है। तप से आत्मा को कर्म-मल से रिक्त कर शुद्ध किया जाता है[6]।"

६६ परिनिर्वृत (परिनिव्वुडा घ) :

'परिनिर्वृत' का अर्थ है जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त[7]। भवधारण करने में सहायभूत घाति-कर्मों का सर्व प्रकार से क्षय कर जन्मादि से रहित होना[8]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ की टीका 'परिनिर्वान्ति' की है और 'परिनिव्वुड' को पाठान्तर माना है। 'परिनिर्वान्ति' का अर्थ सब प्रकार से सिद्धि को प्राप्त होते हैं—किया है[9]।

१—उत्त० १६.७७; २६.३७; २८.३६।

२—जि० चू० पृ० ११७ : सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता णाम जहा ते तवनियमेहिं कम्मक्खयमणुगच्छन्ता अतो ते सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता भवंति।

३—(क) अ० चू० : सिद्धिमग्गं दरिसण-णाण-चरित्तमयं अणुप्पत्ता।

(ख) हा० टी० प० ११६ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः।

४—उत्त० २३.६०, ६३ :
कुप्पहा बहवो लोए जेहिं नासन्ति जन्तवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते तं न नस्ससि गोयमा॥
कुप्पवयणपासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे॥

५—उत्त० २८.१ :
मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं नाणदंसणलक्खणं॥

६—उत्त० २८.२,३,३०,३५ :
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥
नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥

७—जि० चू० पृ० ११७ : परिनिव्वुडा नाम जाइजरामरणरोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति वुत्तं भवइ।

८—अ० चू० : परिनिव्वुडा समंता निव्वुडा सव्वप्पकारोघाति-भवधारणकम्मपरिक्खता।

९—हा० टी० प० ११६ : 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति 'परिनिव्वुड' त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् [illegible]
[illegible]।

चउत्थं अज्झयणं

छज्जीवणिया

अध्ययन

ड्जीवनिका

आमुख

श्रामण्य का आधार है आचार। आचार का अर्थ है अहिंसा। अहिंसा अर्थात् सभी जीवों के प्रति सयम—

अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्व जीवेसु सजमो॥ (दश० ६ ८)

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह सयम को कैसे जानेगा ?

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणतो, कहं सो नाहिइ सजम॥ (दश० ४ १२)

सयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् जीव-निकाय का निरूपण क्रम-प्राप्त है।

इस अध्ययन में अजीव का साक्षात् वर्णन नहीं है। इस अध्ययन के नाम—"छज्जीवणियं"—में जीव-निकाय के निरूपण की ही प्रधानता है, किन्तु अजीव को न जानने वाला सयम को नहीं जानता (दश० ४ १२) और निर्युक्तिकार के अनुसार इसका पहला अधिकार है जीवाजीवाभिगम (दश० नि० ४ २१६) इसलिए अजीव का प्रतिपादन अपेक्षित है। अहिंसा या सयम के प्रकरण में अजीव के जिस प्रकार को जानना आवश्यक है वह है पुद्गल।

पुद्गल-जगत् सूक्ष्म भी है और स्थूल भी। हमारा अधिक सम्बन्ध स्थूल पुद्गल-जगत् से है। हमारा दृश्य और उपभोग्य ससार स्थूल पुद्गल-जगत् है। वह या तो जीवच्छरीर है या जीव-मुक्त शरीर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस(चर)—ये जीवों के शरीर हैं। जीवच्युत होने पर ये जीव-मुक्त शरीर वन जाते हैं।

"अन्नत्थ सत्थ परिणएण" इस वाक्य के द्वारा इन दोनों दशाओं का दिशा-निर्देश किया गया है। शस्त्र-परिणति या ...रक वस्तु के सयोग से पूर्व ये पृथ्वी, पानी आदि पदार्थ सजीव होते हैं और उनके सयोग से जीवच्युत हो जाते हैं—निर्जीव हैं। तात्पर्य की भाषा में पृथ्वी, पानी आदि की शस्त्र-परिणति की पूर्ववर्ती दशा सजीव है और उत्तरवर्ती दशा अजीव। ...र उक्त वाक्य इन दोनों दशाओं का निर्देश करता है। इसलिए जीव और अजीव दोनों का अभिगम स्वत फलित ...है।

पहले ज्ञान होता है फिर अहिंसा—"पढम नाण तओ दया" (दश० ४ १०)। ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का ...स होता है। अहिंसा साधन है। साध्य के पहले चरण से उसका प्रारम्भ होता है और उसका पूरा विकास होता है ...-सिद्धि के अन्तिम चरण में। जीव और अजीव का अभिगम अहिंसा का आधार है और उसका फल है—मुक्ति। इन दोनों ...च में होता है उनका साधना-क्रम। इस विषय-वस्तु के आधार पर निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को पाँच (अजीवाभिगम ...पक् माना जाए तो छह) अधिकारों—प्रकरणों में विभक्त किया है—

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफल, छज्जीवणियाइ अहिगारा॥ (दश० नि० ४ २१६)

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

मूल

१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।

२—कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयण धम्मपन्नत्ती ।

३—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तस-काइया ।

संस्कृत छाया

श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महा-वीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ १ ॥

कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महा-वीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ २ ॥

इय खलु सा षड्जीवनिका नामा-ध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्तिः तद्यथा—पृथिविकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पति-कायिकाः त्रसकायिकाः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद

१—आयुष्मन्[1] ! मैंने सुना है उन भगवान् ने[2] इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री[3] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा[4] प्रवेदित[5] सु-आख्यात[6] और सु-प्रज्ञप्त[7] है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन[8] का पठन[9] मेरे लिए[10] श्रेय है।

२—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?

३—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्-कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वन-स्पतिकायिक और त्रसकायिक[11] ।

नवें सूत्र तक जीव और अजीव का अभिगम है। दसवें से सत्रहवें सूत्र तक चारित्र-धर्म के स्वीकार की पद्धति का निरूपण है। अठारहवें से तेईसवें सूत्र तक यतना का वर्णन है। पहले से ग्यारहवें श्लोक तक बन्ध और अबन्ध की प्रक्रिया का उपदेश है। बारहवें श्लोक से पचीसवें श्लोक तक धर्म-फल की चर्चा है। मुक्ति का अधिकारी साधक ही होता है असाधक नहीं, इसलिए वह मुक्ति-मार्ग की आराधना करे, विराधना से बचे —इस उपसंहारात्मक वाणी के साथ-साथ अध्ययन समाप्त हो जाता है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्म-प्रज्ञप्ति चारित्र-धर्म, चरण और धर्म—ये छहों 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची शब्द हैं :—

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥ (दश० नि० ४।२३३)

मुक्ति का आरोह-क्रम जानने की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत उपयोगी है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से उद्धृत किया गया है—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ॥ (दश० नि० १-१६)

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

मूल

१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।

२—कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयण धम्मपन्नत्ती ।

३—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया ।

संस्कृत छाया

श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययन धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ १ ॥

कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययन धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ २ ॥

इय खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्तिः तद्यथा—पृथिविकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पति-कायिकाः त्रसकायिकाः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद

१—आयुष्मन्[1] ! मैंने सुना है उन भगवान् ने[2] इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री[3] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा[4] प्रवेदित[5] सु-आख्यात[6] और सु-प्रज्ञप्त[7] है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन[8] का पठन[9] मेरे लिए[10] श्रेय है।

२—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?

३—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्-कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक[11] ।

४—पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

पृथिवी चित्तवती आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र परिणतायाः ॥ ४ ॥

४—शस्त्र[१३]-परिणति से पूर्व[१४] पृथ्वी चित्तवती[१५] कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली[१६] है।

५—आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

आपश्चित्तवत्यः आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र परिणताभ्यः ॥ ५ ॥

५—शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

६—तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

तेजश्चित्तवत् आख्यातम् अनेकजीवम् पृथक्सत्त्वम् अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥ ६ ॥

६—शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

७—वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

वायुश्चित्तवान् आख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥ ७ ॥

७—शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

८—वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् तद्यथा—अग्रबीजाः मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहाः सम्मूर्च्छिमाः तृणलताः वनस्पतिकायिकाः सबीजाः चित्तवन्त आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्र-परिणतेभ्यः ॥ ८ ॥

८—शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली है उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज[१७] मूल-बीज पर्व-बीज स्कन्ध-बीज बीज-रुह सम्मूर्छिम तृण[१] और लता ।

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त[१] वनस्पति-कायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाले हैं।

६—से जे पुण इमे अणेगे वहवे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जा य कुंथु पिवीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चई।

अथ ये पुनरिमे अनेके बहवः त्रसाः प्राणिन तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजाः रसजाः संस्वेदजाः सम्मूर्च्छिमाः उद्भिजाः औपपातिकाः। येषां केषाञ्चित् प्राणिनाम् अभिक्रान्तम् प्रतिक्रान्तम् सङ्कुचितम् प्रसारितम् रुतम् भ्रान्तम् त्रस्तम् पलायितम्, आगतिगतिविज्ञातारः ये च कीटपतङ्गाः याश्चकुथुपिपीलिकाः सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरिन्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनिकाः सर्वे नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः परम-धार्मिकाः एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥६॥

६—और ये जो अनेक बहु त्रस प्राणी हैं,[21] जैसे—अण्डज,[22] पोतज,[23] जरायुज,[24] रसज,[25] संस्वेदज,[26] सम्मूर्च्छनज,[27] उद्भिज,[28] औपपातिक[29] वे छठे जीव-निकाय में आते हैं। जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, सकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एव गति के विज्ञाता हैं वे त्रस हैं और जो कीट, पतग, कुथु, पपीलिका सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं[30]। यह छठा जीवनिकाय त्रस-काय कहलाता है।

१०—इच्चेसिं छण्हं जीव-निकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

इत्येषा षण्णा जीवनिकायाना नैव स्वय दण्ड समारभेत, नैवान्यैर्दण्ड समारम्भयेत् दण्ड समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविध त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि ॥१०॥

१०—इन[31] छः जीव-निकायों के प्रति स्वयं दण्ड-समारम्भ[32] नहीं करना चाहिए, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। यावज्जीवन के लिए[33] तीन करण तीन योग से[34]—मन से, वचन से, काया से[35]—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते[36]! मैं अतीत में किए[37] दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ,[38] उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ[39] और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ[40]।

११—पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

१२—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि—अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा—नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि नैवान्यैः प्राणानतिपातयामि प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि । यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥११॥

अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि—अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा—नैव स्वयं मृषा वदामि नैवान्यैर्मृषा वादयामि मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् मृषावादाद्विरमणम् ॥१२॥

११—भंते ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण होता है ।

भन्ते ! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ । सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराऊँगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भन्ते ! मैं अतीत में किए प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भन्ते ! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात की विरति के लिए उपस्थित हुआ हूँ ।

१२—भन्ते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषा-वाद की विरति होती है ।

भन्ते ! मैं सब मृषा-वाद का प्रत्याख्यान करता हूँ । क्रोध से या लोभ से भय से या हँसी से मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भन्ते ! मैं अतीत के मृषा-वाद से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भन्ते ! मैं दूसरे महाव्रत में मृषा-वाद से विरत हुआ हूँ ।

१३—अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्न गेण्हते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण।

अथापरे तृतीये भदन्त! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! अदत्तादान प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्प वा बहुं वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा—नैव स्वयमदत्त गृह्णामि, नैवान्यैरदत्त ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीव त्रिविध त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि।

तृतीये भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥१३॥

१३—भंते! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान[१] की विरति होती है।

भंते! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में[३] कहीं भी अल्प या बहुत,[४] सूक्ष्म या स्थूल,[५] सचित्त या अचित्त[६] किसी भी अदत्त-वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! मैं तीसरे महाव्रत में सर्व अदत्तादान से विरत हुआ हूँ।

१४—अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

अथापरे चतुर्थे भदन्त! महाव्रते मैथुनाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! मैथुन प्रत्याख्यामि—अथ दिव्यं वा मानुष वा, तिर्यग्यौनिक वा—नैव स्वय मैथुन सेवे नैवान्यैर्मैथुन सेवयामि मैथुन सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीव त्रिविध त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि।

चतुर्थे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मैथुनाद्विरमणम् ॥१४॥

१४—भंते! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन की विरति होती है।

भंते! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन[७] का मैं स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! मैं चौथे महाव्रत में सर्व मैथुन-सेवन से विरत हुआ हूँ।

१५—अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

अथापरे पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा—नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥ १५ ॥

१५—भंते ! इसके पश्चात् पाँचवें महाव्रत में परिग्रह[१८] की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में सर्व परिग्रह से विरत हुआ हूँ।

१६—अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि—से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं।

अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि—अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१६॥

१६—भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन[१९] की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य[२०]—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरों को नहीं खिलाऊँगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं छठे व्रत में सर्व रात्रि-भोजन से विरत हुआ हूँ।

१७—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्त-हियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रि-भोजन-विरमण षष्ठानि आत्म-हितार्थं उपसम्पद्य विहरामि ॥ १७ ॥

१७—मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए[६१] अंगीकार कर विहार करता हूँ[६२]।

१८—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजयविरयपडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा, न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयत-विरत - प्रतिहत - प्रत्याख्यात- पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं वा ससरक्षं वा कायं ससरक्षं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा अङ्गुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा—नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात् अन्येन नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत् अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १८ ॥

१८—सयत-विरत-प्रतिहत- प्रत्याख्यात-पापकर्मा[६३] भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में,[६४] सोते या जागते, एकान्त में या परिषद में—पृथ्वी,[६५] भित्ति,[६६] शिला,[६७] ढेले,[६८] सचित्त-रज से संसृष्ट[६९] काय अथवा सचित्त-रज से संसृष्ट वस्त्र का हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच,[७०] अँगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह[७१] से न आलेखन[७२] करे, न विलेखन[७३] करे, न घट्टन[७४] करे और न भेदन[७५] करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए, आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के पृथ्वी-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

१६—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न आवीलावेज्जा न पवीलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत विरत प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ उदकं वा 'ओसं' वा हिमं वा महिकां वा करकं वा 'हरतनुकं' वा शुद्धोदकं वा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रं सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वा वस्त्रं—नाऽऽमृशेत् न संस्पृशेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्येन नाऽऽमर्शयेत् न संस्पर्शयेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्यमामृशन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि॥ १६॥

१६—संयत विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—उदक,[1] ओस[2] हिम,[3] धूँअर[4] ओले[5] भूमि को भेद कर निकले हुए जल बिन्दु,[6] शुद्ध उदक[7] जल से भीगे[8] शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध[9] शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न संस्पर्श[10] करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे[11] न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे,[12] न आतापन करे और न प्रतापन[13] करे, दूसरों से न आमर्श कराए, न संस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीडन कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए, न प्रतापन कराए। आमर्श, संस्पर्श आपीडन, प्रपीडन आस्फोटन प्रस्फोटन आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से वचन से, काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२०–से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगवो वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से अगणिं वा इंगाल वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा, न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ अग्निं वा अङ्गारं वा मुर्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वाला वा अलात वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा—नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्येन नोत्सेचयेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्य मुत्सिञ्चन्त वा घट्टयन्त वा उज्ज्वालयन्त वा निर्वापयन्त वा न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २० ॥

२०—सयत-विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—अग्नि,[८९] अगारे,[९०] मुर्मुर,[९१] अर्चि,[९२] ज्वाला,[९३] अलात,[९४] शुद्ध अग्नि,[९५] अथवा उल्का[९६] का न उत्सेचन[९७] करे, न घट्टन[९८] करे, न उज्ज्वालन[९९] करे और न निर्वाण[१००] करे, न दूसरों से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए, उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भन्ते! मै अतीत के अग्नि समारम्भ निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, [illegible]ा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग [illegible]ता हूँ।

२१—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से सिएण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा न वीयावेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—स सितेन वा विधुवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा 'पेहुणेण' वा, पेहुणहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा आत्मनो वा कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलं—न फूत्कुर्यात् न व्यजेत् अन्येन न फूत्कारयेत् न व्याजयेत् अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा व्यजन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥२१॥

२१—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—चामर[1], पंखे,[2] बीजन[3], पत्र[4], शाखा, शाखा के टुकड़े, मोर-पंख[5], मोर पिच्छी[6], वस्त्र, वस्त्र के पल्ले,[7] हाथ या मुंह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों[8] को फूंक न दे, हवा न करे; दूसरों से फूंक न दिलाए, हवा न कराए; फूंक देने वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२२—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से बीएसु वा बीय-पइट्ठिएसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठिएसु वा जाएसु वा जायपइट्ठिएसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठिएसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठिएसु वा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा न तुयट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुयट्टावेज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडि-क्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ बीजेषु वा बीज-प्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तकोल-प्रतिनिश्रितेषु वा—न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्तेत अन्यं न गमयेत् न स्थापयेत् न निषादयेत् न त्वग्वर्तयेत् अन्यं गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा त्वग्वर्तमानं वा—न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २२ ॥

२२—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, स्फुटित बीजों पर,[१०९] स्फुटित बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर,[११०] पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर स्थित वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर,[१११] छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी हुई वस्तुओं पर, अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर[११२] न चले, न खड़ा रहे, न बैठे, न सोये,[११३] दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए, चलने, खड़ा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२३—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत विरत प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा रजोहरणे वा गुच्छके वा 'उन्दुके' वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत् नैनं संघातमापादयेत् ॥ २३ ॥

२१—संयत विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में सोते या जागते एकान्त में या परिषद् में—कीट, पतंग कुंथु या पिपीलिका हाथ पैर बाहु, ऊरु उदर सिर,[११४] वस्त्र पात्र रजोहरण[११५] गोच्छग,[११६] उण्डक दण्डक[११७] पीठ, फलक[११८] शय्या या संस्तारक[११९] पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर[१२०] चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक[१२१] धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर प्रमार्जन कर उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में[१२२] रख दे किन्तु उनका संघात[१२३] न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे वैसे न रखे।

१—अजयं चरमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं चरंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ १ ॥

१—अयतना पूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर[१] जीवों की हिंसा करता है[२]। उससे पाप-कर्म का बंध होता है[३]। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[४]।

२—अजयं चिट्ठमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं तिष्ठंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ २ ॥

२—अयतना पूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३—अजयं आसमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्म
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतमासीनस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापक कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

३—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४—अजयं सयमाणो उ
पाणभूयाइ हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयत शयानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापक कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

४—अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

५—अजयं भुंजमाणो उ
पाणभूयाइ हिंसई।
बंधई पावय कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयत भुञ्जानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापक कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६—अजयं भासमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं
त से होइ कडुयं-फलं ॥

अयत भाषमाणस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापक कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ६ ॥

६—अयतनापूर्वक बोलने वाला[१२८] त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[१२९]।

७—कहं चरे कहं चिट्ठे
कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

कथ चरेत् कथ तिष्ठेत्,
कथमासीत कथ शयीत।
कथ भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

७—कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे? कैसे सोए? कैसे खाए? कैसे बोले? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो[१३०]।

८—[१३१]जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

यत चरेद् यतं तिष्ठेद्
यतमासीत यत शयीत।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

८—यतनापूर्वक चलने,[१३२] यतनापूर्वक खड़ा होने,[१३३] यतनापूर्वक बैठने,[१३४] यतनापूर्वक सोने,[१३५] यतनापूर्वक खाने[१३६] और यतनापूर्वक बोलने[१३७] वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता।

९—सव्वभूयप्पभूयस्स
सम्म भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स
पावं कम्मं न बंधई ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य
सम्यग् भूतानि पश्यतः।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य
पापं कर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

९—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता[१३८]।

१०—[1] पढमं नाणं तओ दया
एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय पावगं॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया
एवं तिष्ठति सर्व संयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति
किं वा ज्ञास्यति छेक-पापकम् ॥१०॥

१०—पहले ज्ञान फिर दया[14]—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं[15]। अज्ञानी क्या करेगा?[1] वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप?[17]

११—सोच्चा जाणइ कल्लाणं
सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा
जं छेयं तं समायरे॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं
श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा
यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥११॥

११—जीव सुन कर[8] कल्याण को[1] जानता है और सुनकर ही पाप को[1] जानता है। कल्याण और पाप[1] सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२—जो जीवे वि न याणाइ
अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो
कहं सो नाहिइ संजमं॥

यो जीवानपि न जानाति
अजीवानपि न जानाति।
जीवाऽजीवानजानन्
कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥१२॥

१२—जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा?

१३—जो जीवे वि वियाणाइ
अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो
सो हु नाहिइ संजमं॥

यो जीवानपि विजानाति
अजीवानपि विजानाति।
जीवाऽजीवान् विजानन्
स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥१३॥

१३—जो जीवों को भी जानता है अजीवों को भी जानता है वही जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही संयम को जान सकेगा।

१४—जया जीवमजीवे य
दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई॥

यदा जीवानजीवांश्च
द्वावप्येतौ विजानाति।
तदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति ॥१४॥

१४—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है।

१५—जया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणइ॥

यदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति ॥१५॥

१५—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य पाप बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है[1]।

१६—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे॥

यदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति।
तदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥१६॥

१६—जब मनुष्य पुण्य पाप बन्ध मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवी और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है[1]।

१७—जया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ॥

यदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति सयोग
साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥ १७ ॥

१७—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य सयोग को त्याग देता है[१५२] ।

१८—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥

यदा त्यजति सयोग
साभ्यन्तर-बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

१८—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य सयोगों को त्याग देता है तब वह मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है[१५३] ।

१९—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ॥

यदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा सवरमुत्कृष्ट
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

१९—जब मनुष्य मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट सवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[१५४] ।

२०—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ॥

यदा सवरमुत्कृष्ट
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरजः
अबोधि-कलुष-कृतम् ॥ २० ॥

२०—जब मनुष्य उत्कृष्ट सवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है[१५५] ।

२१—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥

यदा धुनाति कर्मरज
अबोधि-कलुष-कृतम् ।
तदा सर्वत्रग ज्ञान
दर्शन चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

२१—जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है[१५६] ।

२२—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ॥

यदा सर्वत्रग ज्ञान
दर्शन चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोक च
जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

२२—जब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है[१५७] ।

२३—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥

यदा लोकमलोक च
जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

२३—जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है[१५८] ।

२४—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥

यदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते।
तदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः॥२४॥

२४—जब वह योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है[१०]।

२५—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः
सिद्धो भवति शाश्वतः॥२५॥

२५—जब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त होता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है[१]।

२६—सुहसायगस्स समणस्स
सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुगइ तारिसगस्स॥

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य
साताकुलकस्य निकामशायिनः।
उत्क्षालनाप्रधाविनः
दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य॥२६॥

२६—जो श्रमण सुख का रसिक[११] सात के लिए आकुल[१] अकाल में सोने वाला[१२] और हाथ पैर आदि को बार बार धोने वाला[१४] होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ है।

२७—तवोगुणपहाणस्स
उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुगइ तारिसगस्स॥

तपोगुणप्रधानस्य
ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य।
परीषहान् जयतः
सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य॥२७॥

२७—जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति[१] क्षान्ति तथा संयम में रत और परीषहों को[११] जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है।

[[१] पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य
खन्ती य बम्भचेरं च॥]

[पश्चादपि ते प्रयाताः
क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि।
येषां प्रियं तपः संयमश्च
क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च॥]

[जिन्हें तप संयम क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं—भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों।]

२८—इच्चेयं छज्जीवणियं
सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुलहं लभित्तु सामण्णं
कम्मुणा न विराहेज्जासि॥
त्ति बेमि॥

इत्येतां षड्जीवनिकां
सम्यग्-दृष्टिः सदा यतः।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं
कर्मणा न विराधयेत्॥२८॥
इति ब्रवीमि।

२८—दुर्लभ श्रमण-भाव को प्राप्त कर सम्यग्-दृष्टि[१] और सतत-सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा[१]—मन वचन और काया से—विराधना न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

अध्ययन ४ : टिप्पणियां

सूत्र : १

१. आयुष्मन् ! (आउसं !) :

इस शब्द के द्वारा शिष्य को आमन्त्रित किया गया है। जिसके आयु हो उसे आयुष्मान् कहते हैं। उसको आमन्त्रित करने का शब्द है 'आयुष्मन् !'[1] 'आउस' शब्द द्वारा शिष्य को सम्बोधित करने की पद्धति जैन आगमों में अनेक स्थलों पर देखी जाती है। तथागत बुद्ध भी 'आउसो' शब्द द्वारा ही शिष्यों को सम्बोधित करते थे[2]। प्रश्न हो सकता है—शिष्य को आमन्त्रण करने के लिए यह शब्द ही क्यों चुना गया। इसका उत्तर है—योग्य शिष्य के सब गुणों में प्रधान गुण दीर्घ-आयु ही है। जिसके दीर्घायु होती है वही पहले ज्ञान को प्राप्त कर बाद में दूसरों को दे सकता है। इस तरह शासन-परम्परा अनवच्छिन्न बनती है[3]। 'आयुष्मन्' शब्द देश-कुल-शीलादि समस्त गुणों का सांकेतिक शब्द है। आयुष्मन् ! अर्थात् उत्तम देश, कुल, शीलादि समस्त गुण से सयुक्त दीर्घायुवाला।

हरिभद्र सूरि लिखते हैं[4]—"प्रधानगुणनिष्पन्न आमन्त्रण वचन का आशय यह है कि गुणवान शिष्य को आगम-रहस्य देना चाहिए, अगुणी को नहीं। कहा है—'जिस प्रकार कच्चे घडे में भरा हुआ जल उस घडे का ही विनाश कर देता है वैसे ही गुण रहित को दिया हुआ सिद्धान्त-रहस्य उस अल्पाधार का ही विनाश करता है'।"

'आउस' शब्द की एक व्याख्या उपर्युक्त है। विकल्प व्याख्याओं का इस प्रकार उल्लेख मिलता है :

१—'आउस' के बाद के 'तेण' शब्द को साथ लेकर 'आउसतेणं' को 'भगवया' शब्द का विशेषण मानने से दूसरा अर्थ होता है—मैंने सुना चिरजीवी भगवान ने ऐसा कहा है अथवा भगवान् ने साक्षात् ऐसा कहा है[5]।

२—'आवसतेणं' पाठान्तर मानने से तीसरा अर्थ होता है—गुरुकुल में रहते हुए मैंने सुना भगवान ने ऐसा कहा है[6]।

३—'आमुसतेणं' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—सिर से चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने सुना भगवान ने ऐसा कहा है[7]।

१—जि० चू० पृ० १३० आयुस् प्रातिपदिक प्रथमाछ, आयु अस्यास्ति मतुप्प्रत्यय, आयुष्मान् !, आयुष्मन्नित्यनेन शिष्यस्यामन्त्रण ।

२—विनयपिटक १ऽऽ३ १४ पृ० १२५ ।

३—जि० चू० पृ० १३०-१ अनेन गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवति, दीर्घायुष्कत्व च सर्वेषां गुणानां प्रतिविशिष्टतम, कह ?, जम्हा दिग्घायू सीसो त नाण अन्नेसिपि भवियाण दाहिति, ततो य अव्वोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइत्ति, तम्हा आउसतग्गहण कयति ।

४—हा० टी० प० १३७ प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्य देय नागुणवत इत्याह, तदनुकम्पा-प्रवृत्तेरित्ति, उक्त च—

"आमे घडे निहित्त जहा जल त घड विणासेइ ।
इअ सिद्धतरहस्स अप्पाहार विणासेइ ॥"

५—(क) जि० चू० पृ० १३१ छय मयाऽऽयुषि समेतेन तीर्थकरेण जीवमानेन कथित, एष द्वितीय· विकल्प· ।

(ख) हा० टी० प० १३७ 'आउसंतेण' ति भगवत एव विशेपणम्, आयुष्मता भगवता—चिरजीविनेत्यर्थ, मङ्गलवचन चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव ।

६—(क) जि० चू० पृ० १३१ श्रुत मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्प· ।

(ख) हा० टी० प० १३७ अथवा 'आवसंतेण' ति गुरुमूलमावसता ।

७—(क) जि० चू० पृ० १३१ छय मया एयमज्झयण आउसंतेणं भगवत· पादौ आमृपता ।

(ख) हा० टी० प० १३७ अथवा 'आमुसतेण' आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन ।

१—भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था। इसलिए वे काश्यप कहलाते थे[1]।

२—काश्य का अर्थ इक्षु-रस होता है। उसका पान करने वाले को काश्यप कहते हैं। भगवान् ऋषभ ने इक्षु-रस का पान किया था अत वे काश्यप कहलाये। उनके गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति इसी कारण काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। अतः वे निश्चय ही प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के धर्म-वश या विद्या-वश में उत्पन्न कहे जा सकते हैं। इसलिए उन्हें काश्यप कहा है[2]।

धनञ्जय नाममाला में भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप बतलाया है[3]। भाष्यकार ने काश्य का अर्थ क्षत्रिय-तेज किया है और उसकी रक्षा करने वाले को काश्यप कहा है[4]। भगवान् ऋषभ के बाद जो तीर्थङ्कर हुए वे भी सामान्य रूप से काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे अत उनका नाम अन्त्य काश्यप मिलता है[5]।

४. श्रमण ‥महावीर द्वारा (समणेणं ‥महावीरेणं) :

आचाराङ्ग के चौबीसवें अध्ययन में चौबीसवें तीर्थङ्कर के तीन नाम बतलाए हैं। उनमें दूसरा नाम 'समण' और तीसरा नाम 'महावीर' है। सहज समभाव आदि गुण-समुदाय से सम्पन्न होने के कारण वे 'समण' कहलाए। भयकर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठोर परीषहों को सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा[6]।

'समण' शब्द की व्याख्या के लिए देखिए पृ० ११-१२ अ० १ टि० १४।

यश और गुणों में महान् वीर होने से भगवान् का नाम महावीर पड़ा[7]। जो शूर विक्रान्त होता है उसे वीर कहते हैं। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं को जीतने से भगवान् महा विक्रान्त—महावीर कहलाए[8]। कहा है—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृत ॥

अर्थात् जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपपूर्वक रहता है, जो इस प्रकार तप और वीर्य से युक्त होता है, वह वीर होता है। इन गुणों में महान् वीर वे महावीर[9]।

५. प्रवेदित (पवेइया) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अथ है—अच्छी तरह विज्ञात—अच्छी तरह जाना हुआ[10]। हरिभद्र सूरि के अनुसार केवलज्ञान

१—(क) जि० चू० पृ० १३२ काश्यप गोत्त कुल यस्य सोऽय काशपगोत्तो तेण काशपगोत्तेण।
(ख) हा० टी० प० १३७ 'काश्यपेने' ति काश्यपसगोत्रेण।

२—(क) अ० चू० कास—उच्छू, तस्स विकारो—कास्य रस, सो जस्स पाण सो कासवो उसभ स्वामी, तस्स जो गोत्तजाता ते कासवा तेण वद्धमाण स्वामी कासवो तेण कासवेण।
(ख) जि० चू० पृ० १३२ काशो नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा त इक्खु पिबति तेन काश्यपा अभिधीयते।

३—धन० नाम० ११४ पृ० ५७ वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुराद्य प्रजापति।
ऐक्ष्वाकु (क) काश्यपो ब्रह्मा गौतमो नाभिजोऽग्रज ॥

४—धन० नाम० पृ० ५७ काश्य क्षत्रियतेज पातीति काश्यप। तथा च महापुराणे—"काश्यमित्युच्यते तेज काश्यपस्तस्य पालनात्"।

५—धन० नाम० ११५ पृ० ५८ सन्मतिर्महतीर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यप।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥

६—आचा० २ ३ ४०० प० ३८९ सहसमइए समणे भीम भयभेरव उराल अचलय परीसहसहत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कय समणे भगव महावीरे।

७—जि० चू० पृ० १३२ महतो यसोगुणेहिं वीरोत्ति महावीरो।

८—हा० टी० प० १३७ 'महावीरेण'—'शूर वीर विक्रान्ता' विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीर।

९—हा० टी० प० १३७ महाश्चासौ वीरश्च महावीर।

१०—अ० चू० विद ज्ञाने साधुवेदिता पवेदिता—साधुविण्णाता।

के आलोक द्वारा स्वयं अच्छी तरह वेदित—जाना हुआ प्रवेदित है[1]। जिनदास ने इस शब्द का अर्थ किया है—विविध रूप से—अनेक प्रकार से कथित[2]।

६—सु-आख्यात (सुयक्खाया):

इसका अर्थ है भली भाँति कहा[3]। यह बात अति प्रसिद्ध है कि भगवान् महावीर ने देव, मनुष्य और असुरों की सम्मिलित परिषद में जो प्रथम भाषण दिया वह षड्जीवनिका अध्ययन है[4]।

७—सु प्रज्ञप्त (सुपन्नत्ता):

'सु-प्रज्ञप्त' का अर्थ है—जिस प्रकार प्ररूपित किया गया है उसी प्रकार आचीर्ण किया गया। जो उपदिष्ट तो है पर आचीर्ण नहीं है वह सु-प्रज्ञप्त नहीं कहलाता[5]।

प्रवेदित सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त का संयुक्त अर्थ है—भगवान् ने षड्जीवनिका को जाना उसका उपदेश किया और जैसे उपदेश किया वैसे स्वयं उसका आचरण किया।

८—धर्म प्रज्ञप्ति (धम्मपन्नत्ती):

'षड्जीवनिका' अध्ययन का ही दूसरा नाम 'धर्म-प्रज्ञप्ति' है[6]। जिससे धर्म जाना जाय उसे धर्म-प्रज्ञप्ति कहते हैं[7]।

९—पठन (अहिज्जिउं):

अध्ययन करना[8]। पाठ करना, सुनना विचारना—ये सब भाव 'अहिज्जिउं' शब्द में निहित हैं[9]।

१०—मेरे लिए (मे):

'मे' शब्द का एक अर्थ है—अपनी आत्मा के लिए—स्वयं के लिए[10]। कई व्याख्याकार 'मे' को सामान्य 'आत्मा' के स्थान में

१—हा० टी० प० १३७: स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता—विज्ञातेत्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० १३२: प्रवेदिता नाम विविहमणेगप्पकारं कथितेत्युक्तं भवति।

३—(क) जि० चू० पृ० १३२: शोभनेन प्रकारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाता।
(ख) हा० टी० प० १३७: सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता।

४—श्री महावीर कथा पृ० २११।

५—(क) जि० चू० पृ० १३२: जहेव परूविया तहेव आइण्णावि इयरहा जइ उवदिसिऊण न तहा आयरंतो तो नो सुपन्नत्ता होंतित्ति।
(ग) हा० टी० प० १३७: सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैव व्याख्याता तथैव सुष्ठु—सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद् धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः।

६—हा० टी० प० १३८: अस्य तु व्याख्याते—अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयत्वमुपदर्शयन्नाहेति।

७—(क) अ० चू०: धम्मो पण्णविज्जइ जाए सा धम्मपण्णत्ती अज्झयण विसेसो।
(ख) जि० चू० पृ० १३२: धम्मो पण्णविज्जमाणो विन्नज्जति जत्थ सा धम्मपण्णत्ती।
(ग) हा० टी० प० १३८: 'धर्मप्रज्ञप्तिः' प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः।

८—जि० चू० पृ० १३२: अहिज्जिउं नाम अज्झाइउं।

९—हा० टी० प० १३८: 'अध्येतुं' मिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम्।

१०—(क) जि० चू० पृ० १३२: 'मे' त्ति अप्पणो निद्देसे।
(ख) हा० टी० प० १३७: ममेत्यात्म निर्देशः।

प्रयुक्त मानते हैं—ऐसा उल्लेख हरिभद्र सूरि ने किया है[1]। यह अर्थ ग्रहण करने से अनुवाद होगा—'इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन आत्मा के लिए श्रेय है।' यह अनुवाद सब सूत्रों के लिए उपयुक्त है।

सूत्र ३ :

११. पृथ्वी-कायिक.........त्रस-कायिक (पुढविकाइया.........तसकाइया) :

जिन छ प्रकार के जीव-निकाय का उल्लेख है, उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है

(१) काठिन्य आदि लक्षण से जानी जानेवाली पृथ्वी ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को पृथ्वीकाय कहते हैं पृथ्वीकाय जीव ही पृथ्वीकायिक कहलाते हैं[2]। मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चाँदी, अभ्र आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं। इनकी विस्तृत तालिका उत्तराध्ययन में मिलती है[3]।

(२) प्रवाहशील द्रव—जल ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को अप्काय कहते हैं। अप्काय जीव ही अप्कायिक कहलाते हैं[4]। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका, हिम—ये सब अप्कायिक जीवों के प्रकार हैं[5]।

(३) उष्णलक्षण तेज ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को तेजस्काय कहते हैं। तेजस्काय जीव ही तेजस्कायिक कहलाते हैं[6]। अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्काग्नि, विद्युत आदि तेजस्कायिक जीवों के प्रकार हैं[7]।

(४) चलनधर्मा वायु ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वायुकाय कहते हैं। वायुकाय जीव ही वायुकायिक कहलाते हैं[8]। उत्कलिका वायु, मण्डलिकावायु, घनवायु, गुंजावायु, सवर्तकवायु आदि वायुकायिक जीव हैं[9]।

(५) लतादि रूप वनस्पति ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वनस्पतिकाय कहते हैं। वनस्पतिकाय जीव ही वनस्पतिकायिक कहलाते हैं[10]। वृक्ष, गुच्छ, लता, फल, तृण, आलू, मूली आदि वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार हैं[11]।

(६) त्रसनशील को त्रस कहते है। त्रस ही जिनका काय—शरीर है उन जीवों को त्रसकाय कहते हैं। त्रसकाय जीव ही त्रसकायिक कहलाते है[12]। कृमि, शख, कुथु, पिपीलिका, मक्खी, मच्छर आदि तथा मनुष्य, पशु पक्षी, तिर्यञ्च, देव और नैरयिक जीव त्रसजीव हैं[13]।

स्वार्थ में इकण प्रत्यय होने पर पृथ्वीकाय आदि से पृथ्वीकायिक आदि शब्द बनते हैं[14]।

१—हा० टी० प० १३७ छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये।

२—हा० टी० प० १३८ पृथिवी—काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव काय—शरीर येषां ते पृथिवीकाया पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिका।

३—उत्त० ३६ ७२-७७।

४—हा० टी० प० १३८ आपो—द्रवा प्रतीता एव ता एव काय —शरीर येषां तेऽप्काया अप्काया एव अप्कायिका।

५—उत्त० ३६ ८५।

६—हा० टी० प० १३८ तेज—उष्णलक्षण प्रतीत तदेव काय—शरीर येषां ते तेज काय तेज काया एव तेज कायिका।

७—उत्त० ३६ ११०-१।

८—हा० टी० प० १३८ वायु —चलनधर्मा प्रतीत एव स एव काय —शरीर येषां ते वायुकाया वायुकाया एव वायुकायिका।

९—उत्त० ३६ ११८-९।

१०—हा०टी०प० १३८ वनस्पति —लतादिरूप प्रतीत, स एव काय —शरीर येषां ते वनस्पतिकाया, वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिका।

११—उत्त० ३६ ९४-९।

१२—हा० टी० प० १३८ एव त्रसनशीलास्त्रसा —प्रतीता एव, त्रसा काया —शरीराणि येषां ते त्रसकाया, त्रसकाया एव त्रसकायिका।

१३—उत्त० ३६ १२८-१२९, १३६-१३९, १४६-१४८, १५५।

१४—हा० टी० प० १३८ स्वार्थिकष्ठक्।

सूत्र ४

१२ शस्त्र (सत्थ)

घातक पदार्थ को शस्त्र कहा जाता है। वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वकाय शस्त्र, परकाय शस्त्र और उभयकाय शस्त्र। एक प्रकार की मिट्टी से दूसरी प्रकार की मिट्टी के जीवों की घात होती है। वहाँ मिट्टी उन जीवों के लिए स्वकाय शस्त्र है। वर्ण, गंध, रस स्पर्श के भेद से एक काय दूसरे काय का शस्त्र हो जाता है। पानी अग्नि आदि से मिट्टी के जीवों की घात होती है। वे इनके लिए परकाय शस्त्र हैं। स्वकाय और परकाय दोनों संयुक्त रूप से घातक होते हैं तब उन्हें उभयकाय शस्त्र कहा जाता है[1]। जिस प्रकार काली मिट्टी जल के स्पर्श, रस गंध आदि से पीली मिट्टी की शस्त्र है।

१३ शस्त्र-परिणति से पूर्व (अन्नत्थ सत्थपरिणएण) :

यह शब्द 'अन्नत्थ' का भावानुवाद है। यहाँ अन्नत्थ—अन्यत्र—शब्द का प्रयोग 'वर्जयित्वा—छोड़ कर' अर्थ में है। 'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं' का शाब्दिक अनुवाद होगा—शस्त्र-परिणत पृथ्वी को छोड़ कर—उसके सिवा अन्य पृथ्वी 'चित्तमंत' होती है[2]।

'अन्यत्र' शब्द के योग में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे—अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयाद् अन्यत्र च हनूमतः।

१४ चित्तवती (चित्तमंतं) :

चित्त का अर्थ है जीव अथवा चेतना। पृथ्वी जल आदि में जीव अथवा चेतना होती है इसलिए उन्हें चित्तवत् कहा गया है[3]।

'चित्तमंतं' के स्थान में वैकल्पिक पाठ 'चित्तमत्त' है। इसका संस्कृत रूप चित्तमात्र होता है। मात्र शब्द के स्तोक और

१—(क) दश० नि० ११ हा० टी० प० १३६: किञ्चित्स्वकायशस्त्रं यथा कृष्णा मृद् नीलादिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या तथा 'किञ्चित्परकाय' त्ति परकायशस्त्रं यथा पृथ्वी अप्तेजःप्रभृतीनाम् अप्तेजःप्रभृतयो वा पृथिव्याः 'तदुभयं किञ्चि' त्ति किञ्चित्तदुभयशस्त्रं भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः पाण्डुमृदश्च यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति।

(ख) जि० चू० पृ० १३७: किंची सत्थं सकायसत्थं किंचि परकायसत्थं किंचि उभयकायसत्थंति, तत्थ सकायसत्थं जहा किण्हमट्टिया नीलमट्टियाए सत्थं एवं पंचवण्णाणि परोप्परं सत्थं भवति, जहा य वण्णा तहा गंधरसफासावि भाणियव्वा, परकायसत्थं नाम पुढविकाओ आउकायस्स सत्थं पुढविकाओ तेउकायस्स पुढविकाओ वाउकायस्स पुढविकाओ वणस्सइकायस्स पुढविकाओ तसकायस्स एवं सव्वे परोप्परं सत्थं भवंति, उभयसत्थं नाम जाहे किण्हमट्टियाए कलुसितमुदगं भवइ ताहे परिणया।

२—(क) अ० चू०: अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति।

(ख) जि० चू० पृ० १३६: अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ, किं परिवज्जयइ? सत्थपरिणयं पुढविं मोत्तूण जा अण्णा पुढवी सा चित्तमंता इति तं परिवज्जयति।

(ग) हा० टी० प० १३८-९: 'अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः'—शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय—परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः।

३—(क) जि० चू० पृ० १३८: चित्तं जीवो भण्णइ तं चित्तं जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमंता, अहवा चित्तं चेयणाभावो भण्णइ, सो चेयणाभावो जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमंता।

(ख) हा० टी० प० १३८: 'चित्तवती' ति चित्तं—जीवलक्षणं तदस्या अस्तीति चित्तवती—सजीवेत्यर्थः।

४—(क) जि० चू० पृ० १३६: अहवा एवं पढिज्जइ 'पुढवि चित्तमंता मक्खाया'।

(ख) हा० टी० प० १३: पाठान्तरं वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया'।

परिमाण ये दो अर्थ माने हैं। प्रस्तुत विषय में 'मात्र' शब्द स्तोकवाची है[1]। पृथ्वीकाय आदि पाँच जीवनिकायों में चैतन्य स्तोक—थोड़ा-अल्प-विकसित है। उनमें उच्छ्वास, निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नहीं हैं[2]।

'मत्त' का अर्थ मूर्च्छित भी किया है। जिस प्रकार चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण के प्रबलतम उदय से पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है[3]।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी-पचेन्द्रिय तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम-मनुष्य, गर्भज-तिर्यञ्च, गर्भज-मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवन-वासी देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव) इन सबके चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है। एकेन्द्रियों में चैतन्य इन सबसे जघन्य होता है[4]।

१५. अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली (अणेगजीवा पुढोसत्ता) :

जीव या आत्मा एक नहीं है किन्तु सख्या दृष्टि से अनन्त है। वनस्पति के सिवाय शेष पाँच जीव-निकायों में से प्रत्येक में असख्य-असख्य जीव हैं और वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं। यहाँ असख्य और अनन्त दोनों के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार वेदों में 'पृथिवी देवता आपो देवता' द्वारा पृथ्वी आदि को एक-एक माना है उस प्रकार जैन-दर्शन नहीं मानता। वहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक को अनेक-जीव माना है[5]। यहाँ तक कि मिट्टी के कण, जल की बूँद और अग्नि की चिनगारी में असख्य जीव होते हैं।

१—(क) अ० चू० इह मेत्ता सद्दा थोवे।

(ख) जि० चू० पृ० १३५ चित्त चेयणाभावो चेव भण्णइ, मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, त०—थोवे वा परिणामे वा, थोवओ जहा सरिसवतिभागमत्तमणेण दत्त, परिमाणे परमोही अलोगे लोगप्पमाणमेत्ताइ खडाइ जाणइ पासइ, इह पुण मत्तासद्दो थोवे वट्टइ।

(ग) हा० टी० प० १३८ अत्र मात्रशब्द स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति।

२—(क) जि० चू० पृ० १३६ चित्तमात्रमेव तेषा पृथिवीकायिना जीवितलक्षण, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते।

(ख) हा० टी० प० १३८ ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्तेत्यर्थ।

३—(क) अ० चू० अहवा चित्त मत्त मतेसि ते चित्तमेता अहवा चित्तमता नाम जारिसा पुरिस्स मज्जपीतविसोवभुत्तस्स अहिभक्खिय मुच्छादीहि।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ अभिभूतस्स चित्तमत्ता तओ पुढविक्काइयाण कम्मोदएण पावयरी, तत्थ सव्व जहण्णय चित्त एगिदियाण।

(ग) हा० टी० प० १३८ तथा च प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्य चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्।

४—(क) अ० चू० सव्व जहण्ण चित्त एगिदियाण ततो विसुद्धतर बेइंन्दियाण ततो तेइन्दियाण ततो चोइन्दियाण ततो असन्निपचिंदितिरिक्खजोणिताण, समूच्छिम मणूसाण य, ततो गब्भवक्कतियतिरियाण, ततो गब्भवक्कतिय मणूसाण, ततो वाणमंतराण, ततो भवणवासिण ततो जोतिसियाण ततो सोधम्मताण जाव सव्वुक्कस अणुत्तरोववातियाण देवाण।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ तत्थ सव्वजहण्णय चित्त एगिदियाण, तओ विसुद्धयर बेइंदियाण, तओ विसुद्धतराग तेइदियाण, तओ विसुद्धयरागं चउरिंदियाण, तओ असण्णीण पचेंदियाण संमुच्छिममणुयाण य, तओ सुद्धतराग पचिदियतिरियाण, तओ गब्भवक्कतियमणुयाण, तओ वाणमतराण, तओ भवणवासीण ततो जोइसियाण, ततो सोधम्माण जाव सव्वुक्कोस अणुत्तरोववाइयाण देवाणति।

५—(क) जि० चू० पृ० १३६ अणेगे जीवा नाम न जहा वेदिएहि एगो जीवो पुढवित्ति, उक्त—"पृथिवी देवता आपो देवता" इत्येवमादि, इह पुण जिणसासणे अणेगे जीवा पुढवी भवति।

(ख) हा० टी० प० १३८ इय च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्या साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथिवी देवते' त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति।

इनका एक शरीर दृश्य नहीं बनता। इनके शरीरों का पिण्ड ही हमें दिख सकता है[1]।

अनेक जीवों को मानने पर भी कई सब में एक ही भूतात्मा मानते हैं। उनका कहना है—जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी जल में भिन्न भिन्न दिखाई देता है इसी तरह एक ही भूतात्मा जीवों में भिन्न भिन्न दिखाई देती है[2]। जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव निकायों के जीवों में स्वतन्त्र की सत्ता है। वे किसी एक ही महान् आत्मा के अवयव नहीं हैं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है इसीलिए वे पृथक्-सत्त्व हैं। जिनमें पृथक्भूत सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहते हैं। इनकी अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अंगुल के असंख्येय भाग मात्र में अनेक जीव समा जाते हैं। यदि इन्हें शिलादि पर बांटा जाय तो कुछ पिसते हैं कुछ नहीं पिसते। इससे इनका पृथक् सत्त्व सिद्ध होता है[3]।

मुक्तिवाद और भिन्नात्मवाद ये दोनों आपस में टकराते हैं। आत्मा मित होगी तो या तो मुक्त आत्माओं को फिर से जन्म लेना होगा या संसार जीव शून्य हो जाएगा। ये दोनों प्रमाण संभव नहीं हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे काव्य की भाषा में यों गाया है—

"मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य
माख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः[4]॥"

सूत्र ८

१६ अग्र-बीज (अग्गबीया):

वनस्पति के भिन्न भिन्न भेद उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर किए गए हैं। उनके उत्पादक भाग को बीज कहा जाता है। वे विभिन्न होते हैं। 'कोरंटक' आदि के बीज उनके अग्र भाग होते हैं इसलिए वे अग्रबीज कहलाते हैं[5]। उत्पल-कंद आदि के मूल ही उनके बीज हैं इसलिए वे मूलबीज कहलाते हैं[6]। इक्षु आदि के पर्व ही बीज हैं इसलिए वे 'पर्वबीज' कहलाते हैं[7]।

१—(क) अ० चू०: ताणि पुण असंखेज्जाणि समुदिताणि चक्खुविसयमागच्छंति।
(ख) जि० चू० पृ० १३६: असंखेज्जाणं पुण पुढविजीवाणं सरीराणि संहिताणि चक्खुविसयमागच्छंतित्ति।

२—हा० टी० प० १३८: अनेकजीवा अपि कश्चिदेकभूतात्मापेक्षया एव, यथाहुरेके—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" अत आह—'पृथक्सत्त्वा' पृथग्भूताः सत्त्वा—आत्मानो येषां ता पृथक्सत्त्वाः।

३—(क) जि० चू० पृ० १३६: पुढो सत्ता नाम पुढविक्कायो एगम्मि सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिहं चक्खुरिंदियविसयं गच्छइ।
(ख) हा० टी० प० १३८: अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकानेकजीवसमाश्रितेति भावः।

४—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका श्लो० २९।

५—(क) अ० चू०: कोरेंटगादीणि अग्गाणि रुप्पंति ते अग्गबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८: अग्गबीया नाम अग्गं—बीयाणि जेसिं ते अग्गबीया जहा कोरेंटगादी तेसिं अग्गाणि रुप्पंति।
(ग) हा० टी० प० १३९: अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः—कोरण्टकादयः।

६—(क) अ० चू०: कंदलि कंदादि मूलबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८: मूलबीया नाम उप्पलकंदादी।
(ग) हा० टी० प० १३९: मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः—उत्पलकन्दादयः।

७—(क) अ० चू०: इक्खु आदि पोरबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८: पोरबीया नाम उच्छुमादी।
(ग) हा० टी० प० १३९: पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः—इक्ष्वादयः।

थूहर, अश्वत्थ, कैछिद्द आदि के स्कध ही वीज हैं इसलिए वे 'स्कधबीज' कहलाते हैं[1]। शालि, गेहूँ आदि 'बीजरुह' कहलाते हैं[2]।

१७. सम्मूर्च्छिम (सम्मुच्छिमा) :

पद्मिनी, तृण आदि जो प्रसिद्ध बीज के विना उत्पन्न होते हैं वे 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं[3]।

१८. तृण (तण) :

घास मात्र को तृण कहा जाता है। दूब, काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर आदि प्रसिद्ध घास हैं। 'तृण' शब्द के द्वारा सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण किया गया है[4]।

१९. लता (लया) :

पृथ्वी पर या किसी वड़े पेड़ पर लिपट कर ऊपर फैलने वाले पौधे को लता कहा जाता है। 'लता' शब्द के द्वारा सभी लताओं का ग्रहण किया गया है[5]।

२०. बीजपर्यन्त (सबीया) :

वनस्पति के दस प्रकार होते हैं—मूल, कद, स्कध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज। मूल की अतिम परिणति वीज में होती है इसलिए 'स-बीज' शब्द वनस्पति के इन दसों प्रकारों का सग्राहक है[6]।

इसी सूत्र (८ २) में 'सबीयग' शब्द के द्वारा वनस्पति के इन्हीं दस भेदों को ग्रहण किया गया है[7]।

शीलाङ्क सूरि ने 'सबीयग' के द्वारा केवल 'अनाज' का ग्रहण किया है[8]।

१—(क) अ० चू० णिहुमादि खदबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ खधबीया नाम अस्सोत्थकविट्ठसल्लादिमायी।
(ग) हा० टी० प० १३९ स्कन्धो बीज येषां ते स्कधबीजा —शल्लक्यादय ।

२—(क) अ० चू० सालिमादि बीयरुहा।
(ख) जि० चू० १३८ बीयरुहा नाम सालीवीहीमादी।
(ग) हा० टी० प० १३९ बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहा —शाल्यादय ।

३—(क) अ० चू० पउमिणिमादि उदगपुढविसिणेहसमुच्छणा समुच्छिमा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ समुच्छिमानाम जे विणा बीयेण पुढविवरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेंति।
(ग) हा० टी० प० १४० सम्मूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमा —प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादय., न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि समवात्।

४—जि० चू० पृ० १३८ तत्थ तणग्गहणेण तणभेया गहिया।

५—जि० चू० पृ० १३८ लताग्गहणेण लताभेदा गहिया।

६—(क) जि० चू० पृ० १३८ सबीयग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवति—तजहा—
मूले कदे खधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥
(ख) अ० चू० सबीया इति बीयावसाणा दस वणस्सति भेदा सगहतो दरिसिता।

७—जि० चू० पृ० २७४ सबीयगहणेण मूलकन्दादिबीयपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसपगारस्स वणप्फतिणो गहण।

८—सूत्र० १ ९ ८ टी० प० १७९ 'पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा' सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजा, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि।

सूत्र ६

२१ अनेक बहु त्रस प्राणी (अणेगे बहवे तसा पाणा) :

त्रस जीवों की द्वीन्द्रिय आदि अनेक जातियाँ होती हैं और प्रत्येक जाति में बहुत प्रकार के जीव होते हैं इसलिए इनके पीछे अनेक और बहु ये दो विशेषण प्रयुक्त किए हैं[1]। इनमें उच्छ्वासादि विद्यमान होते हैं अतः ये प्राणी कहलाते हैं[2]।

त्रस दो प्रकार के होते हैं—लब्धि-त्रस और गति-त्रस। जिन जीवों में साभिप्राय गति करने की शक्ति होती है वे लब्धि-त्रस होते हैं और जिनमें अभिप्रायपूर्वक गति नहीं होती केवल गति मात्र होती है वे गति-त्रस कहलाते हैं। अग्नि और वायु को सूत्रों में त्रस कहा है पर वे गति-त्रस हैं। जिन्हें उदार त्रस प्राणी कहा है वे लब्धि-त्रस हैं[3]। प्रस्तुत सूत्र में त्रस के जो लक्षण बतलाए हैं वे लब्धि-त्रस के हैं।

२२ अण्डज (अंडया) :

अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि अण्डज कहलाते हैं[4]।

२३ पोतज (पोयया) :

पोत' का अर्थ शिशु है। जो शिशु रूप में उत्पन्न होते हैं जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं[5]।

२४ जरायुज (जराउया)

जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। भैंस, गाय आदि इसी रूप में उत्पन्न होते हैं। जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है जो शिशु को आवृत किए रहती है[6]।

१—(क) अ० चू० : 'अणेगा' अणेग भेदा बेइंदियादओ। 'बहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणी-पमुहसतसहस्सेहिं पुणरवि संखेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : अणेगे नाम एक्कंमि चेव जातिभेदे असंखेज्जा जीवा इति।
(ग) हा० टी० प० १४१ : अनेके—द्वीन्द्रियादिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ।

२—(क) अ० चू० : 'पाणा' इति जीवाः प्राणंति वा निःश्वसंति वा। [illegible]
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : पाणा नाम ऊससंति वा एगट्ठा।
(ग) हा० टी० प० १४१ : प्राणाः—उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः।

३—ठाणां ३ ११७ : तिविहा तसा पं० तं०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा।

४—(क) अ० चू० : अण्डजाता 'अण्डजा' मयूरादय।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : अंडसंभवा अंडजा जहा हंसमयूरादिणो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पक्षिगृहकोकिलादयः।

५—(क) अ० चू० पोतमिव सूयन्त 'पोतजा' वग्गुलीमादयो।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : पोतया नाम वग्गुलिमादयो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पोता इव सूयन्त इति पोतजाः.................ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतयः।

६—(क) अ० चू० : जराउवेढिता जायंति 'जराउजा' गवादय।
(ख) जि० चू० पृ० १३८-३९ : जराउया नाम जे जरवेढिया जायंति जहा गोमहिसादि।
(ग) हा० टी० प० १४१ : जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा—गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः।

२५. रसज (रसया) :

छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीरी जीव रसज कहलाते हैं[1]।

२६. संस्वेदज (संसेइमा) :

पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका—जूँ आदि जीव संस्वेदज कहलाते हैं[2]।

२७. सम्मूर्च्छनज (सम्मुच्छिमा) :

सम्मूर्च्छनज से उत्पन्न—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं[3]। सम्मूर्च्छिम मातृ-पितृहीन प्रजनन है। यह सर्दी, गर्मी आदि बाहरी कारणों का संयोग पाकर उत्पन्न होता है। सम्मूर्च्छन का शाब्दिक अर्थ है घना होने, बढ़ने या फैलने की क्रिया। जो जीव गर्भ के बिना उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और फैलते हैं वे 'सम्मूर्च्छनज' या सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। वनस्पति जीवों के सभी प्रकार 'सम्मूर्च्छिम' होते हैं। फिर भी उत्पादक अवयवों के विवक्षा भेद से केवल उन्हीं को सम्मूर्च्छिम कहा गया है जिनका बीज प्रसिद्ध न हो और जो पृथ्वी, पानी और स्नेह के उचित योग से उत्पन्न होते हों।

इसी प्रकार रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये सभी प्राणी 'सम्मूर्च्छिम' हैं। फिर भी उत्पत्ति की विशेष सामग्री को ध्यान में रख कर इन्हें 'सम्मूर्च्छिम' से पृथक् माना गया है। चार इन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम ही होते हैं और पञ्चेन्द्रिय जीव भी सम्मूर्च्छिम होते हैं। इसकी योनि पृथक्-पृथक् होती है जैसे—पानी की योनि पवन है, घास की योनि पृथ्वी और पानी है। इनमें कई जीव स्वतन्त्र भाव से उत्पन्न होते हैं और कई अपनी जाति के पूर्वोत्पन्न जीवों के संसर्ग से। ये संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले जीव गर्भज समझे जाते हैं किन्तु वास्तव में वे गर्भज नहीं होते। उनमें गर्भज जीव का लक्षण मानसिक ज्ञान नहीं मिलता। सम्मूर्च्छिम और गर्भज जीवों में भेद करने वाला मन है। जिनके मन होता है वे गर्भज और जिनके मन नहीं होता वे सम्मूर्च्छिम होते हैं।

२८. उद्भिज (उब्भिया) :

पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट (शरद् ऋतु से शीतकाल तक दिखाई देने वाला एक प्रसिद्ध पक्षी) आदि उद्भिज या उद्भिज्ज कहलाते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० रसा से भवति रसजा, तक्कादौ सुहुमसरीरा।
(ख) जि० चू० पृ० १४० रसया नाम तक्कबिलमाइसु भवंति।
(ग) हा० टी० प० १४१ रसाज्जाता रसजाः—तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति।

२—(क) अ० चू० 'संस्वेदजा' यूगादत।
(ख) जि० चू० पृ० १४० संसेयणा नाम जूयादी।
(ग) हा० टी० प० १४१ संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा—मत्कुणयूकाशतपदिकादय।

३—(क) अ० चू० सम्मुच्छिमा करीसादिसु मच्छिकादतो भवति।
(ख) जि० चू० पृ० १४० समुच्छिमा नाम करीसादिसमुच्छिया।
(ग) हा० टी० प० १४१ सम्मूर्च्छनाज्जाता सम्मूर्च्छनजाः—शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकादय।

४—(क) अ० चू० 'उब्भिता' भूमिं भिदिऊण निद्धावंति सलभादयो।
(ख) जि० चू० पृ० १४० उब्भिया नाम भूमिं भेत्तूण पयालया सत्ता उप्पज्जति।
(ग) हा० टी० प० १४१ उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदा, अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः—पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवादय।

छान्दोग्योपनिषद् में पक्षी आदि भूतों के तीन बीज माने हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज[1]। शांकर भाष्य में 'जीवज' का अर्थ जरायुज किया है[2]। स्वेदज और संशोकज का यथा संभव अण्डज और उद्भिज्ज में अन्तर्भाव किया है[3]। उद्भिज्ज—जो पृथ्वी को ऊपर की ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं उससे उत्पन्न हुए का नाम उद्भिज्ज है अथवा धाना (बीज) उद्भिद् है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज स्थावर-बीज अर्थात् स्थावरों का बीज है[4]।

ऊष्मा से उत्पन्न होने वाले जीवों को संशोकज माना गया है। जैन-दृष्टि से इसका सम्मूर्छिम में अन्तर्भाव हो सकता है।

२९ औपपातिक (उववाइया) :

उपपात का अर्थ है अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते इसीलिए इन्हें औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा जाता है[5]। इनके मन होता है इसलिए वे सम्मूर्छिम नहीं हैं। इनके माता पिता नहीं होते इसलिए ये गर्भज भी नहीं हैं। इनकी औत्पत्तिक-योग्यता पूर्वोक्त सभी से भिन्न है इसीलिए इनकी जन्म-प्रकृति को स्वतन्त्र नाम दिया गया है।

ऊपर में वर्णित पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यंत जीव स्थावर कहलाते हैं।

त्रस जीवों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जन्म के प्रकार की दृष्टि से जो वर्गीकरण होता है वही अण्डज आदि रूप है।

३० सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं (सव्वे पाणा परमाहम्मिया) :

'परम' का अर्थ प्रधान है। जो प्रधान है वह सुख है। 'अपरम' का अर्थ है न्यून। जो न्यून है वह दुःख है। 'धर्म' का अर्थ है स्वभाव। परम जिनका धर्म है अर्थात् सुख जिनका स्वभाव है वे परम-धार्मिक कहलाते हैं[6]। दोनों चूर्णियों में 'पर-धम्मिता' ऐसा पाठान्तर है। एक जीव से दूसरा जीव 'पर' होता है। जो एक का धर्म है वही पर का है—दूसरे का है। सुख की जो अभिलाषा एक जीव में है वही पर में है—शेष सब जीवों में है। इस दृष्टि से जीवों को 'पर-धार्मिक' कहा जाता है[7]।

१—छान्दो० ६.३.१ : तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति।

२—वही शांकर भा० : जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि।

३—वही : स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासंभवमन्तर्भावः।

४—वही : उद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजमित्यर्थः।

५—(क) अ० चू० : 'उववातिया' नारग-देवा।

(ख) जि० चू० पृ० १४० : उववाइया नाम नारगदेवा।

(ग) हा० टी० प० १४१ : उपपाताज्जाता उपपातजा अथवा उपपाते भवा औपपातिका—देवा नारकाश्च।

६—(क) अ० चू० : सव्वेपाणा 'परमाहम्मिया'। परमं पहाणं तं च सुहं। अपरमं ऊणं तं पुण दुक्खं। धम्मो सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। अनुक्तम्—सुह स्वभावा।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : परमाहम्मिया नाम अपरमं दुक्खं परमं सुहं भण्णइ सव्वे पाणा परमाधम्मिया—सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४१ : परमधर्माण इति—अत्र परमं-सुखं तद्धर्माणः सुखधर्माणः—सुखाभिलाषिण इत्यर्थः।

७—(क) अ० चू० : पाढ विसेसो परधम्मिता—पराजाति जाति पडुच्च सेसा जो तप्परेसिं धम्मो सो तेसिं। जहा एगस्स अभिकाल-प्रीतिप्पभितीणि संभवंति तहा सेसाण वि अतो पारधम्मिता।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : अहवा एवं एत्थ पढिज्जइ 'सव्वे पाणा परमाहम्मिया' इक्किस्स जीवस्स सेसा जीवभेदा परा ते य सव्वे सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवति जो तेसिं एक्कस्स धम्मो सो सेसाणंपि जिकाउत्ति सव्वे पाणा परमाहम्मिया।

दोनों चूर्णिकार 'सव्वे' शब्द के द्वारा केवल त्रस जीवों का ग्रहण करते हैं। किन्तु टीकाकार उसे त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों का सग्राहक मानते हैं[1]।

सुख की अभिलाषा प्राणी का सामान्य लक्षण है। त्रस और स्थावर सभी जीव सुखाकांक्षी होते हैं। इसलिए 'परमाहम्मिया' केवल त्रस जीवों का ही विशेषण क्यों? यह प्रश्न होता है। टीकाकार इसे त्रस और स्थावर दोनों का विशेषण मान उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। किन्तु वहाँ एक दूसरा प्रश्न और खड़ा हो जाता है वह यह है—प्रस्तुत सूत्र में त्रस जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें त्रस जीवों के लक्षण और प्रकार बतलाए गए हैं। इसलिए यहाँ स्थावर का सग्रहण प्रासंगिक नहीं लगता। इन दोनों बाधाओं को पार करने का एक तीसरा मार्ग है। उसके अनुसार 'पाणा परमाहम्मिया' का अर्थ वह नहीं होता, जो चूर्णि और टीकाकार ने किया है। यहाँ 'पाणा' शब्द का अर्थ मातंग[2] और 'परमाहम्मिया' का अर्थ परमाधार्मिक देव होना चाहिए[3]। जिस प्रकार तिर्यग्‌योनिक, नैरयिक, मनुष्य और देव ये त्रस जीवों के प्रकार बतलाए हैं उसी प्रकार परमाधार्मिक भी उन्हीं का एक प्रकार है। परमाधार्मिकों का शेष सब जीवों से पृथक् उल्लेख आवश्यक[4] और उत्तराध्ययन[5] आगम में मिलता है। बहुत सभव है यहाँ भी उनका और सब जीवों से पृथक् उल्लेख किया गया हो। 'पाणा परमाहम्मिया' का उक्त अर्थ करने पर इसका अनुवाद और पूर्वापर सगति इस प्रकार होगी—सब मनुष्य और सब मातंग स्थानीय परमाधार्मिक हैं—वे त्रस हैं।

सूत्र : १०

३१. इन (इच्चेसिं—सं० इति + एषां) :

'इति' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होता है—जैसे आमन्त्रण में, परिसमाप्ति में और उपपद—पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए। 'धम्मएति वा उवएसएति वा' यहाँ 'इति' शब्द का व्यवहार प्रथम अर्थ में है। 'इति खलु समणे भगव! महावीरे' यहाँ इस शब्द का प्रयोग द्वितीय अर्थ में है। प्रस्तुत प्रसग में जिनदास गणि के अनुसार इस शब्द का प्रयोग तीसरे अर्थ में हुआ है। 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त षट्-जीवनिकाय।

हरिभद्र सूरि के अनुसार यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में हुआ है। उनके अनुसार 'इति' शब्द 'सर्व प्राणी सुख के इच्छुक हैं' इस हेतु का द्योतक है[6]।

१—हा० टी० प० १४२ 'सर्वे प्राणिन परमधर्माण' इति सर्व एते प्राणिनो—द्वीन्द्रियादय पृथिव्यादयश्च।

२—पाइ० ना० १०५ : मायगा तह जणगमापाणा।

३—सम० १५ टीका प० २६ तत्र परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च सक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिका —असुरविशेषा।

४—आव० ४ ६ चउद्दसहिं भूय-गामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं।

५—उत्त० ३१ १२ किरियासु भूयगामेसु परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥

६—(क) अ० चू० इतिसद्दो अणेगत्थो अत्थि, हेतौ—वरिसतीति धावति, एवमत्थो—इति 'ब्रह्मवादिनो' वदति, आद्यर्थे—इत्याह भगवा नास्तिक, परिसमाप्तौ—अ अ इति, प्रकारे—इति बहुविह—मुक्खा। इह इतिसद्दो प्रकारे—पुढविक्काितयादिसु किएहमट्टितादिप्रकारेसु, अहवा हेतौ—जम्हा परधम्मिया सुहसाया दुःक्खपडिकूला। 'इच्चेतेसु', एतेसु अणतराणुक्कत पच्चक्खमुपदसिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, तं—आमतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य, आमतणे जहा धम्मएति वा उवएसएति वा एवमादी, परिसमत्तीए जहा 'इति खलु समणे भगव! महावीरे' एयमादी, उवप्पदरिसणे जहा 'इच्चेए पचविहे ववहारे' एत्थ पुण इच्चेतेहिं एसो सद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो, किं उवप्पदरिसयति ?, जे एते जीवाभिगमस्स छ भेया भणिया।

(ग) हा० टी० प० १४३ 'इच्चेसिं' इत्यादि, सर्वे प्राणिन परमधर्माण इत्यनेन हेतुना।

'इच्चेएसिं छहिं जीवनिकाएहिं' अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी है[1]। टीकाकार को 'इच्चेएसिं छण्हं जीवनिकायाणं' यह पाठ अभिमत है और उनके अनुसार यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है[2]।

३२ दण्ड-समारम्भ (दंडं समारंभेज्जा) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दण्ड' का अर्थ शरीर आदि का निग्रह—दमन करना किया है[3]। जिनदास[4] चूर्णि और टीका[5] में इसका अर्थ संघट्टन परितापन आदि किया है। कौटिल्य ने इसके तीन अर्थ किए हैं : वध—मारडालना, परिक्लेश—बन्धन-ताड़नादि से क्लेश उत्पन्न करना और अर्थ-हरण—धनापहरण[6]।

'दण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत ही व्यापक है। मन वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति जो दुःख-जनक या परिताप-जनक हो सब इस शब्द के अन्तर्गत है। समारम्भ का अर्थ है करना।

३३ यावज्जीवन के लिए (जावज्जीवाए) :

यावज्जीवन अर्थात् जीवन भर के लिए। जब तक शरीर में प्राण रहे उस समय तक के लिए[7]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'इच्चेसिं ... न समणुजाणेज्जा' तक के शब्द आचार्य के हैं[8]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'इच्चेसिं ... तिविहं तिविहेणं' तक के शब्द आचार्य के हैं[9]।

३४ तीन करण तीन योग से (तिविहं तिविहेणं) :

क्रिया के तीन प्रकार हैं—करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हें योग कहा जाता है। क्रिया के साधन भी तीन होते हैं—मन, वाणी और शरीर। इन्हें करण कहा जाता है। स्थानाङ्ग में इन्हें करण योग और प्रयोग कहा है[10]।

१—अ० चू० : छिवहो सत्तम्यत्थेण।

२—(क) अ० चू० : 'एतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं'।
　(ख) हा० टी० प० १४१ : 'एतेसिं छण्हं जीवनिकायाना'मिति सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

३—अ० चू० : दंडो सरीरादिनिग्गहो।

४—जि० चू० पृ० १४८ : दंडो संघट्टणपरितावणादि।

५—हा० टी० प० १४१ : 'दण्डं' संघट्टनपरितापनादिलक्षणम्।

६—कौटलीय अर्थ० २.१ १८ : वधपरिक्लेशोऽर्थहरणं दण्ड इति (व्याख्या)—वधो व्यापादनं, परिक्लेशो बन्धनताडनादिभिर्दुःखोत्पादनम्, अर्थ-हरणं धनापहारः, इत्ययं दण्डः।

७—(क) अ० चू० : असमारंभकालावधारणमिदम्—'जावज्जीवाए' जाव पाणा धारेंति।
　(ख) जि० चू० पृ० १४८ : सीसो भणइ—केच्चिरं कालं ? आयरिओ भणइ—जावज्जीवाए, ण उ जहा लोइयाणं जिण्णवओ होऊण पच्छा पडिसेवइ, किन्तु अच्चत्थं जावज्जीवाए गहणं।
　(ग) हा० टी० प० १४१ : जीवनं जीवा यावज्जीवा यावज्जीवम्—आप्राणोपरमात्।

८—हा० टी० प० १४१ : 'न समणुजाणीयाए' आत्मोपन्यासेति विधायकं आचार्यवचनम्।

९—जि० चू० पृ० १४८-४९ : आयरिओ भणइ—जावज्जीवाए ...... तिविहं तिविहेणं'ति एवं भणमाणा य वितहं ...... एत्तु भणेइ।

१०—ठाणं ३.१.१२४ : तिविहे जोगे—मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे।
　तिविहे पओगे—मणपओगे, वइपओगे, कायपओगे।
　तिविहे करणे—मणकरणे, वइकरणे, कायकरणे।

हरिभद्र सूरि ने 'त्रिविध' से कृत, कारित और अनुमति का तथा 'त्रिविधेन' से मन, वाणी और शरीर इन तीन करणों का ग्रहण किया है[1]। यहाँ अगस्त्यसिंह मुनि की परम्परा दूसरी है। वे 'तिविहं' से मन, वाणी और शरीर का तथा 'तिविहेण' से कृत, कारित और अनुमति का ग्रहण करते हैं[2]। इसके अनुसार कृत, कारित और अनुमोदन को करण तथा मन, वाणी और शरीर को योग कहा जाता है। आगम की भाषा में योग का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का कर्म। साधारण दृष्टि से यह क्रिया है किन्तु जितना भी किया जाता है, कराया जाता है और अनुमोदन किया जाता है उसका साधन मन, वाणी और शरीर ही है। इस दृष्टि से इन्हें करण भी कहा जा सकता है। जहाँ क्रिया और क्रिया के हेतु की अभेद विवक्षा हो वहाँ ये क्रिया या योग कहलाते हैं और जहाँ उनकी भेद विवक्षा हो वहाँ ये करण कहलाते हैं। इसलिए इन्हें कहीं योग और कहीं करण कहा गया है[3]।

३५. मन से, वचन से, काया से (मणेणं वायाए काएणं) :

मन, वचन और काया—कृत, कारित और अनुमोदन—इनके योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जो दूसरे को मारने के लिए सोचे कि मैं इसे कैसे मारूँ? वह मन के द्वारा हिंसा करता है। वह इसे मार डाले—ऐसा सोचना मन के द्वारा हिंसा कराना है। कोई किसी को मार रहा हो—उससे सन्तुष्ट होना—राजी होना मन के द्वारा हिंसा का अनुमोदन है।

वैसा बोलना जिससे कोई दूसरा मर जाए—वचन से हिंसा करना है। किसी को मारने का आदेश देना—वचन से हिंसा कराना है। अच्छा मारा—यह कहना वचन से हिंसा का अनुमोदन है।

स्वय किसी को मारे—यह कायिक हिंसा है। हाथ आदि से किसी को मरवाने का सकेत करना—काय से हिंसा कराना है। कोई किसी को मारे—उसकी शारीरिक सकेतों से प्रशसा करना—काय से हिंसा का अनुमोदन है[4]।

'मणेण न समणुजाणामि' इन शब्दों में शिष्य कहता है—मैं मन, वचन, काया से षट्-जीवनिकाय के जीवों के प्रति दड-समारम नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा[5]।

१—हा० टी० प० १४३ 'त्रिविध त्रिविधेने'ति तिस्रो विधा—विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविध', दण्ड इति गम्यते, त त्रिविधेन—करणेन, एतदुपन्यस्यति—मनसा वाचा कायेन।

२—अ० चू० . तिविहं ति मणो-वयण-कातो। तिविहेण ति करण-कारावणा-अणुमोयणाणि।

३—भगवती जोड़ श० १४ दु० १११-११२ अथवा तिविहेण तिको, त्रिविध त्रिभेदे शुद्ध।
करण करावण अनुमति, द्वितीय अर्थ अनिरुद्ध॥
त्रिकरण शुद्धेण कह्यौ, मन,वच,काया जोय।
ए तीनूइ जोग तसूं, शुद्ध करी अवलोय॥

४—(क) अ० चू० मणेण दड करेति—सय मारण चिन्तयति कहमह मारेज्जामि, मणेण कारयति—जदि एसो मारेज्जा, मणसा अणुमोदति—मारेंतस्स तुस्सति, वायाए पाणातिवात करेति—त न भणति जेण अद्धितीए मरति, वायाए कारेति—मारण सदिसति, वा याए अणुमोदति—छट्ठु हतो, कातेण मारेति—सयमाहणति, काएण कारयति—पाणिप्पहारादिणा, काएणाणुमोदति—मारेंत छोडिकादिना पससति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२-१४३ सय मणसा न चितयइ जहा वहयामित्ति, वायाएवि न एव भणइ—जहा एस घहेज्जउ, कायण सय न परिहणति, अन्नस्सवि णेत्तादीहिं णो तारिस भाव दरिसयइ जहा परो तस्स माणसिय णाऊण सत्तोवघाय करेइ, वायाएवि सदेस न देइ जहा त घाएहित्ति, काएणवि णो हत्यादिणा सण्णेइ जहा एय मारयाहि, घाततपि अण्ण दट्ठूण मणसा तुट्ठि न करेइ, वायाएवि पुच्छिओ संतो अणुमइ न देइ, काएणावि परेण पुच्छिओ संतो हत्थुक्खेवं न करेइ।

५—हा० टी० प० १४३ मनसा वाचा कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्ड।

३६ भंते (भंते):

यह गुरु का सम्बोधन है। टीकाकार ने इसके संस्कृत रूप तीन दिए हैं—भदन्त, भवान्त और भयान्त[1]। व्रत-ग्रहण गुरु के साक्ष्य से होता है। इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित कर अपनी भावना का निवेदन करता है[2]।

इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में चूर्णिकार कहते हैं: गणधरों ने भगवान् से अर्थ सुन कर व्रत ग्रहण किये उस समय उन्होंने 'भंते' शब्द का व्यवहार किया तभी से इसका प्रयोग गुरु को आमन्त्रण करने के लिए होता आ रहा है[3]।

३७ अतीत में किये (तस्स)

भूत काल में दण्ड-समारम्भ किये हैं उनसे[4]। सम्बन्ध या अवयव में षष्ठी का प्रयोग है।

३८ निवृत्त होता हूँ (पडिक्कमामि)

अकरणीय कार्य के परिहार की जैन-प्रक्रिया इस प्रकार है—अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और अनागत का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण का अर्थ है अतीतकालीन पाप-कर्म से निवृत्त होना[5]।

३९ निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ (निंदामि गरिहामि):

निन्दा का अर्थ आत्मालोचन है। वह अपने आप किया जाता है। दूसरों के समक्ष जो निन्दा की जाती है उसे गर्हा कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने निन्दा तथा गर्हा में यही भेद बताया है[6]। पहले जो अज्ञान भाव से किया हो उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप से हृदय में दाह का अनुभव करना—जैसे मैंने बुरा किया, बुरा कराया, बुरा अनुमोदन किया—यह निन्दा है। गर्हा का अर्थ है भूत, वर्तमान और आगामी काल में न करने के लिए उद्यत होना[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४६: 'भंते !'त्ति भयवं भयान्त एवमादी भगवओ आमंतणं।
(ख) हा० टी० प० १४४: भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्, भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः।
(ग) अ० चू०: भन्ते ! इति भगवतो आमंतणं।

२—हा० टी० प० १४४: एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्।

३—(क) अ० चू०: गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु—तस्स भंते ! अहवा जे वि इमम्मि काले ते वि वताइं पडिवज्जमाणा एवं भणंति—तस्स भंते !
(ख) जि० चू० पृ० १४६: गणहरा भगवओ समासे अत्थं सोऊण वताणि पडिवज्जमाणा एवमाहु।

४—(क) अ० चू०: तस्स त्ति दंडसमारंभस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १४६: 'तस्स' त्ति णाम जो सो परिवज्जणादि दंडो।
(ग) हा० टी० प० १४४: तस्येत्यधिकृतो दण्डः सम्बध्यते, सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी।

५—(क) अ० चू०: पडिक्कमामि प्रतीपं क्रमामि—नियत्तामि।
(ख) जि० चू० पृ० १४६: पडिक्कमामि णाम ताओ दंडाओ नियत्तामित्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १४४: योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रमामि न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। ...प्रतिक्रमामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति तस्माच्च निवृत्तिरनुमतेर्विरमणमिति।

६—हा० टी० प० १४४: 'निन्दामि गर्हामी' ति आत्मसाक्षिकी निन्दा परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते।

७—(क) अ० चू०: जं पुण पुव्वमन्नाणेण कयं तस्स निंदामि "णिदि कुच्छायाम्" इति कुच्छामि। गरहामि "गर्ह परिभासणे" इति [illegible] करेमि।
(ख) जि० चू० पृ० १४६: जं पुण पुव्विं अन्नाणभावेण कयं तं निंदामि णाम ! 'हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं अणुमयंपि हा दुट्ठु' अंतो २ डज्झइ हियए पच्छाणुतावेण ।१। 'गरिहामि' णाम तिविहं तीताणागतवट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि।

४०. आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ (अप्पाण वोसिरामि) :

आत्मा हेय या उपादेय कुछ भी नहीं है। उसकी प्रवृत्तियाँ हेय या उपादेय बनती हैं। साधना की दृष्टि से हिंसा आदि असत्-प्रवृत्तियाँ, जिनसे आत्मा का बन्धन होता है, हेय हैं और अहिंसा आदि सत्-प्रवृत्तियाँ एव सवर उपादेय हैं।

साधक कहता है—मैं अतीत काल मे असत्-प्रवृत्तियों में प्रवृत्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ अर्थात् आत्मा की असत्-प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ[1]।

प्रश्न किया जा सकता है कि अतीत के दण्ड का ही यहाँ प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया है अत. वर्तमान दण्ड का सवर और अनागत दण्ड का प्रत्याख्यान यहाँ नहीं होता। टीकाकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। 'न करोमि' आदि से वर्तमान के सवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की सिद्धि होती है[2]।

'तस्स भते वोसिरामि' दण्ड समारभ न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद शिष्य जो भावना प्रकट करता है वह उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त है।

सूत्र ४-६ में षट् जीवनिकायों का वर्णन है। प्रस्तुत अनुच्छेद मे इन षट् जीवनिकायों के प्रति दण्ड-समारभ के प्रत्याख्यान का उल्लेख है। यह क्रम आकस्मिक नहीं पर सम्पूर्णत वैज्ञानिक और अनुभव पूर्ण है। जिसको जीवों का ज्ञान नहीं होता, उनके अस्तित्व में श्रद्धा-विश्वास नही होता, वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में उनके प्रति सयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान नहीं हो सकता। कहा है—"जो जिन-प्ररूपित पृथ्वीकायादि जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा नहीं करता वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों में श्रद्धा होती है वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है।"

व्रत ग्रहण के पूर्व जीवों के ज्ञान और उनमें विश्वास की कितनी आवश्यकता है, इसको बताने के लिए निम्नलिखित दृष्टान्त मिलते हैं

१—जैसे मलीन वस्त्र पर रग नहीं चढता और स्वच्छ वस्त्र पर सुन्दर रग चढता है, उसी तरह जिसे जीवों का ज्ञान नहीं होता, जिसे उनके अस्तित्व मे शका होती है वह अहिंसा आदि महाव्रतों के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों का ज्ञान और उनमें श्रद्धा होती है वह उपस्थापन के योग्य होता है और उसीके व्रत सुन्दर और स्थिर होते हैं।

२—जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व भूमि को परिष्कृत कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर होता है और अपरिष्कृत भूमि पर असुन्दर और अस्थिर होता है, उसी तरह मिथ्यात्व की परिशुद्धि किये बिना व्रत ग्रहण करने पर व्रत टिक नहीं पाते।

३—जिस तरह रोगी को औषधि देने के पूर्व उसे वमन-विरेचन कराने से औषधि लागू पड़ती है, उसी तरह जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा रखते हुए जो व्रत ग्रहण करता है उसके महाव्रत स्थिर होते हैं।

साराश यह है—जो जीवों के विषय में कहा गया है, उसे जानकर, उसकी परीक्षा कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदित रूप से जो षट् जीव-निकाय के प्रति दण्ड-समारम्भ का परिहार करता है वही चारित्र के योग्य होता है।

कहा है—"अशोधित शिष्य को व्रतारोहण नहीं कराना चाहिए, शोधित को कराना चाहिए। अशोधित को व्रतारूढ कराने से

१—(क) अ० चू० अप्पाण सव्वसत्ताण दरिसिज्जए, ओसिरामि विविहेहिं प्रकारेहिं सव्वावत्थ परिच्चयामि। दड-समारभपरिहरणं चरित्तधम्मप्पमुहमिद।

(ख) हा० टी० प० १४४ 'आत्मानम्' अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्य 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द उच्छब्दो भृशार्थ सृजामीति—त्यजामि, ततश्च विविध विशेषेण वा भृश त्यजामि व्युत्सृजामीति।

२—हा० टी० प० १४४ आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसवरणमनागतप्रत्याख्यान चेति, नैतदेव, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति।

भी वाद के अन्य मृषावाद आदि की अपेक्षा से है[1]। सूत्रक्रम के प्रमाण से पहला महाव्रत सर्व प्राणातिपातविरमण व्रत है।

४२. महाव्रत (महव्वए) :

'व्रत' का अर्थ है विरति[2]। वह असत् प्रवृत्ति की होती है। उसके पाँच प्रकार हैं—प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति और परिग्रह-विरति। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये पर्याय-वाची शब्द हैं[3]। 'व्रत' शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों अर्थों में होता है। 'वृषलान्नं व्रतयति' का अर्थ है वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। 'पयो व्रतयति'—का अर्थ है कोई व्यक्ति केवल दूध पीता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। इसी प्रकार असत्-प्रवृत्ति का परिहार और सत्-प्रवृत्ति का आसेवन—इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति-पूर्वक होती है वही सत् होती है। इस प्रधानता की दृष्टि से व्रत का अर्थ उसमें अन्तर्हित होता है[4]।

व्रत शब्द साधारण है। वह विरति-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अणु और महान् ये दो भेद विरति की अपूर्णता तथा पूर्णता के आधार पर किए गए हैं। मन, वचन और शरीर से न करना, न कराना और न अनुमोदन करना—ये नौ विकल्प हैं। जहाँ ये समग्र होते हैं वहाँ विरति पूर्ण होती है। इनमें से कुछ एक विकल्पों द्वारा जो विरति की जाती है वह अपूर्ण होती है। अपूर्ण विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाती है[5]। साधु त्रिविध पापों का त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत होते हैं। श्रावक के त्रिविध द्विविध रूप से प्रत्याख्यान होने से देशविरति होती है अतः उनके व्रत अणु होते हैं[6]। यहाँ प्राणातिपात-विरति आदि को महाव्रत और रात्रि-भोजन विरति को व्रत कहा गया है। यह व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनों से भिन्न है। ये दोनों मूल गुण हैं परन्तु रात्रि-भोजन मूल-गुण नहीं है। व्रत शब्द का यह प्रयोग सामान्य विरति के अर्थ में है। मूल-गुण—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच हैं। महाव्रत इन्हीं की संज्ञा है।

४३. प्राणातिपात से विरमण होता है (पाणाइवायाओ वेरमणं) :

इन्द्रिय, आयु आदि प्राण कहलाते हैं। प्राणातिपात का अर्थ है प्राणी के प्राणों का अतिपात करना—जीव से प्राणों का

१—(क) जि० चू० पृ० १४४ पढमंति नाम सेसाणि मुसावादादीणि पडुच्च एत्त पढमं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० १४४ सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमण प्रथमम्।

(ग) अ० चू० पढमे इति आवेक्खिग सेसाणि पडुच्च आदिल्ल पढमे एसा सत्तमी तम्मि उट्ठावणाधारविवक्खगा।

२—तत्त्वा० ७ १ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

३—तत्त्वा० ७ १ भा० अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।

४—तत्त्वा० ७ १ भा० सि० टी० व्रतशब्द शिष्टसमाचारात् निवृत्तौ प्रवृत्तौ च प्रयुज्यते लोके। निवृत्ते चेद्धिसातो विरति —निवृत्तिर्व्रत, यथा—वृषलान्न व्रतयति—परिहरति। वृषलान्नान्निवर्तत इति, ज्ञात्वा प्राणिन प्राणातिपातादेर्निवर्तते। केवलमहिंसादिलक्षण तु क्रियाकलाप नानुतिष्ठतीति तदनुष्ठानप्रवृत्त्यर्थश्च व्रतशब्द। पयोव्रतयतीति यथा, पयोऽभ्यवहार एव प्रवर्तते नान्यत्रेति, एव हिंसादिभ्यो निवृत्त शास्त्रविहितक्रियानुष्ठान एव प्रवर्तते, अतो निवृत्तिप्रवृत्तिक्रियासाध्य कर्मक्षपणमिति प्रतिपादयति। 'प्राधान्यात् तु निवृत्तिरेव साक्षात् प्राणातिपातादिभ्योदर्शिता, तत्पूर्विका च प्रवृत्तिर्गम्यमाना। अन्यथा तु निवृत्तिर्निष्फलैव स्यादिति।

५—तत्त्वा० ७ २ भा० एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रत, सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति।

६—(क) जि० चू० पृ० १४४ महव्वय नाम महत वत, महव्वय कथ? सावगवयाणि खुड्डगाणि, ताणि पडुच्च साहूण वयाणि महताणि भवति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ जम्हा य भगवतो साधवो तिविह तिविहेण पच्चक्खायति तम्हा तेसि महव्वयाणि भवति, सावयाण पुण तिविह दुविह पच्चक्खायमाणाण देसविरईए खुड्डुलगाणि वयाणि भवति।

(ग) हा० टी० प० १४४ महच्च तद्व्रत च महाव्रत, महत्त्व चास्य श्रावकसबध्यणुव्रतापेक्षयेति।

(घ) अ० चू० सकले महति वते महव्वते।

वियोग करना। केवल जीवों को मारना ही अतिपात नहीं है—उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है[1]। पहले महाव्रत का स्वरूप है—प्राणातिपात विरमण।

विरमण का अर्थ है—ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक प्राणातिपात न करना—सम्यक्ज्ञान और श्रद्धापूर्वक उससे सर्वथा निवृत्त होना[2]।

४४ सर्व (सव्वं) :

श्रावक व्रत ग्रहण करते समय प्राणातिपात की कुछ छूट रख लेता है उस तरह परिस्थूर नहीं पर सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सर्व अर्थात् निरवशेष—अर्द्ध या त्रिभाग नहीं[3]। जैसे ब्राह्मण को नहीं मारूँगा—यह देश त्याग है। मैं किसी प्राणी को मन-वचन-काया और कृत-कारित-अनुमोदन रूप से नहीं मारूँगा यह—सर्व प्राणातिपात का त्याग है।

प्रत्याख्यान में 'प्रति' शब्द निषेध अर्थ में है। 'आ' अभिमुख अर्थ में है और 'ख्या' धातु कहने के अर्थ में। इसका अर्थ है—प्रतीप अभिमुख कथन करना। प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ अर्थात् प्राणातिपात के प्रतीप—अभिमुख कथन करता हूँ—प्राणातिपात न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। अथवा मैं संवृतात्मा वर्तमान में समता रखते हुए अनागत पाप के प्रतिषेध के लिये आदरपूर्वक—भावपूर्वक अभिधान करता हूँ। साम्प्रतकाल में संवृतात्मा अनागत काल में पाप न करने के लिये प्रत्याख्यान करता है—प्रत्यारोपण करता है[4]।

४५ सूक्ष्म या स्थूल (सुहुमं वा बायरं वा)

जिस जीव की शरीर-अवगाहना अति अल्प होती है उसे सूक्ष्म जीव कहा है। और जिस जीव की शरीर अवगाहना स्थूल होती है उसे बादर कहा गया है। सूक्ष्म नाम कर्मोदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है उसे यहाँ नहीं ग्रहण किया गया है क्योंकि ऐसे जीव की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि उसकी काया द्वारा हिंसा संभव नहीं। जो स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीव हैं उन्हीं को यहाँ क्रम से सूक्ष्म या बादर कहा है[5]।

१—(क) अ० चू० : पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिंसणं ततो एसा पंचमी अपादाने भयहेतुजणकता या भीतार्थानां भयहेतुरिति।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसि अत्थि ते पाणिणो भण्णंति तेसिं पाणाणमइवाओ तेहिं पाणेहिं सह विसंजोगकरणंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ : प्राणा—इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः—जीवस्य महादुःखोत्पादनं न तु जीवातिपात एव।

२—(क) अ० चू० : वेरमणं नियत्तणं तं वेरमणं एतं महव्वतमितिपदमाविमत्तिनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : तओ पाणाइवायाओ वेरमणं, पाणाइवायवेरमणं नाम नाउ सद्दहिऊण पाणातिवायस्स अकरणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ : विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्।

३—(क) अ० चू० : सव्वं न विसेसेण जहा कोवे—ण बाह्मणो हन्तव्वो।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : सव्वं नाम तमेरिसं पाणाइवायं सव्वं—निरवसेसं पच्चक्खामि नो अद्धं तिभागं वा पच्चक्खामि।
(ग) हा० टी० प० १४४ : सर्वमिति—निरवशेषं न तु परिस्थूरमेव।

४—(क) अ० चू० : पाणातिवातमिति च पच्चक्खाणं ततो नियत्तणं।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : संपइकालं संवरियप्पणो अणागते अकरणनिमित्तं पच्चक्खाणं।
(ग) हा० टी० प० १४४-४५ : प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङाभिमुख्ये ख्या प्रकथने प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति अथवा—प्रत्याचक्षे—संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः।

५—(क) अ० चू० : सुहुमं अतीव अप्पसरीरं तं वा बादं रातीति 'बादरो' महासरीरो तं वा।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : सुहुमं नाम जं सरीरावगाहणाए सुट्ठु अप्पमिति।
(ग) हा० टी० प० १४५ : अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्।

४६. त्रस या स्थावर (तसं वा थावरं वा) :

जो सूक्ष्म और बादर जीव कहे गये हैं उनमें से प्रत्येक के दो भेद होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की परिभाषा पहले आ चुकी है। जो त्रास का अनुभव करते हैं उन्हें त्रस कहते हैं। जो एक ही स्थान पर अवस्थित रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। कुंथु आदि सूक्ष्म त्रस हैं और गाय आदि बादर त्रस हैं। साधारण वनस्पति आदि सूक्ष्म स्थावर हैं और पृथ्वी आदि बादर स्थावर हैं[1]।

'सुहुम वा बायर वा तस वा थावरं वा' इसके पूर्व 'से' शब्द है। 'से' शब्द का प्रयोग निर्देश में होता है। यहाँ यह शब्द पूर्वोक्त 'प्राणातिपात' की ओर निर्देश करता है। वह प्राणातिपात सूक्ष्म शरीर अथवा बादर शरीर के प्रति होता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह आत्मा का निर्देश करता है।

हरिभद्र सूरि के अनुसार यह शब्द मागधी भाषा का है। इसका शब्दार्थ है—अथ। इसका प्रयोग किसी बात के कहने के आरम्भ में किया जाता है[2]।

४७. (अइवाएज्जा) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार 'अइवाएज्जा' शब्द 'अतिपातयामि' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत शैली में आर्ष प्रयोगों में ऐसा होता है।

इस प्रकार सभी महाव्रत और व्रत में जो पाठ है उसे टीकाकार ने प्रथम पुरुष मान प्राकृत शैली के अनुसार उसका उत्तम पुरुष में परिवर्तन किया है[3]। अगस्त्य चूर्णि में सर्वत्र उत्तम पुरुष के प्रयोग हैं, जैसे—'नेव सयं पाणे अइवाएमि'। उत्तम पुरुष का भी 'अइवाएज्जा' रूप बनता है[4]। इसलिए पुरुष परिवर्तन की आवश्यकता भी नहीं है। उक्त स्थलों में प्रथम पुरुष की क्रिया मानी जाए तो उसकी संगति यों होगी—'पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं' से लेकर 'नेव सयं' के पहले का कथन शिष्य की ओर से है और 'नेव सयं' से आचार्य उपदेश देते हैं और 'न करेमि' से शिष्य आचार्य के उपदेशानुसार प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उपदेश की भाषा का प्रकार सूत्रकृताङ्ग (२ १ १५) में भी यही है।

आचाराङ्ग में महाव्रत प्रत्याख्यान की भाषा इस प्रकार है—"पढमं भंते! महव्वयं पच्चक्खामि—सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा—नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।" (आचाराङ्ग २ चू० ३ १५)

१—(क) अ० चू० 'तस वा' "त्रसी उद्वेजने" त्रस्यतीति त्रसं तं वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति तं वा, वा सद्दो विकप्पे, सव्वे पगारा ण हतव्वा। वेदिका पुण "क्षुद्रजन्तुषु णत्थि पाणातिवातो" त्ति एतस्स विसेसणत्थं सुहुमातिवयणं। जीवस्स असंखेज्ज-पदेसत्ते सव्वे सुहुम-बायर विसेसा सरीरदव्वगता इति सुहुम-बायरसद्दणेण एगग्गहणे समाणजातीयसूतणमिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६-४७ तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा त०—तसा य थावरा वा, तत्थ तसंतीति तसा, जे एगमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठंति ते थावरा भण्णंति।

(ग) हा० टी० प० १४५ स चैकैको द्विधा—त्रसः स्थावरश्च, सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः स्थावरः पृथिव्यादिः।

२—(क) अ० चू० से इति वयणाधारेण अप्पणो निद्देसं करेति, सो अहमेव अब्भुवगम्म कत पच्चक्खाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ 'से' त्ति निद्देसे वट्टइ, किं निद्दिसति ?, जो सो पाणातिवाओ तं निद्देसेइ, से य पाणाइवाए सुहुमसरीरेसु वा बादरसरीरेसु वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १४५ 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धः अथ शब्दार्थः, स चोपन्यासे।

३—(क) जि० चू० पृ० १४७ पाणेहिं णो विसजोएज्जा।

(ख) हा० टी० प० १४५ 'णेव सयं पाणे अइवाएज्जा' त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात्, 'तिङां तिङो भवन्ती' ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि।

४—हैमश० ३ १७७ वृ० यथा तृतीयत्रये। अइवाएज्जा। अइवायावेज्जा। न समणुजाणामि। न समणुजाणेज्जा वा।

38

स्वीकृत पाठ का अवतरण चूर्णि में पाठान्तर के रूप में उल्लेख हुआ है। पाँच महाव्रत और छठे व्रत में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो पाठ-भेद है उसका अनुवाद इस प्रकार है :—

"भंते! मैं प्राणातिपात विरति रूप पहले महाव्रत को ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। भंते! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरत हुआ हूँ।"

यही क्रम सभी महाव्रतों और व्रत का है।

४८-४९—मैं स्वयं नहीं करूँगा ... अनुमोदन भी नहीं करूँगा (नेव सयं पाणे अइवाएज्जा ... न समणुजाणेज्जा) :

इस तरह त्रिविध त्रिविध—तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करनेवाले के ४९ भङ्ग से त्याग होते हैं। इन भङ्गों का विस्तार इस प्रकार है[1]

१—करण १ योग १, प्रतीक अङ्क ११ भङ्ग ९ :

१	करूँ नहीं	मन से		१
२	करूँ नहीं	वचन से		२
३	करूँ नहीं	काया से		३
४	कराऊँ नहीं	मन से		४
५	कराऊँ नहीं	वचन से		५
६	कराऊँ नहीं	काया से		६
७	अनुमोदूँ नहीं	मन से		७
८	अनुमोदूँ नहीं	वचन से		८
९	अनुमोदूँ नहीं	काया से		९

२—करण १ योग २ प्रतीक-अङ्क १२ भङ्ग ९ :

१	करूँ नहीं	मन से	वचन से	१०
२	करूँ नहीं	मन से	काया से	११
३	करूँ नहीं	वचन से	काया से	१२
४	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	१३
५	कराऊँ नहीं	मन से	काया से	१४
६	कराऊँ नहीं	वचन से	काया से	१५
७	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	१६
८	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	१७
९	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	१८

३—करण १ योग ३ प्रतीक-अङ्क १३ भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	१९
२	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	२०
३	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	२१

१—हा० टी० प० १४ : "तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य होंति जोएसु।
तिदुएक्कं तिदुएक्कं तिदुएक्कं चेव करणाइं ॥"

४—करण २ योग १, प्रतीक-अङ्क २१, भङ्ग ६

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से		२२
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	वचन से		२३
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	काया से		२४
४	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से		२५
५	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से		२६
६	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से		२७
७	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से		२८
८	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से		२६
६	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से		३०

५—करण २ योग २, प्रतीक-अङ्क २२, भङ्ग ६

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	३१
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	वचन से	काया से	३२
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	काया से	३३
४	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३४
५	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३५
६	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३६
७	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	३७
८	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३८
६	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३६

६—करण २ योग ३, प्रतीक-अङ्क २३, भङ्ग ३

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४०
२	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४१
३	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४२

७—करण ३ योग १, प्रतीक-अङ्क ३१, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	४३
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	४४
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से	४५

८—करण ३ योग २, प्रतीक-अङ्क ३२, भङ्ग ३ •

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	४६
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	४७
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	४८

६—करण ३ योग ३, प्रतीक-अङ्क ३३, भङ्ग १ •

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४६

२—असद्भाव उद्भावन : जो नहीं है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तन्दुल के तुल्य कहना।

३—अर्थान्तर : एक वस्तु को अन्य बताना। जैसे गाय को घोड़ा कहना आदि।

४—गर्हा : जैसे काने को काना कहना।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मिथ्या भाषण के पहले तीन भेद हैं।

५१. क्रोध से या लोभ से...... (कोहा वा लोहा वा......) :

यहाँ मृषावाद के चार कारण बतलाये हैं। वास्तव में मनुष्य क्रोधादि की भावनाओं से ही झूठ बोलता है। यहाँ जो चार कारण बतलाये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। क्रोध के कथन द्वारा मान को भी सूचित कर दिया गया है। लोभ का कथन कर माया के ग्रहण की सूचना दी है। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण होता है[1]। इस तरह मृषावाद अनेक वृत्तियों से बोला जाता है। यही बात अन्य पापों के सम्बन्ध में लागू होती है।

सूत्र १३ :

५२. अदत्तादान (अदिन्नादाणाओ) :

बिना दिया हुआ लेने की बुद्धि से दूसरे के द्वारा परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि द्रव्य मात्र का ग्रहण करना अदत्तादान है[2]।

५३. गाँव में · अरण्य में (गामे वा नगरे वा रण्णे वा) :

ये शब्द क्षेत्र के द्योतक हैं। इन शब्दों के प्रयोग का भावार्थ है किसी भी जगह—किसी भी क्षेत्र में। जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रस्त करे, उसे ग्राम कहते हैं[3]। जहाँ कर न हो उसे नकर—नगर कहते हैं[4]। काननादि को अरण्य कहते हैं[5]।

५४. अल्प या बहुत (अप्पं वा बहुं वा) :

अल्प के दो भेद होते हैं[6]—(१) मूल्य में अल्प—जैसे जिसका मूल्य एक कौड़ी हो (२) परिमाण में अल्प—जैसे एक एरण्ट-

१—(क) अ० चू० मुसावातवेरमण कारणाणि इमाणि—से कोहा वा लोभा वा भता वा हासा धा, "दोसा विभागे समाणासता" इति कोहे माणो अतग्गतो, एव लोमे माता, भत—हस्सेसु पेज्ज—कलहादतो गचिमेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ · सो य मुसावाओ एतेहि कारणेहि भासिज्जइ—'से कोहा या लोहा वा भया वा हासा वा' कोहगहणेण माणस्सवि गहण कयं, लोभगहणेण माया गहिया, भयहासगहणेण पेज्जदोसकलहअब्भक्खाणाइणो गहिया, कोहाइग्गहणेण भावओ गहण कय, एगग्गहणेण गहण तज्जातीयाणमितिकाउ सेसावि दव्वखेत्तकाला गहिया।

(ग) हा० टी० प० १४६ 'क्रोधाद्वा लोभाद्वे'त्यनेनाद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रह, 'भयाद्वा हास्याद्वा' इत्यनेन तु प्रेमद्वेष कलहाभ्याख्यानादिपरिग्रह।

२—(क) अ० चू० परेहि परिग्गहितस्स वा अपरिग्गहितस्स वा, अणणुण्णातस्स गहणमदिण्णादाण।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ सीसो भणइ—त अदिण्णादाण केरिस भवइ?, आयरिओ भणइ—ज अदिण्णादाणबुद्धीए परेहि परिगहियस्स वा अपरिग्गहियस्स वा तणकट्ठाइदव्वजातस्स गहण करेइ तमदिण्णादाण भवइ।

३—हा० टी० प० १४७ ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्राम·।

४—हा० टी० प० १४७ नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्।

५—हा० टी० प० १४७ अरण्ण—काननादि।

६—(क) अ० चू० · अप्प परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो जहा एगा सुवण्णा गुजा, मुल्लतो कवड्डितामुल्भ वत्थु। बहुं परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो सहस्सपमाण मुल्लतो एक्क वेरुलित।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ अप्प परिमाणओ य मुल्लओय, तत्थ परिमाणओ जहा एग एरंडकट्ठ एवमादि, मुल्लओ जस्स एगो कवड्डओ मूणी वा अप्पमुल्ल, बहुं नाम परिमाणओ मुल्लओ य, परिमाणओ जहा तिण्णि चत्तारिवि वइरा वेरुलिया, मुल्लओ एगमवि वेरुलिय महामोल्ल।

(ग) हा० टी० प० १४७ अल्प—मूल्यत एरण्डकाष्ठादि बहु—वज्रादि।

काष्ठ। इसी तरह 'बहुत' के भी दो भेद होते हैं—(१) मूल्य में अधिक—जैसे वैडूर्य (२) परिमाण में अधिक—जैसे तीन भार वैडूर्य।

५५ सूक्ष्म या स्थूल (अणुं वा थूलं वा)

सूक्ष्म—जैसे मूल्क की पत्ती अथवा काष्ठ की चिरपट आदि। स्थूल—जैसे सुवर्ण का टुकड़ा अथवा उपकरण आदि[1]।

५६ सचित्त या अचित्त (चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा):

चेतन अथवा अचेतन। पदार्थ तीन तरह के होते हैं : चेतन, अचेतन और मिश्र। चेतन—जैसे मनुष्यादि। अचेतन—जैसे रूपयादि। मिश्र—जैसे अलङ्कारों से विभूषित मनुष्यादि[2]।

सूत्र १४

५७ देव तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन (मेहुणं दिव्वं वा तिरिक्खजोणियं वा):

ये शब्द द्रव्य के द्योतक हैं। मैथुन दो तरह का होता है—(१) रूप में (२) रूपसहित द्रव्य में। रूप में अर्थात् निर्जीव वस्तुओं के साथ—जैसे प्रतिमा या मृत शरीर के साथ। रूप सहित मैथुन तीन प्रकार का होता है—दिव्य मानुषिक और तिर्यञ्च सम्बन्धी। देवी—अप्सरा सम्बन्धी मैथुन को दिव्य कहते हैं। नारी से सम्बन्धित मैथुन को मानुषिक और पशु-पक्षि आदि के साथ के मैथुन को तिर्यञ्च विषयक मैथुन कहते हैं। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर ने विकल्प अर्थ भी किया है—रूप—अर्थात् आभरण रहित रूपसहित अर्थात् आभरण सहित[3]।

सूत्र १५

५८ परिग्रह की (परिग्गहाओ):

चेतन-अचेतन पदार्थों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० : अणुं तण-कट्ठादि, थूलं कोलवणादी।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : अणु मुल्लपमाणं अहवा कट्ठं कट्ठियं वा एवमादि, थूलं सुवण्णखोडी वेरुलिया वा एवमादी।
(ग) हा० टी० प० १४७ : अणु—प्रमाणतो वज्रादि स्थूलम्—एरण्डकाष्ठादि।

२—(क) अ० चू० : चित्तमंतं मणुस्सादि। अचित्तमंतं करिसावणादी।
(ख) जि० चू० पृ० १४९ : सच्चित्तं सचित्तं वा होज्जा अचित्तं वा होज्जा मिस्सगं वा तत्थ सचित्तं मणुयादि अचित्तं काहावणादि मीसगं तं चेव मणुयाइ अलंकियविभूसिया।
(ग) हा० टी० प० १४७ : चेतनाचेतनमित्यर्थः।

३—(क) अ० चू० : रूवाणि रूवगाणि वा रूवसहगतं वा दिव्वं माणुसं तेरिच्छं वा, रूवं परिमाणगसरीरादि, रूवसहगतं सजीवं अहवा रूवं आभरणविरहितं रूवसहगतं, साभरणसहितं।
(ख) जि० चू० पृ० १५० : रूवाणि मेहुणं करेज्ज वा रूवसहगएसु वा करेज्ज, तत्थ रूवंति निज्जीवं भण्णइ पडिमाए वा मयसरीरे वा रूवसहगयं तिविहं भवति तं०—दिव्वं माणुसं तिरिक्खजोणियंति अहवा रूवं भूसणवज्जियं सहगयं भूसणेण सह।
(ग) हा० टी० प० १४८ : दैवीममरसम्बन्धि, अप्सरोऽमरसम्बन्धीतिभावः, रूपेषु रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति तत्र रूपाणि—निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि, भूषणविकलानि वा रूपाणि भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि, एवं मानुषं तैर्यग्योनं च भावनीयमिति।

४—जि० चू० पृ० १५१ : सो य परिग्गहो चेयणाचेयणेसु दव्वेसु मुच्छानिमित्तो भवइ।

सूत्र : १६

५६. रात्रि-भोजन की (राईभोयणाओ) :

रात में भोजन करना इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन में अनाचीर्ण कहा गया है। प्रस्तुत अध्याय मे रात्रि-भोजन-विरमण को साधु का छट्ठा व्रत कहा है। सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच विरमणों का स्वरूप बताते हुए उन्हें महाव्रत कहा है जबकि सर्व रात्रि-भोजन-विरमण को केवल 'व्रत' कहा है। उत्तराध्ययन (२३वें अध्ययन) में केशी गौतम का सवाद आया है जिसमें श्रमण भगवान् महावीर के मार्ग को 'पाँच शिक्षा वाला' और पार्श्व के मार्ग को 'चार याम-वाला' कहा है (गा० १२, २३)। आचाराङ्ग सूत्र (२.१५) में तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र में सवरों के रूप में केवल पाँच महाव्रत और उनकी भावनाओं का ही उल्लेख है। वहाँ रात्रि-भोजन-विरमण का अलग उल्लेख नहीं। जहाँ-जहाँ प्रव्रज्या ग्रहण के प्रसग हैं प्राय सर्वत्र पाँच महाव्रत ग्रहण करने का ही उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि सर्व हिंसा आदि के त्याग की तरह रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को याम, शिक्षा या महाव्रत के रूप में मानने की परम्परा नहीं थी।

दूसरी ओर इसी सूत्र के छट्ठे अध्ययन में श्रमण के लिए जिन १८ गुणों की अखण्ड साधना करने का विधान किया है, उनमें सर्व प्रथम छः व्रतों (वयछक्क) का उल्लेख है और सर्व प्राणातिपात यावत् रात्रि-भोजन-विरमण पर समान रूप से जोर दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १६) में साधु के अनेक कठोर गुणों—आचार का—उल्लेख करते हुए प्राणातिपात-विरति आदि पाँच सर्व विरतियों के साथ ही रात्रि-भोजन-त्याग—सर्व प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन—का भी उल्लेख आया है और उसे महाव्रतों की तरह ही दुष्कर कहा है। रात्रि-भोजन का अपवाद भी कहीं नहीं मिलता वैसी हालत में प्रथम पाँच विरमणों को महाव्रत कहने और रात्रि-भोजन-विरमण को व्रत कहने में आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं यह स्पष्ट है। रात्रि-भोजन-विरमण सर्व हिंसा-त्याग आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए ही है इसलिए साधु के प्रथम पाँच व्रतों को प्रधान गुणों के रूप में लेकर उन्हें महाव्रत और सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को उत्तर—सहकारी गुणरूप मान उसे मूलगुणों से पृथक् समझाने के लिए केवल 'व्रत' की सज्ञा दी है। हालाँकि उसका पालन एक साधु के लिए उतना ही अनिवार्य माना है जितना कि अन्य महाव्रतों का। मैथुन-सेवन करने की तरह ही रात्रि-भोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के विषय में इसी सूत्र (६ २३-२५) में बड़ी ही सुन्दर गाथाएँ मिलती हैं।

रात्रि-भोजन-विरमण व्रत में सन्निहित अहिंसा-दृष्टि स्वय स्पष्ट है।

रात को आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति (देख-देख कर चलने) का पालन नहीं हो सकता तथा रात में आहार का सग्रह करना अपरिग्रह की मर्यादा का बाधक है। इन सभी कारणों से रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ हैं[1]।

दशवैकालिक (६ १७) में सन्निधि को परिग्रह माना है और उत्तराध्ययन (१६ ३०) में रात्रि-भोजन और सन्निधि सञ्चय के वर्जन को दुष्कर कहा है। वहाँ इनके परिग्रह रूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पाँच महाव्रत मूल गुण हैं, रात्रि-भोजन-विरमण उत्तरगुण है। फिर भी यह मूल गुणों की रक्षा का हेतु है, इसलिए इसका मूल गुणों के साथ प्रतिपादन किया गया है—ऐसा अगस्त्यसिंह स्थविर मानते हैं[2]।

जिनदास महत्तर के अनुसार प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड और वक्रजड होते हैं, इसलिए वे महाव्रतों की तरह मानते हुए इसका (रात्रि-भोजन-विरमण का) पालन करें—इस दृष्टि से इसे महाव्रतों के साथ बताया गया है। मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनियों के

१—(क) आचा० २ ३ १।

(ख) प्रश्न० स० १।

२—अ० चू० कि रातीभोयण मूलगुण' उतरगुण ? उत्तरगुण एवाय। तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूत पढिज्जति।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय लोक तथा अलोक दोनों हैं, क्योंकि मृषावाद के विषय ये दोनों बन सकते हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात है।

४—भाव दृष्टि से उसके हेतु क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि हैं।

अदत्तादान के चार विभाग इस प्रकार हैं[1] :

१—द्रव्य-दृष्टि से अदत्तादान का विषय पदार्थ है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय अरण्य, ग्राम आदि हैं।

३—काल दृष्टि से उसका विषय दिन और रात है।

४—भाव दृष्टि से उसका हेतु राग द्वेष है।

मैथुन के चार विभाग इस प्रकार हैं[2] :

१—द्रव्य-दृष्टि से मैथुन का विषय चेतन और अचेतन पदार्थ हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय तीनों लोक हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात है।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

परिग्रह के चार विभाग इस प्रकार हैं[3] :

१—द्रव्य-दृष्टि से परिग्रह का विषय सर्व द्रव्य हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय पूर्ण लोक है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात और दिन हैं।

४—भाव दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

रात्रि-भोजन के चार विभाग इस प्रकार होते हैं[4]।

१—द्रव्य-दृष्टि से रात्रि-भोजन का विषय अशन आदि वस्तु-समूह है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय मनुष्य लोक है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात्रि है।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

सूत्र : १७

६१. आत्महित के लिए (अत्तहियट्ठयाए) :

आत्महित का अर्थ मोक्ष है। मुनि मोक्ष के लिए या उत्कृष्ट मङ्गलमय धर्म के लिए महाव्रत और व्रत को स्वीकार करता है।

१—जि० चू० पृ० १४९ : चउव्विहंपि अदिण्णादाणं वित्थरओ भण्णति, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ ताव अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा गेण्हेज्जा, ''खेत्तओ जमेतं दव्वओ भणियं एयं गामे वा णगरे वा गेण्हेज्जा अरण्णे वा, कालओ दिया वा राओ वा गेण्हेज्जा, भावओ अप्पग्घे वा।

२—जि० चू० पृ० १५० : चउव्विहंपि मेहुणं वित्थरओ भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य, तत्थ दव्वओ मेहुणं रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, 'खेत्तओ उड्ढमहोतिरिएसु,' 'कालओ मेहुणं दिया वा राओ वा, भावओ रागेण वा दोसेण वा होज्जा।

३—जि० चू० पृ० १५१ : चउव्विहोवि परिग्गहो वित्थरओ भण्णइ—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ सव्वदव्वेहिं, ··· खेत्तओ सव्वलोगे, 'कालओ दिया वा राओ वा, भावओ अप्पग्घं वा महग्घं वा ममाएज्जा।

४—जि० चू० पृ० १५२ : चउव्विहंपि राईइ भोयणं वित्थरओ भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ असणं वा,······ खेत्तओ समयखेत्ते 'कालओ राइं भुंजेज्जा, भावओ चउभंगो।

अन्य हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव होता है। आत्महित से बढ़कर कोई सुख नहीं है इसलिए भगवान ने इहलौकिक सुख-समृद्धि के लिए आचार को प्रतिपन्न करने की अनुज्ञा नहीं दी। पौद्गलिक सुख अनैकान्तिक हैं। उनके पीछे दुःख का प्रवाह संयोग होता है। पौद्गलिक सुख के जगत् में ऐश्वर्य का तरतमभाव होता है—ईश्वर ईश्वरतर और ईश्वरतम। इसी प्रकार हीन मध्यम और उत्कृष्ट अवस्थाएँ होती हैं। मोक्ष-जगत् में ये दोष नहीं होते। इसलिए समदर्शी श्रमण के लिए आत्महित—मोक्ष ही उपास्य होता है और वह उसी की सिद्धि के लिए महाव्रतों का कठोर मार्ग अंगीकार करता है[1]।

६२ अंगीकार कर विहार करता हूँ (उवसंपज्जित्ताण विहरामि)

उपसंपद्य का अर्थ है—समीप में अंगीकार कर अर्थात् आप (गुरु) के समीप ग्रहण कर सुसाधु की विधि के अनुसार विचरण करता हूँ। हरिभद्र सूरि कहते हैं ऐसा न करने पर लिए हुए व्रत अभाव को प्राप्त होते हैं। भावार्थ है—आरोपित व्रतों का अच्छी तरह अनुपालन करते हुए अप्रतिबंध विहार से ग्राम नगर पत्तन आदि में विहार करूँगा।

चूर्णिकारों ने इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया है—"गणधर भगवान् से पंच महाव्रतों के अर्थ को सुनकर ऐसा कहते हैं—'हम ग्रहण कर विहार करेंगे'[2]।

सूत्र १८

६३ संयत विरत प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा (संजय विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे) :

सत्रह प्रकार के संयम में अच्छी तरह अवस्थित को संयत कहते हैं[3]।

अगस्त्यसिंह के अनुसार पापों से निवृत्त भिक्षु विरत कहलाता है[4]। जिनदास और हरिभद्र सूरि के अभिमत से बारह प्रकार के तप में अनेक प्रकार से रत भिक्षु विरत कहलाता है[5]।

१—(क) अ० चू० : अत्तहितट्ठयाए अप्पणोहितं जो धम्मो अंगीकमिति भणितो तद्धू ।

(ख) जि० चू० पृ० १५१ : अत्तहियं नाम मोक्खो भण्णइ, सेसाणि देवादीणि ठाणाणि बहुदुक्खाणि अप्पसुहाणि य अओ ! अहवा तत्थवि इस्सरो इस्सरतरो इस्सरतमो एवमादी हीणमज्झिमउक्किट्ठविसेसा उवलब्भंति अणेगंतियाणि य सोभयाणि, मोक्खे य एते दोसा नत्थि, अन्हा तस्स अट्ठाए एयाणि पंच महव्वयाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाणं अत्तहियट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

(ग) हा० टी० प० १५ : आत्महितो—मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्।

२—(क) अ० चू० : "उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" 'समासन्नेर्ल्यपोः पूर्वकाले' इति 'उपसंपद्य विहरामि' महव्वयाणि पडिवज्जियस्स अत्थं गण्हमाणं वा एतीकरेमाणं।

(ख) हा० टी० प० १५ : 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि 'विहरामि' सुसाधुविहारेण तदभावे अङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात्।

(ग) जि० चू० पृ० १५१ : उवसंपज्जित्ताणं विहरामि नाम ताणि भावहिऊण अणुपालयंतो अब्भुज्जएण विहारेण अनिस्सियं गामनगर-पट्टणादीणि विहरिस्सामि। अहवा गणहरा भगवओ समासे पंचमहव्वयाणं अत्थं सोऊण एवं भणंति—'उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि'।

३—(क) अ० चू० : संजतो एकीभावेण सत्तरसविहे संजमे ठितो।

(ख) जि० चू० पृ० १५७ : संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे संजमे अवट्ठिओ संजओ भवति।

(ग) हा० टी० प० १५९ : सामस्त्येन यतः संयतः—सप्तदश प्रकारसंयमोपेतः।

४—अ० चू० : पावेहिंतो विरतो विरतिविरतो।

५—(क) जि० चू० पृ० १५७ : विरओ नामऽणेगप्पगारेण बारसविहे तवे रओ।

(ख) हा० टी० प० १५९ : अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः।

'पापकर्मा' शब्द का सम्बन्ध 'प्रतिहत' और 'प्रत्याख्यात' इनमें से प्रत्येक के साथ है[1]।

जिनदास के अनुसार जिसने ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में से प्रत्येक को हत किया हो वह प्रतिहत-पापकर्मा है[2]।जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जो आस्रवद्वार—पाप-कर्म आने के मार्ग को निरुद्ध कर चुका वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है[3]।

जिनदास महत्तर ने आगे जाकर इन शब्दों को एकार्थक भी कहा है[4]।

अनगार या साधु के विशेषण रूप से इन चार शब्दों का प्रयोग अन्य आगमों में भी प्राप्त है। सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा अनगार के विषय में विविध प्रश्नोत्तर आगमों में मिलते हैं। अत इन शब्दों के मर्म को समझ लेना आवश्यक है।

पाँच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन विरमण व्रत को अङ्गीकार कर लेने के वाद व्यक्ति भिक्षु कहलाता है। यह वताया जा चुका है कि महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया में तीन वातें रहती हैं—(१) अतीत पापों का प्रतिक्रमण (२) भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान और (३) वर्तमान में मन-वचन-काया से न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा। भिक्षु-भिक्षुणी के सम्बन्ध में प्रयुक्त इन चारों शब्दों में महाव्रत ग्रहण करने के वाद व्यक्ति किस स्थिति में पहुँचता है उसका सरल, सादा चित्र है। प्रतिहत-पापकर्मा वह इसलिए है कि अतीत पापों से प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा द्वारा निवृत्त हो वह अपनी आत्मा के पापों का व्युत्सर्ग कर चुका। वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा इसलिए है कि उसने भविष्य के लिए सर्व पापों का सर्वथा परित्याग किया है। वह सयत-विरत इसलिए है कि वह वर्तमान काल में किसी प्रकार का पाप किसी प्रकार से नहीं करता—उनसे वह निवृत्त है। सयत और विरत शब्द एकार्थक हैं। इस एकार्थकता को निष्प्रयोजन समझ संभवतः विरत का अर्थ तपस्या में रत किया हो। जो ऐसा भिक्षु या भिक्षुणी है उसका व्रतारोपण के वाद छह जीवनिकाय के प्रति कैसा वर्ताव रहना चाहिए उसी का वर्णन यहाँ से आरम्भ होता है।

६४. दिन में या रात में (दिया वा राओ वा···) :

अध्यात्मरत श्रमण के लिए दिन और रात का कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् वह अकरणीय कर्म को जैसे दिन में नही करता वैसे रात में भी नही करता, जैसे परिषद् में नहीं करता वैसे अकेले में भी नहीं करता, जैसे जागते हुए नहीं करता वैसे शयन-काल में भी नहीं करता।

जो व्यक्ति दिन में, परिषद् में या जाग्रत दशा में दूसरों के सकोचवश पाप से वचते हैं वे वहिर्दृष्टि हैं—आध्यात्मिक नहीं हैं।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने आत्म-पतन के भय से, किसी वाहरी सकोच या भय से नहीं, पाप से वचते हैं—परम आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं वे आध्यात्मिक हैं।

'दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते हुए या जागते हुए'—ये शब्द हर परिस्थिति, स्थान और समय के सूचक हैं[5]। साधु कहीं भी, कभी भी आगे वतलाये जाने वाले कार्य न करे।

१—(क) अ० चू० पावकम्म सद्दो पत्तेय परिसमप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ पावकम्मसद्दो पत्तेय पत्तेय दोछवि वट्टइ, त०—पडिहयपावकम्मे पच्चक्खायपावकम्मे य।

२—(क) अ० चू० पडिहत णासित।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठ कम्माणि पत्तेय पत्तेय जेण हयाणि सो पडिहयपावकम्मो।

(ग) हा० टी० प० १५२ प्रतिहतं—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।

३—(क) अ० चू० पच्चक्खात णियत्तिय।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ पच्चक्खायपावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।

(ग) हा० टी० प० १५२ प्रत्याख्यात—हेत्वभावत पुनर्वृद्ध्यभावेन पाप कर्म—ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविध।

४—जि० चू० पृ० १५४ अहवा सव्वाणि एताणि एगट्ठियाणि।

५—(क) अ० चू० सव्वकालितो णियमो त्ति कालविसेसण—दिता वा रातो वा सव्वदा।

(ख) वही चेट्ठा अवत्थतरविसेसणत्थमिद—सुत्ते वा जहाभणितनिद्दामोक्खत्थसुत्ते जागरमाणे वा सेस काल।

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'सरजस्क' है[1]। अर्थ की दृष्टि से 'सरजस्क' शब्द संगत है किन्तु प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया करने की दृष्टि से वह संगत नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से 'सरजस्क' का प्राकृत रूप 'सरयक्ख' या 'सरक्ख' होता है। किन्तु यह शब्द 'ससरक्ख' है इसलिए इसका संस्कृत रूप 'ससरक्ष' होना चाहिए। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसकी जो व्याख्या की है (पृ ८) वह 'ससरक्ष' के अनुकूल है। राख के समान अत्यन्त सूक्ष्म रजकणों को 'सरक्ख' और 'सरक्ख' से संश्लिष्ट वस्तु को 'ससरक्ख' कहा जाता है[2]। ओघनिर्युक्ति की वृत्ति में 'सरक्ख' का अर्थ राख किया गया है[3]।

जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में 'सरक्ख' का अर्थ 'पांशु' किया है और उस आरण्यपांशु सहित वस्तु को 'ससरक्ख' माना है[4]। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में अगस्त्यसिंह स्थविर के शब्द भी लगभग ऐसे ही हैं[5]।

७०. खपाच (किलिंचेण) :

बाँस की खपची, क्षुद्र काष्ठ-खण्ड[6]।

७१. शलाका-समूह (सलागहत्थेण) :

काष्ठ, ताँबे या लोहे के गढित या अगढित टुकड़े को शलाका कहा जाता है[7] हस्त भूयस्त्ववाची शब्द है[8]। शलाकाहस्त अर्थात् शलाका-समूह[9]।

७२. आलेखन (आलिहेज्जा) :

यह 'आलिह' (आ+लिख्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है कुरेदना, खोदना, विन्यास करना, चित्रित करना, रेखा करना। प्राकृत में 'आलिह' धातु स्पर्श करने के अर्थ में भी है। किन्तु यहाँ स्पर्श करने की अपेक्षा कुरेदने का अर्थ अधिक संगत लगता है।

जिनदास ने इसका अर्थ—'ईसि लिहण' किया है। हरिभद्र 'आलिखेत्' संस्कृत छाया देकर ही छोड़ देते हैं।

१—हा० टी० प० १५२ : सह रजसा—आरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्क:।

२—अ० चू० 'सरक्खो'—छसगहो, छार-सरिसो पुढवि-रतो। (रजस्)। सहसरक्खेण ससरक्खो।

३—ओघ नि० ३५६ वृत्ति सरक्खो—भस्म।

४—जि० चू० पृ० १५४ सरक्खो नाम पसू भण्णइ, तेण आरण्णपंसुणा अणुगतं ससरक्खं भण्णइ।

५—अ० चू० सरक्खो पसू। तेण अरण्ण पंसुणा सहगतं—ससरक्खं।

६—(क) नि० चू० ४ १०७ किलिंचो—वंशकप्परी।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ कलिंच—कारसोहिसादीण खंड।
(ग) हा० टी० प० १५२ कलिञ्जेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण।
(घ) अ० चू० कलिंच त चेव सण्ह।

७—(क) अ० चू० सलागा कट्ठमेव घडितगं। अघडितगं कट्ठं।
(ख) नि० चू० ४ १०७ अण्णतरकट्ठघडिया सलागा।
(ग) जि० चू० पृ० १५४ सलागा घडियाओ तंबाईण।

८—अ० चिं० ३ २३२।

९—(क) जि० चू० पृ० १५४ सलागाहत्थओ बहुयरिआयो अहवा सलागातो घडिल्लियाओ तासिं सलागाणं संघाओ सलागाहत्थो।
(ख) हा० टी० प० १५२ शलाकया वा—अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा—शलाकासंघातरूपेण।

७३ विलेखन (विलिहेज्जा)

(वि+लिख्) आलेखन और विलेखन में 'धातु' एक ही है केवल उपसर्ग का भेद है। आलेखन का अर्थ थोड़ा या एक बार कुरेदना और विलेखन का अर्थ अनेक बार कुरेदना या खोदना है[1]।

७४ घट्टन (घट्टेज्जा)

यह 'घट्ट' (घट्ट्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है हिलाना, चलाना[2]।

७५ भेदन (भिंदेज्जा)

यह भिद (भिद्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है भेदन करना, तोड़ना, विदारण करना, दो, तीन आदि भाग करना[3]।

'न आलेखन करे' 'न भेदन करे' (न आलिहेज्जा' 'न भिंदेज्जा) : इस सूत्र में छः ही प्रकार के जीवों के प्रति विविध-विविध से दण्ड-समारम्भ न करने का त्याग किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह जीवों के प्रति दण्ड-स्वरूप होने से मुमुक्षु ने प्राणातिपात विरमण आदि महाव्रत ग्रहण किये। सूत्र १८ से २१ में छः ही प्रकार के जीवों के कुछ नामों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति हिंसक क्रियाओं से बचने का मार्मिक उपदेश है और साथ ही भिक्षु द्वारा प्रत्येक की हिंसा से बचने के लिए प्रतिज्ञा-ग्रहण।

पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त रज—ये पृथ्वीकाय जीवों के साधारण-से-साधारण उदाहरण हैं। हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच आदि उपकरण भी साधारण-से-साधारण हैं। आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन—हिंसा की ये क्रियाएँ भी बड़ी साधारण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु साधारण-से-साधारण पृथ्वीकायिक जीवों का भी साधारण-से-साधारण साधनों द्वारा तथा साधारण क्रियाओं द्वारा भी हनन नहीं कर सकता; फिर क्रूर साधनों द्वारा तथा स्थूल क्रियाओं द्वारा हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ भिक्षु को यह विवेक दिया गया है कि वह हर समय, हर स्थान में, हर अवस्था में किसी भी पृथ्वीकायिक जीव की किसी भी उपकरण से किसी प्रकार हिंसा न करे और सब तरह की हिंसा-क्रियाओं से बचे।

यही बात अन्य स्थावर और त्रस जीवों के विषय में सूत्र १९ से २१ में कही गयी है और उन सूत्रों को पढ़ते समय इसे ध्यान में रखनी चाहिए।

सूत्र १९

७६ उदक (उदगं) :

जल दो प्रकार का होता है—भौम और आन्तरिक्ष। आन्तरिक्ष जल को शुद्धोदक कहा जाता है[4]। उसके चार प्रकार हैं—

१—(क) अ० चू० : ईसि लिहणमालिहणं विविहं लिहणं विलिहणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५३ : आलिहणं नाम ईसि, विलिहणं विविहेहिं पगारेहिं लिहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ : ईषत्सकृद्वाऽऽलेखनं निरन्तरमनेकशो वा विलेखनम्।
२—(क) अ० चू० : घट्टणं संचालणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५३ : घट्टणं चालणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ : घट्टनं चालनम्।
३—(क) अ० चू० : भिंदणं भेदकरणम्।
(ख) जि० चू० पृ० १५३ : भिंदणं दुहा वा तिहा वा करणंति।
(ग) हा० टी० प० १५२ : भेदो विदारणम्।
४—अ० चू० : अन्तरिक्ख पाणियं सुद्धोदयं।

(१) धारा-जल, (२) करक-जल, (३) हिम-जल और (४) तुषार जल। इनके अतिरिक्त ओस भी आन्तरिक्ष जल है। भूम्याश्रित या भूमि के स्रोतों में बहने वाला जल भौम कहलाता है। इस भौम-जल के लिए 'उदक'[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। उदक अर्थात् नदी, तालावादि का जल, शिरा से निकलने वाला जल।

७७. ओस (ओसं) :

रात में पूर्वाह्न या अपराह्न में जो सूक्ष्म जल पड़ता है उसे ओस कहते हैं। शरद् ऋतु की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह विशेष को ओस कहते हैं[2]।

७८. हिम (हिमं) :

बरफ या पाला को हिम कहते हैं। अत्यन्त शीत ऋतु मे जो जल जम जाता है उसे हिम कहते हैं[3]।

७९. धूँअर (महियं) :

शिशिर में जो अंधकार कारक तुषार गिरता है उसे महिका, कुहरा या धूमिका कहते हैं[4]।

८०. ओले (करगं) :

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन ढेले[5]।

८१. भूमि को भेदकर निकले हुए जल-विन्दु (हरतणुगं) :

जिनदास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो भूमि को भेदकर ऊपर उठता है उसे हरतनु कहते हैं। यह सीली भूमि पर स्थित पात्र के नीचे देखा जाता है[6]। हरिभद्र ने लिखा है—भूमि को उद्भेदन कर जो जल-विन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं वे हरतनु हैं[7]। व्याख्याओं के अनुसार ये विन्दु औद्भिद जल के होते हैं[8]।

१—(क) अ० चू० नदि-तलागादिसु सित पाणियमुदग।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ उदगग्गहणेण भोमस्स आउकायस्स गहणं कयं।
(ग) हा० टी० प० १५३ उदक—शिरापानीयम्।

२—(क) अ० चू० सरयादौ णिसि मेघसंभवो सिणेहविसेसो तोस्सा।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ उस्सा नाम निसि पडइ, पुव्वण्हे अवरण्हे वा, सा य उस्सा तेहो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ अवश्याय —त्रेह ।

३—(क) अ० चू० अतिसीतावत्थं भितमुदगमेव हिम।
(ख) हा० टी० प० १५३ हिम—स्त्यानोदकम्।

४—(क) अ० चू० पातो सिसिरे दिसामधकारकारिणी महिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ जो सिसिरे तुसारो पडइ सो महिया भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ महिका—धूमिका।

५—(क) अ० चू० वरिसोदग कढिणी भूत करगो।
(ख) हा० टी० प० १५३ करक —कठिनोदकल्प ।

६—जि० चू० पृ० १५५ हरतणुओ भूमि भेत्तूण उट्ठेइ, सो य उव्वुगाइसु तिताए भूमीए ठविएसु हेट्ठा दीसति।

७—हा० टी० प० १५३ हरतनु —भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति।

८—अ० चू० किंचि सणिद्ध भूमि भेत्तण कहिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेहविसेसो हरतणुतो।

८२ शुद्ध-उदक (सुद्धोदग) :

आन्तरिक्ष-जल को शुद्धोदक कहते हैं[1]।

८३ जल से भीगे (उदओल्ल) :

जल के ऊपर जो भेद किये गये हैं उनके बिंदुओं से आर्द्र—गीला[2]।

८४ जल से स्निग्ध (ससिणिद्ध) :

जो स्निग्धता से युक्त हो उसे सस्निग्ध कहते हैं। उसका अर्थ है जल बिन्दु रहित आर्द्रता। उन गीली वस्तुओं को जिनसे जल बिन्दु नहीं गिरते 'सस्निग्ध' कहते हैं[3]।

८५ आमर्श संस्पर्श (आमुसेज्जा संफुसेज्जा) :

आमृश (आ+मृश्) थोड़ा या एक बार स्पर्श करना आमर्श है; संस्पृश (सम्+स्पृश्) अधिक या बार-बार स्पर्श करना संस्पर्श है[4]।

८६ आपीड़न प्रपीड़न (आवीलेज्जा पवीलेज्जा) :

आपीड (आ+पीड्)—थोड़ा या एक बार निचोड़ना दबाना। प्रपीड़न—अधिक या बार-बार निचोड़ना, दबाना[5]।

८७ आस्फोटन प्रस्फोटन (अक्खोडेज्जा पक्खोडेज्जा) :

आस्फोट (आ+स्फोटय्)—थोड़ा या एक बार झटकना। प्रस्फोट (प्र+स्फोटय्)—बहुत या अनेक बार झटकना[6]।

१—(क) अ॰ चू॰ : अंतरिक्खपाणियं सुद्धोदगं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : अंतलिक्खपाणियं सुद्धोदगं भण्णइ।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षोदकम्।

२—(क) अ॰ चू॰ : तोयं उदओल्लं वा कायं सरीरं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : जं एतसि उदगभेएहिं बिंदुसहियं भवइ तं उदउल्लं भण्णइ।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषाराद्यनन्तरोक्तोदकभेदसमित्रता।

३—(क) अ॰ चू॰ : ससणिद्ध [म] बिन्दुगं तोयं ईसि।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : ससिणिद्धं जं न गलति तिम्मियं तं ससणिद्धं भण्णइ।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोक्तोदकभेदसमित्रता।

४—(क) अ॰ चू॰ : ईसि मुसणमामुसणं, समंतओ मुसणं सम्मुसणं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : आमुसणं नाम ईसिफरिसणं आमुसणं अहवा एगवारं फरिसणं आमुसणं पुणो पुणो संफुसणं।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्शनम् अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्।

५—(क) अ॰ चू॰ : ईसि पीलणमावीलणं अतिवं पीलणं निप्पीलणं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : ईसि निपीलणं आपीलणं अत्यत्थं पीलणं पवीलणं।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : एवं सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत्प्रपीडनम्।

६—(क) अ॰ चू॰ : एक्कं खोडनं अक्खोडनं, बितियं खोडनं पक्खोडनं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : एगं वारं जं अक्खोडइ तं बहुवारं पक्खोडनं।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५१ : एवं सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।

८८. आतापन···प्रतापन (आयावेज्जा···पयावेज्जा) :

आयाव (आ+तापय्)—थोडा या एक वार सुखाना, तपाना। पयाव (प्र+तापय्)—बहुत या अनेक वार सुखाना, तपाना[1]।

सूत्र : २०

८९. अग्नि (अगणिं) :

अग्नि से लगा कर उल्का तक तेजस्-काय के प्रकार वतलाये गए हैं। अग्नि की व्याख्या इस प्रकार है · लोह-पिंड में प्रविष्ट स्पर्शग्राह्य तेजस् को अग्नि कहते हैं[2]।

९०. अंगारे (इंगालं) :

ज्वालारहित कोयले को अगार कहते हैं। लकड़ी का जलता हुआ धूम-रहित खण्ड[3]।

९१. मुर्मुर (मुम्मुरं) :

कडे या करसी की आग। तुषाग्नि, चोकर या भूसी की आग। क्षारादिगत अग्नि को मुर्मुर कहते हैं। भस्म के विरल अग्नि-कण मुर्मुर है[4]।

९२. अर्चि (अच्चिं) :

मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला को अर्चि कहते हैं। आकाशानुगत परिच्छिन्न अग्निशिखा। दीपशिखा का अग्रभाग[5]।

९३. ज्वाला (जालं) :

प्रदीप्ताग्नि से प्रतिवद्ध अग्निशिखा को ज्वाला कहते हैं।[6]

१—(क) अ० चू० ईसि तावणमातावण, प्रगत तावण पतावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ ईसित्ति तावण आतावण, अतीव तावण पतावण।
(ग) हा० टी० प० १५३ एव सकृदीपद्वा तापनमातापन विपरीत प्रतापनम्।

२—(क) जि० चू० पृ० १५५-५६ अगणी नाम जो अयपिंडाणुगयो फरिसगेज्झो सो आयपिंडो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १५४ अयस्पिण्डानुगतोऽग्नि ।

३—(क) अ० चू० इगाल वा खदिरादीण णिद्दड्ढाण धूम विरहितो इगालो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ इगालो नाम जालारहिओ।
(ग) हा० टी० प० १५४ ज्वालारहितोऽङ्गार ।

४—(क) अ० चू० करिसगादीण किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।
(ग) हा० टी० प० १५४ विरलाग्निकण भस्म मुर्मुर·।

५—(क) अ० चू० दीवसिहासिहरादि अच्ची।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ अच्ची नाम आगासाणुगआ परिच्छिण्णा अग्गिसिहा।
(ग) हा० टी० प० १५४ मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चि·।

६—(क) अ० चू० उद्दितो परि अविच्छण्णा जाला।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ जाला पसिद्धा चेव।
(ग) हा० टी० प० १५४ · प्रतिबद्धा ज्वाला।

९४ अलात (अलाय)

अधजली लकड़ी[1]।

९५ शुद्ध अग्नि (सुद्धागणिं) :

इन्धनरहित अग्नि[2]।

९६ उल्का (उक्कं) :

गगनाग्नि—विद्युत् आदि[3]।

९७ उत्सेचन (उंजेज्जा) :

उंज (सिच्)—सींचना प्रदीप्त करना[4]।

९८ घट्टन (घट्टेज्जा) :

सजातीय या अन्य द्रव्यों द्वारा चालन या स्पर्श[5]।

९९ उज्ज्वालन (उज्जालेज्जा) :

पंखे आदि से अग्नि को ज्वलित करना—उसकी वृद्धि करना[6]।

१०० निर्वाण करे (निव्वावेज्जा) :

निर्वाण का अर्थ है—बुझाना[7]।

१—(क) अ० चू० : अलातं उम्मुगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अलायं नाम उम्मुआहियं पज (ज्ज) लियं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : अलातमुल्मुकम्।
२—(क) अ० चू० : एते विसेसे मोत्तूण सुद्धागणी।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : इंधणरहिओ सुद्धागणी।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निरिन्धनः—शुद्धोऽग्निः।
३—(क) अ० चू० : उक्का विज्जुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उक्काविज्जुयादि।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उल्का—गगनाग्निः।
४—(क) अ० चू० : जलसंधुक्खणं उंजणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उंजणं नाम जलसंधुक्खणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उञ्जनमुत्सेचनम्।
५—(क) अ० चू० : परोप्परमुम्मुगाणं अण्णेण वा आहणणं घट्टणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : घट्टणं परोप्परं उम्मुगाणि घट्टयति अन्नेण वा तारिसेण दव्वजातेण घट्टयति।
(ग) हा० टी० प० १५४ : घट्टनं—समानजातीयादिना चालनम्।
६—(क) अ० चू० : वीयणमादीहिं जालाकरणमुज्जालणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उज्जालणं नाम वीयणमादीहिं जालाकरणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उज्ज्वालनं—व्यजनादिभिर्वृद्ध्यापादनम्।
७—(क) अ० चू० : विज्झवणं निव्वावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : निव्वावणं नाम विज्झावणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निर्वापणं—विध्यापनम्।

सूत्र २१ :

१०१. चामर (सिएण) :

सित का अर्थ चँवर किया गया है[1]। किन्तु संस्कृत साहित्य में सित का चँवर अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। सित चामर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है—सित-चामर—श्वेत-चामर।

आचाराङ्ग (२ १ ७ २६२) में वही प्रकरण है जो कि इस सूत्र में है। वहाँ पर 'सिएण वा' के स्थान पर 'सुप्पेण वा' का प्रयोग हुआ है—'सुप्पेण वा विहुणेण वा तालिअटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा।'

निशीथ भाष्य (गा० २३६) में भी 'सुप्प' का प्रयोग मिलता है :—

सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य॥

यह परिवर्तन विचारणीय है।

१०२. पंखे (विहुयणेण) :

व्यजन, पखा[2]।

१०३. वीजन (तालियंटेण) :

जिसके बीच में पकड़ने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो उसे तालवृन्त कहा जाता है। कई-कई इसका अर्थ ताड़पत्र का पखा भी करते हैं[3]।

१०४. पत्र, शाखा, शाखा के टुकड़े (पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा) :

'पत्तेण वा' 'साहाए वा' के मध्य में 'पत्तभगेण वा' पाठ भी मिलता है। टीका-काल तक 'पत्तभगेण वा' यह पाठ नहीं रहा। इसकी व्याख्या टीका की उत्तरवर्ती व्याख्याओं में मिलती है। आचाराङ्ग (२ १ ७ २६२) में 'पत्तेण वा' के बाद 'साहाए वा' रहा है किन्तु उनके मध्य में 'पत्तभगेण वा' नहीं है और यह आवश्यक भी नहीं लगता।

पत्र—पद्मिनी पत्र आदि[4]।

शाखा—वृक्ष की डाल।

१—(क) अ चू० चामर सिय।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ · सीत चामर भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५४ सित चामरम्।

२—(क) अ० चू० वीयण विहुवण।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ विहुवण वीयन णाम।
(ग) हा० टी० प० १५४ विधवन—व्यजनम्।

३—(क) अ० चू० तालवेंटमुक्खेवजाती।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ · तालियटो नाम लोगपसिद्धो।
(ग) हा० टी० प० १५४ तालवृन्त—तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम्।

४—(क) अ० चू० पउमिणिपण्णमादी पत्त।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ पत्त नाम पोमिणिपत्तादी।
(ग) हा० टी० प० १५४ पत्र—पद्मिनीपत्रादि।

शाखा के टुकड़े—डाल का एक अंश[1]।

१०५ मोर पंख (पिहुणेण) :

इसका अर्थ मोर पिच्छ अथवा वैसा ही अन्य पिच्छ होता है[2]।

१०६ मोर पिच्छी (पिहुणहत्थेण) :

मोर पिच्छों अथवा अन्य पिच्छों का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छा[3]।

१०७ वस्त्र के पल्ले (चेलकण्णेण) :

वस्त्र का एक देश—भाग[4]।

१०८ अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को (अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं) :

अपने गात्र को तथा उष्ण ओदन आदि पदार्थों को[5]।

सूत्र २२

१०९ स्फुटित बीजों पर (रूढेसु) :

बीज जब भूमि को फोड़ कर बाहर निकलता है तब उसे रूढ़ कहा जाता है[6]। यह बीज और अंकुर के बीच की अवस्था है। अंकुर नहीं निकला हो ऐसे स्फुटित बीजों पर।

१—(क) अ० चू० : रुक्खस्स साहा तदेगदेसो साहाभंगओ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : साहा रुक्खस्स डालं साहाभंगओ तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : शाखा-वृक्षडालं शाखाभङ्गः—तदेकदेशः।

२—(क) अ० चू० : पेहुणं मोरंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पेहुणं मोरपिच्छगं वा अन्नं वा किंचि तारिसं पिच्छं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : पेहुणं—मयूरादिपिच्छम्।

३—(क) अ० चू० : तेसिं समूहो पेहुणहत्थओ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ पिहुणहत्थओ मोरिंगकुच्चओ गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १५४ : पेहुणहस्तः—तत्समूहः।

४—(क) अ० चू० : तदेगदेसो चेलकण्णो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : चेलकण्णो तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : चेलकर्णः—तदेकदेशः।

५—(क) अ० चू० : अप्पणो सरीरं सरीरवज्झो बाहिरो पोग्गलो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पोग्गलं—उसिणोदगं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : आत्मनो वा कायं—स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलम्—उष्णौदनादि।

६—(क) अ० चू० : उब्भिज्जंतं रूढं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : रूढं नाम बीयाणि चेव फुडियाणि, न ताव अंकुरो निप्फज्जइ।
(ग) हा० टी० प० १५५ : रूढानि—स्फुटितबीजानि।

११०. पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर (जाएसु) :

अगस्त्य चूर्णि में बद्ध-मूल वनस्पति को जात कहा है[१]। यह भ्रूणाग्र के प्रकट होने की अवस्था है। जिनदास चूर्णि और टीका में इस दशा को स्तम्ब कहा गया है[२]।

जो वनस्पति अंकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हों या जो घास कुछ बढ चली हो—उसे स्तम्बीभूत कहा जाता है।

१११. छिन्न वनस्पति के अङ्गों पर (छिन्नेसु) :

वायु द्वारा भग्न अथवा परशु आदि द्वारा वृक्ष से अलग किए हुए आर्द्र अपरिणत डालादि अङ्गों पर[३]।

११२. अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर (सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु) :

सूत्र के इस वाक्यांश का 'प्रतिनिश्रित' शब्द सचित्त और कोल दोनों से सम्बन्धित है। सचित्त का अर्थ अण्डा और कोल का अर्थ घुण—काष्ठ-कीट होता है। प्रतिनिश्रित अर्थात् जिसमें अण्डे और काष्ठ-कीट हों वैसे काष्ठ आदि पर[४]।

११३. सोये (तुयट्टेज्जा[५]) :

(त्वग् + वृत्)—सोना, करवट लेना[६]।

सूत्र २३ :

११४. सिर (सीसंसि) :

अगस्त्य चूर्णि में 'बाहुंसि वा' के पश्चात् 'उद्सीससि वा' है। अवचूरी और दीपिकाकार ने 'उदरंसिवा' के पश्चात् 'सीससिवा'

१—अ० चू० आवद्धमूल जात।

२—(क) जि० चू० पृ० १५७ जाय नाम एताणि चेव थवीभूयाणि।
(ख) हा० टी० प० १५५ जातानि—स्तम्बीभूतानि।

३—(क) अ० चू० छिण्ण पिहीकत त अपरिणत।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ छिण्णग्गहणेण वाउणा भग्गस्स अण्णेण वा परसुमाइणा छिण्णस्स अद्दभावे वट्टमाणस्स अपरिणयस्स गहण कयमिति।
(ग) हा० टी० प० १५५ छिन्नानि—परश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितान्यार्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते।

४—(क) अ० चू० सचित्त-कोलपडिणिस्सितेसु वा, पडिणिस्सित सद्दो दोसु वि, सचित्तेसु पडिणिस्सिताणि अडग-उद्देहिगादिसु, कोला घुणा ते जाणि अस्सिता ते कोलपडिणिस्सिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ सचित्तकोलपडिणिस्सियसद्दो दोसु वट्टइ, सचित्तसद्दे य कोलसद्दे य, सचित्तपडिणिस्सियाणि दारुयाणि सचित्तकोलपडिनिस्सिताणि, तत्य सचित्तगहणेण अडगउद्देहिगादीहिं अणुगताणि जाणि दारुगादीणि सचित्तणिस्सियाणि, कोल-पडिनिस्सयाणि नाम कोलो घुणा भण्णति, सो कोलो जेसु दारुगेसु अणुगओ ताणि कोलपडिनिस्सियाणि।
(ग) हा० टी० प० १५५ सचित्तानि—अण्डकादीनि कोल—घुण।

५—(क) अ० चू० गमण चक्कमण, चिट्ठण ठाण, णिसीदण उपविसण, तुयट्टण निवज्जण।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ गमण आगमण वा चक्कमण भण्णइ, चिट्ठण नाम तेसिं उवरिं ठियस्स अच्छण, निसीयण उव-ज आवेसण।
(ग) हा० टी० प० १५५ गमनम्—अन्यतोऽन्यत्र स्थानम्—एकत्रैव निषीदनम्—उपवेशनम्।

६—जि० चू० पृ० १५७ तुयट्टण निवज्जण।

माना है किन्तु टीका में वह व्याख्यात नहीं है। 'वत्थंसि वा' के पश्चात् 'पडिग्गहंसि वा' 'कंबलंसि वा' 'पायपुछणंसि वा' ये पाठ और हैं उनकी टीकाकार और अवचूरीकार ने व्याख्या नहीं की है। दीपिकाकार ने उनकी व्याख्या की है। अगस्त्य चूर्णि में 'वत्थंसि वा' नहीं है 'कंबलंसि वा' है। पायपुछण (पादप्रोञ्छन) रयहरण (रजोहरण) का पुनरुक्त है। 'पादप्रोञ्छन शब्देन रजोहरणमेव ग्राह्यं' (ओघनिर्युक्ति गाथा ७ ६ वृत्ति)। पादप्रोञ्छनम्—रजोहरणम् (स्थानाङ्ग ५ १ ४ ८ वृत्ति)। इसलिए यह अनावश्यक प्रतीत होता है। अगस्त्य चूर्णि में 'पडिग्गह' और 'पाय' दोनों पाठ नहीं हैं।

११५ रजोहरण (रयहरणंसि) :

स्थानाङ्ग (५ ३ ४४६) और बृहत्कल्प (२ २९) में ऊन, ऊँट के बाल, सन, वच्चक नाम की एक प्रकार की घास और मूंज का रजोहरण करने का विधान है। ओघनिर्युक्ति (७ ६) में ऊन, ऊँट के बाल और कम्बल के रजोहरण का विधान मिलता है। ऊन आदि के धागों को तथा बालों को बँट कर उनकी कोमल फलियाँ बनाई जाती हैं और वैसी दो सौ फलियों का एक रजोहरण होता है। रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खड़ा होना, बैठना, सोना और शरीर को सिकोड़ना ये सारे कार्य प्रमार्जन पूर्वक (स्थान और शरीर को किसी साधन से झाड़कर या साफ कर) करणीय होते हैं। प्रमार्जन का साधन रजोहरण है। वह मुनि का चिह्न भी है।

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए।
पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ —ओघनिर्युक्ति ७१०

इस गाथा में राह को चलते समय प्रमार्जन पूर्वक (भूमि को बुहारते हुए) चलने का कोई संकेत नहीं है। किन्तु रात को या अन्धेरे में दिन को भी उससे भूमि को साफ कर चला जाता है। यह भी उसका एक उपयोग है। इसे पादप्रोञ्छन[1] अमज्जन और ओघा भी कहा जाता है।

११६ गोच्छग (गोच्छगंसि)

एक वस्त्र जो पटल (पात्र को ढाँकने के वस्त्र) को साफ करने के काम आता है[2]।

११७ दण्डक (दण्डगंसि)

ओघनिर्युक्ति (७३) में औपग्रहिक (विशेष परिस्थिति में रखे जाने वाले) उपधियों की गणना है। वहाँ दण्ड का उल्लेख है। इसकी कोटि के तीन उपकरण और बतलाए गये हैं—यष्टि, वियष्टि और विदण्ड। यष्टि शरीर-प्रमाण, वियष्टि शरीर से चार अंगुल कम, दण्ड कंधे तक और विदण्ड कुक्षि (कोख) तक लम्बा होता है। यवनिका (पर्दा) बाँधने के लिए यष्टि और उपाश्रय के द्वार को ढिलाने के लिए वियष्टि रखी जाती थी। दण्ड ऋतुबद्ध (चातुर्मासातिरिक्त) काल में भिक्षाटन के समय पास में रखा जाता था और वर्षाकाल में भिक्षाटन के समय विदण्ड रखा जाता था। भिक्षाटन करते समय बरसात आ जाने पर उसे भीगने से बचाने के लिए कपड़े के भीतर रखा जा सके इसलिए वह छोटा होता था। वृत्ति में नालिका का भी उल्लेख है। उसकी लम्बाई शरीर से चार अंगुल अधिक बतलाई गई है। उसका उपयोग नदी को पार करते समय उसका जल मापने के लिए होता था[3]।

व्यवहार सूत्र के अनुसार दण्ड रखने का अधिकारी केवल स्थविर ही है[4]।

१—हा० टी० प० १५१ : 'पादपुंछनं' रजोहरणम्।
२—ओ० नि० ६६४ : होइ पमज्जणहेउं तु, गोच्छओ भाणवत्थाणं।
३—ओ० नि० ७३ वृत्ति : अन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैरतिरिक्ता तत्र नालिकया नद्यादौ जलं मीयते।
४—व्य० ८.५ पृ० ३६ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा ......

११८. पीठ, फलक (पीढगंसि वा फलगंसि वा) :

पीठ—काठ आदि का बना हुआ बैठने का बाजौट। फलक—लेटने का पट्ट अथवा पीढा[1]।

११९. शय्या या संस्तारक (सेज्जंसि वा संथारगंसि वा) :

शरीर प्रमाण बिछौने को शय्या और ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अगुल चौडे बिछौने को सस्तारक कहा जाता है[2]।

१२०. उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर (अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए) :

साधु के पास उपयोग के लिए रही हुई अन्य कल्पिक वस्तुओं पर[3]। 'तहप्पगारे उवगरणजाए'—इतना पाठ चूर्णियों में नहीं है।

१२१. सावधानीपूर्वक (संजयामेव) :

कीट, पतग आदि को पीडा न हो इस प्रकार। यतनापूर्वक, संयमपूर्वक[4]।

१२२. एकान्त में (एगतं) :

ऐसे स्थान में जहाँ कीट, पतङ्गादि का उपघात न हो[5]।

१२३. संघात (संघायं) :

उपकरण आदि पर चढे हुए कीट, पतग आदि का परस्पर ऐसा गात्रस्पर्श करना जो उन प्राणियों के लिए पीडा रूप हो सघात कहलाता है। यह नियम है कि एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण होता है। अत अवशेष परितापना, क्लामना आदि को भी सघात के साथ ग्रहण कर लेना चाहिए। सघात के बाद का आदि शब्द लुप्त समझना चाहिए[6]।

१—अ० चू० पीढग कट्ठमत छाणमत वा। फलग जत्थ सुप्पति चपगपट्टादिपेढण वा।

२—(क) अ० चू० सेज्जा सव्वगिका। सथारगो यऽड्ढाइज्जहत्थायततो सचतुरगुल हत्थ वित्थिणो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८. सेज्जा सव्वगिया, सथारो अड्ढाइज्जा हत्था आयतो हत्थ सचउरगुल विच्छिण्णो।

३—(क) अ० चू० अणतर वयणेण तोवग्गहियमणेगागार भणित।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ अणतरग्गहणेण बहुविहस्स तहप्पगारस्स सजतपायोग्गस्स उवगरणस्स गहण कयति।

(ग) हा० टी० प० १५६ अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते।

४—(क) अ० चू० सजतामेव जयणाए जहा ण परिताविज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ सजयामेवत्ति जहा तस्स पीडा ण भवति तहा घेत्तूण।

(ग) हा० टी० प० १५६ सयत एव सन् प्रयत्नेन वा।

५—(क) अ० चू० एकते जत्थ तस्स उवघातो ण भवति तहा अवणेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ एगते नाम जत्थ तस्स उवघाओ न भवइ तत्थ।

(ग) हा० टी० प० १५६ · तस्यानुपघातके स्थाने।

६—(क) अ० चू० · एत्थ आदिसद्दलोपो, सघट्टण-परितावणोद्दवणाणि सूतिज्जति। परिताव परोप्पर गत्तपीडण सघातो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ सघात नाम परोप्परतो गत्ताण सपिडण, एगग्गहणेण गहण तज्जाईयाणतिकाऊण सेसावि परितावण-किलावणादिभेदा गहिया।

(ग) हा० टी० प० १५६ · सघात—परस्परगात्रसस्पर्शपीडारूपम्।

श्लोक १-६ :

१२८. अयतनापूर्वक चलनेवाला···अयतनापूर्वक बोलनेवाला (श्लोक १-६) :

सूत्र १८ से २३ में प्राणातिपात-विरमण महाव्रत के पालन के लिए पृथ्वीकायादि जीवों के हनन की क्रियाओं का उल्लेख करते हुए उनसे बचने का उपदेश आया है। शिष्य उपदेश को सुन उन क्रियाओं को मन, वचन, काया से करने, कराने और अनुमोदन करने का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता है।

जीव-हिंसा की विविध क्रियाओं के त्याग-प्रत्याख्यान के साथ साथ जीवन-व्यवहार में यतना—सावधानी—की भी पूरी आवश्यकता है। अयतनापूर्वक चलने वाला, खड़ा होने वाला, बैठने वाला, भोजन करने वाला, सोने वाला, बोलने वाला हिंसा का भागी होता है और उसको कैसा फल मिलता है, इसी का उल्लेख श्लोक १ से ६ तक में है।

साधु के लिए चलने के नियम इस प्रकार हैं—वह धीरे-धीरे युग प्रमाण भूमि को देखते हुए चले, बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले, सरजस्क पैरों से अंगार, छाई, गोबर आदि पर न चले, वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले; जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतंग आदि सम्पातिम प्राणी उड़ते हों उस समय न चले, वह न ऊपर देखता चले, न नीचे देखता, न बातें करता चले, और न हँसते हुए। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर या ईंट पर पैर रख कर कर्दम या जल से पार न हो।

चलने सम्बन्धी इन तथा ऐसे ही अन्य ईर्या समिति के नियमों व शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[1]।

खड़े होने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि पर खडा न हो, जहाँ खड़ा हो वहाँ से खिड़कियों आदि की ओर न झाँके, खड़े-खड़े हाथ-पैरों को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए, पूर्ण संयम से खड़ा रहे, बीज, हरित, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खड़ा न हो।

खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है।

बैठने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे, बिना प्रमार्जन किए न बैठे, गलीचे, दरी आदि पर न बैठे, गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ, पैर, शरीर और इन्द्रियों को नियन्त्रित कर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे।

बैठने के इन तथा ऐसे ही नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। बैठे-बैठे हाथ पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सकोचना आदि अयतना है[2]।

सोने के नियम इस प्रकार हैं—बिना प्रमार्जित भूमि, शय्या आदि पर न सोवे, अकारण दिन न सोवे, सारी रात न सोवे, प्रकाम निद्रा सेवी न हो।

सोने के विषय में इन नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[3]।

भोजन के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त, अर्द्धपक्व न ले, सचित्त पर रखी हुई वस्तु न ले, स्वाद के लिए न खाय, प्रकामभोजी

१—(क) अ० चू० : चरमाणस्स गच्छमाणस्स, रियासमितिविरहितो सत्तोपघातमातोवघात वा करेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजय नाम अणुवएसेण, चरमाणो नाम गच्छमाणो।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति क्रियाविशेषणमेतत् 'अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य।

२—(क) अ० चू० : आसमाणो उवेट्ठो शरीरकुक्कुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुचणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ, तओ सो उवरोधे वट्टइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतमासीनो—निपण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन।

३—(क) अ० चू० : आउटण—पसारणादिसु पडिलेहण पमज्जणमकरितस्स पकाम—णिकाम रत्ति दिवा य सुयन्तस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजयति आउटेमाणो पसारेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइ 'सुवइ, दिवसओवि सुयइ, पगाम निगाम वा सुवइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयत स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना (वा)।

श्लोक १-६ :

१२८. अयतनापूर्वक चलनेवाला⋯अयतनापूर्वक बोलनेवाला (श्लोक १-६) :

सूत्र १८ से २३ में प्राणातिपात-विरमण महाव्रत के पालन के लिए पृथ्वीकायादि जीवों के हनन की क्रियाओं का उल्लेख करते हुए उनसे बचने का उपदेश आया है। शिष्य उपदेश को सुन उन क्रियाओं को मन, वचन, काया से करने, कराने और अनुमोदन करने का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता है।

जीव-हिंसा की विविध क्रियाओं के त्याग प्रत्याख्यान के साथ साथ जीवन-व्यवहार में यतना—सावधानी—की भी पूरी आवश्यकता है। अयतनापूर्वक चलने वाला, खड़ा होने वाला, बैठने वाला, भोजन करने वाला, सोने वाला, बोलने वाला हिंसा का भागी होता है और उसको कैसा फल मिलता है, इसी का उल्लेख श्लोक १ से ६ तक में है।

साधु के लिए चलने के नियम इस प्रकार हैं—वह धीरे-धीरे युग प्रमाण भूमि को देखते हुए चले, बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले , सरजस्क पैरों से अंगार, छाई, गोबर आदि पर न चले, वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले, जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतंग आदि सम्पातिम प्राणी उड़ते हों उस समय न चले, वह न ऊपर देखता चले, न नीचे देखता, न बातें करता चले, और न हँसते हुए। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर या ईंट पर पैर रख कर कर्दम या जल से पार न हो।

चलने सम्बन्धी इन तथा ऐसे ही अन्य ईर्या समिति के नियमों व शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[1]।

खड़े होने के नियम इस प्रकार हैं —सचित्त भूमि पर खड़ा न हो, जहाँ खड़ा हो वहाँ से खिड़कियों आदि की ओर न झाँके, खडे-खड़े हाथ-पैरों को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए, पूर्ण संयम से खड़ा रहे, बीज, हरित, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खड़ा न हो।

खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है।

बैठने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे, बिना प्रमार्जन किए न बैठे, गलीचे, दरी आदि पर न बैठे, गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ, पैर, शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रित कर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे।

बैठने के इन तथा ऐसे ही नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। बैठे-बैठे हाथ पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सकोचना आदि अयतना है[2]।

सोने के नियम इस प्रकार हैं—बिना प्रमार्जित भूमि, शय्या आदि पर न सोवे, अकारण दिन न सोवे, सारी रात न सोवे, प्रकाम निद्रा सेवी न हो।

सोने के विषय में इन नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[3]।

भोजन के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त, अर्द्धपक्व न ले, सचित्त पर रखी हुई वस्तु न ले, स्वाद के लिए न खाय, प्रकामभोजी

१—(क) अ० चू० चरमाणस्स गच्छमाणस्स, रियासमितिविरहितो सत्तोपघातमातोवघात वा करेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ अजय नाम अणुवएसेण, चरमाणो नाम गच्छमाणो।
(ग) हा० टी० प० १५६ अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति, क्रियाविशेषणमेतत् 'अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य।

२—(क) अ० चू० आसमाणो उवेट्ठो शरीरकुक्कुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुचणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ, तओ सो उवरोधे वट्टइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ अयतमासीनो—निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन।

३—(क) अ० चू० आउटण—पसारणादिसु पडिलेहण पमज्जणमकरितस्स पकाम—णिकाम रत्ति दिवा य सुयन्तस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ अजयति आउटेमाणो पसारेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइं सुवइ, दिवसओवि सुयइ, पगाम निगाम वा सुवइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ अयतं स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना (वा)।

न हो; थोड़ा खाय; संग्रह न करे; औद्देशिक क्रीत आदि न ले; संविभाग कर खाय; संतोष के साथ खाय; झूठा न छोड़े; मित मात्रा में ग्रहण करे; गृहस्थ के बरतन में भोजन न करे आदि।

भोजन विषयक इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। जो बिना प्रयोजन आहार का सेवन करता है, प्रणीत आहार करता है तथा काक शृगाल आदि की तरह खाता है वह अयतनाशील है[1]।

बोलने के नियम इस प्रकार हैं—चुगली न खाय; मृषाभाषा न बोले जिससे दूसरा कुपित हो वैसी भाषा न बोले; ज्योतिष मंत्र तंत्र आदि न बतलावे; कर्कश, कठोर, भाषा न बोले; सावद्य अथवा सावद्यानुमोदिनी भाषा न बोले; जो बात नहीं जानता हो उसके विषय में निश्चित भाषा न बोले।

बोलने के विषय में इन तथा ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। गृहस्थ-भाषा का बोलना वैर उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना आदि भाषा सम्बन्धी अयतना है[2]।

जो साधु चलने, खड़ा होने बैठने आदि की विधि के विषय में जो उपदेश और आज्ञा सूत्रों में है उनके अनुसार नहीं चलता और उन आज्ञाओं का उल्लंघन या लोप करता है वह अयतनापूर्वक चलने, खड़ा होने बैठने सोने भोजन करने और बोलने वाला कहा जाता है[3]।

एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए—यह नियम यहाँ भी लागू है। यहाँ केवल चलने खड़ा होने आदि का ही उल्लेख है पर साधु जीवन के लिए आवश्यक भिक्षा-चर्या आहार-गवेषणा उपकरण रखना, उठाना मल-मूत्र विसर्जन करना आदि अन्य क्रियाओं के विषय में भी जो नियम सूत्रों में लिखित हैं उनका उल्लंघन करने वाला अयतनाशील कहा जायगा।

१२९ श्लोक (१६):

अगस्त्य चूर्णि में 'चरमाणस्स' और 'हिंसओ'—षष्ठी के एक वचन तथा 'बन्धइ'—अकर्मक क्रिया के प्रयोग हैं। इसलिए इन छः श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार होगा :—

१—अयतनापूर्वक चलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

२—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाले त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३—अयतनापूर्वक बैठने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४—अयतनापूर्वक सोने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

१—(क) अ॰ चू॰ : अजतं भुंजमाणस्स। अकारणे काक-सियालभुत्तं एवमादि।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : अजयं कागसियालखइयादीहि भुंजइ तं च कहं एवमादि।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५७ : अयतं भुञ्जानो—निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना (वा)।

२—(क) अ॰ चू॰ : तं पुण सावज्जं वा ढड्ढरमादीहिं वा।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५५ : अजयं गारत्थियभासादि भासइ ढड्ढेण वेरत्तियाइ एवमादि।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५७ : अयतं भाषमाणो—गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना (वा)।

३—(क) अ॰ चू॰ : अजयं अणुवएसेणं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १५८ : अजयं नाम अणुवएसेणं।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति।

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६—अयतनापूर्वक बोलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

श्लोक ७ :

१३०. श्लोक ७ :

जब शिष्य ने सुना कि अयतना से चलने, खड़े होने आदि से जीवों की हिंसा होती है, पाप-बंध होता है और कटु फल मिलता है, तब उसके मन में जिज्ञासा हुई—अनगार कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे खाय ? कैसे बोले ? जिससे कि पाप-कर्म का बंधन न हो ? यही जिज्ञासा इस श्लोक में गुरु के सामने प्रकट हुई। इस श्लोक की तुलना गीता के उस श्लोक से होती है जिसमें समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥

अ० २ : ५४

श्लोक ८ :

१३१. श्लोक ८ :

अनगार कैसे चले ? कैसे बैठे ? आदि प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में है।

श्रमण भगवान् महावीर जब भी कोई उनके समीप प्रव्रज्या लेकर अनगार होता तो उसे स्वयं बताते—तुम इस तरह चलना, इस तरह खड़ा रहना, इस तरह बैठना, इस तरह सोना, इस तरह भोजन करना, इस तरह बोलना आदि[1]। इन बातों को सीख लेने से जैसे अनगार जीवन की सारी कला सीख लेता है ऐसा उन्हें लगता। अपनी उत्तरात्मक वाणी में भगवान् कहते हैं—यतना से चल, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठ, यतना से सो, यतना से भोजन कर, यतना से बोल। इससे अनगार पाप-कर्मों का बंध नहीं करता और उसे कटु फल नहीं भोगने पड़ते।

श्लोक ७ और ८ के स्थान में 'मूलाचार' में निम्न श्लोक मिलते हैं :

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कध सये।
कध भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥ १०१२
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ॥ १०१३
यतं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥ १०१४

समयसाराधिकार १०

१—नाया० १ सू० ३१ पृ० ७६ एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं, एवं णिसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं, भासियव्वं, उट्ठाए २ पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमितव्वं।

१३२ यतनापूर्वक चलने (जयं चरे [क]) :

यतनापूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति से युक्त हो त्रस आदि प्राणियों को टालते हुए चलना । पैर ऊँचा उठाकर उपयोग पूर्वक चलना । युग प्रमाण भूमि को देखते हुए शास्त्रीय विधि से चलना[1] ।

१३३ यतनापूर्वक खड़ा होने (जयं चिट्ठे [क])

यतनापूर्वक खड़े रहने का अर्थ है—कूर्म की तरह गुप्तेन्द्रिय रह हाथ पैरादि का विक्षेप न करता हुआ खड़ा रहना ।

१३४ यतनापूर्वक बैठने (जयमासे [क]) :

यतनापूर्वक बैठने का अर्थ है—हाथ पैर आदि को बार-बार संकुचित न करना या न फैलाना[3] ।

१३५ यतनापूर्वक सोने (जयं सए [क]) :

यतनापूर्वक सोने का अर्थ है—पार्श्व आदि फेरते समय या अङ्गों को फैलाते समय निद्रा छोड़कर शय्या का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना । रात्रि में प्रकामशायी—प्रगाढ़ निद्रावाला न होना—समाहित होना[4] ।

१३६ यतनापूर्वक खाने (जयं भुंजंतो [ग]) :

यतनापूर्वक खाने का अर्थ—शास्त्र विहित प्रयोजन के लिए निर्दोष अप्रणीत—रसरहित—पान-भोजन को सिंह की भांति अगृद्ध भाव से खाना[5] ।

१३७ यतनापूर्वक बोलने (जयं भासंतो [ग]) :

यतनापूर्वक बोलने का अर्थ है—इसी सूत्र के 'वाक्य शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में वर्णित भाषा सम्बन्धी नियमों का पालन करना । मुनि के योग्य मृदु समयोचित भाषा का प्रयोग करना[6] ।

१—(क) अ० चू० : जयं चरे इरियासमितो दट्ठूण तसे पाणे 'उद्धट्टु पादं रीएज्जा' एवमादि ।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : जयं नाम उवउत्तो जुगंतरदिट्ठी दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पाए रीएज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं चरेत्—सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः ।
२—(क) अ० चू० : जयमेव कुम्मो इव गुत्तिंदिओ चिट्ठेज्जा ।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : एवं जयं कुव्वंतो कुम्मो इव गुत्तिंदिओ चिट्ठेज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं तिष्ठेत्—समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण ।
३—(क) अ० चू० : एवं आसेज्ज पहरमत्तं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : एवं आसेज्जावि ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतमासीत—उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन ।
४—(क) अ० चू० : जयणा अकम्हाए सएज्जा ।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : जयं निद्दामोक्खं करेमाणो आउंटणपसारणाणि पडिलेहिय पमज्जिय करेज्ज
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं स्वपेत्—समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण ।
५—(क) अ० चू० : दोसवज्जितं भुंजेज्ज ।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : एवं दोसवज्जियं भुंजमाणा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं भुञ्जानः—सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना ।
६—(क) अ० चू० : जहा 'वक्कसुद्धीए' भणिहिति तहा भासेज्जा ।
(ख) हा० टी० प० १५७ : एवं यतं भाषमाणः—साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम् ।

श्लोक ६ :

१३८. जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है...उसके...बंधन नहीं होता (श्लोक ६):

जब शिष्य के सामने यह उत्तर आया कि यतना से चलने, खड़ा होने आदि से पाप कर्म का बंध नहीं होता तो उसके मन में एक जिज्ञासा हुई—यह लोक छ काय के जीवों से समाकुल है। यतनापूर्वक चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने पर भी जीव-वध सभव है फिर यतनापूर्वक चलने वाले अनगार को पाप-कर्म क्यों नहीं होगा ? शिष्य की इस शका को अपने ज्ञान से समझ कर गुरु जो उत्तर देते हैं वह इस श्लोक में समाहित है।

इसकी तुलना गीता के निम्न श्लोक से होती है :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५ ७

इस ६ वें श्लोक का भावार्थ यह है :

जिसके मन में यह बात अच्छी तरह जम चुकी है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही सब जीव हैं, जैसे मुझे दु ख अनिष्ट है वैसे ही सब जीवों को अनिष्ट है, जैसे पैर में काँटा चुभने से मुझे वेदना होती है वैसे ही सब जीवों को होती है, उसने जीवों के प्रति सम्यक्-दृष्टि की उपलब्धि कर ली। वह 'सर्वभूतात्मभूत' कहलाता है[1]।

जो ऐसी सहज सम्यक्-दृष्टि के साथ-साथ हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह आदि आस्रवों को प्रत्याख्यान द्वारा रोक देता है अर्थात् जो महाव्रतों को ग्रहण कर नए पाप-सस्कार को नहीं होने देता वह 'पिहितास्रव' कहलाता है[2]।

जिसने श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष को जीत लिया है, जो क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करता है अथवा उदय में आ चुकने पर उन्हें विफल करता है, इसी तरह जो अकुशल मन, वचन और काया का निरोध करता है और कुशल मन आदि का उदीरण करता है वह 'दान्त' कहलाता है[3]।

१—(क) अ० चू० सव्वभूता सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतस्स जहा अप्पाण तहा सव्वजीवे पासति, 'जह मम दुक्ख अणिट्ट एव सव्वसत्ताण' ति जाणिऊण ण हिंसति, एव सम्म दिट्ठाणि भूताणि भवति तस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १६० सव्वभूता—सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कह ? जहा मम दुक्ख अणिट्ठ इह एवं सव्व-जीवाणतिकाउ पीडा णो उप्पायइ, एव जो सव्वभूएसु अप्पभूतो तेण जीवा सम्म उवलद्धा भवति, भणिय च—

"कट्टेण कटएण व पादे विद्धस्स वेदणा तस्स।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाण ॥"

(ग) हा० टी० प० १५७ सर्वभूतेष्वात्मभूत सर्वभूतात्मभूतो, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थ, तस्यैव सम्यग्—वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि—पृथिव्यादीनि पश्यत सत'।

२—(क) अ चू० पिहितासवस्स ठइताणि पाणवहादीणि आसवदाराणि जस्स तस्स पिहितासवस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १६० पिहियाणि पाणिवधादीणि आसवदाराणि जस्स सो पिहियासवदुवारो तस्स पिहियासवदुवारस्स।

(ग) हा० टी० प० १५७ 'पिहिताश्रवस्य' स्थगितप्राणातिपाताद्याश्रवस्य।

३—(क) अ० चू० दतस्स दतो इदिएहिं णोइदिएहि य। इदियदमो सोइदियपयारणिरोधो वा सद्दातिराग-दोसणिग्गहो वा, एव सेसेसु वि। णोइदियदमो कोहोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तस्स विफलीकरण वा, एव जाव लोभो। तहा अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरण वा, एव वाया कातो य। तस्स इदिय णोइदियदतस्स पावकम्म ण बज्झति, पुव्वबद्ध च तवसा खीयति।

(ख) जि० चू० पृ० १६० दतो दुविहो—इदिएहिं नोइदिएहि य, तत्थ इदियदतो सोइदियपयारनिरोहो सोइदियविसयपत्तेसु य सद्देसु रागदोसविनिग्गहो, एव जाव फासिदिय विसयपत्तेसु य फासेसु रागदोसविनिग्गहो, नोईदियदतो नाम कोहोदयनिरोहो उदयपत्तस्स य कोहस्स विफलीकरण, एव जाव लोभोत्ति, एवं अकुसलमणनिरोहो कुसलमणउदीरणं च, एव वयीवि काएवि भाणियव्व, एव विहस्स इदियनोइदियदतस्स पाव कम्म न बधइ, पुव्वबद्ध च बारसविहेण तवेण सो झिज्झइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ 'दान्तस्य' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन।

इस श्लोक में कहा गया है कि जो श्रमण 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से सम्पन्न होता है, संवृत होता है, दमितेन्द्रिय होता है उसके पाप कर्मों का बन्धन नहीं होता।

जिसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ओत-प्रोत है तथा जो उपयुक्त सम्यक्-दृष्टि आदि गुणों से युक्त है वह प्राणातिपात करता ही नहीं। उसके हृदय में सहज अहिंसा-वृत्ति होती है अतः वह कभी किसी प्राणी को पीड़ा उत्पन्न नहीं करता। इसलिए वह पाप से अलिप्त रहता है।

कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो भी वह पाप से लिप्त नहीं होता। कारण—सर्व प्राणातिपात से मुक्त रहने के लिए वह सर्व प्राणातिपात विरमण महाव्रत ग्रहण करता है। उसकी रक्षा के लिए अन्य महाव्रत ग्रहण करता है, इन्द्रियों का निग्रह करता है, कषायों को जीतता है तथा मन, वचन और काया का संयम करता है। अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के लिए आवश्यक सम्पूर्ण नियमों का वो इस तरह पालन करता है, उससे कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो भी वह उसका कामी नहीं कहा जा सकता अतः वह हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता।

जलमज्झे जहा नावा सव्वओ निपरिस्सवा ।
गच्छति चिट्ठमाणा वा, न जलं परिगिण्हइ ॥
एवं जीवाउले लोगे, साहू संवरियासवो ।
गच्छंतो चिट्ठमाणो वा, पावं नो परिगेण्हइ ॥

जिस प्रकार छेद-रहित नौका में भले ही वह जलराशि में चल रही हो या ठहरी हुई हो जल-प्रवेश नहीं पाता उसी प्रकार आस्रव-रहित संवृतात्मा श्रमण में, भले ही वह जीवों से परिपूर्ण लोक में चल रहा हो या ठहरा हुआ हो पाप-प्रवेश नहीं हो पाता। जिस प्रकार छेद-रहित नौका जल पर रहते हुए भी डूबती नहीं और यतना से चलाने पर पार पहुँचती है वैसे ही इस जीवाकुल लोक में यतनापूर्वक गमनादि करता हुआ संवृतात्मा भिक्षु कर्म-बंधन नहीं करता और संसार-समुद्र को पार करता है[1]।

गीता के उपर्युक्त श्लोक का इसके साथ अद्भुत शब्द-साम्य होने पर भी दोनों की भावना में महान् अन्तर है। गीता का श्लोक अनासक्ति की भावना देकर इसके आधार से महान् संग्राम करते हुए व्यक्ति को भी उसके पाप से अलिप्त कह देता है जबकि प्रस्तुत श्लोक हिंसा न करते हुए सम्पूर्ण विरत महात्यागी को उसके निमित्त से हुई अशक्यकोटि की जीव-हिंसा के पाप से ही मुक्त घोषित करता है। जो जीव हिंसा में रत है वह भले ही आवश्यकतावश या परवशता से उसमें लगा हो हिंसा के पाप से मुक्त नहीं रह सकता। अनासक्ति केवल इतना ही अन्तर ला सकती है कि उसके पाप-कर्मों का बंध अधिक गाढ़ नहीं होता।

श्लोक १०

१३९ श्लोक १०

इसकी तुलना गीता के— नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते (४.३८) के साथ होती है। पिछले श्लोक में 'दान्त' के पाप कर्म का बंधन नहीं होता ऐसा कहा गया है। इससे चारित्र की प्रधानता सामने आती है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि चारित्र ज्ञान पूर्वक होना चाहिए। इस तरह यहाँ ज्ञान की प्रधानता है। जैन-धर्म ज्ञान और क्रिया दोनों के युगपत्भाव से मोक्ष मानता है। इस अध्ययन में दोनों की सहचारिता पर बल है।

१—जि० चू० पृ० १५५ : जहा जलमज्झे गच्छमाणा अपरिस्सवा णावा जलकंतारं वीईवयइ ण य विणासं पावइ एवं साहूवि जीवाउले लोगे गमणादीणि कुव्वमाणो संवरियासवदुवारत्तणेण संसारजलकंतारं वीईवयइ संवरियासवदुवारस्स न कुओवि भयमत्थि।

१४०. पहले ज्ञान फिर दया (पढमं नाणं तओ दया क) :

पहले जीवों का ज्ञान होना चाहिए। दया उसके बाद आती है। जीवों का ज्ञान जितना स्वल्प या परिमित होता है मनुष्य में दया—अहिंसा—की भावना भी उतनी ही सकुचित होती है। अत पहले जीवों का व्यापक ज्ञान होना चाहिए जिससे कि सब प्रकार के जीवों के प्रति दया-भाव का उद्भव और विकास हो सके और वह सर्वग्राही व्यापक जीवन-सिद्धान्त बन सके। इस अध्ययन में पहले षड् जीवनिकाय को बताकर बाद में अहिंसा की चर्चा की है वह इसी दृष्टि से है। बिना जीवों के व्यापक ज्ञान के व्यापक अहिंसा-धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता।

ज्ञान से जीव-स्वरूप, सरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। अत उसका स्थान प्रथम है। दया सयम है[1]।

१४१. इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं (एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ख) :

जो सर्व-सयती हैं—१७ प्रकार के सयम को धारण किए हुए हैं उनको सब जीवों का ज्ञान भी होता है। जिनका जीव-ज्ञान अपरिशेष नहीं उनका सयम भी सम्पूर्ण नहीं हो सकता और बिना सम्पूर्ण सयम के अहिंसा सम्पूर्ण नहीं होती क्योंकि सर्वभूतों के प्रति सयम ही हिंसा है। यही कारण है कि जीवाजीव के भेद को जानने वाले निर्ग्रन्थ श्रमणों की दया जहाँ सम्पूर्ण है वहाँ जीवाजीव का विशेष भेद-ज्ञान न रखने वाले वादों की दया वैसी विशाल व सर्वग्राही नहीं। वहाँ दया कहीं तो मनुष्यों तक रुक गयी है और कही थोड़ी आगे जाकर पशु-पक्षियों तक या कीट-पतगों तक। इसका कारण पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों के ज्ञान का ही अभाव है।

सर्व सयती—मुनि—ज्ञानपूर्वक क्रिया करने की प्रतिपत्ति में स्थित होते हैं। ज्ञानपूर्वक चारित्र—क्रिया—दया का पालन करते हैं[2]।

१४२. अज्ञानी क्या करेगा ? (अन्नाणी किं काही ग) :

जिसे मालूम ही नहीं कि यह जीव है अथवा अजीव, वह अहिंसा की बात सोचेगा ही कैसे ? उसे भान ही कैसे होगा कि उसे अमुक कार्य नहीं करना है क्योंकि उससे अमुक जीव की घात होती है। अत जीवों का ज्ञान प्राप्त करना अहिंसावादी की पहली शर्त है। बिना इस शर्त को पूरा किये कोई सम्पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता।

जिसको साध्य, उपाय और फल का ज्ञान नहीं वह क्या करेगा ? वह तो अन्धे के तुल्य है। उसमें प्रवृत्ति के निमित्त का ही अभाव होता है[3]।

१—(क) अ० चू० पढम जीवा अजीवाहिगमो, ततो जीवेसु दया।

(ख) जि० चू० पृ० १६० पढम ताव जीवाभिगमो भणितो, तओ पच्छा जीवेसु दया।

(ग) हा० टी० प० १५७ प्रथमम्—आदौ ज्ञान—जीवस्वरूपसरक्षणोपायफलविषय 'तत' तथाविधज्ञानसमनन्तर 'दया' स .मस्तदे- कान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्ते।

२—(क) अ० चू० 'एव चिट्ठति' एवसद्दो प्रकाराभिधाती, एतेण जीवादिविण्णाणप्पगारेण चिट्ठति अवट्ठाण करेति। 'सव्वसजते सव्वसद्दो अपरिसेसवादी, सव्वसजता णाणपुव्व चरित्तधम्म पडिवालेंति।

(ख) जि० चू० पृ० १६०-६१ एव सद्दोऽवधारणे, किमवधारयति ? साधूण चेव सपुण्णा दया जीवाजीवविसेस, जाणमाणाण, ण उ सक्कादीण जीवाजीवविसेस अजाणमाणाणं सपुण्णा दया भवइत्ति, चिट्ठइ नाम अच्छइ, सव्वसद्दो अपरिसेसवादी' सव्वसजताण अपरिसेसाण जीवाजीवादिसु णातेसु सतरसविधो सजमो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण 'तिष्ठति' आस्ते 'सर्वसयत' सर्व प्रव्रजित।

३—(क) अ० चू० अण्णाणी जीवो जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति ? किं सद्दो खेववाती, किं विण्णाण विणा करिस्सति ?

(ख) जि० चू० पृ० १६१ जो पुण अन्नाणी सो किं काहिई ?

(ग) हा० टी० प० १५७ य पुन 'अज्ञानी' साध्योपायफलपरिज्ञानविकल' स किं करिष्यति ? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्ति- निमित्ताभावात्।

१४३ वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप ? (किं वा नाहिइ छेय पावगं ^ग) :

श्रेय हित को कहते हैं, पाप अहित को। संयम—श्रेय—हितकर है। असंयम—पाप—अहितकर है। जो अज्ञानी है जिसे जीवाजीव का ज्ञान नहीं, उसे किसके प्रति संयम करना है यह भी कैसे ज्ञात होगा ? इस प्रकार संयम के स्वरूप को नहीं जानता हुआ वह श्रेय और पाप को भी नहीं समझेगा।

जिस प्रकार महानगर में दाह लगने पर नयनविहीन अंधा नहीं जानता कि उसे किस दिशा मार्ग से निकल भागना है उसी तरह जीवों के विशेष ज्ञान के अभाव में अज्ञानी नहीं जानता कि उसे असंयमरूपी दावानल से कैसे बच निकलना है।

जो यह नहीं जानता कि यह निपुण—हितकर—कालोचित है तथा यह उससे विपरीत है, उसका कुछ करना नहीं करने के बराबर है। जैसे कि आग लगने पर अन्धे का दौड़ना और घुन का अक्षर लिखना[1]।

श्लोक ११

१४४ सुनकर (सोच्चा ^क)

आगम रचना-काल से लेकर वीर निर्वाण के दसवें शतक से पहले तक जैनागम प्रायः कण्ठस्थ थे। उनका अध्ययन आचार्य के मुख से सुन कर होता था[2]। इसीलिए श्रवण या श्रुति को ज्ञान-प्राप्ति का पहला अङ्ग माना गया है। उत्तराध्ययन (३.१) में चार परमाङ्गों को दुर्लभ कहा है। उनमें दूसरा परमाङ्ग श्रुति है[3]। श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद का है। यही क्रम उत्तराध्ययन के तीसरे[4] और दसवें[5] में प्रतिपादित हुआ है। श्रमण की पर्युपासना के दस फल बतलाए हैं। उनमें पहला फल श्रवण है। इसके बाद ही ज्ञान विज्ञान आदि का क्रम है[6]।

१—(क) अ० चू० : किं वा णाहिति, वा सद्दो समुच्चये 'णाहिति' जाणिहिति 'छेयं' जं कालोचितमप्पणो ... निउणं पावगं तव्विवरीयं। निद्दरिसणं जहा अंधो महानगरदाहे पलित्तम्मि विसमं वा पविसति एवं छेद—पावगमजाणंतो संसारमणुपडति।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : तत्थ छेयं नाम हियं पावं अहियं, तं च संजमो असंजमो य, दिट्ठंतो अंधलओ महानगरदाहे ण जाणति केण दिसाभाएण मए गंतव्वंति तहा सोवि अन्नाणी नाणस्स विसेसं अयाणमाणो कहं असंजमदवाउ निग्गच्छिहिति ?

(ग) हा० टी० प० १५७ : 'छेकं' निपुणं हितं कालोचितं 'पापकं वा' अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावात्, अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्।

२—अ० चू० : गणहरा तित्थयरातो सेसो गुरुपरंपरेण सुणेऊण।

३—उत्त० ३.१ : चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं॥

४—उत्त० ३.८-१० :
माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं॥
आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई॥
सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि नो य णं पडिवज्जए॥

५—उत्त० १०.१८-२० :
अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम मा पमायए॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समयं गोयम मा पमायए॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम मा पमायए॥

६—भग० २.५.११ : सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

स्वाध्याय के पाँच प्रकारों में भी श्रुति का स्थान है। स्वाध्याय का पहला प्रकार वाचना है। आजकल हम बहुत कुछ आँखों से देखकर जानते हैं। इसके अर्थ में वाचन और पठन शब्द का प्रयोग भी होता है। यही कारण है कि हमारा मानस वाचन का वही अर्थ ग्रहण करता है जो आँखों से देखकर जानने का है। पर वाचन व पठन का मूल बोलने में है। इनकी उत्पत्ति 'वचच्भाषणे' और 'पठ वक्तायां वाचि' धातु से है। इसलिए वाचन और पठन से श्रवण का गहरा सम्बन्ध है। अध्ययन के क्षेत्र में आज जैसे आँखों का प्रमुत्व है वैसे ही आगम-काल में कानों का प्रमुत्व रहा है।

'सुनकर'—इस शब्द की जिनदास ने इस प्रकार व्याख्या की है—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ इन तीनों को सुनकर, अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सुनकर अथवा जीवाजीव आदि पदार्थों को सुनकर[1]। हरिभद्र ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—मोक्ष के साधन, तत्त्वों के स्वरूप और कर्म-विपाक के विषय में सुनकर[2]।

१४५. कल्याण को (कल्लाणं [क]):

जिनदास के अनुसार 'कल्ल' शब्द का अर्थ है 'नीरोगता', जो मोक्ष है। जो नीरोगता प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र[3]। हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ किया है—कल्य अर्थात् मोक्ष—उसे जो प्राप्त कराए वह कल्याण—अर्थात् दया—संयम[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है आरोग्य। जो आरोग्य को प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् संसार से मोक्ष। संसार-मुक्ति का हेतु धर्म है, इसलिए उसे कल्याण कहा गया है[5]।

१४६. पाप को (पावगं [ख]):

जिसके करने से पाप-कर्मों का बन्ध हो उसे पापक—पाप कहते हैं। वह असंयम है[6]।

१४७. कल्याण और पाप (उभयं [ग]):

'उभय' शब्द का अर्थ हरिभद्र ने—'श्रावकोपयोगी संयमासंयम का स्वरूप' किया है[7]। जिनदास के समय में भी ऐसा मत रहा है[8]। जिनदास ने स्वयं 'कल्याण और पाप' इसी अर्थ को ग्रहण किया है। अगस्त्य सिंह ने 'उभय' का अर्थ किया है—कल्याण और पाप दोनों को[9]।

श्लोक १२-१३ :

१४८. श्लोक १२-१३ :

जो साधु को नहीं जानता वह असाधु को भी नहीं जानता। जो साधु-असाधु दोनों को नहीं जानता वह किसकी संगत करनी चाहिए यह कैसे जानेगा ?

१—(क) जि० चू० पृ० १६१ सोच्चा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण णाणदसणचरित्ताणि वा सोऊण जीवाजीवादी पयत्था वा सोऊण।
२—हा० टी० प० १५८ 'श्रुत्वा' आकर्ण्य ससाधनस्वरूपविपाकम्।
३—जि० चू० पृ० १६१ कल्लं नाम नीरोगया, सा य मोक्खो, तमणेइ जं तं कल्लाणं, ताणि या णाणाईणि।
४—हा० टी० प० १५८ कल्यो—मोक्षस्तमणति—प्रापयतीति कल्याणं—दयाख्यं संयमस्वरूपम्।
५—अ० चू० किं ? जाणति, कल्लाणं कल्लं—आरोग्गं तं आणेइ कल्लाणं संसारातो विमोक्खणं, सो य धम्मो।
६—(क) अ० चू० पावकं अकल्लाणं।
(ख) जि० चू० पृ० १६१ जेण य कएण कम्मं बज्झइ तं पावं सो य असंजमो।
(ग) हा० टी० प० १५८ पापकम्—असंयमस्वरूपम्।
७—हा० टी० प० १५८ : 'उभयमपि' संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा।
८—जि० चू० पृ० १६१ केइ पुण आयरिया कल्लाणपावयं च देसविरयस्स पावयं इच्छंति।
९—अ० चू० उभयं एतदेव कल्लाणं—पावगं।

श्लोक १५ :

१५०. श्लोक १५ :

गतियों के ज्ञान के साथ ही प्रश्न उठता है—सब जीव एक ही गति के क्यों नहीं होते ? वे भिन्न-भिन्न गतियों में क्यों हैं ? मुक्त-जीव अतिरिक्त क्यों हैं ? कारण बिना कार्य नहीं होता अत वह गतिभेद के कारण पुण्य, पाप, बध और मोक्ष को भी जान लेता है। कर्म दो तरह के होते हैं—या तो पुण्य रूप अथवा पाप रूप। जब पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो अच्छी गति प्राप्त होती है और जब पाप-कर्मों का उदय होता है तो नीच गति प्राप्त होती है। जीव समान होने पर भी पुण्य-पाप कर्मों की विशेषता से नरक, देवादि गतियों की विशेषता होती है। क्योंकि पुण्य-पाप ही बहुविध गतियों के निबन्ध के कारण हैं। जीव कर्म का जो परस्पर बंधन है वह चार गति रूप ससार में भ्रमण का कारण है। यह भव-भ्रमण दु ख रूप है। जीव और कर्म का जो ऐकान्तिक वियोग है वह मोक्ष शाश्वत सुख का हेतु है। जो जीवों की नरक आदि नाना गतियों और मुक्त जीवों की स्थिति को जान लेता है वह उनके हेतुओं और बन्धन तथा मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओं को भी जान लेता है[1]।

श्लोक १६ :

१५१. श्लोक १६ :

जो भोगे जाते हैं उन शब्दादि विषयों को भोग कहते हैं। सांसारिक भोग किंपाक फल की तरह भोग-काल में मधुर होते हैं परन्तु बाद में उनका परिणाम सुन्दर नहीं होता। जब मनुष्य पुण्य, पाप, बध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेता है तब वह इन काम-भोगों के वास्तविक स्वरूप को भी जान लेता है और इस तरह मोहाभाव को प्राप्त हो सम्यक् विचार से इन सुखों के समूह को दुःख स्वरूप समझ उनसे विरक्त हो जाता है।

मूल में 'निव्विदए' शब्द है। निव्विद (निर्+विन्द्) =निश्चयपूर्वक जानना, भली भाँति विचार करना। निर्+विद्= घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।

सूत्र में दिव्य और मानुषिक दो तरह के भोगों का ही नाम है। चूर्णिकार द्वय कहते हैं दिव्य में दैविक और नैरयिक भोगों का समावेश होता है। 'च' कार से तिर्यञ्चयोनिक भोगों का बोध होता है। 'मानुषिक'—मनुष्यों के भोग का द्योतक है। हरिभद्र कहते हैं वास्तव में भोग दो ही तरह के हैं—दिव्य और मानुषिक। शेष भोग वस्तुत भोग नहीं होते[2]।

१—(क) अ० चू० तेसिमेव जीवाण आउ-बल-विभव-सुखातिसूतितं पुराण च पाव च अट्ठविहकम्मणिगलबधण—मोक्खमवि।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते ण विणा पुराणपावादिणा कम्मविसेसेण नारगदेवादिविसेसा भवति।
(ग) हा० टी० प० १५६ पुराय च पाप च—बहुविधगतिनिबन्धन [च] तथा 'बन्ध' जीवकर्मयोगदु खलक्षण 'मोक्ष च' तद्वियोग-सुखलक्षण जानाति।

२—(क) अ० चू० भुञ्जतीति भोगा ते णिविंदति णिच्छित विदति—विजाणाति जहा एते बहुकिलेसेहि उप्पादिया वि किंपागफलोवमा। जे दिव्वा दिवि भवा दिव्वा, मणूसेसु भवा माणुसा। ओरालियसारिस्सेण माणुसाभिधाणेण तिरिया वि भणिया भवति। अहवा जो दिव्व-माणुसे परिजाणाति तस्स तिरिएसु किं गहण ? जे य माणुसा इति चकारेण वा भणितमिद।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ भुजतीति भोगा, णिच्छिय विदतीति णिव्विदति विविहमणेगप्पगार वा विदइ निव्विदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरता भोगत्ति, ते य निव्विदमाणो दिव्वा वा णिव्विदइ माणुस्सावा, सीसो आह—किं तेरिच्छा भोगा न निव्विदइ ?, आयरिओ आह—दिव्वगहणेण देवनेरइया गहिया, माणुस्सगहणेण माणुसा, चकारेण तिरिक्खजोणिया गहिया।
(ग) हा० टी० प० १५६ निर्विन्ते—मोहाभावात् सम्यग्विचारयत्यसारदु खरूपतया 'भोगान्' शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति।

जो साधु को जानता है वह असाधु को भी जानता है। जो साधु और असाधु दोनों को जानता है वह यह भी जानता है कि किसकी संगत करनी चाहिए।

इसी तरह जो सुनकर जीव को नहीं जानता वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी नहीं जान पाता। जो दोनों का ज्ञान नहीं रखता वह संयम को भी नहीं जान सकता।

जो सुनकर जीव को जानता है वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी जान लेता है। जो जीव अजीव का ज्ञान रखता है वह संयम को भी जानता है।

संयम दो तरह का होता है—एक जीव-संयम दूसरा अजीव-संयम। किसी जीव को नहीं मारना—यह जीव-संयम है। मद्य मांस सुवर्णादि—जो संयम के घातक हैं—उनका परिहार करना अजीव-संयम है। जो जीव और अजीव को जानता है वही उनके प्रति संयत हो सकता है[1]। जो जीव अजीव को नहीं जानता वह संयम को भी नहीं जानता—वह उनके प्रति संयम भी नहीं कर सकता। कहा है—

जीवा जस्स परिन्नाया वेरं तस्स न विज्जइ।
न हु जीवे अयाणंतो, वहं वेरं च जाणइ॥

अर्थात् जिसने जीवों को अच्छी तरह जान लिया है उसके वैर नहीं होता। जो जीवों को नहीं जानता वह वध और वैर को नहीं जानता—नहीं त्याग पाता।

श्लोक १४

१४६ श्लोक १४ :

श्लोक १४-२५ में सुनने से लेकर सिद्धि-प्राप्ति तक का क्रम बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है।

जीव चार गतियों के होते हैं—मनुष्य नरक तिर्यञ्च और देव। इन गतियों के बाहर मोक्ष में सिद्ध जीव हैं। जो सुनकर जीवाजीव को जान लेता है वह उनकी इन गतियों को और उनके अन्तर्भेदों को भी सहज रूप से जान लेता है[2]।

१—(क) अ० चू० : 'जो' इति उद्देसवयणं। जीवंतीति 'जीवा' आउप्पाणा धरेंति, ते सरीर—संठाण—संघयण—ठिति—गमादि विसेसाणेहिं जो न याणाति 'अजीवे वि' वण्णरसादिपरिणामेहिं 'ण' जाणति। 'सो' एवं जीवा अजीवविसेसे 'अयाणंतो कहं' केण प्रकारेण णाहिति सत्तरसविहं संजमं' 'णाहिति जाणिहिति सम्पयमापुच्छि। कहं? जेण दुविधं च जाणंतो पुढवादिपरिहारेण तेहिं रक्खणं करेति, जीवमयपुरोडासमंसाणं परिहरंतो अजीवाण वि मज्ज-मंसादीण परिहरणेण संजमाणुपालणं करेति। जीवे याणमाणे वहं परिहरमाणो न पावति वेरं वेर विकार विरहितो पावति निव्वाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १६१-६२ : एत्थ दिट्ठंतो जो साहुं जाणइ सो तप्पडिपक्खमसाहुमवि जाणइ एवं जस्स जीवाजीवपरिन्ना अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ तत्थ जीवा न हंतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ अजीवावि मंसमज्जहिरण्णादिरव्वा संजमोवघाइणो न घेतव्वा एसो अजीवसंजमो तेण जीवा य अजीवा य परिण्णाया जो तेहिं संजमइ।

(ग) हा० टी० प० १५८ : यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन् न जानाति, जीवाजीवानजानन्कथमसौ ज्ञास्यति 'संयमं'? तद्विषयं तद्विषयाज्ञानादिति भावः। ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति।

२—(क) अ० चू० : जदा अभिधाणे, जीवा अजीवा भणिता ते जदा दो वि अण्णोण्णमणुभिदता अवि दो रासी एते इति विसेसेण जाणति विजाणति गतिं नरगादिगं अणेगभेदं जाणति अहवा गति—प्राप्ति तं बहुविधं।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : गति बहुविहं नाम एक्केक्का अणेगभेदा जाणति अहवा नारगादिहिंतादिपत्त अणेगाणि जिणवयाणि उवएसेण जाणइ।

(ग) हा० टी० प० १५९ : 'यदा' यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—विविधं जानाति 'तदा' तस्मिन् काले 'गतिं' नरकगत्यादिरूपां 'बहुविधां' स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति यथावस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात्।

श्लोक १५ :

१५०. श्लोक १५ :

गतियों के ज्ञान के साथ ही प्रश्न उठता है—सब जीव एक ही गति के क्यों नहीं होते ? वे भिन्न-भिन्न गतियों में क्यों हैं ? मुक्त-जीव अतिरिक्त क्यों हैं ? कारण बिना कार्य नहीं होता अत वह गतिभेद के कारण पुण्य, पाप, बध और मोक्ष को भी जान लेता है। कर्म दो तरह के होते हैं—या तो पुण्य रूप अथवा पाप रूप। जब पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो अच्छी गति प्राप्त होती है और जब पाप-कर्मों का उदय होता है तो नीच गति प्राप्त होती है। जीव समान होने पर भी पुण्य-पाप कर्मों की विशेषता से नरक, देवादि गतियों की विशेषता होती है। क्योंकि पुण्य-पाप ही बहुविध गतियों के निबन्ध के कारण हैं। जीव कर्म का जो परस्पर बधन है वह चार गति रूप ससार में भ्रमण का कारण है। यह भव-भ्रमण दु:ख रूप है। जीव और कर्म का जो ऐकान्तिक वियोग है वह मोक्ष शाश्वत सुख का हेतु है। जो जीवों की नरक आदि नाना गतियों और मुक्त जीवों की स्थिति को जान लेता है वह उनके हेतुओं और बन्धन तथा मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओं को भी जान लेता है[1]।

श्लोक १६ :

१५१. श्लोक १६ :

जो भोगे जाते हैं उन शब्दादि विषयों को भोग कहते हैं। सासारिक भोग किंपाक फल की तरह भोग-काल में मधुर होते हैं परन्तु बाद में उनका परिणाम सुन्दर नहीं होता। जब मनुष्य पुण्य, पाप, बध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेता है तब वह इन काम-भोगों के वास्तविक स्वरूप को भी जान लेता है और इस तरह मोहाभाव को प्राप्त हो सम्यक् विचार से इन सुखों के समूह को दु ख स्वरूप समझ उनसे विरक्त हो जाता है।

मूल में 'निव्विदए' शब्द है। निव्विद (निर्+विन्द्) =निश्चयपूर्वक जानना, भली भाँति विचार करना। निर्+विद्= घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।

सूत्र में दिव्य और मानुषिक दो तरह के भोगों का ही नाम है। चूर्णिकार द्वय कहते हैं दिव्य में दैविक और नैरयिक भोगों का समावेश होता है। 'च' कार से तिर्यञ्चयोनिक भोगों का बोध होता है। 'मानुषिक'—मनुष्यों के भोग का द्योतक है। हरिभद्र कहते हैं वास्तव में भोग दो ही तरह के हैं—दिव्य और मानुषिक। शेष भोग वस्तुत भोग नहीं होते[2]।

१—(क) अ० चू० तेसिमेव जीवाण आउ-बल-विभव-सुखातिसूतित पुण्ण च पाव च अट्ठविहकम्मणिगलबधण—मोक्खमवि।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते ण विणा पुण्णपावादिणा कम्मविसेसेण नारगदेवादिविसेसा भवति।
(ग) हा० टी० प० १५६ पुण्य च पाप च—बहुविधगतिनिबन्धन [च] तथा 'बन्ध' जीवकर्मयोगदु खलक्षण 'मोक्ष च' तद्वियोग-सुखलक्षण जानाति।

२—(क) अ० चू० भुञ्जतीति भोगा ते णिव्विदति णिच्छित विदति—विजाणाति जहा एते बहुकिलेसेहि उप्पादिया वि किंपागफलोवमा। जे दिव्वा दिवि भवा दिव्वा, मणूसेसु भवा माणुसा। ओरालियसारिस्सेण माणुसाभिधाणेण तिरिया वि भणिया भवति। अहवा जो दिव्व-माणुसे परिजाणाति तस्स तिरिएसु कि गहण ? जे य माणुसा इति चकारेण वा भणितमिद।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ भुंजतीति भोगा, णिच्छिय विदतीति णिव्विदति विविहमणेगप्पगार वा विदइ निव्विदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरता भोगत्ति, ते य निव्विदमाणो दिव्वा वा णिव्विदइ माणुस्सावा, सीसो आह—किं तेरिच्छा भोगा न निव्विदइ ?, आयरिओ आह—दिव्वगहणेण देवनेरइया गहिया, माणुस्सगहणेण माणुसा, चकारेण तिरिक्खजोणियम गहिया।
(ग) हा० टी० प० १५६ निर्विन्ते—मोहाभावात् सम्यग्विचारयत्यसारदु खरूपतया 'भोगान्' शब्दादीन् यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान् शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति।

जो साधु को जानता है वह असाधु को भी जानता है। जो साधु और असाधु दोनों को जानता है वह यह भी जानता है कि किसकी संगत करनी चाहिए।

इसी तरह जो सुनकर जीव को नहीं जानता वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी नहीं जान पाता। जो दोनों का ज्ञान नहीं रखता वह संयम को भी नहीं जान सकता।

जो सुनकर जीव को जानता है वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी जान लेता है। जो जीव अजीव का ज्ञान रखता है वह संयम को भी जानता है।

संयम दो तरह का होता है—एक जीव-संयम दूसरा अजीव-संयम। किसी जीव को नहीं मारना—यह जीव संयम है। मद्य, मांस सुवर्णादि—जो संयम के घातक हैं—उनका परिहार करना अजीव-संयम है। जो जीव और अजीव को जानता है वही उनके प्रति संयम कर सकता है[1]। जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह संयम को भी नहीं जानता—वह उनके प्रति संयम भी नहीं कर सकता। कहा है—

जीवा जस्स परिन्नाया वेरं तस्स न विज्जइ।
न हु जीवे अयाणंतो, वहं वेरं च जाणइ॥

अर्थात् जिसने जीवों को अच्छी तरह जान लिया है उसके वैर नहीं होता। जो जीवों को नहीं जानता वह वध और वैर को नहीं जानता—नहीं त्याग पाता।

श्लोक १४

१४६ श्लोक १४

श्लोक १४-१५ में सुनने से लेकर सिद्धि-प्राप्ति तक का क्रम बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है।

जीव चार गतियों के होते हैं—मनुष्य, नरक, तिर्यञ्च और देव। इन गतियों के बाहर मोक्ष में सिद्ध जीव हैं। जो सुनकर जीवाजीव को जान लेता है वह उनकी इन गतियों को और उनके अन्तर्भेदों को भी सहज रूप से जान लेता है।

१—(क) अ० चू० : 'जो' इति उद्देसवयणं। जीवंतीति 'जीवा' आउप्पाणा धरेंति, त सरीर—संठाण—संघयण—ट्ठिति—गमति विसेसा [illegible] जो न जाणति अजीवे वि [illegible] 'न' जाणति। 'सो' एवं जीवा अजीवविसये 'अयाणंतो कहं' [illegible] संजमं [illegible] जाणिहिति [illegible]। कहं ? एवं दुहा वि अयाणंतो [illegible] जीवेसु [illegible] अजीवाण वि मज्ज-मंसादीण परिहरणेण संजमाणुपालणं करेति। जीवे अजाणं कहं परिहरमाणो य [illegible] वेरं वह [illegible] विरहितो भवति [illegible]।

(ख) जि० चू० पृ० १५१-२ : [illegible] जो साहू जाणइ सो [illegible] एवं जस्स जीवाजीवपरिन्नाणं अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ, तत्थ जीवा न हंतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ, अजीवावि [illegible] संजमोवघायत्ता न घेत्तव्वा एसो अजीवसंजमो, तत्थ जीवा य अजीवा य परियाणिया जो तेसु संजमइ।

(ग) हा० टी० प० १५८ : यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन् न जानाति जीवाजीवानजानन् कथमसौ ज्ञास्यति 'संयमं' ? तद्विषयं तद्विषयाज्ञानादिति भावः। [illegible] जीवानपि [illegible] जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति।

२—(क) अ० चू० : जदा [illegible] जीवा अजीवा [illegible] जदा दो वि [illegible] गतिं [illegible] बहुविहं।

(ख) जि० चू० पृ० १५२ : गतिं बहुविहं [illegible]।

(ग) हा० टी० प० १५९ : 'यदा' यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—[illegible] जानाति 'तदा' तस्मिन् काले 'गतिं' [illegible] 'बहुविधां' [illegible] सर्वजीवानां जानाति [illegible]।

श्लोक १९ :

१५४. श्लोक १९ :

'संवर' का अर्थ है प्राणवधादि आस्रवों का निरोध। यह दो तरह का है : एक देश सवर, दूसरा सर्व सवर। देश सवर का अर्थ है—आस्रवों का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व सवर का अर्थ है—आस्रवों का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश सवर से सर्व सवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोड़कर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट सवर होता है क्योंकि महाव्रतों को ग्रहण कर वह पापास्रवों को सम्पूर्णतः सवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व सवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है अतः सकल चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता—अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट सवर कहा है वह देश विरति के सवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है वह पर मतों की अपेक्षा से कहा है[1]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट सवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अबोधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी कलुष से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वस कर डालता है[2]।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

१—(क) अ० चू० सवर सवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारण, स एव सवरो उक्किट्ठो धम्मो त फासे ति। सो य अणुत्तरो, ण तातो अण्णो उत्तरतरो। अथवा सवरेण उक्करिसिय धम्ममणुत्तर 'फासे' त्ति उक्किट्ठाणतर विसेसो उक्किट्ठो, ज ण देसविरती अणुत्तरो कुतित्थिय धम्मेहितो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ सवरो नाम पाणवहादीण आसवाण निरोहो भण्णइ, देससवराओ सव्वसवरो उक्किट्ठो, तेण सव्वसवरेण सपुण्ण चरित्तधम्म फासेइ, अणुत्तर नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—णणु जो उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहण देसविरइपडिसेहणत्थ कय, अणुत्तरगहण एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५९ 'सवरमुक्किट्ठं' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसवर धर्म—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूप, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तर—सम्यगासेवत इत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० तदा धुणति कम्मरय, धुणति विद्धसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो।
'अबोहिकलुस कड'—अबोहि—अण्णाण, अबोहिकलुसेण कड अबोहिणा वा कलुस कत।

(ख) हा० टी० प० १५९ धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरज' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रज, 'अबोधिकलुषकृतम्' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

श्लोक १७

१५२ श्लोक १७

संयोग दो तरह के होते हैं : एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर। संयोग का अर्थ है—ग्रन्थि अथवा सम्बन्ध। क्रोध मान, माया और लोभ का संबंध आभ्यन्तर संयोग है। स्वर्ण आदि का संयोग बाह्य संयोग है। पहला द्रव्य-संयोग है दूसरा भाव संयोग। जब मनुष्य दिव्य और मानुषिक भोगों से निवृत्त होता है तब वह बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों व भावों की मूर्च्छा ग्रंथि और संयोगों को भी छोड़ता है[1]।

श्लोक १८

१५३ श्लोक १८

जो केश-लुंचन करता है और जो इन्द्रियों के विषय का अपनयन करता है—उन्हें जीत लेता है—उसे मुण्ड कहा जाता है[2]। मुण्ड होने का पहला प्रकार शारीरिक है और दूसरा मानसिक। स्थानाङ्ग (१०.७४६) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं —

१— क्रोध-मुण्ड — क्रोध का अपनयन करने वाला।
२— मान-मुण्ड — मान का अपनयन करने वाला।
३— माया मुण्ड — माया का अपनयन करने वाला।
४— लोभ-मुण्ड — लोभ का अपनयन करने वाला।
५— शिर-मुण्ड — शिर के केशों का लुंचन करने वाला।
६— श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड — कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
७— चक्षु इन्द्रिय-मुण्ड— चक्षु इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
८— घ्राण इन्द्रिय-मुण्ड— घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
९— रसन इन्द्रिय-मुण्ड— रसन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
१०— स्पर्शन इन्द्रिय मुण्ड— स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

जब मनुष्य भोगों से निवृत्त हो जाता है तथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है तब उसके गृहवास में रहने की इच्छा भी नहीं रहती। वह द्रव्य और भाव मुण्ड हो घर छोड़ अनगारिता अर्थात् अनगार-वृत्ति को धारण करता है—प्रव्रजित हो जाता है[3]। जिसके अगार—घर नहीं होता उसे अनगार कहा जाता है। अनगारिता अर्थात् गृह-रहित अवस्था—श्रमणत्व—साधुत्व।

१—(क) अ० चू० : परिच्चयति 'सब्भिंतरबाहिरं' अब्भिंतरो कोहादि बाहिरो धणधण्णादि।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ : बाहिरं अब्भंतरं च गंथं, तत्थ बाहिरं धणधण्णादी अब्भंतरं कोहमाणमायालोभाइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : 'संयोगं' सम्बन्धं द्रव्यतो भावतः 'साभ्यन्तरबाह्यं' क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः।

२—अ० चू० : तदा मुंडे भवित्ताणं तम्मि काले 'मुंडे' इन्द्रिय-विसय—केसावणयणेण।

३—(क) अ० चू० : मुंडो भवित्ताणं पव्वाति अणगारियं प्रव्रजति प्रपद्यते अगारं—घरं तं जस्स णत्थि सो अणगारो तस्स भावो अणगारिता तं पव्वयति।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ : अणगारियं णाम अगारं—गिहं भण्णइ तं जेसिं णत्थि ते अणगारा ते य साहुणो ण उद्देसियाईणि भुंजमाणा अणगारिणो अणगारा भवंति।
(ग) हा० टी० प० १५६ : मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यनगारम् द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः।

श्लोक १६ :

१५४. श्लोक १६ :

'संवर' का अर्थ है प्राणवधादि आस्रवों का निरोध। यह दो तरह का है : एक देश संवर, दूसरा सर्व संवर। देश संवर का अर्थ है—आस्रवों का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व संवर का अर्थ है—आस्रवों का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश संवर से सर्व संवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोड़कर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट संवर होता है क्योंकि महाव्रतों को ग्रहण कर वह पापास्रवों को सम्पूर्णतः संवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व संवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है अतः सकल चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता—अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट संवर कहा है वह देश विरति के संवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है वह पर मतों की अपेक्षा से कहा है[1]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट संवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अबोधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रुपी कलुष से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वंस कर डालता है[2]।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

१—(क) अ० चू० : संवर संवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारण, स एव संवरो उक्किट्ठो धम्मो त फासे ति। सो य अणुत्तरो, ण तातो अण्णो उत्तरतरो। अथवा संवरेण उक्करिसिय धम्ममणुत्तर 'फासे' त्ति उक्किट्ठाणतर विसेसो उक्किट्ठो, ज ण देसविरती अणुत्तरो कुतित्थिय धम्मेहिंतो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ : संवरो नाम पाणवहादीण आसवाण निरोहो भण्णइ, देससंवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो, तेण सव्वसंवरेण सपुण्ण चरित्तधम्म फासेइ, अणुत्तर नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—णणु जो उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहण देसविरइपडिसेहणत्थ कय, अणुत्तरगहण एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'संवरमुक्किट्ठं' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवर धर्म—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूप, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तर—सम्यगासेवत इत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० : तदा धुणति कम्मरय, धुणति विद्धसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो।
'अबोहिकलुस कड'—अबोहि—अण्णाण, अबोहिकलुसेण कड अबोहिणा वा कलुस कत।

(ख) हा० टी० प० १५६ : धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरज' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रज', 'अबोधिकलुषकृतम्' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

श्लोक २५ :

१६०. श्लोक २५ :

मुक्त होने के पश्चात् आत्मा लोक-मस्तक पर—ऊर्ध्व लोक के छोर पर—जाकर प्रतिष्ठित होती है इसलिए उसे लोकमस्तकस्थ कहा गया है। भगवान् से पूछा गया—मुक्त जीव कहाँ प्रतिहत होते हैं? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं? कहाँ शरीर को छोडते हैं? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं? उत्तर मिला—वे अलोक में प्रतिहत हैं, लोकाग्र में प्रतिष्ठित हैं, यहाँ—मनुष्य-लोक में शरीर छोड़ते हैं, और वहाँ—लोकाग्र में जाकर सिद्ध होते हैं :—

कहिं पडिहया सिद्धा कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोन्दिं चइत्ताण कत्थ गन्तूण सिज्झई॥
अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोन्दिं चइत्ताण तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

उत्तराध्ययन ३६ ५६, ५७

लोक-मस्तक पर पहुँचने के बाद वह सिद्ध आत्मा पुन' जन्म धारण नहीं करती और न लोक में कभी आती है अत' शाश्वत सिद्ध रूप में वहीं रहती है[1]।

श्लोक २६ :

१६१. सुख का रसिक (सुहसायगस्स [क]) :

सुख-स्वादक। इसके अर्थ इस प्रकार किये गये हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार जो सुख को चखता है वह सुखस्वादक है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार जो सुख की प्रार्थना—कामना करता है वह सुखस्वादक कहलाता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो प्राप्त सुख को भोगने में आसक्त होता है उसे सुखास्वादक—सुख का रसिक कहा जाता है[4]।

१६२. सात के लिए आकुल (सायाउलगस्स [ख]) :

साताकुल के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार सुख के लिए आकुल को साताकुल कहते हैं[5]।

(२) जिनदास के अनुसार मैं कब सुखी होऊँगा—ऐसी भावना रखनेवाले को साताकुल कहते हैं[6]।

१—(क) अ० चू० लोगमत्थगे लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो [सासतो] सव्वकाल तहा भवति।

(ख) जि० चू० पृ० १६३ सिद्धो भवति सासयोत्ति, जाव य ण परिणेव्वाति ताव अकुच्छिय देवलोगफल सुकुलुप्पत्ति च पावतित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५६ त्रैलोक्योपरिवर्त्ती सिद्धो भवति 'शाश्वत' कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भाव'।

२—अ० चू० केति पढति 'सुहसातगस्स' तदा सुख स्वादयति चक्खति।

३—जि० चू० पृ० १६३ सुह सायतीति सुहसाययो, सायति णाम पत्थयतित्ति, जो समणो होऊण सुह कामयति सो सुहसायतो भण्णइ।

४—हा० टी० प० १६० सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तु'।

५—अ० चू० साताकुलगस्स तेणेव सुहेण आउलस्स, आउलो—अणेकग्गो।

६—जि० चू० पृ० १६३ सायाउलो नाम तेण सातेण आकुलीकओ, कह सुहीहोज्जामित्ति? सायाउलो।

सर्वत्रग [सव्वत्तगं] : इसका अर्थ है सब स्थानों में जानेवाला—सब व्यापी। यहाँ यह ज्ञान और दर्शन का विशेषण है। सर्वत्रग इसका अर्थ है केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन। नैयायिकों के मतानुसार आत्मा सर्वव्यापी है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्वव्यापी है। यह सर्व-व्यापकता क्षेत्र की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय की दृष्टि से है। केवल-ज्ञान के द्वारा सब विषय जाने जा सकते हैं इसलिए वह सर्वत्रग कहलाता है[1]।

श्लोक २२

१५७ श्लोक २२ :

जिसमें जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये छः द्रव्य होते हैं उसे 'लोक' कहते हैं। लोक के बाहर जहाँ केवल आकाश है अन्य द्रव्य नहीं वह 'अलोक' कहलाता है। जो सर्वत्रग ज्ञान-दर्शन को प्राप्त कर जिन-केवली होता है वह सम्पूर्ण लोकालोक को देखने जानने लगता है[2]।

श्लोक २३

१५८ श्लोक २३

आत्मा स्वभाव से अप्रकम्प होती है। उसमें जो गति, स्पन्दन या कम्पन है वह आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न है। इसे योग कहा जाता है। योग अर्थात् मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। इसका निरोध सद्यस्क-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल में होता है। पहले मन का, फिर वचन का और उसके पश्चात् शरीर का योग निरुद्ध होता है और आत्मा सर्वथा अप्रकम्प बन जाती है। इस अवस्था का नाम है शैलेशी (शैलेशि)। शैलेश का अर्थ है मेरु। यह अवस्था उसकी तरह अडोल होती है इसलिए इसका नाम शैलेशी है[3]।

जो लोकालोक को जानने देखनेवाला जिन-केवली होता है वह अन्तकाल के समय योगों का निरोध कर निष्कंप शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। निष्कंप अवस्था को प्राप्त होने से नव उसके पुण्य कर्मों का भी बन्ध नहीं होता।

श्लोक २४ :

१५९ श्लोक २४ :

जिन-केवली के नाम, वेदनीय, गोत्र और आयुष्य ये चार कर्म ही अवशेष होते हैं। ये केवल भवधारण के लिए होते हैं। जब वह जब सम्पूर्ण अयोगी हो शैलेशी अवस्था को धारण करता है तब उसके ये कर्म भी सम्पूर्णतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और वह नीरज—कर्म रूपी रज से सम्पूर्ण रहित हो सिद्धि को प्राप्त करता है। सिद्धि—लोकान्त क्षेत्र को कहते हैं[4]।

1—(क) अ० चू० : सव्वत्थ गच्छती सव्वत्तगं केवलनाणं केवलदंसणं च।
   (ख) जि० चू० पृ० १६१ : सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्तगं तं केवलनाणं दरिसणं च।
   (ग) हा० टी० प० १५६ : 'सर्वत्रगं ज्ञानम्'—अशेषज्ञेयविषयं 'दर्शनं च' अशेषदृश्यविषयम्।
2—हा० टी० प० १५६ : 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोकं च' अनन्तं जिनो जानाति केवली लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः।
3—(क) अ० चू० : 'जया जोगे निरुंभित्ता' भवधारणिज्जकम्म विणासणत्थं सेलेसिं पडिवज्जति—सेलस्सेव सेलेसि।
   (ख) जि० चू० पृ० १६१ : जया जोगे निरुंभिऊण सेलेसिं पडिवज्जइ भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।
   (ग) हा० टी० प० १५६ : उचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय।
4—(क) अ० चू० : तओ सेलेसिभवणानंतरं 'तदा कम्मं' भवधारणिज्जं खवेउं सेसं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छति नीरतो निक्कम्ममलो।
   (ख) जि० चू० पृ० १६१ : भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउं सिद्धिं गच्छइ, कहं ? जेण सो नीरओ, नीरओ नाम अवगयरओ नीरओ।
   (ग) हा० टी० प० १५६ : कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धिं गच्छति' लोकान्तक्षेत्ररूपां 'नीरजाः' सकलकर्मरजोविनिर्मुक्तः।

श्लोक २७ :

१६५. ऋजुमती (उज्जुमइ [ख]) :

अमायी। जिसकी मति ऋजु—सरल हो उसे ऋजुमती कहते हैं अथवा जिसकी बुद्धि मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो वह ऋजुमती कहलाता है[1]।

१६६. परीषहों को (परीसहे [ग]) :

क्षुधा, प्यास आदि बाईस प्रकार के कष्टों को[2]। इसकी व्याख्या के लिए देखिए अ० ३ : टिप्पणी न० ५७ पृ० १०३।

श्लोक २८ :

१६७. श्लोक २८ :

कई आदर्शों में ही २७ वें श्लोक के पश्चात्—यह श्लोक है। दोनों चूर्णियों और टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। इसलिए यह बाद में प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

श्लोक २९ :

१६८. सम्यग्-दृष्टि (सम्मदिट्ठी [ख]) :

जिसे जीव आदि तत्त्वों में श्रद्धा है वह[3]।

१६९. कर्मणा (कम्मुणा [घ]) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मन, वचन और काया की क्रिया। ऐसा काम जिससे षट्-जीवनिकाय जीवों की किसी प्रकार की हिंसा हो[4]।

१७०. विराधना (विराहेज्जासि [घ]) :

दु ख पहुँचाने से लेकर प्राण-हरण तक की क्रिया[5]। अप्रमत्त साधु के द्वारा भी जीवों की कथञ्चित् द्रव्य विराधना हो जाती है, पर यह अविराधना ही है।

१—(क) अ० चू० उज्जुया मती उज्जुमती-अमाती।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ अज्जवा मती जस्स सो उज्जुमती।
(ग) हा० टी० प० १६० 'ऋजुमते' मार्गप्रवृत्तबुद्धे'।

२—(क) अ० चू० परीसहे बावीस जिणतस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ परीसहा—दिगिच्छादि बावीस ते अहियासतस्स।
(ग) हा० टी० प० १६० 'परीषहान्' क्षुत्पिपासादीन्।

३—हा० टी० प० १६० 'सम्यग्दृष्टि' जीवस्तत्त्वश्रद्धावान्।

४—(क) अ० चू० कम्मुणा छज्जीवणियजीवोवरोहकारकेण।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ कम्मुणा णाम जहोवएसो भरणइ स छज्जीवणिय जहोवइदिट्ठ तेण णो विराहेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६० 'कर्मणा'—मनोवाक्कायक्रियया।

५—(क) अ० चू० ण विराहेज्जासि मज्झिमपुरिसेण वपदेसो एवं सोम्म ! ण विराणीया छक्कातो।
(ख) हा० टी० प० १६० : 'न विराधयेत्' न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति तथाऽप्यावविराधनैवेत्यर्थः।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त हो उसे साताकुल कहते हैं[1]।

अगस्त्य चूर्णि में 'सुहसायगस्स' के स्थान में 'सुहसीलगस्स' पाठ उपलब्ध है। सुखशीलक, सुख-स्वादक और साताकुल में आचार्यों ने निम्नलिखित अन्तर बतलाया है :

(१) अगस्त्य मुनि के अनुसार जो कभी-कभी सुख का अनुशीलन करता है उसे सुखशीलक कहा जाता है और जिसे सुख का सतत ध्यान रहता है उसे साताकुल कहा जाता है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार अप्राप्त सुख की जो प्रार्थना—कामना है वह सुख-स्वादकता है। प्राप्त सात में जो प्रतिबन्ध होता है वह साताकुलता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार सुखास्वादकता का सम्बन्ध प्राप्त सुख के साथ है और साताकुल का सम्बन्ध अप्राप्त—भावी सुख के साथ[4]।

आचार्यों में इन शब्दों के अर्थ के विषय में जो मतभेद है वह स्पष्ट है।

अगस्त्य के अनुसार सुख और सात एकार्थक हैं। जिनदास के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग; सात का अर्थ है—प्राप्त भोग। हरिभद्र का अर्थ ठीक इसके विपरीत है : प्राप्त सुख सुख है अप्राप्त सुख—सात।

१६३ अकाल में सोने वाला (निगामसाइस्स घ) :

जिनदास ने निकामशायी को 'प्रकामशायी' का पर्यायवाची माना है[5]। हरिभद्र के अनुसार सूत्र में जो सोने की वेला बताई गई है उसे अतिक्रम कर सोनेवाला निकामशायी है[6]। भावार्थ है—अतिशय सोने वाला—अत्यन्त निद्राशील। अगस्त्यसिंह के अनुसार कोमल बिस्तर बिछाकर सोने की इच्छा रखने वाला निकामशायी है[7]।

१६४ हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला (उच्छोलणापहोइस्स ग) :

थोड़े जल से हाथ पैर आदि को धोने वाला उत्क्षालनाप्रधावी नहीं होता। जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है वह उत्क्षालनाप्रधावी कहलाता है। जिनदास ने विकल्प से—प्रभूत जल से भाजनादि का धोना—अर्थ भी किया है[8]।

१—हा० टी० प० १६० : 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

२—अ० चू० : जधा सुहसीलगस्स तधा साताकुलस्स विसेसो—कदाति सुहं अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्झायी।

३—जि० चू० पृ० १६१ : सीसो आह—सुहसायगसाताउलाण को पतिविसेसो? आयरिओ आह—सुहसायगग्गहणेण अपत्तस्स सुहस्स जा पत्थणा सा गहिया, साताउलग्गहणेण पत्ते य साते जो पडिबंधो तस्स गहणं कयं।

४—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः…… 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

५—जि० चू० पृ० १६१ : निगामं नाम पगामं भण्णइ, निगामं सयतीति निगामसायी।

६—हा० टी० प० १६० : 'निकामशायिनः' सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य।

७—अ० चू० : निकामसाइस्स उपत्थरणे मउए सयणं सोतुमणस्स निकामसाती।

८—(क) अ० चू० : उच्छोलणापहोती पभूतेण अजयणाए धोवति।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : उच्छोलणापहोवी नाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खणं पक्खालयइ, थोवेण कुक्कुइयं कुव्वमाणो (न) उच्छोलणापहोवी भण्णइ अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'उत्क्षालनाप्रधाविनः' उत्क्षालनया—प्रभूतजलेन प्रकर्षेण धावति—पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य।

पंचम अज्झयण

पिंडेसणा

(पढमोद्देसो)

अध्ययन

प्रथम उद्देशक)

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(पढमोद्देसो)

पंचम अध्ययन

पिंडैषणा

(प्रथम उद्देशक)

आमुख

नाम चार प्रकार के होते हैं—(१) गौण (२) सामयिक (३) उभयज और अनुभयज। गुण, क्रिया और सम्बन्ध के योग से जो नाम बनता है वह गौण कहलाता है। सामयिक नाम वह होता है जो अन्वर्थ न हो, केवल समय या सिद्धान्त में ही उसका प्रयोग हुआ हो। जैन-समय में भात को प्राभृतिका कहा जाता है, यह सामयिक नाम है। 'रजोहरण' शब्द अन्वर्थ भी है और सामयिक भी। रज को हरने वाला 'रजोहरण' यह अन्वर्थ है। सामयिक-संज्ञा के अनुसार वह कर्म रूपी रजों को हरने का साधन है इसलिए यह उभयज है[1]।

पिण्ड शब्द 'पिडि सघाते' धातु से बना है। सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। यह अन्वर्थ है इसलिए गौण है। सामयिक परिभाषा के अनुसार तरल वस्तु को भी पिण्ड कहा जाता है। आचाराङ्ग के सातवें उद्देशक में पानी की एषणा के लिए भी 'पिण्डैषणा' का प्रयोग किया है। पानी के लिए प्रयुक्त होने वाला 'पिण्ड' शब्द अन्वर्थ नहीं है इसलिए यह सामयिक है। जैन-समय की परिभाषा में यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए प्रयुक्त होता है[2]।

एषणा शब्द गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का संक्षिप्त रूप है।

इस अध्ययन में पिण्ड की गवेषणा—शुद्धाशुद्ध होने, ग्रहण (लेने) और परिभोग (खाने) की एषणा का वर्णन है इसलिए इसका नाम है 'पिण्डैषणा'।

दूसरे आचाराङ्ग के पहले अध्ययन का इसके साथ बहुत बड़ा साम्य है। वह इसका विस्तार है या यह उसका संक्षेप यह निश्चय करना सहज नहीं है। ये दोनों अध्ययन 'पूर्व' से उद्धृत किए हुए हैं।

भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई गई है—दीन-वृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व-संपत्करी[3]।

अनाथ और अपाङ्ग व्यक्ति मांग कर खाते हैं यह दीन-वृत्ति भिक्षा है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति मांग कर खाते हैं वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। सयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज सिद्ध आहार लेते हैं वह सर्व-सपत्करी भिक्षा है।

दीन-वृत्ति का हेतु असमर्थता, पौरूषघ्नी का हेतु निष्कर्मण्यता और सर्व-सपत्करी का हेतु अहिंसा है।

भगवान् ने कहा मुनि की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए। वह भोजन के लिए जीव वध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे (३) न मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे (६) तथा न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे।[4]

१—पि० नि० गा० ६ · गोण्ण समयकय वा ज वावि हवेज्ज तदुभएण कय।
त विति नामपिढ ठवणापिढ अओ वोच्छ॥

२—पि० नि० गा० ६ वृ०।

३—अ० प्र० ५ १ सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता॥

४—स्था० ६ ३.६८१ समणेण भगवता महावीरेण समणाण णिग्गथाण णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे प० त०—ण हणइ, ण हणावइ, हणत णाणुजाणइ, ण पतति, ण पतावेति, पतत णाणुजाणति, ण किणति, ण किणावेति किणत णाणुजाणति।

आमुख

नाम चार प्रकार के होते हैं—(१) गौण (२) सामयिक (३) उभयज और अनुभयज। गुण, क्रिया और सम्बन्ध के योग से जो नाम बनता है वह गौण कहलाता है। सामयिक नाम वह होता है जो अन्वर्थ न हो, केवल समय या सिद्धान्त में ही उसका प्रयोग हुआ हो। जैन-समय में भात को प्राभृतिका कहा जाता है, यह सामयिक नाम है। 'रजोहरण' शब्द अन्वर्थ भी है और सामयिक भी। रज को हरने वाला 'रजोहरण' यह अन्वर्थ है। सामयिक-संज्ञा के अनुसार वह कर्म रूपी रजों को हरने का साधन है इसलिए यह उभयज है[१]।

पिण्ड शब्द 'पिडि संघाते' धातु से बना है। सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। यह अन्वर्थ है इसलिए गौण है। सामयिक परिभाषा के अनुसार तरल वस्तु को भी पिण्ड कहा जाता है। आचाराङ्ग के सातवें उद्देशक में पानी की एषणा के लिए भी 'पिण्डैषणा' का प्रयोग किया है। पानी के लिए प्रयुक्त होने वाला 'पिण्ड' शब्द अन्वर्थ नहीं है इसलिए यह सामयिक है। जैन-समय की परिभाषा में यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए प्रयुक्त होता है[२]।

एषणा शब्द गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का सक्षिप्त रूप है।

इस अध्ययन में पिण्ड की गवेषणा—शुद्धाशुद्ध होने, ग्रहण (लेने) और परिभोग (खाने) की एषणा का वर्णन है इसलिए इसका नाम है 'पिण्डैषणा'।

दूसरे आचाराङ्ग के पहले अध्ययन का इसके साथ बहुत बडा साम्य है। वह इसका विस्तार है या यह उसका संक्षेप यह निश्चय करना सहज नहीं है। ये दोनों अध्ययन 'पूर्व' से उद्धृत किए हुए हैं।

भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई गई है—दीन-वृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व-संपत्करी[३]।

अनाथ और अपाङ्ग व्यक्ति मांग कर खाते हैं यह दीन-वृत्ति भिक्षा है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति मांग कर खाते हैं वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। सयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज सिद्ध आहार लेते हैं वह सर्व-सपत्करी भिक्षा है।

दीन-वृत्ति का हेतु असमर्थता, पौरूषघ्नी का हेतु निष्कर्मण्यता और सर्व-सपत्करी का हेतु अहिंसा है।

भगवान् ने कहा मुनि की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए। वह भोजन के लिए जीव वध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे (३) न मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे (६) तथा न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे।[४]

१—पि० नि० गा० ६ गोण्ण समयकय वा ज वावि हवेज्ज तदुभएण कय।
त बिति नामपिंड ठवणापिंड अओ वोच्छ॥

२—पि० नि० गा० ६ वृ०।

३—अ० प्र० ५ १ सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता॥

४—स्था० ९ ३ ६८१ समणेण भगवता महावीरेण समणाण णिग्गथाण णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे प० त०—ण हणइ, ण हणावइ, हणतं णाणुजाणइ, ण पतति, ण पतावेति, पतत णाणुजाणति, ण किणति, ण किणावेति किणत णाणुजाणति।

इस अध्ययन में सर्व-संपत्करी-भिक्षा के विधि-निषेधों का वर्णन है।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन 'कर्म प्रवाद' नामक आठवें 'पूर्व' से उद्धृत किया हुआ है[1]।

निर्दोष भिक्षा

भिक्षु को जो कुछ मिलता है वह भिक्षा द्वारा मिलता है इसलिए कहा गया है—"सव्वं से जाइयं होई नत्थि किंचि अजाइयं" (उत्त० २ २८) भिक्षु को सब कुछ मांगा हुआ मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता। मांगना परीषह—कष्ट है (देखिए उत्त २ गद्य भाग)

दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं होता—'पाणी नो सुप्पसारए" (उत्त० २ २९)। किन्तु अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भिक्षु को वैसे करना होता है। भिक्षा जितनी कठोर चर्या है उससे भी कहीं अधिक कठोर चर्या है उसके दोषों को टालना। उसके बयालीस दोष हैं। उनमें उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस—सब मिलकर बयालीस होते हैं और पांच दोष परिभोगैषणा के हैं—

> "गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।
> आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
> उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
> परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥" (उत्त २४ ११-१२)

(क) गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम' के दोष कहलाते हैं। वे आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ आहाकम्म	आधाकर्म
२ उद्देसिय	औद्देशिक
३ पूइकम्म	पूति कर्म
४ मीसजाय	मिश्र जात
५ ठवणा	स्थापना
६ पाहुडिया	प्राभृतिका
७ पाओयर	प्रादुष्करण
८ कीय	क्रीत
९ पामिच्च	प्रामित्य
१० परियट्टि	परिवर्त
११ अभिहड	अभिहृत
१२ उब्भिन्न	उद्भिन्न
१३ मालोहड	मालापहृत
१४ अच्छिज्ज	आछेद्य
१५ अणिसिट्ठ	अनिसृष्ट
१६ अज्झोयरय	अध्यवतरक

१—दश नि १११ : कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा।

(ख) साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन के दोष कहलाते हैं। ये आहार की याचना के दोष हैं—

१ धाई	धात्री
२ दूई	दूती
३ निमित्त	निमित्त
४ आजीव	आजीव
५ वणीमग	वनीपक
६ तिगिच्छा	चिकित्सा
७ कोह	क्रोध
८ माण	मान
९ माया	माया
१० लोह	लोभ
११ पुव्विं-पच्छा-संथव	पूर्व-पश्चात्-संस्तव
१२ विज्जा	विद्या
१३. मंत	मन्त्र
१४ चुण्ण	चूर्ण
१५ जोग	योग
१६ मूल कम्म	मूल कर्म

(ग) साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले दोष 'एषणा' के दोष हैं। ये आहार विधिपूर्वक न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से पैदा होते हैं। वे ये हैं—

१ संकिय	शङ्कित
२ मक्खिय	म्रक्षित
३ निक्खित्त	निक्षिप्त
४ पिहिय	पिहित
५ साहरिय	संहृत
६. दायग	दायक
७ उम्मिस्स	उन्मिश्र
८ अपरिणय	अपरिणत
९ लित्त	लिप्त
१० छड्डिय	छर्दित

भोजन सम्बन्धी दोष पाँच हैं। ये भोजन की सराहना व निन्दा आदि करने से उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अङ्गार (२) धूम (३) संयोजन (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रांत।

ये सैंतालीस दोष आगम साहित्य में एकत्र कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं। श्री जयाचार्य ने उनका अपुनरुक्त संकलन किया है।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्र-जात, प्रादुष्कर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, अभ्याहृत और स्थापना ये स्थानाङ्ग (९।३ पृ० ४४२-४३) में बतलाए गए हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-

इस अध्ययन में सर्व-संपत्करी-भिक्षा के विधि-निषेधों का वर्णन है।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन 'कर्म प्रवाद' नामक आठवें 'पूर्व' से उद्धृत किया हुआ है[1]।

निर्दोष भिक्षा

भिक्षु को जो कुछ मिलता है वह भिक्षा द्वारा मिलता है इसलिए कहा गया है—"सव्वं से जाइयं होई नत्थि किंचि अजाइयं" (उत्त २।२८) भिक्षु को सब कुछ मांगा हुआ मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता। मांगना परीषह—कष्ट है (इसिए उत्त० २ गद्य भाग)

दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं होता—"पाणी नो सुप्पसारए" (उत्त० २।२९)। किन्तु अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भिक्षु को वैसे करना होता है। भिक्षा जितनी कठोर चर्या है उससे भी कहीं अधिक कठोर चर्या है उसके दोषों को टालना। उसके बयालीस दोष हैं। उनमें उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस—सब मिलकर बयालीस होते हैं और पाँच दोष परिभोगैषणा के हैं—

> "गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।
> आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
> उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
> परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥" (उत्त २४।११-१२)

(क) गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम' के दोष कहलाते हैं। वे आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ आहाकम्म	आधाकर्म
२ उद्देसिय	औद्देशिक
३ पूइकम्म	पूति कर्म
४ मीसजाय	मिश्र जात
५ ठवणा	स्थापना
६ पाहुडिया	प्राभृतिका
७ पाओयर	प्रादुष्करण
८ कीय	क्रीत
९ पामिच्च	प्रामित्य
१० परियट्टि	परिवृत
११ अभिहड	अभिहृत
१२ उब्भिन्न	उद्भिन्न
१३ मालोहड	मालापहृत
१४ अच्छिज्ज	आछेद्य
१५ अणिसिट्ठ	अनिसृष्ट
१६ अज्झोयरय	अध्यवतरक

1—दश नि १।११ : कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा।

पचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिण्डेसणा : पिण्डैषणा

मूल	सस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥	संप्राप्ते भिक्षाकाले, असंभ्रान्तोऽमूर्च्छितः । अनेन क्रमयोगेन, भक्तपान गवेषयेत् ॥ १ ॥	१—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर[2] मुनि असभ्रात[3] और अमूर्च्छित[4] रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले, क्रम-योग से भक्त-पान की[5] गवेषणा करे ।
२—[6]से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥	स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः । चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥	२—गाँव या नगर में गोचराग्र के लिए निकला हुआ[7] वह[8] मुनि[9] धीमे-धीमे[10] अनुद्विग्न[11] और अव्याक्षिप्त चित्त से[12] चले ।
३—[13]पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥	पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् । वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणाँश्च दक-मृत्तिकाम् ॥ ३ ॥	३—आगे[14] युग-प्रमाण भूमि को[15] देखता हुआ और बीज, हरियाली,[16] प्राणी,[17] जल तथा सजीव-मिट्टी को[18] टालता हुआ चले ।
४—[19]ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए । सकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे[25] ॥	अवपातं विषमं स्थाणुं, 'विज्जल' परिवर्जयेत् । संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥ ४ ॥	४—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे,[20] ऊबड़-खाबड़[21] भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डठल[22] और पकिल मार्ग को[23] टाले तथा सक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से[24] न जाय ।
५—[26]पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं तसे अदुव थावरे ॥	प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा सयतः । हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥	५-६—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह सयमी प्राणी-भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है, इसलिए दूसरे मार्ग के होते हुए[27] सुसमाहित सयमी उक्त मार्ग से न जाय । यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाय[28] ।
६—तम्हा तेण न गच्छेज्जा संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे[29] ॥	तस्मात्तेन न गच्छेत्, सयतः सुसमाहितः । सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥	

पिण्ड, चिकित्सा पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया पिण्ड, लोभ-पिण्ड, विद्या पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड, और पूर्व-पश्चात्-संस्तव ये निशीथ (उद्दे० १२) में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आचाराङ्ग (२।१।२।११) में मिलता है। अङ्गार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका ये भगवती (७।१) में मिलते हैं।

मूलकर्म प्रश्नव्याकरण (संवर० १।१५) में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। कारणातिक्रान्त उत्तराध्ययन (२६-३२) और प्रमाणातिरेक भगवती (७।१) में मिलते हैं। हमने टिप्पणियों में यथास्थान इनका निर्देश किया है।

★

पचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिण्डेसणा : पिण्डैषणा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥	संप्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः । अनेन क्रमयोगेन, भक्तपान गवेषयेत् ॥ १ ॥	१—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर[2] मुनि असंभ्रांत[3] और अमूर्च्छित[4] रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले, क्रम-योग से भक्त-पान की[5] गवेषणा करे ।
२—[6]से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥	स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः । चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥	२—गाँव या नगर में गोचराग्र के लिए निकला हुआ[7] वह[8] मुनि[9] धीमे-धीमे[10] अनुद्विग्न[11] और अव्याक्षिप्त चित्त से[12] चले ।
३—[13]पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥	पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् । वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणांश्च दक-मृत्तिकाम् ॥ ३ ॥	३—आगे[14] युग-प्रमाण भूमि को[15] देखता हुआ और बीज, हरियाली,[16] प्राणी,[17] जल तथा सजीव-मिट्टी को[18] टालता हुआ चले ।
४—[19]ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे[25] ॥	अवपातं विषमं स्थाणु, 'विज्जल' परिवर्जयेत् । सक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥ ४ ॥	४—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे,[20] ऊबड़-खाबड़[21] भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल[22] और पंकिल मार्ग को[23] टाले तथा संक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से[24] न जाय ।
५—[26]पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं तसे अदुव थावरे ॥	प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः । हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥	५-६—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी-भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है, इसलिए दूसरे मार्ग के होते हुए[27] सुसमाहित संयमी उक्त मार्ग से न जाय । यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाय[28] ।
६—तम्हा तेण न गच्छेज्जा संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे[25] ॥	तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः । सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥	

७—इंगालं छारियं रासिं
तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं
संजओ तं न अक्कमे॥

अङ्गारं क्षारिकं राशिं,
तुषराशिं च गोमयम्।
ससरजस्काभ्यां पादाभ्याम्
संयतस्तं नाक्रामेत्॥७॥

७—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर होकर न जाए।

८—न चरेज्ज वासे वासंते
महियाए व पडंतिए।
महावाए व वायंते
तिरिच्छसंपाइमेसु वा॥

न चरेद्वर्षे वर्षति
महिकायां वा पतन्त्याम्।
महावाते वा वाति,
तिर्यक्सम्पातेषु वा॥८॥

८—वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाए।

९—न चरेज्ज वेससामंते
बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स
होज्जा तत्थ विसोत्तिया॥

न चरेद् वेशसामन्ते,
ब्रह्मचर्यवशानुगः।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य,
भवेत्तत्र विस्रोतसिका॥९॥

९—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाए। वहाँ दान्त ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है।

१०—अणायणे चरंतस्स
संसग्गीए अभिक्खणं।
होज्ज वयाणं पीला
सामण्णम्मि य संसओ॥

अनायतने चरतः,
संसर्गेणाऽभीक्ष्णम्।
भवेद् व्रतानां पीडा
श्रामण्ये च संशयः॥१०॥

१०—अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण व्रतों की पीड़ा (विनाश) और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है।

११—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं
मुणी एगंतमस्सिए॥

तस्मादेतद् विज्ञाय
दोषं दुर्गति-वर्धनम्।
वर्जयेद्वेशसामन्तं
मुनिरेकान्तमाश्रितः॥११॥

११—इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष मार्ग) का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाए।

१२—साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए॥

श्वानं सूतिकां गां
दृप्तं गां हयं गजम्।
'संडिम्भं' कलहं युद्धं
दूरतः परिवर्जयेत्॥१२॥

१२—श्वान, ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल, कलह और युद्ध (के स्थान) को दूर से टाल कर जाए।

१३—अणुन्नए नावणए
अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभागं
दमइत्ता मुणी चरे॥

अनुन्नतो नावनतः,
अप्रहृष्टोऽनाकुलः।
इन्द्रियाणि यथाभागं
दमयित्वा मुनिश्चरेत्॥१३॥

१३—मुनि न उन्नत होकर—ऊँचा मुँहकर, न अवनत होकर, न हृष्ट होकर, न आकुल होकर (किन्तु) इन्द्रियों का उनके विषयों के अनुसार दमन कर चले।

१४—[६१]दवदवस्स न गच्छेज्जा
भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा
कुलं उच्चावयं सया ॥

द्रव द्रव न गच्छेत्,
भाषमाणश्च गोचरे ।
हसन् नाभिगच्छेत्,
कुलमुच्चावच सदा ॥ १४ ॥

१४—उच्च-नीच कुल में[६२] गोचरी गया हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले,[६३] बोलता और हँसता हुआ न चले ।

१५—[६४]आलोयं थिग्गलं दारं
संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए
संकट्ठाणं विवज्जए ॥

आलोक 'थिग्गल' द्वार,
सन्धि दकभवनानि च ।
चरन् न विनिध्यायेत्,
शङ्कास्थान विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

१५—मुनि चलते समय आलोक,[६५] थिग्गल,[६६] द्वार, संधि,[६७] पानी-घर को[६८] न देखे । शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से[६९] बचता रहे ।

१६—[७०]रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

राज्ञो गृहपतीनां च,
रहस्यारक्षिकाणाञ्च ।
सक्लेशकरं स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

१६—मुनि राजा, गृहपति[७१] और आरक्षिकों के रहस्य स्थान[७२] सक्लेशकर होते हैं,[७३] इसलिए उनसे दूर रहे—वहाँ न जाय ।

१७—[७४]पडिकुट्ठकुलं न पविसे
मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तकुलं न पविसे
चियत्तं पविसे कुलं ॥

प्रतिक्रुष्ट-कुलं न प्रविशेत्,
मामक परिवर्जयेत् ।
'अचियत्त'-कुल न प्रविशेत्,
'चियत्त' प्रविशेत् कुलम् ॥ १७ ॥

१७—मुनि प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में[७५] प्रवेश न करे । मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का[७६] परिवर्जन करे । अप्रीतिकर कुल में[७७] प्रवेश न करे । प्रीतिकर[७८] कुल में प्रवेश करे ।

१८—[७९]साणीपावारपिहियं
अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा
ओग्गहंसि अजाइया ॥

शाणी-प्रावार-पिहित,
आत्मना नापवृणुयात् ।
कपाट न प्रणोदयेत्,
अवग्रहे अयाचित्वा ॥ १८ ॥

१८—मुनि गृहपति की आज्ञा लिए विना[८०] सन[८१] और मृग-रोम के बने वस्त्र से[८२] ढँका द्वार स्वयं न खोले,[८३] किवाड़ न खोले[८४] ।

१९—[८५]गोयरग्गपविट्ठो उ
वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा
अणुन्नविय वोसिरे ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु,
वर्चोमूत्र न धारयेत् ।
अवकाश प्रासुक ज्ञात्वा,
अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

१९—गोचराग्र के लिए उद्यत मुनि मल-मूत्र की वाधा को न रखे[८६] । (गोचरी करते समय मल-मूत्र की वाधा हो जाए तो) प्रासुक-स्थान[८७] देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहाँ मल मूत्र का उत्सर्ग करे ।

२०—[८८]नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा ॥

नीचद्वार तमो(मय),
कोष्ठक परिवर्जयेत् ।
अचक्षुर्विषयो यत्र,
प्राणाः दुष्प्रतिलेख्यकाः ॥ २० ॥

२०—जहाँ चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले[८९] तमपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे ।

७—इंगालं छारियं रासिं तुसरासिं च गोमयं । ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ तं न अक्कमे ॥	अङ्गारं क्षारिकं राशिं, तुषराशिं च गोमयम् । सरजस्काभ्यां पादाभ्याम्, संयतस्तं नाक्रामेत् ॥ ७ ॥	७—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर होकर न जाए ।
८—न चरेज्ज वासे वासंते महियाए व पडंतिए । महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥	न चरेद्वर्षे वर्षति महिकायां वा पतन्त्याम् । महावाते वा वाति, तिर्यक्सम्पातेषु वा ॥ ८ ॥	८—वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाए ।
९—न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणुए । बंभयारिस्स दंतस्स होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥	न चरेद् वेशसामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानुगः । ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥ ९ ॥	९—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाए । वहाँ दान्त ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है ।
१०—अणायणे चरंतस्स संसग्गीए अभिक्खणं । होज्ज वयाणं पीला सामण्णम्मि य संसओ ॥	अनायतने चरतः, संसर्गेणाऽभीक्ष्णम् । भवेद् व्रतानां पीडा श्रामण्ये च संशयः ॥ १० ॥	१०—अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण व्रतों की पीड़ा (विनाश) और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है ।
११—तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं । वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥	तस्मादेतद् विज्ञाय, दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् । वर्जयेद्वेशसामन्तं मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥ ११ ॥	११—इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाए ।
१२—साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं । संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ॥	श्वानं सूतिकां गां, दृप्तं गां हयं गजम् । 'संडिब्भं' कलहं युद्धं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥	१२—श्वान, ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल, कलह और युद्ध (के स्थान) को दूर से टाल कर जाए ।
१३—अणुन्नए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले । इंदियाणि जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ॥	अनुन्नतो नावनतः, अप्रहृष्टोऽनाकुलः । इन्द्रियाणि यथाभागं दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥ १३ ॥	१३—मुनि न उन्नत होकर—ऊँचा मुँह कर, न अवनत होकर, न हृष्ट होकर, न आकुल होकर (किन्तु) इन्द्रियों को उनके विषयों के अनुसार दमन कर चले ।

२८—[११६]आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

आहरन्ती स्यात् तत्र,
परिशाटयेद् भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥२८॥

२८—यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई[११७]स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२९—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए॥

सम्मर्दयन्ती प्राणान्,
बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा,
तादृशीं परिवर्जयेत्॥२९॥

२९—प्राणी, बीज और[११८] हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती है—यह जान[११९] मुनि उसके पास से भक्त-पान[१२०] न ले।

३०—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सचित्तं घट्टियाण य।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया॥

संहृत्य निक्षिप्य,
सचित्तं घट्टयित्वा च।
तथैव श्रमणार्थं,
उदकं संप्रणुद्य॥३०॥

३१—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाणभोयणं।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

अवगाह्य चालयित्वा,
आहरेत्पान-भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥३१॥

३०-३१—एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर[१२१], सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगाहन कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिये आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता[१२२]।

३२—पुरकम्मेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

पुरःकर्मणा हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥३२॥

३२—पुराकर्म-कृत[१२३] हाथ, कड़छी और बर्तन से[१२४] भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३३—[१२५]एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलए
मणोसिला अंजणे लोणे॥

एवं उदआर्द्रः सस्निग्धः,
ससरक्षो मृत्तिका ऊष।
हरितालं हिङ्गुलकं,
मनःशिला अञ्जनं लवणम्॥३३॥

३४—गेरुय वण्णिय सेडिय
सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे॥

गैरिकं वर्णिका-सेटिका,
सौराष्ट्रिका-पिष्टं कुक्कुसकृतश्च।
उत्कृष्टमसंसृष्टं,
संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः॥३४॥

३३-३४—इसी प्रकार जल से आर्द्र, सस्निग्ध,[१२६] सचित्त रज-कण,[१२७] मृत्तिका,[१२८] क्षार,[१२९] हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक, गैरिक,[१३०] वर्णिका,[१३१] श्वेतिका,[१३२] सौराष्ट्रिका,[१३३] तत्काल पीसे हुए आटे[१३४] या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके[१३५] और फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तो के रस[१३६] से सने हुए (हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिये[१३७]।

२१—जत्थ पुप्फाइं बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि,
विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं
दृष्ट्वा परिवर्जयेत्॥ २१॥

२१—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाए। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२—एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए॥

एडकं दारकं श्वानं,
वत्सकं वापि कोष्ठके।
उल्लंघ्य न प्रविशेत्
व्यूह्य वा संयतः॥ २२॥

२२—मुनि भेड़, बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे।

२३—असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो॥

असंसक्तं प्रलोकेत,
नातिदूरमवलोकेत।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्,
निवर्तेताऽजल्पिता॥ २३॥

२३—मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे; अति दूर न देखे। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाए।

२४—अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे॥

अतिभूमिं न गच्छेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा
मितां भूमिं पराक्रमेत्॥ २४॥

२४—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि (अननुज्ञात) में न जाए, कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे।

२५—तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्
भूमि-भागं विचक्षणः।
स्नानस्य च वर्चसः,
संलोकं परिवर्जयेत्॥ २५॥

२५—विचक्षण मुनि मित-भूमि में ही उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का परिवर्जन करे।

२६—दगमट्टियआयाणे
बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदियसमाहिए॥

दकमृत्तिकादानं
बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्,
सर्वेन्द्रिय समाहितः॥ २६॥

२६—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली को वर्जकर खड़ा रहे।

२७—तत्थ से चिट्ठमाणस्स
आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं॥

तत्र तस्य तिष्ठतः
आहरेत् पान भोजनम्।
अकल्पिकं न इच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम्॥ २७॥

२७—वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८—[116]आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

आहरन्ती स्यात् तत्र,
परिशाटयेद् भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

२८—यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई[117] स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

२९—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए ॥

सम्मर्दयन्ती प्राणान्,
बीजानि हरितानि च ।
असंयमकरीं ज्ञात्वा,
तादृशीं परिवर्जयेत् ॥२९॥

२९—प्राणी, बीज और[118] हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती है—यह जान[119] मुनि उसके पास से भक्त-पान[120] न ले ।

३०—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सचित्तं घट्टियाण य ।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया ॥

संहृत्य निक्षिप्य,
सचित्तं घट्टयित्वा च ।
तथैव श्रमणार्थं,
उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥

३१—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाणभोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अवगाह्य चालयित्वा,
आहरेत्पान-भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥

३०-३१—एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर[121], सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगाहन कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिये आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता[122] ।

३२—पुरकम्मेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

पुरःकर्मणा हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३२॥

३२—पुराकर्म-कृत[123] हाथ, कड़छी और बर्तन से[124] भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

३३—[125]एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।
हरियाले हिंगुलए
मणोसिला अंजणे लोणे ॥

एवं उदआर्द्रः सस्निग्धः,
ससरक्षो मृत्तिका ऊष ।
हरितालं हिङ्गुलकं,
मनःशिला अञ्जनं लवणम् ॥३३॥

३४—गेरुय वण्णिय सेडिय
सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥

गैरिकं वर्णिका-सेटिका,
सौराष्ट्रिका-पिष्टं कुक्कुसकृतश्च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः,
संसृष्टश्चैव बोद्धव्य ॥३४॥

३३-३४—इसी प्रकार जल से आर्द्र, सस्निग्ध,[126] सचित्त रज-कण,[127] मृत्तिका,[128] क्षार,[129] हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक, गैरिक,[130] वर्णिका,[131] श्वेतिका,[132] सौराष्ट्रिका,[133] तत्काल पीसे हुए आटे[134] या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके[135] और फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस[136] से सने हुए (हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिये[137] ।

२१— जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि,
विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं
दृष्ट्वा परिवर्जयेत्॥ २१॥

२१—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाए। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२—"एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए॥

एडकं दारकं श्वानं,
वत्सकं वाऽपि कोष्ठके।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्,
व्यूह्य वा संयतः॥ २२॥

२२—मुनि भेड़, बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे।

२३— असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो॥

असंसक्तं प्रलोकेत,
नातिदूरमवलोकेत।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्
निवर्तेताऽजल्पिता॥ २३॥

२३—मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे। अति दूर न देखे। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाए।

२४— अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे॥

अतिभूमिं न गच्छेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा
मितां भूमिं पराक्रमेत्॥ २४॥

२४—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि (अननुज्ञात) में न जाए, कुल भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे।

२५— तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्
भूमि-भागं विचक्षणः।
स्नानस्य च वर्चसः
संलोकं परिवर्जयेत्॥ २५॥

२५—विचक्षण मुनि मित-भूमि में ही उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का परिवर्जन करे।

२६— दगमट्टियआयाणं
बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदियसमाहिए॥

दकमृत्तिकाऽऽदानं,
बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्,
सर्वेन्द्रिय समाहितः॥ २६॥

२६—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली को वर्जकर खड़ा रहे।

२७— तत्थ से चिट्ठमाणस्स
आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं॥

तत्र तस्य तिष्ठतः,
आहरेत् पान भोजनम्।
अकल्पिकं न इच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम्॥ २७॥

२७—वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

४२—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं।
त निक्खिवित्तु रोयंत
आहरे पाणभोयणं॥

स्तनकं पाययन्ती,
दारकं वा कुमारिकाम्।
त (ता) निक्षिप्य रुदन्तं,
आहरेत् पान-भोजनम् ॥४२॥

४३—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
सयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

४२-४३—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड[१४७] भक्त-पान लाए, वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

४४—जं भवे भत्तपाणं तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

यद्भवेद् भक्त-पानं तु,
कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४४॥

४४—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शका-युक्त हो,[१४८] उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

४५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ॥

'दगवारएण' पिहितं,
'नीसाए' पीठकेन वा।
'लोढेण' वाऽपि लेपेन,
श्लेषेण वा केनचित् ॥४५॥

४६—तं च उब्भिदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[१४९]॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्,
श्रमणार्थं वा दायक।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

४५-४६—जल-कुभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढँके, लिपे और मूँदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

४७—असणं पाणगं वा वि
खाइम साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
दाणट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

४८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पान तु,
सयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

४७-४८—यह अशन, पानक,[१५०] खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ[१५१] है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३५—असंसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
पच्छाकम्मं जहिं भवे।

असंसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं नेच्छेत्
पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

३५—जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसंग हो[११] वहाँ असंसृष्ट[१२] (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले।

३६—संसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

संसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

३६—संसृष्ट[१३] (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो मुनि ले ले।

३७—[१४]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
छंदं से पडिलेहए ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
एकस्तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं न इच्छेत्
छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

३७—दो स्वामी या भोक्ता हों[१५] और एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे[१६]—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले।

३८—[१७]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
दोवि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम्।
दीयमानं प्रतीच्छेत्
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

३८—दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को यदि वह एषणीय हो तो ले ले।

३९—गुव्विणीए उवन्नत्थं
विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जेज्जा
भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं,
विविधं पान भोजनम्।
भुज्यमानं विवर्जयेत्
भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

३९—गर्भवती स्त्री के निमित्त बनाया हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे, खाने के बाद बचा हो वह ले ले।

४०—सिया य समणट्ठाए
गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा
निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥

स्याच्च श्रमणार्थं
गुर्विणी कालमासिनी।
उत्थिता वा निषीदेत्
निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥

४१—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

४०-४१—काल-मासवती[१] गर्भिणी नारी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार दिया जाने वाला आहार मैं नहीं ले सकता।

४२—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं।
त निक्खिवित्तु रोयंतं
आहरे पाणभोयणं॥

स्तनकं पाययन्ती,
दारकं वा कुमारिकाम्।
तं (ता) निक्षिप्य रुदन्तं,
आहरेत् पान-भोजनम्॥४२॥

४३—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥४३॥

४२-४३—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़[१४७] भक्त-पान लाए, वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

४४—जं भवे भत्तपाण तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

यद्भवेद् भक्त-पानं तु,
कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥४४॥

४४—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि मे शका-युक्त हो,[१४८] उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

४५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ॥

'दगवारएण' पिहितं,
'नीसाए' पीठकेन वा।
'लोढेण' वाऽपि लेपेन,
श्लेषेण वा केनचित्॥४५॥

४६—तं च उब्भिंदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[१४९]॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्,
श्रमणार्थं वा दायक।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥४६॥

४५-४६—जल-कुभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढँके, लिपे और मूँदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
दाणट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
दानार्थं प्रकृतमिदम्॥४७॥

४८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पान तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥४८॥

४७-४८—यह अशन, पानक,[१५०] खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ[१५१] है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥

५०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अशनं पानकं वाऽपि
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा
पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥४९॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५०॥

४९, ५०—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिये अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
वणिमट्ठा पगडं इमं ॥

५२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अशनं पानकं वाऽपि
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा
वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥५१॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम् ॥५२॥

५१, ५२—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ[1,2] है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५३—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा।
समणट्ठा पगडं इमं ॥

५४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अशनं पानकं वाऽपि
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा
श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम् ॥५४॥

५३, ५४—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५५—उद्देसियं कीयगडं
पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं
मीसजायं च वज्जए ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं
पूतिकर्म चाहृतम्।
अध्यवतरं प्रामित्यं
मिश्रजातं च वर्जयेत् ॥५५॥

५५—औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म[3,4], आहृत, अध्यवतर[5], प्रामित्य[6] और मिश्रजात आहार मुनि न ले।

५६—उग्गमं से पुच्छेज्जा कस्सट्ठा केण वा कडं। सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्ज संजए॥	उद्गमं तस्य पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम्। श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात् संयत ॥५६॥	५६—सयमी आहार का उद्गम पूछे। किस लिए किया है ? किसने किया है ?—इस प्रकार पूछे। दाता से प्रश्न का उत्त सुनकर नि शकित और शुद्ध ले।
५७—असणं पाणग वा वि खाइमं साइमं तहा। पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा॥	अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा। पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥	५७-५८—यदि अशन, पानक, खाद्य औ स्वाद्य पुष्प, बीज और हरियाली से [१५] उन्मिश्र हों[१५९] तो वह भक्त-पान सयति ... लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मु... देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रका का आहार मैं नहीं ले सकता।
५८—तं भवे भत्तपाणं तु सजयाण अकप्पियं। देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥	तद्भवेद् भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम्। ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥	
५९—असण पाणग वा वि खाइमं साइम तहा। उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिगपणगेसु वा॥	अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा। उदके भवेन्निक्षिप्त, 'उत्तिङ्ग'-'पनकेषु' वा ॥५९॥	५९-६०—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पानी, उत्तिग[१६०] और पनक[१६१] पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो[१६२] तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।
६०—तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं। देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥	तद्भवेद् भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम्। ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥	
६१—असण पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा। तेउम्मि होज्ज निक्खित्त तं च संघट्टिया दए॥	अशन पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा। तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च संघट्ट्य दद्यात् ॥६१॥	६१-६२—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर[१६३] दे तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।
६२—त भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिय। देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥	तद्भवेद् भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम्। ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥	

६३—एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

एवमुत्ष्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर, (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर, (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर) प्रज्वलित कर (प्रदीप्त कर) बुझाकर, अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर, दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि
'इष्टालं' वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम् ॥६५॥

६६—न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्
दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ॥

निःश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादं
श्रमणार्थं वा दायकः (का) ॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगत्' ॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥

एतादृशान्महादोषान्
ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निःसैनी फलक पीठ को ऊँचा कर, मचान, स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़) भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे। निःसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है हाथ पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्'।
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठं'
रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखडं व सिंबलिं ॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम्।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अल्प स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत काँटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्तिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए ॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम्।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे ॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले। अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव रहित

६३ [114]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए॥

एवमुत्त्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य।
उत्सिच्य निषिच्य
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात्॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम्॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर,[115] (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर,[116] (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर)[117] प्रज्वलित कर[1] (प्रदीप्त कर) बुझाकर,[11] अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर,[1] पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर,[2] दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि
'इट्टालं' वाऽपि एकदा।
स्थापितं संक्रमार्थं
तच्च भवेच्चलाचलम्॥६५॥

६६—[1]न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्
दृष्टस्तत्रासंयमः।
गम्भीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ शिला या ईंट के टुकड़े[1] [2] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए॥

निःश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत्।
मञ्चं कीलं च प्रासादं,
श्रमणार्थं वा दायकः (का)॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत्।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगान्'॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया॥

एतादृशान्महादोषान्
ज्ञात्वा महर्षयः।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी फलक पीठ को ऊँचा कर, मचान, स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ, पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत[1] भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आम छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्' ।
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले ।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइ आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे ।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठं'
रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हो तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अल्पं स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत कांटो वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए ॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम् ।
संस्वेदज (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे ॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले । अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव रहित

६३—[१११]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

एवमुत्ष्वक्य अवष्वक्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर[११५] (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर,[११६] (चूल्हे को) प्रज्वलित कर (सुलगा कर)[११७] प्रज्वलित कर[११८] (प्रदीप्त कर) बुझाकर,[११९] अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढ़ा कर उतार कर, दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि,
'इट्टालं' वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम् ॥६५॥

६६—न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेत्,
दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गम्भीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े[१२०] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ॥

निःश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादं
श्रमणाय वा दायकः (का) ॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्
हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा' ॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥

एतादृशान्महादोषान्
ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निःसैनी फलक पीठ को ऊँचा कर, मचान,[१२१] स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निःसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है हाथ पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्'।
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइ आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाण पसढं
रएण परिफासियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठ'
रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हो तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम्।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

अल्पं स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत काँटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम्।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले। अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव रहित

६३—[11]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए॥

एवमुत्ष्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य।
उत्सिच्य निषिच्य
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात्॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम्॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर,[114] (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर,[115] (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर)[116] प्रज्वलित कर[117] (प्रदीप्त कर) बुझाकर,[118] अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर,[119] पानी का छींटा देकर,[120] पात्र को टेढ़ा कर उतार कर,[121] दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि,
'इट्टालं' वाऽपि एकदा।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम्॥६५॥

६६—[1][2]न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्
दृष्टस्तत्रासंयमः।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े[1] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए॥

निश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत्।
मञ्चं कीलं च प्रासादं
श्रमणार्थं वा दायकः (का)॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत्।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा'॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया॥

एतादृशान्महादोषान्
ज्ञात्वा महर्षयः।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक, पीठ को ऊँचा कर, मचान,[1] स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है हाथ पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्' ।
तुम्बकं श्रृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—अपक्व कद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले ।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे ।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठं'
रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपडी,[१८२] गीला-गुड (राव), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए ।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अल्प स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत काटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोडा हो और डालना अधिक पडे—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए ॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम् ।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे ॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड के घडे का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले । अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशकित हो जाए तो उसे जीव रहित

६३—एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए॥

एवमुत्ष्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य।
उत्सिच्य निषिच्य
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात्॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम्॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर, (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर, (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर), प्रज्वलित कर (प्रदीप्त कर), बुझाकर, अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि
'इट्टालं' वाऽपि एकदा।
स्थापितं संक्रमार्थ,
तच्च भवेच्चलाचलम्॥६५॥

६६—न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेत्,
दृष्टस्तत्रासंयमः।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए॥

निःश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत्।
मञ्चं कीलं च प्रासादं,
श्रमणाय वा दायकः (का)॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत्।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्,
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा'॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया॥

एतादृशान्महादोषान्,
ज्ञात्वा महर्षयः।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक, पीठ को ऊँचा कर, मचान, स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि—संयमी मालापहृत भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्'।
तुम्बकं श्रृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत्॥७०॥

७०—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम्॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठं'
रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] वेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो वेचने के लिए दुकान मे रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हो तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम्।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम्॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

अल्प स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्‌गल, बहुत काटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोडा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम्।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत्॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत्॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले। अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव रहित

७७—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः।
अथ शंकितं भवेत्,
आस्वाद्य रोचयेत्॥७७॥

और परिणत जानकर संयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो उसे चखकर लेने का निश्चय करे।

७८—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए।

स्तोकमास्वादनार्थं
हस्तके देहि मे।
मा मे अत्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम्॥७८॥

७८—दाता से कहे—चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो। बहुत [illegible] दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूँगा?

७९—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तच्चात्यम्लं पूति
नालं तृष्णां विनेतुम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत
न मे कल्पते तादृशम्॥७९॥

७९—यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता।

८०—तं च होज्ज अकामेणं
विमणेणं पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिबे
नो वि अन्नस्स दावए॥

तच्च भवेदकामेन
विमनसा प्रतीप्सितम्।
तद् आत्मना न पिबेत्
नो अपि अन्यस्मै दापयेत्॥८०॥

८०-८१—यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे। परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के बाद स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे।

८१—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे॥

एकान्तमवक्रम्य
अचित्तं प्रतिलेख्य।
यतं परिस्था (ष्ठा) पयेत्
परिस्थाप्य(ष्ठाप्य) प्रतिक्रामेत्॥८१॥

८२—सिया य गोयरग्गगओ
इच्छेज्जा परिभोत्तुयं।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा
पडिलेहित्ताण फासुयं॥

स्याच्च गोचराग्रगतः,
इच्छेत् परिभोक्तुम्।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा
प्रतिलेख्य प्रासुकम्॥८२॥

८२-८३—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल को देख कर, उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर छाये हुए एवं संवृत स्थान में बैठ, हस्तक से शरीर का प्रमार्जन कर वहाँ भोजन करे।

८३—अणुन्नवेत्तु मेहावी
पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता
तत्थ भुंजेज्ज संजए॥

अनुज्ञाप्य मेधावी
प्रतिच्छन्ने संवृतः।
हस्तकं संप्रमृज्य
तत्र भुञ्जीत संयतः॥८३॥

८४—तत्थ से भुंजमाणस्स
अट्ठियं कंटओ सिया।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तत्र तस्य भुञ्जानस्य,
अस्थिक कण्टकःस्यात्।
तृण-काष्ठ-शर्करा वाऽपि,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥८४॥

८५—तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे
आसएण न छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊणं
एगंतमवक्कमे ॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्,
आस्यकेन न छर्दयेत्।
हस्तेन तद् गृहीत्वा,
एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

८६—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्त प्रतिलेख्य।
यत परिस्था(ष्ठा,पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

८४-८६—वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा,[205] तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए। एकान्त में जा उचित भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे।

८७—[206]सिया य भिक्खू इच्छेज्जा
सेज्जमागम्म भोत्तुयं।
सपिंडपायमागम्म
उंडुयं पडिलेहिया ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्,
शय्यामागम्य भोक्तुम्।
सपिण्डपात-मागम्य,
'उड्डुय' प्रतिलेख्य ॥ ८७ ॥

८८—विणएण पविसित्ता
सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय
आगओ य पडिक्कमे ॥

विनयेन प्रविश्य,
सकाशे गुरोर्मुनिः।
ऐर्यापथिकीमादाय,
आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥ ८८ ॥

८७-८८—कदाचित्[207] भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् विनयपूर्वक[208] उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो, 'ईर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग) करे।

८९—आभोएत्ताण नीसेसं
अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव
भत्तपाणे व संजए ॥

आभोग्य निश्शेषम्,
अतिचार यथाक्रमम्।
गमनागमने चैव,
भक्त-पाने च संयतः ॥ ८९ ॥

९०—उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे
जं जहा गहियं भवे ॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः,
अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
आलोचयेत् गुरुसकाशे,
यद् यथा गृहीत भवेत् ॥ ९० ॥

८९-९०—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१—न सम्ममालोइयं होज्जा
पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स
वोसट्ठो चिंतए इमं॥

न सम्यगालोचितं भवेत्,
पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम्।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य,
व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥ ९१ ॥

९१—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले-पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भङ्ग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

९२—अहो[१] जिणेहिं असावज्जा
वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स
साहुदेहस्स धारणा ॥

अहो! जिनैः असावद्या,
वृत्तिः साधुभ्यो देशिता।
मोक्षसाधनहेतोः,
साधुदेहस्य धारणाय ॥ ९२ ॥

९२—कितना आश्चर्य है—जिन भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य वृत्ति का उपदेश किया है।

९३—नमोक्कारेण पारेत्ता
करेत्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं
वीसमेज्ज खणं मुणी ॥

नमस्कारेण पारयित्वा
कृत्वा जिनसंस्तवम्।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य,
विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥ ९३ ॥

९३—इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (तीर्थङ्कर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे, फिर क्षण भर विश्राम ले[११]।

९४—वीसमंतो इमं चिंते
हियमट्ठं लाभमट्ठिओ[११]।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा
साहू होज्जामि तारिओ ॥

विश्राम्यन् इमं चिन्तयेत्,
हितमर्थं लाभार्थिकः।
यदि मेऽनुग्रहं कुर्युः,
साधवो भवामि तारितः ॥ ९४ ॥

९४—विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूँ कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया।

९५—साहवो तो चियत्तेणं
निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा
तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥

साधूंस्ततः 'चियत्तेन',
निमन्त्रयेद् यथाक्रमम्।
यदि तत्र केचित् इच्छेयुः,
तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

९५—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

९६—अह कोइ न इच्छेज्जा
तओ भुंजेज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू
जयं अपरिसाडयं[११२] ॥

अथ कोऽपि नेच्छेत्
ततो भुञ्जीत एककः।
आलोके भाजने साधुः,
यतमपरिशाटयन् ॥ ९६ ॥

९६—यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही भोजन करे—खुले पात्र में[११] यतना-पूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ।

९७—तित्तगं व कडुयं व कसायं
अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं
महु घयं व भुंजेज्ज संजए ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं
आम्लं वा मधुरं लवणं वा।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं
मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥ ९७ ॥

९७—गृहस्थ के लिए बना हुआ—तीता (तिक्त) या कडुवा या कसैला या खट्टा या मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधु-घृत की भाँति खाए।

९८—अरसं विरसं वा वि
सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं
मन्थु-कुम्मास-भोयणं ॥

अरस विरस वाऽपि,
सूपित (च्य) वा असूपितम् (च्यम्)।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्क,
मन्थु-कुल्माष-भोजनम् ॥ ९८ ॥

९८-९९—मुधाजीवी[222] मुनि अरस[223] या विरस,[224] व्यंजन सहित या व्यंजन रहित,[225] आर्द्र[226] या शुष्क,[227] मन्थु[228] और कुल्माष[229] का जो भोजन विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है[230]। इसलिए उस मुधालब्ध[231] और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले[232]।

९९—उप्पण्णं नाइहीलेज्जा
अप्पं पि वहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी
भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥

उत्पन्न नातिहीलयेत्,
अल्प वा वहु प्रासुकम्।
मुधालब्ध मुधाजीवी,
भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

१००—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥
॥ ति वेमि ॥

दुर्लभास्तु मुधादायिनः,
मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः।
मुधादायिनो मुधाजीविनः,
द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ १०० ॥
इति ब्रवीमि।

१००—मुधादायी[233] दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।
ऐसा मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणाया प्रथमः उद्देशः समाप्तः।

टिप्पणियाँ अध्ययन ५ (प्रथम उद्देशक)

श्लोक १

१ श्लोक १

प्रथम श्लोक में भिक्षु को यथासमय भिक्षा करने की आज्ञा दी गई है। भिक्षा-काल के उपस्थित होने के समय भिक्षु की वृत्ति कैसी रहे इसका भी मार्मिक उल्लेख इस श्लोक में है। उसकी वृत्ति 'असंभ्रम' और 'मूर्च्छा' से रहित होनी चाहिए। इन शब्दों की भावना का स्पष्टीकरण यथास्थान टिप्पणियों में आया है।

२ भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (संपत्ते भिक्खकालम्मि क)

जितना महत्त्व कार्य का होता है उतना ही महत्त्व उसकी विधि का होता है। बिना विधि से किया हुआ कार्य फल-दायक नहीं होता। काल का प्रश्न भी कार्य विधि से जुड़ा हुआ है। जो कोई भी कार्य किया जाय वह क्यों किया जाय ? कब किया जाय ? कैसे किया जाय ? ये शिष्य के प्रश्न रहते हैं। आचार्य इनका समाधान देते हैं—अमुक कार्य इसलिए किया जाय इस समय में किया जाय और इस प्रकार किया जाय। यह उद्देश्य काल और विधि का ज्ञान कार्य को पूर्ण बनाता है।

इस श्लोक में भिक्षा-काल का नामोल्लेख मात्र है[1]। काल-प्राप्त और अकाल भिक्षा का विधि-निषेध इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक के चौथे पाँचवें और छठे श्लोक में मिलता है। वहाँ भिक्षा-काल में भिक्षा करने का विधान और अकाल में भिक्षा के लिए जाने से उत्पन्न होने वाले दोषों का वर्णन किया गया है। प्रश्न यह है कि भिक्षा का काल कौन-सा है ? सामाचारी अध्ययन में बतलाया गया है कि मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे दूसरे में ध्यान करे तीसरे में भिक्षा के लिए जाए और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे[2]।

उत्सर्ग विधि से भिक्षा का काल तीसरा प्रहर ही माना जाता रहा है[3]। 'पत्तमत्थ य भोयण'[4] के अनुसार भी भिक्षा का काल यही प्रमाणित होता है। किन्तु यह काल-विभाग सामयिक प्रतीत होता है। बौद्ध-ग्रन्थों में भी भिक्षु को एक भक्त-भोजी कहा है तथा उनमें भी यथाकाल भिक्षा प्राप्त करने का विधान है[5]।

प्राचीनकाल में भोजन का समय प्रायः मध्याह्नोत्तर था। संभवतः इसीलिए इस व्यवस्था का निर्माण हुआ हो अथवा यह व्यवस्था विशेष अभिग्रह (प्रतिज्ञा) रखने वाले मुनियों के लिए हुई हो। वैसे ही दिन भर एक बार भोजन करने वालों के लिए यह उपयुक्त समय है। इस दृष्टिकोण से इसे भिक्षा का सार्वत्रिक उपयुक्त समय नहीं माना जा सकता। सामान्यतः भिक्षा का काल वही है, जिस प्रदेश में जो समय लोगों के भोजन करने का हो। इसके अनुसार रसोई बनने से पहले या उसके उठने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है और रसोई बनने के समय भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का काल है।

१—(क) अ० चू० : भिक्खाकालो सम्पत्तो 'भिक्षादिभ्योऽण्' [पाणि० ४.२.३८] इति भैक्षम्, भेक्खस्स कालो तम्मि संपत्ते।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तंमि भिक्खकाले संपत्ते।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'संप्राप्ते' शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते 'भिक्षाकाले' भिक्षासमये अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति।

२—उत्त० २६.१२ : पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥

३—उत्त० २६.११ बृ० वृ० : उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्।

४—उत्त० १.३२।

५—(क) वि० पि० : महावग्ग पालि ५.१२।

(ख) The Book of the Gradual Sayings Vol IV VIII. V 41 page 171

३. असंभ्रांत (असंभंतो ख) :

भिक्षा-काल में बहुत से भिक्षाचर भिक्षा के लिए जाते हैं। मन में ऐसा भाव हो सकता है कि उनके भिक्षा लेने के बाद मुझे क्या मिलेगा ? मन की ऐसी दशा से गवेषणा के लिए जाने में शीघ्रता करना सम्भ्रान्त वृत्ति है।

ऐसी सम्भ्रान्त दशा में भिक्षु त्वरा—शीघ्रता करने लगता है। त्वरा से प्रतिलेखन में प्रमाद होता है। ईर्या समिति का शोधन नहीं होता। उचित उपयोग नहीं रह पाता। ऐसे अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। अत: आवश्यक है कि भिक्षा-काल के समय भिक्षु असम्भ्रान्त रहे अर्थात् अनाकुल भाव से यथा उपयोग भिक्षा की गवेषणा के लिए जाए[1]।

४. अमूर्च्छित (अमुच्छिओ ख) :

भिक्षा के समय सयम-यात्रा के लिए भिक्षा की गवेषणा करना विहित अनुष्ठान है। आहार की गवेषणा में प्रवृत्त होते समय भिक्षु की वृत्ति मूर्च्छारहित होनी चाहिए। मूर्च्छा का अर्थ है मोह, लालसा या आसक्ति। जो आहार में गृद्धि या आसक्ति रखता है, वह मूर्च्छित होता है। जिसे भोजन में मूर्च्छा होती है वही सम्भ्रान्त बनता है। यथा-लब्ध भिक्षा में सतुष्ट रहने वाला सम्भ्रान्त नहीं बनता। गवेषणा में प्रवृत्त होने के समय भिक्षु की चित्त-वृत्ति मूर्च्छारहित हो। वह अच्छे भोजन की लालसा या भावना से गवेषणा में प्रवृत्त न हो। जो ऐसी भावना से गवेषणा करता है उसकी भिक्षा-चर्या निर्दोष नहीं होती।

भिक्षा के लिए जाते समय विविध प्रकार के शब्द सुनने को मिलते हैं, रूप देखने को मिलते हैं। उनकी कामना से भिक्षु आहार की गवेषणा में प्रवृत्त न हो। वह अमूर्च्छित रहते हुए अर्थात् आहार तथा शब्दादि में मूर्च्छा नहीं रखते हुए केवल आहार-प्राप्ति के अभिप्राय से गवेषणा करे, यह उपदेश है[2]।

अमूर्च्छाभाव को समझने के लिए एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है : एक युवा वणिक्-स्त्री अलकृत, विभूषित हो, चारु वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। वह (गोवत्स) उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रग, रूप, आभरणादि के शब्द, गध और स्पर्श में मूर्च्छित नहीं होता। ठीक इसी प्रकार साधु विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त हो[3]।

५. भक्त-पान (भत्तपाणं घ) :

जो खाया जाना है वह 'भक्त' और जो पीया जाता है वह 'पान' कहलाता है[4]। 'भक्त' शब्द का प्रयोग छट्टे अध्ययन के

१—(क) अ० चू० असमतो 'मा वेला फिट्टिहिति, विलुप्पिहिति वा भिक्खयरेहिं भेक्ख' एतेण अत्थेण असमतो।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ असमतो नाम सव्वे भिक्खायरा पविट्ठा तेहिं उञ्छिए भिक्ख न लभिस्सामित्तिकाउ मा तुरेज्जा, तुरमाणो य पडिलेहणापमाद करेज्जा, रिय वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमादी दोसा भवन्ति, तम्हा असभन्तेण पडिलेहण काऊण उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गतव्व।

(ग) हा० टी० प० १६२ 'असम्भ्रान्त' अनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थ:।

२—(क) अ० चू० अमुच्छितो अमूढो भत्तगेहीए सद्दातिसु य।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ 'मूर्च्छा मोहसमुच्छाययो:' 'न मूर्च्छित' अमूर्च्छित, अमूर्च्छितो नाम समुयाणे मुच्छ अकुव्वमाणो सेसेसु य सद्दाइविसएसु।

(ग) हा० टी० प० १६३ 'अमूर्च्छित' पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।

३—(क) जि० चू० पृ० १६७-६८ दिट्ठतो वच्छओ वाणिगिणीए अलकियविभूसियाए चारुवेसाएवि गोभत्तादी आहार दलयतीति तमि गोभत्तादिम्मि उवउत्तो ण ताए इत्थियाए रूवेण वा तेसु वा आभरणसद्देसु ण वा गधफासेसु मुच्छिओ, एव साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण 'भिक्खाहिंडियव्वत्ति।

४—अ० चू० भत्त-पाण भजति खुहिया तमिति भत्त, पीयत इति पाण भत्तपाणमिति समासो।

२२ वें श्लोक में भी हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'भार' है[1]। यहाँ इसका अर्थ तण्डुल आदि आहार है[2]। पूर्व-काल में बिहार आदि जनपदों में चावल का भोजन प्रधान रहा है। इसलिए 'भक्त' शब्द का प्रधान अर्थ चावल आदि खाद्य बन गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'भक्त' का अर्थ तण्डुल आदि किया है[3]।

श्लोक २

६ श्लोक २

आहार की गवेषणा के लिए जो पहली क्रिया करनी होती है वह है चलना। गवेषणा के लिए स्थान से बाहर निकल कर साधु किस प्रकार गमन करे और कैसे स्थानों का वर्जन करता हुआ चले, उसका वर्णन इस श्लोक से लेकर ११ वें श्लोक तक में आया है।

७ गोचराग्र के लिए निकला हुआ (गोयरग्गगओ ख):

भिक्षा-चर्या बारह प्रकार के तपों में से तीसरा तप है[4]। 'गोचराग्र' उसका एक प्रकार है[5]। उसके अनेक भेद होते हैं[6]। 'गोचर' शब्द का अर्थ है गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किए बिना एक ओर से दूसरी ओर चरती चली जाती है। वैसे ही उत्तम मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए जो सामुदानिक भिक्षाटन किया जाता है वह गोचर कहलाता है[7]।

चूर्णिकारद्वय लिखते हैं : गोचर का अर्थ है भ्रमण। जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में रक्त न होते हुए आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार साधु भी विषयों में आसक्त न होते हुए सामुदानिक रूप से उद्गम उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। यही साधु का गोचराग्र है[8]।

गाय के चरने में शुद्धाशुद्ध का विवेक नहीं होता। मुनि सदोष आहार को वर्ज निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उनकी

१—पृ० भत्तं च भोयणं ।

—हा० टी० प० १६३ : 'भक्तपानं' यतियोग्यमोदनारनालादि ।

३—कौटि० अर्थ० अ० १ प्रक० १९-२१ : भक्तोपकरणं—(व्याख्या) भक्त तण्डुलादि उपकरणं वस्त्रादि च ।

४—उत्त० ३० . ८ : अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥

५—उत्त० ३० . २५ : अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥

६—उत्त० ३० . १९ : पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव ।
सम्बुक्कावट्टायगंतुंपच्चागया छट्ठा ॥

७—हा० टी० प० १६३ : गोचरः सामर्थिकत्वात् गौरिव चरणं गोचरोऽथवा गोचारः ...गौश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति वणिग्वत्सकदृष्टान्तेन चेति ।

८—(क) अ० चू० : गोरिव चरणं गोचरो तहा सद्दादिसु असुच्छितो जहा सो वच्छगो ।
(ख) जि० चू० पृ० १६७-१६८ : गोचरो नाम भ्रमणं ...जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति हिंडंति वच्छगो ...एवं साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण समुदाणं उग्गमउप्पायणासुद्धं विसेसियसुद्धिणा अरत्तदुट्ठेण भिक्खा हिंडियव्वंति ।
(ग) हा० टी० प० १६३ : गोरिव चरणं गोचरः—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम् ।

भिक्षा-चर्या साधारण गोचर्या से आगे बढी हुई—विशेषता वाली होती है। इस विशेषता की ओर सकेत करने के लिए ही गोचर के बाद 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा गोचर तो चरकादि अन्य परिव्राजक भी करते हैं किन्तु आधाकर्मादि आहार ग्रहण न करने से ही उसमें विशेषता आती है। श्रमण निर्ग्रन्थ की चर्या ऐसी होती है अत यहाँ अग्र—प्रधान शब्द का प्रयोग है[1]।

८. वह (से [क]) :

हरिभद्र कहते हैं 'से' अर्थात् जो असभ्रात और अमूर्च्छित है वह मुनि[2]। जिनदास लिखते हैं 'से' शब्द सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु का सकेतक है[3]। यह अर्थ अधिक सगत है क्योंकि ऐसे मुनि की भिक्षा-चर्या की विधि का ही इस अध्ययन में वर्णन है। अगस्त्यसिंह के अनुसार 'से' शब्द वचनोपन्यास है[4]।

९. मुनि (मुणी [ख]) :

मुनि और ज्ञानी एकार्थक शब्द है[5]। जिनदास के अनुसार मुनि चार प्रकार के होते हैं—नाम-मुनि, स्थापना-मुनि, द्रव्य-मुनि और भाव-मुनि। उदाहरण के लिए जो रत्न आदि की परीक्षा कर सकता है वह द्रव्य-मुनि है। भाव-मुनि वह है जो ससार के स्वभाव—असली स्वरूप को जानता हो। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दोनों भाव-मुनि होते हैं। इस प्रकरण में भाव-साधु का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि उसी की गोचर्या का यहाँ वर्णन है।

१०. धीमे-धीमे (मंदं [ग]) :

असंभ्रांत शब्द मानसिक अवस्था का द्योतक है और 'मन्द' शब्द चलने की क्रिया (चरे) का विशेषण[6]। साधु जैसे चित्त से असभ्रात हो—क्रिया करने में त्वरा न करे वैसे ही गति में मन्द हो—धीमे-धीमे चले[7]। जिनदास लिखते हैं—मन्द चार तरह के होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मन्द। उनमें द्रव्य-मन्द उसे कहते हैं जो शरीर से प्रतनु होता है। भाव-मन्द उसे कहते हैं जो अल्पबुद्धि हो। यहाँ तो गति-मन्द का अधिकार है।

१—(क) अ० चू० गोयर अग्ग गोतरस्स वा अग्ग गतो, अग्ग पहाण। कह पहाण? एसणादिगुणजुत, ण उ चरगादीण अपरिक्खिते सणाण।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ गोयरो चेव अग्ग अग्ग तम्मि गओ गोयरग्गगओ, अग्ग नाम पहाण भण्णइ, सो य गोयरो साहूणमेव पहाणो भवति, न उ चरगाईण आहाकम्मुदेसियाइभुंजगाणति।

(ग) हा० टी० प० १६३ 'अग्र'—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन।

२—हा० टी० प० १६३ 'से' इत्यसम्भ्रांतोऽमूर्च्छित।

३—जि० चू० पृ० १६७ 'से' त्ति निद्देसे, किं निद्दिसति?, जो सो सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो भिक्खू तस्स निद्देसोत्ति।

४—अ० चू० से इति वयणोवण्णासे।

५—(क) अ० चू० मुणी विण्णाणसपण्णो, दव्वे हिरण्णादिमुणतो भावमुणी विदितससारसब्भावो साधू।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ मुणीणाम णाणित्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा, सो य मुणी चउव्विहो भणिओ, · दव्वमुणी जहा रयणपरिक्खगा एवमादि, भावमुणी जहा ससारसहावजाणगा साहुणो सावगा वा, एत्थ साहूहिं अधिगारो।

(ग) हा० टी० प० १६३ मुनि—भावसाधु।

६—(क) अ० चू० मद असिग्घ। असमत—मद विसेसो—असभतो चेयसा मदो क्रियया।

(ख) हा० टी० प० १६३ 'मन्द' शनै शनैर्न द्रुतमित्यर्थ।

७—जि० चू० पृ० १६८ मदो चउव्विहो 'दव्वमदो जो तणुयसरीरो एवमाइ, भावमदो जस्स बुद्धी अप्पा एवमादी, · इह पुण गतिमदेण अहिगारो।

११ अनुद्विग्न (अणुव्विग्गो ग)

अनुद्विग्न का अर्थ है परीषह से न डरने वाला प्रशान्त। तात्पर्य यह है—भिक्षा न मिलने या मनोनुकूल भिक्षा न मिलने के विचार से व्याकुल न होता हुआ तथा तिरस्कार आदि परीषहों की आशंका से क्षुब्ध न होता हुआ गमन करे[1]।

१२ अव्याक्षिप्त चित्त से (अव्वक्खित्तेण चेयसा घ):

जिनदास के अनुसार इसका अर्थ है आर्त्तध्यान से रहित अंतःकरण से पैर उठाने में उपयोग युक्त होकर[2]। हरिभद्र के अनुसार अव्याक्षिप्त चित्त का अर्थ है—वत्स और वणिक् पत्नी के दृष्टान्त के न्याय से शब्दादि में अंतःकरण को नियोजित न करते हुए एषणा समिति से युक्त होकर।

भावार्थ यह है कि चलते समय मुनि चित्त में आर्त्तध्यान न रखे, उसकी चित्तवृत्ति शब्दादि विषयों में आसक्त न हो तथा पैर आदि उठाते समय वह पूरा उपयोग रखता हुआ चले।

गृहस्थों के यहाँ साधु को प्रिय शब्द रूप रस और गन्ध का संयोग मिलता है। ऐसे संयोग की कामना अथवा आसक्ति से साधु गमन न करे। वह केवल आहार गवेषणा की भावना से गमन करे।

इस सम्बन्ध में टीकाकार ने वत्स और वणिक् वधू के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है। जिनदास ने गोचराग्र शब्द की व्याख्या में इस दृष्टान्त का उपयोग किया है। हमने इसका उपयोग प्रथम श्लोक में आये हुए 'असंभंतो' शब्द की व्याख्या में किया है। पूरा दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है :

"एक वणिक् के घर एक छोटा बछड़ा था। वह सब को बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-संभार करते थे। एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ। सारे लोग उस में लग गये। बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूख और प्यास के मारे रंभाने लगा। कुल वधू ने उसको सुना। वह घास और पानी को लेकर गई। घास और पानी को देख बछड़े की दृष्टि उन पर टिक गई। उसने कुल वधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नहीं। उसके मन में विचार तक नहीं आया कि उसके रूप-रंग और शृंगार को देखे।"

दृष्टान्त का सार यह है कि बछड़े की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चंचल चित्त हो गमन न करे।

श्लोक ३ :

१३ श्लोक ३ :

द्वितीय श्लोक में भिक्षा के लिए जाते समय अव्याक्षिप्त चित्त से और मंद गति से चलने की विधि कही है। इस श्लोक में भिक्षु किस प्रकार और कहाँ दृष्टि रख कर चले इसका विधान है।

१४ आगे (पुरओ क) :

पुरतः—अग्रतः आगे के भाग को। चौथे चरण में 'च'—'च' शब्द आया है। जिनदास का कहना है कि 'च' का प्र

१—(क) अ० चू० : अणुव्विग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : उव्विग्गो नाम भीतो, न उव्विग्गो अणुव्विग्गो, परीसहाणं अभीतत्ति वुत्तं भवति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अनुद्विग्नः' प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत्।

२—(क) अ० चू० : वक्खित्तं आकुलमिति, न कहिंचि आकुलमिति 'चेयसा' चित्तेण।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : अव्वक्खित्तेण चेयसा नाम जो अट्टज्झाणोवगतो न भवति तस्सेवाविधेयणबत्तो।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा' वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वनाक्षिप्तेन 'चेतसा' अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेन।

है—कुत्ते आदि से रक्षा की दृष्टि से दोनों पार्श्व और पीछे भी उपयोग रखना चाहिए[1]।

१५. युग-प्रमाण भूमि को (जुगमायाए [क] …महिं [ख]) :

ईर्या-समिति की यतना के चार प्रकार है[2]। यहाँ द्रव्य और क्षेत्र की यतना का उल्लेख किया गया है। जीव जन्तुओं को देखकर चलना यह द्रव्य-यतना है। युग-मात्र भूमि को देखकर चलना यह क्षेत्र-यतना है[3]।

जिनदास महत्तर ने युग का अर्थ 'शरीर' किया है[4]। शान्त्याचार्य ने युग-मात्र का अर्थ चार हाथ प्रमाण किया है[5]। युग शब्द का लौकिक अर्थ है गाड़ी का जुआ। वह लगभग साढ़े तीन हाथ का होता है। मनुष्य का शरीर भी अपने हाथ से इसी प्रमाण का होता है। इसलिए युग का 'सामयिक' अर्थ शरीर किया है।

यहाँ युग शब्द का प्रयोग द्व्यर्थक—दो अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए है। सूत्रकार इसके द्वारा ईर्या-समिति के क्षेत्र-मान और उसके संस्थान इन दोनों की जानकारी देना चाहते हैं।

युग शब्द गाड़ी से सम्बन्धित है। गाड़ी का आगे का भाग सकड़ा और पीछे का भाग चौड़ा होता है। ईर्या-समिति से चलने वाले मुनि की दृष्टि का संस्थान भी यही बनता है[6]।

यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाए तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिए शरीर-प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने की व्यवस्था की गई है[7]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जुगमादाय' ऐसा पाठ-भेद माना है। उसका अर्थ है—युग को ग्रहण कर अर्थात् युग जितने क्षेत्र को लक्षित कर भूमि को देखता हुआ चले[8]।

१—(क) अ० चू० पुरतो अग्गतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ पुरओ नाम अग्गओ × × × × चकारेण य सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो।

२—उत्त० २४ ६ दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जायणा चउव्विहा वुत्ता त मे कित्तयओ सुण॥

३—उत्त० २४ ७-८ दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्त च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा उवउत्ते य भावओ॥
इन्दियत्थे विवज्जित्ता सज्झाय चेव पचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रिय रिए॥

४—जि० चू० पृ० १६८ जुग सरीर भण्णइ।

५—उत्त० २४ ७ बृ० वृ० युगमात्र च चतुर्हस्त प्रमाण प्रस्तावात् क्षेत्र।

६—(क) अ० चू० जुगमिति बलिवद्दसदाणण सरीर वा तावम्मत्त पुरतो, अतो सकुयाए बाहि वित्थडाए दिट्ठीए, मावाए मात्रासद्दो अवधारणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ तावमेत्त पुरओ अतो सकुडाए बाहि वित्थडाए सगडुद्धिसठियाए दिट्ठीए।

७—(क) अ० चू० 'सुहुमसरीरे दूरतो ण पेच्छति' त्ति न परतो 'आसण्णो न तरति सहसा वट्टावेतु' वि ण आरतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ दूरनिपायदिट्ठी पुण विप्पगिट्ठ सुहुमसरीर वा सत्त न पासइ, अतिसन्निकिट्ठदिट्ठीवि सहसा दट्ठूण ण सक्केइ पाद पडिसाहरिउ, चकारेण य सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो।

८—अ० चू० अहवा "पुरतो जुगमादाय" इति चक्खुसा तावतिय परिगिज्झ पेहमाण इति, एतेण अग्गत इक्खणेण, आसादिपतण रक्खणत्थ अतरतरे पासतो मग्गतो य इक्खमाणो।

'सव्वओ जुगमायाए' इस पाठ-भेद का निर्देश भी दोनों चूर्णिकार करते हैं। इसका अर्थ है थोड़ी दूर चलकर दोनों पार्श्वों में और पीछे अर्थात् चारों ओर युग-मात्र भूमि को देखना चाहिए[1]।

१६ बीज, हरियाली (बीयहरियाइं ग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि के अनुसार बीज से वनस्पति के दस प्रकारों का ग्रहण होता है। वे ये हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। 'हरित' शब्द के द्वारा बीजरुह वनस्पति का निर्देश किया है[3]। जिनदास महत्तर की चूर्णि के अनुसार 'हरित' शब्द वनस्पति का सूचक है[4]।

१७ प्राणी (पाणे ग) :

प्राण शब्द द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संग्राहक है[5]।

१८ जल तथा सजीव मिट्टी (दगमट्टियं ग)

'दगमट्टियं' शब्द आगमों में अनेक जगह प्रयुक्त है। अखण्ड-रूप में यह भीगी हुई सजीव मिट्टी के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आचाराङ्ग (२.१.२२४) में यह शब्द आया है। वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने वहाँ इसका अर्थ उदक-प्रधान मिट्टी किया है[6]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस श्लोक तथा इसी अध्ययन के पहले उद्देशक के २६ वें श्लोक में आए हुए 'दग' और 'मट्टिया' इन दोनों शब्दों को अलग-अलग ग्रहण कर व्याख्या करते हैं। टीकाकार हरिभद्र ने अपनी आवश्यक वृत्ति में इसकी व्याख्या अखंड और खण्ड—दोनों प्रकार से की है। निशीथ चूर्णिकार ने भी इसके दो विकल्प किये हैं।

हरिभद्र कहते हैं 'च शब्द से तेजस्काय और वायुकाय का भी ग्रहण करना चाहिए'। चूर्णिकार इस के अनुसार

१—(क) अ चू : पासंतरं वा 'सव्वतो जुगमाताए' भणति अग्गंतरं पासितूणं।
(ख) जि चू पृ० १६८ : अन्ने पढंति—'सव्वतो जुगमायाए' णाऊणं गंतूणं पासओ पिट्ठओ य निरिक्खियव्वं।

२—(क) अ चू : 'बीय-हरियाइं' एतेण वणस्सतिभेदा पसूय ति बीय हरितग्गहणं बीयग्गहणेण वा दस भेदा भणिता।
(ख) जि चू पृ १६ : बीयग्गहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिन्नस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं।

३—अ चू : हरितग्गहणेण वा बीयरुहा त भणिता।

४—जि चू पृ० १६८ : अहवा हरितग्गहणेण सव्ववणप्फई गहिता।

५—(क) अ चू : 'पाणा' बेइंदियादितसा।
(ख) जि चू पृ १६८ : पाणग्गहणेण बेइंदियादीणं तसाणं गहणं।
(ग) हा० टी प १६४ : 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्।

६—आचा २.१.२२४ वृ : उदक प्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति।

७—(क) अ चू : ओसादि भेदं पाणितं दगं मट्टिया अच्चित्तसचित्तपुढविक्कातो।
(ख) जि चू पृ १६६ : दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ मट्टियागहणेणं जो पुढविक्काओ अडवीओ आणिओ सच्चित्तो सन्निवेसे वा गामे वा तस्स गहणं।
(ग) हा टी प १६३ : 'उदकम्' अप्कायं 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं।

८—आ हा वृ पृ० ५७३ : दगमृत्तिका चिक्खल्लम् अथवा दकग्रहणादप्कायः मृत्तिका ग्रहणात् पृथ्वीकायः।

९—नि० चू (४.३८) सचित्तमीसे, कोमारा-मट्टिया अहवा दगं मट्टिया।

१०—हा० टी प १६४ : च शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः।

दगमट्टिका के ग्रहण से अग्नि और वायु का भी ग्रहण करना चाहिये[1]।

१६. श्लोक ४-६ :

चौथे श्लोक में किस मार्ग से साधु न जाय, इसका उल्लेख है। वर्जित-मार्ग से जाने पर जो हानि होती है, उसका वर्णन पाँचवें श्लोक में है। छट्ठे श्लोक में पाँचवे श्लोक में वताये हुए दोषों को देखकर विषम-मार्ग से जाने का पुन निषेध किया है। यह औत्सर्गिक-मार्ग है। कभी चलना पड़े तो सावधानी के साथ चलना चाहिए—यह अपवादिक-मार्ग छट्ठे श्लोक के द्वितीय चरण में दिया हुआ है।

श्लोक ४ :

२०. गड्ढे (ओवायं [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'अवपात' का अर्थ 'खड्ढा' या 'गड्ढा' किया है[2]। अगस्त्यसिंह ने नीचे गिरने को 'अवपात कहा है[3]।

२१. ऊबड़-खाबड़ भू-भाग (विसमं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने खड्ढा, कूप, झिरिंड (जीर्ण कूप) और ऊँचे-नीचे स्थान को 'विषम' कहा है[4]। जिनदास और हरिभद्र ने निम्नोन्नत स्थान को 'विषम' कहा है[5]।

२२. कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल (खाणुं [क]) :

कुछ ऊपर उठे हुए काष्ठ विशेष को स्थाणु कहते हैं[6]।

२३. पंकिल मार्ग को (विज्जलं [ख]) :

यानी सूख जाने पर जो कर्दम रहता है उसे 'विजल' कहते हैं। कर्दमयुक्त मार्ग को 'विजल' कहा जाता है[7]।

१—(क) अ० चू० गमणे अग्गिस्स मदो सभवो, दाहभएण य परिहरिज्जति वायुराकाशव्यापीति ण सव्वहा परिहरणमिति न साक्षादभिधानमिति। प्रकारवयणेण वा सव्वजीवणिकायाभिहाण, तावमपि वज्जितो।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ एगग्गहणे गहण तज्जाईयाणमितिकाउ अगणिवाउणोवि गहिया।

२—(क) जि० चू० पृ० १६६ ओवाय नाम खड्ढा, जत्थ हेट्ठाभिमुहेहिं अवयरिज्जइ।
(ख) हा० टी० प० १६४ 'अवपात' गर्तादिरूपम्।

३— अ० चू० अहो पतणमोवातो।

४—अ० चू० खड्ढा-कूव-झिरिंढाती णिराणुण्णय विसम।

५—(क) जि० चू० पृ० १६६ विसम नाम निराणुराणय।
(ख) हा० टी० प० १६४ 'विषम' निम्नोन्नतम्।

६—(क) अ० चू० णाति उच्चो उद्धट्टिय दारुविसेसो खाणू।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ खाणू नाम कट्ठ उद्धाहुत्त।
(ग) हा० टी० प० १६४ 'स्थाणुम्' ऊर्ध्वकाष्ठम्।

७—(क) अ० चू० विगयमात्र जतो जल त विज्जल (चिक्खलो)।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ - विगय जल जत्य त विजल।
(ग) हा० टी० प० १६४ विगतजल कर्दमम्।

'सव्वतो छुगमायाय' इस पाठ-भेद का निर्देश भी दोनों चूर्णिकार करते हैं। इसका अर्थ है थोड़ी दूर चलकर दोनों पार्श्वों में और पीछे अर्थात् चारों ओर युग मात्र भूमि को देखना चाहिए[1]।

१६ बीज, हरियाली (बीयहरियाइं ख)

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि के अनुसार बीज से वनस्पति के दस प्रकारों का ग्रहण होता है। वे ये हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज[2]। 'हरित' शब्द के द्वारा बीजरुह वनस्पति का निर्देश किया है[3]। जिनदास महत्तर की चूर्णि के अनुसार 'हरित' शब्द वनस्पति का सूचक है[4]।

१७ प्राणी (पाणे ग):

प्राण शब्द द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संग्राहक है[5]।

१८ जल तथा सजीव मिट्टी (दगमट्टियं घ)

'दगमट्टियं' शब्द आगमों में अनेक जगह प्रयुक्त है। अखण्ड-रूप में यह भीगी हुई सजीव मिट्टी के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आचाराङ्ग (२.१.२२४) में यह शब्द आया है। वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने वहाँ इसका अर्थ उदक-प्रधान मिट्टी किया है[6]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस श्लोक तथा इसी अध्ययन के पहले उद्देशक के २६ वें श्लोक में आए हुए 'दग' और 'मट्टिया' इन दोनों शब्दों को अलग-अलग ग्रहण कर व्याख्या करते हैं[7]। टीकाकार हरिभद्र ने अपनी आवश्यक वृत्ति में इसकी व्याख्या अखंड और खण्ड—दोनों प्रकार से की है[8]। निशीथ चूर्णिकार ने भी इसके दो विकल्प किये हैं[9]।

हरिभद्र कहते हैं 'च' शब्द से तेजस्काय और वायुकाय का भी ग्रहण करना चाहिए[10]। चूर्णिकार इस के अनुसार

१—(क) अ० चू०: पाठंतरं वा 'सव्वतो छुगमायाय' ताति अब्भंतरं णातिदूरं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: अन्ने पढंति—'सव्वतो छुगमायाए' णातिदूरं गंतूणं पासओ पिट्ठओ य निरिक्खियव्वं।
२—(क) अ० चू०: 'बीय-हरियाइं' एतेण वणस्सतिभेदा पसूया त्ति बीय हरितग्गहणं बीयग्गहणेण वा दस भेदा भणिता।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: बीयग्गहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिन्नस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं।
३—अ० चू०: हरितग्गहणेण वे बीयरुहा ते भणिता।
४—जि० चू० पृ० १९८: अहवा हरितग्गहणेण सव्ववणप्फई गहिया।
५—(क) अ० चू०: 'पाणा' बेइंदियादिणो तसा।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: पाणग्गहणेणं बेइंदियादीणं तसाणं गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६३: 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्।
६—आचा० २.१.२२४ वृ०: उदक प्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति।
७—(क) अ० चू०: ओसादि भेदं पाणितं दगं मट्टियाग्गहणेणेसाऽऽसिज्जमाणितो।
(ख) जि० चू० पृ० १९९: दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टियागहणेणं जो पुढविक्काओ अरण्णाओ आणिओ सच्चित्तो वा गामे वा तस्स गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६३: 'उदकम्' अप्कायं 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं।
८—आ० हा० वृ० पृ० ५७४: उदकमृत्तिका चिक्खल्लम्, अथवा उदकग्रहणादप्कायः मृत्तिका ग्रहणात् पृथ्वीकायः।
९—नि० चू० (७.७४) दगपासीयं कोमारा-मट्टिया अहवा दगं मट्टिया।
१०—हा० टी० प० १६३: च शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः।

श्लोक ६ :

२७. दूसरे मार्ग के होते हुए (सइ अन्नेण मग्गेण ग) :

'सति' अर्थात् अन्य मार्ग हो तो विषम मार्ग से न जाया जाए[1]। दूसरा मार्ग न होने पर साधु विषम मार्ग से भी जा सकता है, इस अपवाद की सूचना इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

'अन्नेण मग्गेण' हरिभद्रसूरि के अनुसार यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग है[2]।

२८. यतनापूर्वक जाय (जयमेव परक्कमे घ) :

'जयं'—यतम् शब्द क्रिया-विशेषण है। परक्कमे (पराक्रमेत्) क्रिया है। यतनापूर्वक अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना का परिहार करते हुए चले। गर्ताकीर्ण आदि मार्गों से जाने का निषेध है पर यदि अन्य मार्ग न हो तो गर्ताकीर्ण आदि मार्ग से ही इस प्रकार जाय कि आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो[3]।

२९. अगस्त्य चूर्णि में छठे श्लोक के पश्चात् निम्न श्लोक आता है :

चलं कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि संकमो।
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

इसका अर्थ है हिलते हुए काष्ठ, शिला, ईंट एवं संक्रम पर से साधु न जाए। कारण ज्ञानियों ने वहाँ असंयम देखा है।

चूर्णिकार के अनुसार दूसरी परम्परा के आदर्शों में यह श्लोक यहाँ नहीं है, आगे है[4]। किन्तु उपलब्ध आदर्शों में यह श्लोक नहीं मिलता। जिनदास और हरिभद्र की व्याख्या के अनुसार ६४ वें श्लोक के पश्चात् इसी आशय के दो श्लोक उपलब्ध होते हैं।

होज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठविय संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिए समाहिए॥ ६६॥

श्लोक ७ :

३०. श्लोक ७ :

चलते समय साधु किस प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों की यतना करे—इसका वर्णन इस श्लोक में है।

१—(क) अ० चू० सतीति विज्जमाणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ 'सति' त्ति जदि अण्णो मग्गो अत्थि तो तेण न गच्छेज्जा।
२—हा० टी० प० १६४ 'सति-अन्येन' इति—अन्यस्मिन् समादौ 'मार्गेण' इति मार्गे, छान्दसत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया।
३—(क) अ० चू० असति जयमेव ओवातातिणा परक्कमे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ जयमेव परक्कमे णाम जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजमविराहणा ण भवइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ असति त्वन्यस्मिन्मार्गे तेनैवावपातादिना यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति। यतमिति क्रियाविशेषणम्।
४—अ० चू० अय केसिंचि सिलोगो उवरिं भणिहिति।

श्लोक ६ :

२७. दूसरे मार्ग के होते हुए (सइ अन्नेण मग्गेण ग) :

'सति' अर्थात् अन्य मार्ग हो तो विषम मार्ग से न जाया जाए[1]। दूसरा मार्ग न होने पर साधु विषम मार्ग से भी जा सकता है, इस अपवाद की सूचना इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

'अन्नेण मग्गेण' हरिभद्रसूरि के अनुसार यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग है[2]।

२८. यतनापूर्वक जाय (जयमेव परक्कमे घ) :

'जय'—यतम् शब्द क्रिया-विशेषण है। परक्कमे (पराक्रमेत्) क्रिया है। यतनापूर्वक अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना का परिहार करते हुए चले। गर्ताकीर्ण आदि मार्गों से जाने का निषेध है पर यदि अन्य मार्ग न हो तो गर्ताकीर्ण आदि मार्ग से ही इस प्रकार जाय कि आत्म-विराधना और सयम-विराधना न हो[3]।

२९. अगस्त्य चूर्णि में छठे श्लोक के पश्चात् निम्न श्लोक आता है

चल कट्ठ सिल वा वि, इट्टाल वा वि सकमो।
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असजमो॥

इसका अर्थ है हिलते हुए काष्ठ, शिला, ईंट एव सक्रम पर से साधु न जाए। कारण ज्ञानियों ने वहाँ असयम देखा है।

चूर्णिकार के अनुसार दूसरी परम्परा के आदर्शों में यह श्लोक यहाँ नहीं है, आगे है[4]। किन्तु उपलब्ध आदर्शों में यह श्लोक नहीं मिलता। जिनदास और हरिभद्र की व्याख्या के अनुसार ६४ वें श्लोक के पश्चात् इसी आशय के दो श्लोक उपलब्ध होते हैं।

होज्ज कट्ठ सिल वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठविय संकमट्ठाए, त च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गभीर झुसिर चेव, सव्विदिए समाहिए॥ ६६॥

श्लोक ७ :

३०. श्लोक ७ :

चलते समय साधु किस प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों की यतना करे—इसका वर्णन इस श्लोक मे है।

१—(क) अ० चू० सतीति विज्जमाणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ 'सति' त्ति जदि अण्णो मग्गो अत्थि तो तेण न गच्छेज्जा।

२—हा० टी० प० १६४ 'सति-अन्येन' इति—अन्यस्मिन् समादौ 'मार्गेण' इति मार्गे, छान्दसत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया।

३—(क) अ० चू० असति जयमेव ओवातातिणा परक्कमे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ जयमेव परक्कमे णाम जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसजमविराहणा ण भवइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ असति त्वन्यस्मिन्मार्गे तेनैवावपातादिना ··· यतमात्मसयमविराधनापरिहारेण यायादिति। यतमिति क्रियाविशेषणम्।

४—अ० चू० अय केसिचि सिलोगो उवरिं भण्णिहिति।

३१ सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से (ससरक्खेहिं पायेहिं ग)

जिनदास और हरिभद्र ने इसका अर्थ किया है—सचित्त पृथ्वीकाय के रज-कण से गुण्ठित पैरों से[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने राख-जैसे सूक्ष्म रज-कणों को 'ससरक्ख' माना है तथा 'पाय' शब्द को जाति में एकवचन माना है[2]।

'ससरक्खेहिं' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पण नं० ६६ (पृ० १६ -६१)।

३२ कोयले (इंगाल 'रासिं घ) :

आङ्गार-राशि—अङ्गार के ढेर। अङ्गार—पूरी तरह न जली हुई लकड़ी का बुझा हुआ अवशेष। इसका अर्थ दहकता हुआ कोयला भी होता है[3]।

३३ ढेर के (रासिं घ) :

मूल में 'राशि' शब्द 'क्षारिय', 'तुस' इन के साथ ही है पर इसे 'इंगाल' और 'गोमय' के साथ भी जोड़ लेना चाहिए।

श्लोक ८ :

३४ श्लोक ८

इस श्लोक में जल, वायु और तिर्यग् जीवों की विराधना से बचने की दृष्टि से चलने की विधि बतलाई है।

३५ वर्षा बरस रही हो (वासे वासंते क)

भिक्षा का काल होने पर यदि वर्षा हो रही हो तो भिक्षु बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के बाद यदि वर्षा होने लगे तो वह ढंके हुए स्थान में खड़ा हो जाए, आगे न जाए[5]।

३६ कुहरा गिर रहा हो (महियाए व पडंतिए ख) :

कुहरा प्रायः शिशिर ऋतु में—गर्भ-मास में पड़ा करता है। ऐसे समय में भिक्षु भिक्षा-चर्या के लिए गमन न करे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १६९ : ससरक्खेहिं—सचित्तपुढविरएहिं।
(ख) हा० टी० प० १६४ : सचित्तपृथिवीरजोगुण्ठिताभ्यां पादाभ्याम्।

२—अ० चू० : 'ससरक्खेण' सरक्खो—छारसरिसो पुढविरतो सह सरक्खेण ससरक्खो तेण पाएण एगवयणं जातीए एकत्तो।

३—(क) अ० चू० : 'इंगालो' खदिरादीण दड्ढेल्लाणं तं इंगालं।
(ख) हा० टी० प० १६४ : आङ्गारमिति—अङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गारं राशिम्।

४—(क) अ० चू० : रासि सद्दो पुण इंगालछारियाए वट्टति। 'तुसरासिं' च 'गोमयं' एत्थवि रासि त्ति वत्तव्वे वट्टति।
(ख) हा० टी० प० १६४ : राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते।

५—(क) अ० चू० : न इति पडिसेहसद्दो चरणं गोचरस्स तं पडिसेहेति 'वासं' मेघो तम्मि पडिते पुहुत्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : नकारो पडिसेहे वट्टइ चरेज्ज नाम भिक्खस्स अट्ठा गच्छमाणि वासं पडिउमेव तंमि वासे वरिसमाणे न चरिज्जा, उत्तिण्णेण य ... रुक्खादि ... ठाइऊण ठाइ ...
(ग) हा० टी० प० १६४ : न चरेद्वर्षति भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।

६—(क) जि० चू० पृ० १७० : महिया पायसो सिसिरे गब्भमासे पडइ, तत्थवि वट्टमाणीए णो चरेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६४ : महिकायां वा पतन्त्यां सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति।

३७. महावात चल रहा हो (महावाये व वायंते [ग]) :

महावात से रज उड़ता है। शरीर के साथ उसका आघात होता है, इससे सचित्त रज की विराधना होती है। अचित्त रज आँखों में गिरता है। इन दोषों को देख भिक्षु ऐसे समय गमन न करे[१]।

३८. मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों (तिरिच्छसंपाइमेसु वा [घ]) :

जो जीव तिरछे उड़ते हैं उन्हें तिर्यक् सम्पातिम जीव कहते हैं। वे भ्रमर, कीट, पतग आदि जन्तु हैं[२]।

श्लोक ९ :

३९. श्लोक ९-११ :

भिक्षा के लिए निकले हुए साधु को कैसे मुहल्ले से नही जाना चाहिए इसका वर्णन ९ वें श्लोक के प्रथम दो चरण में हुआ है। वेश्या-गृह के समीप जाने का निषेध है। इस श्लोक के अन्तिम दो चरण तथा १० वें श्लोक में वेश्या-गृह के समीप जाने से जो हानि होती है, उसका उल्लेख है। ११ वें श्लोक में दोष-दर्शन के वाद पुन' निषेध किया गया है।

४०. ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि (बंभचेरवसाणुए [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका अर्थ ब्रह्मचर्य का वशवर्ती होता है और यह मुनि का विशेषण है[३]। जिनदास महत्तर ने 'बभचेरवसाणुए' ऐसा पाठ मानते हुए भी तथा टीकाकार ने 'बभचेरवसाणए' पाठ स्वीकृत कर उसे 'वेससामते' का विशेषण माना है और इसका अर्थ ब्रह्मचर्य को वश में लाने (उसे अधीन करने) वाला किया है[४]। किन्तु इसे 'वेससामते' का विशेषण मानने से 'चरेज' क्रिया का कोई कर्ता शेष नहीं रहता, इसलिए तथा अर्थ-सगति की दृष्टि से यह साधु का ही विशेषण होना चाहिए। अगस्त्य-चूर्णि में 'बभचारिवसाणुए' ऐसा पाठान्तर है। इसका अर्थ है—ब्रह्मचारी—आचार्य के अधीन रहने वाला मुनि[५]।

४१. वेश्या बाड़े के समीप (वेससामंते [क]) :

जहाँ विषयार्थी लोक प्रविष्ट होते हैं अथवा जो जन-मन में प्रविष्ट होता है वह 'वेश' कहलाता है[६]। यह 'वेश' शब्द का

१—(क) अ० चू० वाउक्काय जयणा पुण 'महावाते' अतिसमुद्धुतो मारुतो महावातो, तेण समुद्धुतो रतो वाउक्कातो य विराहिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १७० महावातो रय समुद्धुणइ, तत्थ सचित्तरयस्स विराहणा, अचित्तोवि अच्छीणि भरेज्जा एवमाई दोसत्तिकाऊण ण चरेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६४ महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोपात्।

२—(क) अ० चू० तिरिच्छसपातिमा पतगादतो तसा, तेछ पभूतेछ सपयतेछ ण चरेज्जा इति वट्टति।

(ख) जि० चू० पृ० १७० तिरिच्छ सपयतीति तिरिच्छसपाइमा, ते य पयगादी।

(ग) हा० टी० प० १६४ तिर्यक्सपतन्तीति तिर्यक्सम्पाता'—पतङ्गाद्य।

३—अ० चू० 'बभचेरवसाणुए' बंभचेर मेहुणवज्जणव्रत तस्स वसमणुगच्छति ज बभचेरवसाणुगो साधू।

४—(क) जि० चू० पृ० १७० जम्हा तमि वेससामन्ते हिंडमाणस्स बभचेरव्वय वसमाणिज्जतित्ति तम्हा त वेससामत बभचेरवसाणुग भण्णइ, तमि वभचेरवसाणुए।

(ख) हा० टी० प० १६५ ब्रह्मचर्यवशानयने (नये) ब्रह्मचय—मैथुनविरतिरूप वशमानयति—आत्मायत्त करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयन तस्मिन्।

५—अ० चू० बभचारिणो गुरुणो तेसि वसमणुगच्छतीति बभचेर (? चारि) वसाणुए, तस्स बभचेरवसाणुगस्स।

६—अ० चू० 'वेससामन्ते' पविसति त विसयात्थिणो त्ति वेसा, पविसति वा जणमणेसु वेसो।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है नीच स्त्रियों का समवाय[1]। अमरकीर्ति ने 'वेश' का अर्थ वेश्या का बाड़ा किया है[2]।

अभिधान चिन्तामणि में इसके तीन पर्यायवाची नाम हैं[3]।

जिनदास महत्तर ने 'वेश' का अर्थ वेश्या किया है[4]। टीकाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं[5] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से पहला अर्थ ही संगत है। 'सामन्त' का अर्थ समीप है[6]। समीप के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग आगमों में बहुत स्थलों में हुआ है[7]। जिनदास कहते हैं—साधु के लिये वेश्या-गृह के समीप जाना भी निषिद्ध है। वह उसके घर में तो जा ही कैसे सकता है[8]।

४२ विस्रोतसिका (विसोत्तिया [क]):

विस्रोतसिका का अर्थ है—सारणिनिरोध जलागम के मार्ग का निरोध या किसी वस्तु के आने का स्रोत रुकने पर उसका दूसरी ओर बह जाना। चूर्णिकार विस्रोतसिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं: जैसे—कूड़े-करकट के द्वारा जल आने का मार्ग रुक जाने पर उसका बहाव दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के हाव भाव देखनेवालों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आगम-स्रोत रुक जाता है और संयम की खेती सूख जाती है।

श्लोक १०

४३ अस्थान में (अणायणे [क])

सावद्य, अशोधि-स्थान, कुशील और संसर्ग—ये अनायतन के पर्यायवाची नाम हैं। इसका प्राकृत रूप दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—अणाययण और अणायण। अणाययण के यकार का लोप और अकार की संधि करने से अणायण बनता है[11]।

१—अ० चू०: स पुण णीयइत्थिसमवातो।

२—द० ना० श्लो० ५१ का भाष्य पृ० १७: वेसो वेस्यावाडे भवा वेस्या।

३—अ० चि० ४.११: वेश्याऽऽश्रयः पुरं वेशः।

४—जि० चू० पृ० १७०: वेसाओ दुप्पचारियाओ असहाओवि ताओ दुप्पचारियाकम्मेण वहंति ताओवि वेसाओ चेव।

५—हा० टी० प० १६५: 'न चरेद् वेशसामन्ते' न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे।

६—अ० चू०: सामंते समीवे वि किमुत तम्मि चेव।

७—भग० १.१ पृ० ११: अदूरसामन्ते।

८—जि० चू० पृ० १७०: सामन्तं नाम तासिं गिहसमीवं तमवि वज्जणीयं किमंग पुण तासिं गिहाणि?

९—अ० चू०: विस्रोतसा प्रवृत्तिः—विस्रोतसिका विसोत्तिया सा दव्वविसोत्तिया—आगमदुवारओ णत्थाउ। दव्व विसोत्तिया कयवरादीहिं सारणिनिरोहो अन्नत्तोगमणमणुदयस्स। भाव विसोत्तिया वेसित्थिदंसणविब्भमविवेगिणिहसित-विब्भमेहिं रागावलोअणो समाहिसारणीअस्स णाण-दंसण-चरित्तस्सविरावसो भवति।

१०—(क) जि० चू० पृ० १७१: दव्वविसोत्तिया जहा सारणिपाणियं कयवराइणा आगमसोते निरुद्धे अन्नतो पवहइ तओ तं सस्सं सुक्खइ सा दव्वविसोत्तिया तासिं वेसाणं भावविब्भेमियाणं हसियादी पासंतस्स नाणदंसणचरित्ताणं आगमो निरुज्झति, तओ संजमसस्सं सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया।

(ख) हा० टी० प० १६५: 'विस्रोतसिका' तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमसस्य (व) शुष्कता चित्तविप्लुतिका।

११—ओ० नि० ७८२:

सावज्जमणाययणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी।
एगट्ठा होंति पया एते विवरीय आययणा॥

४४. वार-वार जाने वाले के···संसर्ग होने के कारण (संसग्गीए अभिक्खणं ख) :

इसका सम्बन्ध 'चरतस्स' से है। 'अभीक्ष्ण' का अर्थ है वार-वार[1]। अस्थान में वार-वार जाने से ससर्ग (सम्बन्ध) हो जाता है। ससर्ग का प्रारम्भ दर्शन से और उसकी परिसमाप्ति प्रणय में होती है[2]।

४५. व्रतों की पीड़ा (विनाश) (वयाणं पीला ग) :

'पीड़ा' का अर्थ विनाश अथवा विराधना होता है[3]। वेश्या-ससर्ग से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है किन्तु सभी व्रतों का नाश कैसे सभव है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को त्याग देता है, इसलिए उसके सारे व्रत टूट जाते हैं। कोई श्रमण श्रामण्य को न भी त्यागे, किन्तु मन भोग में लगे रहने के कारण उसका ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है। वह चित्त की चचलता के कारण एषणा या ईर्या की शुद्धि नहीं कर पाता, उससे अहिंसा-व्रत की पीड़ा होती है। वह इधर-उधर रमणियों की तरफ देखता है, दूसरे पूछते हैं तब झूठ बोलकर दृष्टि-दोष को छिपाना चाहता है, इस प्रकार सत्य-व्रत की पीड़ा होती है। तीर्थङ्करों ने श्रमण के लिए स्त्री-सग का निषेध किया है, स्त्री-सग करने वाला उनकी आज्ञा का भग करता है, इस प्रकार अचौर्य-व्रत की पीड़ा होती है। स्त्रियों में ममत्व करने के कारण उसके अपरिग्रह-व्रत की पीडा होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य व्रत पीड़ित होने से सब व्रत पीड़ित हो जाते हैं[4]।

यहाँ हरिभद्रसूरि 'तया च वृद्ध-व्याख्या' कहकर इसी आशय को स्पष्ट करने वाली कुछ पक्तियाँ उद्धृत करते हैं[5]। ये दोनों चूर्णिकारों की पक्तियों से भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके सामने चूर्णियों के अतिरिक्त कोई दूसरी भी वृद्ध-व्याख्या रही है।

४६. श्रामण्य में सन्देह हो सकता है (सामण्णम्मि य संसओ घ) :

इस प्रसङ्ग में श्रामण्य का मुख्यार्थ ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय-विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन श्रमण को उसकी साधना में

१—(क) अ० चू० त चरित्तादीण गुणाण, तम्मि 'चरन्तस्स' गच्छन्तस्स 'ससग्गी' सपक्को "ससग्गीए अभिक्खण" पुणो पुणो। किंच
सदसणेण पिती पीतीओ रती रतीतो वीसभो।
वीसभातो पणतो पचविह वड्ढइ पेम्म॥

(ख) जि० चू० पृ० १७१ पेम्मसामत अभिक्खण अभिक्खण एतजतस्स ताहिं सम ससग्गी जायति, भणिय च—
संदसणाओ पीई पीतीओ रती रती य वीसभो।
वीसभाओ पणओ पचविह वड्ढए पेम्म॥

२—हा० टी० प० १६५ 'अभीक्ष्ण' पुन पुन।

३—(क) अ० चू० होज्ज वताण पीला, होज्ज इति आससावयणमिद, आससिज्जति भवेद् वताण बभव्वत पहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ पीडानाम विणासो।

(ग) हा० टी० प० १६५ 'व्रताना' प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना।

४—जि० चू० पृ० १७१ जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुण पीडिय भवइ, तग्गयमाणसो य एसण न रक्खइ, तत्य पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—किं जोएसि ? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्यगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउ अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्त करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।

५—हा० टी० प० १६५ तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुण पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णायवेसाइदसणे अदत्तादाण, ममत्तकरणे परिग्गहो, एव सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण ससयो उण्णिक्खमणेण त्ति।

मुत्पत्तिकम् अर्थ है नीच स्त्रियों का समवाय[1]। अमरकीर्ति ने 'वेश' का अर्थ वेश्या का बाड़ा किया है[2]।

अभिधान चिन्तामणि में इसके तीन पर्यायवाची नाम हैं[3]।

जिनदास महत्तर ने 'वेस' का अर्थ वेश्या किया है[4]। टीकाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं[5] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से बाड़ा अर्थ ही संगत है। 'सामन्त' का अर्थ समीप है[6]। समीप के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग आगमों में बहुत स्थलों में हुआ है[7]। जिनदास कहते हैं—साधु के लिये वेश्या-गृह के समीप जाना भी निषिद्ध है। वह उसके घर में तो जा ही कैसे सकता है[8]।

४२ विस्रोतसिका (विसोत्तिया ग) :

विस्रोतसिका का अर्थ है—धारानिरोध, जलागम के मार्ग का निरोध या किसी वस्तु के आने का स्रोत रुकने पर उसका दूसरी ओर मुड़ जाना। चूर्णिकार विस्रोतसिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं : जैसे—कूड़े-करकट के द्वारा जल आने का मार्ग रुक जाने पर उसका बहाव दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के हाव भाव देखनेवाले के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आगम-स्रोत रुक जाता है और संयम की खेती सूख जाती है[9]।

श्लोक १०

४३ अस्थान में (अणायणे ग)

सावद्य, अशोधि-स्थान, कुशील और संसर्ग—ये अनायतन के पर्यायवाची नाम हैं। इसका प्राकृत रूप दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—अणायतण और अणायण। अणायतण के तकार का लोप और अकार की संधि करने से अणायण बनता है[11]।

१—अ० चू० : स पुण णीयइत्थिसमवाओ।

२—श्र० भा० सो० ३९ का भाष्य पृ० १७ : वेश वेश्यावाटे अथ वेश्या।

३—अ० चि० ४.११ : वेश्याऽऽश्रयः पुरं वेशः।

४—जि० चू० पृ० १७० : वेसाओ दुवक्खरियाओ अण्णाओवि जाओ दुवक्खरियाकम्मेण वट्टंति ताओवि वेसाओ चेव।

५—हा० टी० प० १६५ : न चरेद् वेश्यासामन्ते न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे।

६—अ० चू० : सामंतं समीवं ति किमुत तम्मि चेव।

७—भग० १.१ सू० ११ : अदूरसामन्ते।

८—जि० चू० पृ० १७० : सामंतं णाम तासिं गिहसमीवं तमवि बंभचारीणं किमंग पुण तासिं गिहाणि ?

९—अ० चू० : विसोत्तिया प्रवृत्तिः—विस्रोतसिका विसोत्तिका सा दव्वम्मि—आगमप्पवाओ गणाओ। दव्व विसोत्तिया कयवरादीहिं सारणिनिरोहो असंजोगमस्सुरगम्म। भाव विसोत्तिया वेसित्थिसविलासनिरिक्खण-हसित-विब्भमेहिं रागावरुद्धमणो णाणादि सारणीकम्म णाण-दंसण-चरित्तसविणासो भवति।

१०—(क) जि० चू० पृ० १७१ : दव्वविसोत्तिया जहा सारणिपाणियं कयवराइणा आगमसोत निरुद्धे अण्णतो गच्छइ तओ तं सस्सं सुक्खइ सा दव्वविसोत्तिया, तासिं वेसाणं भावविप्पेक्खियं हसियभासियादी पासंतस्स णाणदंसणचरित्ताणं आगमो निरुज्झति, तओ संजमसस्सं सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया।

(ख) हा० टी० प० १६५ : 'विस्रोतसिका' स्मृत्यन्तर्गतमपध्यानकचवारनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमसस्य (श) ष्कतफला विस्रोतसिका।

११—ओ० नि० ७८३ :

सावज्जमणायतणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी।
एगट्ठा होंति पया एए विवरीय आययणा॥

५१. कलह (कलहं ग) :

इसका अर्थ है—वाचिक झगड़ा[1] ।

५२. युद्ध (के स्थान) को (जुद्धं ग) :

युद्ध—आयुध आदि से होने वाली हनाहनी—मार-पीट[2] । कलह और युद्ध में यह अन्तर है कि वचन की लड़ाई को कलह और शस्त्रों की लड़ाई को युद्ध कहा जाता है ।

५३. दूर से टाल कर जाय (दूरओ परिवज्जए घ) :

मुनि ऊपर बताए गए प्रसङ्ग या स्थान का दूर से परित्याग करे । क्योंकि उपर्युक्त स्थानों पर जाने से आत्म विराधना, सयम-विराधना होती है[3] । समीप जाने पर कुत्ते के काट खाने की, गाय, बैल, घोड़े एव हाथी के सींग, पैर आदि से चोट लग जाने की सभावना रहती है । यह आत्म-विराधना है ।

क्रीड़ा करते हुए बच्चे धनुष से बाण चलाकर मुनि को आहत कर सकते हैं । वदन आदि के समय पात्रों को पैरों से फोड़ सकते हैं , उन्हें छीन सकते हैं । हरिभद्रसूरि के अनुसार यह सयम-विराधना है ।

मुनि कलह आदि को सहन न कर सकने से बीच में बोल सकता है । इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं[4] ।

श्लोक १३ :

५४. श्लोक १३ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के समय मुनि की मुद्रा कैसी रहे यह बताया गया है[5] ।

१—(क) अ० चू० कलहो वाधा-समधिक्खेवादि ।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ कलहो नाम वाइओ ।
　(ग) हा० टी० प० १६६ 'कलह' वाक्प्रतिबद्धम् ।

२—(क) अ० चू० जुद्ध आयुहादीहि हणाहणी ।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ जुद्ध नाम ज आउहकट्ठादीहिं ।
　(ग) हा० टी० प० १६६ 'युद्ध' खङ्गादिभि ।

३—हा० टी० प० १६६ 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसयमविराधनासम्भवात् ।

४—(क) अ० चू० अपरिवज्जणे—दोसो—साणो खाएज्जा, गावी मारेज्जा, गोण हत-गता वि, चेडरूवाणि परिवारेतु वदताणि भाण विराहेज्जा आहणेज्ज वा इट्टालादिणा, कलहे अणहियासो किंचि हणेज्ज भणेज्ज वा अजुत्त जुद्ध उम्मत्तकडादिणा हम्मेज्ज । प्रकारवयणेण एते समाणदोसे महिसादिणो वि दूरतो परिवज्जए ।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ सुणओ खाएज्जा, गावी मारिज्जा, गोणो मारेज्जा, एव हय-गयाणवि-मारणादिदोसा भवति, बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भाण भिंदिज्जा, कट्टाकट्टिवि करेज्जा, धणुविप्पमुक्केण वा कडेण आहणेज्जा' तारिस अणहियासतो भणिज्जा, एवमादि दोसा ।
　(ग) हा० टी० प० १६६ · श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतनभाजनभङ्गलुठनादिना सयमविराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति ।

५—अ० चू० इद तु सरीर—चित्तगतदोसपरिहरणत्थमुपदिस्सति ।

संदिग्ध बना देते हैं[1]। विषय में आसक्त बना हुआ श्रमण ब्रह्मचर्य के फल में सन्देह करने लग जाता है। इसका पूर्ण क्रम उत्तराध्ययन में बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के शंका कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चारित्र का नाश होता है, उन्माद बढ़ता है दीर्घकालिक रोग एवं आतंक उत्पन्न होते हैं और वह केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है[1]।

श्लोक ११

४७ एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का (एगंतं [2]) :

दोनों व्याख्याकारों ने 'एकान्त' का अर्थ मोक्ष-मार्ग किया है[2]। ब्रह्मचारी को विविक्त-शय्यासेवी होना चाहिए, इस दृष्टि से यहाँ 'एकान्त' का अर्थ विविक्त-चर्या भी हो सकता है।

श्लोक १२

४८ श्लोक १२ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के लिये जाता हुआ मुनि रास्ते में किस प्रकार के समागमों का या प्रसंगों का परिहार करता हुआ चले, यह बताया गया है। वह कुत्ते, नई ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी तथा क्रीड़ाशील बालकों आदि के समागम से दूर रहे। यह उपदेश आत्म-विराधना और संयम विराधना दोनों की दृष्टि से है।

४९ ब्याई हुई गाय (सूइयं गाविं [3])

प्रायः करके देखा गया है कि नव प्रसूता गाय आक्रमणशील—मारनेवाली होती है।

५० बच्चों के क्रीड़ा-स्थल (संडिब्भं [4]) :

जहाँ बालक विविध क्रीडाओं में रत हों (जैसे-धनुष आदि खेल रहे हों) उस स्थान को 'संडिब्भ' कहा जाता है।

१—(क) अ० चू० : सयमभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो 'विसयविसाभिभूयचित्तो समणभावं करेमि मा वा?' इति संदेहो परस्स पुव्वभिहितावत्थियारी किं बम्भचारी विरो वेसप्पवसो? त्ति संसओ।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : सामण्णं नाम समणभावो तंमि समणभावे संसओ भवइ किं ताव सामण्णं करेमि? उदाहु उप्पव्वयामित्ति? एवं संसयो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'श्रामण्ये च' श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावावेक्षणादौ संशय।

—उत्त० १६.१ : बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

२—(क) अ० चू० : एगंतो निरपवादो मोक्खगामी मग्गो तमस्सिते तं अस्सितो।

(ख) हा० टी० प० १६५ : 'एकान्तं' मोक्षमार्गम्।

३—(क) अ० चू० : गाविमसूइं ति किं पुण सूतियं।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : सूतिया गावी पायसो आइक्खणसीला भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'सूतां गाम्' अभिनवप्रसूतामित्यर्थः।

४—(क) अ० चू० : डिम्भाणि चेडरूवाणि ताणि जहिं खेलणएहिं खेल्लंताणं तेसिं समागमो संडिब्भं।

(ख) जि० चू० पृ० १७१-७२ : संडिब्भं नाम बालरूवाणि रमंति धणुहिं।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संडिब्भं' बालक्रीडास्थानम्।

५१. कलह (कलहं ग) :

इसका अर्थ है—वाचिक झगड़ा[1] ।

५२. युद्ध (के स्थान) को (जुद्धं ग) :

युद्ध—आयुध आदि से होने वाली हनाहनी—मार-पीट[2] । कलह और युद्ध में यह अन्तर है कि वचन की लड़ाई को कलह और शस्त्रों की लड़ाई को युद्ध कहा जाता है।

५३. दूर से टाल कर जाय (दूरओ परिवज्जए घ) :

मुनि ऊपर बताए गए प्रसङ्ग या स्थान का दूर से परित्याग करे। क्योंकि उपर्युक्त स्थानों पर जाने से आत्म विराधना, सयम-विराधना होती है[3] । समीप जाने पर कुत्ते के काट खाने की, गाय, बैल, घोड़े एव हाथी के सींग, पैर आदि से चोट लग जाने की सभावना रहती है। यह आत्म-विराधना है।

क्रीड़ा करते हुए बच्चे धनुष से बाण चलाकर मुनि को आहत कर सकते हैं। वदन आदि के समय पात्रों को पैरों से फोड़ सकते हैं, उन्हें छीन सकते हैं। हरिभद्रसूरि के अनुसार यह सयम-विराधना है।

मुनि कलह आदि को सहन न कर सकने से बीच में बोल सकता है। इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं[4] ।

श्लोक १३ :

५४. श्लोक १३ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के समय मुनि की मुद्रा कैसी रहे यह बताया गया है[5] ।

१—(क) अ० चू० कलहो बाधा-समधिक्खेवादि।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ कलहो नाम वाइओ।
(ग) हा० टी० प० १६६ 'कलह' वाक्प्रतिबद्धम्।

२—(क) अ० चू० जुद्ध आयुहादीहि हणाहणी।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ जुद्ध नाम ज आठहकट्ठादीहिं।
(ग) हा० टी० प० १६६ 'युद्ध' खड्गादिभि ।

३—हा० टी० प० १६६ 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसयमविराधनासम्भवात्।

४—(क) अ० चू० अपरिवज्जणे—दोसो—साणो खाएज्जा, गावी मारेज्जा, गोण हत-गता वि, चेडरूवाणि परिवारेतु वदताणि भाण विराहेज्जा आहणेज्ज वा इट्टालादिणा, कलहे अणहियासो किंचि हणेज्ज भणेज्ज वा अजुत्त जुद्ध उम्मत्तकढादिणा हम्मेज्ज। प्रकारवयणेण एते समाणदोसे महिसादिणो वि दूरतो परिवज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ छणओ घाएज्जा, गावी मारिज्जा, गोणो मारेज्जा, एव हय-गयाणवि-मारणादिदोसा भवति, बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भाण भिंदिज्जा, कट्टाकट्ठिवि करेज्जा, धणुविप्पमुक्केण वा कडेण आहणेज्जा' 'तारिस अणहियासतो भणिज्जा, एवमादि दोसा।
(ग) हा० टी० प० १६६ ' श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतनभण्डनप्रलुठनादिना सयमविराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति।

५—अ० चू० इद तु सरीर—चित्तगतदोसपरिहरणत्थमुपदिस्सति।

५५ न उन्नत होकर (अणुन्नए क)

उन्नत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-उन्नत और भाव-उन्नत[१]। जो मुंह ऊंचा कर चलता है—आकाशदर्शी होता है उसे 'द्रव्य-उन्नत' कहते हैं। जो दूसरों की हंसी करता हुआ चलता है जाति आदि आठ मदों से मत्त (अभिमानी) होता है वह 'भाव-उन्नत' कहलाता है। मुनि को भिक्षाचर्या के समय द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अनुन्नत होना चाहिए।

जो आकाशदर्शी होकर चलता है—ऊँचा मुंहकर चलता है वह ईर्या समिति का पालन नहीं कर सकता। लोग भी कहने लग जाते हैं—'देखो! यह श्रमण उन्मत्त की भाँति चल रहा है अवश्य ही यह विकार से भरा हुआ है।' जो भावना से उन्नत होता है वह दूसरों को तुच्छ मानता है। दूसरों को तुच्छ मानने वाला लोक-मान्य नहीं होता[२]।

५६ न अवनत होकर (नावणए क):

अवनत के भी दो भेद होते हैं: द्रव्य अवनत और भाव-अवनत। द्रव्य-अवनत उसे कहते हैं जो झुककर चलता है। भाव-अवनत उसे कहते हैं जो दीन व दुर्मन होता है और ऐसा सोचता है—"लोग असंयतियों की ही पूजा करते हैं। हमें कौन देगा? या हमें अच्छा नहीं देगा आदि।" जो द्रव्य से अवनत होता है वह मखौल का विषय बनता है। लोग उसे बगुलाभगत कहने लग जाते हैं। जैसे—बड़ा उपयोग-युक्त है कि इस तरह नीचे झुक कर चलता है। भाव से अवनत वह होता है जो क्षुद्र भावना से भरा होता है। श्रमणों को दोनों प्रकार से अवनत नहीं होना चाहिए[३]।

५७ न हृष्ट होकर (अप्पहिट्ठे क)

जिनदास महत्तर के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अल्प-हृष्ट' या 'अहृष्ट' बनता है। अल्प शब्द का प्रयोग अल्प और अभाव—इन दो अर्थों में होता है। यहाँ वह अभाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है[४]।

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अप्रहृष्ट' होता है[५]। 'प्रहृष्ट' विकार का सूचक है इसलिए इसका निषेध है।

१—जि० चू० पृ० १७२: "... दव्वुन्नओ भावुन्नओ ...... दव्वुन्नओ जो उस्सियं मुहेण गच्छइ, भावुन्नओ हिट्ठो विहसितं करेंतो गच्छइ जातिमादिएहिं वा अट्ठहिं मएहिं मत्तो।

२—जि० चू० पृ० १७२: दव्वुन्नतो इरियं न सोहेइ लोगोवि भणइ—उम्मत्तओ विव समणओ वच्चइ सविगारोत्ति, भावेवि जस्स से माणो गुरुयत्तं अस्थि संकप्पो अस्थित्ति अहवा भवगविओ य सव्वं लोगं पासति सो एवं अणुवसंतत्तणेण य लोगसम्मतो भवति।

३—(क) अ० चू०: अवणतो चतुब्भिहो—दव्वोणतो जो अवणयसरीरो गच्छति। भावोणतो 'कीस ण लभामि? किं वा कल्लामि? असंजता पतिज्जंति' इति दीणमणसो। दव्वतो ताव उवहसिता भवन्ति दोसो—दव्वुन्नतो रियं न सोहेति 'समणओ सविगारो' त्ति वा लोगो परिहति। दव्वावणतो 'अहो! बीयरागत्तजुत्तो सव्वपरसंजम या बीयसप्पाणं यावत्ति' त्ति एवं भएज्जा। भावतो उण्णताउण्णतं तु ववेतेण विभासियव्वत्ति।

(ख) जि० चू० पृ० १७२: लोगओवि वणमिओ...... दव्वोणओ जो ओणयसरीरो तुओ वा भावोणओ जो दीणमणो कीस गिहत्था मिच्छं न देंति? कहा सुंदरं देंति? असंजया पूयंति ...... दव्वोणतमवि उवहसंति अहा अहो बीयरागजुत्तओ तम्भावं एस (तव) गो अहवा सव्वपरसंजमं जीववरं अप्पाणं भावणाओ वहमति एवमादि, एवं करेता भावोणतं एवं चवेति अहा किमेतस्स वम्मरहस? कोहोऽणेण न निज्जिओत्ति एवमादी।

(ग) हा० टी० प० १६६: 'भावतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यावनतोऽवीचकाय भावावनत अकस्माद्विलसितदीना...... द्रव्यावनता बक इति संभाव्यते भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति।

४—जि० चू० पृ० १७२-७३: अप्पसद्दो अभावे थोवे य, इहं पुण अप्पसद्दो अभावे दट्ठव्वो अहरिसंतोत्ति वुत्तं भवति।

५—(क) अ० चू०: न हरिट्ठो अपहिट्ठो।

(ख) हा० टी० प० १६६: 'अप्रहृष्टः' अहसन्।

५८. न आकुल होकर (अणाउले ख) :

चलते समय मन नाना प्रकार के सकल्पों से भरा हो या श्रुत—सूत्र और अर्थ का चिन्तन चलता हो वह मन की आकुलता है। विषय-भोग सम्बन्धी बातें करना, पूछना या पढे हुए ज्ञान की स्मृति करना वाणी की आकुलता है। अगों की चपलता शरीर की आकुलता है। मुनि इन सारी आकुलताओं को वर्जकर चले[1]। टीकाकार ने अनाकुल का अर्थ क्रोधादि रहित किया है[2]।

५९. इन्द्रियों का उनके विषयों के अनुसार (इंदियाणि जहाभागं ग) :

जिनदास चूर्णि में 'जहाभाग' के स्थान पर 'जहाभाव' ऐसा पाठ है। पाठ-भेद होते हुए भी अर्थ मे कोई भेद नहीं है। 'यथाभाव' का अर्थ है—जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसका (दमन कर)। सुनना कान का विषय है, देखना चक्षु का विषय है, गन्ध लेना घ्राण का विषय है, स्वाद जिह्वा का विषय है, स्पर्श स्पर्शन का विषय है, इन विषयों का (दमन कर)[3]।

६०. दमन कर चले (दमइत्ता घ) :

कानों में पड़ा हुआ शब्द, आँखों के सामने आया हुआ रूप तथा इसीप्रकार दूसरी इन्द्रियों के विषय का ग्रहण रोका जा सके यह सम्भव नहीं किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष न किया जाय यह शक्य है। इसी को इन्द्रिय-दमन कहा जाता है[4]।

श्लोक १४ :

६१. श्लोक १४ :

इस श्लोक में मुनि आहार की गवेषणा के समय मार्ग में किस प्रकार चले जिससे लोक-दृष्टि में बुरा न लगे और प्रवचन की भी लघुता न हो उसकी विधि बताई गई है[5]।

६२. उच्च-नीच कुल में (कुलं उच्चावयं घ) :

कुल का अर्थ सम्बन्धियों का समवाय या घर है[6]। प्रासाद, हवेली आदि विशाल भवन द्रव्य से उच्च-कुल कहलाते हैं। जाति,

---

१—जि० चू० पृ० १७२ अणाउलो नाम मणवयणकायजोगेहिं अणाउलो माणसे अट्टदुहट्टाणि सुत्तत्थतदुभयाणि वा अचिंततो एसणे उवउत्तो गच्छेज्जा, वायाए वा जाणिवि ताणि अट्टमट्टाणि ताणि अभासमाणेण पुच्छणपरियट्टणादीणि य अकुव्वमाणेण हिंडियव्वं, कायेणावि हत्थणट्टादीणि अकुव्वमाणो सकुंचियहत्थपाओ हिंडेज्जा।

२—हा० टी० प० १६६ 'अनाकुल' क्रोधादिरहित।

३—(क) जि० चू० पृ० १७२ जहाभावो नाम तेसिंदियाण पत्तेय जो जस्स विसयो सो जहभावो भण्णइ, जहा सोयस्स सोयव्वं चक्खुस्स दट्ठव्व घाणस्स अग्घातियव्व जिब्भाए सादेयव्व फरिसस्स फरिसण।

(ख) हा० टी० प० १६६ 'यथाभाग' यथाविषयम्।

(ग) अ० चू० इदियाणि सोतादीणि ताणि जहाभाग जहाविसत, सोतस्स भागो सोतव्व •।

४—(क) अ० चू० 'दमइत्ता' विसयणिरोहादिणा, एव सव्वाणि दमइत्ता वस णेऊण।

(ख) जि० चू० पृ० १७२ ण य सक्का सद्द असुणितेहिं हिंडिउ, किं तु जे तत्थ रागदोसा ते वज्जेयव्वा, भणिय च—"न सक्का सद्दमस्सोउ, सोतगोयरमागय। रागदोसा उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥१॥" एव जाव फासोत्ति।

५—अ० चू० जहा उण्णमणणमणादिचेट्ठाविसेसपरिहरण तहा इदमपि।

६—अ० चू० कुल सबधिसमवातो, तदालयो वा।

५५ न उन्नत होकर (अणुन्नए *) :

उन्नत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-उन्नत और भाव-उन्नत[1]। जो मुंह ऊंचा कर चलता है—आकाशदर्शी होता है उसे 'द्रव्य-उन्नत' कहते हैं। जो दूसरों की हंसी करता हुआ चलता है जाति आदि आठ मदों से मत्त (अभिमानी) होता है वह 'भाव-उन्नत' कहलाता है। मुनि को भिक्षाचर्या के समय द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अनुन्नत होना चाहिए।

जो आकाशदर्शी होकर चलता है—ऊँचा मुंह कर चलता है वह ईर्या समिति का पालन नहीं कर सकता। लोग भी कहने लग जाते हैं—"देखो! यह श्रमण उन्मत्त की भाँति चल रहा है अवश्य ही यह विकार से भरा हुआ है।" जो भावना से उन्नत होता है वह दूसरों को तुच्छ मानता है। दूसरों को तुच्छ मानने वाला लोक-मान्य नहीं होता[2]।

५६ न अवनत होकर (नावणए *)

अवनत के भी दो भेद होते हैं : द्रव्य-अवनत और भाव अवनत। द्रव्य अवनत उसे कहते हैं जो झुककर चलता है। भाव अवनत उसे कहते हैं जो दीन व दुर्मन होता है और ऐसा सोचता है—"लोग असंयतियों की ही पूजा करते हैं। हमें कौन देगा ? या हमें अच्छा नहीं देगा आदि।" जो द्रव्य से अवनत होता है वह मखौल का विषय बनता है। लोग उसे अनुगामगत कहने लग जाते हैं। जैसे—बड़ा तपोयोग-युक्त है कि इस तरह नीचे झुक कर चलता है। भाव से अवनत वह होता है जो क्षुद्र भावना से भरा होता है। श्रमणों को दोनों प्रकार से अवनत नहीं होना चाहिए[3]।

५७ न हृष्ट होकर (अप्पहिट्ठे *) :

जिनदास महत्तर के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अल्प-हृष्ट' या 'अप्रहृष्ट' बनता है। अल्प शब्द का प्रयोग अल्प और अभाव—इन दो अर्थों में होता है। यहाँ यह अभाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है[3]।

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अप्रहृष्ट' होता है[4]। 'प्रहृष्ट' विकार का सूचक है इसलिए इसका निषेध है।

१—जि॰ चू॰ पृ॰ १७२ : " ... दब्बुन्नओ भावुन्नओ ... दब्बुन्नओ जो उन्नतेण मुहेण गच्छइ, भावुन्नओ जो हसंतो गच्छइ जातिमादिएहिं वा अट्ठहिं मएहिं मत्तो।

—जि॰ चू॰ पृ॰ १७२ : दब्बुन्नओ इरियं न सोहेइ लोगोवि भणइ—उम्मत्तओविव समणओ वच्चइ सविगारोत्ति भावेवि अस्थि से माणो मुहुत्तेणं अस्थि संबन्धो अस्थिति अहवा महाकविओ न सम्मं लोगं पासति सो एवं अणुवसंतत्तणेण न लोगसम्मओ भवति।

३—(क) अ॰ चू॰ : अवणतो अनुन्नतो—दव्वोणतो जो अवणतसरीरो गच्छति। भावोणतो 'कीस न लभामि ? विरसं वा लभामि ? असंजता पूतिज्जंति' इति दीणमणो। दव्वतो ताव अवणता अवणएस दोसो—दब्बुन्नतो रियं न सोहति 'उम्मत्तो सविगारो' त्ति वा लोगो भणति, दव्वावणतो 'अहो ! धीरस्सऽणुन्नतो सव्वपासंडाण वा बीवमप्पाणं मण्णति' त्ति अतो अपूया। भावतो उण्णतावणतं तु तत्थेव विभासिज्जति।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १७२ : ओणओवि चउव्विहो ... दव्वोणओ जो ओणयसरीरो तुओ वा भावोणओ जो दीणमणो कीस गिहत्था भिक्खं न देंति ? पत्ता सुदरं देति ? असंजता वा पूयंति ... दव्वोणतस्सवि वयंति अहा अहो धीरस्सणुन्नओ उच्चत्तं एस (तव) गो अहवा सव्वपासंडाणं भीमतरं अप्पाणं आणमावेऊ पच्चमति पूयमाति, एवं लोगा भावोणओ एवं भवति अहा किमतस्स पव्वइतस्स ? कोहोऽणेण न भिक्खिओत्ति एवमादी।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ १६६ : 'नावनतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यावनतोऽनीचकाय: भावावनतः अलब्ध्यादिनादीनः ... द्रव्यावनता बक इति संभाव्यते भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति।

३—जि॰ चू॰ पृ॰ १७२ : अप्पसद्दो अभावे वट्टइ थोवे य इहं पुण अप्पसद्दो अभावे दट्ठव्वो अप्पसंतोवि हुतं भवति।

४—(क) अ॰ चू॰ : न पहिट्ठो अपहिट्ठो।

(ख) हा॰ टी॰ प॰ १६६ : 'अप्रहृष्ट' असहर।

में इसका अर्थ सेंध किया है। सेंध अर्थात् दीवाल की ढकी हुई सुराक[1]।

६८. पानी-घर को (दगभवणाणि ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अथ जल-मंचिका, पानीय कर्मान्त (कारखाना) अथवा स्नान-मण्डप आदि किया है।

जिनदास ने इसका अर्थ जल-घर अथवा स्नान-घर किया है।

हरिभद्र ने केवल जल-गृह अर्थ किया है[2]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पथ के आस-पास सर्व साधारण की सुविधा के लिए राजकीय जल-मंचिका अथवा स्नान-मण्डप आदि रहते थे। जल-मंचिकाओं से औरतें जल भर कर ले जाया करती थीं और स्नान-मण्डपों में साधारण स्त्री-पुरुष स्नान किया करते थे। साधु को ऐसे स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने का निषेध किया गया है।

गृहस्थों के घरों के अन्दर रहे हुए परेण्डा, (जल-गृह) अथवा स्नान-घर से यहाँ अभिप्राय नहीं है क्योंकि मार्ग में चलता हुआ साधु क्या नहीं देखे इसी का वर्णन है।

६६. शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से (संकट्ठाणं घ) :

टीकाकार ने शका-स्थान को आलोकादि का द्योतक माना है। शका-स्थान अर्थात् उक्त आलोक, थिग्गल—द्वार, सन्धि, उदक-भवन। इस शब्द में ऐसे अन्य स्थानों का भी समावेश समझना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—इन स्थानों को देखने का वर्जन क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह है कि आलोकादि को ध्यानपूर्वक देखने वाले पर लोगों को चोर और पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है[3]। आलोकादि का देखना साधु के प्रति शका या सन्देह उत्पन्न कर सकता है अत. वे शका-स्थान हैं[4]।

इनके अतिरिक्त स्त्री-जनाकीर्ण-स्थान, स्त्री-कथा आदि विषय जो उत्तराध्ययन में बतलाए गए हैं[5], वे भी सब शका-स्थान हैं। स्त्री सम्पर्क आदि से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शका पैदा हो सकती है। वह ऐसा सोच सकता है कि अब्रह्मचर्य में जो दोष बतलाए गए हैं वे सचमुच हैं या नहीं? कहीं मैं ठगा तो नहीं जा रहा हूँ? आदि आदि। अथवा स्त्री-सम्पर्क में रहते हुए ब्रह्मचारी को देख दूसरों को उसके ब्रह्मचर्य के बारे में सन्देह हो सकता है। इसलिए इन्हें शका का स्थान (कारण) कहा गया है। उत्तराध्ययन के अनुसार शका-स्थान का सबन्ध स्त्री-सम्पर्क आदि ब्रह्मचारी की नव गुप्तियों से है[6] और हरिभद्र के अनुसार शका-स्थान का सबन्ध आलोक आदि से है[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७४ सधी खत्त पडिढक्कियय।
(ख) हा० टी० प० १६६ सधि·—चित क्षत्रम्।

२—(क) अ० चू० · पाणिय-कम्मत, पाणिय-मचिका, राहाण-मराडपादि दगभवनानि।
(ख) जि० चू० पृ० १७४ दगभवणाणि—पाणियघराणि राहाणगिहाणि वा।
(ग) हा० टी० प० १६६ 'उदकभवनानि' पानीयगृहाणि।

३—अ० चू० सकट्ठाण विवज्जए, ताणि निज्झायमाणो 'किएणु चोरो ? पारदारितो ?' त्ति सकेज्जेज्जा, 'थाण' पद तमेवविह सकापद।

४—हा० टी० प० १६६ शङ्कास्थानमेतदवलोकादि।

५—उत्त० १६ ११-१४।

६—वही १६ १४ सकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणव।

७—हा० टी० प० १६६।

सक्लेश का अर्थ है—असमाधि। सक्लेश दस प्रकार के हैं[१]।

श्लोक १७ :

७४. श्लोक १७ :

इस श्लोक में भिक्षाचर्या के लिए गये हुए मुनि को किन-किन कुलों में प्रवेश नहीं करना चाहिए, इसका उल्लेख है[२]।

७५. प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में (पडिकुट्ठंकुलं [क]) :

'प्रतिक्रुष्ट' शब्द निन्दित, जुगुप्सित और गर्हित का पर्यायवाची है। व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिक्रुष्ट दो तरह के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक। मृतक और सूतक के घर अल्पकालिक—थोड़े समय के लिए प्रतिक्रुष्ट हैं। डोम, मातङ्ग आदि के घर यावत्कालिक-सर्वदा प्रतिक्रुष्ट हैं[३]।

आचाराङ्ग में कहा है—मुनि अजुगुप्सित और अगर्हित कुलों में भिक्षा के लिए जाये[४]।

निशीथ में जुगुप्सनीय-कुल से भिक्षा लेने वाले मुनि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[५]।

मुनियों के लिए भिक्षा लेने के सम्बन्ध में प्रतिक्रुष्ट-कुल कौन से हैं—इसका आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आगमों में जुगुप्सित जातियों का नाम निर्देश नहीं है। वहाँ केवल अजुगुप्सित कुलों का नामोल्लेख है।

प्रतिक्रुष्ट-कुल का निषेध कब और क्यों हुआ—इसकी स्पष्ट जानकारी सुलभ नहीं है, किन्तु इस पर लौकिक व वैदिक व्यवस्था का प्रभाव है यह अनुमान करना कठिन नहीं है। टीकाकार प्रतिक्रुष्ट के निषेध का कारण शासन-लघुता बताते हैं। उनके अनुसार जुगुप्सित घरों से भिक्षा लेने पर जैन-शासन की लघुता होती है इसलिए वहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए[६]।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु इसे गणधर की मर्यादा बताते हैं[७]। शिष्य बीच में ही पूछ बैठता है—प्रतिक्रुष्ट कुल में जाने से किसी जीव का वध नहीं होता फिर उसका निषेध क्यों? इसके उत्तर में वे कहते हैं—जो मुनि जुगुप्सित-कुल से भिक्षा लेता है उसे

१—स्था० १० ७११ दसविधा असमाधी प० त०—पाणातिवाते जाव परिग्गहे ईरिताऽसमिती जाव उच्चारपासवणखेलसिंघाणग-पारिट्ठावणियाऽसमिती।

२—अ० चू० 'मग्गियाव्वी णा वा ?' एवमिद सिलोगसुत्तमागत।

३—(क) अ० चू० · पडिकुट्ठ निन्दित, त दुविह—इत्तरिय आवकहिय च, इत्तरिय मयगसूतगादि, आवकहित चडालादी त उभयमवि कुल।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ पडिकुट्ठ दुविध—इत्तिरिय आवकहिय च, इत्तिरिय मयगसूतगादी, आवकहिय अभोज्जा डोंबमायगादी।

(ग) हा० टी० प० १६६ प्रतिकुष्टकुल द्विविधम्—इत्वर यावत्कथिक च, इत्वर सूतकयुक्तम्, यावत्कथिकम् अभोज्यम्।

४—आचा० २ १ २३४ से भिक्खू वा, भिक्खूणी वा, गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाइ पुण कुलाइ जाणिज्जा, त जहा, उग्गकुलाणि वा, भोगकुलाणि वा, राइण्णकुलाणि वा, खत्तियकुलाणि वा, इक्खागकुलाणि वा, हरिवसकुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसियकुलाणि वा, गडागकुलाणि वा, कोट्टागकुलाणि वा, गामरक्खकुलाणि वा, बुक्कासकुलाणि वा, अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगछिएसु अगरहिएसु असण पाण खाइम साइम वा फासुयं एसणिज्ज जाव मण्णमाणे लाभे सते पडिग्गाहेज्जा।

५—नि० १६ २७ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाण वा खाइम वा साइम वा · ।

६—हा० टी० प० १६६ एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसगात्।

७—ओ० नि० गा ४४०

ठवणा मिलक्खुनेइ अचियत्तघर तहेव पडिकुट्ठ ॥
एय गणधरमेर अइक्कमतो विराहेज्जा ॥

श्लोक १६

७० श्लोक १६

श्लोक १५ में शंका-स्थानों के वर्जन का उपदेश है। प्रस्तुत श्लोक में संक्लेशकारी-स्थानों के समीप जाने का निषेध है।

७१ गृहपति (गिहवईण क) :

गृहपति—इभ्य श्रेष्ठी आदि[1]। प्राचीनकाल में गृहपति का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो घर का सर्वाधिकार-सम्पन्न स्वामी होता[2]। उस युग में समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई घर थी। साधारणतया गृहपति पिता होता था। वह विरक्त होकर गृह-कार्य से मुक्त होना चाहता अथवा मर जाता तब उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिलता। उसका अभिषेक-कार्य समारोह के साथ सम्पन्न होता। मौर्य-युग काल में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग समृद्ध वैश्यों के लिए होने लगा था।

७२ आरक्षिकों के रहस्य-स्थान (रहस्सारक्खियाण क)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'रहस्स-आरक्खियाण' को एक शब्द माना है और इसका अर्थ राजा के अन्तःपुर के अमात्य आदि किया है[3]।

जिनदास और हरिभद्र ने इन दोनों को पृथक् मानकर अर्थ किया है। उन्होंने 'रहस्स' का अर्थ राजा, गृहपति और आरक्षिकों का मंत्रणा-गृह तथा 'आरक्खिय' का अर्थ दण्डनायक किया है[4]।

७३ संक्लेश कर होते हैं (संकिलेसकरं ग) :

रहस्य-स्थानों में साधु क्यों न जाए इसका उत्तर इसी श्लोक में है। ये स्थान संक्लेशकर हैं अतः वर्जनीय हैं।

गुप्त स्थान में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण अथवा मंत्र-भेद करने का सन्देह होता है। सन्देहवश साधु का निग्रह किया जा सकता है अथवा उसे अन्य क्लेश पहुँचाये जा सकते हैं। व्यर्थ ही ऐसे संक्लेशों से साधु पीड़ित न हो इस दृष्टि से ऐसे स्थानों का निषेध है[5]।

१—(क) अ० चू० : गिहवइणो इब्भादतो।
(ख) हा० टी० प० १६६ : 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनाम्।

२—उपा० १.५ : से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर ... जाव ... सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु ... आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीपमाणं आहारे आलंबणं चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

३—अ० चू० : रहस्सारक्खिता—रायंतेपुरवरा अमात्यादतो।

४—(क) जि० चू० पृ० १९२ : रण्णो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि आरक्खियाणं रहस्सट्ठाणाणि, संकणादिदोसा भवंति आरक्खिय ग्गहणेण पुरोहियादि गहिया रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा जत्थ वा राहस्सियं मंतेंति।
(ख) हा० टी० प० १६६ : राज्ञः—चक्रवर्त्यादेः 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहस्यस्थानमिति योगः, 'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि।

५—(क) अ० चू० : जत्थ इत्थीओ वा रायं वा अतिरित्तमम्मणो मंतेंति वा तत्थ जदि गच्छति तो तेसिं संकिलेसो भवति किं एस समणओ आगच्छति ? कतो चि वा ? मन्तभेदादि संकिज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १७४ : अवरज्झन्ते इत्थियाइए हियनट्ठे संकणादिदोसा भवंति।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संक्लेशकरम्' असदभिप्रायशङ्कया मन्त्रभेदे वा कर्षणादिनेति।

सक्लेश का अर्थ है—असमाधि। सक्लेश दस प्रकार के हैं[1]।

श्लोक १७ :

७४. श्लोक १७ :

इस श्लोक में भिक्षाचर्या के लिए गये हुए मुनि को किन-किन कुलों में प्रवेश नहीं करना चाहिए, इसका उल्लेख है[2]।

७५. प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में (पडिकुट्ठंकुलं [क]) :

'प्रतिक्रुष्ट' शब्द निन्दित, जुगुप्सित और गर्हित का पर्यायवाची है। व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिक्रुष्ट दो तरह के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक। मृतक और सूतक के घर अल्पकालिक—थोड़े समय के लिए प्रतिक्रुष्ट हैं। डोम, मातङ्ग आदि के घर यावत्कालिक-सर्वदा प्रतिक्रुष्ट हैं[3]।

आचाराङ्ग में कहा है—मुनि अजुगुप्सित और अगर्हित कुलों मे भिक्षा के लिए जाये[4]।

निशीथ में जुगुप्सनीय-कुल से भिक्षा लेने वाले मुनि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[5]।

मुनियों के लिए भिक्षा लेने के सम्बन्ध में प्रतिक्रुष्ट-कुल कौन से हैं—इसका आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आगमों में जुगुप्सित जातियों का नाम निर्देश नहीं है। वहाँ केवल अजुगुप्सित कुलों का नामोल्लेख है।

प्रतिक्रुष्ट-कुल का निषेध कब और क्यों हुआ—इसकी स्पष्ट जानकारी सुलभ नहीं है, किन्तु इस पर लौकिक व वैदिक व्यवस्था का प्रभाव है यह अनुमान करना कठिन नहीं है। टीकाकार प्रतिक्रुष्ट के निषेध का कारण शासन-लघुता बताते हैं। उनके अनुसार जुगुप्सित घरों से भिक्षा लेने पर जैन-शासन की लघुता होती है इसलिए वहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए[6]।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु इसे गणधर की मर्यादा बताते हैं[7]। शिष्य बीच में ही पूछ बैठता है—प्रतिक्रुष्ट कुल में जाने से किसी जीव का वध नहीं होता फिर उसका निषेध क्यों? इसके उत्तर में वे कहते हैं—जो मुनि जुगुप्सित-कुल से भिक्षा लेता है उसे

१—स्था० १० ७११ दसविधा असमाधी प० त०—पाणातिवाते जाव परिग्गहे ईरिताऽसमिती जाव उच्चारपासवणखेलसिंघाणगपारिट्ठावणियाऽसमिती।

२—अ० चू० 'मग्गियाव्वी णा वा ?' एवमिद सिलोगछत्तमागत।

३—(क) अ० चू० पडिकुट्ठ निन्दित, त दुविह—इत्तरिय आवकहिय च, इत्तरिय मयगसूतगादि, आवकहित चडालादी त उभयमवि कुल।
(ख) जि० चू० पृ० १७४ पडिकुट्ठ दुविध—इत्तिरिय आवकहिय च, इत्तिरिय मयगसूतगादी, आवकहिय अभोज्जा डोंबमायगादी।
(ग) हा० टी० प० १६६ प्रतिक्रुष्टकुल द्विविधम्—इत्वर यावत्कथिक च, इत्वर सूतकयुक्तम्, यावत्कथिकम् अभोज्यम्।

४—आचा० २ १ २३४ से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, त जहा, उग्गकुलाणि वा, भोगकुलाणि वा, राइण्णकुलाणि वा, खत्तियकुलाणि वा, इक्खागकुलाणि वा, हरिवसकुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसियकुलाणि वा, गडागकुलाणि वा, कोट्टागकुलाणि वा, गामरक्खकुलाणि वा, बुक्कासकुलाणि वा, अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगछिएसु अगरहिएसु असण पाण खाइम साइम वा फासुय एसणिज्ज जाव मण्णमाणे लाभे सते पडिग्गाहेज्जा।

५—नि० १६ २७ जे भिक्खू दुगुछियकुलेसु असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा · ·।

६—हा० टी० प० १६६ एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसगात्।

७—ओ० नि० गा ४४०

ठवणा मिलक्खुनेड्ड अचियत्तघर तहेव पडिकुट्ठ ॥
एय गणधरमेर अइक्कमतो विराहेज्जा ॥

श्लोक १६

७० श्लोक १६

श्लोक १५ में शंका-स्थानों के वर्जन का उपदेश है। प्रस्तुत श्लोक में संक्लेशकारी-स्थानों के समीप जाने का निषेध है।

७१ गृहपति (गिहवईणं ख) :

गृहपति—इभ्य श्रेष्ठी आदि[1]। प्राचीनकाल में गृहपति का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो गृह का सर्वाधिकार-सम्पन्न स्वामी होता। उस युग में समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई गृह थी। साधारणतया गृहपति पिता होता था। वह विरक्त होकर गृह-कार्य से मुक्त होना चाहता अथवा मर जाता तब उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिलता। उसका अभिषेक-कार्य समारोह के साथ सम्पन्न होता। मौर्य-युग काल में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग समृद्ध वैश्यों के लिए होने लगा था।

७२ आरक्षिकों के रहस्य-स्थान (रहस्सारक्खियाण ग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'रहस्स-आरक्खियाण' को एक शब्द माना है और इसका अर्थ राजा के अन्तःपुर के अमात्य आदि किया है[2]।

जिनदास और हरिभद्र ने इन दोनों को पृथक् मानकर अर्थ किया है। उन्होंने 'रहस्स' का अर्थ राजा, गृहपति और आरक्षिकों का मंत्रणा-गृह तथा 'आरक्खिय' का अर्थ दण्डनायक किया है[3]।

७३ संक्लेश कर होते हैं (संकिलेसकरं घ) :

रहस्य-स्थानों में साधु क्यों न जाय इसका उत्तर इसी श्लोक में है। वे स्थान संक्लेशकर हैं अतः वर्जनीय हैं।

गुप्त स्थान में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण अथवा मंत्र-भेद करने का सन्देह होता है। सन्देहवश साधु का निग्रह किया जा सकता है अथवा उसे अन्य क्लेश पहुँचाये जा सकते हैं। स्वयं ही ऐसे संक्लेशों से साधु पीड़ित न हो इस दृष्टि से ऐसे स्थानों का निषेध है[4]।

१—(क) अ० चू० : गिहवइणो इब्भादतो।
(ख) हा० टी० प० १६६ : 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनाम्।
—उपा० १.५ : से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर ... जाव ... सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु ... आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य णं कुडुंबस्स मेढीपमाणं आहारे आलंबणं चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

२—अ० चू० : रहस्सारक्खिता—रायंते पुरवरा अमात्यादयो।

३—(क) जि० चू० पृ० १९७ : रायाणो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि आरक्खियाणं रहस्सट्ठाणाणि, संकप्पविरोहो भवति। अकारेण अन्नेवि पुरोहियादि गहिया। रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा जत्थ वा रहस्सियं मंतिति।
(ख) हा० टी० प० १६६ : राज्ञः—चक्रवर्त्यादेः 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहस्यस्थानमिति योगः, 'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि।

४—(क) अ० चू० : जत्थ इत्थीतो वा रायी वा पडिरिक्कमच्छंति मंतंति वा तत्थ अति अच्छति तो तस्सि संकिलेसो भवति किं एत्थ समणओ अच्छति? अत्तो चि वा? मन्नभेदादि संकिता।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : मणक्खोभस्स इत्थियाइए दिस्सट्ठे संकप्पविरोहो भवति।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संक्लेशकरम्' असद्विकल्पभावेन मनोविक्षेपात् संक्लेशो वा अवध्यादिभिरिति।

७६. मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का (मामगं ख) :

जो गृहपति कहे—'मेरे यहाँ कोई न आये', उसके घर का। भिक्षु बुद्धि द्वारा मेरे घर के रहस्य को जान जायगा आदि भावना से अथवा यह साधु अमुक धर्म का है ऐसे द्वेष या ईर्ष्या-भाव से ऐसा निषेध सभव है।

निषिद्ध घर में जाने से भण्डनादि के प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं अतः वहाँ जाने का निषेध है[1]।

७७. अप्रीतिकर कुल में (अचियत्तकुलं ग) :

किसी कारणवश गृहपति साधु को आने का निषेध न कर सके, किन्तु उसके जाने से गृहपति को अप्रेम उत्पन्न हो और उसके (गृहपति के) इंगित आकार से यह बात जान ली जाए तो वहाँ साधु न जाए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जिस घर में भिक्षा न मिले, कोरा आने-जाने का परिश्रम हो, वहाँ न जाए। यह निषेध, मुनि द्वारा किसी को सक्लेश उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[2]।

७८. प्रीतिकर (चियत्तं घ) :

जिस घर में भिक्षा के लिए साधु का आना-जाना प्रिय हो अथवा जो घर त्याग-शील (दान-शील) हो उसे प्रीतिकर कहा जाता है[3]।

श्लोक १८ :

७६. श्लोक १८ :

इस श्लोक में यह बताया गया है कि गोचरी के लिये निकला हुआ मुनि जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने को उन्मुख हो तब वह क्या न करे।

१—(क) अ० चू० 'मामक परिवज्जए' 'मा मम घर पविसन्तु' त्ति मामक' सो पुणपतयाए इस्सालुयताए वा।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ मामय नाम जत्थ गिहपती भणति—मा मम कोई घरमयिउ, पन्तत्तणेण मा कोई मम छिद्दं लहिहेति, इस्सालुगदोसेण वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'मामक' यत्राऽऽह गृहपति —मा मम कश्चित् गृहमागच्छेत् , एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसङ्गात्।

२—(क) अ०चू० अचियत्त अप्पित, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो, तस्स ज कुल त न पविसे, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ त दाणपरिहीण केवल परिस्समकारी त ण पविसे।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ अचियत्तकुल नाम न सक्केति वारेउ, अचियत्ता पुण पविसता, त च इगिएण णज्जवि, जहा एयस्स साधुणो पविसता अचियत्ता, अहवा अचियत्तकुल जत्थ बहुणावि कालेण भिक्खा न लब्भइ, एतारिसेसु कुलेसु पविसताण पलिमथो दोहा य भिक्खायरिया भवति।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'अचिअत्तकुलम्' अप्रीतिकुल यत्र प्रविशद्भि साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्निमित्तान्तरात् , एतदपि न प्रविशेत् , तत्सक्लेशनिमित्तत्वप्रसङ्गात्।

३—(क) अ० चू० चियत्त इट्ठणिक्खमणपवेस चागसपण्ण वा तहाविध पविसे कुल।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ चियत्त नाम जत्थ चियत्तो निक्खमणपवेसो चागसील वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'चिअत्तम्' अचिअत्तविपरीत प्रविशेत्कुल, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति।

बोधि दुर्लभ होती है[1]।

आचाराङ्ग में केवल भिक्षा के लिए जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[2]।

निशीथ में बस्ती आदि के लिए जुगुप्सित कुल का निषेध मिलता है[3]।

ओघनिर्युक्ति में दीक्षा देने के बारे में जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[4]।

इस अध्ययन से लगता है कि जैन शासन जब तक लोकसंग्रह को कम महत्त्व देता था तब तक उसमें लोक विरोधी भावना के तत्त्व अधिक थे। जैन-शासन में हरिकेश बल जैसे श्वपाक, और आर्द्रकुमार जैसे अनार्य दीक्षा पाने के अधिकारी थे किन्तु समय परिवर्तन के साथ-साथ ज्यों-ज्यों जैनाचार्य लोक-संग्रह में लगे त्यों-त्यों लोक-भावना को महत्त्व मिलता गया।

जाति और कुल शाश्वत नहीं होते। जैसे वे बदलते हैं वैसे उनकी स्थितियाँ भी बदलती हैं। किसी देश-काल में जो घृणित, तिरस्कृत या निन्दित माना जाता है वह दूसरे देश-काल में वैसा नहीं माना जाता। ओघनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में एक रोचक संवाद है, शिष्य ने पूछा "भगवन्! जो यहाँ जुगुप्सित है वह दूसरी जगह जुगुप्सित नहीं है फिर, किसे जुगुप्सित माना जाये? किसे अजुगुप्सित? और उसका परिहार कैसे किया जाये?" इसके उत्तर में निर्युक्तिकार कहते हैं: 'जिस देश में जो जाति-कुल जुगुप्सित माना जाए उसे छोड़ देना चाहिए[5]।" तात्पर्य यह है कि एक कुल किसी देश में जुगुप्सित माना जाता हो उसे वर्जना चाहिए और वही कुल दूसरे देश में जुगुप्सित न माना जाता हो वहाँ उसे वर्जना आवश्यक नहीं। आखिर विषय का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं "वह काम नहीं करना चाहिए जिससे जैन-शासन का अपयश हो धर्म-प्रचार में बाधा आवे, धर्म को कोई ग्रहण न करे, श्रावक या नव-दीक्षित मुनि की धर्म से आस्था हट जाए अविश्वास पैदा हो और लोगों में जुगुप्सा—घृणा फैले[6]।"

इन कारणों से स्पष्ट है कि इस विषय में लोकमत को बहुत स्थान दिया गया है। जैन-दर्शन जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता इसलिए उसके अनुसार कोई भी कुल जुगुप्सित नहीं माना जा सकता। यह व्यवस्था वैदिक वर्णाश्रम की विधि पर आधारित है।

प्राचीन-काल में प्रतिकुष्ट कुलों की पहचान इन बातों से होती थी। जिनका घर टूटी-फूटी बस्ती में होता नगर के द्वार के पास (बाहर या भीतर) होता और जिसके घर में कई विशेष प्रकार के वृक्ष होते वे कुल प्रतिकुष्ट समझे जाते थे[7]।

१—ओ॰ नि॰ भा॰ ३३१: आह—प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीवकायवधो भवति किमर्थं परिहार इति? उच्यते—

छक्कायदयावंतोऽवि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य॥

२—आचा॰ ५.१ २३३: देखिए पृ॰ २३३ टिप्पण सं॰ ४ का पाठ।

३—नि॰ १६.२७: जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति।

४—ओ॰ नि॰ भा॰ २३९:

अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि॥

५—ओ॰ नि॰ भा॰ २४ : ननु च ये इह जुगुप्सितास्त एवान्यत्राजुगुप्सितास्तत्र कथं परिहर्तव्यम्? उच्यते—

जे जहिं दुगुंछिया खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेणं॥

६—ओ॰ नि॰ भा॰ ४४२:

दीसइ धम्मस्स अवण्णो आयासो पवयणे य आणाहाणी।
विप्परिणामो अप्पच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जइ॥

अयशो येन केनचित् 'दीसेज' [illegible] 'अवण्ण' [illegible] 'आयासः' [illegible] [illegible]

[illegible]

७—ओ॰ नि॰ भा॰ ४४०:

पडिकुट्ठकुलमेयं पुण [illegible]।
[illegible] ॥

७६. मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का (मामगं [ख]) :

जो गृहपति कहे—'मेरे यहाँ कोई न आये', उसके घर का। भिक्षु बुद्धि द्वारा मेरे घर के रहस्य को जान जायगा आदि भावना से अथवा यह साधु अमुक धर्म का है ऐसे द्वेष या ईर्ष्या-भाव से ऐसा निषेध सभव है।

निषिद्ध घर में जाने से भण्डनादि के प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं अत' वहाँ जाने का निषेध है[1]।

७७. अप्रीतिकर कुल में (अचियत्तकुलं [ग]) :

किसी कारणवश गृहपति साधु को आने का निषेध न कर सके, किन्तु उसके जाने से गृहपति को अप्रेम उत्पन्न हो और उसके (गृहपति के) इगित आकार से यह बात जान ली जाए तो वहाँ साधु न जाए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जिस घर में भिक्षा न मिले, कोरा आने-जाने का परिश्रम हो, वहाँ न जाए। यह निषेध, मुनि द्वारा किसी को सक्लेश उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[2]।

७८. प्रीतिकर (चियत्तं [घ]) :

जिस घर में भिक्षा के लिए साधु का आना-जाना प्रिय हो अथवा जो घर त्याग-शील (दान-शील) हो उसे प्रीतिकर कहा जाता है[3]।

श्लोक १८ :

७९. श्लोक १८ :

इस श्लोक में यह बताया गया है कि गोचरी के लिये निकला हुआ मुनि जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने को उन्मुख हो तब वह क्या न करे।

१—(क) अ० चू० 'मामक परिवज्जए' 'मा मम घर पविसन्तु' त्ति मामक' सो पुणपतयाए इस्सालुयताए वा।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ मामय नाम जत्थ गिहपती भणति—मा मम कोई घरमयिउ, पन्नत्तणेण मा कोई मम छिद्दं लहिहेति, इस्सालुगदोसेण वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'मामक' यत्राऽऽह गृहपति'—मा मम कश्चित् गृहमागच्छेत्, एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसङ्गात्।

२—(क) अ०चू० अचियत्त अप्पित, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो, तस्स ज कुल त न पविसे, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ त दाणपरिहीण केवल परिस्समकारी त ण पविसे।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ अचियत्तकुल नाम न सक्केति वारेउ, अचियत्ता पुण पविसता, त च इगिएण णज्जति, जहा एयस्स साधुणो पविसता अचियत्ता, अहवा अचियत्तकुल जत्थ बहुणावि कालेण भिक्खा न लब्भइ, एतारिसेसु कुलेसु पविसताण पलिमथो दीहा य भिक्खायरिया भवति।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'अचिअत्तकुलम्' अप्रीतिकुल यत्र प्रविशद्भि' साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्निमित्तान्तरात्, एतदपि न प्रविशेत्, तत्सक्लेशनिमित्तत्वप्रसङ्गात्।

३—(क) अ० चू० चियत्त इट्ठणिक्खमणपवेस चागसपण्ण वा तहाविध पविसे कुल।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ चियत्त नाम जत्थ चियत्तो निक्खमणपवेसो चागसीलं वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'चिअत्तम्' अचिअत्तविपरीत प्रविशेत्कुल, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति।

बोधि दुर्लभ होती है[1]।

आचाराङ्ग में केवल भिक्षा के लिए जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[2]।

निशीथ में वसती आदि के लिए जुगुप्सित कुल का निषेध मिलता है[3]।

ओघनिर्युक्ति में दीक्षा देने के बारे में जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[4]।

इस अध्ययन से लगता है कि जैन-शासन जब तक लोकसंग्रह को कम महत्व देता था तब तक, उसमें लोक विरोधी भावना के तत्त्व अधिक थे। जैन-शासन में हरिकेश बल जैसे श्वपाक, और आर्द्रकुमार जैसे अनार्य दीक्षा पाने के अधिकारी थे, किन्तु काल-परिवर्तन के साथ-साथ ज्यों-ज्यों जैनाचार्य लोक-संग्रह में लगे त्यों-त्यों लोक भावना को महत्त्व मिलता गया।

जाति और कुल शाश्वत नहीं होते। जैसे वे बदलते हैं वैसे उनकी स्थितियाँ भी बदलती हैं। किसी देश-काल में जो घृणित, तिरस्कृत या निन्दित माना जाता है वह दूसरे देश-काल में वैसा नहीं माना जाता। ओघनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में एक रोचक संवाद है, शिष्य ने पूछा "भगवन्! जो यहाँ जुगुप्सित है वह दूसरी जगह जुगुप्सित नहीं है फिर किसे जुगुप्सित माना जाये? किसे अजुगुप्सित? और उसका परिहार कैसे किया जाये?" इसके उत्तर में निर्युक्तिकार कहते हैं : "जिस देश में जो जाति-कुल जुगुप्सित *माना जाए उसे छोड़ देना चाहिए*"। *तात्पर्य यह है कि एक कुल किसी देश में जुगुप्सित माना जाता हो* उसे वर्जना चाहिए और वही कुल दूसरे देश में जुगुप्सित न माना जाता हो वहाँ उसे वर्जना आवश्यक नहीं। व्यावहारिक विषय का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं "वह कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जैन-शासन का अयश हो धर्म-प्रचार में बाधा आये धर्म को कोई ग्रहण न करे, श्रावक या नव-दीक्षित मुनि की धर्म से आस्था हट जाए, अविश्वास पैदा हो और लोगों में जुगुप्सा—घृणा फैले[5]।

इन कारणों से स्पष्ट है कि इस विषय में लोकमत को बहुत स्थान दिया गया है। जैन-दर्शन जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता इसलिए उसके अनुसार कोई भी कुल जुगुप्सित नहीं माना जा सकता। यह व्यवस्था वैदिक वर्णाश्रम की विधि पर आधारित है।

प्राचीन-काल में प्रतिकुष्ट कुलों की पहचान इन बातों से होती थी। जिनका घर टूटी-फूटी बस्ती में होता नगर के द्वार के पास (बाहर या भीतर) होता और जिसके घर में कई विशेष प्रकार के वृक्ष होते वे कुल प्रतिकुष्ट समझे जाते थे[6]।

१—ओ० नि० भा० ४४१ : आह—प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीवकायो व्यापाद्यते किमर्थं परिहार इति? उच्यते—

छक्कायदयावंतोऽवि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य॥

२—आचा० २।१।२।११ : देखिए पृ० २३३ टिप्पण सं० ३ का पाद।

३—नि० १६।२६ : जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति।

४—ओ० नि० गा० ४४१ :

अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि॥

५—ओ० नि० गा० ४४२ : ननु च ये इह जुगुप्सितास्ते अन्यत्राजुगुप्सितास्तत् कथं परिहरणं कर्तव्यम्? उच्यते—

जं जहिं दुगुंछियं खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेणं॥

६—ओ० नि० गा० ४४३ :

दोसेण जस्स अयसो आयासो पवयणे य अग्गहणं।
विप्परिणामो अप्पच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जे॥

अथवा येन केनचित् 'दोषेण' निमित्तभूतेन यस्य सम्बन्धिना 'अयशः' अश्लाघा 'आयासः' पीडा प्रवचने भवति अग्रहणं वा विपरिणामो वा कस्यचित् श्रावकस्य नवदीक्षितस्य वा तन्न कर्तव्यम्, तथाऽप्रत्ययो वा यस्मिन् येन भवति जुगुप्साऽथवा यस्मिन् आत्मना कुर्वन्ति पूर्वविधोऽप्रत्ययो येन भवति तन्न कर्तव्यम्।

७—ओ० नि० गा० ३११ :

पडिकुट्ठकुलाणं पुण चिंधविहा भूमिका वणिज्जाणं।
णगरगणोपुराणं रुक्खा मालाविहा चेव॥

८४. किवाड न खोले (कवाडं नो पणोल्लेज्जा ग) :

आचाराङ्ग में बताया है—घर का द्वार यदि कांटेदार झाड़ी की डाल से ढका हुआ हो तो गृह-स्वामी की अनुमति लिए बिना, प्रतिलेखन किए बिना, जीव जन्तु देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना, उसे खोलकर भीतर न जाए। भीतर से बाहर न आए। पहले गृहपति की आज्ञा लेकर, कांटे की डाल को देखकर (साफ कर) खोले फिर भीतर जाए-आए[1]। इसमें किवाड़ का उल्लेख नहीं है।

शाणी, प्रावार और कटक-बोंदिका (कांटों की डाली) से ढंके द्वार को आज्ञा लेकर खोलने के बारे में कोई मतभेद नहीं जान पड़ता। किवाड़ के बारे में दो परम्पराएँ हैं—एक के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर किवाड खोले जा सकते हैं। दूसरी के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर प्रावरण आदि हटाए जा सकते हैं, किन्तु किवाड़ नहीं खोले जा सकते। पहली परम्परा के अनुसार 'ओग्गहसि अजाइया' यह शाणी, प्रावार और किवाड—इन तीनों से सम्बन्ध रखता है। दूसरी परम्परा के अनुसार उसका सम्बन्ध केवल 'शाणी' और 'प्रावार' से है, 'किवाड़' से नहीं।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्रावरण को हटाने में केवल व्यावहारिक असभ्यता का दोष माना है और किवाट खोलने में व्यावहारिक असभ्यता और जीव-वध—ये दोनों दोष माने हैं[2]।

हरिभद्र ने इसमें पूर्वोक्त दोष बतलाए हैं[3] तथा जिनदास ने वे ही दोष विशेष रूप से बतलाए हैं जो बिना आज्ञा शाणी और प्रावार को हटाने से होते हैं[4]।

श्लोक १६ :

८५. श्लोक १६ :

गोचरी के लिए जाने पर अगर मार्ग में मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो मुनि क्या करे इसकी विधि इस श्लोक में बताई गई है।

८६. मल-मूत्र की बाधा को न रखे (वच्चमुत्तं न धारए घ) :

साधारण नियम यह है कि गोचरी जाते समय मुनि मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होकर जाए। प्रमादवश ऐसा न करने के कारण अथवा अकस्मात् पुन बाधा हो जाए तो मुनि उस बाधा को न रोके।

मूत्र के निरोध से चक्षु में रोग उत्पन्न हो जाता है—नेत्र-शक्ति क्षीण हो जाती है। मल की बाधा रोकने से तेज का नाश होता है, कभी-कभी जीवन खतरे में पड़ जाता है। वस्त्र आदि के बिगड़ जाने से अशोभनीय बात घट जाती है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस श्लोक की व्याख्या में एक बहुत ही उपयोगी गाथा उद्धृत की है—"मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है"[5]।

१—आचा० २ १ ५ सू० २५१ से भिक्खू वा भिक्खुणि वा गाहावइकुलस्स दुवारबाह कटकबोंदियाए पडिपिहिय पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ सजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा।

२—अ० चू० जहा कवाढ णो पणोलेज्जा, कवाडं दारप्पिहाण त ण पणोलेज्जा तत्थ त एव दोसा यंत्रे य सत्तवहो।

३—हा० टी० प० १६७ 'कपाट' द्वारस्थगन 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० १७५ कवाड साहुणा णो पणोल्लेयव्व, तत्थ पुव्वभणिया दोसा सविसेसयरा भवति, एव उग्गह अजाइया पविसतस्स एते दोसा भवंति, जाहे पुण अवस्सकय भवति, धम्मलाभो, एत्थ सावयाण अत्थि जवि अणुवरोधो तो पविसामो।

५—अ० चू० मुत्तनिरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीविय चयति।
उड्ढ निरोहे कोढ, सुक्कनिरोहे भवइ अपुम॥

८० गृहपति की आज्ञा लिए बिना (ओग्गहंसि अजाइया ग) :

यह पाठ दो स्थानों पर—यहाँ और ६.१३ में है। पहले पाठ की टीका—'अवग्रहमयाचित्वा'[1] और दूसरे पाठ की टीका—'अवग्रहे यस्य तमयाचित्वा'[2] है। 'ओग्गहंसि' को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और यदि 'ओग्गहं सि' ऐसा पाठ मानकर 'ओग्गहं' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत रूप 'अवग्रहं तस्य' होगा।

८१ सन (साणी ग) :

'साणी' का अर्थ है—सन की छाल, कपास या अलसी का बना वस्त्र[3]।

८२ मृग-रोम के बने वस्त्र से (पावार ग) :

कौटिल्य ने मृग के रोएं से बनने वाले वस्त्र को प्रावरक कहा है[4]। अगस्त्यचूर्णि में इसे सरोम वस्त्र माना है[5]। चरक में स्वेदन के प्रकरण में प्रावार का उल्लेख हुआ है[6]। स्वेदन के लिए रोमों की चादर, कृष्ण मृग का चर्म, रेशमी चादर अथवा कम्बल आदि ओढ़ाने की विधि है। हरिभद्र ने इसे कम्बल का सूचक माना है[7]।

८३ स्वयं न खोले (अप्पणा नावपंगुरे ग) :

साणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को अपने हाथों से उद्घाटित न करे—न खोले।

चूर्णिकार कहते हैं—"गृहस्थ साणी, प्रावार आदि से द्वार को ढाँक विश्वस्त होकर घर में बैठते, खाते, पीते और आराम करते हैं। उनकी अनुमति लिए बिना प्रावरण को हटा कोई अन्दर जाता है यह उन्हें अप्रिय लगता है और अविश्वास का कारण बनता है। वे सोचने लगते हैं—यह बेचारा कितना दयनीय और लोक-व्यवहार से अपरिचित है जो सामान्य उपचार को नहीं जानता। यों ही अनुमति लिए बिना प्रावरण को हटा अन्दर चला आता है[8]।"

ऐसे दोषों को ध्यान में रखते हुए मुनि चिक आदि को हटा अन्दर न जाए[9]।

१—हा० टी० प० १६७।
२—हा० टी० प० १६७।
३—(क) अ० चू० : सणो वक्कवी साणी कप्पासितो पडो।
(ख) जि० चू० पृ० १८८ : साणी णाम सणवक्केहि वि(व)णिज्जइ अलसिमयी वा।
(ग) हा० टी० प० १६६-१६७ : साणी—अतसीवल्कजा पटी।
४—कौटि० अर्थ० २.११.२९।
५—अ० चू० : सरोमो पावारतो।
६—चरक (सूत्र स्था०) १४.४६ : कौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः।
७—हा० टी० प० १६७ : प्रावारः—प्रतीत कम्बलाद्युपलक्षणमेतत्।
८—(क) अ० चू० : तं सतं ण अवंगुरेज्ज। किं कारणं? तत्थ खाण-पाण-सइरालाव-मोहणारम्भेहिं अच्छंताणं अप्पत्तियं भवति तत एव मामकं लोगोवयारविरहितमिति परिभुज्जमाणि। तत्थ अन्ना भवंति—एते वराया इव अणसाविं व भिक्खा।
(ख) जि० चू० पृ० १८८ : तं काउं ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छंति खायंति पियंति वा मोहंति वा तं णो अवंगुरेज्जा, किं कारणं? तेसिं अप्पत्तियं भवइ जहा एते पच्छितंपि उवयारं ण याणंति जहा णाणुविमणं लोगसंववहारबाहिरा वराया बुभुक्खादि होन्ता भवंति।
९—हा० टी० प० १६७ : अलौकिकत्वेन तत्कर्तृमुनिक्रियादिकारिणां प्रद्वेषप्रसङ्गात्।

८४. किवाड़ न खोले (कवाडं नो पणोल्लेज्जा ग) :

आचाराङ्ग में बताया है—घर का द्वार यदि कांटेदार झाड़ी की डाल से ढका हुआ हो तो गृह-स्वामी की अनुमति लिए बिना, प्रतिलेखन किए बिना, जीव जन्तु देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना, उसे खोलकर भीतर न जाए। भीतर से बाहर न आए। पहले गृहपति की आज्ञा लेकर, कांटे की डाल को देखकर (साफ कर) खोले फिर भीतर जाए-आए[1]। इसमें किवाड़ का उल्लेख नहीं है।

शाणी, प्रावार और कटक-बोंदिका (कांटों की डाली) से ढके द्वार को आज्ञा लेकर खोलने के बारे में कोई मतभेद नहीं जान पड़ता। किवाड़ के बारे में दो परम्पराएँ हैं—एक के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर किवाड खोले जा सकते हैं। दूसरी के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर प्रावरण आदि हटाए जा सकते हैं, किन्तु किवाड नहीं खोले जा सकते। पहली परम्परा के अनुसार 'ओग्गहंसि अजाइया' यह शाणी, प्रावार और किवाड—इन तीनों से सम्बन्ध रखता है। दूसरी परम्परा के अनुसार उसका सम्बन्ध केवल 'शाणी' और 'प्रावार' से है, 'किवाड़' से नहीं।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्रावरण को हटाने में केवल व्यावहारिक असभ्यता का दोष माना है और किवाड़ खोलने में व्यावहारिक असभ्यता और जीव-वध—ये दोनों दोष माने हैं[2]।

हरिभद्र ने इसमें पूर्वोक्त दोष बतलाए हैं[3] तथा जिनदास ने वे ही दोष विशेष रूप से बतलाए हैं जो बिना आज्ञा शाणी और प्रावार को हटाने से होते हैं[4]।

श्लोक १९ :

८५. श्लोक १९ :

गोचरी के लिए जाने पर अगर मार्ग में मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो मुनि क्या करे इसकी विधि इस श्लोक में बताई गई है।

८६. मल-मूत्र की बाधा को न रखे (वच्चमुत्तं न धारए ख) :

साधारण नियम यह है कि गोचरी जाते समय मुनि मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होकर जाए। प्रमादवश ऐसा न करने के कारण अथवा अकस्मात् पुन बाधा हो जाए तो मुनि उस बाधा को न रोके।

मूत्र के निरोध से चक्षु में रोग उत्पन्न हो जाता है—नेत्र-शक्ति क्षीण हो जाती है। मल की बाधा रोकने से तेज का नाश होता है, कभी-कभी जीवन खतरे में पड़ जाता है। वस्त्र आदि के बिगड़ जाने से अशोभनीय बात घट जाती है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस श्लोक की व्याख्या में एक बहुत ही उपयोगी गाथा उद्धृत की है—"मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है"[5]।

१—आचा० २ १ ५ सू० २५१ से भिक्खू वा भिक्खुणि वा गाहावइकुलस्स दुवारबाह कटकबोंदियाए पडिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ सजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा।

२—अ० चू० जहा कवाड णो पणोलेज्जा, कवाड दारप्पिहाण त ण पणोलेज्जा तत्थ त एव दोसा यन्त्रे य सत्तवहो।

३—हा० टी० प० १६७ 'कपाट' द्वारस्थगन 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० १७५ कवाड साहुणा णो पणोल्लेयव्व, तत्थ पुव्वभणिया दोसा सविसेसयरा भवति, एव उग्गह अजाइया पविसतस्स एते दोसा भवति, जाहे पुण अवस्सकर्य भवति, धम्मलाभो, एत्थ सावयाण अत्थि जति अणुवरोधो तो पविसामो।

५—अ० चू० मुत्तनिरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्ढ निरोहे कोढ, सुक्कनिरोहे भवइ अपुम॥

मल-मूत्र की बाधा उपस्थित होने पर साधु अपने पात्रादि दूसरे श्रमणों को देकर प्रासुक-स्थान की खोज करे और वहाँ मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त हो जाए।

जिनदास और हरिभद्र की व्याख्या में विसर्जन की विस्तृत विधि को ओघनिर्युक्ति से जान लेने का निर्देश किया गया है[1]। यहाँ इसका वर्णन १२१ २२ २३-२४—इन चार श्लोकों में हुआ है।

८७ प्रासुक-स्थान (फासुयं ग) :

इसका प्रयोग ५ २ १९ ८२ और ९९ में भी हुआ है। प्रस्तुत श्लोक में भी टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। ८२वें श्लोक में प्रयुक्त 'फासुय' का अर्थ बीज आदि रहित किया है[2]। ९९वें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ निर्जीव है[3]। बौद्ध-साहित्य में भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[4]। जैन-साहित्य में प्रासुक-स्थान पान-भोजन आदि-आदि प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

'निर्जीव'—यह प्रासुक का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निर्दोष या विशुद्ध होता है।

श्लोक २०

८८ श्लोक २० :

साधु कैसे घर में गोचरी के लिए जाए इसका वर्णन इस श्लोक में है[5]।

८९ निम्न द्वार वाले (नीयदुवारं क)

जिसका निर्गम—प्रवेश-मार्ग नीच—निम्न हो[6]।

१—(क) जि चू पृ १७५ : पुव्विं चेव साहुणा उवओगो कायव्वो उच्चारे वा काइयाए वा होज्जा जइवि भिक्खानिमित्तं पविसियव्वं, जइ वाउलयाए उवओगो न कओ कयंमि वा ओसिरियव्वस्स बाधा होज्जा ताहे भिक्खाभरियाए पडिग्गहे अयसुयं न धारेयव्वं, किं कारणं?, मुत्तनिरोहे चक्खुवाघाओ भवति वच्चनिरोहे य जीवियमवि चएज्जा तम्हा वच्चमुत्तनिरोहो न कायव्वोत्ति ताहे संघाडयस्स भायणाणि (दाऊण) पडिस्सए आगम्मिऊण पाणगं गहाय सन्नाभूमिं गंतूण फासुयमप्पगासे अणावायमसंलोए ओसिरियव्वंति। वित्थरो जहा ओहनिज्जुत्तीए।

(ख) हा टी प १६७ : अस्य विषयो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः स चायम्—पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवओगं काऊण गोयरे पविसियव्वं कहिंचि य न कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे अयसुयं न धारेयव्वं जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवाघाओ भवति वच्चनिरोहे जीवियोवघाओ असोहणा य आयविराहणा जओ भणियं—'सव्वत्थ संजमं'मिच्चाइ, अओ संघाडयस्स समप्पिय भायणं पडिस्सए पाणगं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहनिज्जुत्तीए।

२—हा टी प १८४ : 'प्रासुकं' बीजादिरहितम्।

३—हा टी प १८९ : 'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः।

४—(क) महावग्गो १.१.१ पृ० १२८ : [illegible] फासु विहरेय्युं।

(ख) महावग्गो : फासुकं वस्सं वसेथाम।

५—अ चू : जहा गोयरग्गपविट्ठस्स मुत्त—पुरीसवाधासमुप्पत्तिसमीवपातितं पुणरवि भिक्खविधि भण्णति।

६—(क) अ चू : नीयं दुवारं जस्स सो नीयदुवारो तं पुण फलिहयं वा कोट्ठगो वा जओ निग्गमो नीयमिति, पविसंतस्स ओणयस्स वच्छमाए दिस्समाणस्स अइदोसमिच्चाति जायते।

(ख) जि चू पृ १७५ : नीयदुवारं दुवियं—पागारछिड्डाए पिट्ठिवंसस्स वा।

(ग) हा टी प १६७ : 'नीचद्वारं'—नीचनिर्गमप्रवेशम्।

निम्न द्वार वाले तथा अन्धकारपूर्ण कोठे का परिवर्जन क्यों किया जाए ? इसका आगम-गत कारण अहिंसा की दृष्टि है। न देख पाने से प्राणियों की हिंसा सभव है। वहाँ ईर्या-समिति की शुद्धि नही रह पाती। दायकदोष होता है[1]।

श्लोक २१ :

९०. श्लोक २१ :

मुनि कैसे घर में प्रवेश न करे इसका वर्णन इस श्लोक में है[2]।

९१. तत्काल का लीपा और गीला (अहुणोवलित्तं उल्लं ग) :

तुरत के लीपे और गीले आँगन में जाने से सम्पातिम सत्त्वों की विराधना होती है। जलकाय के जीवों को परिताप होता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। तुरत के लीपे और गीले कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्म-विराधना और सयम-विराधना—ये दोनों होती हैं[3]।

श्लोक २२ :

९२. श्लोक २२ :

पूर्व की गाथा में आहार के लिए गये मुनि के लिए सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने का विधान है[4]। इस गाथा में बादरकाय के जीवों की हिंसा से बचने का उपदेश है।

९३. भेड़ (एलगं क) :

चूर्णिकार 'एलग' का अर्थ 'बकरा' करते हैं[5]। टीकाकार, दीपिकाकार और अवचूरीकार इसका अर्थ 'मेष' करते हैं[6]। हो सकता है—एलग का सामयिक (आगमिक) अर्थ बकरा रहा हो अथवा सभव है चूर्णिकारों के सामने 'छेलओ' पाठ रहा हो। 'छेलओ' का अर्थ छाग है[7]।

१—(क) हा० टी० प० १६७ : ईर्याशुद्धिर्न भवतीत्यर्थः।
(ख) अ० चू० दायगस्स उक्खेव गमणाती ण सुज्झति।
(ग) जि० चू० पृ० १७५ जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ त तमस, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्ख पच्चुवेक्खिज्जतित्तिकाउ नीयदुवारे तमसे कोट्ठओ वज्जेयव्वो।

२—अ० चू० पगासातो वि नत्थि गहण इमेहिं कारणेहिं।

३—(क) अ० चू० उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो निस्सरण वा दायगस्स होज्जा अतो त (परि) वज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ सपातिमसत्तविराहणत्थ अपरिताविया ओ वा आउक्काओत्तिकाउ वज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६७ सयमात्मविराधनापत्तेरिति।

४—अ० चू० सुहुमकायजयणाणतर बादरकायजयणोवदेस इति फुडमभिधीयते।

५—(क) अ० चू० एलओ बक्करओ।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ एलओ छागो।

६—हा० टी० प० १६७ : 'एडक' मेषम्।

७—दे० ना० ३.३२ : छागम्मि छेलओ।

९४ प्रवेश न करे (न पविसे ^ग) :

भेड़ आदि को हटाकर कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्मा और संयम दोनों की विराधना होती है[1]।

भेष आदि को हटाने पर वह सींग से मुनि को मार सकता है। कुत्ता काट सकता है। पाड़ा मार सकता है। बछड़ा भयभीत होकर बन्धन को तोड़ सकता है और बर्तन आदि फोड़ सकता है। बालक को हटाने से उसे पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। उसके परिवार वालों में उस साधु के प्रति अप्रीति होने की संभावना रहती है। बालक को स्नान करा कौतुक (मंगलकारी चिन्ह) आदि से युक्त किया गया हो उस स्थिति में बालक को हटाने से उस बालक के प्रदोष—अमङ्गल होने का लांछन लगाया जा सकता है। इस प्रकार एलक आदि को लांघने या हटाने से शरीर और संयम दोनों की विराधना होने की संभावना रहती है[2]।

श्लोक २३

९५ श्लोक २३

इस श्लोक में यह बताया गया है कि जब मुनि आहार के लिए घर में प्रवेश करे तो वहाँ पर उसे किस प्रकार दृष्टि-संयम रखना चाहिए।

९६ आसक्त दृष्टि से न देखे (असंसत्तं पलोएज्जा ^क)

स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गड़ाकर न देखे अथवा स्त्री के अंग प्रत्यंगों को निर्निमेष दृष्टि से न देखे[3]।

आसक्त दृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है—क्षतिग्रस्त होता है। लोक आक्षेप करते हैं—'यह श्रमण विकार-ग्रस्त है।' रागोत्पत्ति और लोकोपघात—इन दोनों दोषों को देख मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे[4]।

मुनि जहाँ खड़ा रहकर भिक्षा ले और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दे—वे दोनों असंसक्त होने चाहिए—धान आदि बीजों से संसक्त नहीं होने चाहिए। इस भावना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है कि मुनि असंसक्त स्थान का अवलोकन करे। यह अगस्त्यचूर्णि की व्याख्या है। 'आसक्त दृष्टि से न देखे' यह उसका वैकल्पिक अर्थ है[5]।

1—हा॰ टी॰ प॰ १६७ : आत्मसंयमविराधनादोषात्प्रसङ्गादिति सूत्रार्थः।

2—(क) अ॰ चू॰ : एत्थ पच्चवाया—एलओ सिंगेण पडाए वा आहणेज्जा दारगो [illegible] दुक्खवेज्जा सबओ वा से [illegible]—अप्पत्तियं—कोउयादीहिं परिकम्मिए वा [illegible] करेज्जा। वच्छओ भाएज्जा। वच्छओ [illegible] बंधणं [illegible] करेज्जा। [illegible]।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १७९ : [illegible] सिंगेहिं आहणेज्जा वड्डुं वा करेज्जा [illegible] करेज्जा [illegible] बालो [illegible] भाणं वा भिंदेज्जा [illegible] दारगो [illegible] होज्जा [illegible] पडिणीओ होज्जा [illegible] आयसंजमविराहणं करेज्जा [illegible] सो वा [illegible] दुक्खाविज्जा [illegible] होज्जा एवमादि।

3—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १७९ : असंसत्तं पलोएज्जा नाम इत्थियाए दिट्ठिं न बंधिज्जा अहवा अंगपच्चंगाणि अणिमिसाए दिट्ठीए न जोएज्जा।

(ख) हा॰ टी॰ प॰ १६८ : 'असंसत्तं प्रलोकयेत्' न योषिद् दृष्ट्या दृष्टिं मेलयेदित्यर्थः।

4—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १७९ : किं कारणं? जम्हा तस्स बंभव्वयपीला भवइ जोएंतं वा दट्ठुं अविरयगा उड्डाहं करेज्जा—[illegible] सविगारो।

(ख) हा॰ टी॰ प॰ १६८ : रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषप्रसङ्गात्।

5—अ॰ चू॰ : असंसत्तं [illegible] असंसत्तं, न संसत्तं असंसत्तं तं पलोएज्जा [illegible] [illegible] अहवा असंसत्तं पलोएज्जा [illegible] दिट्ठीए [illegible] असंसत्तं [illegible] बीजादिसंसत्तं एवं असंसत्तं।

६७. अति दूर न देखे (नाइदूरावलोयए ख) :

मुनि वहीं तक दृष्टि डाले जहाँ भिक्षा देने के लिए वस्तुएँ उठाई-रखी जाए[1]। वह उससे आगे दृष्टि न डाले। घर के दूर कोणादि पर दृष्टि डालने से मुनि के सम्बन्ध में चोर, पारदारिक आदि होने की आशंका हो सकती है[2]। इसलिए अति दूर-दर्शन का निषेध किया गया है।

अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार अति दूर स्थित साधु चींटी आदि जन्तुओं को देख नहीं सकता। अधिक दूर से दिया जाने वाला आहार अभिहृत हो जाता है, इसलिए मुनि को भिक्षा देने के स्थान से अति दूर स्थान का अवलोकन नहीं करना चाहिए—खडा नहीं रहना चाहिए। अति दूर न देखे—यह उसका वैकल्पिक रूप है[3]।

६८. उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे (उप्फुल्लं न विणिज्झाए ग) :

विकसित नेत्रों से न देखे—औत्सुक्यपूर्ण नेत्रों से न देखे[4]।

स्त्री, रत्न, घर के सामान आदि को इस प्रकार उत्सुकतापूर्वक देखने से गृहस्थ के मन में मुनि के प्रति लघुता का भाव उत्पन्न हो सकता है। वे यह सोच सकते हैं कि मुनि वासना में फसा हुआ है। लाघव दोष को दूर करने के लिए यह निषेध है।

६९. बिना कुछ कहे वापस चला जाय (नियट्टेज्ज अयंपिरो घ) :

घर में प्रवेश करने पर यदि गृहस्थ प्रतिषेध करे तो मुनि घर से निवर्तित हो—बाहर चला आये। इस प्रकार भिक्षा न मिलने पर वह 'अजल्पन्' बिना कुछ कहे—निंदात्मक दीन वचन अथवा कर्कश वचन का प्रयोग न करते हुए—मौन भाव से वहाँ से चला आये[5]।

'शीलाद्यर्थस्येर'[6]—इस सूत्र से 'इर' प्रत्यय हुआ है। सस्कृत में इसके स्थान पर 'शीलाद्यर्थे तृन्' होता है। हरिभद्रसूरि ने इसका सकृत रूप 'अजल्पन्' किया है।

१—(क) जि० चू० पृ० १७६ तावमेव पलोएइ जाव उक्खेवनिक्खेव पासई।
(ख) हा० टी० प० १६८ 'नातिदूरं प्रलोकयेत्'—दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्।

२—(क) जि० चू० पृ० १७६ तओ परं घरकोणादी पलोयत दट्ठूण संका भवति, किमेस चोरो पारदारिओ वा होज्जा? एवमादि दोसा भवति।
(ख) हा० टी० प० १६८ परतश्चौरादिशङ्कादोष।

३—अ० चू० त च णातिदूरा वलोयए अति दूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खन्ति, अतो तिघरतरा परेणी घरतर भवति पाण जातियरक्खण ण तीरन्ति त्ति। ... (अहवा) णातिदूरगताए वस्ससणिद्धादीहत्यमत्तावलीयण मसससत्ताए दिट्ठीए करणीय।

४—(क) अ० चू० उप्फुल्ल ण विणिज्झाए, उप्फुल्ल उद्धुराए दिट्ठिए, 'फुल्लविकसणे' इति हासविगसततारिगं ण विणिज्झाए ण विविधं पेक्खेज्जा, दिट्ठीए विनियट्टणामिव।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ उप्फुल्ल नाम विगसिएहिं णयणेहिं इत्थीसरीर रयणादी वा ण निज्झाइयव्व।
(ग) हा० टी० प० १६८ 'उत्फुल्ल' विकसितलोचन 'न विणिज्झाए' त्ति न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्ते।

५—(क) अ० चू० वाताए वि 'णियट्टेज अयपुरो' दिण्णे परियदणेण अदिण्णे रोसवयणेहिं ... 'एवमादीहिं अजपणसीलो 'अयपुरो' एवविधो णियट्टेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ जदा य पडिसेहिओ भवति तदा अयंपिरेण णियत्तियव्व, अज्झखमाणेणत्ति वुत्त भवति।
(ग) हा० टी० प० १६८ तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन्—दीनवचनमनुच्चारयन्निति।

६—हैम० ८ २ १४५।

श्लोक २४

१०० श्लोक २४ :

आहार के लिए घर में प्रवेश करने के बाद साधु कहाँ तक जाए इसका नियम इस श्लोक में है।

१०१ अतिभूमि (अननुज्ञात) में न जाए (अइभूमिं न गच्छेज्जा ^क) :

गृहपति के द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि को 'अतिभूमि' कहते हैं। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं वहाँ तक की भूमि अतिभूमि नहीं होती। मुनि इस सीमा का अतिक्रमण कर आगे न जाए[1]।

१०२ कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर (कुलस्स भूमिं जाणित्ता ^ख) :

जहाँ तक जाने में गृहस्थ को अप्रीति न हो जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हों उस भूमि को कुल-भूमि कहते हैं। इसका निर्णय ऐश्वर्य देशाचार भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थों की अपेक्षा से करना चाहिए।

लाख का गोला अग्नि पर चढ़ाने से पिघल जाता है और उससे अति दूर रहने पर वह रूप नहीं पा सकता। इसी प्रकार गृहस्थ के घर से दूर रहने पर मुनि को भिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती एषणा की भी शुद्धि नहीं हो पाती। और अत्यन्त निकट चले जाने पर अप्रीति या सन्देह उत्पन्न हो सकता है। अतः वह कुल की भूमि (भिक्षा लेने की भूमि) को पहले जान ले[2]।

१०३ मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे (मियं भूमिं परक्कमे ^ग) :

गृहस्थ के द्वारा अनुज्ञात—अवर्जित भूमि को मित भूमि कहते हैं[4]।

यह नियम अप्रीति और अविश्वास उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[5]।

१—(क) अ० चू० : मितक्खरभूमि अतिक्कमणं—अतिभूमी तं न गच्छेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १८९ : अणणुन्नाया भूमी ....साहू न पविसेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६८ : अतिभूमिं न गच्छेद्—अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० : किं पुण भूमिपरिमाणं ? इति भण्णति—तं विभव-देसा आयार-भद्दग-पंतगादीहिं 'कुलस्स भूमिं जाणिऊण' उवलक्खणेणं जहण्णे वा भिक्खायरा आयरियं भूमिमुपसरंति एवं विण्णातं।
(ख) जि० चू० पृ० १८९ : केवइयाए पुण पविसियव्वं ? ....जत्थ तेसिं गिहत्थाणं अप्पत्तियं न भवइ जत्थ अण्णेवि भिक्खायरा ठायंति।

३—(क) अ० चू० : तोसे य गहणेसणाए अतिभूमीगमणपडिसेहत्थं भण्णति—जतु गोलगस्स आहरणं जउगोलगो अगणिआसन्ने विलियति दूरत्थो असंतत्तो कज्जं न निव्वत्तेति साहू वि दूरत्थो अदीसमाणो भिक्खं न लभति एसणं वा न सोहेति, आसण्णे अप्पत्तियं भवति तक्करसंका वा तम्हा कुलस्स भूमिं जाणेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६९ :

जह जउगोलो अगणिस्स नाइदूरे न आवि आसन्ने।
सक्कइ काउं तहा संजमगोलो गिहत्थाणं॥

४—(क) अ० चू० : 'मितं भूमिं परक्कमे' कुलीण संपिंडितं अण्णदोसरहितं तावतियं पविसेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'मितां भूमिं' तदनुज्ञातां पराक्रमेत्।
(ग) हा० टी० प० १६९ :

दूरे अणवलोअणया इयरम्मि तक्करसंका।
तम्हा मियभूमीए चिट्ठिज्जा गोयरग्गगओ॥

५—(क) जि० चू० पृ० १९० : मियं नाम अणुण्णायं परक्कमे नाम पविसेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६८ : अप्रीतिसम्प्रतीतिनिवारणमेव इति सूत्रार्थः।

श्लोक २५ :

१०४. श्लोक २५ :

मित-भूमि में जाकर साधु कहाँ और कैसे खड़ा रहे इसकी विधि प्रस्तुत श्लोक में है[1]।

१०५. विचक्षण मुनि (वियक्खणो ख) :

विचक्षण का अर्थ—गीतार्थ या शास्त्र-विधि का जानकार है। अगीतार्थ के लिए भिक्षाटन का निषेध है। भिक्षा उसे लानी चाहिए जो शास्त्रीय विधि-निषेधों और लोक-व्यवहारों को जाने, सयम में दोष न आने दे और शासन का लाघव न होने दे[2]।

१०६. मित-भूमि में ही (तत्थेव क) :

मित-भूमि में भी साधु जहाँ-तहाँ खड़ा न होकर इस बात का उपयोग लगाये कि वह कहाँ खड़ा हो और कहाँ खड़ा न हो। वह उचित स्थान को देखे। साधु मित-भूमि में कहाँ खड़ा न हो इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में आया है[3]।

१०७. शौच का स्थान (वच्चस्स ग) :

जहाँ मल और मूत्र का उत्सर्ग किया जाए वे दोनों स्थान 'वर्चस्' कहलाते हैं[4]।

१०८. दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का (संलोगं घ) :

'सलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनों से है। 'सलोक'—सदर्शन अर्थात् जहाँ खड़ा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-विसर्जन करती हुई स्त्री दिखाई दे अथवा वही साधु को देख सके[5]।

स्नान-गृह और शौच-गृह की ओर दृष्टि डालने से शासन की लघुता होती है—अविश्वास होता है और नग्न शरीर के अवलोकन से काम-वासना उभरती है[6]। यहाँ आत्म-दोष और पर-दोष—ये दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ सोचती हैं—हम मातृ-

---

१—अ० चू० जम्मि य भूमिगमणमुद्दिट्ठमणतर तम्मि वि आय-पवयण—सजमोवरोहपरिहरणत्थ नियमिज्जति।

२—(क) अ० चू० 'वियक्खणो' पराभिप्पाय जाणतो, कहि चियत्त ण वा ? विसेसेण पवयणोवघातरक्खणत्थ।

(ख) हा० टी० प० १६८ 'विचक्षणो' विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह।

३—(क) अ० चू० तत्थेवि ताए मिताए भूमीए एवसद्दो अवधारणे। किमवधारयति ? पुव्वुद्दिट्ठ कुलाणुरूवं।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ तत्तियाए मियाए भूमीए उवयोगो कायव्वो पढिएण, कत्थ ठातियव्व कत्थ न वत्ति, तत्थ ठातियव्व जत्थ इमाइ न दीसति।

(ग) हा० टी० प० १६८ 'तत्रैव' तस्यामेव मिताया भूमौ।

४—(क) अ० चू० 'वच्च' अमेज्झ त जत्थ। पचप (? पच्छ-प) डगादिसमीवथाणादिसु त एव दोसा इति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ।

(ग) हा० टी० प० १६८ 'वर्चसो' विष्टायाः।

५—(क) अ० चू० 'सलोगो' जत्थ एताणि आलोइज्जति त परिवज्जए।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ आसिणाणस्ससलोय परिवज्जए, सिणाणसलोग वच्चसलोग व 'सलोग जत्थ ठिएण हि दीसति, ते वा त पासति।

(ग) हा० टी० प० १६८ स्नानभूमिकायिकादिभूमिसदर्शनम्।

६—हा० टी० प० १६८ प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावात्।

श्लोक २७ :

११४. श्लोक २७ :

अब तक के श्लोकों में आहारार्थी मुनि स्व-स्थान से निकलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, वहाँ कैसे स्थित हो इस विधि का उल्लेख है। अब वह क्या ग्रहण करे क्या नहीं करे इसका विवेचन आता है।

जो कालादि गुणों से शुद्ध है, जो अनिष्ट कुलों का वर्जन करता है, जो प्रीतिकारी कुलों में प्रवेश करता है, जो उपदिष्ट स्थानों में स्थित होता है और जो आत्मदोषों का वर्जन करता है उस मुनि को अब दायक-शुद्धि की बात बताई जा रही है[1]।

११५. (अकप्पियं ग ··· कप्पियं घ) :

शास्त्र-विहित, अनुमत या अनिषिद्ध को 'कल्पिक' या 'कल्प्य'[2] और शास्त्र-निषिद्ध को 'अकल्पिक' या 'अकल्प्य'[3] कहा जाता है।

'कल्प' का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी और 'कल्प्य' का अर्थ है—नीति आदि से युक्त ग्राह्य, करणीय और योग्य। इस अर्थ में 'कल्पिक' शब्द का भी प्रयोग होता उमास्वाति के शब्दों में जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रह और दोषों का निग्रह करता है वही निश्चय-दृष्टि से 'कल्प्य' है और शेष 'अकल्प्य'[4]। उनके अनुसार कोई भी कार्य एकान्ततः 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' नहीं होता। जिस 'कल्प्य' कार्य से सम्यक्त्व, ज्ञान आदि का नाश और प्रवचन की निंदा होती हो तो वह 'अकल्प्य' है। इसी प्रकार 'अकल्प्य' भी 'कल्प्य' बन जाता है। निष्कर्ष की भाषा में देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि की समीक्षा करके ही 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' का निर्णय किया जा सकता है, इन्हें छोड़कर नहीं[5]।

आगम-साहित्य में जो उत्सर्ग और अपवाद हैं, वे लगभग इसी आशय के द्योतक हैं। फिर भी 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की निश्चित रेखाएँ खिंची हुई हैं। उनके लिए अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की व्यवस्था देना उचित नहीं होता। बहुश्रुत आगम-धर के अभाव में आगमोक्त विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण ही ऋजु मार्ग है। मुनि को कल्पिक, एषणीय या भिक्षा-सम्बन्धी बयालीस दोष-वर्जित, भिक्षा लेनी चाहिए। यह ग्रहणैषणा (भक्त-पान लेने की विधि) है।

१—(क) अ० चू० एव काले अपडिसिद्धकुलमियभूमिपदेसावत्थितस्स गवेसणाजुत्तस्स गहणेसणाणियमणत्थमुपदिस्सति।
(ख) जि० चू० पृ० १७७ एव तस्स कालाइगुणछुद्धस्स अणिट्ठकुलाणि वज्जेंतस्स चियत्तकुले पविसतस्स जहोवदिट्ठे ठाणे ठियस्स आयसमुत्था दोसा वज्जेंतस्स दायगछुद्धी भगणइ।

२—(क) अ० चू० कप्पित सेसेसणा दोसपरिछुद्धमवि।
(ख) हा० टी० प० १६८ 'कल्पिकम्' एषणीयम्।

३—(क) अ० चू० बायालीसाए अगणतरेण एसणादोसेण दुट्ठं।
(ख) हा० टी० प० १६८ 'अकल्पिकम्' अनेषणीयम्।

४—प्र० प्र० १४३
यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रह निग्रह च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥

५—वही १४४-४६
यत्पुनरुपघातकर सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्य प्रवचनकुत्साकर यच्च॥
किंचिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड शय्या वस्त्रं पात्र वा भैषजाद्य वा॥
देश काल क्षेत्र पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्य नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

श्लोक ३० :

१२१. एक वर्तन में से दूसरे वर्तन में निकाल कर (साहट्टु[क]) :

भोजन को एक वर्तन से निकाल कर दूसरे वर्तन में डालकर दें तो चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो मुनि उसका परिवर्जन करे। इस प्रकार के आहार की चौभङ्गी इस तरह है[1] :—

(१) प्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(२) प्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

(३) अप्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(४) अप्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

प्रासुक में से प्रासुक निकाले उसके भङ्ग इस प्रकार हैं :—

(१) अल्प को अल्प में से निकाले।

(२) बहुत को अल्प में से निकाले।

(३) अल्प को बहुत में से निकाले।

(४) बहुत को बहुत में से निकाले।

विशेष जानकारी के लिए देखिए पिण्ड निर्युक्ति गा० ५६३-६८।

१२२. श्लोक ३०-३१ :

आहार को पाक-पात्र से दूसरे पात्र में निकालना और उसमें जो अनुपयोगी अंश हो उसे बाहर फेंकना सहरण कहलाता है। सहरण-पूर्वक जो भिक्षा दी जाए उसे 'सहृत' नाम का दोष माना गया है। सचित्त-वस्तु पर रखे हुए पात्र में भिक्षा निकालकर देना, छोटे पात्र में न समाए उतना निकाल कर देना, बड़े पात्र में जो बड़े कष्ट से उठाया जा सके उतना निकाल कर देना 'सहृत' दोष है[2]।

१—(क) अ० चू० गा० ५६३-६८ साहट्टु अएणम्मि भायणे छोढूण। एत्थ य फासुय अफासुए साहरति चउभंगो। तत्थ ज फासुय फासुए साहरति त सुक्ख सुक्खे साहरति एत्थ वि चउभंगो। भंगाण पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ साहट्टु नाम अन्नमि भायणे साहरिउ देंति त फासुगपि विवज्जए, तत्थ फासुए फासुय साहरइ १ फासुए अफासुय साहरइ २ अफासुए फासुय साहरइ ३ अफासुए अफासुय साहरति ४, तत्थ ज फासुय फासुएसु साहरति त थेव थेवे साहरति बहुए थेव साहरइ थेवे बहुय साहरइ बहुए बहुय साहरइ, एतेसि भगाणं जहा पिंडनिज्जुत्तीए।

२—पि० नि० ५६५-७१ .

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्ज तु होज्ज असणाई।
छोढु तयन्नहि तेण देई अह होइ साहरण॥
भूमाइएसु त पुण साहरण होइ छसुवि काएसु।
ज त दुहा अचित्त साहरण तत्थ चउभगो॥
सुक्के सुक्कं पढमो सुक्के उल्ल तु बिइयओ भंगो।
उल्ले सुक्क तइओ उल्ले उल्ल चउत्थो उ॥
एक्केक्के चउभगो सुक्काईएसु चउसु भगेसु।
थोवे थोव थोवे बहु च विवरीय दो अन्ने॥
जत्थ उ थोवे थोव सुक्के उल्ल च छुहइ त मज्झ (गेज्झ)।
जइ त तु समुक्खेउ थोवाभार दलइ अन्न॥
उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणमि लुद्ध वह डाहो।
अचियत्त वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते॥
थोवे थोव छूढ सुक्के उल्ल तु त तु आइन्न।
बहुय तु अणाइन्न कडदोसो सोत्ति काऊण॥

श्लोक २८ :

११६ श्लोक २८

इस श्लोक में 'छर्दित' नामक एषणा के दसवें दोषयुक्त भिक्षा का निषेध है[1]। तुलना के लिए देखिए—आवश्यक ४.८।

११७ देती हुई (देंतियं ग)

प्रायः स्त्रियाँ ही भिक्षा दिया करती हैं, इसलिए यहाँ दाता के रूप में स्त्री का निर्देश किया है[2]।

श्लोक २९

११८ और (य क) :

अगस्त्य चूर्णि में 'य' के स्थान पर 'वा' है। उन्होंने 'वा' से सब वनस्पति का ग्रहण माना है[3]।

११९ असंयमकरी होती है—यह जान (असंजमकरिं नच्चा घ) :

मुनि की भिक्षाचर्या में अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेक रखा गया है। भिक्षा देते समय दाता आरम्भ-रत नहीं होना चाहिए। असंयम का अर्थ संयमभाव का अभाव होता है। किन्तु प्रकरण-संगति से यहाँ उसका अर्थ जीव-वध ही संगत लगता है। भिक्षा देने के निमित्त आता हुआ दाता यदि हिंसा करता हुआ आए अथवा भिक्षा देने के लिए वह पहले से ही वनस्पति आदि के आरम्भ में लगा हुआ हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेने का निषेध है।

१२० भक्त-पान (तारिसं घ) :

दोनों चूर्णिकार 'तारिसं'—ऐसा पाठ मानते हैं[4]। उनके अनुसार यह शब्द भक्त-पान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार तथा उनके उत्तरवर्ती व्याख्याकार 'तारिसिं'—ऐसा पाठ मान उसे देने वाली स्त्री के साथ जोड़ते हैं[5]। इसका अनुवाद होगा—उसे वर्जे—उसके हाथ से भिक्षा न ले।

१—पि० नि० २७९-२८० :

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डणे य चउभंगो।
चउभंगे पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा॥
उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीयपडणम्मि काया पडिए महुबिंदुआहरणं॥

२—(क) अ० चू० : 'दायगं इत्थीयं भिक्खायरं' ति इत्थीनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : बाहुल्लो इत्थियाओ भिक्खं दलयंति तेण इत्थियाए निद्देसो कओ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'ददतीम्'……स्त्रीयं प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्।

३—अ० चू० : वा सद्देण सव्व वणस्सति कायं।

४—(क) अ० चू० : तारिसं पुव्वभणितं भत्तपाणं परिवज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : तारिसं भत्तपाणं तु परिवज्जए।

५—हा० टी० प० १६६ : तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीत।

श्लोक ३० :

१२१. एक वर्तन में से दूसरे वर्तन में निकाल कर (साहट्टु क) :

भोजन को एक वर्तन से निकाल कर दूसरे वर्तन में डालकर दें तो चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो मुनि उसका परिवर्जन करे। इस प्रकार के आहार की चौभङ्गी इस तरह है[1] :—

(१) प्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(२) प्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

(३) अप्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(४) अप्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

प्रासुक में से प्रासुक निकाले उसके भङ्ग इस प्रकार हैं :—

(१) अल्प को अल्प में से निकाले।

(२) बहुत को अल्प में से निकाले।

(३) अल्प को बहुत में से निकाले।

(४) बहुत को बहुत में से निकाले।

विशेष जानकारी के लिए देखिए पिण्ड निर्युक्ति गा० ५६३-६८।

१२२. श्लोक ३०-३१ :

आहार को पाक-पात्र से दूसरे पात्र में निकालना और उसमें जो अनुपयोगी अंश हो उसे बाहर फेंकना सहरण कहलाता है। सहरण-पूर्वक जो भिक्षा दी जाए उसे 'संहृत' नाम का दोष माना गया है। सचित्त-वस्तु पर रखे हुए पात्र में भिक्षा निकालकर देना, छोटे पात्र में न समाए उतना निकाल कर देना, बड़े पात्र में जो बड़े कष्ट से उठाया जा सके उतना निकाल कर देना 'संहृत' दोष है[2]।

१—(क) अ० चू० गा० ५६३-६८ साहट्टु अण्णम्मि भायणे छोढूण। एत्थ य फासुय अफासुए साहरति चउभंगो। तत्थ ज फासुय फासुए साहरति त थक्क थक्के साहरति एत्थ वि चउभंगो। भगाण पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ साहट्टु नाम अन्नमि भायणे साहरिउ देंति त फासुगपि विवज्जए, तत्थ फासुए फासुय साहरइ १ फासुए अफासुय साहरइ २ अफासुए फासुय साहरइ ३ अफासुए अफासुय साहरति ४, तत्थ ज फासुय फासुएसु साहरति त थेव थेवे साहरति बहुए थेव साहरइ थेवे बहुय साहरइ बहुए बहुय साहरइ, एतेसि भंगाणं जहा पिंडनिज्जुत्तीए।

२—पि० नि० ५६५-७१

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्ज तु होज्ज असणाई।
छोढु तयन्नहिं तेण देई अह होइ साहरण॥
भूमाइएसु त पुण साहरण होइ छसुवि काएसु।
ज स दुहा अचित्त साहरण तत्थ चउभंगो॥
सुक्के सुक्कं पढमो सुक्के उल्ल तु बिइयओ भंगो।
उल्ले सुक्क तइओ उल्ले उल्ल चउत्थो उ॥
एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भगेसु।
थोवे थोव थोवे बहु च विवरीय दो अन्ने॥
जत्थ उ थोवे थोव सुक्के उल्ल च छुहइ त मज्झ (गेज्झ)।
जइ स तु समुक्खेउ थोवाभार दलइ अन्न॥
उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणमि लुद्ध वह डाहो।
अचियत्त वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते॥
थोवे थोव छूढ सुक्के उल्ल तु त तु आइन्न।
बहुयं तु अणाइन्न कडदोसो सोत्ति काऊण॥

जो देय मात्र हो, उसे सचित्त-वस्तु पर रख कर देना 'निक्षिप्त' दोष है[1]। उदक का प्रेरण, अवगाहन और चालन सचित्त-स्पर्श के भीतर समाए हुए हैं। फिर भी इनका विशेष प्रसंग होने के कारण विशेष उल्लेख किया गया है। सचित्त वस्तु का अवगाहन कर या उसे हिलाकर भिक्षा दी जाए, वह एषणा का 'दायक' नामक छठा दोष है।

श्लोक ३२

१२३ पुराकर्म-कृत (पुरेकम्मेण ख) :

साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सजीव जल से हाथ कड़छी आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ—हिंसा करना पूर्व-कर्म दोष है[2]।

१२४ बर्तन से (भायणेण ख) :

काँसे आदि के बर्तन को 'भाजन' कहा जाता है[3]। निशीथ चूर्णि के अनुसार मिट्टी का बर्तन 'अमत्रक' या 'मात्रक' और कांस्य का पात्र भाजन कहलाता है[4]।

१२५ श्लोक ३३ ३४ पाठान्तर का टिप्पण :—

एवं उदओल्ले ससिणिद्धे ॥३३॥

गेरुय वण्णिय ॥३४॥

टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएं हैं। चूर्णि में इनके स्थान पर सत्रह श्लोक हैं। टीकासम्मत गाथाओं में 'एवं' और 'बोद्धव्वं' ये दो शब्द जो हैं वे इस बात के सूचक हैं कि ये संग्रह-गाथाएँ हैं। जान पड़ता है कि पहले ये श्लोक भिन्न भिन्न थे फिर बाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोड़े में संग्रह किया गया। यह कब और किसने किया इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। इसके बारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है।

अगस्त्य चूर्णि की गाथाएँ इस प्रकार हैं

१ उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

२ ससिणिद्धेण हत्थेण ... ...

३ ससरक्खेण हत्थेण ... ...

४ मट्टियागतेण हत्थेण ... ...

५ ऊसगतेण हत्थेण ...

१—देखिए 'संघट्टिया' की टिप्पणी (५.१.३१) संख्या १११।

२—(क) अ० चू० : पुरेकम्मं जं साधुनिमित्तं धोवणं हत्थादीणं।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पुरेकम्मं नाम जं साहूणं दट्ठूणं हत्थं भायणं धोवइ तं पुरेकम्मं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १७० : पुरः कर्मणा हस्तेन—साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण।

३—(क) जि० चू० पृ० १७९ : भायणं कंसभायणादि।
(ख) हा० टी० प० १७० : 'भाजनेन वा' कांस्यभाजनादिना।

४—नि० ३.१४ चू० : उदगिमत्तो मत्तओ। कंसमयं भायणं।

६ हरितालगतेण हत्थेण ·· ··
७ हिंगोलुयगतेण हत्थेण · · · ·
८ मणोसिलागतेण हत्थेण · · · · ·
९. अंजणगतेण हत्थेण ·· · ·· · ·
१० लोणगतेण हत्थेण · · · ·· · · ·
११. गेरुयगतेण हत्थेण ·· · · ·
१२. वण्णियगतेण हत्थेण
१३ सेडियगतेण हत्थेण ·
१४ सोरट्ठियगतेण हत्थेण · ·
१५ पिट्ठगतेण हत्थेण ··· ·
१६ कुक्कुसगतेण हत्थेण · · ·
१७ उक्कुट्ठगतेण हत्थेण ···

चूर्णिगत श्लोकों का अनुवाद क्रमशः इस प्रकार है —

१ जल से आर्द्र हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२ सस्निग्ध हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३ सजीव रज-कण से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४ मृत्तिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५ क्षार से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६ हरिताल से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७ हिंगुल से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

८ मैनशिल से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

९ अञ्जन से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१० नमक से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

११ गैरिक से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१२ वर्णिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

श्लोक ३४ :

१३०. गैरिक (गेरुय क) :

इसका अर्थ है लाल मिट्टी[1]।

१३१. वर्णिका (वण्णिय क) :

इसका अर्थ है पीली मिट्टी[2]।

१३२. श्वेतिका (सेडिय क) :

इसका अर्थ है खड़िया मिट्टी[3]।

१३३. सौराष्ट्रिका (सोरट्ठिय ख) :

सौराष्ट्र में पाई जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी। इसे गोपीचन्दन भी कहते हैं[4]।

चूर्णिकारों के अनुसार स्वर्णकार सोने पर चमक लाने के लिए इस मिट्टी का उपयोग करते थे[5]।

१३४. तत्काल पीसे हुए आटे (पिट्ठ ख) :

चावलों का कच्चा और अपरिणत आटा 'पिष्ट' कहलाता है। अगस्त्यसिंह और जिनदास के अनुसार अग्नि की मंद आँच से पकाया जाने वाला अपक्व पिष्ट एक प्रहर से परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है[6]।

१३५. अनाज के भूसे या छिलके (कुक्कुस ख) :

चावलों के छिलकों को 'कुक्कुस' कहा जाता है[7]।

१—(क) अ० चू० गेरुय सुवण्णगेरुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ गेरुअ सुवण्ण (रसिया)।
(ग) हा० टी० प० १७० गैरिका—धातु ।

२—(क) अ० चू० वण्णिता पीतमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ वण्णिया पीयमट्टिया।
(ग) हा० टी० प० १७० वर्णिका—पीतमृत्तिका।

३—(क) अ० चू० सेडिया महासेडाति।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ सेडिया गडरिया।
(ग) हा० टी० प० १७० श्वेतिका—शुक्लमृत्तिका।

४—शा० नि० भू० पृ० ६४

सौराष्ट्र्याढकीतुवरीपर्पटीकालिकासती।
सुजाता देशभाषाया गोपीचन्दनमुच्यते॥

५—(क) अ० चू० सोरट्ठिया तुवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ सोरट्ठिया उवरिया, जीए सुवण्णकारा उप्प करेंति सुवण्णस्स पिंड।

६—(क) अ० चू० आमपिट्ठ आमओ लोट्टो। सो अप्पिंधणो पोरुसीए परिणमति। बहु इंधणो आरतो चेव।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ आमलोट्टो, सो अप्पेंधणो पोरिसिमित्तेण परिणमइ बहुइंधणो आरतो परिणमइ।

७—(क) अ० चू० कुक्कुसा चाउलत्तया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ कुक्कुसा चाउलातया।
(ग) हा० टी० प० १७० कुक्कुसा प्रतीता।
(घ) नि० ४ ३६ चू० तंदुलाण कुक्कुसा।

१३ श्वेतिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१४ सौराष्ट्रिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१५ तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६ अनाज के भूसे या छिलके से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१७ फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

श्लोक ३३

१२६ जल से आर्द्र, सस्निग्ध (उदओल्ले ससिणिद्धे ख):

जिससे बूंदें टपक रही हों उसे आर्द्र[1] और केवल गीला-सा हो उसे सस्निग्ध[2] कहा जाता है।

१२७ सचित्त रज-कण (ससरक्खे[3] ख):

विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ९९ पृ० १६०-६१।

१२८ मृत्तिका (मट्टिया ख):

इसका अर्थ है मिट्टी का ढेला या कीचड़[4]।

१२९ क्षार (ऊसे ख)

इसका अर्थ है खारी या नोनी मिट्टी[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७८ : उदउल्लं नाम गलंतं उदउल्लं।
(ख) हा० टी० प० १७८ : उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्तः।
२—(क) नि० भा० गा० १४८ चूर्णि : अप्पणतबिंदू ण संविज्जति तं ससिणिद्धं।
(ख) अ० चू० : ससिणिद्धं—जं उदगेण किंचि णिद्धं, ण पुण गलति।
(ग) जि० चू० पृ० १७८ : ससिणिद्धं नाम जं न गलइ।
(घ) हा० टी० प० १७८ : सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्तः।
३—(क) अ० चू० : ससरक्खं पंसु—रउग्गुंडियं।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : ससरक्खमिति सरक्खं नाम पंसुरउग्गुंडियं।
(ग) हा० टी० प० १७८ : सरजस्को नाम—पृथिवीरजोगुण्डितः।
४—(क) अ० चू० : मट्टिया चिक्खल्लो।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : मट्टिया कद्दममट्टिया चिक्खल्लो।
(ग) हा० टी० प० १७८ : मृद्गतो नाम—कर्दमयुक्तः।
५—(क) अ० चू० : ऊसो लवणमत्।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : ऊसो नाम पंसुखारो।
(ग) हा० टी० प० १७८ : ऊष—पांशु क्षार।

तेंतीसवीं गाथा के 'एव' शब्द के द्वारा "दव्वीए भायणेण वा, देंतिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिस" की अनुवृत्ति होती है।

श्लोक ३५ :

१३८. जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो (पच्छाकम्मं जहिं भवे घ) :

जिस वस्तु का हाथ आदि पर लेप लगे और उसे धोना पड़े वैसी वस्तु से अलिप्त हाथ आदि से भिक्षा देने पर पश्चात्-कर्म दोष का प्रसङ्ग आता है। भिक्षा देने के निमित्त जो हस्त, पात्र आदि आहार से लिप्त हुए हों उन्हें गृहस्थ सचित्त जल से धोता है, अतः पश्चात्-कर्म होने की सम्भावना को ध्यान में रखकर असंसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का निषेध तथा संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का विधान किया गया है[1]। रोटी आदि सूखी चीज, जिसका लेप न लगे और जिसे देने के बाद हाथ आदि धोना न पड़े, वह असंसृष्ट हाथ आदि से भी ली जा सकती है[2]।

पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ६१३-२६) में एषणा के लिप्त नामक नवें दोष का वर्णन करते हुए एक बहुत ही रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते हैं—"मुनि को अलेपकृत आहार (जो चुपड़ा न हो, सूखा हो, वैसा आहार) लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष का प्रसङ्ग टलता है और रस-लोलुपता भी सहज मिटती है।" शिष्य ने कहा—"यदि पश्चात्-कर्म दोष के प्रसङ्ग को टालने के लिए लेप-कर आहार न लिया जाए यह सही हो तो उचित यह होगा कि आहार लिया ही न जाए, जिससे किसी दोष का प्रसङ्ग ही न आए।" आचार्य ने कहा—"सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले तप, नियम और संयम की हानि होती है, इसलिए यावत्-जीवन का उपवास करना ठीक नहीं।" शिष्य फिर बोल उठा—"यदि ऐसा न हो तो छह-छह मास के सतत उपवास किए जाए और पारणा में अलेप-कर आहार लिया जाए।" आचार्य बोले—"यदि इस प्रकार करते हुए संयम को निभाया जा सके तो भले किया जाए, रोकता कौन है ? पर अभी शारीरिक बल सुदृढ नहीं है, इसलिए तप उतना ही किया जाना चाहिए जिससे प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि मुनि का आचार भली-भांति पाला जा सके।"

मुनि को प्राय: विकृति का परित्याग रखना चाहिए। शरीर अस्वस्थ हो, संयम-योग की वृद्धि के लिए शक्ति-संचय करना आवश्यक हो तो विकृतियाँ भी खाई जा सकती हैं। अलेप-कर आहार मुख्य होना चाहिए। कहा भी है—'अभिक्खणं निव्विगइं गया य[3]।' इसलिए सामान्य विधि से यह कहा गया है कि मुनि को अलेप-कर आहार लेना चाहिए। पश्चात्-कर्म दोष की दृष्टि से विचार किया जाए वहाँ उतना ही पर्याप्त है जितना मूल श्लोकों में बताया गया है।

१३९. असंसृष्ट, संसृष्ट (असंसट्ठेण, ३५क संसट्ठेण[4] ३६ क) :

असंसृष्ट और संसृष्ट के आठ विकल्प होते हैं—

१—नि० भा० गा० १८४२

मा फिर पच्छाकम्मं, होज असंसट्ठग तओ वज्ज।
कर-मत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं॥

२—(क) जि० चू० पृ० १७६ अलेवेणं दव्व दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउं न घेप्पइ।
(ख) हा० टी० प० १७० शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति।

३—दश० चू० २.७।

४—(क) अ० चू० असंसट्ठो अण्णादीहिं अणुवलित्तो तत्थ पच्छेकम्म दोसो। उक्कपोयलियमादि देंतीये घेप्पति।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ असंसट्ठो णाम अण्णपाणादीहिं अलित्तो, तेण अलेवेण दव्व दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउं न घेप्पइ, सुक्खपूयलिया दिज्जइ तो घेप्पइ।
(ग) हा० टी० प० १७० तथा असंसृष्टो—व्यंजनादिना अलिप्त, संसृष्टश्चैव व्यजनादिलिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति।

१३६ फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस (उक्कट्ठं [ग]) :

उक्कट्ठ शब्द के 'उत्किष्ट'[१], 'उत्कृष्ट'[२] और 'उत्कुष्ट'[३]—ये तीन शब्द बनते हैं। भिन्न भिन्न आदर्शों में इन सब का प्रयोग मिलता है। 'उत्कृष्ट' का अर्थ फलों के सूक्ष्म-खण्ड अथवा वनस्पति का चूर्ण होता है[४]।

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने उत्कृष्ट का अर्थ—मुरापिष्ट, तिल, गेहूँ और यवों का आटा या ओखली में कूटे हुए इमली या पीलुपर्णी के पत्र, लौकी, तरबूज आदि किया है[५]।

१३७ संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिए (असंसट्ठे [घ] संसट्ठे चेव बोधव्वे [ङ]) :

सजीव पृथ्वी, पानी और वनस्पति से भरे हुए हाथ या पात्र को संसृष्ट-हस्त या संसृष्ट-पात्र कहा जाता है। निशीथ में संसृष्ट-हस्त के २१ प्रकार बतलाए हैं—

"उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टिया ऊसे लोणे य।
हरियाले मणोसिलाए, रसगए गेरुय सेढीय॥१॥
हिंगुलु अंजणे लोद्धे कुक्कुस पिट्ठ कंद मूल सिंगबेरे य।
पुप्फक कुट्ठं एए, एक्कवीसं भवे हत्था॥२॥

निशीथ भाष्य गाथा १४७ की चूर्णि में संसृष्ट के सत्तरह प्रकार बतलाए हैं—'पुरेकम्मे पच्छाकम्मे उदउल्ले, ससिणिद्धे, ससरक्खे, मट्टि-आऊसे हरियाले, हिंगुलए, मणोसिला अंजणे, लोद्धे गेरुय वण्णिय सेढिय सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस, उक्कुट्ठे चेव।' इनमें पुरा-कर्म पश्चात्-कर्म उदकार्द्र और सस्निग्ध—ये अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उत्कृष्ट—ये वनस्पतिकाय से संबन्धित हैं। इनके सिवाय शेष पृथ्वीकाय से संबन्धित हैं[६]।

आचारांग २.१.६ में 'उक्कट्ठ' के आगे 'संसट्ठ' शब्द और है। यहाँ उसके स्थान में 'चए' है पर वह 'कुक्कुस' के साथ है। उक्कट्ठ के आगे, 'चए' का संसट्ठ जैसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए अर्थ में थोड़ी अस्पष्टता आती है। वह सचित्त वस्तु से संसृष्ट आहार लेने का निषेध और उससे असंसृष्ट आहार लेने का विधान है[७]।

तज्जातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट हाथ आदि से लेने का निषेध और संसृष्ट हाथ आदि से लेने का जो विधान है, वह असंसृष्ट और संसृष्ट शब्द के द्वारा बताया गया है। टीकाकार 'विधि पुनरत्रोर्ध्वं वक्ष्यति स्वयमेव' इस वाक्य के द्वारा तज्जातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट और संसृष्ट हाथ आदि का सम्बन्ध अगले दो श्लोकों से जोड़ देते हैं।

१—हैम० ८.१.१२८ : 'उत्किष्ट' इत् कृपादौ।
२—हैम० ८.१.१२६ : 'उत्कृष्ट' ऋतोऽत्।
३—हैम० ८.१.१३१ 'उत्कुष्ट' उदृत्वादौ।
४—(क) नि० भा० गा० १४८ चू० : उक्कुट्ठो णाम सचित्त वणस्सतिपत्तंकुर-फलाणि वा उदूखले छुब्भंति, तेहिं हत्थो लित्तो एस उक्कुट्ठो-हत्थो भण्णति।
(ख) नि० ४.३८ चू० : सचित्तवणस्सती—चुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति।
५—(क) अ० चू० : उक्कुट्ठं पुणो कणकोद्दो तिल-गोधूम-जवपिट्ठं वा। अंबिलिया पीलुपण्णियादीणि वा उक्खलकुट्टितादि।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : उक्किट्ठ नाम लोणियकमियादीणि उक्खले कुट्टंति।
(ग) हा० टी० प० १७० : उत्कृष्टम् इति उत्कृष्टशब्देन कालिंगालाबुत्रपुषफलादीनां शलक्ष्णखण्डानि चिञ्चिणिकापत्रिलवणसुरामो वा उदूखलकुट्टित इति।
६—नि० भा० गा० १४७।
७—आचा० २.१.६ सू० : संसृष्टेन हस्तादिना दीयमानं न गृह्णीयात् इत्येतदादिना तु असंसृष्टेन तु गृह्णीयात् इति।

तैंतीसवीं गाथा के 'एव' शब्द के द्वारा "दव्वीए भायणेण वा, देंतिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिस" की अनुवृत्ति होती है।

श्लोक ३५ :

१३८. जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो (पच्छाकम्मं जहिं भवे घ) :

जिस वस्तु का हाथ आदि पर लेप लगे और उसे धोना पड़े वैसी वस्तु से अलिप्त हाथ आदि से भिक्षा देने पर पश्चात्-कर्म दोष का प्रसङ्ग आता है। भिक्षा देने के निमित्त जो हस्त, पात्र आदि आहार से लिप्त हुए हों उन्हें गृहस्थ सचित्त जल से धोता है, अतः पश्चात्-कर्म होने की सम्भावना को ध्यान में रखकर असंसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का निषेध तथा संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का विधान किया गया है[1]। रोटी आदि सूखी चीज, जिसका लेप न लगे और जिसे देने के बाद हाथ आदि धोना न पड़े, वह असंसृष्ट हाथ आदि से भी ली जा सकती है[2]।

पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ६१३-२६) में एषणा के लिप्त नामक नवें दोष का वर्णन करते हुए एक बहुत ही रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते हैं—"मुनि को अलेपकृत आहार (जो चुपड़ा न हो, सूखा हो, वैसा आहार) लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष का प्रसङ्ग टलता है और रस-लोलुपता भी सहज मिटती है।" शिष्य ने कहा—"यदि पश्चात्-कर्म दोष के प्रसङ्ग को टालने के लिए लेप-कर आहार न लिया जाए यह सही हो तो उचित यह होगा कि आहार लिया ही न जाए, जिससे किसी दोष का प्रसङ्ग ही न आए।" आचार्य ने कहा—"सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले तप, नियम और संयम की हानि होती है, इसलिए यावत्-जीवन का उपवास करना ठीक नहीं।" शिष्य फिर बोल उठा—"यदि ऐसा न हो तो छह-छह मास के सतत उपवास किए जाएं और पारणा में अलेप-कर आहार लिया जाए।" आचार्य बोले—"यदि इस प्रकार करते हुए संयम को निभाया जा सके तो भले किया जाए, रोकता कौन है? पर अभी शारीरिक बल सुदृढ नहीं है, इसलिए तप उतना ही किया जाना चाहिए जिससे प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि मुनि का आचार भली-भांति पाला जा सके।"

मुनि को प्राय विकृति का परित्याग रखना चाहिए। शरीर अस्वस्थ हो, संयम-योग की वृद्धि के लिए शक्ति-संचय करना आवश्यक हो तो विकृतियाँ भी खाई जा सकती हैं। अलेप-कर आहार मुख्य होना चाहिए। कहा भी है—'अभिक्खणं निव्विगइ गया य[3]।' इसलिए सामान्य विधि से यह कहा गया है कि मुनि को अलेप-कर आहार लेना चाहिए। पश्चात्-कर्म दोष की दृष्टि से विचार किया जाए वहाँ उतना ही पर्याप्त है जितना मूल श्लोकों में बताया गया है।

१३९. असंसृष्ट, संसृष्ट (असंसट्ठेण, ३५क संसट्ठेण[4] ३६ क) :

असंसृष्ट और संसृष्ट के आठ विकल्प होते हैं—

१— नि० भा० गा० १८५२

मा किर पच्छाकम्मं, होज्ज असंसट्ठग तओ वज्ज।
कर-मत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं॥

२—(क) जि० चू० पृ० १७९ . अलेवेण दव्वं दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउ न घेप्पइ।
(ख) हा० टी० प० १७० शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति।

३—दश० चू० २ ७।

४—(क) अ० चू० : असंसट्ठो अण्णादीहिं अणुवलित्तो तत्थ पच्छेकम्म दोसो। छक्कपोयलियमादि देंतीये घेप्पति।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ · असंसट्ठो णाम अण्णपाणादीहिं अलित्तो, तेण अलेवेण दव्वं दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउं न घेप्पइ, छक्खपूयलिया दिज्जइ तो घेप्पइ।
(ग) हा० टी० प० १७० तथा असंसृष्टो—व्यञ्जनादिना अलिप्त, संसृष्टश्चैव व्यञ्जनादिलिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति।

चाहिए। यदि उसे कोई आपत्ति न हो, अपना आहार देना इष्ट हो तो मुनि उसकी स्पष्ट अनुमति के बिना भी एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार ले सकता है और यदि अपना आहार देना उसे इष्ट न हो तो मुनि एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार नहीं ले सकता[1]।

श्लोक ३८ :

१४३. श्लोक ३८ :

इस श्लोक में 'निसृष्ट' (अधिकारी के द्वारा अनुमत) भक्त-पान लेने का विधान है।

श्लोक ३९ :

१४४. वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे (भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा [ग]) :

दोहद-पूर्ति हुए बिना गर्भ का पात या मरण हो सकता है इसलिए गर्भवती स्त्री की दोहद-पूर्ति (इच्छा-पूर्ति) के लिए जो आहार बने वह परिमित हो तो उसकी दोहद-पूर्ति के पहले मुनि को नहीं लेना चाहिए[2]।

श्लोक ४० :

१४५. काल-मासवती (कालमासिणी [ख]) :

जिसके गर्भ का नवां मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है[3]।

१—(क) अ० चू०

आगारिंगित-चेट्ठागुणेहिं भासाविसेस-करणेहिं।
मुह-णयणविकारेहि य घेप्पति अत्तग्गतो भावो॥

अब्भवहरणीय ज दोग्रह उवणीय ण ताव भुंजिउमारभति, त पि 'वर्तमानसामीप्ये०' [पाणि० ३ ३ १३१] इति वर्तमानमेव। णाताभिप्पातस्स जदि इट्ठ तो घेप्पति, ण अराणहा।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ णेत्तादीहिं विगारेहिं अभणतस्सवि नज्जइ जहा एयस्स दिज्जमाण चियत्त न वा इति, अचियत्त तो णो पडिगेहेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ तद्दीयमान नेच्छेदुत्सर्गत, अपितु अभिप्राय 'तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारै', किमस्येदमिष्ट दीयमान नवेति, इष्ट चेद् गृह्णीयान्न चेन्नैवेति।

२—(क) अ० चू० गा० इमे दोसा—परिमितमुवणीत, दिण्णे सेसमपज्जत्त ति डोहलस्साविगमे मरण गब्भपतण वा होज्जा, तीसे तस्स वा गब्भस्स सण्णीभूतस्स अप्पत्तिय होज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० १८० तत्थ ज सा भुजइ कोइ ततो देइ त ण गेण्हियव्व, को दोसो ?, कदाइ त परिमिय भवेज्जा, तीए य सद्धा ण विणीया होज्जा, अविणीये य डोहले गब्भपडण मरण वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ तत्र भुज्यमान तया विवर्ज्य, मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलाषानिवृत्त्या गर्भपतनादिदोष इति।

३—(क) अ० चू० 'गुव्विणी' गुरुगब्भा प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'।

(ख) जि० चू० पृ० १८० कालमासिणी नाम नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स।

(ग) हा० टी० प० १७१ 'कालमासवती' गर्भाधानान्नवममासवती।

१ संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य ।
२ संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य ।
३ संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य ।
४ संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य ।
५ असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य ।
६ असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य ।
७ असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य ।
८. असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य ।

इनमें दूसरे, चौथे छठे और आठवें विकल्प में पश्चात्-कर्म की संभावना होने के कारण इन रूपों में भिक्षा लेने का निषेध है और शेष रूपों में उसका विधान है[1] ।

श्लोक ३७ :

१४० श्लोक ३७

इस श्लोक में 'अनिसृष्ट' नामक उद्गम के पंद्रहवें दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। वस्तु के स्वामी की अनुज्ञा—अनुमति बिना उसे लेने पर 'अदत्त' अपराध होता है चोरी का दोष लगता है, विग्रह किया जा सकता है। इसलिए मुनि को वस्तु के नायक की अनुमति के बिना उसे नहीं लेना चाहिए।

१४१ स्वामी या भोक्ता हों (भुंजमाणाण क)

'भुज' धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओं के 'परस्मै' और 'आत्मने' पद की व्यवस्था नहीं है, इसलिए संस्कृत में 'भुंजमाणाणं' शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते हैं—(१) भुञ्जतो और (२) भुञ्जानयोः।

दोण्ह तु भुंजमाणाणं' का अर्थ होता है—एक ही वस्तु के दो स्वामी हों अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खाने वाले हों ।

१४२ देखे (पडिलेहए घ) :

उसके चेहरे के हाव भाव आदि से उसके मन के अभिप्राय को जाने ।

मुनि को वस्तु के दूसरे स्वामी का जो मौन बैठा है अभिप्राय नेत्र और मुख की चेष्टाओं से जानने का प्रयत्न करना

१—(क) अ चू० : एत्थ भंगा—संसट्ठो हत्थो संसट्ठो मत्तो सावसेसं दव्वं १ संसट्ठो हत्थो संसट्ठो मत्तो निरवसेसं दव्वं २ एवं अट्ठ भंगा। एत्थ पढमो पसत्थो सेसा कारणे बीय सरीररक्खणत्थमणंतरमणविद्धं।
(ख) जि चू पृ १८५ : एत्थ अट्ठभंगा—हत्थो संसट्ठो मत्तो संसट्ठो निरवसेसं दव्वं एवं अट्ठभंगा कायव्वा एत्थ पढमो भंगो सव्वुक्किट्ठो अवसेसेसु जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ गेण्हइत्ति।
(ग) हा टी प० १७० : इह च वृद्धसंप्रदाय—संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते निरवसेसे दव्वे एवं अट्ठभंगा एत्थ पढमभंगो सव्वुत्तमो अन्नेसुवि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ घिप्पइ न इयरेसु, पच्छाकम्मदोसाउ त्ति।

२—(क) अ चू० : "भुज पालनअभ्यवहारयोः" इति एवं विसेसेति—अब्भवहरमाणाण एगवत्थ वा विप्पगताति अमोयव्वमवि सिता।
(ख) जि चू पृ १८५ : भुंजसद्दो पालणे अब्भवहारे य' तत्थ पालणे ताव एगस्स साहुणामस्स दोण्णि सामिया ...... अब्भवहारे दो जणा एगम्मि बट्टिवाए वे जणा भोत्तुकामा।
(ग) हा टी प० १७१ : 'द्वयोर्भुञ्जतोः' पालनां कुर्वतोः एकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः ......एवं भुञ्जानयोः—अभ्यवहारतो-रप्येतदपि योज्यमेव, यतो भुजिः पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति।

यह स्थूल-दर्शन से बहुत साधारण सी बात लगती है। किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाए तो इसमें अहिंसा का पूर्ण दर्शन होता है। दूसरे को थोड़ा भी कष्ट देकर अपना पोषण करना हिंसा है। अहिंसक ऐसा नहीं करता इसलिए वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में भी बहुत सतर्क रहता है। उक्त प्रकरण उस सतर्कता का एक उत्तम निदर्शन है।

शिष्य पूछता है—बालक को रोते छोड़कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है? आचार्य कहते हैं—बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एवं कठोर हाथों से उठाने से बालक में अस्थिरता आती है। इससे परिताप दोष होता है। बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है[1]।

श्लोक ४४ :

१४८. शंका-युक्त हो (संकियं ख) :

इस श्लोक में 'शंकित' (एषणा के पहले) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। आहार शुद्ध होने पर भी कल्पनीय और अकल्पनीय—उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध अथवा अशुद्ध का निर्णय किए बिना लिया जाए वह 'शंकित' दोष है। शंका-सहित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का हेतु होने के कारण अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से पूरी जाँच करने के बाद लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध हो तो भी कर्म-बन्ध का हेतु नहीं बनता[2]।

श्लोक ४५-४६ :

१४९. श्लोक ४५-४६ :

इन दोनों श्लोकों में 'उद्भिन्न' नामक (उद्गम के बारहवें) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध है। उद्भिन्न दो प्रकार का होता है—'पिहित-उद्भिन्न' और 'कपाट-उद्भिन्न'। चपड़ी आदि से बंद पात्र का मुँह खोलना 'पिहित-उद्भिन्न' कहलाता है। बन्द किवाड़ को खोलना 'कपाट-उद्भिन्न' कहलाता है। पिधान सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है। उसे साधु के लिए खोला जाए और फिर बंद किया जाए वहाँ हिंसा की सम्भावना है। इसलिए 'पिहित-उद्भिन्न' भिक्षा निषिद्ध है। किवाड़ खोलने में अनेक जीवों के वध की सम्भावना रहती है इसलिए 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का निषेध है। इन श्लोकों में 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का उल्लेख नहीं है। इन दो भेदों का आधार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ३४७) है।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग २ १ ७ ६९-७०।

श्लोक ४७ :

१५०. पानक (पाणगं क) :

हरिभद्र ने 'पानक' का अर्थ आरनाल (कांजी) किया है[3]। आगम-रचनाकाल में साधुओं को प्राय: गर्म जल या पानक

१—(क) अ० चू० एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहिं हत्थेहिं सयणीए वा पीडा, मज्जाराती वा खाणावहरण करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १८० सीसो आह—को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो मज्जाराइ वा अवधरेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७२।

२—पि० नि० गा० ५२९-५३०।

३—हा० टी० प० १७३ 'पानक' च आरनालादि।

यह स्थूल-दर्शन से बहुत साधारण सी बात लगती है। किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाए तो इसमें अहिंसा का पूर्ण दर्शन होता है। दूसरे को थोड़ा भी कष्ट देकर अपना पोषण करना हिंसा है। अहिंसक ऐसा नहीं करता इसलिए वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में भी बहुत सतर्क रहता है। उक्त प्रकरण उस सतर्कता का एक उत्तम निदर्शन है।

शिष्य पूछता है—बालक को रोते छोड़कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है ? आचार्य कहते हैं—बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एवं कठोर हाथों से उठाने से बालक में अस्थिरता आती है। इससे परिताप दोष होता है। बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है[1]।

श्लोक ४४ :

१४८. शंका-युक्त हो (संकियं ख) :

इस श्लोक में 'शकित' (एषणा के पहले) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। आहार शुद्ध होने पर भी कल्पनीय और अकल्पनीय—उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध अथवा अशुद्ध का निर्णय किए बिना लिया जाए वह 'शकित' दोष है। शका-सहित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का हेतु होने के कारण अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से पूरी जाँच करने के बाद लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध हो तो भी कर्म-बन्ध का हेतु नहीं बनता[2]।

श्लोक ४५-४६ :

१४९. श्लोक ४५-४६ :

इन दोनों श्लोकों में 'उद्भिन्न' नामक (उद्गम के बारहवें) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध है। उद्भिन्न दो प्रकार का होता है—'पिहित-उद्भिन्न' और 'कपाट-उद्भिन्न'। चपड़ी आदि से बद पात्र का मुँह खोलना 'पिहित-उद्भिन्न' कहलाता है। बन्द किवाड़ को खोलना 'कपाट-उद्भिन्न' कहलाता है। पिधान सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है। उसे साधु के लिए खोला जाए और फिर बद किया जाए वहाँ हिंसा की सम्भावना है। इसलिए 'पिहित-उद्भिन्न' भिक्षा निषिद्ध है। किवाड़ खोलने में अनेक जीवों के वध की सम्भावना रहती है इसलिए 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का निषेध है। इन श्लोकों में 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का उल्लेख नहीं है। इन दो भेदों का आधार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ३४७) है।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग २ १ ७ ६६-७०।

श्लोक ४७ :

१५०. पानक (पाणगं क) :

हरिभद्र ने 'पानक' का अर्थ आरनाल (कांजी) किया है[3]। आगम-रचनाकाल में साधुओं को प्रायः गर्म जल या पानक

१—(क) अ० चू० एत्थ दोसा—छकुमालसरीरस्स खरेहि हत्थेहि सयणीए वा पीडा, मजारादी वा खाणावहरण करेजा।
(ख) जि० चू० पृ० १८० सीसो आह—को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहि हत्थेहि घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो मजाराइ वा अवहरेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १७२।

२—पि० नि० गा० ५२६-५३०।

३—हा० टी० प० १७३ 'पानक' च आरनालादि।

जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार जिन-कल्पिक मुनि गर्भवती स्त्री के हाथ से भिक्षा नहीं लेते, फिर चाहे वह गर्भ थोड़े दिनों का ही हो[1]।

काल-मासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक'—एषणा का छठा दोष है।

श्लोक ४१

१४६ श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि में (अगस्त्य चूर्णिगत क्रमांक के अनुसार ५६ वें और ५७ वें तथा टीका के अनुसार ४० वें और ४१ वें श्लोक के पश्चात्) "तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं"—ये दो चरण नहीं दिए हैं और 'देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं'—इन दो चरणों के आशय को अधिकार-क्रम से स्वतः प्राप्त माना है। वैकल्पिक रूप में इन दोनों श्लोकों को [illegible] (चार चरणों का श्लोक) भी कहा है[2]।

श्लोक ४२

१४७ रोते हुए छोड़ (निक्खिवित्तु रोयंतं ग) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार गच्छवासी स्थविर मुनि और गच्छ निर्गत जिनकल्पिक-मुनि के आचार में कुछ अन्तर है। स्तनजीवी बालक को स्तन-पान छुड़ा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक कोरा स्तनजीवी न हो दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोड़ने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्तनजीवी बालक चाहे स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में भी गच्छवासी मुनि भिक्षा नहीं लेते।

गच्छ निर्गत मुनि स्तनजीवी बालक को अलग करने पर चाहे वह रोए या न रोए, स्तन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्तन-पान करते हुए को छोड़कर फिर चाहे वह रोए या न रोए भिक्षा दे तो नहीं लेते और यदि वह स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नहीं लेते। यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं[3]।

1—(क) जि० चू० पृ० १८० : जा पुण कालमासिणी पुव्वुट्ठिया परिवेसेंती य थेरकप्पिया गेण्हंति जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवण्णसत्ता भवंति ततो दिवसाओ आरद्धं परिहरंति।

(ख) हा० टी० प० १७४ : इह च स्थविरकल्पिकानामनिषण्णोत्थानाभ्यां [illegible] दीयमानं कल्पते जिनकल्पिकानां तु आपन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः।

2—अ० चू० : पुव्वद्धभणितं तम् सिलोगदुगं [illegible] अणुवट्टमाणं। देंतियं पडियाइक्खे 'न मे कप्पति तारिसं' अहवा [illegible] सिलोगो।

3—(क) अ० चू० : गच्छवासीण थणजीवी थणं पियंतो णिक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहणं अह अथणजीवी णिक्खित्तो तो [illegible] (आहारेंतो अरोवेंतो) गहणं अह थणं ण पियंतो तं णिक्खिवति णिक्खित्तो रोवति अग्गहणं, अरोवेंतो गहणं। गच्छणिग्गताण थणजीवी णिक्खित्तो पियंतो (अपियंतो) वा रोवंतो (अरोवंतो) वा अग्गहणं अथाहारो णिक्खित्तो पियंतो रोवंतो अरोवंतो वा अग्गहणं, अपियंतो रोवंतो अग्गहणं अरोवंतो गहणं।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति रोवतु वा मा वा अह अण्णंपि आहारेइ तो जति णिक्खित्तो ण रोवइ तो गेण्हंति अह अपियंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हंति, गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा पियंतओ णिक्खित्तो वा ण गेण्हंति जाहे अण्णंपि आहारेउं लग्गो ताहे पियंतो जइ णिक्खित्तो तो रोवउ वा मा वा ण गेण्हंति अपियंतओ जइ रोवइ परिहरंति अरोवंते गेण्हंति।

(ग) हा० टी० प० १७४ : चूर्णि का ही सब यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ 'अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्धृत किया है।

प्रश्न हुआ कि शिष्ट कुलों में भोजन पुण्यार्थ ही बनता है। वे क्षुद्र कुलों की भांति केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाते। किन्तु पितरों को बलि देकर स्वयं शेष भाग खाते हैं। अत. 'पुण्यार्थ-प्रकृत' भोजन के निषेध का अर्थ शिष्ट-कुलों से भिक्षा लेने का निषेध होगा ? आचार्य ने उत्तर में कहा—नहीं, आगमकार का 'पुण्यार्थ-प्रकृत' के निषेध का अभिप्राय वह नहीं है जो प्रश्न की भाषा में रखा गया है। उनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जो अशन, पानक पुण्यार्थ बनाए वह मुनि न ले[1]।

श्लोक ५१ :

१५३. वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ (वणिमट्ठा पगडं घ) :

दूसरों को अपनी दरिद्रता दिखाने से या उनके अनुकूल बोलने से जो द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहते हैं और जो उसको पीए—उसका आस्वादन करे अथवा उसकी रक्षा करे वह 'वनीपक' कहलाता है[2]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने श्रमण आदि को 'वनीपक' माना है[3] वह स्थानाङ्गोक्त वनीपकों की ओर सकेत करता है। वहाँ पाँच प्रकार के 'वनीपक' बतलाए हैं—अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्व-वनीपक और श्रमण-वनीपक[4]। वृत्तिकार के अनुसार अतिथि-भक्त के सम्मुख अतिथि दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला अतिथि-वनीपक कहलाता है। इसी प्रकार कृपण (रक आदि दरिद्र) भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशसा कर और ब्राह्मण-भक्त के सम्मुख ब्राह्मण-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला क्रमश. कृपण-वनीपक और ब्राह्मण-वनीपक कहलाता है। श्व (कुत्ता) भक्त के सम्मुख श्व-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला श्व-वनीपक कहलाता है। वह कहता है—"गाय आदि पशुओं को घास मिलना सुलभ है किन्तु छिः छि. कर दुत्कारे जाने वाले कुत्तों को भोजन मिलना सुलभ नहीं। ये कैलास पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप में विचरण करते हैं[5]। श्रमण-भक्त के सम्मुख श्रमण दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला श्रमण-वनीपक कहलाता है।

हरिभद्रसूरि ने 'वनीपक' का अर्थ 'कृपण' किया है[6]। किन्तु 'कृपण' 'वनीपक' का एक प्रकार है इसलिए पूर्ण अर्थ नहीं हो सकता। इस शब्द में सब तरह के भिखारी आते हैं।

१—हा० टी० प० १७२ पुण्यार्थं प्रकृत नाम—साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति। अत्राह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टाना पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्ते, तथाहि—न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचित-प्रमाणस्येत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति, एतेनाऽदेयदानाभाव प्रत्युक्त, देयस्यैव यदृच्छादानानुपपत्ते, कदाचिदपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्ते, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्ते नासौ तदर्थ इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित् सूतकादाविव सवस्य एव प्रदानविकला शिष्टाभि-मतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इति।

२—स्था० ५ ३-४५४ प० ३२५ वृ० परेषामात्मदु स्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य सा वनी प्रतीता ता पिबति—आस्वादयति पातीति वेति वनीप स एव वनीपको—याचक।

३—अ० चू० समणाति वणीमगा।

४—स्था० ५ ३ ४५४ पञ्च वणीमगा पण्णत्ता तजहा—अतिहिवणीमते, किविणव मते, माहणवणीमते, साणवणीमते, समणवणीमते।

५—स्था० ५ ३ ४५४ प० ३२५ वृ०

अवि नाम होज्ज सुलभो गोणाईण तणाइ आहारो।
छिच्छिक्कारहयाण नहु सुलभो होज्ज सुणताण॥
केलासभवणा एए गुज्झगा आगया महिं।
चरति जक्खरूवेण पूयाऽपूया हिताऽहिता॥

६—हा० टी० प० १७२ वनीपका—कृपणा।

(सुपोदक यवोदक सौवीर आदि) ही प्राप्त होता था। आचाराङ्ग (२.१.७-८) में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। प्रवचन सारोद्धार के अनुसार 'सुरा' आदि को 'पान' साधारण जल को 'पानीय' और द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल को 'पानक' कहा जाता है[1]।

पानक गृहस्थों के घरों में मिलते थे। इन्हें विधिवत् निष्पन्न किया जाता था। भावप्रकाश आदि आयुर्वेद ग्रन्थों में इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है। अस्वस्थ और स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति परिमित मात्रा में इन्हें पीते थे।

सुश्रुत के अनुसार गुड़ से बना खट्टा या बिना अम्ल का पानक गुरु और मूत्रल है[2]।

मृद्वीका (किशमिश) से बना पानक श्रम मूर्च्छा दाह और तृषानाशक है। फालसे से और बेरों का बना पानक हृदय को प्रिय तथा विष्टम्भि होता है[3]।

साधारण जल दान आदि के लिए निष्पन्न नहीं किया जाता। दानार्थ-प्रकृत से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'पानक' का अर्थ द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल है।

१५१ दानार्थ तैयार किया हुआ (दाणट्ठा पगडं ग)

विदेश-यात्रा से लौटकर या वैसे ही किसी के आगमन के अवसर पर प्रसाद-भाव से जो दिया जाए वह दानार्थ कहलाता है।

प्रवास करके कोई सेठ चिरकाल के बाद अपने घर आवे और साधुवाद पाने के लिए सर्व पाषण्डियों को दान देने के निमित्त भोजन बनाए वह दानार्थ प्रकृत कहलाता है। महाराष्ट्र के राजा दान-काल में समान रूप से दान देते हैं उसके लिए बनाया गया भोजन आदि भी 'दानार्थ-प्रकृत' कहलाता है[4]।

श्लोक ४९ :

१५२ पुण्यार्थ तैयार किया हुआ (पुण्णट्ठा पगडं ग) :

जो पर्व तिथि के दिन साधुवाद या श्लाघा की भावना रखे बिना केवल 'पुण्य होगा' इस धारणा से भोजन पानक आदि निष्पन्न किया जाता है—उसे 'पुण्यार्थ प्रकृत' कहा जाता है[5]। वैदिक परम्परा में 'पुण्यार्थ-प्रकृत' दान का बहुत प्रचलन रहा है।

१—प्रव० सारो० गा० १४१७ : पानं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्थ। दक्खावाणियपमुहं ...

२—सु० सू० ४६.३९ :

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम्।

३—सु० सू० ४६.४१ :

मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम्।

परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम्॥

४—(क) अ० चू० : 'दाणट्ठापगडं' कोति ईसरो पवाससमागतो साधुवादेण सव्वस्स आगतस्स सद्धाभिनिमित्तं दानं देति, राजाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : दाणट्ठापगडं नाम कोति वाणियगमादी दिसाउ वियेष आगम्म घरे दानं देतित्ति सव्वपासंडाणं तं दाणट्ठं पगडं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८३ : दानार्थं प्रकृतं नाम—साधुवादनिमित्तं यो व्यवहारिकादिना देशान्तरादेरागतो दानमनुष्ठितिरिति।

५—(क) अ० चू० : जं विहि—पव्वणीए पुण्णमुद्दिस्स कीरति तं पुण्णट्ठापगडं।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : पुण्णट्ठापगडं नाम जं पुण्णनिमित्तं कीरइ तं पुण्णट्ठं पगडं भण्णइ।

गाथा की वृत्ति में उन्होंने लिखा है कि वापस देने की शर्त के साथ साधु के निमित्त जो वस्तु उधार ली जाती है वह 'अपमित्य' है[1]। इसका अगला दोष 'परिवर्तित' है[2]। चाणक्य ने 'परिवर्तक', 'प्रामित्यक' और 'आपमित्यक' के अर्थ भिन्न-भिन्न किए हैं। उसके अनुसार एक धान्य से आवश्यक दूसरे धान्य का बदलना 'परिवर्तक' कहलाता है। दूसरे से धान्य आदि आवश्यक वस्तु को मांगकर लाना 'प्रामित्यक' कहलाता है। जो धान्य आदि पदार्थ लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किए जाते हैं, वे 'आपमित्यक' कहलाते हैं[3]।

भिक्षा के प्रकरण में 'आपमित्यक' नाम का कोई दोष नहीं है। साधु को देने के लिए दूसरों से माग कर लेना और लौटाने की शर्त से लेना—ये दोनों अनुचित हैं। सभव है वृत्तिकार को 'प्रामित्य' के द्वारा इन दोनों अर्थों का ग्रहण करना अभिप्रेत हो। किन्तु शाब्दिक-दृष्टि से 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' का अर्थ एक नहीं है। 'प्रामित्य' में लौटाने की शर्त नहीं होती। 'दूसरे से मांग कर लेना'—'प्रामित्य' का अर्थ इतना ही है।

१५७. मिश्रजात (मीसजायं घ) :

'मिश्र-जात' उद्गम का चौथा दोष है। गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्र-जात' दोष है[4]। उसके तीन प्रकार हैं—यावदर्थिक-मिश्र, पाखण्डि-मिश्र और साधु-मिश्र। भिक्षाचर (गृहस्थ या अगृहस्थ) और कुटुम्ब के लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'यावदर्थिक' कहलाता है। पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्डि-मिश्र' एव जो भोजन केवल साधु और अपने लिए एक साथ पकाया जाए वह 'साधु-मिश्र' कहलाता है[5]।

श्लोक ५७ :

१५८. पुष्प, बीज और हरियाली से (पुप्फेसु ग···बीएसु हरिएसु वा घ) :

यहाँ पुष्प, बीज और हरित शब्द की सप्तमी विभक्ति तृतीया के अर्थ में है।

१५६. उन्मिश्र हों (उम्मीसं ग) :

'उन्मिश्र' एषणा का सातवां दोष है। साधु को देने योग्य आहार हो, उसे न देने योग्य आहार (सचित्त या मिश्र) से मिला कर दिया जाए अथवा जो अचित्त आहार सचित्त या मिश्र वस्तु से सहज ही मिला हुआ हो वह 'उन्मिश्र' कहलाता है[6]।

१—पि० नि० गा० ६२ वृत्ति 'पामिच्चे' इति अपमित्य—भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत् साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यम्।

२—पि० नि० गा० ६३ परियट्टिए।

३—कौटि० अर्थ० २ १५ ३३ सस्यवर्णानामर्घान्तरेण विनिमय परिवर्तक ।
सस्ययाचनमन्यत प्रामित्यकम्।
तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्।

४—(क) पि० नि० गा० २७३ निग्गथट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रधते । वृत्ति—आत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको भूते, यथा—निर्ग्रन्थानामर्थायाधिक प्रक्षिपेति।

(ख) हा० टी० प० १७४ मिश्रजात च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम्।

५—पि० नि० गा० २७१ मीसजाय जावतियं च पासडिसाहुमीस च।

६—पि० नि० ६०७
दायव्वमदायव्व च दोऽवि दव्वाइ देइ मीसेउ ।
ओयणकुसणाईण साहरण तयन्नहिं छोढु॥

श्लोक ५५

१५४ पूतिकर्म (पूईकम्मं क)

यह उद्गम का तीसरा दोष है। जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए वह 'आधाकर्म' कहलाता है। उससे मिश्र जो आहार आदि होते हैं वे पूतिकर्मयुक्त कहलाते हैं[1]। जैसे—अशुचि-गंध के परमाणु वातावरण को विषाक्त बना देते हैं वैसे ही आधाकर्म-आहार का थोड़ा अंश भी शुद्ध आहार में मिलकर उसे सदोष बना देता है। जिस घर में आधाकर्म आहार बने वह तीन दिन तक पूतिदोष-युक्त होता है इसलिए चार दिन तक (आधाकर्म-आहार बने उस दिन और उसके पश्चात् तीन दिन तक) मुनि उस घर से भिक्षा नहीं ले सकता[2]।

१५५ अध्यवतर (अज्झोयर ग)

अध्यवतर' उद्गम का सोलहवाँ दोष है। अपने लिए आहार बनाते समय साधु की याद आने पर और अधिक बनाए उसे 'अध्यवतर' कहा जाता है[3]। मिश्र-जात' में प्रारम्भ से ही अपने और साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाया जाता है[4] और इसमें भोजन का प्रारम्भ अपने लिए होता है तथा बाद में साधु के लिए अधिक बनाया जाता है। 'मिश्र-जात' में—पानी, चावल और शाक आदि का परिमाण प्रारम्भ में अधिक होता है और इसमें उनका परिमाण मध्य में बढ़ता है। यही इन दोनों में अन्तर है[5]।

टीकाकार 'अज्झोयर' का संस्कृत रूप अध्यवपूरक करते हैं। यह अर्थ की दृष्टि से सही है पर भाषा की दृष्टि से नहीं, इसलिए हमने इसका संस्कृत रूप 'अध्यवतर' किया है।

१५६ प्रामित्य (पामिच्च ग) :

'पामिच्च' उद्गम का नवाँ दोष है। इसका अर्थ है—साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना[6]। पिण्ड निर्युक्ति (३१६, ३२१) की वृत्ति से पता चलता है कि आचार्य मलयगिरि ने 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' को एकार्थक माना है। ११वाँ

१—(क) पि० नि० गा० २९९ :

सम्मत्तकडाहाकम्मं समणाणं जं च कडेण मीसं तु।
आहार उवहि वसही सव्वं तं पूइयं होइ॥

(ख) हा० टी० प० १७४ : पूतिकर्म—संभाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणम्।

२—पि० नि० गा० २९८ :

पढमदिवसंमि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ।
पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो॥

३—हा० टी० प० १७४ : अध्यवपूरकं—स्वार्थमूलाद्रहणप्रक्षेपरूपम्।

४—हा० टी० प० १७४ : मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम्।

५—पि० नि० गा० ३००-०१ :

अज्झोयरओ तिविहो जावंतिय सघरमीसपासंडे।
मूलंमि य पुव्वकए ओयरई तिण्ह अट्ठाए॥
तंदुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे।
परिमाणे नाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य॥

६—हा० टी० प० १७४ : प्रामित्यं—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम्।

उत्तिंग, पनक आदि का सम्बन्ध अशन आदि के साथ सीधा नहीं होता केवल भोजन के साथ होता है वहाँ अशनादि परंपरा निक्षिप्त कहलाते हैं। दोनों प्रकार के निक्षिप्त अशनादि साधु के लिए वर्जित हैं। यह ग्रहैषणा-दोष है[1]।

श्लोक ६१ :

१६३. उसका (अग्नि का) स्पर्श कर (संघट्टिया घ) :

साधु को भिक्षा दूँ उतने समय में रोटी आदि जल न जाय, दूध आदि उफन न जाय—ऐसा सोचकर रोटी या पूआ आदि को उलट कर, दूध आदि को निकाल कर अथवा जल का छींटा देकर अथवा जलते इन्धन को हाथ, पैर आदि से छू कर देना—यह संघट्य-दोष है[2]।

श्लोक ६३ :

१६४. श्लोक ६३ :

अगस्त्य चूर्णि और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह श्लोक संग्रह गाथा है। इस संग्रह-गाथा में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार निम्न नौ गाथाएँ समाविष्ट हैं :

१ असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ॥
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उस्सक्किया दए ॥
२ ' तं च ओसक्किया दए ॥
३ ' तं च उज्जालिया दए ॥
४ तं च निव्वाविया दए ॥
५ ' तं च उस्सिंचिया दए ॥
६ तं चउक्कड्ढिया दए ॥
७ ' तं च निस्सिंचिया दए ॥
८ ' तं च ओवत्तिया दए ॥
९ ' ... '' तं च ओयारिया दए ॥

जिनदास चूर्णि के अनुसार सात श्लोकों का विषय संगृहीत है[3]।

अगस्त्य चूर्णि सम्मत नौ श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार है—

१ अशन, पान खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो उसे चूल्हे में इन्धन डाल कर दे, वह भक्त-पान संयमी के लिए अकल्पनीय होता है इसलिए देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२ अशन, पान खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो, उसे चूल्हे में से इन्धन निकाल कर दे

१—अ० चू० एत्थ निक्खित्तमिति गहणेसणा दोसा भणिता।

२—(क) अ० चू० -'जाव साधूण भिक्खं देमि ताव मा डज्झिहिती उब्भुतिहिति वा' आहट्टेऊण देति, पूवलियं वा उत्थल्लेऊण, उम्मुयाणि वा हत्थपादेहिं संघट्टेत्ता।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ संघट्टिया नाम जाव अहं साहूणं भिक्खं देमि ताव मा उब्भराइऊण छड्डिज्जिहिति तेण आवट्टेऊण देइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ तच्च संघट्य, यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्याघट्ट्य दद्यादिति।

३—जिनदास चूर्णि में श्लोक-संख्या २ और ४ नहीं है।

अशन का भोजन कणवीर आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। पानक आदि और 'पाटला' आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। पानी अखरोट-बीजों से मिश्रित हो सकती है। पानक 'दाड़िम' आदि के बीजों से मिश्रित हो सकता है। भोजन अदरक मूलक आदि हरित से मिश्रित हो सकता है। इस प्रकार खाद्य और स्वाद्य भी पुष्प आदि से मिश्रित हो सकते हैं[1]।

'संहृत' में अदेय-वस्तु को सचित्त से लगे हुए पात्र में या सचित्त पर रखा जाता है और इसमें सचित्त और अचित्त का मिश्रण किया जाता है इन दोनों में यही अन्तर है[2]।

श्लोक ५९

१६० उत्तिंग (उत्तिंग ᵉ) :

इसका अर्थ है—कीटिका-नगर[3]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए ८.१५ की इसी शब्द की टिप्पणी।

१६१ पनक (पणगेसु ᵉ)

'पनक' का अर्थ सीली या फफूंदी होता है[4]।

१६२ निक्षिप्त (रखा हुआ) हो (निक्खित्तं ᵍ) :

निक्षिप्त दो तरह का होता है—अनन्तर निक्षिप्त और परंपर निक्षिप्त। नवनीत जल के अन्दर रखा जाता है—यह अनन्तर निक्षिप्त का उदाहरण है। संपातिम जीवों के भय से दधि आदि का बर्तन जलकुण्ड में रखा जाता है—यह परंपर निक्षिप्त का उदाहरण है[5]। जहाँ जल उत्तिंग पनक का अशन आदि के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है वहाँ अशन आदि अनन्तर निक्षिप्त कहलाते हैं। जहाँ वह

1—(क) अ॰ चू॰ : तेसिं किंचि 'पुप्फेहिं' कणिकरादि असणं उम्मिस्सं भवति 'पाणं' पाडलादीहिं कविट्ठसीतलं वा किंचि खादिमं, 'खादिमं' मोदगादी 'सादिमं' वडिकादि। 'बीएहिं' अक्खोडादीहिं 'हरिएहिं' मूलगादीहिं अद्दगमादि।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १८९ : पुप्फेहिं उम्मिस्सं नाम पुप्फाणि कणवीरमंदारादीणि तहिं पक्खित्ताणि असणं उम्मिस्सं होज्जा, पाणगं कणवीर-पाडलादीणि पुप्फाणि परिकप्पंति, अहवा बीयाणि जहिं दाए पक्खित्ताणि होज्जा अक्खोडमीसा वा पाणी होज्जा, पाणिगं दाडिमपाणगाइसु बीयाणि होज्जा, हरियाणि सिरक्खमादीसु मूलगसुम्मादीणि पक्खित्ताणि होज्जा, तहा य असणपाणाणि उम्मिस्सम्माणि पुप्फादीहिं भवंति एवं खाइमसाइमाणिवि भाणियव्वाणि।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ १७७ : 'पुष्पैः' जातिपाटलादिभिः अन्वेनुन्मिश्रं बीजहरितैरिति।

2—जि॰ चू॰ १८० : देखिए उपर्युक्त पाद टि॰ १।

3—(क) अ॰ चू॰ : उत्तिंगो कीडियानगरं।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १९१ : उत्तिंगो नाम कीडियानगरयं।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ १७५ : कीटिकानगरोत्तिङ्गु।

4—(क) अ॰ चू॰ : पणओ उल्ली ओल्लियए कहिंचि अणंतरातिउग्गिणं।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १९१ : पणओ उल्ली भण्णइ।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ १७५ : पनकेषु ... उल्लीषु।

5—(क) अ॰ चू॰ : निक्खित्तमणंतरं परंपरं च। अणंतरं नवणीत-पोग्गलियादि परंपरनिक्खित्तमुदगघडादि जावक्खपुडी अणंतरम निक्खित्तं।

(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १९१ : उदगंमि निक्खित्तं दुविहं तं—अणंतरनिक्खित्तं जहा नवनीतपोग्गलियमादि, परंपरनिक्खित्तं दहिदो संपातिमभयेण घडं जलकुंडस्स उवरि ठविज्जइ एवं परंपरनिक्खित्तं।

(ग) हा॰ टी॰ प॰ १७५ : उदकनिक्षिप्तं द्विविधं—अनंतरं परंपरं च, अनंतरं नवनीतपोग्गलिकादि परंपरं जलघटोपरिस्थापितं दध्यादि।

१६९. बुझाकर (निव्वाविया ग):

मैं भिक्षा दूं इतने में कहीं कोई चीज उफन न जाए—इस दृष्टि से चूल्हे को बुझा कर[1]।

१७०. निकाल कर (उस्सिंचिया ग):

पात्र बहुत भरा हुआ है, इसमें से आहार बाहर न निकल जाए—इस भय से उलीचन कर—बाहर निकाल कर अथवा उसको हिला कर उसमें गर्म जल डाल कर[2]।

१७१. छींटा देकर (निस्सिंचिया ग):

उफान के भय से अग्नि पर रखे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर अथवा उसमें से अन्न निकाल कर[3]।

१७२. टेढ़ाकर (ओवत्तिया घ):

अग्नि पर रखे हुए पात्र को एक ओर से झुकाकर[4]।

१७३. उतार कर (ओयारिया घ):

साधु को भिक्षा दूं इतने में जल न जाए—इस भय से उतार कर[5]।

श्लोक ६५ :

१७४. ईंट के टुकड़े (इट्टालं घ):

मिट्टी के ढेले दो प्रकार के होते हैं। एक भूमि से सम्बद्ध और दूसरे असम्बद्ध। असम्बद्ध ढेले के तीन प्रकार होते हैं—

१—(क) अ० चू० पाणगादिणा देयेण विज्झवेंती देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ णिव्वाविया नाम जाव भिक्खं देमि ताव उदणादी उज्झिहितित्ति ताहे त अगणिं विज्झवेऊण देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ 'निव्वाविया' निर्वाप्य दाहभयादेवेति भाव।

२—(क) अ० चू० उस्सिंचिया कढताओ ओकड्ढिऊण उण्होदगादि देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ उस्सिंचिया नाम त अइभरियं मा उब्भूयाएऊण उज्झिहितित्ति ताहे थोवं उक्कड्ढीऊण पासे ठवेइ, अहवा तओ चेव ओकड्ढिऊण उण्होदग दोचग वा देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ 'उत्सिच्य' अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादीनि।

३—(क) अ० चू० जाव भिक्खं देमि ताव मा उब्भिहितित्ति पाणितादि तत्थ णिस्सिंचति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ निस्सिंचिया णाम त अहहियं दव्वं अण्णत्थ निस्सिंचिऊण तेण भायणेण ऊण देइ त अहवा तमद्दहियग उदणपत्तसागादी जाव साहूण भिक्खं देमि ताव मा उब्भूयाएउत्तिकाऊण उदगादिणा परिसिंचिऊण देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ 'निषिच्य' तद्भाजनाद्दह्यित द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वाऽऽद्रहितमुदकेन निषिच्य।

४—(क) अ० चू० अगणिनिक्खित्तमेव एक्कपस्सेण ओवत्ते तूण देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ उव्वत्तिया नाम तेणेव अगणिनिक्खित्त ओयत्तेऊण एगपासेण देति।
(ग) हा० टी० प० १७५ 'अपवर्त्य' तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात्।

५—(क) जि० चू० पृ० १८३ ओयारिया नाम जमेतमद्दहियं जाव साधूण भिक्खं देमि ताव नो उज्झिहितित्ति उत्तारेसा।
(ख) हा० टी० प० १७५ 'अवतार्य 'दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात्, अत्र तदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते।

३. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे को उज्ज्वलित कर दे— ... ...

४. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे को बुझाकर दे ...

५. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे में से निकाल कर दे ...

६. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे जिस भाजन में भोजन निकाल कर अन्यत्र रखा जाए उसी भाजन से दे ...

७. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे में पानी के छींटे डाल कर दे ...

८. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे टेढ़ा कर—अग्नि पर रखे हुए भाजन में से दूसरे भाजन में निकाल कर दे ... ...

९. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे नीचे उतार कर दे

१६५ (चूल्हे में) इन्धन डालकर (उस्सक्किया ख) :

मैं भिक्षा दूँ इतने में कहीं चूल्हा न बुझ जाए—इस विचार से चूल्हे में इन्धन डालकर[1]।

१६६ (चूल्हे से) इन्धन निकाल कर (ओसक्किया ख)

मैं भिक्षा दूँ इतने में कोई वस्तु जल न जाए—इस भावना से चूल्हे में से इन्धन निकाल कर[2]।

१६७ उज्ज्वलित कर (सुलगा कर) (उज्जालिया ग)

तृण, इन्धन आदि के प्रक्षेप से चूल्हे को प्रज्वलित कर। प्रश्न हो सकता है 'उस्सक्किया' और 'उज्जालिया' में क्या अन्तर है? पहले का अर्थ है—जलते हुए चूल्हे में इन्धन डाल कर जलाना और दूसरे का अर्थ है—नए सिरे से चूल्हे को सुलगा कर अथवा प्रायः बुझे हुए चूल्हे को तृण आदि से जला कर[3]।

१६८ प्रज्वलित कर (पज्जालिया ग)

बार-बार इन्धन से चूल्हे को प्रज्वलित कर[4]।

१—(क) अ० चू० : उस्सक्किया अवसंधुक्का। 'जाव भिक्खं देमि ताव मा विज्झाहिति' त्ति [illegible] (?) ति परिहरितव्वं।
(ख) जि० चू० पृ० १८ : उस्सक्किया नाम अवसंधुक्का [illegible] उस्सिक्किया [illegible] भिक्खं [illegible] ताव मा उज्झाइत्ति।
(ग) हा० टी० प० १७४ : 'उत्सक्किय' त्ति यावद्भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युल्मुकान्युत्सार्य ददाति।

२—(क) अ० चू० : ओसक्किय उम्मुयाणि ओसारेऊण, मा डज्झिहिति अच्चुण्हमिति वा किंचि।
(ख) हा० टी० प० १७४ : 'ओसक्किया' अवसर्प्य अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० : उज्जालिय उज्जलिय—तृणाइणा [illegible]। उस्सिक्कणमसति विज्झाणभएण [illegible] बहुविज्झायमजलन्तं उज्जालेति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३-१८४ : उज्जालिया नाम तमग्गिं इंधणादि पक्खिविऊण उज्जालेइ, सीसो आह—उस्सक्किय-उज्जालियाणं को पइविसेसो? आयरिओ आह—उस्सक्कणं अविज्झायंते [illegible] उज्जालेइ।
(ग) हा० टी० प० १७४ : 'उज्ज्वाल्य' अर्धविध्यातं तृणादिप्रक्षेपेण।

४—हा० टी० प० १७४ : 'प्रज्वाल्य' पुनः पुनः (इन्धन प्रक्षेपेण)।

आचाराङ्ग के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पड़ता है। वहाँ २६० वें सूत्र में अन्तरिक्ष स्थान पर रखा हुआ आहार लाया जाए उसे मालापहृत कहा गया है और अन्तरिक्ष-स्थानों के जो नाम गिनाए हैं उनमें 'थभसिवा' मचसिवा, पासायसि वा'--ये तीन शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन्हें आरोह्य-स्थान माना गया है। २६० वें सूत्र में आरोहण के साधन बतलाए हैं उनमें 'पीढ वा, फलग वा, निस्सेणि वा'—इनका उल्लेख किया है, इन दोनों सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छहों शब्दों में पहले तीन शब्द जिन पर चढा जाए उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढने के साधनों को बताते हैं।

टीकाकार ने 'मच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोड़ा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पड़ता है। सभवतः उन्होंने 'च' के पूर्ववर्ती पाँचों को प्रासाद से भिन्न मान लिया[१]।

श्लोक ७० :

१७८. पत्ती का शाक (सन्निरं ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ केवल 'शाक' किया है[२]।

जिनदास और हरिभद्र इसका अर्थ 'पत्र-शाक' करते हैं[३]।

१७९. घीया (तुंबागं ग) :

जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो और अन्तर-भाग अम्लान हो, वह 'तुबाग' कहलाता है[४]। हरिभद्रसूरि ने तुम्बाक का अर्थ छाल और मज्जा के बीच का भाग किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि कई व्याख्याकार इसका अर्थ हरी तुलसी करते हैं[५]। शालिग्रामनिघण्टु के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—एक लम्बा और दूसरा गोल[६]। हिन्दी में 'तुबाक' को कद्दू, लौका तथा रामतरोई और बगला में लाउ कहते हैं।

श्लोक ७१ :

१८०. सत्तू (सत्तुचुण्णाइं क) :

अगस्त्य चूर्णि में सत्तू और चूर्ण को भिन्न-भिन्न माना है[७]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि 'सत्तुचुण्णाइ' का अर्थ सत्तू करते हैं[८]।

१—हा० टी० प० १७६ निश्रेणि फलक पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य अर्द्धं कृत्वा इत्यर्थ, आरोहेन्मञ्च, कीलक च उत्सृत्य कमारोहेदित्याह—प्रासादम्।

२—अ० चू० 'सण्णिर' साग।

३—(क) जि० चू० पृ० १८४ सन्निर पत्तसाग।

(ख) हा० टी० प० १७६ 'सन्निर' सन्निरमिति पत्रशाकम्।

४—(क) अ० चू० तुम्याग ज त्वयाए मिलाणममिलाण अतो त्वम्लानम्।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ तुबाग नाम ज तयामिलाण अब्भतरओ अद्दय।

५—हा० टी० प० १७६ 'तुम्बाक' त्वग्मिजान्तर्वर्ति आर्द्रा वा तुलसीमित्यन्ये।

६—शालि० नि० पृ० ८६० अलाबु कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्त्तुला।

७—अ० चू० "सत्तुया जवातिधाणाविकारो"। "चुण्णाइ" अण्णे छिदु पिट्ठविसेसा।

८—(क) जि० चू० पृ० १८४ सत्तुचुण्णाणि नाम सत्तुगा, ते य जवविगारो।

(ख) हा० टी० प० १७६ 'सक्तुचूर्णा' सक्तून्।

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। पत्थर उत्कृष्ट है, लोष्ट मध्यम है और ईंट जघन्य है[१]।

श्लोक ६६

१७५ पाठान्तर का टिप्पण :

अगस्त्य चूर्णि में ६६ वें श्लोक का प्रारंभ 'गंभीरं झुसिरं चेव'—इस चरण से होता है जब कि जिनदास और हरिभद्र के सम्मुख जो आदर्श था उसमें यह ६६ वें श्लोक का तीसरा चरण है। अगस्त्यसिंह ने यहाँ 'अधोमालापहृत' की चर्चा की है[२]। जब कि जिनदास और हरिभद्र के आदर्शों में उसका उल्लेख नहीं है।

श्लोक ६७

१७६ मचान (मंच ग) :

चार लट्ठों को बांधकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान जहाँ नमी-सीलन तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए भोजन आदि रखे जाते हैं।

श्लोक ६९

१७७ मालापहृत (मालोहड ग) :

मालापहृत उद्गम का तेरहवां दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्व-मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ।

(२) अधो-मालापहृत—भूमि-गृह (तल-घर या तहखाना) से लाया हुआ।

(३) तिर्यक् मालापहृत—ऊँचे बरतन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ[३]।

यहाँ सिर्फ ऊर्ध्व-मालापहृत का निषेध किया गया है[४]। अगस्त्य चूर्णि का आदर्श इससे भिन्न है—देखिए ६६ वें श्लोक के पाठान्तर का टिप्पण।

६७ वें श्लोक में निश्रेणि फलक पीठ मंच, कील और प्रासाद इन छह शब्दों के अन्वय में चूर्णिकार और टीकाकार एक मत नहीं है। चूर्णिकार निश्रेणि फलक और पीठ को आरोहण के साधन तथा मंच कील और प्रासाद को आरोहण-स्थान मानते हैं[७]।

१—जाणगा पुण दुविहा—सम्मत्ता भूमिए होज्जा असम्मत्ता वा होज्जा। जे असम्मत्ता ते तिविहा — । उक्कस्स मज्झिमा जहन्ना, उक्कोसा लेट्ठू, मज्झिमा इट्टालं जहन्नं।

२—अ चू : गहणेसणा विसेसो निक्खित्तमुपदिट्ठं, घासेसणा विसेसो पायव्वमव्वमुपदिस्सति जधा 'गंभीरं झुसिरं' सिलोगो।

३—अ चू : एवं भूमिघरादितो अधोमालोहडं।

४—अ चू : मंचो सव्वतोवि चक्कमंचिगा वा।

५—पि नि गा ३७५।

६—तुलना के लिए देखिए आचा० १.७.२१।

अधो मालापहृत के लिए देखिए आचा० २.१.७.२१।

७—(क) अ चू० : निस्सेणी मालादीण आरोहण-कट्ठं संघातिमं फलगं पट्टुलं कट्ठमेव पहुलाति उपचोलं पीढं एताणि अभ्यसेवण अर्ध आरुहणं आरोहणं।

(ख) जि चू पृ० १८३ : निस्सेणी लोगपसिद्धा फलगं-पट्टगं उस्सवयं भण्णइ, पीढगं पसिद्धमेव, उस्सविया नाम एताणि उड्डुंचाणि काऊण तिरिच्छाणि वा आरुहेज्जा मंचो लोगपसिद्धो कीलो उड्डं व कट्ठं, पासाओ पसिद्धो एतेहि दव्वेहि संजयट्ठाए आरुहेत्ता भत्तपाणं आणेज्जा।

आचाराङ्ग के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पडता है। वहाँ २६० वें सूत्र में अन्तरिक्ष स्थान पर रखा हुआ आहार लाया जाए उसे मालापहृत कहा गया है और अन्तरिक्ष-स्थानों के जो नाम गिनाए हैं उनमें 'थभसिवा' मचसिवा, पासायसि वा'--ये तीन शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन्हें आरोह्य-स्थान माना गया है। २६० वें सूत्र में आरोहण के साधन बतलाए हैं उनमें 'पीढ वा, फलग वा, निस्सेणि वा'—इनका उल्लेख किया है, इन दोनों सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छहों शब्दों में पहले तीन शब्द जिन पर चढा जाए उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढने के साधनों को बताते हैं।

टीकाकार ने 'मच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोड़ा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पड़ता है। सभवत' उन्होंने 'च' के पूर्ववर्ती पाँचों को प्रासाद से भिन्न मान लिया[1]।

श्लोक ७० :

१७८. पत्ती का शाक (सन्निरं ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ केवल 'शाक' किया है[2]।

जिनदास और हरिभद्र इसका अर्थ 'पत्र शाक' करते हैं[3]।

१७६. घीया (तुंबागं ग) :

जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो और अन्तर-भाग अम्लान हो, वह 'तुंबाग' कहलाता है[4]। हरिभद्रसूरि ने तुम्बाक का अर्थ छाल और मज्जा के बीच का भाग किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि कई व्याख्याकार इसका अर्थ हरी तुलसी करते हैं[5]। शालिग्रामनिघण्टु के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—एक लम्बा और दूसरा गोल[6]। हिन्दी में 'तुंबाक' को कद्दू, लौका तथा रामतरोई और बगला में लाउ कहते हैं।

श्लोक ७१ :

१८०. सत्तू (सत्तुचुण्णाइं क) :

अगस्त्य चूर्णि में सत्तू और चूर्ण को भिन्न-भिन्न माना है[7]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि 'सत्तुचुण्णाइ' का अर्थ सत्तू करते हैं[8]।

१—हा० टी० प० १७६ निश्रेणि फलक पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य अर्द्धं कृत्वा इत्यर्थ , आरोहेन्मञ्च, कीलक च उत्सृत्य कमारोहे दित्याह—प्रासादम्।

२—अ० चू० 'सण्णिर' साग।

३—(क) जि० चू० पृ० १८४ सन्निर पत्तसाग।

(ख) हा० टी० प० १७६ 'सन्निर' सन्निरमिति पत्रशाकम्।

४—(क) अ० चू० तुम्बाग ज त्वयाए मिलाणममिलाण अतो त्वम्लानम्।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ तुबाग नाम ज तयामिलाण अब्भतरओ अद्दय।

५—हा० टी० प० १७६ 'तुम्बाक' त्वग्मिजान्तर्वर्ति आर्द्रा वा तुलसीमित्यन्ये।

६—शालि० नि० पृ० ८६० अलाबु कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्त्तुला।

७—अ० चू० "सत्तुया जवातिधाणाविकारो"। "चुण्णाइ" अण्णे छिदु पिट्ठविसेसा।

८—(क) जि० चू० पृ० १८४ सत्तुचुण्णाणि नाम सत्तुगा, ते य जवविगारो।

(ख) हा० टी० प० १७६ सक्तुचूर्णा' सक्तून्।

सत्तु और चूर्ण ये भिन्न शब्द हों तो चूर्ण का अर्थ चून जो आटा और घी को कड़ाही में भूनकर चीनी मिलाकर बनाया जाता है हो सकता है। हरियाना में चून के 'लड्डू' बनते हैं। सत्तु चूर्ण को एक माना जाए तो इसका अर्थ पिण्डक होना चाहिए। सत्तु को पानी से घोल नमक मिला आग पर पकाया जाता है। कड़ा होने पर उसे उतार लिया जाता है। यह 'पिण्डक' कहलाता है।

१८१ बेर का चूर्ण (कोलचुण्णाइ क) :

अगस्त्यसिंह और जिनदास ने इसका अर्थ बेर का चूर्ण[1] और हरिभद्र ने बेर का सत्तु किया है[2]।
आचाराङ्ग में पीपल मिर्च अदरक आदि के चूर्णों का उल्लेख है[3]।

१८२ तिल-पपड़ी (सक्कुलिं ग) :

चूर्णि और टीका में इसका अर्थ तिल-पपड़ी किया है[4]। चरक और सुश्रुत की व्याख्या में कचौरी आदि किया गया है[5]।

श्लोक ७२

१८३ न बिकी हो (पसढं घ) :

जो विक्रेय वस्तु बहुत दिनों तक न बिके उसे 'प्रशठ' या 'प्रसृत' कहा गया है[6]। टीकाकार ने इसका संस्कृत रूप 'प्रशठ' किया है[7]।

१८४ रज से (रएण च) :

रज का अर्थ है—हवा से उड़कर आई हुई अरण्य की सूक्ष्म सचित्त (सजीव) मिट्टी[8]।

१—(क) अ० चू० : कोला बदरा तेसिं चुण्णाणि।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : कोलाणि—बदराणि तेसिं चुण्णो कोलचुण्णाणि।
२—हा० टी० प० १८५ : 'कोलचूर्णान्' बदरसक्तून्।
३—आचा० २.१.८ सू० २६८ : पिप्पलिचुण्णं वा ... मिरियचुण्णं वा ... सिंगबेरचुण्णं वा ... अण्णयरं वा तहप्पगारं।
४—(क) अ० चू० : सक्कुली तिलपप्पडिका।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : सक्कुलीति पप्पडिकादि।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'शष्कुली' तिलपर्पटिकाम्।
५—(क) च० २७० २६७।
(ख) भक्ष्यवर्ग ४६.४११।
६—(क) अ० चू० : पसढमिति पगासातं बहुदिवसं विक्कतं न गतं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तं पसढं नाम जं बहुदेवसियं दिणे दिणे विक्कायति तं।
७—हा० टी० प० १८५ : 'प्रशठं' अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्।
८—(क) अ० चू० : रएण आरण्णेणं वाउसमुद्धुतेण सचित्तेण समंततो कंतं परिफासियं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तत्थ वाउणा उद्धुएण आरण्णेण सचित्तेण रएण।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'रजसा' पार्थिवेन।

श्लोक ७३ :

१८५. पुद्‌गल,……अनिमिष (पुग्गलं [क] …… अणिमिसं [ख]) :

पुद्‌गल शब्द जैन-साहित्य का प्रमुख शब्द है। इसका जैनेतर साहित्य में क्वचित् प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में पुद्‌गल चेतन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग आभरण के अर्थ में हुआ है[1]। जैन साहित्य मे पुद्‌गल एक द्रव्य है। परमाणु और परमाणु-स्कन्ध—इन दोनों की सज्ञा 'पुद्‌गल' है। कहीं-कहीं आत्मा के अर्थ मे भी इसका प्रयोग मिलता है[2]।

प्रस्तुत श्लोक में जो 'पुद्‌गल' शब्द है उसके सस्कृत रूप 'पुदगल' और 'पौद्‌गल' दोनों हो सकते हैं। चूर्णि और टीका-साहित्य में पुद्‌गल का अर्थ मास भी मिलता है[3]। यह इसके अर्थ का विस्तार है। पौद्‌गल का अर्थ पुद्‌गल-समूह होता है। किसी भी वस्तु के कलेवर, सस्थान या वाह्य रूप को पौद्‌गल कहा जा सकता है। स्थानाङ्ग में मेघ के लिए 'उदक पौद्‌गल' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]। पौद्‌गल का अर्थ मास, फल या उसका गूदा—इनमें से कोई भी हो सकता है। इसलिए यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ मास और कइयों ने वनस्पति—फल का अन्तर्भाग किया है।

इस प्रकार अनिमिष शब्द भी मत्स्य तथा वनस्पति दोनों का वाचक है। चूर्णिकार पुद्‌गल और अनिमिष का अर्थ मास-मत्स्य-परक करते हैं[5]। वे कहते हैं—साधु को मांस खाना नहीं कल्पता, फिर भी किसी देश, काल की अपेक्षा से इस अपवाद सूत्र की रचना हुई है[6]। टीकाकार मास-परक अर्थ के सिवाय मतान्तर के द्वारा इनका वनस्पति-परक अर्थ भी करते हैं[7]।

आचाराङ्ग २ १ १० के तीसरे, चौथे और पाँचवें सूत्र से इन दो श्लोकों की तुलना होती है। तीसरे सूत्र में इक्षु, शाल्मली इन दो वनस्पतिवाचक शब्दों का उल्लेख है और चौथे सूत्र में मास और मत्स्य शब्द का उल्लेख है। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि मांस और मत्स्य का लोक-प्रसिद्ध अर्थ करते हैं। किन्तु वे मुनि के लिए इन्हें अभक्ष्य वतलाते हैं। उनके अनुसार वाह्योपचार के लिए इनका ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु खाने के लिए नहीं[8]।

अगस्त्यसिंह स्थविर, जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि के तथा शीलाङ्कसूरि के दृष्टिकोण में अन्तर केवल आशय के अस्पष्टीकरण और स्पष्टीकरण का है, ऐसा सभव है। वे अपवाद रूप में मास और मत्स्य के लेने की बात कहकर रुक जाते हैं, किन्तु उनके उपयोग की चर्चा नहीं करते। शीलाङ्कसूरि उनके उपयोग की बात बता सूत्र के आशय को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं[9]।

१—कौटि० अर्थ० २ १४ प्र० ३२ तस्माद् वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्‌गललक्षणान्युपलभेत।
व्याख्या—उच्चावचहरणोपायसम्भवात्, वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां वज्रादिरूपाणा चतुर्णा, जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्‌गललक्षणादि, जाति—उत्पत्ति, रूपम्—आकार, वर्ण—राग, प्रमाण—मापकादिपरिमाण, पुद्‌गलम्—आभरण, लक्षण—लक्ष्म एतानि उपलभेत—विद्यात्।

२—सूत्र० १ १३ १५ उत्तमपोग्गले। वृत्ति—उत्तम पुद्‌गल—आत्मा।

३—नि० भा० गा० १३५ चूर्णि पोग्गल मोयगदते पोग्गल—मस।

४—स्था० ३ ३ १७६ प० १३२ वृ० उदकप्रधान पौद्‌गलम्—पुद्‌गलसमूहो मेघ इत्यर्थ, उदकपौद्‌गलम्।

५—(क) अ० चू० पोग्गल प्राणिविकारो।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ वहुअट्ठिय व मस मच्छ वा वहुकटय।

६—(क) अ० चू० मसातीण, अग्गहणे सति देश-कालगिलाणवेक्ख, मिदमववातसुत्त।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ मस वा णेव कप्पति साहूण कचि काल देस पडुच्च इम सुत्तमागत।

७—हा० टी० प० १७६ वह्वस्थि 'पुद्‌गल' मांसम् 'अनिमिषं वा' मत्स्य वा वहुकण्टकम्, अय किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेध, अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति।

८—आचा० २ १.१० २८१ वृ० एव माससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादान क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो वाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात् फलवद्‌दृष्ट, भुजिश्चात्र वहि परिभोगार्थे, नाभ्यवहारार्थे, पदातिभोगवदिति।

९—विस्तृत जानकारी के लिए देखिए आचाराङ्ग २ १ १० का टिप्पण।

श्लोक ७५ :

१८९. श्लोक ७५ :

अब तक के श्लोकों में मुनि को अकल्पनीय आहार का निषेध कर कल्पनीय आहार लेने की अनुज्ञा दी है। अब ग्राह्य-अग्राह्य जल के विषय में विवेचन है[1]। जल भी अकल्प्य छोड़ कल्प्य ग्रहण करना चाहिए।

१९०. उच्चावच पानी (उच्चावयं पाणं [क]) :

उच्च और अवच शब्द का अर्थ है ऊँच और नीच। जल के प्रसङ्ग में इनका अथ होगा—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ हो वह 'उच्च' और जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ न हों वह 'अवच' कहलाता है।

जो वर्ण में सुन्दर, गध से अपूति—दुर्गन्ध रहित, रस से परिपक्व और स्पर्श से स्निग्धता रहित हो वह उच्च जल है और वह साधु को कल्पता है। जो ऐसे वर्ण आदि से रहित है वह अवच और अग्राह्य है।

द्राक्षा-जल उच्च 'जल' है। और नाल का पूति—दुर्गन्धयुक्त जल 'अवच जल' है[2]।

'उच्चावच' का अर्थ नाना प्रकार भी होता है[3]।

१९१. गुड़ के घड़े का धोवन (वारधोयणं [ख]) :

चूर्णि-द्वय में 'वाल धोयण' पाठ है। चूर्णिकार ने यहाँ रकार और लकार का एकत्व माना है[4]। 'वार' घड़े को कहते हैं। फाणित—गुड़ आदि से लिप्त घड़े का धोवन 'वार-धोवन' कहलाता है[5]।

१९२. आटे का धोवन (संसेइमं [ग]) :

इसका अर्थ आटे का धोवन होता है[6]। शीलाङ्काचार्य इसका अर्थ तिल का धोवन और उबाली हुई भाजी जिसे ठंडे जल से

१—(क) अ० चू० · 'एगालभो अपज्जत्त' ति पाण-भोयणेसणाओ पत्थुयाओ, तत्थ किंचि सामण्णमेव सभवति भोयणे पाणे य, ''अय सु पाणग एव विसेसो सभवतीति भण्णति।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ जहा भोयण अकप्पिय पडिसिद्ध कप्पियमणुण्णाय तहा पाणगमवि भण्णइ।

२—(क) अ० चू० 'उच्चावय' अणेगविध वण्ण-गंध-रस-फासेहिं हीण-मज्झिमुत्तम।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ उच्च च अवच च उच्चावच, उच्च नाम ज वण्णगधरसफासेहिं उववेय, त च मुद्दियादिपाणगादी, चउत्थ-रसिय वावि ज वण्णओ सोभण गंधओ अपूय रसओ परिकप्परस फासओ अपिच्छिल त उच्च भण्णइ, त कप्पइ, अवय णाम जमेतेहिं वण्णगधरसफासेहिं विहीण, त अवय भन्नति, एव ता वसतीए घेप्पति।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'उच्च' वर्णाद्युपेत द्राक्षापानादि 'अवच' वर्णादिहीन पूत्यारनालादि।

३—जि० चू० पृ० १८५ अहवा उच्चावय णाम णाणापगार भन्नइ।

४—(क) अ० चू० अदुवा वालधोवण, 'वालो' वारगो र-ल्योरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति वाल, तेण वार एव वाल·।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ रकारलकाराणमेगत्तमितिकाउ वारओ वालओ भन्नइ।

५—(क) अ० चू० तस्य धोवण फाणितातीहिं लित्तस्स वालाविस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ सो य गुलफाणियादिभायण तस्स धोवण वारधोवण।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'वारकधावन' गुडघटधावनमित्यर्थ·।

६—(क) अ० चू० जम्मि किंचि सागादी संसेदत्ता सित्तोसित्तादि कीरति त ससेइम।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ ससेइम नाम पाणिय अद्दहेऊण तस्सोवरि पिट्ठे ससेइज्जति, एवमादि त ससेदिय भन्नति।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'सस्वेदज' पिष्टोदकादि।

१८६ आस्थिक (अत्थियं घ):

दोनों चूर्णियों में 'अत्थियं' पाठ मिलता है[1]। इसका संस्कृत रूप 'आस्थिक' बनता है। आस्थिक एक प्रकार का रंगीन फल है[2]। आस्थिकी नामक एक लता भी होती है। उसका फल पित्त-कफ नाशक खट्टा तथा वातवर्धक होता है[3]।

हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार 'अत्थियं' पाठ है। वहाँ इसका अर्थ अस्थिक-वृक्ष का फल किया गया है[4]। भगवती (२२।३) और प्रज्ञापना (१) में बहुबीजक वनस्पति के प्रकरण में 'अत्थिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी पहचान 'अगस्ति या अगस्त्य' से की जा सकती है। इसे हिन्दी में 'अगस्तिया', 'हथिया', 'हदगा' कहते हैं। अगस्तिया के फूल और फली होते हैं। इसकी फली का शाक भी बनता है[5]।

१८७ तेन्दू (तिंदुयं[6] ग)

तेन्दू भारत लंका बर्मा और पूर्वी बंगाल के जंगलों में पाया जाने वाला एक मझोले आकार का वृक्ष है। इस वृक्ष की लकड़ी को आबनूस कहते हैं। इस वृक्ष का खाया जाने वाला फल नींबू के समान हरे रंग का होता है और पकने पर पीला हो जाता है।

१८८ फली (सिंबलिं घ):

अगस्त्य चूर्णि और हारिभद्रीय वृत्ति में 'सिंबलि' का अर्थ निष्पाव (बल्ल धान्य) आदि की फली और जिनदास चूर्णि में केवल फली किया है। शाल्मलि के अर्थ में 'सिंबलि' का प्रयोग देशी नाममाला में मिलता है।

शिष्य ने पूछा—७०वें श्लोक में अपक्व प्रलम्ब का निषेध किया है उससे ये स्वयं निषिद्ध हो जाते हैं फिर इनका निषेध क्यों? आचार्य ने कहा—वहाँ अपक्व प्रलम्ब लेने का निषेध है यहाँ बहु उज्झन-धर्मक वस्तुओं का। इसलिए ये पक्व भी नहीं लेनी चाहिए[1]।

१—(क) अ० चू०: अत्थियं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४: अत्थियं णाम रुक्खस्स फलं।
२—सु० ४६।१ । फल वर्ग।
३—च० सू० २७।११ पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चास्थिकीफलम्।
४—हा० टी० प० १८६: 'अत्थियं' अस्थिकवृक्षफलम्।
५—शालि० नि० भू० पृ० ५११।
६—(क) जि० चू० पृ० १८४: तिंदुयं—टिंबरुयं।
(ख) हा० टी० प० १८६: 'तेंदुकं' तेंदुरुकीफलम्।
७—नालन्दा विशाल शब्द सागर।
८—(क) अ० चू०: निप्फावादि सेंगा—सिंबलि।
(ख) हा० टी० प० १८६: 'शाल्मलिं वा' वल्लादिफलिम्।
(ग) जि० चू० पृ० १८४: सिंबलि—सिंगा।
९—दे० ना० ८।२१: सामरी सिंबलीए—सामरी शाल्मलिः।
१—जि० चू० पृ० १८४-८५: सीसो आह—ननु पलंबगहणेण एयाणि गहियाणि आयरिओ भणइ—एयाणि सत्थोवहयाणिवि अप्पाणि बहुउज्झियधम्माणि ण गिण्हियव्वाणि।

श्लोक ७५ :

१८९. श्लोक ७५ :

अब तक के श्लोकों में मुनि को अकल्पनीय आहार का निषेध कर कल्पनीय आहार लेने की अनुज्ञा दी है। अब ग्राह्य-अग्राह्य जल के विषय में विवेचन है[1]। जल भी अकल्प्य छोड़ कल्प्य ग्रहण करना चाहिए।

१९०. उच्चावच पानी (उच्चावयं पाणं [क]) :

उच्च और अवच शब्द का अर्थ है ऊँच और नीच। जल के प्रसङ्ग में इनका अथ होगा—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ हों वह 'उच्च' और जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ न हों वह 'अवच' कहलाता है।

जो वर्ण में सुन्दर, गध से अपूति—दुर्गन्ध रहित, रस से परिपक्व और स्पर्श से स्निग्धता रहित हो वह उच्च जल है और वह साधु को कल्पता है। जो ऐसे वर्ण आदि से रहित है वह अवच और अग्राह्य है।

द्राक्षा-जल उच्च 'जल' है। और नाल का पूति—दुर्गन्धयुक्त जल 'अवच जल' है[2]।

'उच्चावच' का अर्थ नाना प्रकार भी होता है[3]।

१९१. गुड़ के घड़े का धोवन (वारधोयणं [ख]) :

चूर्णि-द्वय में 'वाल धोयण' पाठ है। चूर्णिकार ने यहाँ रकार और लकार का एकत्व माना है[4]। 'वार' घड़े को कहते हैं। फाणित—गुड़ आदि से लिप्त घड़े का धोवन 'वार-धोवन' कहलाता है[5]।

१९२. आटे का धोवन (संसेइमं [ग]) :

इसका अर्थ आटे का धोवन होता है[6]। शीलाङ्काचार्य इसका अर्थ तिल का धोवन और उबाली हुई भाजी जिसे ठंडे जल से

१—(क) अ० चू० 'एगालभो अपजत्त' ति पाण-भोयणेसणाओ पत्थुयाओ, तत्थ किंचि सामण्णमेव सभवति भोयणे पाणे य, "अय तु पाणग एव विसेसो सभवतीति भण्णति।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ जहा भोयण अकप्पिय पडिसिद्ध कप्पियमणुण्णाय तहा पाणगमवि भण्णइ।

२—(क) अ० चू० 'उच्चावय' अणेगविध वण्ण-गध-रस-फासेहि हीण-मज्झिमुत्तम।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ उच्च च अवच च उच्चावच, उच्च नाम ज वण्णगधरसफासेहि उववेय, त च मुद्दियादिपाणगादी, चउत्थ-रसिय वावि ज वण्णओ सोभण गंधओ अपूय रसओ परिकप्परस फासओ अपिच्छिल त उच्च भण्णइ, त कप्पइ, अवय णाम जमेतेहि वण्णगधरसफासेहि विहीण, त अवय भन्नति, एव ता वसतीए घेप्पति।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'उच्च' वर्णाद्युपेत द्राक्षापानादि 'अवच' वर्णादिहीन पूत्यारनालादि।

३—जि० चू० पृ० १८५ अहवा उच्चावय णाम णाणापगार भन्नइ।

४—(क) अ० चू० अदुवा वालधोवण, 'वालो' वारगो र-लयोरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति वाल, तेण वार एव वाल"।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ रकारलकाराणमेगत्तमितिकाउ वारओ वालओ भन्नइ।

५—(क) अ० चू० तस्य धोवण फाणितातीहि लित्तस्स वालादिस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ सो य गुलफाणियादिभायण तस्स धोवण वारधोवण।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'वारकधावन' गुडघटधावनमित्यर्थ'।

६—(क) अ० चू० जम्मि किंचि सागादी संसेदत्ता सित्तोसित्तादि कीरति त ससेइम।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ ससेइम नाम पाणिय अद्दहेऊण तस्सोवरि पिट्ठे ससेइज्जति, एवमादि त ससेदिय भन्नति।

(ग) हा० टी० प० १७७ 'सस्वेदज' पिष्टोदकादि।

मति द्वारा चिरधौत को जानने के लिए तीन उपाय बताए जाते हैं—

१—पुष्पोदक का विगलित होना।

२—बिन्दुओं का सूखना।

३—चावलों का सीझना।

चूर्णिकार के अनुसार ये तीनों अनादेश (असम्यग् विधान) हैं, क्योंकि पुष्पोदक कभी-कभी चिरकाल तक टिक सकता है। जल की बूंदें भी सर्दी में चिरकाल से सूखती हैं और गर्मी में शीघ्र सूख जाती हैं। कलम, शालि आदि चावल जल्दी सीझ जाते हैं। घटिया चावल देरी से सीझते हैं। पुष्पोदक के विगलित होने में, बिन्दुओं के सूखने में और चावलों के सीझने में समय की निश्चितता नहीं है, इसलिए इनका कालमान जल के सचित्त से अचित्त होने में निर्णायक नहीं बनता[1]।

श्लोक ७८ :

१९५. बहुत खट्टा (अच्चंबिलं ग) :

आगम-रचना-काल में साधुओं को यवोदक, तुषोदक, सौवीर, आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे। उनमें कांजी की भांति अम्लता होती थी। अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे। उनमें दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी। वैसे जलों से प्यास भी नहीं बुझती थी। इसलिए उन्हें चखकर लेने का विधान किया गया।

श्लोक ८१ :

१९६. अचित्त भूमि को (अचित्तं ख) :

दग्धस्थान आदि शस्त्रोपहत भूमि तथा जिस भूमि पर लोगों का आवागमन होता रहता है वह भूमि अचित्त होती है[2]।

१९७. यतना-पूर्वक (जयं ग) :

यहाँ 'यत' शब्द का अर्थ अत्वरित किया है[3]।

१९८. परिस्थापित करे (परिट्ठवेज्जा ग) :

परिस्थापन (परित्याग) दश प्रायश्चित्तों में चौथा प्रायश्चित्त है[4]। अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाए तो

१—जि० चू० पृ० १८५ मतीए नाम ज कारणेहिं जाणइ, तत्थ केई इमाणि तिण्णि कारणाणि भणति, जहा जाव पुप्फोदया विरायति ताव मिस्स, अण्णे पुण भणति—जाव फुसियाणि छक्कति, अण्णे भणंति—जाव तदुला सिज्झति, एवइएण कालेण अचित्त भवइ, तिण्णिवि एते अणाएसा, कह ?, पुप्फोदया कयायि चिरमच्छेज्जा, फुसियाणि वरिसारत्ते चिरेण छक्कति, उण्हकाले लहु, कलमसालितदुलावि लहु सिज्झंति, एतेण कारणेण।

२—(क) अ० चू० अच्चित्त झामथंडिलाति।

(ख) जि० चू० पृ० १८६ : अचित्त नाम ज सत्थोवहय अचित्त, त च आगमणथंडिलादी।

(ग) हा० टी० प० १७८ 'अचित्त' दग्धदेशादि।

३—(क) जि० चू० पृ० १८६ जय नाम अतुरिय।

(ख) हा० टी० प० १७८ 'यतम्' अत्वरितम्।

४—स्था० १० ७३३।

उसका परित्याग करना एक आवश्यक है, इसे 'विवेक' कहा जाता है। इस श्लोक में परित्याग कहाँ और कैसे करना चाहिए, परित्याग के बाद क्या करना चाहिए—इन तीन बातों का संकेत मिलता है। परित्याग करने की भूमि एकान्त और अचित्त होनी चाहिए[1]। उस भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर (उसे देख रजोहरण से साफ कर) परित्याग करना चाहिए[2]।

परित्याग करते समय 'वोसिरामि'—छोड़ता हूँ, परित्याग करता हूँ—यों तीन बार बोलना चाहिए[3]। परित्याग करने के बाद उपाश्रय में आकर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

१९९ प्रतिक्रमण करे (पडिक्कमे[ग]) :

प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना—वापस आना। प्रयोजन के बिना मुनि को कहीं जाना नहीं चाहिए। प्रयोजनवश जाए तो वापस आने पर आने-जाने में आन-अनजान में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए ईर्यापथिकी का (देखिए आवश्यक ४.६) ध्यान करना चाहिए। यहाँ इसी को प्रतिक्रमण कहा गया है[4]।

श्लोक ८२

२०० श्लोक ८२ :

इस श्लोक से भोजन-विधि का प्रारम्भ होता है। सामान्य विधि के अनुसार मुनि को गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करना चाहिए। किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढ़ा बुभुक्षित तपस्वी हो या प्यास से पीड़ित हो तो उपाश्रय में आने के पहले ही भोजन (कलेवा) कर सकता है। श्लोक ८२ से ८६ तक इसी आपवादिक विधि का वर्णन है। जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हों तो उनके पास जाकर आहार करना चाहिए। यदि साधु न हों तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल आदि देख वहाँ जाना चाहिए[5]। यदि उनका अधिकारी हो तो वहाँ ठहरने के लिए उसकी अनुमति लेनी चाहिए। आहार के लिए उपयुक्त स्थान वह होता है जो ऊपर से छाया हुआ और चारों ओर से संवृत हो। वैसे स्थान में ऊपर से पड़ते हुए सूक्ष्म जीवों के गिरने की संभावना नहीं रहती। आहार करने से पहले 'हस्तक'[6] से समूचे शरीर का प्रमार्जन करना चाहिए[7]।

१—विशेष स्पष्टता के लिए देखिए आचा० २.१.१.२।

२—जि० चू० पृ० १८६ : पडिलेहणगहणेण पमज्जणावि गहिया, चक्खुणा पडिलेहित्ता रयहरणादिणा पमज्जइ।

३—हा० टी० प० १८८ : प्रतिक्रम्यव्युत्सृष्टिकया विधिना व्युत्सृजेत्।

४—(क) अ० चू० : पच्चागतो इरियावहियाए पडिक्कमे।

(ख) जि० चू० पृ० १८६-८७ : परिठ्ठवेऊण वसतिमागंतूण इरियावहियाए पडिक्कमेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १८८ : प्रतिक्रम्य वसतिमागत्य प्रतिक्रमेदीर्यापथिकायाः। एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणमपहाय प्रतिक्रम्य प्रतिक्रमणविधिमावश्यकार्थमिति।

५—(क) अ० चू० : गोयरग्गपविट्ठस्स भोयणं संभवो गामंतरं भिक्खायरियाए गतस्स काल-पमाण-पुरिसे आसज्ज पत्ताकिच्चं।

(ख) जि० चू० पृ० १८८ : जो य सो गोयरग्गपविट्ठो भुंजइ सो अन्नं गामं गओ बालो बुड्ढो छाओ खमओ वा अहवा तिसिओ सो कोई तिक्खभुक्खो वा ताव पिबेज्ज एवमादि, इच्चेया णाम अभिकंखेज्जा समाकिच्चं काउं तं तुम अवस्साणुण्णवेत्ता कोट्ठगं भित्तिमूलं वा समुपेहेत्ता।

६—देखिए टिप्पणी (५.१.८३) की संख्या २०७ पृ० २७८।

७—प्रश्न० (सं०) ५ २ २ : संपमज्जिऊण ससीसं कार्य।

२०१. भित्तिमूल (भित्तिमूलं ग):

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ दो घरों का मध्यवर्ती भाग[1], भित्ति का एक देश अथवा भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग[2] और कुटीर या भीत किया है[3]।

श्लोक ८३:

२०२. अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्तु क):

स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—"हे श्रावक! तुम्हें धर्म-लाभ है। मैं मुहूर्त भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ।" अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार प्रकट होती है—गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है—"आप चाहते हैं वैसे विश्राम की अनुज्ञा देता हूँ[4]।"

२०३. छाए हुए एवं संवृत्त स्थल में (पडिच्छन्नम्मि संवुडे ख):

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' और 'सवृत'—ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं[5]। अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' स्थान का और 'सवृत' मुनि का विशेषण है[6]। उत्तराध्ययन (१ ३५) में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शान्त्याचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ में स्थान का विशेषण माना है और गौणार्थ में 'सवृत' को मुनि का विशेषण माना है[7]।

बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार-स्थल प्रतिच्छन्न—ऊपर से छाया हुआ और सवृत—पार्श्व-भाग से आवृत होना चाहिए[8]। इस दृष्टि से 'प्रतिच्छन्न' और 'सवृत' दोनों स्थान के विशेषण होने चाहिए।

२०४. हस्तक से (हत्थगं ग):

'हस्तक' का अर्थ—मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका होता है[9]। कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'हस्तक' का अर्थ पूजनी (प्रमार्जनी)

१—अ० चू० दोण्ह घराण अतर भित्तिमूल।

२—हा० टी० प० १७८ 'भित्तिमूल वा' कुड्यैकदेशादि।

३—जि० चू० पृ० १८७ भित्ती नाम कुडो कुड्डो।

४—(क) अ० चू० धम्मलाभपुव्व तस्सत्थाणस्स पमुमणुण्णवेति—जदि ण उवरोहो एत्थ मुहुत्त वीससामि, ण भणति 'समुद्दिसामि' मा-कोतुहल्लेण एहिती।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ तेण तत्थ ठायमाणेण तत्थ पहु अणुन्नवेयव्वो—धम्मलाभो ते सावगा! एत्थ अहं मुहुत्तागमि विस्समामि, ण य भणयति जहा समुद्दिस्सामि आययामि वा, कोउएण पलोएहिति।

(ग) हा० टी० प० १७८ 'अनुज्ञाप्य' सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहम्।

५—जि० चू० पृ० १८७ पडिच्छण्णे सवुडे ठातियव्व जहा सहसत्ति न दीसती, जहा य सागारिय दूरओ ज न पासति तहा ठातियव्व।

६—(क) अ० चू० पडिच्छण्णे थाणे सवुडो सय जधा सहसा ण दीसति सयमावयत पेच्छति।

(ख) हा० टी० प० १७८ 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठकादौ 'सवृत' उपयुक्त सन्।

७—उत्त० बृ० पत्र ६०,६१ 'प्रतिच्छन्ने' उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पात सम्भवात्, 'सवृते' पार्श्वत कटकुड्यादिना सङ्कटद्वारे अटव्यां कुडङ्गादिपु वा" 'सवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

८—(क) अ० चू० ससीसोवरिय हस्सत हत्थग।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ - हत्थग मुहपोत्तिया भण्णइत्ति।

(ग) हा० टी० प० १७८ 'हस्तक' मुखवस्त्रिकारूपम्।

श्लोक ८७ :

२०६. श्लोक ८७ :

पिछले पाँच श्लोकों (८२-८६) में गोचराग्र-गत मुनि के भोजन की विधि का वर्णन है। आगे के दस श्लोकों (८७-९६) में भिक्षा लेकर उपाश्रय में आहार करने की और उसकी अन्तराल-विधि का वर्णन है। इसमें सबसे पहले स्थान-प्रतिलेखना की बात आती है।

गृहस्थ के पास से भिक्षा लेने के बाद मुनि को उसका विशोधन करना चाहिए। उसमें जीव-जन्तु या कटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख देना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिकार ने भिक्षा-विशुद्धि के स्थान तीन बतलाए हैं—शून्य-गृह, वह न हो तो देव-कुल और वह न मिले तो उपाश्रय का द्वार[1]। इसलिए आश्रय में प्रविष्ट होने से पहले स्थान-प्रतिलेखना करनी चाहिए और प्रतिलेखित स्थान में आहार की विशुद्धि कर फिर उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश-विधि इस प्रकार है—पहले रजोहरण से पादप्रमार्जन करे, उसके बाद तीन बार 'निसीहिया' (आवश्यक कार्य से निवृत्त होता हूँ) बोले और गुरु के सामने आते ही हाथ जोड़ 'णमो खमासमणाणं' बोले। इस सारी विधि को विनय कहा गया है[2]।

उपाश्रय में प्रविष्ट होकर स्थान-प्रतिलेखन कर भिक्षा की झोली को रख दे, फिर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढे, फिर कायोत्सर्ग (शरीर को निश्चल बना भुजाओं को झुकाकार खड़ा रहने की मुद्रा) करने के लिए 'तस्सोत्तरी करणेणं'[3] सूत्र पढे, फिर कायोत्सर्ग करे। उसमें अतिचारों की क्रमिक स्मृति करे, फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे'[4] सूत्र का चिन्तन करे[5]।

ओघनिर्युक्तिकार कायोत्सर्ग में केवल अतिचार-चिन्तन की विधि बतलाते हैं[6]। जिनदास महत्तर अतिचार-चिन्तन के बाद 'लोगस्स' सूत्र के चिन्तन का निर्देश देते हैं[7]। नमस्कार-मन्त्र के द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर गुरु के पास आलोचना करे। चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार आलोचना करने करने वाला अव्याक्षिप्त-चित्त होकर (दूसरों से वार्तालाप न करता हुआ) आलोचना करे[8]। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य व्याक्षिप्त न हों, धर्म-कथा, आहार नीहार, दूसरे से बातचीत करने और विकथा में लगे हुए न हों तब उनके पास आलोचना करनी चाहिए[9]।

आलोचना करने से पहले वह आचार्य की अनुज्ञा ले और आचार्य अनुज्ञा दे तब आलोचना करे[10]। जिस क्रम से भिक्षा ली हो उसी क्रम से पहली भिक्षा से प्रारम्भ कर अन्तिम भिक्षा तक जो कुछ बीता हो वह सब आचार्य को कहे। समय कम हो

१—(क) ओ० नि० गा० ५०३।
(ख) हा० टी० प० १७९ तत्र बहिरेवोन्दुक—स्थान प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थ पिण्डपात विशोधयेदिति।

२—ओ० नि० गा० ५०९।

३—आव० ५ ३।

४—आव० २।

५—जि० चू० पृ० १८८।

६—ओ० नि० गा० ५१२।

७—जि० चू० पृ० १८८ ताहे 'लोगस्सुज्जोयगर कड्ढिऊण तमतियार आलोएइ।

८—(क) जि० चू० पृ० १८८ अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम तमालोयंतो अण्णेण केणइ सम न उल्लावइ, अवि वयण वा अन्नस्स न देई।
(ख) हा० टी० प० १७९ अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थ।

९—ओ० नि० गा० ५१४।

१०—ओ० नि० गा० ५१५।

करते हैं। किन्तु यह सापार नहीं लगता। ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में मुख-वस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन बतलाया है[1]। पात्र-केसरिका का अर्थ होता है—पात्र-मुख-वस्त्रिका—पात्र-प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र-खण्ड[2]। 'हस्तक', मुख 'वस्त्रिका' और 'मुखानन्तक'—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

श्लोक ८४

२०५ गुठली, कांटा (अट्ठियं कंटओ ^):

चूर्णिकार इनका अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करते हैं और इनका सम्बन्ध देश-काल की अपेक्षा से ग्रहण किए हुए मांस आदि से जोड़ते हैं[3]।

अस्थिक और कंटक प्रमादवश गृहस्थ द्वारा मुनि को दिए हुए हो सकते हैं—ऐसा टीकाकार का अभिमत है। उन्होंने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार अस्थिक और कंटक कारणवश गृहीत भी हो सकते हैं[4]। किन्तु यहाँ अस्थिक और कंटक का अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करना प्रकरण-संगत नहीं है। गोचराग्र-काल में आहार करने के तीन कारण बतलाए हैं—असहिष्णुता, ग्रीष्मऋतु का समय और तपस्या का पारणा[5]। ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार ने असहिष्णुता के दो कारण बतलाए हैं—भूख और प्यास[6]। क्लान्त होने पर मुनि भूख की शांति के लिए थोड़ा-सा खाता है और प्यास की शांति के लिए पानी पीता है। यहाँ 'भुंजमाण' शब्द का अर्थ परिभोग किया जा सकता है उसमें खाना और पीना ये दोनों समाते हैं।

गुठली और कांटे का प्रसंग भोजन की अपेक्षा पानी में अधिक है। आचाराङ्ग[7] में कहा है कि आम्रातक कपित्थ, बिजौरे दाख खजूर नारियल करीर (करील—एक प्रकार की कंटीली झाड़ी), बेर, आंवले या इमली का धोवन 'सअट्ठियं' (गुठली सहित) 'सकणुयं' (छिलके सहित) और 'सबीयगं' (बीज सहित) हो उसे गृहस्थ वस्त्र आदि से छानकर दे तो मुनि न ले।

इस सूत्र के 'सअट्ठियं' शब्द की तुलना प्रस्तुत श्लोक के 'अट्ठियं' शब्द से होती है। शीलाङ्काचार्य ने 'सअट्ठियं' शब्द का अर्थ गुठली सहित किया है[8]।

आचाराङ्ग में जिन बारह प्रकार की वनस्पति के फलों के धोवन का उल्लेख किया है उनमें लगभग सभी फल गुठली या बीज वाले हैं और उनके कुछ पेड़ कंटीले भी हैं। इसीलिए दाता के प्रमादवश किसी धोवन में गुठली और कांटे का रहना संभव भी है। हो सकता है ये भोजन में भी रह जाएँ। किन्तु यहाँ ये दोनों शब्द हड्डी और मत्स्य-कंटक के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते।

१—ओ० नि० वृ० ७१२ : संपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते तथा रेणुप्रमार्जनाय मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकामुखं बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।

२—ओ० नि० वृ० ११८।

३—(क) अ० चू० : अट्ठियं कारणगहितं अणाभोगेण वा पूर्वं अभिमिस्सं (?स)।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : जइ ममस साहुणो तस्स भुंजमाणस्स देसकालादीणि पडुच्च गहिए मंसादीए अणवाते अट्ठी कंटगो वा हुज्जा इच्चादि वा अण्णतरं तत्थ सहसा वा हुज्जा।

४—हा० टी० प० १८० : अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथंचित्पुद्गलानां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गले वेत्यन्ये।

५—ओ० नि० गा० ५।

६—ओ० नि० भाष्य १९१।

७—आचा० २.१.८.११।

८—आचा० १.८.११ वृ० : 'सअट्ठियं' सहास्थिना—कुलकेन वर्तते।

श्लोक ८७ :

२०६. श्लोक ८७ :

पिछले पाँच श्लोकों (८२-८६) में गोचराग्र-गत मुनि के भोजन की विधि का वर्णन है। आगे के दस श्लोकों (८७-९६) में भिक्षा लेकर उपाश्रय में आहार करने की और उसकी अन्तराल-विधि का वर्णन है। इसमें सबसे पहले स्थान-प्रतिलेखना की बात आती है।

गृहस्थ के पास से भिक्षा लेने के बाद मुनि को उसका विशोधन करना चाहिए। उसमें जीव-जन्तु या कटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख देना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिकार ने भिक्षा-विशुद्धि के स्थान तीन बतलाए हैं—शून्य-गृह, वह न हो तो देव-कुल और वह न मिले तो उपाश्रय का द्वार[1]। इसलिए आश्रय में प्रविष्ट होने से पहले स्थान-प्रतिलेखना करनी चाहिए और प्रतिलेखित स्थान मे आहार की विशुद्धि कर फिर उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश-विधि इस प्रकार है—पहले रजोहरण से पादप्रमार्जन करे, उसके बाद तीन बार 'निसीहिया' (आवश्यक कार्य से निवृत्त होता हूँ) बोले और गुरु के सामने आते ही हाथ जोड़ 'णमो खमासमणाण' बोले। इस सारी विधि को विनय कहा गया है[2]।

उपाश्रय में प्रविष्ट होकर स्थान-प्रतिलेखन कर भिक्षा की झोली को रख दे, फिर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग (शरीर को निश्चल बना भुजाओं को झुकाकार खड़ा रहने की मुद्रा) करने के लिए 'तस्सोत्तरी करणेण'[3] सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। उसमें अतिचारों की क्रमिक स्मृति करे, फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे'[4] सूत्र का चिन्तन करे[5]।

ओघनिर्युक्तिकार कायोत्सर्ग में केवल अतिचार-चिन्तन की विधि बतलाते हैं[6]। जिनदास महत्तर अतिचार-चिन्तन के बाद 'लोगस्स' सूत्र के चिन्तन का निर्देश देते हैं[7]। नमस्कार-मन्त्र के द्वारा कायोत्सग को पूरा कर गुरु के पास आलोचना करे। चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार आलोचना करने करने वाला अव्याक्षिप्त-चित्त होकर (दूसरों से वार्तालाप न करता हुआ) आलोचना करे[8]। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य व्याक्षिप्त न हों, धर्म-कथा, आहार नीहार, दूसरे से वातचीत करने और क्रिया में लगे हुए न हों तब उनके पास आलोचना करनी चाहिए[9]।

आलोचना करने से पहले वह आचार्य की अनुज्ञा ले और आचार्य अनुज्ञा दे तब आलोचना करे[10]। जिस क्रम से भिक्षा ली हो उसी क्रम से पहली भिक्षा से प्रारम्भ कर अन्तिम भिक्षा तक जो कुछ बीता हो वह सब आलोचना करे। [illegible]

१—(क) ओ० नि० गा० ५०३।
　(ख) हा० टी० प० १७९　तत्र बहिरेवोन्दुक—स्थान प्रत्युपेद्य विधिना तत्रस्थ पिण्डपात [illegible]
२—ओ० नि० गा० ५०६।
३—आव० ५ ३।
४—आव० २।
५—जि० चू० पृ० १८८।
६—ओ० नि० गा० ५१२।
७—जि० चू० पृ० १८८　ताहे 'लोगस्सुज्जोयगर कड्ढिऊण तमतियार [illegible]
८—(क) जि० चू० पृ० १८८　अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम तमालोयन्तो [illegible]
　(ख) हा० टी० प० १७९　अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयो[illegible]
९—ओ० नि० गा० ५१४।
१०—ओ० नि० गा० ५१५।

ना विनय
खमासमणाण'
मुद्दिट्ठेण ? उवस्सए चेव भविस्सति'

तो आलोचना (निवेदन) का संक्षेप भी किया जा सकता है[1]। आलोचना आचार्य के पास की जानी चाहिए अथवा आचार्य-सम्मत किसी दूसरे मुनि के पास भी वह की जा सकती है[2]। आलोचना सरल भाव से और अनुद्विग्न व्यापार से करनी चाहिए। स्मृतिगत अतिचारों की आलोचना करने के बाद भी अज्ञात या विस्मृत पुराकर्म पश्चात् कर्म आदि अतिचारों की विशुद्धि के लिए फिर प्रतिक्रमण करे—'पडिक्कमामि गोयरचरियाए[3] सूत्र पढ़े। फिर व्युत्सृष्ट-देह[4] (प्रलम्बित बाहु और स्थिर देह वाला) होकर निरवद्य वृत्ति और शरीर धारण के प्रयोजन का चिन्तन करे[5]। नमस्कार मंत्र पढ़कर कायोत्सर्ग को पूरा करे और जिन-संस्तव—'लोगस्स' सूत्र पढ़े। उसके बाद स्वाध्याय करे—एक मण्डली में भोजन करने वाले सभी मुनि एकत्रित न हो जाएँ तब तक स्वाध्याय करे। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आठ उच्छ्वास तक नमस्कार-मंत्र का ध्यान करे अथवा 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा' इत्यादि दो श्लोकों का ध्यान करे[6]। फिर मुहूर्त तक स्वाध्याय करे (कम से कम तीन गाथा पढ़े) जिससे परिश्रम के बाद तत्काल आहार करने से होने वाले धातु-क्षोभ, मरण आदि दोष टल जाएँ[7]।

मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१ मण्डल्युपजीवी—मण्डली के साथ भोजन करने वाले।

२ अमण्डल्युपजीवी—अकेले भोजन करने वाले।

मण्डल्युपजीवी मुनि मण्डली के सब साधु एकत्रित न हो जाएँ तब तक आहार नहीं करता। उनकी प्रतीक्षा करता रहता है। अमण्डल्युपजीवी मुनि भिक्षा लाकर कुछ क्षण विश्राम करता है। विश्राम के क्षणों में वह अपनी भिक्षा के लाभ का चिन्तन करता है। उसके बाद आचार्य से प्रार्थना करता है—"भंते! यह मेरा आहार आप लें।" आचार्य यदि न लें तो वह फिर प्रार्थना करता है—"भंते! आप पाहुने तपस्वी रुग्ण बाल वृद्ध या शैक्ष—इनमें से जिस किसी मुनि को देना चाहें उन्हें दें।" यों प्रार्थना करने पर आचार्य पाहुने आदि में से किसी मुनि को कुछ दें तो शेष रहा हुआ आचार्य की अनुमति से स्वयं खा ले और यदि आचार्य कहे कि साधुओं को तुम ही निमन्त्रण दो तो वह स्वयं साधुओं को निमंत्रित करे। दूसरे साधु निमन्त्रण स्वीकार करें तो उनके साथ खा ले और यदि कोई निमंत्रण स्वीकार न करे तो अकेला खा ले।

निमंत्रण क्यों देना चाहिए—इसके समाधान में ओघनिर्युक्तिकार कहते हैं—जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा के लिए साधर्मिक

१—ओ० नि० गा० ५१०-५११।

२—ओ० नि० गा० ५१०।

३—आव० ४.८।

४—ओ० नि० गा० ५१ वृ०: व्युत्सृष्टदेह—प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेह: सर्वोपसर्गसहोऽपि भूत्वा तावत्कायोत्सर्गं कुर्यात् अथवा व्युत्सृष्टो दिव्याद्युपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गं भनक्ति अथवा ... स दुर्बलो कायोत्सर्गं कुर्यात्।

विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.११ के 'वोसट्ठ-चत्तदेहे' की टिप्पणी।

५—अ० चू०: जोगन्न इमं चिन्तए जं अंतरं अणाहारमि।

६—ओ० नि० भाष्य २७४।

७—ओ० नि० गा० ५२१।

विस्सग्ग वन्दित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं।

धुन्निन्नग्गहा य दोसा परिहरिया जाय दुर्वं॥

८—(क) जि० चू० पृ० १८०: जइ पुण्णं व मडलीयं ताहे वन्दिऊण सज्झायं करेइ जाव साहुणो अन्ने आगच्छन्ति, जो पुण अप्पणो अन्नगणियो वा जो ... व अच्छो (वीसम्मो) इमं चिन्तेड।

(ख) हा० टी० प० १८०: स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तावत् कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति यः पुनः क्षपकादि: सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्यत् क्षणं स्तोकंकालं मुनि:।

९—ओ० नि० गा० ५२१-५२२।

साधुओं को निमन्त्रण देता है उससे उसकी चित्त शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से कर्म का विलय होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है[1]। निमन्त्रण आदरपूर्वक देना चाहिए। जो अवज्ञा से निमन्त्रण देता है, वह साधु-संघ का अपमान करता है। जो एक साधु का अनादर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का अनादर करता है[2]। जो एक साधु का आदर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का आदर करता है[3]।

कारण स्पष्ट है—जिसमें साधुता, ज्ञान, दर्शन, तप और संयम है वह साधु है। साधुता जैसे एक में है वैसे सब में है। एक साधु का अपमान साधुता का अपमान है और साधुता का अपमान सब साधुओं का अपमान है। इसी प्रकार एक साधु का सम्मान साधुता का सम्मान है और साधुता का सम्मान सब साधुओं का सम्मान है[4]। इसीलिए कहा है कि संयम-प्रधान साधुओं का वैयावृत्त्य करो—भक्त पान का लाभ करो। और सब प्रतिपाती हैं, वैयावृत्त्य अप्रतिपाती है[5]।

इन दस श्लोकों में से पहले श्लोक का प्रतिपाद्य है—भिक्षा-विशुद्धि के लिए स्थान का प्रतिलेखन। दूसरे का प्रतिपाद्य है—उपाश्रय में प्रवेश की विधि, ईर्यापथिकी का पाठ और कायोत्सर्ग। भूलों की विस्मृति—यह तीसरे का विषय है। चौथे का विषय है—उनकी आलोचना। छोटी या विस्मृत भूलों की विशुद्धि के लिए पुनः प्रतिक्रमण, चिन्तन और चिन्तनीय विषय ये पाँचवें और छट्ठे में हैं। कायोत्सर्ग पूरा करने की विधि और इसके बाद किए जाने वाले जिन-संस्तव और स्वाध्याय का उल्लेख—ये सातवें श्लोक के तीन चरणों में हैं और स्वाध्याय के बाद भोजन करना यह वहाँ स्वयंगम्य है। चौथे चरण में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के लिए विश्राम का निर्देश दिया गया है। शेष तीन श्लोकों में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के विश्रामकालीन चिन्तन, निमन्त्रण और आहार करने के वस्तु विषय का प्रतिपादन हुआ है।

तुलना के लिए देखिए—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-१ चौथी भावना)।

२०७. कदाचित् (सिया क) :

यहाँ 'स्यात्' का प्रयोग 'यदि' के अर्थ में हुआ है[6]। आवश्यकतावश साधु उपाश्रय में न आकर बाहर ही आहार कर सकता है। इसका उल्लेख श्लोक ८२ और ८३ में है। विशेष कारण के अभाव में साधारण विधि यह है कि—जहाँ साधु ठहरा हो वहीं आकर भोजन करे। उसका विवेचन अब आता है।

श्लोक ८८ :

२०८. विनयपूर्वक (विणएण क) :

उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषेधिकी का उच्चारण करते हुए अञ्जलिपूर्वक 'नमस्कार हो क्षमा-श्रमण को'—ऐसा कहना विनय की पद्धति है। एक हाथ में झोली होती है इसलिए दाएं हाथ की अंगुलियों को मुकुलित कर, उसे ललाट पर रख 'नमो खमासमणाणं'

१—ओ० नि० गा० ५२५।

२—ओ० नि० गा० ५२६ एक्कम्मि हीलियम्मी सव्वे ते हीलिया हुंति।

३—ओ० नि० गा० ५२७ एक्कम्मि पूइयम्मी सव्वे ते पूइया हुंति।

४—ओ० नि० गा० ५२९-५३१।

५—ओ० नि० गा० ५३२।

६—अ० चू० सिया य इति कदायि कस्सति एवं चिंता होज्जा—'किं मे सागारियातिसंकडे घरहिं समुद्दिट्ठेण ? उवस्सए चेव भविस्सति' एवं इच्छेज्जा, एस नियतो विधिरिति एवं सियासद्दो।

साधुओं को निमन्त्रण देता है उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से कर्म का विलय होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है[1]। निमन्त्रण आदरपूर्वक देना चाहिए। जो अवशा से निमन्त्रण देता है, वह साधु-संघ का अपमान करता है। जो एक साधु का अनादर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का अनादर करता है[2]। जो एक साधु का आदर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का आदर करता है[3]।

कारण स्पष्ट है—जिसमें साधुता, ज्ञान, दर्शन, तप और संयम है वह साधु है। साधुता जैसे एक में है वैसे सब में है। एक साधु का अपमान साधुता का अपमान है और साधुता का अपमान सब साधुओं का अपमान है। इसी प्रकार एक साधु का सम्मान साधुता का सम्मान है और साधुता का सम्मान सब साधुओं का सम्मान है[4]। इसीलिए कहा है कि संयम-प्रधान साधुओं का वैयावृत्य करो—भक्त-पान का लाभ करो। और सब प्रतिपाती हैं, वैयावृत्य अप्रतिपाती है[5]।

इन दस श्लोकों में से पहले श्लोक का प्रतिपाद्य है—भिक्षा-विशुद्धि के लिए स्थान का प्रतिलेखन। दूसरे का प्रतिपाद्य है—उपाश्रय में प्रवेश की विधि, ईर्यापथिकी का पाठ और कायोत्सर्ग। भूलों की विस्मृति—यह तीसरे का विषय है। चौथे का विषय है—उनकी आलोचना। छोटी या विस्मृत भूलों की विशुद्धि के लिए पुन. प्रतिक्रमण, चिन्तन और चिन्तनीय विषय ये पाँचवे और छट्ठे में हैं। कायोत्सर्ग पूरा करने की विधि और इसके बाद किए जाने वाले जिन-संस्तव और स्वाध्याय का उल्लेख—ये सातवें श्लोक के तीन चरणों में हैं और स्वाध्याय के बाद भोजन करना यह वहाँ स्वयगम्य है। चौथे चरण में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के लिए विश्राम का निर्देश दिया गया है। शेष तीन श्लोकों में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के विश्रामकालीन चिन्तन [illegible] और आहार करने के वस्तु-विषय का प्रतिपादन हुआ है।

तुलना के लिए देखिए—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-१ ' चौथी भावना)।

२०७. कदाचित् (सिया [क]) :

यहाँ 'स्यात्' का प्रयोग 'यदि' के अर्थ में हुआ है[6]। आवश्यकतावश साधु उपाश्रय में न [illegible] आहार कर सकता है। इसका उल्लेख श्लोक ८२ और ८३ में हैं। विशेष कारण के अभाव में साधारण विधि [illegible] जहाँ [illegible] ठहरा हो वहीं आकर भोजन करे। उसका विवेचन अब आता है।

श्लोक ८८ :

२०८. विनयपूर्वक (विणएण [क]) :

उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषधिकी का उच्चारण करते हुए [illegible] की पद्धति है। एक हाथ में झोली होती है इसलिए दाए हाथ की अंगुलियों [illegible]

१—ओ० नि० गा० ५२५।

२—ओ० नि० गा० ५२६ एकम्मि हीलियमी सव्वे ते हीलिया [illegible]

३—ओ० नि० गा० ५२७ एकम्मि पूइयमी सव्वे ते पूइया [illegible]

४—ओ० नि० गा० ५२६-५३१।

५—ओ० नि० गा० ५३२।

६—अ० चू० सिया य इति कदायि कस्सति [illegible]
एव इच्छेज्जा, एस नियतो विधिरिति एवं [illegible]

का उच्चारण करे¹। तुलना—निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो। —प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार ३ पाँचवीं भावना)।

श्लोक ९२

२०९ (अहो क)

व्याख्याकारों ने इसे विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त माना है²। इसे सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है।

श्लोक ९३

२१० क्षण भर विश्राम करे (वीसमेज्ज खणं मुणी घ)

मण्डली भोजी मुनि मण्डली के अन्य साधु न आ जाएँ तब तक और एकाकी भोजन करने वाला मुनि थोड़े समय के लिए विश्राम करे³।

श्लोक ९४

२११ (लाभमट्ठिओ ख)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ९६

२१२ खुले पात्र में (आलोए भायणे ग)

जिस पात्र का मुँह खुला हो या चौड़ा हो उसे आलोक-भाजन कहा जाता है। आहार करते समय जीव-जन्तु भलीभाँति देखे जा सकें इस दृष्टि से मुनि को प्रकाशमय पात्र में आहार करना चाहिए⁴।

१—(क) अ० चू० : णिसीहिया 'णमो खमासमणाणं' ति ण ओलम्बगतावसो तो पाहिज्जतत्थमाहुंपिण्णंगुणि विराहे कारण एतेण विस्सग्ग।
(ख) जि० चू० पृ० १८८ : विणओ नाम पविसंतो निसीहियं काऊण 'नमो खमासमणाणं' ति भणंतो भणति से ताहिवो इत्थी एतो विणओ भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १८९ : 'विनयेन' नैषेधिकीनमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन।

२—(क) अ० चू० : अहो सद्दो विम्हए। को विम्हओ? असावज्जसाहुके वि कोए करीयए वीयाय सरीरधारणं।
(ख) हा० टी० प० १८९ : 'अहो' विस्मये।

३—(क) जि० चू० पृ० १८८ : जाव साहुणो अण्णे आगच्छंति जो पुण खमगो अतरंतभिक्खो वा सो मुहुत्तमेत्तं वा सम्मं (वीसमेज्जा)।
(ख) हा० टी० प० १८० : मण्डल्युपजीवकस्तावत् प्रतीक्षेत यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्य क्षपकादि सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षणं' स्तोककालं मुनिरिति।

४—(क) अ० चू० : तं पुण संकडमुहे—मच्छियापरिहरणत्थं, 'आलोग भायणे' प्रगास-विकडमुहे भत्ति काइए।
(ख) जि० चू० पृ० १८८ : तम्मि साहुणा आलोय भायणे समुद्दिसियव्वं।
(ग) हा० टी० प० १८० : 'आलोक भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः।

२१३. (अपरिसाडयं [ग]) :

इसका पाठान्तर 'अपरिसाडियं' है। भगवती[1] और प्रश्न व्याकरण[2] में इस प्रसंग में 'अपरिसाडियं' पाठ मिलता है। यहाँ इसका अर्थ होगा, जैसे न गिरे वैसे।

श्लोक ९७ :

२१४. गृहस्थ के लिए बना हुआ (अन्नट्ठ पउत्तं [ग]) :

अगस्त्य-चूर्णि में इसके दो अर्थ किए हैं—परकृत और अन्यार्थ—मोक्षार्थ प्रयुक्त[3]। जिनदास चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ मोक्षार्थ-प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार मोक्ष की साधना शरीर से होती है और शरीर का निर्वाह आहार से होता है। मोक्ष-साधना के लिए शरीर का निर्वाह होता रहे इस दृष्टि से मुनि को आहार करना चाहिए, सौन्दर्य और बल बढ़ाने के लिए नहीं[4]।

२१५. तीता (तिक्त) (तित्तगं [ग]) :

तिक्त के उदाहरण—करेला[5], खीरा, ककड़ी आदि हैं[6]।

२१६. कडुवा (कडुय [ग]) :

कटुक के उदाहरण—'त्रिकटु'[7] (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) अदरक[8] और तीमन[9] आदि हैं।

२१७. कसैला (कसाय [ग]) :

कषाय के उदाहरण—आँवला[10], निष्पाव[11] (वल्लधान्य) आदि हैं।

१—[illegible] अपरिसाडि।

२—संवर द्वार १ (पाँचवीं भावना)।

३—अ० चू० अण्णट्ठपउत्तं—परट्ठं अहवा मोयणत्थे पयोग एस अन्नट्ठो भणितो।

४—(क) जि० चू० पृ० १९० 'गुयम्हसन्नट्ठपउत्त'मिति भणितो—मोक्खो तण्णिमित्तं आहारेयव्वति, तम्हा साहुणा सव्वायाणुसूलेसु [illegible] सायुत्ति (त) [illegible] जिब्भिंदियं उवालम्भइ, जहा जमेतं मया लद्धं एतं सरीरसगडस्स अक्खोवंगसरिसंतिकाऊण पउत्तं, न वण्णरूव-बलाइनिमित्तंति।

(ख) हा० टी० प० १८० 'अन्यार्थम्' अक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत्साधकम्।

५—अ० चू० 'तित्तग' कारवेल्लाति।

६—(क) जि० चू० पृ० १८६ तत्थ तित्तगं एलुगवालुगाइ।

(ख) हा० टी० प० १८० तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि।

७—अ० चू० 'कडुय' त्रिकटुकाति।

८—जि० चू० पृ० १८६ कडुअल्लगादि, जहा पभूएण अल्लगेण संजुत्तं दोद्धगं।

९—हा० टी० प० १८० कटुकं वा आर्द्रकतीमनादि।

१०—अ० चू० 'कसाय' आमलकसारियाति।

११—(क) जि० चू० पृ० १८६ कसायं निप्फावादी।

(ख) हा० टी० प० १८० कषायं वल्लादि।

का उच्चारण करे[1]। तुलना—निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो। —प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार ३ पाँचवीं भावना)।

श्लोक ६२

२०९ (अहो क):

व्याख्याकारों ने इसे विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त माना है। इसे सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है।

श्लोक ६३ :

२१० क्षण भर विश्राम ले (वीसमेज्ज खणं मुणी ख)

मण्डली भोजी मुनि मण्डली के अन्य साधु न आ जाएँ तब तक और एकाकी भोजन करने वाला मुनि थोड़े समय के लिए विश्राम करे[3]।

श्लोक ६४

२११ (लाभमट्ठिओ ख):

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ६६

२१२ खुले पात्र में (आलोए भायणे ग)

जिस पात्र का मुंह खुला हो या चौड़ा हो उसे आलोक-भाजन कहा जाता है। आहार करते समय जीव-जन्तु भलीभाँति देखे जा सकें इस दृष्टि से मुनि को प्रकाशमय पात्र में आहार करना चाहिए।

१—(क) अ० चू०: णिसीहिया "णमो खमासमणाणं" भणिय ओकमणगमणको तो दाहिणहत्थमाधुहिमंगुलि जिणाणं एगं विणएण।

(ख) जि० चू० पृ० १८८: विणओ णाम पविसंतो णिसीहियं काऊण 'णमो खमासमणाणं' ति भणंतो पविसे, एसो विणओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८४ 'विनयेन' नैषेधिकीनमःक्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन।

२—(क) अ० चू०: अहो सद्दो विम्हए। को विम्हओ? पज्जत्तसमाहुत्ते वि कोए अणीलाए धीराण सरीरधारणं।

(ख) हा० टी० प० १८४: 'अहो' विस्मये।

३—(क) जि० चू० पृ० १८८: जाव साहुणो अण्णे आगच्छंति जो पुण खमगो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं वा समओ (वीसमेज्जा)।

(ख) हा० टी० प० १८०: मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति यः पुनरात्मलाभिकः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्रामेत् 'क्षणं' स्तोककालं मुनिरिति।

४—(क) अ० चू०: तं पुण भुंजइ—मच्छिगा परिहरणत्थं, 'आलोए भायणे' पगास-विसालमुहे भणितं भायणे।

(ख) जि० चू० पृ० १८८: तत्थ साहुणा आलोए भायणे समुद्दिसियव्वं।

(ग) हा० टी० प० १८ : 'आलोके भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः।

२१८ खट्टा (अंबिलं क) :

खट्टे के उदाहरण—तक्र कांजी आदि हैं[1]।

२१९ मीठा (महुर क)

मधुर के उदाहरण—क्षीर[2] जल[3] मधु[4] आदि।

२२० नमकीन (लवण क) :

नमकीन के उदाहरण—नमक आदि[5]।

२२१ मधुघृत (महु-घय क) :

जैसे मधु और घी सरस मानकर खाए जाते हैं वैसे ही अस्वाद-वृत्ति वाला मुनि नीरस भोजन को भी सरस की भाँति खाए। इस उपमा का दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे मधु और घी को एक जबड़े से दूसरे जबड़े की ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वे सीधे ही निगल लिए जाते हैं, उसी प्रकार स्वाद विजेता मुनि सरस भोजन को स्वाद के लिए मुंह में इधर-उधर घुमाता न रहे किन्तु उसे शहद और घी की भाँति निगल जाए[6]।

श्लोक ९८

२२२ मुधाजीवी (मुहाजीवी ९९ ग)

जो जाति कुल आदि के सहारे नहीं जीता उसे मुधाजीवी कहा जाता है[7]।

१—(क) अ॰ चू॰ : अंबिलं तक्क-कंजियादि।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १८७ : अंबिलं तक्कंजियादि।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १८० : अम्लं तक्रारनालादि।
२—अ॰ चू॰ : मधुरं खीरादि।
३—जि॰ चू॰ पृ॰ १८७ : मधुरं जलखीरादि।
४—हा॰ टी॰ प॰ १८० : मधुरं क्षीरमध्वादि।
५—(क) अ॰ चू॰ : लवणं सामुद्दलवणादिणा लवणुक्कडं। कधि रसेहिं तधाविधं विपरीतं वा।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १८७ : लवणं पसिद्धं चेव।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १८० : लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधं शाकादिलवणोत्कटं वाऽन्यत्।
६—(क) अ॰ चू॰ : महुघतं व भुंजेज्ज जहा मधुघतं कोति सरसमिति पमुदो भुंजति तहा तं पमुदेण भुंजितव्वं अहवा मधुघतमिव हणुयातो हणुयं असंचारतेण।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १९ : तं मधुघतमिव भुंजियव्वं साहुणा जहा मधुघयाणि भुंजति तहा तं असोहणमवि भुंजियव्वं अहवा जहा मधुघयं हणुगाओ हणुगं असंचारेहिं भुंजितव्वं।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १८ : मधुघृतमिव च भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थम्, अथवा मधुघृतमिव 'णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा'।
७—जि॰ चू॰ पृ॰ १९ : मुहाजीवि णाम जं जातिकुलादीहिं, आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति।

टीकाकार मुधाजीवी का अर्थ अनिदान-जीवी करते हैं और मतान्तर का भी उल्लेख करते हैं[1] ।

मुधाजीवी या अनिदान-जीवी का अर्थ अनासक्त भाव से जीने वाला, भोग का सकल्प किये विना जीने वाला हो सकता है किन्तु इस प्रसङ्ग में इसका अर्थ—प्रतिफल देने की भावना रखे विना जो आहार मिले उससे जीवन चलाने वाला—सगत लगता है।

एक राजा था। एक दिन उसके मन में विचार आया कि सभी लोग अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते हैं और उसको मोक्ष का साधन बताते हैं अत' कौन-सा धर्म अच्छा है उसकी परीक्षा करनी चाहिए। धर्म की पहचान उनके गुरु से ही होगी। वही सच्चा गुरु है जो अनिर्दिष्ट भोजी है। उसी का धर्म सर्व श्रेष्ठ होगा। ऐसा सोच उसने अपने नौकरों से घोषणा कराई कि राजा मोदकों का दान देना चाहता है। राजा की मोदक-दान की वात सुन अनेक कार्पटिक आदि वहाँ दान लेने आये। राजा ने दान के इच्छुक उन एकत्र कार्पटिक आदि से पूछा—"आप लोग अपना जीवन-निर्वाह किस तरह करते हैं?" उपस्थित भिक्षुओं में से एक ने कहा—"मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा—"मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।" पाँचवें ने कहा—"मेरा क्या निर्वाह? मैं मुधाजीवी हूँ।" राजा ने कहा—"आप लोगों के उत्तर को मैं अच्छी तरह नहीं समझ सका अत इसका स्पष्टीकरण करें।" तव पहले भिक्षु ने कहा—"मैं कथक हूँ, कथा कह कर अपना निर्वाह करता हूँ अत मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा—"मैं सन्देश पहुँचाता हूँ, लेखवाहक हूँ अत पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं लेखक हूँ अत हाथ से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोगों का अनुग्रह प्राप्त कर निर्वाह करता हूँ।" पाँचवें ने कहा—"मैं ससार से विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। सयम-निर्वाह के हेतु नि.स्वार्थ बुद्धि से लेता हूँ। मैं आहार आदि के लिए किसी की अधीनता स्वीकार नही करता, अत मै मुधाजीवी हूँ।" इस पर राजा ने कहा—"वास्तव में आप ही सच्चे साधु हैं।" राजा उस साधु गुरु के समीप आ प्रतिवोध पाकर प्रव्रजित हुआ।

२२३. अरस (अरसं [क]) :

गुड, दाड़िम आदि रहित, सस्कार रहित या वघार रहित भोज्य-वस्तु को 'अरस' कहा जाता है[2] ।

२२४. विरस (विरसं [क]) :

जिसका रस विगड़ गया हो, सत्व नष्ट हो गया हो उसे 'विरस' कहा जाता है, जैसे—वहुत पुराने, काले और ठडे चावल 'विरस' होते हैं[3] ।

२२५. व्यञ्जन सहित या व्यञ्जन रहित (सूइयं वा असूइयं [ख]) :

सूप आदि व्यञ्जनयुक्त भोज्य-पदार्थ 'सुपित' या 'सूप्य' कहलाते हैं[4] । व्यञ्जन रहित पदार्थ 'असूपित' या 'असूप्य' कहलाते

१—हा० टी० प० १८१ 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

२—(क) अ० चू० अरस गुडदाडिमादिविरहित।

(ख) जि० चू० पृ० १९० हिंगुलवणादीहिं सभारेहिं रहिय।

(ग) हा० टी० प० १८१ अरसम्—असप्राप्तरस हिङ्ग्वादिभिरसस्कृतमित्यर्थ।

३—(क) अ० चू० विरस कालतरेण सभावविच्चुत उस्सिणोयणाति।

(ख) जि० चू० पृ० १९० विरस नाम सभावओ विगतरस विरस भण्णइ, त च पुराणकण्हवन्नियसीतोदणादि।

(ग) हा० टी० प० १८१ 'विरस वापि' विगतरसमतिपुराणौदनादि।

४—(क) अ० चू० सूवित सव्वजण णिव्वजण।

(ख) जि० चू० पृ० १९० 'सूचिय' त पुण मधुकुम्मासा ओदणो वा होज्जा।

२२९. कुल्माष (कुम्मास [घ]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'कुल्माष' जौ के बनते हैं और वे 'गोल्ल' देश में किए जाते हैं[१]। टीकाकार ने पके हुए उड़द को 'कुल्माष' माना है और यवमास को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[२]। भगवती में भी 'कुम्मासपिंडिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है[३]। वहाँ वृत्तिकार ने 'कुल्माष' का अर्थ अधपके मूंग आदि किया है और केवल अधपके उड़द को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[४]। वाचस्पति कोश में अधपके गेहूँ को 'कुल्माष' माना है और चने को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[५]।

अभिधान चिन्तामणि की रत्नप्रभा व्याख्या में अधपके उड़द आदि को 'कुल्माष' माना है[६]। चरक की व्याख्या के अनुसार जौ के आटे को गूँथकर उबलते पानी में थोड़ी देर स्विन्न होने के बाद निकालकर पुन जल से मर्दन करके रोटी या पूड़े की तरह पकाए हुए भोज्य को अथवा अर्ध स्विन्न चने या जौ को 'कुल्माष' कहा जाता है और वे भारी, रूखे, वायुवर्धक मल को लाने वाले होते हैं'[७]।

श्लोक ९९ :

२३०. अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है (अप्पं पि बहु फासुयं [ख]) :

अल्प और बहु की व्याख्या में चूर्णि और टीका में थोड़ा अन्तर है। चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ—अल्प भी बहुत है[८]—होता है और टीका के अनुसार इसका अर्थ अल्प या बहुत, जो असार है—होता है[९]।

२३१. मुधालब्ध (मुहालद्धं [ग]) :

उपकार, मन्त्र, तन्त्र और औषधि आदि के द्वारा हित-सम्पादन किए बिना जो मिले उसे 'मुधालब्ध' कहा जाता है[१०]।

२३२. दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले (भुंजेज्जा दोसवज्जियं [घ]) :

जिनदास महत्तर इसका अर्थ आधाकर्म आदि[११] दोष-रहित और टीकाकार सयोजना आदि दोष-रहित करते हैं[१२]।

१—जि० चू० पृ० १९० कुम्मासा जहा गोल्लविसए जवमया करेंति।

२—हा० टी० प० १८१ कुल्माषा —सिद्धमाषा , यवमाषा इत्यन्ये।

३—भग० १५ ८ एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए।

४—भग० १५ १ वृ० कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादय , माषा इत्यन्ये।

५—अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा, अन्ये च चणकादय । कुल्माषा इति कथ्यन्ते।

६—काण्ड ४ २४१ कुल्माष, यावक द्वे अर्धपक्वमाषादे ।

७—च० सू० अ० २७ २६२ कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चस ।

८—(क) अ० चू० 'अप्प पि बहु फासुय' 'फासुएसणिज्ज। दुल्लभ' ति अप्पमवि त पभूत। तमेव रसादिपरिहीणमवि अप्पमवि।

(ख) जि० चू० पृ० १९० तत्थ साहुणा इम आलबण कायव्व, जहा मम सथवपरिधारिणो अणुवकारियस्स अप्पमवि परो देति त बहु मणियव्व, ज विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति त बहु मन्नियव्व।

९—हा० टी० प० १८१ अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति, वा शब्दस्य व्यवहित सबध , किं विशिष्ट तदित्याह—'प्रासुक' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थ , अन्ये तु व्याचक्षते—अल्प वा, वाशब्दाद्विरसादि वा, बहुप्रासुक-सर्वथा शुद्ध नातिहीलयेदिति।

१०—(क) जि० चू० पृ० १९० मुहालद्ध नाम ज कोंटलवेंटलादीणि मोत्तूणमितरहा लद्धं त मुहालद्ध।

(ख) हा० टी० प० १८१ 'मुधालब्ध' कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्राप्तम्।

११—जि० चू० पृ० १९० आहाकम्माईहिं दोसेहिं वज्जिय।

१२—हा० टी० प० १८१ 'दोषवर्जित' सयोजनादिरहितमिति।

आधाकर्म आदि गवेषणा के दोष हैं और संयोजन आदि भोगैषणा के। यहाँ भोगैषणा का प्रसङ्ग है इसलिए टीकाकार का मत अधिक संगत लगता है और यह मुनि के आहार का एक सामान्य विशेषण है, इसलिए चूर्णिकार का मत भी असंगत नहीं है।

परिभोगैषणा के पाँच दोष हैं :—(१) अंगार, (२) धूम (३) संयोजन, (४) प्रमाणातिक्रान्त और (५) कारणातिक्रान्त।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अंगार धूम और संयोजन के दोषयुक्त आहार व पान का क्या अर्थ है?

भगवान् ने कहा—"गौतम! जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक एषणीय अशन, पान खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें मूर्च्छित, गृद्ध स्नेहाबद्ध और एकाग्र होकर आहार करे—वह अंगार दोषयुक्त पान-भोजन है।

'जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक एषणीय अशन पान खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें बहुत द्वेष और क्रोध करता हुआ आहार करे—वह धूम दोषयुक्त पान भोजन है।

'जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक एषणीय अशन पान खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर स्वाद बढ़ाने के लिए उसे दूसरे द्रव्य के साथ मिलाकर आहार करे—वह संयोजना दोषयुक्त पान-भोजन है[१]।"

प्रमाणातिक्रान्त का अर्थ है—मात्रा से अधिक खाना। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय अशन, पान खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर कुक्कुटी के अण्डे जितने प्रमाण वाले (वृत्तिकार के अनुसार मुर्गी के अण्डे का दूसरा अर्थ है—जिस पुरुष का जितना भोजन हो उस पुरुष की अपेक्षा से उसका बत्तीसवाँ भाग) ३२ कौर (ग्रास) से अधिक आहार करे—वह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले आठ कौर आहार करे—वह अल्पाहार है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले बारह कौर आहार करे—वह अपार्ध—अवमोदरिका (सूत्र के अनुसार आधे से भी अधिक कम खाना) है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले सोलह कौर आहार करे—वह अर्ध-अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले चौबीस कौर आहार करे—वह अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले ३२ कौर आहार करे—वह मिताहार है। जो इससे एक कौर भी कम आहार करे—वह श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकाम-रसभोजी नहीं कहा जाता[२]।

साधु के लिए छः कारणों से भोजन करना विहित है। उसके बिना भोजन करना कारणातिक्रान्त-दोष कहलाता है। वे छः कारण ये हैं—(१) क्षुधा निवृत्ति, (२) वैयावृत्य—आचार्य आदि की वैयावृत्य करने के लिए, (३) ईर्यार्थ—मार्ग को देख देखकर

१—भग० ७.१ १९ : अह भंते ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने आहारं आहारेति एस णं गोयमा ! सइंगाले पाण-भोयणे।
जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहित्ता महयाअप्पत्तियं कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! सधूमे पाण-भोयणे।
जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पडिग्गाहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाण-भोयणे।

२—भग० ७.१ २१ : जे णं निग्गंथो वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं जाव साइमं पडिग्गाहित्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! पमाणाइक्कंते पाण-भोयणे, अट्ठ कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणे जाव आहारमाहारेमाणे ओमोयरिया बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते। एत्तो एक्केण वि घासेणं ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ त्ति वत्तव्वं सिया।

३—उत्त० २६.३३ :

वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

चलने के लिए, (४) सयमार्थ—सयम पालने के लिए, (५) प्राण-धारणार्थ—सयम जीवन की रक्षा के लिए और (६) धर्म-चिन्तनार्थ—शुभ ध्यान करने के लिए।

गौतम ने एक दूसरे प्रश्न में पूछा—"भगवन्! शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष-एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का क्या अर्थ है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! शस्त्र और शरीर परिकर्म-रहित निर्ग्रन्थ प्रासुक, अपने लिए अकृत, अकारित और असकल्पित, अनाहूत, अक्रीतकृत, अनुद्दिष्ट, नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष-रहित, विप्रयुक्त, उद्गम और उत्पादन की एषणायुक्त, अगार धूम और सयोजना-दोष-रहित तथा सुर सुर और चव-चव (यह भोजन के समय होने वाले शब्द का अनुकरण है) शब्द रहित न अति शीघ्र और न अत्यन्त धीमे, नीचे न डालता हुआ, गाड़ी की धुरी में अजन लगाने और व्रण पर लेप करने के तुल्य केवल सयम-यात्रा के निर्वाह हेतु, सयम भार का वहन करने के लिए, अस्वाद वृत्तिपूर्वक, जैसे बिल में सांप पैठता है वैसे ही स्वाद के निमित्त ग्रास को इधर-उधर ले जाए बिना आहार करता है—यह शस्त्रातीत यावद् सामुदानिक पान-भोजन का अर्थ है[1] ।

श्लोक १०० :

२३३. मुधादायी (मुहादाई क) :

प्रतिफल की कामना किए बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाले को 'मुधादायी' कहा है।

इन चार श्लोकों (६७ १००) में अस्वाद वृत्ति और निष्काम वृत्ति का बहुत ही मार्मिक प्रतिपादन किया गया है। जब तक देहासक्ति या देह लक्षी भाव प्रबल होता है, तब तक स्वाद जीता नहीं जा सकता। नीरस भोजन मधु और घी की भाँति खाया नहीं जा सकता। जिसका लक्ष्य बदल जाता है, देह का रस चला जाता है, मोक्ष-लक्षी भाव का उदय हो जाता है, वही व्यक्ति स्वाद पर विजय पा सकता है, सरस और नीरस को किसी भेदभाव के बिना खा सकता है।

दो रस एक साथ नहीं टिक सकते, या तो देह का होगा या मोक्ष का। भोजन में सरस और नीरस का भेद उसे सताता है जिसे देह में रस है। जिसे मोक्ष में रस मिल गया उसे भोजन में रस जैसा कुछ लगता ही नहीं, इसलिए वह भोजन को भी अन्यार्थ-प्रयुक्त (मोक्ष के हेतु-भूत शरीर का साधन) मानकर खाता है। इस वृत्ति से खाने वाला न किसी भोजन को अच्छा बताता और न किसी को बुरा।

मुधादायी, मुधालब्ध और मुधाजीवी—ये तीन शब्द निष्काम वृत्ति के प्रतीक हैं। निष्काम वृत्ति के द्वारा ही राग-द्वेष पर विजय पाई जा सकती है। कहीं से विरस आहार मिले तो मुनि इस भावना का आलम्बन ले कि मैंने इसका कोई उपकार नहीं किया, फिर भी इसने मुझे कुछ दिया है। क्या यह कम बात है? यों चिन्तन करने वाला द्वेष से बच सकता है[2] ।

मुझे मोक्ष की साधना के लिए जीना है और उसीके लिए खाना है—यों चिन्तन करने वाला राग या आसक्ति से बच सकता है।

१—भग० ७ १-२२ अह भते! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स, पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते?, गोयमा! जे ण निग्गथे वा निग्गथी वा निक्खित्त-सत्थ-मुसले ववगय-माला-वन्नगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेह, जीव-विप्पजढ, अकयमकारियमसकप्पियमणाहूयमकीयकड-मणुद्दिट्ठ, नवकोडीपरिसुद्ध, दस दोसविप्पमुक्क, उग्गम-उप्पायणेसणासुपरिसुद्ध, वीतिंगाल, वीतधूम, सजोयणादोसविप्पमुक्क, असुरसुर, अचवचव, अदुयमविलबिय अपरिसाडि, अक्खोवजणवणाणुलेवणभूय सजम-जाया-माया-वत्तिय, सजम-भार वहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएण, अप्पाणेण आहारमाहारेति। गोयमा! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, जाव पाणभोयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

२—देखिए 'अप्प पि बहु फासुय' की टिप्पणी स० २३० पृ० स० २८५ ।

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(बीओ उद्देसो)

पञ्चम अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पंचम अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिंडेसणा (बीओ उद्देसो) पिण्डैषणा (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए। दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए॥	प्रतिग्रहं संलिह्य, लेपमात्रया संयत.। दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्देत् ॥ १ ॥	१—सयमी मुनि लेप लगा रहे तव तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोडे, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त[1]।
२—सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे। अयावयट्ठा भोच्चाणं जइ तेणं न संथरे॥	शय्याया नैषेधिक्या, समापन्नो वा गोचरे। अयावदर्थं भुक्त्वा 'ण', यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥	२-३—उपाश्रय[2] या स्वाध्याय-भूमि में[3] अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में[4] अपर्याप्त[5] खाकर यदि न रह सके तो[6] कारण उत्पन्न होने पर[7] पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।
३—तओ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसए। विहिणा पुव्व-उत्तेण इमेणं उत्तरेण य॥	ततः कारणे उत्पन्ने, भक्त-पानं गवेषयेत्। विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥	
४—कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे॥	कालेन निष्क्रामेद् भिक्षु, कालेन च प्रतिक्रामेत्। अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥४॥	४—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर[8] जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे[9]।
५—[10]अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि। अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि॥	अकाले चरसि भिक्षो! कालं न प्रतिलिखसि। आत्मानं च क्लामयसि, सन्निवेशं च गर्हसे ॥ ५ ॥	५—भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसीलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।
६—सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं। अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए॥	सति काले चरेद् भिक्षु, कुर्यात् पुरुषकारकम्। 'अलाभ' इति न शोचेत्, तप इति अधिसहेत ॥ ६ ॥	६—भिक्षु समय होने पर[11] भिक्षा के लिए जाए, पुरुषकार (श्रम) करे, भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, 'सहज तप ही सही'—यों मान भूख को सहन करे।

पंचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिंडेसणा (बीओ उद्देसो) पिण्डैषणा (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए। दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए॥	प्रतिग्रहं संलिह्य, लेपमात्रया संयत.। दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दैत्॥ १॥	१—सयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोडे, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त[1]।
२—सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे। अयावयट्ठा भोच्चाणं जइ तेणं न संथरे॥	शय्यायां नैषेधिक्यां, समापन्नो वा गोचरे। अयावदर्थं भुक्त्वा 'ण', यदि तेन न संस्तरेत्॥ २॥	२-३—उपाश्रय[2] या स्वाध्याय-भूमि में[3] अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में[4] अपर्याप्त[5] खाकर यदि न रह सके तो[6] कारण उत्पन्न होने पर[7] पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।
३—तओ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसए। विहिणा पुव्व-उत्तेण इमेणं उत्तरेण य॥	ततःकारणे उत्पन्ने, भक्त-पानं गवेषयेत्। विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च॥ ३॥	
४—कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे॥	कालेन निष्क्रामेद् भिक्षु, कालेन च प्रतिक्रामेत्। अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत्॥४॥	४—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर[8] जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे[9]।
५—[10]अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि। अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि॥	अकाले चरसि भिक्षो। कालं न प्रतिलिखसि। आत्मान च क्लामयसि, सन्निवेशं च गर्हसे॥ ५॥	५—भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसीलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।
६—सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं। अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए॥	सति काले चरेद् भिक्षु, कुर्यात् पुरुषकारकम्। 'अलाभ' इति न शोचेत्, तप इति अधिसहेत॥ ६॥	६—भिक्षु समय होने पर[11] भिक्षा के लिए जाए, पुरुषकार (श्रम) करे, भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, 'सहज तप ही सही'—यों मान भूख को सहन करे।

१४—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च संलुंचिया दए ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्प-सचित्त,
तच्च सलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥

१५—[23]तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पान तु,
सयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

१४-१५—कोई उत्पल[19], पद्म[20], कुमुद[21], मालती[22] या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे वह भक्त-पान सयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च सम्मद्दिया दए ॥

उत्पल पद्मं वाऽपि,
कुमुद वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्प-सचित्त,
तच्च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥

१७—तं भवे भत्तपाण तु
संजयाणं अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पान तु,
सयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

१६-१७—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर[24] भिक्षा दे, वह भक्त पान सयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१८—[25]सालुयं वा विरालियं
कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं
उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥

शालूक वा विरालिका,
कुमुदोत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्षपनालिका,
इक्षु-खण्डमनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

१९—तरुणगं वा पवालं
रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स
आमगं परिवज्जए ॥

तरुणक वा प्रवाल,
वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य,
आमक परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

१८-१९—कमलकन्द[26], पलाशकन्द[27] कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[28], सरसों की नाल[29], अपक्व-गंडेरी[30], वृक्ष, तृण[31] या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले।

२०—तरुणियं व छिवाडिं
आमियं भज्जियं सइं ।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तरुणा वा 'छिवाडिं',
आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ २० ॥

२०—कच्ची[32] और एक वार भूनी हुई[33] फली[34] देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२१—तहा कोलमणुस्सिन्नं
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं
आमगं परिवज्जए ॥

तथा कोलमनुत्स्विन्नं,
वेणुकं कास्यपनालिकाम् ।
तिलपर्पटकं नीपं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

२१—इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश—करीर[३७], कास्यप नालिका[३८] तथा अपक्व तिल-पपड़ी[३९] और कदम्ब-फल[४०] न ले।

२२—तहेव चाउलं पिट्ठं
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइ पिन्नागं
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव 'चाउलं' पिष्टं,
विकटं वा तप्त-निर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

२२—इसी प्रकार चावल का पिष्ट[४१], पूरा न उबला हुआ गर्म[४२] जल[४३], तिल का पिष्ट, पोई-साग और सरसों की खली[४४]—अपक्व न ले।

२३—कविट्ठं माउलिंगं च
मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं
मणसा वि न पत्थए ॥

कपित्थं मातुलिङ्गं च
मूलकं मूलकर्त्तिकाम् ।
आमामशस्त्र-परिणतां
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

२३—अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ[४५], बिजौरा[४६], मूला और मूले के गोल टुकड़े को मन कर भी न चाहे।

२४—तहेव फलमंथूणि
बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव फलमन्थून्
बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।
बिभीतकं प्रियालं च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

२४—इसी प्रकार अपक्व फलचूर्ण, बीजचूर्ण[४७], बहेड़ा[४८] और प्रियाल-फल न ले।

२५—समुयाणं चरे भिक्खू
कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म
ऊसढं नाभिधारए ॥

समुदानं चरेद् भिक्षुः,
कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य
उच्छ्र (सृ) तं नाभिधारयेत् ॥२५॥

२५—भिक्षु सदा समुदान[४९] भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाए, नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए।

२६—अदीणो वित्तिमेसेज्जा
न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि
मायन्ने एसणारए ॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत्
न विषीदेत् पण्डितः ।
अमूर्च्छितो भोजने,
मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

२६—भोजन में अमूर्च्छित मात्रा को जानने वाला, एषणारत पण्डित मुनि अदीन-भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे। (भिक्षा न मिलने पर) विषाद (खेद) न करे।

२७—बहुं परघरे अत्थि
विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥

बहु परगृहेऽस्ति,
विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्,
इच्छा दद्यात् परो न वा ॥ २७ ॥

२७—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का और प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि कोप न करे। (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे।

२८—सयणासण वत्थं वा
भत्तपाण व संजए ।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥

शयनासन-वस्त्रं वा,
भक्त-पानं वा संयत ।
अददते न कुप्येत्,
प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

२८—सयमी मुनि सामने दीख रहे, शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे ।

२९—इत्थियं पुरिसं वा वि
डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणो न जाएज्जा
नो य णं फरुसं वए ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि,
डहरं वा महान्तम् ।
वन्दमानो न याचेत,
नो चैनं परुषं वदेत् ॥२९॥

२९—मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे[५०], (न देने पर) कठोर वचन न बोले ।

३०—जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्,
वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य,
श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

३०—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए—गर्व न करे। इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है ।

३१—सिया एगइओ लद्धु
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूण सयमायए ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
लोभेन विनिगूहते ।
मा ममेदं दर्शितं सत,
दृष्ट्वा स्वयमादद्यात् ॥३१॥

३२—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई ।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥

आत्मार्थ-गुरुको लुब्ध ,
बहु-पाप प्रकरोति ।
दुस्तोषकश्च स भवति,
निर्वाणं च न गच्छति ॥३२॥

३१-३२—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वय ले न ले,—इस लोभ से छिपा लेता है[५१], वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है । वह जिस किसी वस्तु से सतुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता ।

३३—सिया एगइओ लद्धु
विविहं पाणभोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
विविधं पान-भोजनम् ।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा,
विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

३३—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है ।

३४—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा,
आयतार्थी अयं मुनि ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं,
रूक्षवृत्ति सुतोषक ॥३४॥

३४—ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी[५२] है, सन्तुष्ट है, प्रान्त-(असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति[५३] और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है ।

३५—पूयणट्ठी जसोकामी
माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं
मायासल्लं च कुव्वई ॥

पूजनार्थी यशःकामी,
मान-सम्मान-कामकः ।
बहु प्रसूते पापं
मायाशल्यं च करोति ॥३५॥

३५—जो पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य का आचरण करता है।

३६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि
अन्यद्वा माद्यकं रसम् ।
स्व (स) साक्ष्यं न पिबेद्भिक्षुः
यशः संरक्षन्नात्मनः ॥३६॥

३६—अपने संयम का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए।

३७—पियए एगओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥

पिबति एककः स्तेनः,
न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्
निकृतिं च शृणुत मम ॥३७॥

३७—जो मुनि—मुझे कोई नहीं जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन वृत्ति से मादक रस पीता है उसके दोषों को देखो और मायाचरण को मुझसे सुनो।

३८—वड्ढई सोंडिया तस्स
मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥

वर्धते शौण्डिकता तस्य,
माया-मृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं
सततं च असाधुता ॥३८॥

३८—उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढ़ते हैं।

३९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः,
आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि
नाराधयति संवरम् ॥३९॥

३९—वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भांति सदा उद्विग्न रहता है। मद्यप-मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता।

४०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यान्नाराधयति
श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते
येन जानन्ति तादृशम् ॥४०॥

४०—वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे मद्यप जानते हैं इसलिए उसकी गर्हा करते हैं।

४१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

एवन्तु अगुणप्रेक्षी,
गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि
नाराधयति संवरम् ॥४१॥

४१—इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता।

४२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥

तप करोति मेधावी,
प्रणीतं वर्जयेद् रसम्।
मद्यप्रमादविरतः,
तपस्वी अत्युत्कर्ष ॥४२॥

४२-४३—जो मेधावी[61] तपस्वी तप करता है, प्रणीत[62]-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद[63] से विरत होता है, गर्व नहीं करता, उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित[64], विपुल और अर्थ-संयुक्त[65] कल्याण को स्वयं देखो[66] और मैं उसकी कीर्तना करूँगा वह सुनो।

४३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेगसाहुपूइयं।
विउलं अत्थसंजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

तस्य पश्यत कल्याणं,
अनेक-साधु-पूजितम्।
विपुलमर्थ-संयुक्तं,
कीर्तयिष्ये शृणुत मम ॥४३॥

४४—एवं तु गुणप्पेही।
अगुणाणं च विवज्जओ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥

एवं तु गुण-प्रेक्षी,
अगुणाना च विवर्जक।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
आराधयति संवरम् ॥४४॥

४४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा—(आसेवना) करने वाला और अगुणों को[67] वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्तकाल में भी संवर की आराधना करता है।

४५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यानाराधयति,
श्रमणाश्चापि तादृशः।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

४५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं।

४६—तवतेणे वयतेणे
रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य
कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥

तपःस्तेन वचःस्तेन,
रूपस्तेनस्तु यो नर।
आचार-भावस्तेनश्च,
करोति दैव-किल्बिषम् ॥४६॥

४६—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर[68] होता है, वह किल्विषिक देव-योग्य-कर्म[69] करता है।

४७—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देवकिब्बिसे।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा[70] इमं फलं? ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं,
उपपन्नो दैव-किल्बिषे।
तत्राऽपि स न जानाति,
किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

४७—किल्बिषिक—देव के रूप में उपपन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है।'

४८—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

ततोऽपि स च्युत्वा,
लप्स्यते एडमूकताम्।
नरकं तिर्यग्योनिं वा,
बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

४८—वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूंगापन)[71] अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को पाएगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है।

४९—एयं च दोसं दट्ठूण
नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायं पि मेहावी
मायामोसं विवज्जए॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
अणुमात्रमपि मेधावी,
माया-मृषा विवर्जयेत्॥४९॥

४९—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी माया-मृषा न करे।

५०—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं
संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए
तिव्वलज्ज गुणवं विहरेज्जासि॥
॥ त्ति बेमि॥

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं
संयतानां बुद्धानां सकाशे।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः
तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत्॥५०॥
इति ब्रवीमि।

५०—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीखकर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम और गुण से सम्पन्न होकर विचरे।

इस प्रकार मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणायां पञ्चमाध्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्तः।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ५ : (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त (दुगंधं वा सुगंधं वा [ग]) :

दुर्गन्ध और सुगन्ध शब्द अमनोज्ञ और मनोज्ञ आहार के उपलक्षण हैं। इसलिए दुर्गन्ध के द्वारा अप्रशस्त और सुगन्ध के द्वारा प्रशस्त वर्ण, रस और स्पर्शयुक्त आहार समझ लेना चाहिए।

शिष्य ने कहा—गुरुदेव। यदि श्लोक का पश्चार्द्ध पहले हो और पूर्वार्द्ध बाद में हो, जैसे—'सयमी मुनि दुर्गन्ध या सुगन्धयुक्त सब आहार खा ले, शेष न छोडे, पात्र को पोंछ कर लेप लगा रहे तब तक' तो इसका अर्थ सुख-ग्राह्य हो सकता है?

आचार्य ने कहा—'प्रतिग्रह' शब्द मागलिक है। इसलिए इसे आदि में रखा है और 'जूठन न छोड़े' इस पर अधिक बल देना है, इसलिए इसे बाद में रखा है। अत यह उचित ही है[1]। इस श्लोक का आशय यह है कि मुनि सरस-सरस आहार खाए और नीरस आहार हो उसे जूठन के रूप में डाले—ऐसा न करे किन्तु सरस या नीरस जैसा भी आहार मिले उस सब को खा ले।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२ १ ६)।

श्लोक २ :

२. उपाश्रय (सेज्जा [क]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'उपाश्रय'[2], जिनदास महत्तर ने 'उपाश्रय' मठ, कोष्ठ[3] और हरिभद्रसूरि ने 'वसति' किया है[4]।

३. स्वाध्याय भूमि में (निसीहियाए [क]) :

स्वाध्याय-भूमि प्राय उपाश्रय से भिन्न होती थी। वृक्ष-मूल आदि एकान्त स्थान को स्वाध्याय के लिए चुना जाता था[5]। वहाँ जनता के आवागमन का समवत निषेध रहता था। 'नैषेधिकी' शब्द के मूल में यह निषेध ही रहा होगा। दिगम्बरों में प्रचलित 'नसिया' इसी का अपभ्रंश है।

१—(क) जि० चू० पृ० १६४ सीसो आह—जइ एव सिलोगपच्छद्ध पुव्वि पढिज्जइ पच्छा पढिग्गह सलिहित्ताण, तो अत्थो सुहगेज्झयरो भवति, आयरिओ भणइ—सुहमुहोच्चारणत्थ, विचित्ता य सुत्तबधा, पसत्थ च पढिग्गहगहण उद्देसगस्स आदितो भण्णमाण भवतित्तिअतो एय सुत्त एव पढिज्जति।

(ख) अ० चू० भुत्तस्स सलेहणविहाणे भणितव्वे अणाणुपुव्वीकरण कहिंचि आणुपुव्विनियमो कहिंचि पकिण्णकोपदेसो भवति त्ति एतस्स परूवणत्थ। एव च घासेसणा विधाणे भणिते वि पुणो वि गोयरग्गपविट्ठस्स उपदेसो अविरुद्धो। णग्ग-मुसितपयोग इव वा 'दुग्गधं' पयोगो उद्देसगादौ अप्पसत्थो त्ति ॥ १ ॥

२—अ० चू० 'सेज्जा' उवस्सओ।

३—जि० चू० पृ० १६४ सेज्जा-उवस्सतादि मट्ठकोट्ठयादि।

४—हा० टी० प० १८२ 'शय्यायां' वसतौ।

५—(क) अ० चू० 'णिसीहिया' सज्झायथाण, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सैव निसीहिया।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ तहा निसीहिया जत्थ सज्झाय करेंति।

(ग) हा० टी० प० १८२ . 'नैषेधिक्यां' स्वाध्यायभूमौ।

४ गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में (समावन्नो य गोयरे ख):

गोचर-काल में शून्यागार आदि एकान्त स्थान में आहार करने का विधान बाल, वृद्ध तपस्वी या अत्यन्त क्षुधित और तृषित साधुओं के लिए है[1]। अगस्त्यसिंह ने इसका सम्बन्ध पूर्व व्याख्या (५.१.८२) से जोड़ा है[2]।

५ अपर्याप्त (अयावयट्ठा ग):

इसका अर्थ है—जितना चाहे उतना नहीं अर्थात् पेट भर नहीं[3]।

तुलना के लिए देखिए [illegible] (५ ७८)।

६ न रह सके तो (न संथरे घ)

दूसरी बार भिक्षाचरी करना विशेष विधि जैसा जान पड़ता है। टीकाकार तपस्वी आदि के लिए ही इसका विधान बतलाते हैं, प्रतिदिन भोजन करने वाले स्वस्थ मुनियों के लिए नहीं[4]। मूल सूत्र की ध्वनि भी लगभग ऐसी ही है।

श्लोक ३

७ कारण उत्पन्न होने पर (कारणमुप्पन्ने क):

यहाँ 'कारण' शब्द में सप्तमी विभक्ति के स्थान में 'मकार' अलाक्षणिक है।

पुष्ट आलम्बन के बिना मुनि दूसरी बार गोचरी न जाए, किन्तु क्षुधा की वेदना रोग आदि कारण हो तभी जाए। साधारणतया जो एक बार में मिले उसे खाकर अपना निर्वाह कर ले।

मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(१) तपस्या (२) अत्यन्त भूख-प्यास (३) रुग्णावस्था और (४) प्राघूर्णक साधुओं का आगमन[5]।

श्लोक ४

८ अकाल को वर्जकर (अकालं च विवज्जेत्ता ग)

प्रतिलेखन का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है। स्वाध्याय का काल प्रतिलेखन के लिए अकाल है। काल-मर्यादा को

१—(क) जि० चू० पृ० १९६: गोयरग्गसमावन्नो बालवुड्ढखमगादि महुकोहुगादिओ समुद्दिट्ठो होज्जा।

(ख) हा० टी० प० १८०: समापन्नो वा गोचरे क्षपकादिः [illegible]।

२—अ० चू०: गोयरे वा जहा पढमं भणितं।

३—(क) अ० चू०: एतदु 'अयावयट्ठं भोच्चा' णं जावदट्ठं णावदट्ठमित्यर्थः तव्विवरीतं 'अजावयट्ठं' भुंजित्ता।

(ख) जि० चू० पृ० १९६: 'अयावयट्ठं' नाम न जावदट्ठं अट्ठ (उअं)ति वुत्तं भवति।

(ग) हा० टी० प० १८०: न यावदर्थम्—अपरिसमाप्तमिति।

४—हा० टी० प० १८०: यदि तेन भुक्तेन 'न संस्तरेत्' न यापयितुं समर्थः क्षपको [illegible] ग्लानो वेति।

५—(क) अ० चू०: [illegible] जहा 'बितियं भत्तपाणं कप्पंति सव्वे गोयरकाला' (दशा० ८ सूत्र १२०) [illegible] खामीआदि वत्तासिणं बाल वाउद्धत्ति वा [illegible] कारणे उप्पन्ने।

(ख) हा० टी० प० १८०: ततः 'कारणे' वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्त-पानं 'गवेषयेत्' अन्विष्येत् (ओघेन)ति, अन्यथा सकृदेव भुञ्जीतेति।

जानने वाला भिक्षु अकाल-क्रिया न करे[1] ।

६. जो कार्य जिस समय का हो उसे उसी समय करे (काले कालं समायरे [घ]) :

इस श्लोक से छट्टे श्लोक तक समय का विवेक बतलाया गया है। मुनि को भिक्षा-काल में भिक्षा, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय और जिस काल में जो क्रिया करनी हो वह उसी काल में करनी चाहिए[2] ।

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार—भिक्षा के समय में भिक्षा करे, खाने के समय में खाए, पीने के समय में पीए, वस्त्र-काल में वस्त्र ग्रहण करे या उनका उपयोग करे, लयन-काल में (गुफा आदि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल में) लयन में रहे और सोने के समय में सोए[3] । काल का व्यतिक्रम मानसिक असन्तोष पैदा करता है। इसका उदाहरण अगले श्लोक में पढिए।

श्लोक ५ :

१०. श्लोक ५ :

एक मुनि अकाल-चारी था, वह भिक्षा काल को लाँघकर आहार लाने गया। बहुत घूमा, पर कुछ नहीं मिला। खाली झोली ले वापस आ रहा था। काल-चारी साधु ने पूछा—"क्यों, भिक्षा मिली ?" वह तुरन्त बोला—"इस गाँव में भिक्षा कहाँ है ? यह तो भिखारियों का गाँव है।"

अकाल-चारी मुनि को इस आवेश-पूर्ण वाणी सुन काल-चारी मुनि ने जो शिक्षा-पद कहा वही इस श्लोक में सूत्रकार ने उद्धृत किया है[4] । घटनाक्रम ज्यों का त्यों रखते हुए सूत्रकार ने मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है जैसे—चरसि, पडिलेहसि, किलामेसि, गरिहसि ।

श्लोक ६ :

११. समय होने पर (सइ-काले [क]) :

'सइकाले' का सस्कृत रूप 'स्मृति काले' भी हो सकता है। जिस समय भिक्षा देने के लिए भिक्षुओं को याद किया जाए उस समय को 'स्मृति-काल' कहा जाता है[5] ।

१—(क) अ० चू० जधोतिय विवरीय 'अकाल च' सति कालमवगतमणागत वा एत 'विवज्जेत्ता' वत्तिऊण, ण केवल भिक्खाए पडिलेह-णातीणमवि जहोतिते ।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ 'अकाल च विवज्जेत्ता' णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झायवेलाए पडिलेहणाए अकालो एवमादि अकाल विवज्जित्ता ।

(ग) हा० टी० प० १८३ 'अकाल च वर्जयित्वा' येन स्वाध्यायादि न सभाव्यते स खल्वकालस्तमपास्य ।

२—जि० चू० पृ० १६४-५ भिक्खावेलाए भिक्ख समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहण समायरे, एवमादि, भणिय च—'जोगो जोगो जिण-सासणमि दुक्खक्खया पउज्जतो । अण्णोऽण्णमवाहतो असवत्तो होइ कायव्वो ।'

३—सूत्र० २ १ १५ अन्न अन्नकाले, पाण पाणकाले, वत्थ वत्थकाले, लेण लेणकाले, सयण सयणकाले ।

४—(क) जि० चू० पृ० १६५ तमकालचारि आउरीभूत दट्ठूण अण्णो साहू भणेज्जा, लद्धा ते एयमि निवेसे भिक्खत्ति ?, सो भणइ—कुओ एत्थ थडिल्लगामे भिक्खत्ति, तेण साहुणा भण्णइ—तुम अप्पणो दोसे परस्स उवरि निवाडेहि, तुम पमाददोसेण सज्झायलोभेण या काल न पच्चुवेक्खसि, अप्पाण अद्धहिडीए ओमोदरियाए किलामेसि, इम सन्निवेस च गरिहसि, जम्हा एते दोसा तम्हा ।

(ख) हा० टी० प० १८३ ।

५—हा० टी० प० १८३ 'सति' विद्यमाने 'काले' भिक्षासमये चरेद्भिक्षु, अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाका स स्मृतिकाल ।

श्लोक ७

१२ श्लोक ७-८

सातवें और आठवें श्लोक में क्षेत्र-विवेक का उपदेश दिया गया है[1]। मुनि को वैसे क्षेत्र में नहीं जाना चाहिए जहाँ जाने से दूसरे जीव-जन्तु डर कर उड़ जाएँ, भाग जाएँ, उनके खाने-पीने में विघ्न पड़े आदि आदि[2]। इसी प्रकार भिक्षार्थ गए हुए मुनि को घर आदि में नहीं बैठना चाहिए।

श्लोक ८

१३ न बैठे (न निसीएज्ज क)

घरों बैठने के बारे में सामान्य निषेध किया गया है[3]। इसके विशेष विवरण और अपवाद की जानकारी के लिए देखिए बृहत्कल्प सूत्र (३ २१ २२)।

अनुसन्धान के लिए देखिए अध्याय ६ सूत्र ५६-५९।

१४ कथा का प्रबन्ध न करे (कहं च न पबंधेज्जा ग)

कथा के तीन प्रकार हैं—धर्म-कथा, वाद-कथा और विग्रह-कथा। इस त्रिविध कथा का प्रबन्ध न करे। किसी के पूछने पर एक उदाहरण बता दे किन्तु चर्चा-क्रम को लम्बा न करे[4]।

साधारणतया भिक्षु गृहस्थ के घर में जैसे बैठ नहीं सकता वैसे खड़ा-खड़ा भी धर्म-कथा नहीं कह सकता[5]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (३ २२ २४)।

श्लोक ९

१५ श्लोक ९ :

इस श्लोक में वस्तु विवेक की शिक्षा दी गई है। मुनि को वस्तु का वैसा प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे लघुता लगे और चोट लगने का भी प्रसंग आए[6]।

१६ परिघ (फलिहं क)

नगर-द्वार के किवाड़ को बन्द करने के बाद उसके पीछे दिया जाने वाला फलक[7]।

१—हा० टी० प० १८४ : [illegible]
२—हा० टी० प० १८४ : [illegible]
३—(क) अ० चू० : 'न निसिएज्ज' क्वचित् 'चरणाणि'त्ति गिह—देवकुलादौ।
(ख) जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि।
४—जि० चू० पृ० १९६ : [illegible]
५—(क) जि० चू० पृ० १९५-१९६ : जहा य न निसिएज्जा तहा ठिओऽवि धम्मकहावादकहा-विग्गहकहादि णो 'पबंधिज्ज' णाम ण कहेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १८४ : 'कथां च' धर्मकथादिरूपां 'न प्रबध्नीयात्' प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह [illegible]
स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति अनेनापि [illegible]
६—(क) जि० चू० पृ० १९६ : इमे दोसा—कवाडं [illegible] संजमविराहणा आयविराहणा वा होज्जति।
(ख) हा० टी० प० १८४ : आत्मसंयमविराधनादोषात्।
७—(क) अ० चू० : नगरद्वारकपाटोपत्थंभनं 'फलिहं'।
(ख) हा० टी० प० १८४ : 'परिघं' नगरद्वारादिसम्बन्धिनम्।

श्लोक १० :

१७. कृपण (किविणं घ) :

इसका अर्थ 'पिण्डोलग' है[१]। उत्तराध्ययन (५.२२) में 'पिण्डोलग' का अर्थ—'पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला'—किया है[२]।

श्लोक १२ :

१८. प्रवचन की (पवयणस्स घ) :

प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी है[३]। प्रवचन के आधारभूत जैन-शासन को भी प्रवचन कहा जाता है।

श्लोक १४ :

१९. उत्पल (उप्पलं क) :

नील-कमल[४]।

२०. पद्म (पउमं क) :

रक्त-कमल।

अगस्त्यसिंह ने पद्म का अर्थ 'नलिन'[५] और हरिभद्र ने 'अरविन्द' किया है[६]। 'अरविन्द' रक्तोत्पल का नाम है[७]।

२१. कुमुद (कुमुयं वा ख) :

श्वेत-कमल। इसका नाम गर्दभ है[८]।

१—(क) अ० चू० 'किवणा' पिंडोलगा।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ किविणा—पिण्डोलगा।
(ग) हा० टी० प० १८४ 'कृपण वा' पिण्डोलकम्।

२—उत्त० बृ० वृ० प० २५०।

३—भग० २० ८ १४ पवयण पुण दुवालसंगे गणिपिडगे।

४—(क) अ० चू० उप्पल णील।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ उप्पल नीलोत्पलादि।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'उत्पल' नीलोत्पलादि।

५—अ० चू० पउम व णलिण।

६—हा० टी० प० १८५ 'पद्मम्' अरविन्द वापि।

७—शा० नि० भू० पृ० ५३९।

८—(क) अ० चू० 'कुमुद' गद्दभगं।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ कुमुद—गद्दभुप्पल।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'कुमुद वा' गर्दभक वा।

२२ मालवी (मगदंतियं [1]) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ मालती और मोगरा है[1]। कुछ आचार्य इसका अर्थ 'मल्लिका' (बेला) मानते हैं।

श्लोक १५

२३ श्लोक १५

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार १४ वें और १५ वें श्लोक को पूर्ववर्ती श्लोक के रूप में पढ़ने की परम्परा रही है। चूर्णिकार ने इसके समर्थन में लौकिक श्लोक भी उद्धृत किया है[2]।

श्लोक १६

२४ कुचल कर (सम्मद्दिया[3] [4]) :

इसी ग्रन्थ (५.१.२९) में सम्मर्दन के प्रकरण में 'हरिय' शब्द के द्वारा समस्त वनस्पति का सामान्य ग्रहण किया है। यहाँ भेदपूर्वक उत्पल आदि का उल्लेख किया है इसलिए यह पुनरुक्त नहीं है[4]।

श्लोक १८

२५ श्लोक १८ :

शालूक आदि अपक्व रूप में खाए जाते हैं इसलिए उनका निषेध किया गया है[5]।

१—(क) अ० चू० : 'मगदंतिया' मेत्तिया।

(ख) जि० चू० पृ० १९९ : मगदंतिया—मेत्तिया अवरे भणंति-वियइल्लो मगदंतिया भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८४ : 'मगदन्तिकां' मल्लिकां मल्लिकामित्यन्ये।

२—अ० चू० : 'तं भवे भत्तपाणं' पुव्वस्स सिलोगस्स प्रायेणं पच्छद्धं पढंति। एतेणं पच्छिमद्धेण तं किं संबज्झति अकप्पियं पुणो ण ण कप्पति परिग्गमिति पुनरुत्तं—उप्पादियमेतं पच्छिमद्धमेव समासंबज्झती ताव्वेर सिलोग संबद्धमावेति। तहत्थ दिवड्ढ सिलोगो भवति। लोगेव मुग्गादियत्थ पडिसमाण जैन दिवड्ढ सिलोइया प्रयोगो दस्सकंति यथा—

> कृत धर्म न जानंति, धृतराष्ट्र निबोधतान्।
> मत्तः प्रमत्त उन्मत्तो श्रांतः क्रुद्धः पिपासितः॥
> त्वरमाणश्च भीरुश्च लोभः कामी च ते दश।

३—हा० टी० प० १८४ : संमृद्य दद्यात्, संमर्दनं नाम पूर्वच्छिन्नानामधापरिणतानां मर्दनम्।

४—(क) अ० चू० : 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।' उप्पलमादीण पुव्वं हरियग्गहणेण गहणे वि कालविसेसेण पुणसि वरिसाम भेदा इति इह समेदोपादानं।

(ख) जि० चू० पृ० १९९-२०० : सीसो भणइ—ननु पुव्व भणियो जहा 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि' ति हरियग्गहणेण वणस्सई गहिया किमत्थं पुणो गहणं करेति ?, आयरिओ भणइ—तत्थ अविसेसियं वणस्सइगहणं कयं इह पुण सभेयमिदं वणस्सइकायमुच्चारियं।

५—जि० चू० पृ० २०० : एयाणि कोयी खायति अतो पडिसेहणनिमित्तं णाविकायव्वं करेति..........'सालुयमादियं' छिन्नहत्थमणाको समवि कोयी वणस्सइकायं आमयं चेव खायति।

२६. कमलकन्द (सालुयं क) :

कमल की जड़[1] ।

२७. पलाशकन्द (विरालियं क) :

विदारिका का अर्थ पलाशकन्द किया गया है[2] । अगस्त्यसिंह ने वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ 'क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवल्ली' किया है[3] । जिनदास के अनुसार बीज से नाल, नाल के पत्ते और पत्ते में कन्द उत्पन्न होता है वह 'विदारिका' है[4] ।

२८. पद्म-नाल (मुणालियं ग) :

पद्म-नाल पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैसा होता है[5] ।

२९. सरसों की नाल (सासवनालियं ग) :

सरसों की नाल[6] ।

३०. अपक्व-गंडेरी (उच्छुखडं घ) :

पर्वाच या पर्व सहित इक्षु-खण्ड सचित्त होता है[7] । यहाँ उसी को अनिर्वृ त—अपक्व कहा है[8] ।

श्लोक १९ :

३१. तृण (तणगस्स घ) :

जिनदास चूर्णि में तृण शब्द से अर्जक[9] और मूलक आदि का ग्रहण किया है[10] ।

१—(क) अ० चू० 'सालुय उप्पलकंदो ।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ 'सालुग' नाम उप्पलकन्दो भण्णइ ।
(ग) हा० टी० प० १८५ शालूकं वा' उप्पलकन्दम् ।
(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३६ पद्मादिकन्द शालूकम् ।

२—हा० टी० प० १८५ 'विरालिका' पलाशकन्दरूपा, पत्रवल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये ।

३—अ० चू० 'विरालिय' पलासकदो अहवा 'छीरविराली' जीवन्ती गोवल्ली इति एसा ।

४—जि० चू० पृ० १९७ 'विरालिय' नाम पलासकन्दो भण्णइ, जहा वीए वल्ली जायति, तीसे पत्ते, पत्ते कदा जायति, सा विरालिया ।

५—(क) अ० चू० पउमाणमूला 'मुणालिया' ।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ मुणालिया-गयदंतसन्निभा पउमिणिकदाओ निग्गच्छति ।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'मृणालिका' पद्मिनीकन्दोत्थाम् ।
(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३८ मृणाल पद्मनालश्च ।

६—(क) अ० चू० सासवणालिया सिद्धत्थगणाला ।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ 'सासवनालिअ' सिद्धत्थगणालो ।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'सर्षपनालिका' सिद्धार्थकमञ्जरीम् ।

७—(क) अ० चू० 'उच्छुगढमणिव्वुड' सपव्वउच्छिय ।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ उच्छुखडमवि पव्वेसु धरमाणेसु ता नेव अनवगतजीव कप्पइ ।

८—हा० टी० प० १८५ इक्षुखण्डम्—'अनिर्वृत' सचित्तम् ।

९—शा० नि० भू० पृ० ५२९ इसका अर्थ वन-तुलसी है ।

१०—जि० चू० पृ० १९७ · तणस्स जहा अज्जगमूलादीण ।

अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार इससे मधुर-तृण आदि का ग्रहण करते हैं[1]। मधुर का अर्थ—ताल यष्टा या पालक हो सकता है। संभव है—तृणक शब्द तृण द्रुम का संक्षेप हो। नारियल ताल खजूर, केतक और छुहारे के वृक्ष को तृण-द्रुम कहा जाता है।

श्लोक २०

३२ कच्ची (तरुणियं ग) :

यह उस फली का विशेषण है, जिसमें दाने न पड़े हों[2]।

३३ एक बार भूनी हुई (भज्जियं सइं घ) :

दो या तीन बार भूनी हुई फली लेने का निषेध नहीं है। इसलिए यहाँ सकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है[3]। यहाँ केवल एक भूनी हुई फली लेने का निषेध है।

आचाराङ्ग (२ १) में दो-तीन बार भूनी हुई फली लेने का विधान भी है[4]।

३४ फली (छिवाडिं ग) :

अगस्त्य चूर्णि में 'छिवाडी' का अर्थ 'संबलिया' और जिनदास चूर्णि में 'सिंगा' तथा टीका में मूँग आदि की फली किया है[5]। संबलिया और 'सिंगा' दोनों फली के ही पर्यायवाची नाम हैं।

श्लोक २१

३५ वंश-करीर (वेलुयं ग) :

अगस्त्य चूर्णि में 'वेलुयं' का अर्थ 'बिल्व' या 'वंशकरिल्ल' किया है[6]। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार इसका अर्थ 'वंशकरिल्ल' है[7]। आचाराङ्ग वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'बिल्व' किया है[8]। यहाँ 'वेलुयं' का अर्थ 'बिल्व' संगत नहीं लगता। क्योंकि

१—हा टी प १८४ : 'तृणस्य वा' मधुरतृणादेः।

२—(क) अ चू : 'तरुणिया' असंजाता।
(ख) जि चू पृ० १९७ : 'तरुणिया' नाम कोमलिया।
(ग) हा टी प १८४ : 'तरुणी वा' असंजाताम्।

३—(क) अ चू : 'सतिभज्जिया' एक्कसि भज्जिया।
(ख) जि चू पृ १९७ : 'सइं भज्जिया' नाम एक्कसि भज्जिया।
(ग) हा टी प १८४ : तथा भर्जितां 'सकृत्' एकवारम्।

४—आचा २ १ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा।

५—(क) अ चू : 'छिवाडिया' संबलिया।
(ख) जि चू पृ १९७ : 'छिवाडी' नाम संगा।
(ग) हा टी प १८४ : 'छिवाडिं' मिति मुद्गादिफलिम्।

६—अ चू : 'वेलुयं' बिल्वं वंस करिल्लो वा।

७—(क) जि चू पृ १९७ : वंस करिल्लो वेलुयं।
(ख) हा टी प १८४ : 'वेलुयं' वंशकरिल्लम्।

८—आचा १.८ वृ : 'वेलुयं' वेलुयंति बिल्वम्।

दशवैकालिक मे 'विल्व' का उल्लेख पहले ही हो चुका है[१] । प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी 'विल्व' का 'वेलुय' रूप नहीं बनता, किन्तु 'वेणुक' का बनता है[२] । यहाँ 'वेलुय' का अर्थ वंश-करीर—बांस का अकुर होना चाहिए । अभिधान चिन्तामणि में दस प्रकार के शाकों में 'करीर' का भी उल्लेख है[३] ।

अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका मे 'करीर' का अर्थ बांस का अकुर किया गया है[४] । सुश्रुत के अनुसार बास के अकुर—कफकारक, मधुरविपाकी, विदाही, वायुकारक, कषाय एव रुक्ष होते हैं[५] ।

३६. काश्यपनालिका (कासवनालियं ख) :

व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'श्रीपर्णि फल' और 'कसारु' किया है[६] । 'श्रीपर्णि' के दो अर्थ हैं[७]—(१) कुभारी और (२) कायफल ।

कुभारी—यह वनस्पति भारतवर्ष, सिलोन और फिलीपाइन द्वीप समूह में पैदा होती हैं । इसका वृक्ष ६० फुट तक ऊँचा होता है । इसका पिंड सीधा रहता है और उसकी गोलाई ६ फुट तक रहती है । इसकी छाल सफेद और कुछ भूरे रग की रहती है । माघ से चैत्र तक इसके पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में नए पत्ते निकलते हैं । इसमे पीले रग के फूल लगते हैं, जिन पर भूरे छीटे होते हैं । इसका फल १ इच लम्बा, मोटा और फिसलना होता है । यह पकने पर पीला हो जाता है[८] ।

कायफल—यह एक छोटे कद का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष है । इसका छिलका खुरदरा, बादामी और भूरे रग का होता है । इसके पत्ते गुच्छों में लगते हैं । उनकी लम्बाई ७.५ से १२.५ सेण्टिमीटर और चौड़ाई २.५ से ५ सेण्टिमीटर तक होती है[९] ।

कसारु—कसेरु नाम का जलीय कन्द है । यह एक किस्म का भारतीय घास का कद है । इस घास से बोरे और चटाइयाँ बनती हैं । यह घास तालाबों और झीलों में जमती है । इस वृक्ष की जडों में कुछ गठाने रहती हैं जो तन्तुओं से ढँकी हुई रहती हैं । इसका फल गोल और पीले रग का जायफल के बराबर होता है ।

इसकी छोटे और बड़े के भेद से दो जातियाँ होती हैं । छोटा कसेरु हल्का और सूरत में मोथे की तरह होता है । इसको हिन्दी में चिचोड़ और लेटिन में केपेरिस एस्क्यूलेंटस कहते हैं । दूसरी बड़ी जाति को राज कसेरू बोलते हैं । सर्दी के दिनों में कसेरू जमीन से निकाले जाते हैं और उनके ऊपर का छिलका हटाकर उनको कच्चे ही खाते हैं[१०] ।

१—दश० ५.१.७३ अत्थियं तिंदुयं बिल्लं ।

२—हैम० ८.१.२०३ वेणौ णो वा ।

३—४.२४९-५० 'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकाः ॥ त्वक् पुष्पं फलकं शाकं दशधा ।

४—वही पृ० ४७७ 'करीरः वंशादेः ।

५—सु० (सू०) ४६.३१४ 'वेणोः करीराः कफलाः मधुरा रसपाकतः' ।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः ॥

६—(क) अ० चू० 'कासवनालियं' सीवण्णी फलं कस्सारुकं ।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ 'कासवनालियं' सीवणिफलं भण्णइ ।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'कासवनालिअं' श्रीपर्णीफलम् ।

७—व० च० पृ० ४१५,५२७ ।

८—व० च० पृ० ४१५ ।

९—व० च० पृ० ५२७ ।

१०—व० च० पृ० ४७९ ।

अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार इससे मधुर-तृण आदि का ग्रहण करते हैं[1]। मधुर का अर्थ—खाद्य गन्ना या भावक हो सकता है। संभव है—तृणक शब्द तृण-कुसुम का संक्षेप हो। नारियल, ताड़ खजूर केतक और छुहारे के वृक्ष को तृण-कुसुम कहा जाता है।

श्लोक २०

३२ कच्ची (तरुणियं क)

यह उस फली का विशेषण है, जिसमें दाने न पड़े हों[2]।

३३ एक बार भूनी हुई (भज्जियं सइं ख)

दो या तीन बार भूनी हुई फली लेने का निषेध नहीं है। इसीलिए यहाँ सकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है[3]। यहाँ केवल एक भूनी हुई फली लेने का निषेध है।

आचारांग (२.१) में दो-तीन बार भूनी हुई फली लेने का विधान भी है[4]।

३४ फली (छिवाडिं क)

अगस्त्य चूर्णि में छिवाड़ी का अर्थ 'संबलिया' और जिनदास चूर्णि में 'सिंगा' तथा टीका में मूंग आदि की फली किया है[5]। 'संबलिया' और 'सिंगा' दोनों फली के ही पर्यायवाची नाम हैं।

श्लोक २१ :

३५ वंश-करीर (वेलुयं ख)

अगस्त्य चूर्णि में 'वेलुयं' का अर्थ बिल्व' या 'वंशकरिल्ल' किया है[6]। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार इसका अर्थ 'वंशकरिल्ल' है[7]। आचारांग वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'बिल्व' किया है[8]। यहाँ 'वेलुय' का अर्थ 'बिल्व' संगत नहीं लगता। क्योंकि

१—हा० टी० प० १८५ : 'तृणस्य वा' मधुरतृणादेः।

२—(क) अ० चू० : 'तरुणिया' अभिन्नवा।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : 'तरुणिया' नाम कोमलिया।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'तरुणीं वा' असंजाताम्।

३—(क) अ० चू० : 'सतिभज्जिया' एक्कसि भज्जिता।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : 'सइं भज्जिया' नाम एक्कसि भज्जिया।
(ग) हा० टी० प० १८५ : तथा भर्जितां 'सकृद्' एकवारम्।

४—आचा० २.१ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा।

५—(क) अ० चू० : 'छिवाडिया' संबलिया।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : 'छिवाडी' नाम संगा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'छिवाडिं' मिति मुद्गादिफलिम्।

६—अ० चू० : 'वेलुयं' बिल्लं वंस करिल्लो वा।

७—(क) जि० चू० पृ० १८७ : वंस करिल्लो वेलुयं।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'वेलुकं' वंशकरिल्लम्।

८—आचा० २.१.८ : 'वेलुयं' वेलुयंति बिल्वम्।

दशवैकालिक में 'विल्व' का उल्लेख पहले ही हो चुका है[1]। प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी 'विल्व' का 'वेलुय' रूप नहीं बनता, किन्तु 'वेणुक' का बनता है[2]। यहाँ 'वेलुय' का अर्थ वश-करीर—वांस का अकुर होना चाहिए। अभिधान चिन्तामणि में दस प्रकार के शाकों में 'करीर' का भी उल्लेख है[3]।

अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में 'करीर' का अर्थ वास का अकुर किया गया है[4]। सुश्रुत के अनुसार वास के अकुर—कफकारक, मधुरविपाकी, विदाही, वायुकारक, कषाय एव रुक्ष होते हैं[5]।

३६. काश्यपनालिका (कासवनालियं ख) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'श्रीपर्णि फल' और 'कसारु' किया है[6]। 'श्रीपर्णि' के दो अर्थ हैं[7]—(१) कुभारी और (२) कायफल।

कुभारी—यह वनस्पति भारतवर्ष, सिलोन और फिलीपाइन द्वीप समूह में पैदा होती है। इसका वृक्ष ६० फुट तक ऊँचा होता है। इसका पिंड सीधा रहता है और उसकी गोलाई ६ फुट तक रहती है। इसकी छाल सफेद और कुछ भूरे रग की रहती है। माघ से चैत्र तक इसके पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में नए पत्ते निकलते हैं। इसमें पीले रग के फूल लगते हैं, जिन पर भूरे छीटे होते हैं। इसका फल १ इच लम्बा, मोटा और फिसलना होता है। यह पकने पर पीला हो जाता है[8]।

कायफल—यह एक छोटे कद का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष है। इसका छिलका खुरदरा, वादामी और भूरे रग का होता है। इसके पत्ते गुच्छों में लगते हैं। उनकी लम्बाई ७ ५ से १२ ५ सेण्टिमीटर और चौडाई २ ५ से ५ सेण्टिमीटर तक होती है[9]।

कसारु—कसेरु नाम का जलीय कन्द है। यह एक किस्म का भारतीय घास का कद है। इस घास से वोरे और चटाइयाँ वनती हैं। यह घास तालावों और झीलों में जमती है। इस वृक्ष की जड़ों में कुछ गठाने रहती हैं जो तन्तुओं से ढँकी हुई रहती हैं। इसका फल गोल और पीले रग का जायफल के वरावर होता है।

इसकी छोटे और वड़े के भेद से दो जातियाँ होती हैं। छोटा कसेरु हल्का और सूरत में मोथे की तरह होता है। इसको हिन्दी में चिचोड और लेटिन में केपेरिस एस्क्यूलेंटस कहते हैं। दूसरी वड़ी जाति को राज कसेरू बोलते हैं। सर्दी के दिनों में कसेरू जमीन से निकाले जाते हैं और उनके ऊपर का छिलका हटाकर उनको कच्चे ही खाते हैं[10]।

१—दश० ५ १ ७३ अत्थिय तिंदुय बिल्ल।

२—हैम० ८ १ २०३ वेणौ णो वा।

३—४ २४६-५० 'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढका ॥ त्वक् पुष्प फलक शाक दशधा .।

४—वही पृ० ४७७ 'करीर वशादे ।

५—सु० (सू०) ४६ ३१४ 'वेणो करीरा' कफला मधुरा रसपाकत ।
विदाहिनो वातकरा' सकषाया विरूक्षणा ॥

६—(क) अ० चू० 'कासवनालिय' सीवणी फल कस्सारुक।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ 'कासवनालिय' सीवणिफल भयणइ।
(ग) हा० टी० प० १८५ 'कासवनालिअ' श्रीपर्णीफलम्।

७—व० च० पृ० ४१५,५२७।

८—व० च० पृ० ४१५।

९—व० च० पृ० ५२७।

१०—व० च० पृ० ४७९।

३७ अपक्व तिलपपड़ी (तिलपप्पडग ग)

वह तिल-पपड़ी वर्जित है जो कच्चे तिलों से बनी हो[1]।

३८ कदम्ब-फल (नीम ग):

हारिभद्रीय टीका में 'नीमं' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है[2]। किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'नीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है किन्तु संस्कृत में नहीं[3]। 'नीम' का अर्थ 'कदम्ब' है और 'नीप' का प्राकृत रूप 'नीम' होता है[4]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका पुष्प सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पंखुड़ियाँ नहीं होतीं बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नीबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। जिनमें राज कदम्ब, धारा कदम्ब, धूलि कदम्ब, भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[5]।

श्लोक २२

३९ चावल का पिष्ट (चाउल पिट्ठं ख)

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[6]।

जिनदास ने 'चाउल पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भूने हुए चावल) किया है। वह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[7]।

४० पूरा न उबला हुआ गर्म (तत्तनिव्वुड ग)

चूर्णि और टीका में 'तत्त-निव्वुड' के 'तप्त निर्वृत' और 'तप्त-अनिर्वृत' दो संस्कृत रूपों के अनुसार अर्थ किए गए हैं। जो जल गर्म होकर फिर से शीत हो गया हो—विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न काल-मर्यादा के अनुसार सचित्त हो गया हो—वह तप्त निर्वृत कहलाता है। जो जल थोड़ा गर्म किया हुआ हो वह—तप्त-अनिर्वृत कहलाता है[8]। पक्व जल वही माना जाता है जो पर्याप्त मात्रा में उबाला गया हो। देखिए इसी सूत्र (३.६) की टि० संख्या १६ पृ० ८८-९।

1—(क) अ० चू० : 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम्।

2—हा० टी० प० १८५ : 'नीमं' नीमफलम्।

3—(क) अ० चू० : 'णीम' कदंबं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : 'णीमं' णीमरुक्खस्स फलं।

4—हैम० ८.१.२३४ : नीपापीडे मो वा।

5—[illegible]।

6—अ० चू० : चाउलं पिट्ठं-लोट्टो। तं अभिनवमनिंधणं सचित्तं भवति।

7—जि० चू० पृ० १९८ : चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतधम्मं सचित्तं भवति।

8—(क) अ० चू० : तत्तनिव्वुडं सीतलं परिणयपित्तीभूतं अणुव्वत्तदंडं वा।
(ख) हा० टी० प० १८५ : तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अवृत्तत्रिदण्डम्।

४१. जल (वियडं ख) :

मुनि के लिए अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेने का निषेध है। वे अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेते भी हैं किन्तु वही, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत हो जाए। स्वाभाविक जल सजीव होता है और विकृत जल निर्जीव। मुनि के लिए विकृत जल (या इक्कीस प्रकार का द्राक्षा आदि का पानक—देखिए आचाराङ्ग २ १) ही ग्राह्य है। इसलिये अङ्ग-साहित्य में बहुधा 'वियड' शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में भी होता है[१]। अभयदेवसूरि ने वियड का अर्थ 'पानक' किया है[२]।

'वियड' शब्द का प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक दोनों के साथ होता है[३]।

अगस्त्यसिंह स्थविर 'वियड' का अर्थ गर्म जल करते हैं[४]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ शुद्धोदक किया है[५]।

४२. पोई-साग और सरसों की खली (पूइ पिन्नागं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ है—सरसों की पिट्ठी[६]। जिनदास महत्तर सरसों के पिंड (भोज्य) को 'पूइ पिन्नाग' कहते हैं[७]। टीकाकार ने इसका अर्थ कुथित की खली किया है[८]। आचाराङ्ग में भी 'पूइ पिन्नाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ सरसों की खली किया है[९]। सूत्रकृताङ्ग के वृत्तिकार ने 'पिण्याक' का अर्थ केवल खली किया है[१०]।

सुश्रुत में 'पिण्याक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याख्या में उसका अर्थ तिल, अलसी, सरसों आदि की खली किया है[११]। उस स्थिति में 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ सरसों की खली करना चिन्तनीय है।

शालिग्राम निघण्टु (पृ० ८७३) के अनुसार 'पूइ' एक प्रकार का साग है। संस्कृत में इसे उपोदकी या पोदकी कहते हैं। हिन्दी में इसका नाम पोई का साग है। बंगला में इसे पूइशाक कहते हैं।

पूइ और पिन्नाग को पृथक् मानकर व्याख्या की जाए तो पूइ का अर्थ पोई और पिण्याक का अर्थ सरसों आदि की खली किया जा सकता है।

श्लोक २३ :

४३. कैथ (कविट्ठं[१२] क) :

कैथ एक प्रकार का कटीला पेड़ है जिसमें बेल के आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं।

१—स्था० ३ ३ १७२ णिग्गथस्स ण गिलायमाणस्स कप्पति ततो वियडदत्तीओ पडिगाहित्तते।
२—वही ३ ३ वृ० 'वियड'त्तिपानकाहार ।
३—आचा० २ १ ६ २५६ 'सिओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा'।
४—अ० चू० वियड उग्हवोयग।
५—(क) जि० चू० पृ० १९८ उद्धमुदय वियड भगणइ।
(ख) हा० टी० प० १८५ विकट वा—शुद्धोदकम्।
६—अ० चू० पूतिपिन्नागो सरिसवपिट्ट ।
७—जि० चू० पृ० १९८ 'पूतिय' नाम सिद्धत्थपिंडगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
८—हा० टी० प० १८५ 'पूतिपिण्याक' सर्षपखलम्।
९—आचा० २ १. ८ २६६ वृ० 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलम्।
१०—सूत्र० २ ६ २६ प० ३९६ वृ० 'पिण्याक' खल ।
११—सु० (सू०) ४६ ३२१ "पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि।
१२—(क) अ० चू० कवित्थफल 'कविट्ठ'।
(ख) हा० टी० प० १८५ 'कपित्थ' कपित्थफलम्।

३७ अपक्व तिलपपड़ी (तिलपप्पडग ग) :

यह तिल-पपड़ी वर्जित है जो कच्चे तिलों से बनी हो[1]।

३८ कदम्ब-फल (नीम घ)

हारिभद्रीय टीका में 'नीमं' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है[2]। किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'नीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है किन्तु संस्कृत में नहीं[3]। 'नीम' का अर्थ 'कदम्ब' है और 'नीप' का प्राकृत रूप 'णीम' होता है[4]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका पुष्प सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पंखुड़ियाँ नहीं होती बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नींबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। जिनमें राज कदम्ब धारा कदम्ब धूलि कदम्ब, भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[5]।

श्लोक २२ :

३९ चावल का पिष्ट (चाउल पिट्ठ क) :

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[6]।

जिनदास ने 'चावल पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भूने हुए चावल) किया है। यह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[7]।

४० पूरा न उबला हुआ गर्म (तत्तनिव्वुड ख)

चूर्णि और टीका में 'तत्त निव्वुड' के 'तप्त निर्वृत' और 'तप्त-अनिर्वृत' ये संस्कृत रूपों के अनुसार अर्थ किए गए हैं[8]। जो जल गर्म होकर फिर से शीत हो गया हो—विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न काल-मर्यादा के अनुसार सचित्त हो गया हो—वह तप्त निर्वृत कहलाता है। जो जल थोड़ा गर्म किया हुआ हो वह—तप्त-अनिर्वृत कहलाता है। पक्व जल वही माना जाता है जो पर्याप्त मात्रा में उबाला गया हो। देखिए इसी सूत्र (३।६) की टिप्पण संख्या २६ पृ० ८८-९।

१—(क) अ० चू०: 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १८५: 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम्।

२—हा० टी० प० १८५: 'नीमं' नीमफलम्।

३—(क) अ० चू०: 'णीमं' कदं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: 'णीमं' णीमरुक्खस्स फलं।

४—हैम० ८।१।२३४: नीपापीडे मो वा।

५—श० च० पृ० १७८।

६—अ० चू०: चाउलं पिट्ठं-लोट्टो। तं अभिणवमणिंधणं सच्चित्तं भवति।

७—जि० चू० पृ० १९८: चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतधम्मं सचित्तं भवति।

८—(क) अ० चू०: तत्तनिव्वुडं सीतलं सच्चित्तीभूतं अणुव्वत्तदंडं वा।
(ख) हा० टी० प० १८५: तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डम्।

४१. जल (वियडं [ख]) :

मुनि के लिए अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेने का निषेध है। वे अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेते भी हैं किन्तु वही, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत हो जाए। स्वाभाविक जल सजीव होता है और विकृत जल निर्जीव। मुनि के लिए विकृत जल (या इक्कीस प्रकार का द्राक्षा आदि का पानक—देखिए आचाराङ्ग २ १) ही ग्राह्य है। इसलिये अङ्ग-साहित्य में बहुधा 'वियड' शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में भी होता है[1]। अभयदेवसूरि ने वियड का अर्थ 'पानक' किया है[2]।

'वियड' शब्द का प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक दोनों के साथ होता है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर 'वियड' का अर्थ गर्म जल करते हैं[4]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ शुद्धोदक किया है[5]।

४२. पोई-साग और सरसों की खली (पूइ पिन्नागं [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ है—सरसों की पिट्ठी[6]। जिनदास महत्तर सरसों के पिंड (भोज्य) को 'पूइ पिन्नाग' कहते हैं[7]। टीकाकार ने इसका अर्थ कुथित की खली किया है[8]। आचाराङ्ग में भी 'पूइ पिन्नाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ सरसों की खली किया है[9]। सूत्रकृताङ्ग के वृत्तिकार ने 'पिण्याक' का अर्थ केवल खली किया है[10]।

सुश्रुत में 'पिण्याक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याख्या में उसका अर्थ तिल, अलसी, सरसों आदि की खली किया है[11]। उस स्थिति में 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ सरसों की खली करना चिन्तनीय है।

शालिग्राम निघण्टु (पृ० ८७३) के अनुसार 'पूइ' एक प्रकार का साग है। संस्कृत में इसे उपोदकी या पोदकी कहते हैं। हिन्दी में इसका नाम पोई का साग है। बंगला में इसे पूइशाक कहते हैं।

पूइ और पिन्नाग को पृथक् मानकर व्याख्या की जाए तो पूइ का अर्थ पोई और पिण्याक का अर्थ सरसों आदि की खली किया जा सकता है।

श्लोक २३ :

४३. कैथ (कविट्ठं[12] क) :

कैथ एक प्रकार का कटीला पेड़ है जिसमें बेल के आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं।

१—स्था० ३ ३ १७२ णिग्गथस्स ण गिलायमाणस्स कप्पति ततो वियडदत्तीओ पडिगाहित्तते।
२—वही ३ ३ वृ० 'वियड'त्तिपानकाहार ।
३—आचा० २ १ ६ २५६ 'सिओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा'।
४—अ० चू० वियड उगह्नोयग।
५—(क) जि० चू० पृ० १९८ छद्धसुदय वियड भयणइ।
(ख) हा० टी० प० १८५ विकट वा—शुद्धोदकम्।
६—अ० चू० पूतिपिन्नागो सरिसवपिट्ठ ।
७—जि० चू० पृ० १९८ 'पूतिय' नाम सिद्धत्थपिंडगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
८—हा० टी० प० १८५ 'पूतिपिण्याक' सर्षपखलम्।
९—आचा० २ १. ८ २६९ वृ० 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलम्।
१०—सूत्र० २ ६ २६ प० ३९६ वृ० 'पिण्याक' खल ।
११—सु० (सू०) ४६ ३२१ "पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्व्वदोषप्रकोपणानि।
१२—(क) अ० चू० कवित्थफल 'कविट्ठं'।
(ख) हा० टी० प० १८५ 'कपित्थ' कपित्थफलम्।

३७ अपक्व तिलपपड़ी (तिलपप्पडगं ग)

यह तिल-पपड़ी वर्जित है जो कच्चे तिलों से बनी हो[1]।

३८ कदम्ब-फल (नीम ग)

हारिभद्रीय टीका में 'नीमं' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है । किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'नीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है किन्तु संस्कृत में नहीं[2]। 'नीम' का अर्थ 'कदम्ब' है और 'नीप' का प्राकृत रूप 'नीम' होता है[4]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका पुष्प सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पंखुड़ियाँ नहीं होतीं बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नीबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। जिनमें राज कदम्ब धारा कदम्ब धूलि कदम्ब भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[5]।

श्लोक २२

३९ चावल का पिष्ट (चाउल पिट्ठ क):

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[6]।

जिनदास ने 'चावल पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भुने हुए चावल) किया है। वह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[7]।

४० पूरा न उबला हुआ गर्म (तत्तनिव्वुड ख)

चूर्णि और टीका में 'तत्त-निव्वुड' के 'तप्त निर्वृत' और 'तप्त-अनिर्वृत' दो संस्कृत रूपों के अनुसार अर्थ किए गए हैं। जो जल गर्म होकर फिर से शीत हो गया हो—विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न काल-मर्यादा के अनुसार सचित्त हो गया हो—वह तप्त निर्वृत कहलाता है। जो जल थोड़ा गर्म किया हुआ हो वह—तप्त-अनिर्वृत कहलाता है । पक्व जल वही माना जाता है जो पर्याप्त मात्रा में उबाला गया हो। देखिए इसी सूत्र (३.६) की टि० संख्या १९ पृ० ८८-९।

१—(क) अ० चू०: 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८: जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १८५: 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम्।

२—हा० टी० प० १८५: 'नीमं' नीमफलम्।

३—(क) अ० चू० 'णीव' फलं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ 'णीमं' णीमरुक्खस्स फलं।

४—हैम० ८.१.२३४ नीपापीडे मो वा।

५—भा० नि० पृ० ५४५।

६—अ० चू०: चाउलं पिट्ठं—लोट्टो। तं अभिणवमनिंधणं सच्चित्तं भवति।

७—जि० चू० पृ० १९८: चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ तमपरिणतधम्मं सच्चित्तं भवति।

८—(क) अ० चू०: तत्तनिव्वुडं पाणितं पडिसच्चित्तीभूतं अणुव्वत्तडंडं वा।
(ख) हा० टी० प० १८५: तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डम्।

४१. जल (वियडं ख) :

मुनि के लिए अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेने का निषेध है। वे अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेते भी हैं किन्तु वही, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत हो जाए। स्वाभाविक जल सजीव होता है और विकृत जल निर्जीव। मुनि के लिए विकृत जल (या इक्कीस प्रकार का द्राक्षा आदि का पानक—देखिए आचाराङ्ग २ १) ही ग्राह्य है। इसलिये अङ्ग-साहित्य में बहुधा 'वियड' शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में भी होता है[1]। अभयदेवसूरि ने वियड का अर्थ 'पानक' किया है[2]।

'वियड' शब्द का प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक दोनों के साथ होता है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर 'वियड' का अर्थ गर्म जल करते हैं[4]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ शुद्धोदक किया है[5]।

४२. पोई-साग और सरसों की खली (पूइ पिन्नागं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ है—सरसों की पिट्ठी[6]। जिनदास महत्तर सरसों के पिंड (भोज्य) को 'पूइ पिन्नाग' कहते हैं[7]। टीकाकार ने इसका अर्थ कुथित की खली किया है[8]। आचाराङ्ग में भी 'पूइ पिन्नाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ सरसों की खली किया है[9]। सूत्रकृताङ्ग के वृत्तिकार ने 'पिण्याक' का अर्थ केवल खली किया है[10]।

सुश्रुत में 'पिण्याक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याख्या में उसका अर्थ तिल, अलसी, सरसों आदि की खली किया है[11]। उस स्थिति में 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ सरसों की खली करना चिन्तनीय है।

शालिग्राम निघण्टु (पृ० ८७३) के अनुसार 'पूइ' एक प्रकार का साग है। संस्कृत में इसे उपोदकी या पोदकी कहते हैं। हिन्दी में इसका नाम पोई का साग है। बंगला में इसे पूइशाक कहते हैं।

पूइ और पिन्नाग को पृथक् मानकर व्याख्या की जाए तो पूइ का अर्थ पोई और पिण्याक का अर्थ सरसों आदि की खली किया जा सकता है।

श्लोक २३ :

४३. कैथ (कविट्ठं[12] क) :

कैथ एक प्रकार का कटीला पेड़ है जिसमें बेल के आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं।

१—स्था० ३ ३ १७२ णिग्गथस्स ण गिलायमाणस्स कप्पति ततो वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तते।
२—वही ३ ३ वृ० 'वियड'त्तिपानकाहार ।
३—आचा० २ १ ६ २५६ 'सिओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा'।
४—अ० चू० वियड उराहोयग।
५—(क) जि० चू० पृ० १९८ छड्डमुदय वियड भराणइ।
(ख) हा० टी० प० १८५ विकट वा—शुद्धोदकम्।
६—अ० चू० पूतिपिन्नागो सरिसवपिट्ठ ।
७—जि० चू० पृ० १९८ 'पूतिय' नाम सिद्धत्थपिंडगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
८—हा० टी० प० १८५ 'पूतिपिण्याक' सर्षपखलम्।
९—आचा० २ १.८ २६६ वृ० 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलम्।
१०—सूत्र० २ ६ २६ प० ३९६ वृ० 'पिण्याक' खल'।
११—सु० (सू०) ४६ ३२१ "पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्व्वदोषप्रकोपणानि।
१२—(क) अ० चू० कवित्थफल 'कविट्ठ'।
(ख) हा० टी० प० १८५ 'कपित्थ' कपित्थफलम्।

४४ बिजौरा[१] (माउलिंग[क]) :

बीजपूर, मातुलुंग, रुचक, फलपूरक इसके पर्यायवाची नाम हैं[२]।

४५ मूला और मूले के गोल टुकड़े (मूलग मूलगत्तियं[क])

'मूलक' शब्द के द्वारा पत्र-सहित-मूली[३] और 'मूलक' कर्तिका के द्वारा पत्र-रहित-मूली का ग्रहण किया है। चूर्णि के अनुसार यह पाठ 'मूलकत्तिया'—'मूल कर्तिका' और टीका के अनुसार 'मूलवत्तिया'—'मूलवर्तिका' है[४]। सुश्रुत (४६.२४७) में कच्ची मूली के अर्थ में 'मूलक-पोतिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संभव है इसी के स्थान में 'मूलपत्तिय' का प्रयोग हुआ हो।

श्लोक २४

४६ फलचूर्ण, बीजचूर्ण (फलमंथूणि[क]; बीयमंथूणि[ख])

बेर आदि फलों के चूर्ण को 'फलमन्थु' कहते हैं[६] और जौ, उड़द, मूंग आदि बीजों के चूर्ण को 'बीजमन्थु' कहते हैं[७]। आचारांग में उदुम्बर, न्यग्रोध (बरगद), प्लक्ष (पाकड़), अश्वत्थ आदि के मन्थुओं का उल्लेख है[८]।

देखिए 'मंथु' (५.१.९८) की टिप्पण संख्या १२८ पृ० २८४।

४७ बहेड़ा (विहेलगं[ग]) :

अर्जुन वृक्ष की जाति का एक बड़ा और ऊँचा वृक्ष जिसके फल दवा के काम में आते हैं। त्रिफला में से एक फल।

१—(क) अ० चू० : बीजपूरं मातुलिंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : कविट्ठमाउलिंगाणि पसिद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मातुलिङ्गं च' बीजपूरकम्।
२—शा० नि० पृ० ५७८।
३—(क) जि० चू० पृ० १९८ : मूलओ सपत्तपलासो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : मूलकत्तिया—मूलकंदा चित्तलिया भण्णइ।
४—(क) अ० चू० : मूलग कंदा चक्कलिया।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'मूलवर्तिकां' मूलकन्दचक्कलिम्।
५—(क) जि० चू० पृ० १९।
(ख) हा० टी० प० १८५।
६—(क) जि० चू० पृ० १९८ : मंथू—बदरचुण्णो भण्णइ फलमंथू बदरउंबरादीणं भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'फलमन्थून्' बदरचूर्णान्।
७—(क) जि० चू० पृ० १९८ : 'बीयमंथू' जवमासमुग्गादीणि।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'बीजमन्थून्' यवादिचूर्णान्।
८—आचा० २.१.८.२६८ : उंबरमंथुं वा णग्गोहमंथुं वा पिलुंखुमंथुं वा, आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं।
९—(क) अ० चू० : 'बिभेलगं' भूतरुक्खफलं, तस्समाणत्ताओ हरितमादि वा।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : विहेलगरुक्खस्स फलं विहेलगं।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'विभीतकं' बिभीतकफलम्।

४८. प्रियाल-फल (पियालं ग) :

प्रियाल को चिरौंजी कहते हैं[१]।

'चिरौजी' के वृक्ष प्राय सारे भारतवर्ष में छिटपुट पाए जाते हैं। इसके पत्ते छोटे-छोटे, नोकदार और खुरदरे होते हैं। इसके फल करोंदे के समान नीले रग के होते हैं उनमें से जो मगज निकलती है उसे चिरौंजी कहते हैं।

श्लोक २५ :

४९. समुदान (समुयाणं क) :

मुनि के लिए समुदान भिक्षा करने का निर्देश किया गया है। एक या कुछ एक घरो में से भिक्षा ली जाय तो एषणा की शुद्धि रह नहीं सकती, इसलिए अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए, ऊँच और नीच सभी घरों में जाना चाहिए[२]।

जो घर जाति से नीच कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार न मिले उनको छोड जो जाति से उच्च कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार मिले वहाँ न जाए। किन्तु भिक्षा के लिए निकलने पर जुगुप्सित कुलों को छोड़कर परिपाटी (क्रम) से आने वाले छोटे-बड़े सभी घरों में जाए। जो भिक्षु नीच कुलों को छोड़कर उच्च कुलों में जाता है वह जातिवाद को बढावा देता है और लोग यह मानते हैं कि यह भिक्षु हमारा परिभव कर रहा है[३]।

बौद्ध-साहित्य में तेरह 'धुताङ्ग' बतलाए गए हैं। उनमें चौथा 'धुताङ्ग' 'सापदान-चारिकाङ्ग' है। गाँव में भिक्षाटन करते समय विना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने को 'सापदान-चारिकाङ्ग' कहते हैं[४]।

श्लोक २६ :

५०. वन्दना—(स्तुति) करता हुआ याचना न करे (वंदमाणो न जाएज्जा ग) :

यहाँ उत्पादन के ग्यारहवें दोष 'पूर्व-सस्तव' का निषेध है।

१—(क) अ० चू० [पियाल] पियालरुक्खफल वा।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ पियालो रुक्खो तस्स फल पियाल।

(ग) हा० टी० प० १८६ 'प्रियाल वा' प्रियालफल च।

२—(क) अ० चू० समुयाणीयति—समाहरिज्जति तदत्थ चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति अणमेव 'समुदाण चरे' गच्छेदिति। अहवा पुव्व भणितमुग्गमुप्पायणे सणासुद्धमग्गण समुदाणीय चरे।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ समुदाया णिज्जइत्ति, थोव थोव पडिवज्जइत्ति वुत्त भवइ।

(ग) हा टी० प० १८६ समुदान भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षु ।

३—जि० चू० पृ० १९८-१९९ 'उच्च' नाम जातितो णो सारतो, सारतो णो जातीतो, एग सारतोवि जाइओवि, एग णो सारओ नो जाइओ, अवयमवि जाइओ एग अवय नो सारओ सारओ एग अवय नो जाइओ एग जाइओऽवि अवय सारओऽवि एग नो जाइओ अवय नो सारओ, अहवा उच्च जत्थ मणुन्नाणि लब्भति, अवय जत्थ न तारिसाणित्ति, तहप्पगार कुल उच्च वा भवउ अवय वा भवउ, सव्व परिवाडीय समुदाणितव्वं, ण पुण नीय कुल अतिक्कमिऊण ऊसढ अभिसधारिज्जा, 'णीय' नाम णीयति वा अवयंति वा एगट्ठा, दुगुछियकुलाणि वज्जेउण ज सेस कुल तमतिक्कमिउण नो ऊसढ गच्छेज्जा, ऊसढ नाम ऊसढति वा उच्चति वा एगट्ठ, तमि ऊसढे उक्कोस लभीहामि बहुं वा लब्भीहामित्तिकाऊण णो णीयाणि अतिक्कमेज्जा, किं कारण ? दीहा भिक्खायरिया भवति, सुतत्थपलिमथो य, जढजीवस्स य अणेणे न रोयति, जे ते अतिक्कमिज्जति ते अप्पत्तिय करेंति जहा परिभवति एस अम्हेत्ति, पव्वइयोवि जातिवाय ण मुयति, जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

४—विशुद्धि मार्ग भूमिका पृ० २४। विशेष विवरण के लिए देखें पृ० ६७-६८।

दोनों चूर्णिकारों और टीकाकार ने 'वंदमाणं न जाएज्जा' पाठ को मुख्य मानकर व्याख्या की है और 'वंदमाणो न जाएज्जा' को पाठान्तर माना है[1]। किन्तु मूल पाठ 'वंदमाणो न जाएज्जा' ही होना चाहिए। इस श्लोक में उत्पादन के ग्यारहवें दोष—'पुव्विंपच्छा संथव' (पूर्वपश्चात् संस्तव) के एक भाग 'पूर्व-संस्तव' का निषेध है। इसका समर्थन आचाराङ्ग के 'वंदिय वंदिय' शब्द से होता है[2]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ यह है कि मुनि गृहपति की स्तुति कर याचना न करे[3]।

आचाराङ्ग के टिप्पणीगत दोनों वाक्य और प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध के दोनों चरण केवल अर्थ-दृष्टि से ही नहीं किन्तु शब्द-दृष्टि से भी प्रायः तुल्य हैं। आचाराङ्ग के 'वंदिय' का अर्थ यहाँ 'वंदमाणो' के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। निशीथ में 'पूर्व-संस्तव' के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[4]। प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार १) में 'न वि वंदणाए' के द्वारा उक्त अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। इसके आधार पर 'वंदमाणो' पाठ ही संगत है। वन्दमान—वन्दना करते हुए व्यक्ति से याचना नहीं करनी चाहिए—यह अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार को अभिप्रेत है[5]। किन्तु यह व्याख्या विशेष बलवान् नहीं लगती और इसका कहीं आधार भी नहीं मिलता। 'वंदमाणो न जाएज्जा' इसका विशद अर्थ भी है, आगमों में आधार भी है इसलिए अर्थ की दृष्टि से भी 'वंदमाणो' पाठ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ३१

५१ छिपा लेता है (विणिगूहई [6])

इसका अर्थ है—सरस आहार को नीरस आहार से ढँक लेता है।

श्लोक ३४

५२ मोक्षार्थी (आययट्ठी [7]) :

इस शब्द को अगस्त्य चूर्णि में 'आयति अर्थी' तथा जिनदास चूर्णि और टीका में 'आयत अर्थी' माना है।

१—(क) अ० चू० : पाढविसेसो वा—'वंदमाणो न जाएज्जा'।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : अहवा एस आलावओ एवं पढिज्जइ 'वंदमाणो न जाएज्जा' वंदमाणो नाम वंदमाणो सिरप्पणामं पंजलिमादीहिं णो जाएज्जा जहा पुव्विं वंदणमरिसादं न जाणियव्वो जहा सामि अहि देवए जाणसि।

२—आचा० १।१।६ सू० ५५५ : 'णो गाहावइं वंदिय वंदिय जाएज्जा णो वयणं फरुसं वएज्जा'।

३—आचा० १।१।६ सू० ५५ वृ० : गृहपतिं 'वंदित्वा' वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत।

४—नि० २.३८ : जे भिक्खू पुरे संथवं पच्छा संथवं वा करेइ करेंतं वा सातिज्जति। चू० : 'संथवो' थुती अदत्ते दाणे पुव्वसंथवो दिण्णे पच्छासंथवो। जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।

५—(क) अ० चू० : वंदमाणं न जाएज्जा 'जहा अहं वंदिओ एतेण, जाचामि णं, मरो अवस्सं दाहिति। सो वंदियमेत्तए जाणिओ जिणेह मनेण वा—चोरत वंदिहि त्ति ण्णमातिर्ण अवमादिदोसा।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'वंदमाणं न जाइज्जा' जहा अहमेतेण वंदिओ अवस्समसो दाहेति एवं विपरिणामादिदोसा संभवंति पुरिसं पुण वंदमाणं वंदमाणं अण्णं किंचि वयणं वाउत्तं अवगणो वा मग्गिज्जइ पुणो तम्मेव गंतूण भणइ जइ ताहे पुणो वंदति को मग्गिज्जइ कयाति पडिसेहेज्जा तम्ह णो अण्णं फरुसं वए, जहा दीसि न वंदिसि तुमं अवंदणो एव एवमादि।
(ग) हा० टी० प० १८९ : वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत विपरिणामदोषात्, अभावप्रभावेन चाविज्ञाताय न चैनं परुषं ब्रूयात्—वृथा त्वं वन्दसेत्यादि।

६—(क) जि० चू० पृ० १९१ : विणिगूहइ णाम जं सारं तं णिगूहति, आयसारियं करेइ, अण्णेण अन्तपन्तेण ओहाडेति।
(ख) हा० टी० प० १८० : 'विनिगूहते' अन्तप्रान्तादिना आच्छादयति।

७—(क) अ० चू० : [आययट्ठी] आगामिकालं आयतिं हितमायतहितं आयतहितस्स अत्थी आय(त)हितत्थी।
(ख) जि० चू० पृ० : आयतो—मोक्खो भण्णइ तं आयतं अत्थयतीति आयतत्थी।
(ग) हा० टी० प० १८० : 'आयतार्थी' मोक्षार्थी।

५३. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती घ) :

रूक्ष शब्द का अर्थ रूखा और सयम दोनों होता है। जिनदास चूर्णि में रूक्षवृत्ति का अर्थ रूक्ष-भोजी और टीका में इसका अर्थ सयम-वृत्ति किया है[1]।

श्लोक ३५ :

५४. मान-सम्मान की कामना करने वाला (माणसम्माणकामए ख) :

वदना करना, आने पर खड़ा हो जाना मान कहलाता है और वस्त्र-पात्र आदि देना सम्मान है अथवा मान एकदेशीय अर्चना है और सम्मान व्यापक अर्चना[2]।

५५. माया-शल्य (मायासल्लं घ) :

यहाँ शल्य का अर्थ आयुध[3] (शरीर में घुसा हुआ कांटा) अथवा बाण की नोक है। जिस प्रकार शरीर में घुसी हुई अस्त्र की नोक व्यथा देती है उसी प्रकार जो पाप-कर्म मन को व्यथित करते रहते हैं उन्हें शल्य कहा जाता है।

माया, निदान और मिथ्यादर्शन—ये तीनों सतत चुभने वाले पाप-कर्म हैं। इसलिए इन्हें शल्य कहा जाता है[4]।

पूजार्थी-व्यक्ति बहुत पाप करता है और अपनी पूजा आदि को सुरक्षित रखने के लिए वह सम्यक् प्रकार से आलोचना नहीं करता किन्तु माया-शल्य करता है— अपने दोषों को छिपाने का प्रयत्न करता है[5]।

श्लोक ३६ :

५६. संयम (जसं घ) :

यहाँ यश शब्द का अर्थ सयम है[6]। सयम के अर्थ में इसका प्रयोग भगवती में भी मिलता है[7]।

५७. सुरा, मेरक (सुरं वा मेरगं वा क) :

सुरा और मेरक दोनों मदिरा के प्रकार हैं। टीकाकार पिष्ट आदि द्रव्य से तैयार की हुई मदिरा को सुरा और प्रसन्ना को मेरक मानते हैं[8]। चरक की व्याख्या में परिपक्व अन्न के सन्धान से तैयार की हुई मदिरा को सुरा माना है[9]। भावमिश्र के अनुसार उबाले

१—(क) जि० चू० पृ० २०२ लुक्खाइ से वित्ती, एतस्स ण णिहारे गिद्धी अत्थि।

(ख) हा टी० प० १८७ 'रूक्षवृत्ति' सयमवृत्ति।

२—(क) जि० चू० पृ० २०२ माणो वंदणअब्भुट्ठाणपच्चयओ, सम्माणो तेहिं वदणादीहिं वत्थपत्तादीहि य, अहवा माणो एगदेसे कीरइ, सम्माणो पुण सव्वप्पगारेहिं इति।

(ख) हा० टी० प० १८७ तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मान —वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्त सन्मान।

३—अ० चू० सल्ल—आउध देघलग्ग।

४—स्था० ३ १८२।

५—जि० चू० पृ० २०२ कम्मगरुययाए वा सो लज्जाए वा अणालोएतो मायासल्लमवि कुव्वति।

६—हा० टी० प० १८८ यश शब्देन सयमोऽभिधीयते।

७—भग० ४१ १ ६ ते ण भते! जीवा किं आयजसेण उववज्जति आत्मन सवन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यश' सयम आत्मयशस्तेन।

८—हा० टी० प० १८८ 'सुरा वा' पिष्टादिनिष्पन्ना, 'मेरक वापि' प्रसन्नाख्याम्।

९—पूर्व भा० (सूत्रस्थान) अ० २५ पृ० २०३ 'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरां जगु'।

श्लोक ४२ :

६१. जो मेधावी (मेहावी क) :

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है और मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है[१]।

६२. प्रणीत (पणीयं ख) :

दूध, दही, घी आदि स्निग्ध पदार्थ या विकृति को प्रणीत—रस कहा जाता है[२]। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ८.५६ की टिप्पणी।

६३. मद्य-प्रमाद (मज्जप्पमाय ग) :

यहाँ मद्य और प्रमाद भिन्नार्थक शब्द नहीं हैं। किन्तु मद्य प्रमाद का कारण होता है इसलिए मद्य को ही प्रमाद कहा गया है[३]।

श्लोक ४३

६४. अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित (अणेगसाहुपूइयं ख) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'अणेगसाहु' को समस्त-पद माना है[४]। जिनदास चूर्णि में 'अणेगं' को 'कल्लाण' का विशेषण माना है[५]।

६५. विपुल और अर्थ-संयुक्त (विउलं अत्थसंजुत्तं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'विउल' का मकार अलाक्षणिक है और विपुलार्थ-संयुक्त एक शब्द बन जाता है। विपुलार्थ-संयुक्त अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थ से युक्त[६]। जिनदास चूर्णि में भी ऐसा किया है। किन्तु 'अत्यसंजुत्त' की स्वतन्त्र व्याख्या भी की है[७]। टीका में 'विउल' और 'अत्थसजुत्त' की पृथक् व्याख्या की है[८]।

१—जि० चू० पृ० २०३ मेधावी दुविहो, त०—गथमेधावी मेरामेधावी य, तत्थ जो महत गथ अहिज्जति सो गयमेधावी, मेरामेधावी णाम मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी।

२—(क) अ० चू० · पणीए पधाणे विगतीमादीते।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ पणीतरस नाम नेहविगतीओ भरणति।

(ग) हा० टी० प० १८६ 'प्रणीत' स्निग्धम्।

३—स्था० ६.५०२ वृ० 'छव्विहे पमाते पन्नत्ते त जहा—मज्जपमाए ... 'मद्य—सुरादि तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमाद।

४—(क) अ० चू० अणेगेहिं 'साधूहि पूतिय' पससिय इह-परलोगहित।

(ख) हा० टी० प० १८६ अनेकसाधुपूजित, पूजितमिति—सेवितमाचरितम्।

५—जि० चू० पृ० २०४ अणेग नाम इहलोइयपरलोइय, ज च।

६—अ० चू० 'विपुलंअट्ठसजुत्त विपुलेण' वित्थिण्णेण 'अत्थेण सजुत्त' अक्खयेण णेव्वाणत्थेण।

७—जि० चू० पृ० २०४ · 'विउल अत्थसजुत्त' नाम विपुल विसाल भरणति, सो य मोक्खो, तेण विउलेण अत्थेण सजुत्त विउलत्थसंजुत्त, अत्थसजुत्त णाम सभावसजुत्त, ण पुण णिरत्थियति।

८—हा० टी० प० १८६ 'विपुल' विस्तीर्ण विपुलमोक्षावहत्वात् 'अर्थसयुक्त' तुच्छतादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात्।

६६ स्वयं देखो (पस्सह ^क^)

देखना चक्षु का व्यापार है। इसका प्रयोग पूर्ण अवधारण के लिए भी होता है [illegible] मन से देख रहा है। यहाँ सर्वांश अवधारण के लिए 'पस्सह' का प्रयोग हुआ है—उस तपस्वी के कल्याण को देखो अर्थात् उसका [illegible] परिचय प्राप्त करो[1]।

श्लोक ४४

६७ अगुणों को (अगुणाणं ^ख^)

जिनदास चूर्णि में जो नागार्जुनीय परम्परा के पाठ का उल्लेख है उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—अगुण-रूपी धन न करने वाला[2]। अगस्त्यसिंह ने इस अर्थ को विकल्प में माना है[3]।

श्लोक ४६

६८ तप का चोर ... भाव का चोर (तवतेणे ^क^ ... भावतेणे ^घ^) :

तपस्वी सरीखा शरीर पतला-दुबला देख किसी ने पूछा—क्या तपस्वी तुम्हीं हो ? पूजा-सत्कार के निमित्त 'हाँ मैं ही हूँ।' ऐसा कहना अथवा 'साधु तपस्वी ही होते हैं' ऐसा कह उसके प्रश्न को घोटाले में डालने वाला तप का चोर कहलाता है। इसी प्रकार धर्मकथी उत्तमजातीय विशिष्ट आचार-सम्पन्न न होते हुए भी मायाचार से अपने को वैसा बतलाने वाला क्रमशः वाणी का चोर, रूप का चोर और आचार का चोर होता है।

जो किसी सूत्र और अर्थ को नहीं जानता तथा अभिमानवश किसी को पूछता भी नहीं किन्तु व्याख्यान या वाचना देते समय आचार्य तथा उपाध्याय से सुनकर ग्रहण करता है और 'यह तो मुझे ज्ञात ही था'—इस प्रकार का भाव दिखलाने वाला भाव-चोर होता है[4]।

६९ किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म (देवकिब्बिसं ^ङ^)

देवों में जो किल्बिष (अधम जाति का) होता है उसे देवकिल्बिष कहा जाता है। देवकिल्बिष में उत्पन्न होने योग्य कर्म या भाव देवकिल्बिष कहलाता है।

१—अ० चू० : कल्लाणं अप्पसागो आयारो सव्वसगावधारणे वि पजुज्जति, अवसा पस्सति। तस्स पस्सेतति।

२—जि० चू० पृ० [illegible] : जहा नागज्जुणिज्जया तु एवं पढंति—'एवं तु अगुणप्पेही अगुणाणं विवज्जए' अगुणा एव धणं अगुणाणं [illegible] वा [illegible] वा [illegible] तं च अगुणाणं अकुव्वंतो।

३—अ० चू० : अथवा अगुणा एव रिणं तं विवज्जति।

४—जि० चू० पृ० [illegible] : तत्थ तवतेणो णाम जहा कोइ खमगसरिसो केणवि पुच्छिओ—तुमं सो खमओत्ति ? ताहे सो पूयासक्कार निमित्तं भणति-ओमित्ति अहवा भणइ—साहुणो चेव तवं करति तुसिणीओ वा अच्छइ, एवं वयतेणे वयतेणो णाम जहा कोइ धम्मकहि सरिसो वाईसरिसो अण्णेण पुच्छिओ जहा तुमं सो धम्मकहि वाई वा ? पूयासक्कारनिमित्तं भणइ—आमं, तोसिणीओ वा अच्छइ अहवा भणइ-साहुणो चेव धम्मकहिणो वाइणो य भवंति, एवं रूवतेणो रूवतेणो णाम रूववी कोइ रायकुमारो पव्वइओ तस्स सरिसो केणइ पुच्छिओ जहा तुमं सो रायकुमारोत्ति ? ताहे भणति—आमंति तुसिणीओ वा अच्छइ रायकुमारादि[illegible] वा एव[illegible], आयारतेणो णाम जहा [illegible] कोऽहकंति जहा आयरियउवज्झाए सआयारतणो भावतेणो णाम जो [illegible] किंचि सुत्तं अत्थं वा [illegible] न पुच्छइ वक्खाणंतं वायंतस्स वा सोऊण गेण्हइ।

"देवकिब्बिस" का संस्कृत रूप देव-किल्विष हो सकता है जैसा कि दीपिकाकार ने किया है। किन्तु वह देव-जाति का वाचक होता है इसलिए "कुव्वइ" क्रिया के साथ इसका संबंध नहीं जुड़ता। इसलिए उसका संस्कृत रूप "दैव-किल्विष" होना चाहिए। वह कर्म और भाव का वाचक है और उसके साथ क्रिया की संगति ठीक बैठती है। किल्विष देवताओं की जानकारी के लिए देखिए भगवती (९.३३) एवं स्थानाङ्ग (३.४.१६६)।

स्थानाङ्ग में चार प्रकार का अपध्वंस बतलाया है—असुर, अभियोग, सम्मोह और दैवकिल्विष[1]। वृत्तिकार ने अपध्वंस का अर्थ चरित्र और उसके फल का विनाश किया है। वह आसुरी आदि भावनाओं से होता है[2]। उत्तराध्ययन में चार भावनाओं का उल्लेख है। उनमें तीसरी भावना किल्विषिकी है। इस भावना के द्वारा जो चरित्र का विनाश होता है उसे दैवकिल्विष-अपध्वंस कहा जाता है। स्थानाङ्ग (४.४.३५४) के अनुसार अरिहन्त, अरिहन्त-प्रज्ञप्त-धर्म, आचार्य—उपाध्याय और चार तीर्थ का अवर्ण बोलने वाला व्यक्ति दैवकिल्विषकत्व कर्म का बंध करता है। उत्तराध्ययन के अनुसार ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओं का अवर्ण बोलने वाला तथा माया करने वाला किल्विषिकी भावना करता है[3]।

प्रस्तुत श्लोक में किल्विषिक-कर्म का हेतु माया है। देवों में किल्विष पाप या अधम होता है उसे देवकिल्विष कहा जाता है। माया करने वाला दैवकिल्विष करता है अर्थात्—देवकिल्विष में उत्पन्न होने योग्य कर्म करता है।

श्लोक ४७ :

७०. (किच्चा घ) :

'कृत्वा' और 'कृत्यात्' इन दोनों का प्राकृत रूप 'किच्चा' बनता है।

श्लोक ४८ :

७१. एडमूकता (गूगापन) (एलमूययं ख) :

एडमूकता—मेमने की तरह मैं-मैं करनेवाला एडमूक कहलाता है[4]। एडमूक को प्रव्रज्या के अयोग्य बतलाया है[5]।

तुलना—अन्नयरेसु, आसुरिएसु, किब्बिसिएसु, ठाणेसु उववत्तारो भवति, तत्तो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए, तामयत्ताए, जाइमूयत्ताए पच्चायति। एलवन्मूका एलमूकास्तद् भावेनोत्पद्यन्ते। ..यथैलको मूकोऽव्यक्त वाक् भवति, एवमसावप्यव्यक्त वाक् समुत्पद्यत इति (सूत्र० २.२ वृत्ति)

श्लोक ५० :

७२. उत्कृष्ट संयम (तिव्वलज्ज घ) :

यहाँ लज्जा का अर्थ संयम है[6]।

१—४.४ सू० ३५४ चउविहे अवद्धंसे पन्नत्ते त जहा—आसुरे आभिओगे समोहे देवकिब्बिसे।

२—स्था० ४.४ सू० ३५४ वृ० अपध्वंसनमपध्वंस—चारित्रस्य तत् फलस्य वा असुरादिभावनाजनितो विनाश।

३—उत्त० ३६.२६४ नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूण।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

४—हा० टी० प० १६० 'एलमूकताम्' अजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे।

५—आव० हा० वृ० पृ० ६२८।

६—(क) जि० चू० पृ० २०५ लज्जसजमो—तिव्वसंजमो, तिव्वसद्दो पकरिसे वट्टइ, उक्किट्ठो संजमो जस्स सो तिव्वलज्जो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १६० 'तीव्रलज्ज' उत्कृष्टसंयम सन्।

छट्ठमज्झयणं

महायारकहा

षष्ठ अध्ययन

महाचार कथा

आमुख

'क्षुल्लक-आचारकथा' (तीसरे अध्ययन) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचारकथा का विस्तार से निरूपण हुआ है इस लिये इसका नाम 'महाचार-कथा' रखा गया है।

"जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।
सच्चेव य होई कहा, आयारकहाए महईए॥" (नि० २४५)

तीसरे अध्ययन में केवल अनाचार का नाम-निर्देश किया गया है और इस अध्ययन में अनाचार के विविध पहलुओं को छुआ गया है। औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र, अभ्याहृत, रात्रि-भक्त और स्नान—ये अनाचार हैं (३.२)—यह 'क्षुल्लक-आचार-कथा' की निरूपण-पद्धति है। 'जो निर्ग्रन्थ नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन आदि का सेवन करते हैं वे जीव-वध का अनुमोदन करते हैं—यह महर्षि महावीर ने कहा है, इसलिए धर्मजीवी-निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन-पानी का वर्जन करते हैं (६.४८-४९)—यह 'महाचार-कथा' की निरूपण-पद्धति है। यह अन्तर हमें लगभग सर्वत्र मिलेगा और यह सकारण भी है। 'क्षुल्लक-आचारकथा' की रचना निर्ग्रन्थ के अनाचारों का सकलन करने के लिये हुई है (३.१)। और महाचार कथा की रचना जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है (६.१-४)।

'क्षुल्लक-आचार-कथा' में अनाचारों का सामान्य निरूपण है। वहाँ उत्सर्ग और अपवाद की कोई चर्चा नहीं है। 'महाचार-कथा' में उत्सर्ग और अपवाद की भी यत्र-तत्र चर्चा हुई है।

एक ओर अठारह स्थान बाल, वृद्ध और रोगी सब प्रकार के मुनियो के लिये अनाचरणीय बतलाए हैं (६.६-७, नि० ६ २६७) तो दूसरी ओर निषद्या (जो अठारह स्थानों में सोलहवाँ स्थान है) के लिये अपवाद भी बतलाया गया है—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में बैठ सकता है (६.५९)। रोगी निर्ग्रन्थ भी स्नान न करे (६.६०)। यहाँ छट्ठे श्लोक के निषेध को फिर दोहराया है। इस प्रकार इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक सकेत मिलते हैं।

अठारह स्थान—

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, अकल्प, गृहि-भाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन—ये अठारह अनाचार स्थान हैं—

"वयछक्क कायछक्क, अकप्पो गिहिभायण।
पलियकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं॥ (नि०२६८)

तुलना—

'क्षुल्लक-आचारकथा' में जो अनाचार बतलाए हैं उनकी 'महाचार-कथा' से तुलना यों हो सकती है—

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक)
औद्देशिक क्रीतकृत नित्याग्र और अभ्याहृत	२	४८-४९
रात्रि-भोजन	२	२२-२५
स्नान	२	६०-६३
सन्निधि	३	१७-१८
गृहिपात्र	३	५ ५२
अग्नि समारम्भ	४	३२-३५
आसन्दी पर्यङ्क	५	५३ ५५
गृहान्तर निषद्या	५	५६ ५९
गात्र उद्वर्तन	५	६३
तप्तानिर्वृत भोजित्व	६	२९-३१
मूल शृङ्गबेर इक्षु-खण्ड कन्द मूल फल और बीज	७	४०-४२
सौवर्चल सैन्धव रुमालवण, सामुद्र पांशुक्षार और काला-लवण	८	२६-२८
धूम नेत्र, या धूपन	९	३२-३५ या ६४-६६
वमन बस्तीकर्म विरेचन अंजन दातौन और गात्र-अभ्यङ्ग	९	२१
विभूषा	९	६४ ६६

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि 'क्षुल्लक-आचार' का इस अध्ययन में सहेतुक निरूपण हुआ है।

इस अध्ययन का दूसरा नाम "धर्मार्थ काम" माना जाता रहा है। इसका कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता किन्तु सम्भव है कि इसी अध्ययन के चतुर्थ श्लोक में प्रयुक्त—'धम्मत्थकाम' शब्द के आधार पर यह प्रयुक्त होने लगा हो। 'धर्मार्थकाम' निर्ग्रन्थ का विशेषण है। धर्म का अर्थ है मोक्ष। उसकी कामना करने वाला 'धर्मार्थकाम' होता है।

'धम्मस्स फलं मोक्खो सासय मउलं सिवं अणाबाहं।
तमभिप्पेया साहू तम्हा धम्मत्थकामत्ति ॥" (नि २६५)

निर्ग्रन्थ धर्मार्थकाम होता है। इसीलिए उसका आचार-गोचर (क्रिया-कलाप) कठोर होता है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य यही है। इसलिए संभव है कि प्रस्तुत अध्ययन का नाम "धर्मार्थकाम" हुआ हो।

प्रस्तुत अध्ययन में अहिंसा परिग्रह आदि की परिष्कृत परिभाषाएँ मिलती हैं—

(१) अहिंसा—'अहिंसा सव्वभूएसु संजमो' (६-८)।

(२) परिग्रह—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' (६ २)।

यह अध्ययन प्रत्याख्यान प्रवाद नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है (नि १ १७)।

छट्ठमज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

महायारकहा : महाचारकथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं। गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥	ज्ञानदर्शनसंपन्नं, संयमे च तपसि रतम्। गणिमागमसंपन्नम्, उद्याने समवसृतम् ॥१॥	१-२—ज्ञान[1]-दर्शन[2] से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा[3] से युक्त गणी को उद्यान में[4] समवसृत देख राजा और उनके अमात्य[5], ब्राह्मण और क्षत्रिय[6] उन्हें नम्रतापूर्वक पूछते हैं—आपके आचार का विषय[7] कैसा है ?
२—रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया। पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं भे आयारगोयरो ? ॥	राजानो राजामात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः। पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं भवतामाचारगोचरः ॥२॥	
३—तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूयसुहावहो। सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥	तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः। शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥३॥	३—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शिक्षा में[8] समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हें बताते हैं—
४—हंदि धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे। आयारगोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ॥	हंदि धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मम। आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥४॥	४—मोक्ष चाहने वाले[10] निर्ग्रन्थों के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझसे सुनो।
५—नन्नत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं। विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं न भविस्सई ॥	नान्यत्र ईदृशमुक्तं, यल्लोके परम-दुश्चरम्। विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥५॥	५—मानव-जगत् के लिए इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है। मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा।
६—सखुड्डगवियत्ताणं वाहियाणं च जे गुणा। अखंडफुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥	सक्षुल्लक-व्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः। अखण्डास्फुटिता कर्तव्याः, तान् शृणुत यथा तथा ॥६॥	६—बाल, वृद्ध[11] अस्वस्थ या स्वस्थ—सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित[12] रूप से करनी चाहिए, उन्हें यथातथ रूप से सुनो।

७—दस अट्ठ य ठाणाइं
जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे
निग्गंथत्ताओ भस्सई॥

दशाष्टौ च स्थानानि,
यानि बालोऽपराध्यति।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने,
निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति॥७॥

७—आचार के अठारह स्थान हैं[११]। जो अज्ञ उनमें से किसी एक भी स्थान का अपराध (विराधना) करता है वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट होता है।

[वयछक्कं कायछक्कं
अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसेज्जा य
सिणाणं सोहवज्जणं॥]

[व्रतषट्कं कायषट्कं,
अकल्पो गृहि-भाजनम्।
पर्यङ्को निषद्या च
स्नानं शोभा-वर्जनम्॥]

[अठारह स्थान ये हैं—छह व्रत और छह काय। अकल्प्य गृहस्थ-पात्र पर्यंक, निषद्या स्नान और शोभा का वर्जन।]

८—तत्थिमं पढमं ठाणं
महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा
सव्वभूएसु संजमो॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं
महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणं दृष्टा
सर्वभूतेषु संयमः॥८॥

८—महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप से देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

९—जावंति लोए पाणा
तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा
न हणे णो वि घायए॥

यावन्तो लोके प्राणाः
त्रसा अथवा स्थावराः।
तान् जानन्नजानन् वा
न हन्यात् नो अपि घातयेत्॥९॥

९—लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराए।

१०—सव्वे जीवा वि इच्छंति
जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं
निग्गंथा वज्जयंति णं॥

सर्वे जीवा अपीच्छन्ति
जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात्प्राण-वधं घोरं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं'॥१०॥

१०—सभी जीव जीना चाहते हैं मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

११—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया
नो वि अन्नं वयावए॥

आत्मार्थं परार्थं वा
क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्,
नोऽप्यन्यं वादयेत्॥११॥

११—निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले न दूसरों से बुलवाए।

१२—मुसावाओ य लोगम्मि
सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं
तम्हा मोसं विवज्जए॥

मृषावादश्च लोके,
सर्वसाधुभिर्गर्हितः।
अविश्वास्यश्च भूतानां
तस्मान्मृषा विवर्जयेत्॥१२॥

१२—इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

१३—चित्तमतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि
ओग्गहंसि अजाइया ॥

चित्तवदचित्तं वा,
अल्पं वा यदि वा बहु।
दन्तशोधनमात्रमपि,
अवग्रहे अयाचित्वा ॥१३॥

१४—त अप्पणा न गेण्हंति
नो वि गेण्हावए परं।
अन्न वा गेण्हमाणं पि
नाणुजाणंति संजया ॥

तदात्मना न गृण्हन्ति,
नाऽपि ग्राहयन्ति परम्।
अन्यं वा गृण्हन्तमपि,
नानुजानन्ति संयता· ॥१४॥

१३-१४—सयमी मुनि सजीव या निर्जीव[२०], अल्प या बहुत[२१], दन्तशोधन[२२] मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वय ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नही करता।

१५—अबभचरियं घोरं
पमाय दुरहिट्ठियं।
नायरति मुणी लोए
भेयाययणवज्जिणो ॥

अब्रह्मचर्यं घोरं,
प्रमादं दुरधिष्ठितम्।
नाचरन्ति मुनयो लोके,
भेदायतन-वर्जिनः ॥१५॥

१५—अब्रह्मचर्य लोक में घोर[२३], प्रमाद-जनक[२४] और घृणा प्राप्त कराने वाला है[२५]। चरित्र-भङ्ग के स्थान से बचने वाले[२६] मुनि उसका आसेवन नही करते।

१६—मूलमेयमहम्मस्स
महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

मूलमेतद् अधर्मस्य,
महादोषसमुच्छ्रयम्।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं' ॥१६॥

१६—यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल[२७] और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के ससर्ग का वर्जन करते हैं।

१७—विडमुब्भेइमं लोणं
तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति,
नायपुत्तवओरया ॥

बिडमुद्भेद्यं लवणं,
तैलं सर्पिश्च फाणितम्।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति,
ज्ञातपुत्र-वचोरता· ॥१७॥

१७—जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिडलवण[२८], सामुद्र-लवण[२९], तैल, घी और द्रव-गुड[३०] का सग्रह[३१] करने की इच्छा नहीं करते।

१८—[३२]लोभस्सेसो अणुफासो
मन्ने अन्नयरामवि[३५]।
जे सिया[३६] सन्निहीकामे[३७]
गिही पव्वइए न से ॥

लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः,
मन्येऽन्यतरदपि।
य स्यात्सन्निधि-काम,
गृही प्रव्रजितो न सः ॥१८॥

१८—जो कुछ भी सग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव[३३] है—ऐसा मैं मानता हूँ[३४]। जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है।

१९—जं पि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा
धारंति परिहरंति य ॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम्।
तदपि संयमलज्जार्थं,
धारयन्ति परिदधते च ॥१९॥

१९—जो भी वस्त्र पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए[३८] ही रखते और उनका उपयोग करते हैं[३९]।

२०—न सो परिग्गहो वुत्तो
नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

न स परिग्रह उक्तः,
ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा (तायिना) ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः,
इत्युक्तं महर्षिणा ॥२०॥

२०—सब जीवों के त्राता महावीर ने[1] वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है[1]। मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने[1] कहा है।

२१—[11]सव्वत्थुवहिणा बुद्धा
संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं ॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः,
संरक्षणाय परिगृह्णन्ति ।
अप्यात्मनोऽपि देहे
नाचरन्ति ममायितम् ॥२१॥

२१—सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उपधि (एक दूष्य वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक बुद्ध जिनकल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२—अहो निच्चं तवोकम्मं
सव्वबुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य [1]लज्जासमा वित्ती
एगभत्तं च भोयणं ॥

अहो नित्यं तपःकर्म,
सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः
एक-भक्तं च भोजनम् ॥२२॥

२२—आश्चर्य है कि सभी तीर्थङ्करों ने श्रमणों के लिए नित्य तप-कर्म संयम के अनुकूल वृत्ति[1] (देह-पालना) और एक बार भोजन करने का उपदेश दिया है।

२३—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ॥

सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः
त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान्रात्रौ अपश्यन्
कथमेषणीयं चरेत् ॥२३॥

२३—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधिपूर्वक कैसे चल सकता है ?

२४—उदउल्लं बीयसंसत्तं
पाणा निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ? ॥

उदकार्द्रं बीजसंसक्तं
प्राणा निपतिता मह्याम् ।
दिवा तान् विवर्जयेत्,
रात्रौ तत्र कथं चरेत् ॥२४॥

२४—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है ?

२५—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइभोयणं ॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते
निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥२५॥

२५—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—"जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि भोजन नहीं करते चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।

२६—पुढविकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

पृथ्वीकायं न हिंसन्ति
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन
संयताः सुसमाहिताः ॥२६॥

२६—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

२७—पुढविकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

पृथ्वीकाय विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥२७॥

२७—पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

२८—तम्हा एयं[५०] वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकायसमारंभं[५१]
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेत विज्ञाय,
दोष दुर्गति-वर्द्धनम् ।
पृथ्वीकाय-समारम्भ,
यावज्जीव वर्जयेत् ॥२८॥

२८—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

२९—आउकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

अप्-काय न हिंसन्ति,
मनसा वाचा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन,
सयताः सुसमाहिताः ॥२९॥

२९—सुसमाहित सयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते ।

३०—आउकाय विहिंसंता
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अप्-काय विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥३०॥

३०—अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

३१—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेत विज्ञाय,
दोष दुर्गति-वर्द्धनम् ।
अप्-काय समारम्भ,
यावज्जीव वर्जयेत् ॥३१॥

३१—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे ।

३२—जायतेयं न इच्छंति
पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं
सव्वओ वि दुरासयं ॥

जात-तेजस नेच्छन्ति,
पावक ज्वालयितुम् ।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्र,
सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥३२॥

३२—मुनि जाततेज[५२] अग्नि[५३] जलाने की इच्छा नहीं करते । क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र[५४] और सब ओर से दुराश्रय है[५५] ।

३३—पाईणं पडिणं वा वि
उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि
दहे उत्तरओ वि य ॥

प्राच्यां प्रतीच्या वाऽपि,
ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि,
दहेदुत्तरतोऽपि च ॥३३॥

३३—वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अध दिशा और विदिशाओं में[५६] दहन करती है ।

२०—न सो परिग्गहो वुत्तो
नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

न स परिग्रह उक्तः,
ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा (तायिना) ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः,
इत्युक्तं महर्षिणा ॥२०॥

२० —सब जीवों के त्राता महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है[1] मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने[4] कहा है।

२१—[1]सव्वत्थुवहिणा बुद्धा
संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं ॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः,
संरक्षणाय परिगृह्णन्ति ।
अप्यात्मनोऽपि देहे,
नाचरन्ति ममायितम् ॥२१॥

२१—सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उपधि (एक दूष्य वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक बुद्ध जिनकल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२—अहो निच्चं तवोकम्मं
सव्वबुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य [1]लज्जासमा वित्ती
एगभत्तं च भोयणं ॥

अहो नित्यं तपःकर्म,
सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः
एक-भक्तं च भोजनम् ॥२२॥

२२—आश्चर्य है कि सभी तीर्थङ्करों ने श्रमणों के लिए नित्य तपः-कर्म संयम के अनुकूल वृत्ति[1] (देह-पालना) और एक बार भोजन करने का उपदेश किया है।

२३—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ॥

सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः
त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान्रात्रौ अपश्यन्
कथमेषणीयं चरेत् ॥२३॥

२३—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधिपूर्वक कैसे चल सकता है ?

२४—उदउल्लं बीयसंसत्तं
पाणा निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ॥

उदकार्द्रं बीजसंसक्तं
प्राणा निपतिता मह्याम् ।
दिवा तान् विवर्जयेत्,
रात्रौ तत्र कथं चरेत् ॥२४॥

२४—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है ?

२५—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइभोयणं ॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते
निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥२५॥

२५—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नहीं करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।

२६—पुढविकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

पृथ्वीकायं न हिंसन्ति
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन
संयताः सुसमाहिताः ॥२६॥

२६—सुसमाहित संयमी मन वचन काया—इस त्रिविध करण और कृत कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

४१—वणस्सइं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

वनस्पतिं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥४१॥

४१—वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४२—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वनस्पति-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४२॥

४२—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे।

४३—तसकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

त्रसकायं न हिंसन्ति,
मनसा वाचा कायेन।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥४३॥

४३—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते।

४४—तसकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

त्रसकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥४४॥

४४—त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तसकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
त्रसकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४५॥

४५—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४६—"जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा"—हारमाईणि[६७]।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥

यानि चत्वारि अभोज्यानि,
ऋषिणा आहारादीनि।
तानि तु विवर्जयन्,
संयम-मनुपालयेत् ॥४६॥

४६—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय[६५] हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे।

४७—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च,
चतुर्थं पात्रमेव च।
अकल्पिकं नेच्छेत्,
प्रतिगृण्हीयात् कल्पिकम् ॥४७॥

४७—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे[६८] किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे।

३४—भूयाणमेसमाघाओ
हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा
संजया किंचि नारभे॥

भूतानामेष आघातः,
हव्यवाहो न संशयः।
तं प्रदीपप्रतापार्थं,
संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ॥३४॥

३४—निस्सन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) जीवों के लिए आघात है। संयमी प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

३५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्धनम्।
तेजः काय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३५॥

३५—(अग्नि जीवों के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

३६—अनिलस्स समारंभं
बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं॥

अनिलस्य समारम्भं,
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्।
सावद्य-बहुलं चैतद्,
नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥३६॥

३६—तीर्थंकर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य ही मानते हैं। यह प्रचुर पाप-युक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है।

३७—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति
वीयावेऊण वा परं॥

तालवृन्तेन पत्रेण
शाखा-विधुवनेन वा।
न ते वीजितुमिच्छन्ति
वीजयितुं वा परेण ॥३७॥

३७—इसलिए वे बीजन, पत्र, शाखा और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते।

३८—जंपि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं।
न ते वायमुईरंति
जयं परिहरंति य॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा
कम्बलं पादप्रोञ्छनम्।
न ते वातमुदीरयन्ति
यतं परिहरन्ति च ॥३८॥

३८—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नहीं करते किन्तु यतना-पूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

३९—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वाउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए॥

तस्मादेतं विज्ञाय
दोषं दुर्गति-वर्धनम्।
वायुकाय-समारम्भं
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३९॥

३९—(वायु-समारम्भ सावद्य बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४०—वणस्सइं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया॥

वनस्पतिं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करण-योगेन
संयताः सुसमाहिताः ॥४०॥

४०—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इन त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते।

५५—गंभीरविजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलियका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥

गम्भीर विच (ज) या एते,
प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः ।
आसन्दी-पर्यङ्कश्च,
एतदर्थं विवर्जितौ ॥५५॥

५५—आसन्दी आदि गम्भीर-छिद्र वाले[82] होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है।

५६—गोयरग्गपविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायार
आवज्जइ अबोहियं ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
एतादृशमनाचार,
आपद्यते अबोधिकम ॥५६॥

५६—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को[83] प्राप्त होता है।

५७—[84]विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाण अवहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥

विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
प्राणानामवधे वध' ।
वनीपक-प्रतिघातः,
प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥५७॥

५७—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवध-काल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है।

५८—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
स्त्रीतश्चापि शङ्कनम ।
कुशीलवर्धन स्थान,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥५८॥

५८—(स्त्रियों के मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन करने वाले और उनके शयनासनों पर बैठने वाले मुनि का) ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[85] और स्त्री के प्रति भी शका उत्पन्न होती है[86]। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९—[87]तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥

त्रयाणामन्यतरकस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
जरयाऽभिभूतस्य,
व्याधितस्य तपस्विनः ॥५९॥

५९—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

६०—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कतो होइ आयारो
जढो हवइ सजमो ॥

व्याधितो वा अरोगी वा,
स्नान यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः,
त्यक्तो भवति सयमः ॥६०॥

६०—जो रोगी या नीरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार[88] का उल्लघन होता है, उसका सयम परित्यक्त[89] होता है।

६१—[90]संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः,
घसासु 'भिलुगासु' च ।
यांस्तु भिक्षुःस्नान्,
विकटेन उत्प्लावयति ॥६१॥

६१—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि[91] और दरार-युक्त भूमि में[92] सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से[93] स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है।

४८—जे नियाग ममायंति
कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

ये नित्याग्रं ममायन्ति,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वधं ते समनुजानन्ति
इत्युक्तं महर्षिणा ॥४८॥

४८—जो नित्याग्र (आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला) क्रीत (निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया) औद्देशिक (निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया) और आहृत (निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया) आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

४९—तम्हा असणपाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्मजीविणो ॥

तस्मादशनपानादि,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानः
निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ॥४९॥

४९—इसलिए धर्मजीवी स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं।

५०—कंसेसु कंसपाएसु
कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥

कांस्येषु कांस्य-पात्रेषु
'कुण्डमोदेषु' वा पुनः ।
भुञ्जानः अशनपानादि,
आचारात् परिभ्रश्यति ॥५०॥

५०—जो गृहस्थ के कांसे के प्याले, कांसे के पात्र और कुण्डमोद (कांसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन) में अशन, पान आदि खाता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

५१—सीओदगसमारंभे
मत्तधोयणछड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

शीतोदक-समारम्भे,
अमत्र-धावनच्छर्दने ।
यानि क्षण्यन्ते भूतानि,
दृष्टस्तत्रासंयमः ॥५१॥

५१—बरतनों को सचित्त जल से धोने में और बरतनों के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थङ्करों ने वहाँ असंयम देखा है।

५२—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं न भुंजंति
निग्गंथा गिहिभायणे ॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म,
स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जते
निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥५२॥

५२—गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने में 'पश्चात् कर्म' और 'पुरः कर्म' की संभावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। एतदर्थ वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते।

५३—आसंदीपलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ॥

आसन्दी-पर्यङ्कयोः,
मञ्चाशालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणा
आसितुं शयितुं वा ॥५३॥

५३—आर्यों के लिए आसन्दी, पलंग, मञ्च और आशालक (अवष्टम्भ सहित आसन) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है।

५४—नासंदीपलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए
बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥

नासन्दी-पर्यङ्कयोः
न निषद्यायां न पीठके ।
निर्ग्रन्थाः अप्रतिलेख्य,
बुद्धोक्ताधिष्ठातारः ॥५४॥

५४—तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित विधियों का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, आसन और पीढे का प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए।

५५—गंभीरविजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥

गम्भीर विच (ज) या एते,
प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः ।
आसन्दी-पर्यङ्कश्च,
एतदर्थं विवर्जितौ ॥५५॥

५५—आसन्दी आदि गम्भीर-छिद्र वाले[८२] होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है।

५६—गोयरग्गपविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
एतादृशमनाचार,
आपद्यते अबोधिकम् ॥५६॥

५६—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को[८३] प्राप्त होता है।

५७—[८४]विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाण अवहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥

विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
प्राणानामवधे वधः ।
वनीपक-प्रतिघातः,
प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥५७॥

५७—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवध-काल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है।

५८—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
स्त्रीतश्चापि शङ्कनम ।
कुशीलवर्धन स्थान,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥५८॥

५८—(स्त्रियों के मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन करने वाले और उनके शयनासनों पर बैठने वाले मुनि का) ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[८५] और स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है[८६]। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९—[८७]तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥

त्रयाणामन्यतरकस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
जरयाऽभिभूतस्य,
व्याधितस्य तपस्विनः ॥५९॥

५९—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

६०—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥

व्याधितो वा अरोगी वा,
स्नान यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः,
त्यक्तो भवति सयमः ॥६०॥

६०—जो रोगी या नीरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार[८८] का उल्लंघन होता है, उसका संयम परित्यक्त[८९] होता है।

६१—[९०]संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः,
घसासु 'भिलुगासु' च ।
याँस्तु भिक्षुःस्नान्,
विकटेन उत्प्लावयति ॥६१॥

६१—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि[९१] और दरार-युक्त भूमि में[९२] सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से[९३] स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है।

६२—तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा ॥

तस्मात्ते न स्नान्ति
शीतेन उष्णेन वा।
यावज्जीवं व्रतं घोरम्,
अस्नानमधिष्ठातारः ॥६२॥

६२—इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से[1] स्नान नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान व्रत का पालन करते हैं।

६३—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि ॥

स्नानमथवा कल्कं,
लोध्रं पद्मकानि च।
गात्रस्योद्वर्तनार्थं
नाचरन्ति कदाचिदपि ॥६३॥

६३—मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण[2], कल्क, लोध्र, पद्म-केसर[3] आदि का प्रयोग नहीं करते।

६४—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ॥

नग्नस्य वापि मुण्डस्य,
दीर्घरोमनखवतः।
मैथुनाद् उपशान्तस्य
किं विभूषया कार्यम् ॥६४॥

६४—नग्न[1], मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले[2] तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है?

६५—विभूसावत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥

विभूषाप्रत्ययं भिक्षुः
कर्म बध्नाति चिक्कणम्।
संसार-सागरे घोरे
येन पतति दुरुत्तरे ॥६५॥

६५—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।

६६—विभूसावत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥

विभूषा-प्रत्ययं चेतः
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्।
सावद्य-बहुलं चैतत्
नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥६६॥

६६—विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर पापयुक्त है। यह छःकाय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है।

६७—खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं
नवाइं पावाइं न ते करेंति ॥

क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः
तपसि रताः संयमार्जवे गुणे।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि,
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥६७॥

६७—अमोहदर्शी, तप, संयम और ऋजुतारूप गुण में रत मुनि शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और वे नए पाप नहीं करते।

६८—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ॥
—त्ति बेमि ॥

सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः
स्वविद्याविद्यानुगता यशस्विनः।
ऋतु-प्रसन्ने विमल इव चन्द्रमा
सिद्धिं विमानानि उपयान्ति त्रायिणः ॥
इति ब्रवीमि ॥

६८—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिञ्चन, आत्म विद्यायुक्त[1], यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के[2] चन्द्रमा की तरह मल रहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतंसक आदि विमानों को प्राप्त करते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. ज्ञान (नाण [क]) :

ज्ञान सम्पन्न के चार विकल्प होते हैं—

(१) दो ज्ञान से सम्पन्न—मति और श्रुत से युक्त।

(२) तीन ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत और अवधि से युक्त अथवा मति, श्रुत और मन पर्याय से युक्त।

(३) चार ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत, और मन पर्याय से युक्त।

(४) एक ज्ञान से सम्पन्न—केवल ज्ञान से युक्त।

आचार्य इन चारों में से किसी भी विकल्प से सम्पन्न हो सकते हैं[1]।

२. दर्शन (दंसण [क]) :

दर्शनावरण के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होने वाला सामान्यबोध दर्शन कहलाता है[2]।

३. आगम-सम्पन्न (आगमसंपन्नं [ग]) :

आगम का अर्थ श्रुत या सूत्र है। चतुर्दश-पूर्वी, एकादश अङ्गों के अध्येता या वाचक 'आगम-सपन्न' कहलाते हैं[3]। 'ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न'—इस विशेषण से प्राप्त विज्ञान की महत्ता और 'आगम-सम्पन्न' से दूसरों को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है। इसलिए ये दोनों विशेषण अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं[4]।

४. उद्यान में (उज्जाणम्मि [घ]) :

जहाँ क्रीड़ा के लिए लोग जाते हैं वह 'उद्यान' कहलाता है। यह उद्यान शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है[5]। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार 'उद्यान' का अर्थ क्रीडा उपवन है[6]। जीवाभिगम वृत्ति के अनुसार पुष्प आदि अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि में बहुजन उपभोग्य स्थान 'उद्यान' कहलाता है[7]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार उद्यान का अर्थ है—नगर के समीप का

१—अ० चू० नाण पचविह 'तन्थ त दोहिं वा मतिसुत्तेहिं, तिहिं वा मतिसुतावहीहिं अहवा मतिसुयमणपज्जवेहिं, चतुहिं वा मतिसुतावहीहिं मणपज्जवेहिं, एकेण वा केवलनाणसपण्ण।

२—जि० चू० पृ० २०७ दर्शन द्विप्रकार क्षायिक क्षायोपशमिक च, अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा सपन्नम्।

३—(क) अ० चू० आगमो सुतमेव अतो त चोद्दसपुव्वि एकारसगसुयधर वा।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ आगमसपन्न नाम वायग, एक्कारसग च, अन्न वा ससमयपरसमयवियाणग।

(ग) हा० टी० प० १९१ 'आगमसपन्न' विशिष्टश्रुतधर, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्।

४—अ० चू० नाणदसणसपण्णमिति एतेण आगत विण्णाणमाहप्प भण्णति। गणिआगमसपण्ण एतेण परग्गाहणसमत्थसपण्ण। सपण्णमिति सद्द पुणरुत्तमवि न भवति पढमे सय सपण्ण, वितिये परसवातगमेय।

५—हला० उद्याति क्रीडार्थमस्मिन्।

६—अ० चि० ४ १७८ आक्रीड पुनरुद्यानम्।

७—जीवा० वृ० सू० २५८ उद्यान—पुष्पादि सद्वृक्षसकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यम्।

श्लोक ६

११ बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताणं क):

खुड्डग (क्षुल्लक) का अर्थ बाल और वियत्त (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का शब्दार्थ है—सबालवृद्ध[1]।

१२ अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया ग):

टीकाकार के अनुसार आंशिक विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[2]। अगस्त्य सिंह स्थविर ने वैकल्पिक रूप से 'अखण्डफुल्ल' शब्द मान कर उसका अर्थ विकसित किया है[3]। अखण्डफुल्ल अर्थात् अविकल—सम्पूर्ण।

श्लोक ७

१३ आचार के अठारह स्थान हैं (दस अट्ठ य ठाणाइं क)

आचार के अठारह स्थान निम्नोक्त हैं

१ अहिंसा	१० वायुकाय-संयम
२ सत्य	११ वनस्पतिकाय-संयम
३ अचौर्य	१२ त्रसकाय संयम
४ ब्रह्मचर्य	१३ अकल्प वर्जन
५ अपरिग्रह	१४ गृहि-भाजन-वर्जन
६ रात्रि-भोजन त्याग	१५ पर्यंक-वर्जन
७ पृथ्वीकाय-संयम	१६ गृहान्तर निषद्या-वर्जन
८ अप्काय-संयम	१७ स्नान-वर्जन
९ तेजस्काय-संयम	१८ विभूषा-वर्जन

१४ श्लोक ७:

कुछ प्रतियों में आठवाँ श्लोक 'वयछक्कं' मूल में लिखा हुआ है किन्तु यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का श्लोक है। चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे निर्युक्ति के श्लोक के रूप में अपनी व्याख्या में स्थान दिया है[4]।

हरिभद्रसूरि भी इन दोनों निर्युक्ति-गाथाओं को उद्धृत करते हैं और प्रस्तुत गाथा के पूर्व लिखते हैं:

'कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः—
वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं" ॥ (हा० टी० प० १९६)

१—(क) अ० चू०: खुड्डगो—बालो वियत्तो—व्यक्त इति सह खुड्डगेहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता तेसिं।

(ख) जि० चू० पृ० २११: सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा वियत्ता नाम महल्ला तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' बालवुड्ढाणंति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १९५: सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालकैर्ये वर्तन्ते व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां सबालवृद्धानाम्।

२—हा० टी० प० १९५-९६: अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन।

३—अ० चू०: 'अखंडा' विसेसणं फुल्ला—फुल्ला अकारेण पडिसेहो उभयमनुसरति। ... अहवा विसेसणमेव अखंडफुल्लं।

४—(क) अ० चू०: निग्गंथोभावतो भवति एतस्स चेव अत्थस्स वित्थारणं इमा निज्जुत्ती—"अट्ठारस ठाणाइं" गाहा। ... तेसिं वित्थारणत्थमिमा निज्जुत्ती—"वयछक्कं कायछक्कं" गाहा।

(ख) जि० चू० पृ० २११: निग्गंथायारो भण्[illegible] नि पुण तव अत्थो [illegible] निज्जुत्तीए भण्णति तं—'अट्ठारस ठाणाइं' गाहा भाणियव्वा [illegible] पुण इमाए [illegible] निज्जुत्तीए भण्णइ—'वयछक्कं कायछक्कं'।

दोनों चूर्णियों में 'गिहिणिसेज्जा' ऐसा पाठ है जबकि टीका में केवल 'निसेज्जा' ही है।

कुछ प्राचीन आदर्शों में 'निर्युक्तिगाथेयम्' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया हुआ मिला है। सभव है पहले इस सकेत के साथ लिखा जाता था और बाद में मह सकेत छूट गया और वह मूल के रूप में लिखा जाने लगा।

वादिवेताल शान्तिसूरि ने इस श्लोक को शय्यंभव की रचना के रूप में उद्धृत किया है[1]।

समवायाङ्ग (१८) में यह सूत्र इस प्रकार है

"समणाण निग्गथाणं सखुड्डय-विअत्ताण अट्ठारस ठाणा प० त० वयछक्क ६, कायछक्क १२, अकप्पो १३, गिहिभायण १४। पलियक १५, निसिज्जा १६ य, सिणाण १७ सोभवज्जण"॥

श्लोक ८ :

१५. सूक्ष्म रूप से (निउणं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' का क्रिया विशेषण है[2]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार के अनुसार वह 'अहिंसा' का विशेषण है[3]।

श्लोक ९ :

१६. जान या अजान में (ते जाणमजाणं वा ग) :

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में या अजान में। जान बूझकर हिंसा करने वालों में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है[4]।

श्लोक ११ :

१७. क्रोध से (कोहा ख) :

मृषावाद के छ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य। दूसरे महाव्रत में क्रोध, लोभ, हास्य, और भय इन चारों का निर्देश है[5]। यहाँ क्रोध और भय इन दो कारणों का उल्लेख है। चूर्णि और टीका ने इनको सांकेतिक मानकर सभी कारणों को समझ लेने का सकेत दिया है।

१—उत्त० चू० वृ० पृ० २० शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्ककायछक्क" मित्यादिनाऽऽचारप्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम्।

२—अ० चू० निपुण—सव्वपाकार सव्वसत्तगता इति।

३—(क) जि० चू० पृ० २१७ 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे वाहिं अणववाएण, जे ण उद्देसियादीणि भुजति ते तहेव हिंसगा भवन्ति, जीवाजीवेहिं सजमोत्ति सव्वजीवेसु अविसेसेण सजमो जम्हा अओ अहिंसा जिणसासणे निउणा, ण अण्णत्थ।

(ख) हा० टी० प० १९६ 'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगत कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा।

४—(क) जि० चू० पृ० २१७ 'जाणमाणो' नाम जेसि चिंतेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ, अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं इदियाइणावी पमातेण घातयति।

(ख) हा० टी० प० १९६ तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण।

५—जि० चू० पृ० २१८ 'कोहग्गहणेण माणमायालोभावि गहिया।

६. क्षत्रिय (खत्तिया [ख]) :

अगस्त्यसिंह ने 'क्षत्रिय' का अर्थ 'राजन्य' आदि किया है[१]। जिनदास के अनुसार कोई राजा होता है, क्षत्रिय नहीं भी होता, कोई क्षत्रिय होता है राजा नहीं भी होता। यहाँ उन क्षत्रियों का उल्लेख है जो राजा नहीं हैं[२]। हरिभद्र ने 'क्षत्रिय' का अर्थ श्रेष्ठि आदि किया है[३]।

'राजन्य' का अर्थ राजवशीय या सामन्त तथा श्रेष्ठि का अर्थ ग्राम-महत्तर (ग्राम-शासक) या श्री देवताङ्कित-पट्ट धारण करने वाला है।

७. आचार का विषय (आयारगोयरो [घ]) :

आचार के विषय को 'आचार-गोचर' कहते हैं[४]। स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार साधु के आचार के अङ्गभूत छः व्रतों को 'आचार-गोचर' कहा जाता है। वहाँ आचार और गोचर का अर्थ स्वतन्त्र भाव से भी किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य यह पाँच प्रकार का आचार है। गोचर का अर्थ है भिक्षाचरी[५]।

श्लोक ३ :

८. शिक्षा में (सिक्खाए [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण और आसेवन। सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना ग्रहण शिक्षा है। आचार का सेवन और अनाचार का वजन आसेवन शिक्षा कहलाती है[६]।

श्लोक ४ :

९. (हंदि [क]) :

यह अव्यय है इसका अर्थ है उपदर्शन[७]।

१०. मोक्ष चाहने वाले (धम्मत्थकामाणं [क]) :

चारित्र आदि धर्म का प्रयोजन मोक्ष है। उसकी इच्छा करने वाले 'धर्मार्थकाम' कहलाते हैं[८]।

१—अ० चू० 'खत्तिया' राइण्णादयो।

२—जि० चू० पृ० २०८-९ 'खत्तिया' नाम कोइ राया भवइ ण खत्तियो अन्नो खत्तियो भवति, ण उ राया, तत्थ जे खत्तिया ण तेसिं गहणं कयं।

३—हा० टी० प० १९१ 'क्षत्रिया' श्रेष्ठ्यादय।

४—(क) अ० चू० आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो, गोयरो पुण विसयो।
(ख) हा० टी० प० १९१ 'आचारगोचर' क्रियाकलाप।

५—स्था० ८३ ६५१ प० ४१८ वृ० 'आचार' साधुसमाचारस्तस्य गोचरो—विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचर अथवा आचारश्चज्ञानादि-विषय पञ्चधा गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम्।

६—जि० चू० पृ० २०९ सिक्खा दुविधा, तजहा—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य, गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाण गहण, आसेवणासिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा तेसिं काएण, सफासण, अकरणिज्जाण य वज्जणया, एताए दुविहाए सिक्खाए सुट्ठु समाउत्तो।

७—हा० टी० प० १९२ 'हंदि' त्ति हन्दीत्युपप्रदर्शने।

८—हा० टी० प० १९२ धर्म—चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थ—प्रयोजन मोक्षस्त कामयन्ति—इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा—मुमुक्षवस्तेषाम्।

श्लोक ६

११ बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताण क):

क्षुद्रक (क्षुल्लक) का अर्थ बाल और व्यक्त (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का भावार्थ है—सबालवृद्ध[1]।

१२ अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया ग):

टीकाकार के अनुसार आंशिक विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[2]। अगस्त्य सिंह स्थविर ने वैकल्पिक रूप से 'खण्डफुल्ल' शब्द मान कर उसका अर्थ विकल किया है[3]। अखण्डफुल्ल अर्थात् अविकल—सम्पूर्ण।

श्लोक ७

१३ आचार के अठारह स्थान हैं (दस अट्ठ य ठाणाइं क)

आचार के अठारह स्थान निम्नोक्त हैं

१ अहिंसा	१० वायुकाय-संयम
२ सत्य	११ वनस्पतिकाय-संयम
३ अचौर्य	१२ त्रसकाय संयम
४ ब्रह्मचर्य	१३ अकल्प वर्जन
५ अपरिग्रह	१४ गृहि-भाजन-वर्जन
६ रात्रि-भोजन त्याग	१५ पर्यंक-वर्जन
७ पृथ्वीकाय-संयम	१६ गृहान्तर निषद्या-वर्जन
८ अप्काय-संयम	१७ स्नान-वर्जन
९ तेजस्काय-संयम	१८ विभूषा-वर्जन

१४ श्लोक ७

कुछ प्रतियों में आठवाँ श्लोक 'वयछक्कं' मूल में लिखा हुआ है किन्तु यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का श्लोक है। चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे निर्युक्ति के श्लोक के रूप में अपनी व्याख्या में स्थान दिया है[4]।

हरिभद्रसूरि भी इन दोनों निर्युक्ति-गाथाओं को उद्धृत करते हैं और प्रस्तुत गाथा के पूर्व लिखते हैं :

'कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः—
वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं' ॥ (हा टी प १९६)

१—(क) अ चू : खुड्डगो—बालो वियत्तो—वुड्ढ इति सखुड्डेहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता तेसिं।
(ख) जि चू पृ २११ : सह खुड्डेहिं सखुड्डगा वियत्ता नाम महल्ला तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' बालवुड्ढाणंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा टी प १९५ : सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालैर्ये व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां सबालवृद्धानाम्।

२—हा टी प १९५-९६ : अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन।

३—अ चू : 'खंडा' विकला फुल्ला-भट्टा अकारेण पडिसेहो उभयमनुसरति. ... अहवा विकलमेव खंडफुल्लं।

४—(क) अ चू : निव्वंधोभावणतो भवति ठाणस्स पय अत्थस्स वित्थारत्थं इमा निज्जुत्ती—"अट्ठारस ठाणाइं" गाहा। ... विवरणमिमा निज्जुत्ती—"वयछक्कं कायछक्कं" गाहा।
(ख) जि चू पृ २११ : निग्गन्थभावाओ भवइ (भट्ठ) त्ति एस चव अत्थो पच्छाउसियनिज्जुत्तीए भण्णति तं०—'अट्ठारस ठाणाइं' ... गाहा व्याख्या ... कयराणि पुण अट्ठारस ठाणाइं? एत्थ इमाए पच्छाउसियनिज्जुत्तीए भण्णइ—'वयछक्कं कायछक्कं'।

दोनों चूर्णियों में 'गिहिणिसेज्जा' ऐसा पाठ है जबकि टीका में केवल 'निसेज्जा' ही है।

कुछ प्राचीन आदर्शों में 'निर्युक्तिगाथेयम्' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया हुआ मिला है। सभव है पहले इस सकेत के साथ लिखा जाता था और वाद में मह सकेत छूट गया और वह मूल के रूप में लिखा जाने लगा।

वादिवेताल शान्तिसूरि ने इस श्लोक को शय्यभव की रचना के रूप में उद्धृत किया है[१]।

समवायाङ्ग (१८) में यह सूत्र इस प्रकार है ·

"समणाण निग्गथाण सखुड्डय-विअत्ताण अट्ठारस ठाणा प० त० वयछक्क ६, कायछक्क १२, अकप्पो १३, गिहिभायणं १४। पलियक १५, निसिज्जा १६ य, सिणाणं १७ सोभवज्जणं" ॥

श्लोक ८ :

१५. सूक्ष्म रूप से (निउणं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' का क्रिया विशेषण है[२]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार के अनुसार वह 'अहिंसा' का विशेषण है[३]।

श्लोक ९ :

१६. जान या अजान में (ते जाणमजाणं वा ग) :

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में या अजान में। जान बूझकर हिंसा करने वालों में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है[४]।

श्लोक ११ :

१७. क्रोध से (कोहा ख) :

मृषावाद के छ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य। दूसरे महाव्रत में क्रोध, लोभ, हास्य, और भय इन चारों का निर्देश है[५]। यहाँ क्रोध और भय इन दो कारणों का उल्लेख है। चूर्णि और टीका ने इनको सांकेतिक मानकर सभी कारणों को समझ लेने का सकेत दिया है।

१—उत्त० बृ० वृ० पृ० २० शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्ककायछक्क" मित्यादिनाऽऽचारप्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम्।

२—अ० चू० निपुण—सव्वपाकार सव्वसत्तगता इति।

३—(क) जि० चू० पृ० २१७ 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे वाहि अणववाएण, जे ण उद्देसियादीणि भुजति ते तहेव हिंसगा भवन्ति, जीवाजीवेहि सजमोत्ति सव्वजीवेसु अविसेसेण सजमो जम्हा अओ अहिंसा जिणसासणे निउणा, ण अण्णत्थ।

(ख) हा० टी० प० १९६ 'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगत कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा।

४—(क) जि० चू० पृ० २१७ 'जाणमाणो' नाम जेसि चिंतेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ, अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं इदियाइणावी पमातेण घातयति।

(ख) हा० टी० प० १९६ तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुद्ध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण।

५—जि० चू० पृ० २१८ कोहग्गहणेण माणमायालोभावि गहिया।

श्लोक ६

११ बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताणं क) :

खुड्डग (क्षुद्रक) का अर्थ बाल और वियत्त (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का शब्दार्थ है—सबालवृद्ध[१]।

१२ अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया ग)

टीकाकार के अनुसार आंशिक विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[२]। अगस्त्य सिंह स्थविर ने वैकल्पिक रूप से 'अखण्डस्फुटित' शब्द मान कर उसका अर्थ विकल किया है[३]। अखण्डस्फुटित अर्थात् अविकल—सम्पूर्ण।

श्लोक ७

१३ आचार के अठारह स्थान हैं (दस अट्ठ य ठाणाइं क) :

आचार के अठारह स्थान निम्नोक्त हैं :

१ अहिंसा	१० वायुकाय-संयम
२ सत्य	११ वनस्पतिकाय-संयम
३ अचौर्य	१२ त्रसकाय-संयम
४ ब्रह्मचर्य	१३ अकल्प्य वर्जन
५ अपरिग्रह	१४ गृहि-भाजन-वर्जन
६ रात्रि-भोजन त्याग	१५ पर्यंक-वर्जन
७ पृथ्वीकाय-संयम	१६ गृहान्तर निषद्या-वर्जन
८ अप्काय-संयम	१७ स्नान-वर्जन
९ तेजस्काय-संयम	१८ विभूषा-वर्जन

१४ श्लोक ७

कुछ प्रतियों में आठवाँ श्लोक 'वयछक्कं' मूल में लिखा हुआ है किन्तु यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का श्लोक है। चूर्णिकार और टीकाकार ने इस निर्युक्ति के श्लोक के रूप में अपनी व्याख्या में स्थान दिया है[४]।

हरिभद्रसूरि भी इन दोनों निर्युक्ति-गाथाओं को उद्धृत करते हैं और प्रस्तुत गाथा के पूर्व लिखते हैं :

'कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः—
वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं" ॥ (हा० टी० प० १९६)

१—(क) अ० चू० : खुड्डगो—बालो वियत्तो—व्यत्तः इति सखुड्डेहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता तेसिं।
(ख) जि० चू० पृ० २११ : सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा वियत्ता नाम महल्ला तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' बालवुड्ढाणंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १९५ : सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालकैर्ये वर्तन्ते व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां सबालवृद्धानाम्।

२—हा० टी० प० १९५-९६ : अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन।

३—अ० चू० : 'अखंडा' [illegible] ... अहवा विफलमव अखंडफुल्लं।

४—(क) अ० चू० : निग्गंथधम्माधारो भवति [illegible] वित्थारेण इमा निज्जुत्ती—"अट्ठारस ठाणाइं" गाहा। [illegible] इति वित्थरत्थमिमा निज्जुत्ती—"वयछक्कं कायछक्कं" गाहा।
(ख) जि० चू० पृ० २११ : निग्गंथधम्माधारो [illegible] निज्जुत्तीए भवति [illegible]—'अट्ठारस ठाणाइं' [illegible] कयराणि पुण अट्ठारस ठाणाइं ? [illegible] निज्जुत्तीए भवइ—'वयछक्कं कायछक्कं'।

अपद ये 'चित्तवान्' और हिरण्य आदि अचित्त हैं[१]।

२१. अल्प या बहुत (अप्पं······बहुं ख) :

अल्प और बहुत के प्रमाण और मूल्य की दृष्टि से चार विकल्प बनते हैं :

(१) प्रमाण से अल्प मूल्य से बहुत।

(२) प्रमाण से बहुत मूल्य से अल्प।

(३) प्रमाण से अल्प मूल्य से अल्प।

(४) प्रमाण से बहुत मूल्य से बहुत।

मुनि इनमें से किसी भी विकल्प वाली वस्तु को स्वामी की आज्ञा लिए बिना ग्रहण न करे[२]।

२२. दन्त-शोधन (दंतसोहणं ग) :

चरक में 'दन्तशोधन' को दन्तपवन और दन्तविशोधन कहा है[३]। वृद्ध वाग्भट ने इसे दन्तधावन कहा है[४]। मिलिन्द पञ्ह में इसके स्थान में दन्तपोण और दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन में दन्तवण का प्रयोग हुआ है।

श्लोक १५ :

२३. घोर (घोरं क) :

घोर का अर्थ भयानक[५] या रौद्र है। अब्रह्मचारी के मन में दया का भाव नहीं रहता। अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त मनुष्य के लिए ऐसा कोई भी कार्य नहीं होता जिसे वह न कह सके या कर सके। अर्थात् अब्रह्मचारी रौद्र बन जाता है। इसीलिए अब्रह्मचर्य को 'घोर' कहा गया है[६]।

२४. प्रमाद-जनक (पमायं ख) :

अब्रह्मचर्य इन्द्रिय का प्रमाद है[७]। अब्रह्मचर्य से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। यह सब प्रमादों का मूल है। इसमें आसक्त मनुष्य का सारा आचार और क्रिया-कलाप प्रमादमय या भूलों से परिपूर्ण बन जाता । इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा गया है[८]।

१—जि० चू० पृ० २१८-१९ चित्त नाम चेतणा भगणइ, सा च चेतणा जस्स अत्थि त चित्तमत भण्णइ त दुपय चउप्पय अपय वा होज्जा, 'अचित्त' नाम हिरण्णादि।

२—जि० चू० पृ० २१९ अप्प नाम पमाणओ मुल्लओ य, बहुमवि पमाणओ मुल्लओ य।

३—च० सूत्र अ० ५ ७१-७२।

४—च० पूर्वभाग पृ० ४९।

५—अ० चू० घोर भयाणग।

६—(क) जि० चू० पृ० २१९ घोर नाम निरणुक्कोस, कह ?, अबभपवत्तो हि ण किंचि त अकिच्च ज सो न भणइ।

(ख) हा० टी० प० १९८ 'घोर' रौद्र रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्।

७—अ० चू० स एवइदियप्पमातो।

८—(क) जि० चू० पृ० २१९ जम्हा एतेण पमत्तो भवति अतो पमाद भणइ, त च सव्वपमादाण आदी, अहवा सव्व चरणकरण तमि वट्टमाणे पमादेतित्ति।

(ख) हा० टी० प० १९८ 'प्रमादं' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्।

अपद ये 'चित्तवान्' और हिरण्य आदि अचित्त हैं[१]।

२१. अल्प या बहुत (अप्पं······बहुं ख) :

अल्प और बहुत के प्रमाण और मूल्य की दृष्टि से चार विकल्प बनते हैं :

(१) प्रमाण से अल्प मूल्य से बहुत।

(२) प्रमाण से बहुत मूल्य से अल्प।

(३) प्रमाण से अल्प मूल्य से अल्प।

(४) प्रमाण से बहुत मूल्य से बहुत।

मुनि इनमें से किसी भी विकल्प वाली वस्तु को स्वामी की आज्ञा लिए बिना ग्रहण न करे[२]।

२२. दन्त-शोधन (दंतसोहणं ग) :

चरक में 'दन्तशोधन' को दन्तपवन और दन्तविशोधन कहा है[३]। वृद्ध वाग्भट ने इसे दन्तधावन कहा है[४]। मिलिन्द पन्ह में इसके स्थान में दन्तपोण और दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन में दन्तवण का प्रयोग हुआ है।

श्लोक १५ :

२३. घोर (घोरं क) :

घोर का अर्थ भयानक[५] या रौद्र है। अब्रह्मचारी के मन में दया का भाव नहीं रहता। अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त मनुष्य के लिए ऐसा कोई भी कार्य नहीं होता जिसे वह न कह सके या कर सके। अर्थात् अब्रह्मचारी रौद्र बन जाता है। इसीलिए अब्रह्मचर्य को 'घोर' कहा गया है[६]।

२४. प्रमाद-जनक (पमायं ख) :

अब्रह्मचर्य इन्द्रिय का प्रमाद है[७]। अब्रह्मचर्य से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। यह सब प्रमादों का मूल है। इसमें आसक्त मनुष्य का सारा आचार और क्रिया-कलाप प्रमादमय या भूलों से परिपूर्ण बन जाता । इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा गया है[८]।

१—जि० चू० पृ० २१८-१९ चित्त नाम चेतणा भएणइ, सा च चेतणा जस्स अत्थि त चित्तमत भण्णइ त दुपय चउप्पय अपय वा होज्जा, 'अचित्त' नाम हिरण्णादि।

२—जि० चू० पृ० २१९ अप्प नाम पमाणओ मुल्लओ य, बहुमवि पमाणओ मुल्लओ य।

३—च० सूत्र अ० ५ ७१-७२।

४—च० पूर्वभाग पृ० ४६।

५—अ० चू० घोर भयाणग।

६—(क) जि० चू० पृ० २१९ घोर नाम निरणुक्कोस, कह ?, अबंभपवत्तो हि ण किंचि त अकिच्चं ज सो न भणइ।

(ख) हा० टी० प० १९८ 'घोर' रौद्र रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्।

७—अ० चू० स एवइदियप्पमातो।

८—(क) जि० चू० पृ० २१९ जम्हा एतेण पमत्तो भवति अतो पमादं भणइ, त च सव्वपमादाण आदी, अहवा सव्व चरणकरण तमि वट्टमाणे पमादेतित्ति।

(ख) हा० टी० प० १९८ 'प्रमाद' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्।

२५ घृणा प्राप्त कराने वाला है (दुरहिट्ठियं ग):

अब्रह्मचर्य घृणा प्राप्त कराने वाला होता है इसलिए उसे 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[1]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अब्रह्मचर्य जुगुप्सित जनों के द्वारा अधिष्ठित—आश्रित है[2]। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि अब्रह्मचर्य जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का हेतु है—यह जानने वाले के लिए वह सहजतया आसेवनीय नहीं होता। इसलिए उसे संयति के लिए 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[3]।

२६ चरित्र भंग के स्थान से बचने वाले (भेयाययणवज्जिणो घ):

चरित्र भेद का आयतन (स्थान) मैथुन है। इसका वर्जन करने वाले 'भेदायतनवर्जी' कहलाते हैं[4]।

श्लोक १६

२७ मूल (मूलं क):

मूल, बीज और प्रतिष्ठान—ये एकार्थक शब्द हैं[5]।

श्लोक १७

२८ बिडलवण (बिडं क):

यह कृत्रिम लवण गोमूत्र आदि में पकाकर तैयार किया जाता है। अतः वह प्रासुक ही होता है[6]।

२९ सामुद्र-लवण (उब्भेइमं क):

अकृत्रिम लवण दो प्रकार का होता है—

(१) समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला।

(२) खानों से निकलने वाला।

यहाँ 'सामुद्रिक' लवण का ग्रहण किया है। यह अप्रासुक होता है[7]।

१—जि० चू० पृ० २११: दुरहिट्ठियं नाम दुगुंछं णावहइ दुरहिट्ठियंतोत्ति दुरहिट्ठियं।

२—अ० चू०: 'दुरहिट्ठियं' दुगुंछियाधिट्ठियं।

३—हा० टी० प० १९६: 'दुराश्रयं' दुरनुचरं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्।

४—(क) जि० चू० पृ० २११: भिज्जइ जेण चारित्तं सो भेओ तस्स भेयस्स बहूणि आयतणं मेहुणंति तं भेयायतणं वज्जंति।

(ख) हा० टी० प० १९८: भेद—चारित्रभेदस्तस्यायतनं—स्थानमेतदब्रह्म तद्वर्जिनः—चारित्रातिचारभीरवः।

५—जि० चू० पृ० २११: मूलं नाम बीयंति वा पइट्ठाणंति वा मूलंति वा एगट्ठा।

६—(क) अ० चू०: 'बिडं' तं पागकतं तं फासुगं।

(ख) जि० चू० पृ० : बिडं (च) गोमुत्तादीहि पचिऊण किज्जइ ... अहवा बिडग्गहणेण पागकोत्थणं गहणं कयं।

(ग) हा० टी० प० १९८: 'बिडं' गोमूत्रादिपक्वम्।

७—(क) अ० चू०: 'उब्भेइमं' सामुद्दं ति लवणागरेसु समुप्पज्जति तं अफासुगं।

(ख) हा० टी० प० १ : 'उद्भेद्यं' सामुद्रादि।

(ग) जि० चू० पृ० : उब्भेइमग्गहणेण सामुद्दादीण गहणं कयं।

३०. द्रव-गुड़ (फाणियं [ख]) :

अगस्त्यसिंह ने 'फाणित' का अर्थ इक्षु-विकार और हरिभद्र ने द्रव-गुड़ किया है[1]।

भावप्रकाश के अनुसार कुछ गाढ और बहुत तरल ऐसे पकाए हुए ईख के रस को 'फाणित' कहा जाता है[2]।

३१. संग्रह (सन्निहिं [ग]) :

लवण आदि वस्तुओं का सग्रह करना, उन्हें अपने पास रखना या रात को रखना 'सन्निधि' कहलाता है[3]। जो लवण आदि द्रव्य चिरकाल तक रखे जा सकते हैं उन्हें अविनाशी द्रव्य और जो दूध, दही थोड़े समय तक टिकते हैं उन्हें विनाशी द्रव्य कहा जाता है। यहाँ अविनाशी द्रव्यों के सग्रह को 'सन्निधि' कहा है[4]। निशीथ-चूर्णि के अनुसार विनाशी द्रव्य के सग्रह को 'सन्निधि' और अविनाशी द्रव्य के सग्रह को 'सञ्चय' कहा जाता है[5]।

श्लोक १८ :

३२ श्लोक १८ :

व्यवहार भाष्य की टीका में आचार्य मलयगिरि ने इस श्लोक के स्थान पर दशवैकालिक का उल्लेख करते हुए जो श्लोक उद्धृत किया है, उसके प्रथम तीन चरण इससे सर्वथा भिन्न हैं।

वह इस प्रकार है—"यत् दशवैकालिके उक्तमशन पान खादिम तथा सचय न कुर्यात् तथा च तद्ग्रन्थः—

असण पाणग चेव, खाइम साइम तहा।
जे भिक्खू सन्निहिं कुज्जा, गिही पव्वइए न से ॥" (व्य० उ० ५ गा० ११४)

३३. प्रभाव (अणुफासो [घ]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अनुस्पर्श' का अर्थ अनुसरण या अनुगमन किया है[6] और जिनदास महत्तर ने अनुभाव-सामर्थ्य या प्रभाव किया है[7]।

१—(क) अ० चू० 'फाणित' उच्छुविकारो।
　(ख) हा० टी० प० १९८ फाणित द्रवगुड़।

२—शा० नि० भू० पृ० १०८४ इक्षोरसस्तु य· पक्व· किञ्चिद्गाढोबहुद्रव।
　स एवेक्षुविकारेषु ख्यात फाणितसज्ञया॥

३—(क) जि० चू० पृ० २२० 'सन्निधि' नाम एतेसिं दव्वाण जा परिवासणा सा सन्निधी भण्णति।
　(ख) हा० टी० प० १९८ 'सनिधि कुर्वन्ति' पर्युषित स्थापयन्ति।

४—जि० चू० पृ० २२० एताणि अविणासिदव्वाणि न कप्पति, किमग पुण रसादीणि विणासिदव्वाणित्ति ?, एवमादि सण्णिधि न ते साधवो भगवन्तो णायपुत्तस्स वयणे रया इच्छति।

५—नि० चू० उ० ८ सू० १७ चू० सन्निही णाम दधिखीरादि ज विणासि दव्व, ज पुण घयतेल्ल-वत्थ-पत्त-गुल-खड-सक्कराइय अविणासि दव्व, चिरमवि अच्छइ ण विणस्सइ, सो सचतो।

६—अ० चू० अणुसरणमणुगमो अणुफासो।

७—जि० चू० पृ० २२० अणुफासो नाम अणुभावो भण्णति।

पानी के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का विधान किया गया है।

लज्जा के निमित्त 'चोलपट्टक' रखने का विधान है।

व्याख्याकारों ने सयम और लज्जा को अभिन्न भी माना है। वहाँ 'सयम की रक्षा के लिए'—यह एक ही प्रयोजन फलित होता है[1]।

३९. रखते और उनका उपयोग करते हैं (धारंति परिहरंति घ) :

प्रयोजन होने पर इसका मैं उपयोग करूँगा—इस दृष्टि से रखना 'धारण' कहलाता है और वस्त्र आदि का स्वय परिभोग करना 'परिहरण' कहलाता है[2]। यह सामयिक धातु का प्रयोग है। इस धातु का लौकिक अर्थ छोड़ना होता है और सामयिक अर्थ है पहनना[3]।

श्लोक २० :

४०. महावीर ने (नायपुत्तेण ख) :

भगवान् महावीर का एक नाम 'नायपुत्त'—ज्ञातपुत्र भी है। यह नाम पितृवश से सबन्धित है। भगवान् के लिए ज्ञात, ज्ञातकुल-निवृ'त्त और ज्ञातकुलचन्द्र आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् के पिता सिद्धार्थ को 'ज्ञातकुल निवृ'त्त' नाम से सम्बोधित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् के कुल का नाम 'ज्ञात' था। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर के अनुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों का एक कुल या जाति है। 'ज्ञात' शब्द से वे ज्ञातकुल-उत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और 'ज्ञातपुत्र' से भगवान् का[4]।

आचाराङ्ग (२ १५) में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है। भगवान् इक्ष्वाकुवश में उत्पन्न हुए थे यह भी माना जाता है[5]। भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवशी और काश्यपगोत्री थे। इसलिए वे आदि-काश्यप कहलाते हैं। भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवशी और काश्यपगोत्री थे। ज्ञात या ज्ञातृ काश्यपगोत्रियों का अवान्तर भेद रहा होगा।

हरिभद्रसूरि ने 'ज्ञात' का अर्थ उदार-क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है[6]। बौद्ध-साहित्य में भगवान् के लिए 'नातपुत्त' शब्द का अनेक स्थलों में प्रयोग हुआ है[7]। प्रो० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि लिच्छवियों की एक शाखा या वश का नाम 'नाय' (नात)

१—(क) जि० चू० पृ० २२१ एतेसि वत्यादीण ज धारण तमवि, सजमनिमित्त वा वत्थस्स गहण कीरइ, मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादि दोसा भविस्सति, पाताभावेऽवि ससत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्सति, कम्बल वासकप्पादी त उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जानिमित्त चोलपट्टको घेप्पति, अहवा सजमो चेव लज्जा, भणित च—"इह तो लज्जा नाम लज्जामतो भगणइ, सजममतोत्ति वुत्तं भवति", एताणि वत्थादीणि सजमलज्जट्ठा।

(ख) हा० टी० प० १९९ 'सयमलज्जार्थ' मिति सयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुपमात्रेण गृहस्थभाजने सति सयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्र, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्ट श्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्ते', अथवा सयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयति।

२—जि० चू० पृ० २२१ तत्थ धारणा णाम सपयोअणत्थ धारिज्जइ, जहा उप्पएणे पयोयणे एत परिभुजिस्सामित्ति, एसा धारणा, परिहरणा नाम जा सय वत्थादी परिभुंजइ सा परिहरणा भएणइ।

३—हा० टी० प० १९९ 'परिहरन्ति च—'परिभुञते च'।

४—(क) अ० चू० णायकुलप्पभूयसिद्धत्थखत्तियसुतेण।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ णाया नाम खत्तियाण जातिविसेसो, तम्मि सभूओ सिद्धत्थो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो।

५—अ० चि० १ ३५ · इक्ष्वाकुकुलसम्भूता· स्याद्द्वाविंशतिरर्हताम्।

६—हा० टी० प० १९९ ज्ञात—उदारक्षत्रिय सिद्धार्थ· तत्पुत्रेण।

७—(क) म० नि० १ २ ४, ३ १ ४।

(ख) स० नि० ३ १ १।

३४ मैं मानता हूँ (मन्ने ग) :

यह क्रिया है। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका कर्ता शय्यम्भव है[1]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका कर्ता तीर्थंकर है[2]। हरिभद्र सूरी के अभिमत में प्राकृत-शैली के अनुसार इसका पुरुष परिवर्तन होता है[3]।

३५ (अन्नयरामवि ग) :

चूर्णिकार के अनुसार यह सामान्य निर्देश है इसलिए इसका लिङ्ग नपुंसक है[4]। हरिभद्र सूरी ने इसे सन्निधि का विशेषण माना है[5]। किन्तु 'सन्निधि' पुल्लिङ्ग-शब्द है इसलिए यह चिन्तनीय है।

३६ (सिया घ)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने सिया को क्रिया माना है[6]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरी ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है[7]।

३७ (सन्निहीकामे घ) :

चूर्णिकारों ने 'सन्निधिकाम' यह एक शब्द माना है[8]। टीकाकार ने 'कामे' को क्रिया माना है। उनके अनुसार 'सन्निहिं कामे' ऐसा पाठ बनता है[9]।

श्लोक १९

३८ संयम और लज्जा की रक्षा के लिए (संजमलज्जट्ठा घ) :

यहाँ वस्त्र पात्र कम्बल और पाद-प्रोञ्छन रखने के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—

(१) संयम के निमित्त।

(२) लज्जा के निमित्त।

शीतकाल में शीत से पीड़ित होकर मुनि अग्नि सेवन न करे; उसके लिए वस्त्र रखने का विधान किया गया है। पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए पात्र रखने का विधान किया गया है।

१—अ० चू० : मन्नामि त्ति गणहरो सयं वा अत्ताणं अभिप्पायमाह—मन्ने—एवं जाणामि।

२—जि० चू० पृ० २ : मन्ने नाम तित्थंकरो वा एवमाह।

३—हा० टी० प० १९८ : 'मन्ने' मन्यन्ते प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरगणधराः।

४—(क) अ० चू० : अन्नतरामिति—विरालीयं किंचि तहा अण्णं णिद्दिसति।

(ख) जि० चू० पृ० २ : अन्नतरं नाम तिण्हमवि भागमेक्कमवि अहवा अन्नतरं असणादी।

५—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि।

६—अ० चू० : 'सियादिति भवेत् कदाचि'।

७—(क) जि० चू० पृ० २१ : 'सिया कदापि'।

(ख) हा० टी० प० १९८ : 'न स्यात्' न कदाचित्।

८—(क) अ० चू० : सन्निधी अभिलासो तं कामयतीति—सन्निधी—कामो।

(ख) जि० चू० पृ० २ : सन्निधिं कामयतीति सन्निधिकामी।

९—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि 'न स्यात्' न कदाचिदपि 'कामयते' सेवते।

पानी के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का विधान किया गया है ।

लज्जा के निमित्त 'चोलपट्टक' रखने का विधान है ।

व्याख्याकारों ने सयम और लज्जा को अभिन्न भी माना है । वहाँ 'सयम की रक्षा के लिए'—यह एक ही प्रयोजन फलित होता है[1] ।

३६. रखते और उनका उपयोग करते हैं (धारंति परिहरंति [घ]) :

प्रयोजन होने पर इसका मैं उपयोग करूँगा—इस दृष्टि से रखना 'धारण' कहलाता है और वस्त्र आदि का स्वय परिभोग करना 'परिहरण' कहलाता है[2] । यह सामयिक धातु का प्रयोग है । इस धातु का लौकिक अर्थ छोडना होता है और सामयिक अर्थ है पहनना[3] ।

श्लोक २० :

४०. महावीर ने (नायपुत्तेण [ख]) :

भगवान् महावीर का एक नाम 'नायपुत्त'—ज्ञातपुत्र भी है । यह नाम पितृवश से सबन्धित है । भगवान् के लिए ज्ञात, ज्ञातकुल-निवृ॔त्त और ज्ञातकुलचन्द्र आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं । भगवान् के पिता सिद्धार्थ को 'ज्ञातकुल निवृ॔त्त' नाम से सम्बोधित किया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् के कुल का नाम 'ज्ञात' था । अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर के अनुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों का एक कुल या जाति है । 'ज्ञात' शब्द से वे ज्ञातकुल-उत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और 'ज्ञातपुत्र' से भगवान् का[4] ।

आचाराङ्ग (२ १५) में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है । भगवान् इक्ष्वाकुवश में उत्पन्न हुए थे यह भी माना जाता है[5] । भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवशी और काश्यपगोत्री थे । इसलिए वे आदि-काश्यप कहलाते हैं । भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवशी और काश्यपगोत्री थे । ज्ञात या ज्ञातृ काश्यपगोत्रियों का अवान्तर भेद रहा होगा ।

हरिभद्रसूरि ने 'ज्ञात' का अर्थ उदार-क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है[6] । बौद्ध-साहित्य में भगवान् के लिए 'नातपुत्त' शब्द का अनेक स्थलों में प्रयोग हुआ है[7] । प्रो० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि लिच्छवियों की एक शाखा या वश का नाम 'नाय' (नात)

१—(क) जि० चू० पृ० २२१ एतेसिं वत्थादीण ज धारण तमवि, सजमनिमित्त वा वत्थस्स गहण कीरइ, मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादि दोसा भविस्सति, पाताभावेऽवि ससत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्सति, कम्बल वासकप्पादी त उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जानिमित्त चोलपट्टको घेप्पति, अहवा सजमो चेव लज्जा, भणित च—"इह तो लज्जा नाम लज्जामतो भण्णइ, सजममतोत्ति वुत्तं भवति", एताणि वत्थादीणि सजमलज्जट्ठा ।

(ख) हा० टी० प० १९९ 'सयमलज्जार्थं' मिति सयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति सयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्र, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्ट श्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्ते, अथवा सयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्-वस्त्रादि धारयति ।

२—जि० चू० पृ० २२१ तत्थ धारणा णाम सपयोअणत्थ धारिज्जइ, जहा उप्पण्णे पयोयणे एत परिभुजिस्सामित्ति, एसा धारणा, परिहरणा नाम जा सय वत्थादी परिभुंजइ सा परिहरणा भण्णइ ।

३—हा० टी० प० १९९ 'परिहरन्ति च—'परिभुञ्जते च' ।

४—(क) अ० चू० णायकुलप्पभूयसिद्धत्थखत्तियसुतेण ।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ णाया नाम खत्तियाण जातिविसेसो, तम्मि सभूओ सिद्धत्थो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो ।

५—अ० चि० १ ३५ : इक्ष्वाकुकुलसम्भूता स्याद्द्वाविंशतिरर्हताम् ।

६—हा० टी० प० १९९ ज्ञात—उदारक्षत्रिय सिद्धार्थ तत्पुत्रेण ।

७—(क) म० नि० १२४, ३१४ ।

(ख) स० नि० ३११ ।

कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख किया है[1]। इसी प्रकार एषणा-समिति की व्याख्या में वस्त्र का उल्लेख है[2]। स्थानाङ्ग में पाँच कारणों से अचेलता को प्रशस्त बतलाया है। वहाँ चौथे कारण को तप और पाँचवें कारण को महान् इन्द्रिय-निग्रह कहा है[3]। संक्षेप में यही पर्याप्त होगा कि अवस्था-भेद के अनुसार अचेलता और सचेलता दोनों विहित हैं। परिग्रह का प्रश्न शेष रहता है। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो लेना मात्र परिग्रह है। स्थानाङ्ग में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भाण्डोपकरण[4]। बन्धन की दृष्टि से विचार करने पर परिग्रह की परिभाषा मूर्च्छा है। सूत्रकार ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखे जाते हैं वे संयम-साधना में उपकारी होते हैं इसलिए धर्मोपकरण कहलाते हैं। वे परिग्रह नहीं हैं। उनके धारण करने का हेतु मूर्च्छा नहीं है। सूत्रकार ने उनके रखने के दो प्रयोजन बतलाए हैं—संयम और लज्जा। स्थानाङ्ग में प्रयोजन का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन हैं—लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और परीषह—शीत, उष्ण और मच्छर आदि से बचाव करना[5]। प्रश्न व्याकरण में संयम के उपग्रह तथा वात, आतप, दंश और मच्छर से बचने के लिए उपधि रखने का विधान किया है[6]।

४२. महर्षि (गणधर) ने (महेसिणा [घ]) :

जिनदास महत्तर ने 'महर्षि' का अर्थ गणधर या मनक के पिता शय्यंभव किया है और हरिभद्रसूरि ने केवल 'गणधर किया है[7]।

श्लोक २१ :

४३. श्लोक २१ :

इस श्लोक का अर्थ दोनों चूर्णिकार एक प्रकार का करते हैं[8]। अनुवाद उन्हीं की व्याख्या के अनुसार किया गया है। टीकाकार का अर्थ इनसे भिन्न है। वे बुद्ध का अर्थ जिन नहीं, किन्तु तत्त्व-वित् साधु करते हैं[9]। चूर्णिकारों ने 'परिग्गहे' को क्रिया माना है[10]। टीकाकार ने 'परिग्गहे' को सप्तमी विभक्ति माना है[11]। सर्वत्र का अर्थ चूर्णि में अतीत-अनागत-काल और सर्व भूमि किया

१—प्र० प्र० १४५
किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा॥

२—त० भा० ६ ५ अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम्—एषणा-समिति।

३—स्था० ५ ३ ४५५ पर्चाहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तजहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।

४—स्था० ३ १ १३८ तिविहे परिग्गहे प० त० कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

५—स्था० ३ ३ १७१ तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तजहा हिरिपत्तिय दुगुछापत्तिय, परीसहवत्तिय।

६—प्रश्न (संवरद्वार १) एयपि संजमस्स उवग्गहणट्ठयाए वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहितं परिहरियव्वं।'

७—(क) जि० चू० पृ० २२१ गणधरा मणगपिया वा एवमाहु।
(ख) हा० टी० प० १९९ 'महर्षिणा' गणधरेण, सूत्रे सेज्जंभव आहेति।

८—अ० चू० सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा, बुद्धा-जिणा। स्वाभाविकमिदं जिणलिंगमिति सव्वे वि एगदूसेण निग्गता पत्तेयबुद्ध-जिणकप्पियादयोवि रयहरणमुहणंतगविणा सह संजमसारक्खणत्थे परिग्गहे ण मुच्छानिमित्ते। तंमि विज्जमाणे वि भगवतो मुच्छं न गच्छतीति अपरिग्गहा। कह च ते भगवतो उवकरणे मुच्छं काहिंति जे जयत्थमुवकरणं धारिज्जति तंमि वि अप्पणो वि देहंमि णाचरति ममाइत्तं।

९—हा० टी० प० १९९ 'बुद्धा' यथावद्विदितवस्तुतत्त्वा साधवः।

१०—जि० चू० पृ० २२२ 'संरक्खणपरिग्गहो' नाम संजमरक्खणणिमित्तं परिगिण्हंति।

११—हा० टी० प० १९९ 'संरक्षणपरिग्रहे' इति संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः।

कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख किया है[1]। इसी प्रकार एषणा-समिति की व्याख्या में वस्त्र का उल्लेख है[2]। स्थानाङ्ग में पाँच कारणों से अचेलता को प्रशस्त बतलाया है। वहाँ चौथे कारण को तप और पाँचवें कारण को महान् इन्द्रिय-निग्रह कहा है[3]। संक्षेप में यही पर्याप्त होगा कि अवस्था-भेद के अनुसार अचेलता और सचेलता दोनों विहित हैं। परिग्रह का प्रश्न शेष रहता है। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो लेना मात्र परिग्रह है। स्थानाङ्ग में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भाण्डोपकरण[4]। बन्धन की दृष्टि से विचार करने पर परिग्रह की परिभाषा मूर्च्छा है। सूत्रकार ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखे जाते हैं वे संयम-साधना में उपकारी होते हैं इसलिए धर्मोपकरण कहलाते हैं। वे परिग्रह नहीं हैं। उनके धारण करने का हेतु मूर्च्छा नहीं है। सूत्रकार ने उनके रखने के दो प्रयोजन बतलाए हैं—संयम और लज्जा। स्थानाङ्ग में प्रयोजन का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन हैं—लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और परीषह—शीत, उष्ण और मच्छर आदि से बचाव करना[5]। प्रश्न व्याकरण में संयम के उपग्रह तथा वात, आतप, दंश और मच्छर से बचने के लिए उपधि रखने का विधान किया है[6]।

४२. महर्षि (गणधर) ने (महेसिणा घ) :

जिनदास महत्तर ने 'महर्षि' का अर्थ गणधर या मनक के पिता शय्यंभव किया है और हरिभद्रसूरि ने केवल 'गणधर किया है[7]।

श्लोक २१ :

४३. श्लोक २१ :

इस श्लोक का अर्थ दोनों चूर्णिकार एक प्रकार का करते हैं[8]। अनुवाद उन्हीं की व्याख्या के अनुसार किया गया है। टीकाकार का अर्थ इनसे भिन्न है। वे बुद्ध का अर्थ जिन नहीं, किन्तु तत्त्व-वित् साधु करते हैं[9]। चूर्णिकारों ने 'परिग्गहे' को क्रिया माना है[10]। टीकाकार ने 'परिग्गहे' को सप्तमी विभक्ति माना है[11]। सर्वत्र का अर्थ चूर्णि में अतीत-अनागत-काल और सर्व भूमि किया

१—प्र० प्र० १४५

किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्य वा॥

२—त० भा० ६ ५ अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम्—एषणा-समिति।

३—स्था० ५ ३ ४५५ पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तजहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।

४—स्था० ३ १ १३८ तिविहे परिग्गहे प० त० कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

५—स्था० ३ ३ १७१ तिहिं ठाणेहिं वत्थ धरेज्जा, तजहा हिरिपत्तिय दुगुछापत्तित, परीसहवत्तिय।

६—प्रश्न (सवरद्वार १) एयपि सजमस्स उवग्गहणट्ठयाए वातातवदसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहित परिहरियव्व।'

७—(क) जि० चू० पृ० २२१ गणधरा मणगपिया वा एवमाहु।
(ख) हा० टी० प० १९९ 'महर्षिणा' गणधरेण, सूत्रे सेज्जभव आहेति।

८—अ० चू० सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा, बुद्धा-जिणा। स्वाभाविकमिदं जिणलिंगमिति सव्वे वि एगदूसेण निग्गता पत्तेयबुद्ध-जिणकप्पियादयोवि रयहरणमुहणत गतिणा सह सजमसारक्खणत्थे परिग्गहे ण मुच्छानिमित्ते। तमि विज्जमाणे वि भगवतो मुच्छ न गच्छतीति अपरिग्गहा। कह च ते भगवतो उवकरणे मुच्छ काहिति जे जयत्थमुवकरण धारिज्जति तमि वि अप्पणो वि देहमि णाचरति ममाइत।

९—हा० टी० प० १९९ 'बुद्धा' यथावद्विदितवस्तुतत्त्वा साधव।

१०—जि० चू० पृ० २२२ 'सरक्खण परिग्गहो' नाम सजमरक्खणणिमित्त परिगिण्हवि।

११—हा० टी० प० १९९ 'सरक्षणपरिग्रह' इति सरक्षणाय षण्णा जीवनिकायाना वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति [illegible]

है[1]। टीकाकार ने सर्वत्र का अभिप्राय उचित क्षेत्र और काल माना है[2]। टीका के अनुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है— "उचित क्षेत्र और काल में आगमोक्त उपधि-सहित संयत मुनि छह जीवनिकाय के संरक्षण के लिए वस्त्र आदि का परिग्रह होने पर भी उसमें ममत्व नहीं करते। और तो क्या ? वे अपने देह पर भी ममत्व नहीं करते।"

श्लोक २२

४४ आश्चर्य है नित्य तपः कर्म (अहो निच्चं तवोकम्मं क)

जिनदास ने अहो शब्द के तीन अर्थ किए हैं :

(१) दीनभाव।
(२) विस्मय।
(३) आमंत्रण।

उनके अनुसार अहो शब्द यहाँ विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]। टीकाकार का भी यही अभिमत है[4]।

आर्य-शय्यंभव या गणधरों ने इस नित्य तपः कर्म पर आश्चर्य अभिव्यक्त किया है[5]। तपः कर्म का अर्थ तप का अनुष्ठान है[6]।

४५ (जा य ग) :

दोनों चूर्णियों में 'जाय (जा च)[7] और टीका में याव' (यावत्) पाठ मानकर व्याख्या की है[8]।

४६ संयम के अनुकूल वृत्ति (लज्जासमा वित्ती ग) :

यह वृत्ति का विशेषण है। लज्जा का अर्थ है संयम। मुनि की वृत्ति—जीविका संयम के अनुरूप या अविरोधी होती है इसलिए उसे 'लज्जासमा'[9] कहा गया है।

४७ एक बार भोजन (एगभत्तं च भोयणं घ)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'एक-भक्त-भोजन' का अर्थ एक बार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है[10]। उक्त वाक्य

१—जि० चू० पृ० २२१ : सव्वेसु अतीतानागतेसु सव्वभूमिपरुपि।
२—हा० टी० प० १९९ : 'सर्वत्र' उचिते क्षेत्रे काले च।
३—जि० चू० पृ० २२२ : अहो सद्दो तिसु अत्थेसु वट्टइ तं जहा—दीणभावे विम्हए आमंतणे, तत्थ दीणभावे जहा अहो अहमिति अहो विम्हए अहो सोहणं एयमादी आमंतणे जहा अहो देवदत्ता एवमादि, एत्थ पुण अहो सद्दो विम्हए दट्ठव्वो।
४—हा० टी० प० १९९ : अहो—विस्मये।
५—अ० चू० : अज्जसेज्जंभवो गणहरा वा एवमाहंसु—अहो णिच्चं तवोकम्मं।
६—(क) अ० चू० : 'तवोकम्मं' तवोकरणं।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : निच्चं नाम निच्चं, 'तवोकम्मं' तवो कीरमाणो।
(ग) हा० टी० प० १९९ : नित्यं नामापायाभावेन तदन्यगुणवृद्धिसंभवात्प्रतिपातेन तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानम्।
७—(क) अ० चू० : जा इति विभी अहेसक्का चकारो समुच्चये।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : 'जा' इति अणिद्देसिया चकारो समुच्चये।
८—हा० टी० प० १९९ : यावल्लज्जासमा।
९—(क) अ० चू० : लज्जा-संजमो। लज्जासमा संजमाणुविरोहेण।
(ख) हा० टी० प० १९९ : लज्जा—संयमस्तेन समा—सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः।
१०—अ० चू० : एगवारं भोयणं एगभत्तं वा राग-दोस रहियस्स भोयणं।

रचना में यह प्रश्न शेष रहता है कि एक वार कब खाया जाए ? इस प्रश्न का समाधान दिवस शब्द का प्रयोग कर जिनदास महत्तर कर देते हैं[1]। टीकाकार द्रव्य-भाव की योजना के साथ चूर्णिकार के मत का ही समर्थन करते हैं[2]।

काल के दो विभाग हैं—दिन और रात। रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसीलिये इसे सतत तप कहा गया है। शेष रहा दिवस-भोजन। प्रश्न यह है कि दिवस-भोजन को एक-भक्त-भोजन माना जाए या दिन में एक वार खाने को ? चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से दिन में एक वार खाना एक-भक्त-भोजन है। आचार्य वट्टकेर ने भी इसका अर्थ यही किया है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्त तु॥
(मूलाचार—मूल गुणाधिकार ३५)

'सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन घड़ी छोडकर या मध्यकाल में एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त्त काल में एक वार भोजन करना, यह एक-भक्त-मूल मूल-गुण है।'

स्कन्दपुराण को भी इसका यही अर्थ मान्य है[3] महाभारत में वानप्रस्थ भिक्षु को एक वार भिक्षा लेनेवाला और एक वार भोजन करने वाला कहा है[4]। मनुस्मृति[5] और वशिष्ठ स्मृति[6] में भी एक वार के भोजन का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन (२७ १२) के अनुसार सामान्यत. एक वार तीसरे पहर में भोजन करने का क्रम रहा है। पर यह विशेष प्रतिज्ञा रखने वाले श्रमणों के लिए था या सबके लिए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु आगमों के कुछ अन्य स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि यह क्रम सबके लिए या सब स्थितियों में नहीं रहा है। जो निर्ग्रन्थ सूर्योदय से पहले आहार लेकर सूर्योदय के वाद उसे खाता है वह 'क्षेत्राति-क्रान्त' पान-भोजन है[7]। निशीथ (१० ३१-३६) के 'उग्गयवित्तीए' और 'अणत्थमियमणसकप्पे' इन दो शब्दों का फलित यह है कि भिक्षु का भोजन-काल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के वीच का कोई भी काल हो सकता है। यही आशय दशवैकालिक के निम्न श्लोक में मिलता है—

अत्थगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइय सव्व मनसा वि न पत्थए॥ (८ २८)

तात्पर्य यह है कि यदि केवल तीसरे पहर में ही भोजन करने का सार्वदिक विधान होता तो सूर्योदय या सूर्यास्त हुआ है या नहीं—ऐसी विचिकित्सा का प्रसग ही नहीं आता और न 'क्षेत्राति-क्रान्त' पान-भोजन ही होता। पर ऐसी विचिकित्सा की स्थिति का भगवती, निशीथ और बृहत्कल्प में उल्लेख हुआ है। इससे जान पडता है कि भिक्षुओं के भोजन का समय प्रात काल और साय-काल भी रहा है। ओघनिर्युक्ति में विशेष स्थिति मे प्रात, मध्याह्न और साय इन तीनों समयों में भोजन करने की अनुज्ञा मिलती है[8]। इस प्रकार 'एक-भक्त-भोजन' के सामान्यत एक वार का भोजन, और विशेष परिस्थिति में दिवस-भोजन—ये दोनों अर्थ मान्य रहे हैं।

१—जि० चू० पृ० २२२ एगस्स रागदोसरहियस्स भोअण अहवा इक्कवार दिवसओ भोयणति।
२—हा० टी० प० १६६ द्रव्यत एकम्—एकसख्यानुगत, भावत एक—कर्मबन्धाभावादद्वितीय, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति।
३—दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्।
एक भक्तमिति प्रोक्त, रात्रौ तन्न कदाचन॥
४—महा० शा० २४५ ६ सकृदन्ननिषेविता।
५—म० स्मृ० ६ ५५ एककाल चरेद्भैक्षम्।
६—व० स्मृ० ३ १६८ ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्।
७—भग० ७ १ सू० २१ जेण निग्गथो वा निग्गथी वा फासुएसणिज्जेण असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहार आहारेति, एस ण गहणेसणा ? खेत्तातिकते पाणभोयणे।
८—ओ० नि० गा० २५० भाष्य गा० १४८-१४६।

है[1]। टीकाकार ने सर्वत्र का अभिप्राय उचित क्षेत्र और काल माना है[2]। टीका के अनुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है— "उचित क्षेत्र और काल में आगमोक्त उपधि-सहित तत्त्वज्ञ मुनि छह जीवनिकाय के संरक्षण के लिए वस्त्र आदि का परिग्रह होने पर भी उसमें ममत्व नहीं करते। और तो क्या ! वे अपने देह पर भी ममत्व नहीं करते।"

श्लोक २२

४४ आश्चर्य है नित्य तपः कर्म (अहो निच्चं तवोकम्मं क) :

जिनदास ने अहो शब्द के तीन अर्थ किए हैं

(१) दीनभाव।
(२) विस्मय।
(३) आमंत्रण।

उनके अनुसार 'अहो' शब्द यहाँ विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]। टीकाकार का भी यही अभिमत है[4]।

आर्य शय्यंभव या गणधरों ने इस 'नित्य तपः कर्म' पर आश्चर्य अभिव्यक्त किया है[5]। तपः कर्म का अर्थ तप का अनुष्ठान है[6]।

४५ (जा य ग)

दोनों चूर्णियों में[7] 'जाव' (या च) और टीका में 'जाव' (यावत्) पाठ मानकर व्याख्या की है[8]।

४६ संयम के अनुकूल वृत्ति (लज्जासमा वित्ती घ) :

यह वृत्ति का विशेषण है। लज्जा का अर्थ है संयम। मुनि की वृत्ति—जीविका संयम के अनुरूप या अविरोधी होती है इसलिए उसे 'लज्जासमा'[9] कहा गया है।

४७ एक बार भोजन (एगभत्तं च भोयणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'एक-भक्त भोजन' का अर्थ एक बार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है[10]। उक्त व्याख्या-

---

१—जि० चू० पृ० २२१ : सव्वेह अतीतानागतसु सव्वभूमिएसुवि।

२—हा० टी० प० १९९ : 'सर्वत्र' उचिते क्षेत्रे काले च।

३—जि० चू० पृ० २२१ : अहो सद्दो तिसु अत्थेसु वट्टइ, तं जहा—दीणभावे विम्हए आमंतणे, तत्थ दीणभावे जहा अहो अहमिति, जहा विम्हए अहो सोहणं एवमादी, आमंतणे जहा आगच्छ अहो देवदत्तादि एवमादि, एत्थ पुण अहो सद्दो विम्हए दट्ठव्वो।

४—हा० टी० प० १९९ : अहो—विस्मये।

५—अ० चू० : अहो धम्मो भगवतो गणहरा वा एवमाहंसु—अहो निच्चं तवोकम्मं।

६—(क) अ० चू० : 'तवोकम्मं' तवोकरणं।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ : निच्चं नाम निच्चं, 'तवोकम्मं' तवो कीरमाणो।

(ग) हा० टी० प० १९९ : नित्यं नामापायाभावेन तत्त्वानुबद्धिः अप्रतिपातेन तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानम्।

७—(क) अ० चू० : जा इति विती विसेसणं चकारो समुच्चये।

(ख) जि० चू० पृ० २२२ : 'जा' इति अविसेसिया चकारो सावेक्खे।

८—हा० टी० प० १९९ : यावल्लज्जासमा।

९—(क) अ० चू० : लज्जा-संजमो। लज्जासमा संजमाणुविरोहेण।

(ख) हा० टी० प० १९९ : लज्जा—संयमस्तेन समा—सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः।

१०—अ० चू० : एगवारं भोयणं भुज्जस्स वा राग-दोस रहियस्स भोयणं।

५३. अग्नि (पावगं ख) :

लौकिक मान्यता के अनुसार जो हुत किया जाता है वह देवताओं के पास पहुँच जाता है इसलिए वह 'पावग' (प्रापक) कहलाता है। जैन दृष्टि के अनुसार 'पावक' का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जो जलाता है वह 'पावक' है[१]। यह अग्नि का पर्यायवाची नाम है और 'जाततेज' इसका विशेषण है। टीकाकार के अनुसार 'पावग' का संस्कृत रूप 'पापक' और उसका अर्थ अशुभ है। वे 'जाततेज' को अग्नि का पर्यायवाची नाम और 'पापक' को उसका विशेषण मानते हैं[२]।

५४. दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र (तिक्खमन्नयरं सत्थं ग) :

जिससे शासन किया जाए उसे शस्त्र कहते हैं। कुछ एक शस्त्र एक धार, दो धार, तीन धार, चार धार और पाँच धार वाले होते हैं। किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब तरफ से धार वाला शस्त्र है। एक धार वाले परशु, दो धार वाले शलाका या एक प्रकार का बाण, तीन धार वाली तलवार, चार धार वाले चतुष्कर्ण और पाँच धार वाले अजानुफल होते हैं। इन सब शस्त्रों में अग्नि जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है[३]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'तिक्खमन्नयरा सत्था' ऐसा पाठ होना चाहिए। इससे व्याख्या में भी बड़ी सरलता होती है। 'तिक्खमन्नयरा सत्था' अर्थात् अन्यतर शस्त्रों से तीक्ष्ण।

'तिक्खमन्नयर सत्थ' पाठ मान कर जो व्याख्या हुई है वह कुछ जटिल बन पड़ी है—'तिक्खमन्नयरं सत्थ' अर्थात् अन्यतर शस्त्र—सबसे तीक्ष्ण शस्त्र अथवा सर्वतोधार[४] शस्त्र। अन्यतर का अर्थ प्रधान है[५]।

५५. सब ओर से दुराश्रय है (सव्वओ वि दुरासयं घ) :

अग्नि सर्वतोधार है इसीलिए उसे सर्वतो दुराश्रय कहा गया है। इसे अपने आश्रित करना दुष्कर है[६]। इसकी दुराश्रयता का वर्णन ३३वें श्लोक में है।

श्लोक ३३ :

५६. विदिशाओं में (अणुदिसां ख) :

एक दिग् से दूसरी दिग् के अन्तरित आकाश को अनुदिशा या विदिशा कहते हैं[७]। यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है[८]।

१—(क) अ० चू० पावग—हव्व, सुराण पावयतीति पावक —एव लोइया भणति। वय पुण अविसेसेण उ हणइति पावक त पावकम्।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ लोइयाण पुण ज हूयइ त देवसगास (पावइ) अओ पावगो भण्णइ।

२—हा० टी० प० २०१ जाततेजा—अग्नि त जाततेजस नेच्छन्ति मन प्रभृतिभिरपि 'पापक' पाप एव पापकस्त, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभम्।

३—(क) अ० चू० 'त सत्थ एकधार ईलिमादि, दुधार कणयो, तिधारो तरवारी, चउधार चउकण्णओ सव्वओ धार गहण विरहित चक्क अग्गी समततो सव्वतोधार एवमण्णतरातो सत्थतो तिक्खयाए सव्वतो धारता'।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ सासिज्जइ जेण त सत्थ, किंचि एगधार, दुधार, तिधार, चउधार, पचधार, सव्वतोधार नत्थि मोत्तुमगणिमेग, तत्थ एगधार परसु, दुधार कणयो, तिधार असि, चउधार तिपक्षतो कणीयो, पचधार अजाणुफल, सव्वओ धार अग्गी, एतेहि एगधारदुधारतिधारचउधारपचधारेहि सत्थेहि अण्ण नत्थि सत्थ अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति।

४—हा टी० प० २०१ 'तीक्ष्ण' छेदकरणात्मकम् 'अन्यतरत् शस्त्र' सर्वशस्त्रम्, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भाव।

५—अ० चू० अण्णतराओत्ति पधाणाओ।

६—(क) जि० चू० पृ० २२४ सव्वओवि दुरासय नाम एत सत्थ सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रय।
(ख) हा० टी० प० २०१ सवतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति।

७—अ० चू० 'अणुदिसाओ'—अतरदिसाओ।

८—हा० टी० प० २०१ 'सुपां सुपो भवन्ती' ति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

श्लोक २४

४८ उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन (उदउल्लं बीयसंसत्तं ^क) :

'उदउल्ल' के द्वारा स्निग्ध आदि (५।१।३३-३४ के) सभी शब्दों का संग्रहण किया जा सकता है[1]।

बीज और 'संसक्त' शब्द की व्याख्या संयुक्त और वियुक्त दोनों रूपों में मिलती है। बीज से संसक्त ओदन आदि—यह संयुक्त व्याख्या है। बीज' और 'संसक्त'—किसी सजीव वस्तु से मिला हुआ कांजी आदि—यह इसकी वियुक्त व्याख्या है[2]।

४९ (महिं ^क)

यहाँ सप्तमी के स्थान में द्वितीया विभक्ति है।

श्लोक २८

५० (एय ^क)

टीकाकार ने 'एय' का संस्कृत रूप 'एतत्'[3] (५।१।११), 'एनं'[4] (५।२।४९), 'एतं'[5] (६।२५) और 'एवं'[6] (६।२८) किया है। यद्यपि इसके संस्कृत रूप ये सभी बन सकते हैं फिर भी अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'एवं' की अपेक्षा 'एतं' अधिक संगत है। यह 'दोष' शब्द का विशेषण है।

५१ समारम्भ (समारंभ ^ख) :

समारंभ का अर्थ आलेखन आदि किया है[7]। आलेखन आदि की जानकारी के लिए देखिए टिप्पणी सं० ७२-७३ (४।१८) पृ० १९१-९२।

श्लोक ३२

५२ आप्ततेज (आयतेयं ^क) :

जो जन्म-काल से ही तेजस्वी हो वह 'आप्ततेज' कहलाता है। सूर्य 'आप्ततेज' नहीं होता। वह उदय-काल में शान्त और मध्याह्न में तीव्र होता है। स्वयं परिकर्म से तेजस्वी बनता है इसलिए वह 'आप्ततेज' नहीं कहलाता। जो परिक्रम के बिना उत्पत्ति के साथ-साथ ही तेजस्वी हो उसे 'आप्ततेज' कहा जाता है[8]। अग्नि उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है। इसीलिए उसे 'आप्ततेज' कहा गया है[9]।

१—हा० टी० प० १८५ : उदकार्द्रं पूर्ववदुदकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्सस्निग्धादिपरिग्रहः।

२—हा० टी० प० : 'बीजसंसक्तं' बीजैः संसक्तं—मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते अथवा बीजानि पृथग्भूतान्येव संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति।

३—हा० टी० प० १६५ : 'तम्हा' एवं विजाणिया—तस्मादेतत् विज्ञाय।

४—हा० टी० प० १८ : एवं च दोसं दट्ठूणं—एनं च दोषम्—अनन्तरोदितम्।

५—हा० टी० प० : एवं च दोसं दट्ठूणं—'एतं च' अनन्तरोदितम्।

६—हा० टी० प० : तम्हा एवं वियाणित्ता—तस्मादेवं विज्ञाय।

७—हा० टी० प० : समारम्भमालेखनादि।

८—अ० चू० : जात एव जम्मकाल एव तेजस्सी ण तहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झे तिव्वो।

९—जि० चू० पृ० २२३ : जायतेजो नाम तजमुप्पत्तीसमनन्तर जस्स सो जायतेयो भवति जहा उप्पत्तीयो परिकम्मणाविसेसेण तेयनिम्मलो भवति ण तहा जायतेयस्स।

५३. अग्नि (पावगं ^ख) :

लौकिक मान्यता के अनुसार जो हुत किया जाता है वह देवताओं के पास पहुँच जाता है इसलिए वह 'पावग' (प्रापक) कहलाता है। जैन दृष्टि के अनुसार 'पावक' का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जो जलाता है वह 'पावक' है[1]। यह अग्नि का पर्यायवाची नाम है और 'जाततेज' इसका विशेषण है। टीकाकार के अनुसार 'पावग' का सस्कृत रूप 'पापक' और उसका अर्थ अशुभ है। वे 'जाततेज' को अग्नि का पर्यायवाची नाम और 'पापक' को उसका विशेषण मानते हैं[2]।

५४. दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र (तिक्खमन्नयरं सत्थं ^ग) :

जिससे शासन किया जाए उसे शस्त्र कहते हैं। कुछ एक शस्त्र एक धार, दो धार, तीन धार, चार धार और पाँच धार वाले होते हैं। किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब तरफ से धार वाला शस्त्र है। एक धार वाले परशु, दो धार वाले शलाका या एक प्रकार का बाण, तीन धार वाली तलवार, चार धार वाले चतुष्कर्ण और पाँच धार वाले अजानुफल होते हैं। इन सब शस्त्रों में अग्नि जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है[3]। अगस्त्य चूर्णि के अनुमार 'तिक्खमन्नयरा सत्था' ऐसा पाठ होना चाहिए। इससे व्याख्या में भी वड़ी सरलता होती है। 'तिक्खमन्नयरा सत्था' अर्थात् अन्यतर शस्त्रों से तीक्ष्ण।

'तिक्खमन्नयर सत्य' पाठ मान कर जो व्याख्या हुई है वह कुछ जटिल बन पड़ी है—'तिक्खमन्नयर सत्थ' अर्थात् अन्यतर शस्त्र—सबसे तीक्ष्ण शस्त्र अथवा सर्वतोधार[4] शस्त्र। अन्यतर का अर्थ प्रधान है[5]।

५५. सब ओर से दुराश्रय है (सव्वओ वि दुरासय ^घ) :

अग्नि सर्वतोधार है इसीलिए उसे सर्वतो दुराश्रय कहा गया है। इसे अपने आश्रित करना दुष्कर है[6]। इसकी दुराश्रयता का वर्णन ३३वें श्लोक में है।

श्लोक ३३ :

५६. विदिशाओं में (अणुदिसां ^ख) :

एक दिग् से दूसरी दिग् के अन्तरित आकाश को अनुदिशा या विदिशा कहते हैं[7]। यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है[8]।

१—(क) अ० चू० पावग—हव्व, सुराण पावयतीति पावक —एव लोइया भणति। वय पुण अविसेसेण उ हणइति पावक त पावकम्।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ लोइयाण पुण ज हूयइ त देवसगास (पावइ) अओ पावगो भण्णइ।

२—हा० टी० प० २०१ जाततेजा—अग्नि त जाततेजस नेच्छन्ति मन प्रभृतिभिरपि 'पापक' पाप एव पापकस्त, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभम्।

३—(क) अ० चू० 'त सत्थ एकधार ईलिमादि, दुधार कणयो, तिधारो तरवारी, चउधार चउकण्णओ सव्वओ धार गहण विरहित चक्क अग्गी समततो सव्वतोधार एवमण्णतरातो सत्थतो तिक्खयाए सव्वतो धारता'।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ सासिज्जइ जेण त सत्थ, किंचि एगधार, दुधार, तिधार, चउधार, पचधार, सव्वतोधार नत्थि मोत्तुमगणिमेग, तत्थ एगधार परसु, दुधार कणयो, तिधार असि, चउधार तिपडतो कणीयो, पचधार अजाणुफल, सव्वओ धार अग्गी, एतेहि एगधारदुधारतिधारचउधारपचधारेहि सत्थेहि अगण नत्थि सत्थ अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति।

४—हा टी० प० २०१ 'तीक्ष्ण' छेदकरणात्मकम् 'अन्यतरत् शस्त्र' सर्वशस्त्रम्, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भाव।

५—अ० चू० अण्णतराओत्ति पधाणाओ।

६—(क) जि० चू० पृ० २२४ सव्वओवि दुरासय नाम एत सत्थ सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रय।
(ख) हा० टी० प० २०१ सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति।

७—अ० चू० 'अणुदिसाओ'—अतरदिसाओ।

८—हा० टी० प० २०१ 'सुपां सुपो भवन्ती' ति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

६२. (च ग) :

अगस्त्यसिंह ने[1] 'चकार' को हेतु के अर्थ में और जिनदास ने[2] पाद-पूर्ति के अर्थ में माना है।

श्लोक ३८ :

६३. उदीरणा (उईरंति ग) :

इसका अर्थ है प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करना—प्रेरित करना।

श्लोक ४६ :

६४. श्लोक ४६ :

४५वें श्लोक तक मूलगुणों (व्रत षट्क और काय-षट्क) की व्याख्या है। इस श्लोक से उत्तरगुणों की व्याख्या प्रारम्भ होती है। प्रस्तुत अध्ययन में उत्तरगुण छह (अकल्प-वर्जन, गृहि-भाजन-वर्जन, पर्यङ्क-वर्जन, गृहान्तर निषद्या-वर्जन, स्नान-वर्जन और विभूषा-वर्जन) बतलाए हैं। वे मूलगुणों के सरक्षण के लिए हैं, जैसे—पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए २५ (प्रत्येक की पाँच पाँच) भावनाएँ होती हैं, वैसे ही व्रत और काय-षट्क की रक्षा के लिए ये छह स्थान हैं। जिस प्रकार भीत और किवाड़युक्त गृह के लिए भी प्रदीप और जागरण रक्षा-हेतु होते हैं, वैसे ही पचमहाव्रतयुक्त साधु के लिए भी ये उत्तरगुण महाव्रतों के अनुपालन के हेतु होते हैं। उनमें पहला उत्तरगुण 'अकल्प' है[3]।

६५. अकल्पनीय (अभोज्जाइं क) :

यहाँ अभोज्य (अभोग्य) का अर्थ अकल्पनीय है। जो भक्त-पान, शय्या, वस्त्र और पात्र साधु के लिए अग्राह्य हो—विधि सम्मत न हो, सयम का अपकारी हो उसे अकल्पनीय कहा जाता है[4]।

६६. (इसिणा ख) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एक वचन है[5] और टीकाकार ने इसे षष्ठी का बहुवचन माना है[6]।

१—अ० चू० चकारो हेतौ।

२—जि० चू० पृ० २२५ चकार पादपूरणे।

३—जि० चू० पृ० २२६ कायछक्क गत, गया य मूलगुणा, इदाणि उत्तरगुणा, अकप्पादिणि छट्ठाणाणि, ताणि मूलगुणसारक्खयभूताणि, त तात्र जहा पचमहव्वयाण रक्खणनिमित्त पत्तेय पच पच भावणाओ तह अकप्पादिणि छट्ठाणाणि वयकायाण रक्खणत्थ भणियाणि, जहा वा गिहस्स कुड्डकवाडजुत्तस्सवि पदीवजागरमाणादि रक्खणाविसेसा भवन्ति तह पचमहव्वयजुत्तस्सवि साहुणो तेसिमणुपालणत्थ इमे उत्तरगुणा भवन्ति, तत्थ पढम उत्तरगुणो अकप्पो।

४—(क) अ० चू० 'अभोज्जाणि' अकप्पिताणि।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ 'अभोज्जाणि' अकप्पियाणि।

(ग) हा० टी० प० २०३ 'अभोज्यानि' सयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।

५—(क) अ० चू० 'इसिणा' साधुणा।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ 'इसिणा' णाम साधुणा।

६—हा० टी० प० २०३ 'ऋषीणा' साधूनाम्।

६७ (आहारमाईणि ख):

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। आदि शब्द के द्वारा शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण किया गया है[1]।

श्लोक ४७

६८ अकल्पनीय की इच्छा न करे (अकप्पियं न इच्छेज्जा ग):

अकल्प दो प्रकार के होते हैं—शैक्ष-स्थापना अकल्प और अकल्प-स्थापना अकल्प। शैक्ष (जो कल्प अकल्प न जानता हो) द्वारा आनीत या याचित आहार वसति और वस्त्र ग्रहण करना वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुबद्ध-काल (वर्षाकाल के अतिरिक्त काल) में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' कहलाता है[2]। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान जिसने शय्या (आचा० २.२) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति और जिसने वस्त्रैषणा (आचा० २.५) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत वस्त्र वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध-काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष स्थापना अकल्प' कहलाता है[3]। जिसने पात्रैषणा (आचा० २.६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत पात्र भी 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' है[4]। अकल्पनीय पिण्ड आदि को 'अकल्प-स्थापना-अकल्प' कहा जाता है। यहाँ यही प्रस्तुत है[5]।

श्लोक ५०

६९ काँसे के प्याले (कंसेसु क):

काँसे से बने हुए बर्तन को 'कंस' (कांस्य) कहते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्याले या क्रीड़ा-पात्र के बर्तन को 'कंस' माना है[6]। जिनदास महत्तर थाल या कोरक—गोलाकार बर्तन को 'कंस' मानते हैं[7]। टीकाकार के अनुसार कटोरा आदि 'कंस' कहलाता है[8]। कंस गगरी जैसा पात्र विशेष है। कुछ लोग इसे फूल या काँसे का पात्र समझते हैं। यूनानियों का ध्यान इसकी ओर गया था। उन्होंने लिखा है कि वह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था[9]।

१—(क) अ० चू०: आहारो आदी जेसिं ताणि आहारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० २२७: आहारो आई जेसिं ताणि आहारमाईणि ताणि य भोज्जाणि।
(ग) हा० टी० प० १९९: आहारशय्यावस्त्रपात्राणि।

२—अ० चू०: पढमोत्तरगुणो अकप्पो सो दुविहो तं सेहठवणा कप्पो अकप्पठवणाकप्पो य पिंडसेज्जवत्थपत्ताणि अप्पणो अकप्पियेण कप्पाइयाणि ण कप्पंति वासासु सव्वे य पव्वाविज्जंति उडुबद्धे अणला अकप्पठवणाकप्पो इमो।

३—जि० चू० पृ० २२६: तत्थ सेहठवणाकप्पो नाम जेण पिंडणिज्जुत्ती न सुता तेण आणियं न कप्पइ भोत्तुं जेण सेज्जाओ न सुयाओ तेण वसही उग्गमिया न कप्पइ जेण वत्थेसणा न सुता तेण वत्थं, उडुबद्धे अणला न पव्वाविज्जंति वासासु सव्वेऽवि।

४—हा० टी० प० १९९: अणहीया खलु जेणं पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा।
तेणाणियाणि जतिणो कप्पंति न पिंडमाईणि॥१॥
उडुबद्धंमि न अणला वासावासे उ दोऽवि नो सेहा।
दिक्खिज्जंती पायं ठवणाकप्पो इमो होइ॥२॥

५—हा० टी० प० १९९: अकल्पस्थापनाकल्पमाह—'आई' ति सूत्रम्।

६—अ० चू०: कंसस्स विकारो कांसं तेसु पट्टगादिसु कीडापात्रेसु

७—जि० चू० पृ० २२७: कंसाओ आयाणि कंसाणि, ताणि पुण थालाणि तया कोरगाणि वा तेसु कंसेसु।

८—हा० टी० प० १९९: 'कंसेसु' करोटकादिषु।

९—ना० भा० पृ० १२८।

७०. कुडमोद (कुंडमोएसु ख) :

अगस्त्यचूर्णि के अनुसार कच्छ आदि देशों में प्रचलित कुंडे के आकार वाला कांसे का भाजन 'कुडमोद' कहलाता है[१]। जिनदास चूर्णि ने हाथी के पाँव के आकार वाले वर्तन को 'कुडमोद' माना है[२]। टीकाकार ने हाथी के पाँव के आकार वाले मिट्टी आदि के भाजन को 'कुडमोद' कहा है[३]। चूर्णिद्वय में 'कुडमोएसु' के स्थान मे 'कोंडकोसेसु' पाठान्तर का उल्लेख है। 'कोंड' का अर्थ तिल पीलने का पात्र[४] अथवा मिट्टी का पात्र[५] और 'कोस' का अर्थ शराव—सकोरा[६] किया गया है।

७१. (पुणो ख) :

दोनों चूर्णिकारों के अनुसार 'पुन.' शब्द 'विशेषण' के अर्थ में है और इसके द्वारा सोने, चादी आदि के वर्तन सूचित किए गए हैं[७]।

श्लोक ५१ :

७२. सचित्त जल (सीओदग क) :

यहाँ शीत का अर्थ 'सचित्त' है[८]।

७३. (छन्नति ग) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह धातु 'क्षणु हिंसायाम्'[९] है। टीकाकार ने 'छिप्पति' पाठ मानकर उसके लिए सस्कृत धातु 'क्षिपनज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है[१०]।

७४. तीर्थङ्करों ने वहाँ असंयम देखा है (दिट्ठो तत्थ असंजमो घ) :

गृहस्थ के भाजन में भोजन करने से छहों प्रकार के जीवों की विराधना सभव है। क्योंकि जव गृहस्थ उस भाजन को सचित्त जल से धोता है तव अप्काय की और धोए हुए जल को फेंकने से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, तथा त्रसकाय की विराधना होती है। उस पानी को अविधि से फेंकने से वायुकाय की विराधना होती है। यह असयम है[११]।

१—अ० चू० कुढमोय कच्छातिसु कुडसट्ठिय कसभायणमेव महत।
२—जि० चू० पृ० २२७ 'कुढमोयो' नाम हत्थपदागितीसठिय कुढमोय।
३—हा० टी० प० २०३ 'कुडमोदेषु' हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु।
४—अ० चू० 'जे पढति कोंडकोसेसु वा' तत्थ 'कोंडग' तिलपीलणग।
५—जि० चू० पृ० २२७ अन्ने पुण एव पठति 'कुढकोसेसु वा पुणो' तत्थ कुण्ढ पुढविमय भवति।
६—(क) अ० चू० 'कोसे' सरावाती।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ कोसग्गहणेण सरावादीणि गहियाणि।
७—(क) अ० चू० पुणो इति विसेसणो रुप्पतलिकातिसु (रुप्पथलिकातिसु—रूप्पस्थलिकादिषु) वा।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ पुणोसद्दो विसेसणे वट्टति, किं विसेसयति ?, जहा अन्नेसु सुवन्नादिभायणेसुत्ति।
८—(क) जि० चू० पृ० २२८ सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहण कय।
(ख) हा० टी० प० २०४ 'शीतोदक 'सचेतनोदकेन।
९—(क) अ० चू० 'छन्नति' क्षणु हिसायमिति हिंसज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० २२८ छणसद्दो हिंसाए वट्टइ।
१०—हा० टी० प० २०४ 'क्षिप्यन्ते' हिंस्यन्ते।
११—जि० चू० पृ० २२८ अणिद्दिट्ठस्स असजमस्स गहण कय, सो य इमो-जेण आउक्काएण धोव्वति सो आउक्काओ विराहिओ भवति, कदापि पूयरगादिवि तसा होज्जा, धोविता य जत्थ छड्डिज्जति तत्थ पुढविआउतेउहरियतसविराहणा वा होज्जा, वाउकाओ अत्थि चेव, अजयणाए वा छड्डिज्जमाणे वाउक्काओ विराहिज्जइ, एव छण्ह पुढविमाईण विराहणा भवति, एसो असजमो तित्थगरेहिं दिट्ठो।

श्लोक ५२

७५ सभावना (सिया क)

जिनदास ने 'सिया' शब्द को आशंका के अर्थ में और हरिभद्र ने 'कदाचित्' के अर्थ में माना है[१]।

७६ (एयमट्ठ ग)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५३

७७ आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) (आसालएसु क) :

अवष्टम्भ वाला (जिसके पीछे सहारा हो वैसा) आसन 'आसालक' कहलाता है। चूर्णि और टीका के अनुसार 'मंचमासालएसु वा' इस चरण में दूसरा शब्द 'आसालय' है और अंगविज्जा के अनुसार वह 'आसालग' है[३]। 'मंचमासालय' में मकार अलाक्षणिक है—इसकी चर्चा चूर्णि और टीका में नहीं है।

श्लोक ५४

७८ श्लोक ५४ :

पिछले श्लोक में आसन्दी आदि पर बैठने और सोने का सामान्यतः निषेध है। यह अपवाद सूत्र है। इसमें आसन्दी आदि का प्रतिलेखन किए बिना प्रयोग करने का निषेध है। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार राजकुल आदि विशिष्ट स्थानों में धर्म-कथा के समय आसन्दी आदि का प्रतिलेखन-पूर्वक प्रयोग करना विहित है[४]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं में नहीं है[५]।

१—(क) जि० चू० पृ० २२८ : सियासद्दो आसंकाए वट्टइ।
   (ख) हा० टी० प० २०३ : स्यात्—[illegible] कदाचित्।
२—(क) अ० चू० : 'आसालओ'—सावटुंभमासणं।
   (ख) जि० चू० पृ० २२८ : आसालगो नाम सतावंभमं (सावटुंभं) आसणं।
   (ग) हा० टी० प० २०३ : आसालकस्तु—अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः।
३—(क) अंगविज्जा पृ० ५९ : सयणाऽऽसणे य कम्मे वा मंच—मंचमासालगेसु वा..........।२३।।
   (ख) वही पृ० ६१ : आसालगो मंचगो य पि पल्लंको पडिसेज्जको.................।१०५।।
४—(क) जि० चू० पृ० २२९ : जया पुण कारणं भवइ तदा निग्गंथा पडिलेहिऊणंपि (वृत्ति) धम्मकहाराजकुलादिसु पडिलेहिऊण निसीयणादीणि कुव्वंति पडिलेहाए णाम चक्खुणा पडिलेहिऊण सयणादीणि कुव्वंति।
   (ख) हा० टी० प० २०३ : इह चासन्दीपर्यङ्कादयो निषीदनादिनिषेधात् धर्मकथादौ राजकुलादिषु प्रत्युपेक्षितेषु निषीदनादिविधिमाह विधानमात्रस्यानुपपत्तेरिति।
५—अ० चू० : आसन्दी पलियंकेसु एस सिलोगो केसिंचि णत्थि जेसिं अत्थि तेसिं जिणदासमहत्तरायस्स पत्तिए अहवा एस अवत्था। ज ण दरिसंति तेसामएवमेव अणुओवदेसमंगीकरेंति। जदा कारणे तदा पडिलेहणाए अपडिलेहिया आसंदादिदोसेण अवाच्च मिदं भण्णति ॥७॥

७६. आसन (निसेज्जा ख) :

एक या अनेक वस्त्रों से बना हुआ आसन[1]।

८० पीढ़े का (पीढए ख) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'पीढा' पलाल का[2] और टीका के अनुसार बेंत आदि का होता है[3]।

८१. (वुड्ढवुत्तमहिट्ठगा घ) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५५ :

८२. गंभीर-छिद्र वाले (गंभीरविजया क) :

गभीर का अर्थ अप्रकाश और विजय का अर्थ विभाग है। जिनका विभाग अप्रकाशकर होता है वे 'गभीरविजय' कहलाते हैं[4]। जिनदास चूर्णि में मार्गण, पृथक्करण, विवेचन और विचय को एकार्थक माना है[5]। टीकाकार ने 'विजय' की छाया विजय ही की है और उसका अर्थ आश्रय किया है[6]। जिनदास चूर्णि में 'वैकल्पिक' रूप में 'विजय' का अर्थ आश्रय किया है। इनके अनुसार 'गभीरविजय' का अर्थ 'प्रकाश-रहित आश्रय वाला' है[7]। हमने 'विजय' की संस्कृत-छाया 'विचय' की है। अभयदेवसूरि ने भी इसकी छाया यही की है[8]।

श्लोक ५६ :

८३. अबोधि-कारक अनाचार को (अबोहियं घ) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में अबोधिक का अर्थ—अबोधिकारक[9] या जिसका फल मिथ्यात्व हो वह[10] किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल मिथ्यात्व किया है[11]।

१—(क) जि० चू० पृ० २२६ 'निसिज्जा' नाम एगे कप्पो अणेगा वा कप्पा।
(ख) हा० टी० प० २०४ निषद्यायाम्—एकादिकल्परूपायाम्।
२—जि० चू० पृ० २२६ 'पीढग'—पलालपीठगादि।
३—हा० टी० प० २०४ 'पीठके'—वेत्रमयादौ।
४—अ० चू० गभीरमप्पगासं, विजयो-विभागो। गभीरो विजयो जेसिं ते गभीरविजया।
५—जि० चू० पृ० २२६ गभीर अप्पगास भण्णइ, विजओ नाम मग्गणति वा पिथकरणति वा विवेयणति वा विजओत्ति वा एगट्ठा।
६—हा० टी० प० २०४ गम्भीरम्—अप्रकाश विजय—आश्रय अप्रकाशाश्रया 'एते'।
७—जि० चू० पृ० २२६ अहवा विजओ उवस्सओ भण्णइ, जम्हा तेसिं पाणाण गभीरो उवस्सओ तओ दुव्विसोधगा।
८—भग० २५ ७ वृ० आणाविजए—आज्ञा-जिनप्रवचन तस्याविचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचय प्राकृतत्वाच्च आणाविजयेत्ति।
९—अ० चू० अबोहिकारिम बोहिक।
१०—हा० टी० प० २०५ 'अबोधिक' मिथ्यात्वफलम्।
११—जि० चू० पृ० २२६ 'अबोहिय'—नाम मिच्छत्त।

श्लोक ५७

८४ श्लोक ५७

चूर्णिद्वय में गृहस्थ के घर बैठने से होने वाले ब्रह्मचर्य-नाश आदि के कारणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

स्त्री को बार-बार देखने से और उसके साथ बातचीत करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है[1]।

कोई व्यक्ति तीतर बेचने के लिए आया। गृहस्वामिनी उसे मुनि के सामने लेने में सकुचाती है। वह वस्त्र मरोड़ने के ब्याज से उसकी गर्दन तोड़ देने का संकेत बताती है और वह उस तीतर को असमय में ही मार डालता है—इस प्रकार अवधकाल में प्राणियों का वध होता है[2]।

टीका में 'पाणाण य वहे वहो' ऐसा पाठ व्याख्यात है। इसका अर्थ है—गोचराग्र प्रविष्ट मुनि गृहस्थ के घर बैठता है तब उसके लिए भक्त-पान बनाया जाता है—इस प्रकार प्राणियों का वध होता है[3]।

भिक्षाचर घर घर मांगने जाते हैं। स्त्री सोचती है कि साधु से बात करते समय बीच में उठ इन्हें भिक्षा कैसे दूँ। साधु को बुरा लगेगा। यह सोच वह उनकी ओर ध्यान नहीं देती। इससे भिक्षाचरों के अन्तराय होता है और वे साधु का अवर्णवाद बोलते हैं[4]।

स्त्री जब साधु से बातचीत करती है तब उसका पति ससुर या बेटा सोचने लगता है कि यह साधु के साथ अनुचित बातें करती है। हम भूखे-प्यासे हैं हमारी तरफ ध्यान नहीं देती और प्रतिदिन का काम भी नहीं करती। इस तरह घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है[5]।

श्लोक ५८

८५ ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है (अगुत्ती बंभचेरस्स ख) :

स्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर दृष्टि गड़ाए रखने से और उसकी मनोज्ञ इन्द्रियों को निरखते रहने से ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[1]।

१—जि० चू० पृ० २२ : कहं बंभचेरस्स विवत्ती होज्जा ? अभिक्खमित्थीसंभासणदंसणादीहिं बंभचेरविवत्ती भवति।

२—(क) अ० चू० : वधे वधो—कहमुप्पाये ओरसो वधो ? अविरतियाए सागारिकोत्तमस्स तीतरं तित्तिरए विक्केतुए उवणीए। ... सेहियगस्स पुरतो गेण्हामित्ति ... गीवं मोडावेति एवं वधे वधो संभवति।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ : पाणाणं अवधे वधो भवति, तत्थ पाणा नाम घत्ता तेसिं अवधे वधो भवेज्जा कहं ? सो तत्थ अच्छंतो करेइ तत्थ य तित्तिरो ... सो चिंतेति—अयमेतस्स अग्गओ जीवंतं गेण्हिस्सामि ताहे ताए सण्णा कया इसिया वलिया आयाणिं सेवि वा गिण्हामि ताहे मारिज्जेज्जा एवं पाणाणं अवधे वधो भवति।

३—हा० टी० प० २०५ : प्राणिनां च वधे वधो भवति तथा संयमबाधाकर्मादिकरणेन।

४—जि० चू० पृ० २२ : य इमेण पगारेण होज्जा सो ताए समं अच्छमाणो, तत्थ य अण्णे भिक्खायरा एंति सा चिंतेति—अयमेतस्स समासाओ उट्ठेहामित्ति अपत्तियं से भविस्सति ताहे ते अतिक्कामेति तत्थ अंतराइयदोसो भवति ते तस्स अवण्णं भासंति।

५—जि० चू० पृ० २२ : समंता कोहो पडिकोहो समंता नाम सव्वओ ... पडिकोहो पडिकोहो सो य इमेण पगारेण भवति—जे तीए पतिसासुरादी ते ... समयए ... भिक्खायरविसयाणि ... पडिकोहो अगारिणं भवइ।

१—जि० चू० पृ० २२ : इत्थीणं अंगपच्चंगाणि दिट्ठिनिवेसमाणस्स इंदियाणि मणुण्णाणि निरिक्खंतस्स बंभचेरं असुत्तं भवइ।

८६. स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है (इत्थीओ यावि संकणं ख) :

स्त्री के प्रफुल्ल वदन और कटाक्ष को देखकर लोग सन्देह करने लगते हैं कि यह स्त्री इस मुनि को चाहती है और वैसे ही मुनि के प्रति भी लोग सन्देह करने लगते हैं। इस तरह स्त्री और मुनि दोनों के प्रति लोग सन्देहशील बनते हैं[१]।

श्लोक ५६ :

८७. श्लोक ५६ :

चूर्णि और टीका के अनुसार अतिजराग्रस्त, अतिरोगी और घोर तपस्वी भिक्षा लेने के लिए नहीं जाते किन्तु जो असहाय होते हैं, जो स्वय भिक्षा कर लाया हुआ खाने का अभिग्रह रखते हैं या जो साधारण तप करते हैं, वे भिक्षा के लिए जाते हैं[२]। गृहस्थ के घर में स्वल्पकालीन विश्राम लेने का अपवाद इन्ही के लिए है और वह भी ब्रह्मचर्य-विपत्ति आदि दोषों का सभव न हो, उस स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है[३]।

श्लोक ६० :

८८. आचार (आयारो ग) :

इस श्लोक में आचार और सयम—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'आचार' का तात्पर्य कायक्लेश आदि बाह्य तप और 'सयम' का तात्पर्य अहिंसा—प्राणि-रक्षा है[४]।

८९. परित्यक्त (जढो घ) :

'जढ' का अर्थ है परित्यक्त[५]। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्यक्त' के अर्थ में 'जढ' को निपात किया है[६] और षड्भाषा चन्द्रिका में इसके अर्थ मे 'जड' का निपात है[७]।

१—जि० चू० पृ० २३० इत्थी वा पप्फुल्लक्यणा कडक्खविक्खित्तलोयणा सकिज्जेज्जा, जहा एसा एय कामयति, चकारेण तथा सुभणियसरूवादीगुणेहि उववेत संकेज्जा।

२—(क) अ० चू० अभिभूतइतिअतिप्रपीडितो एव वाहितो वि तवस्सी पक्खमासातिखमणकिलितो एतेसि णेध गोयरावतरण जस्स य पुण सहाया सतीए अत्तलाभिए वा हिंडेज्जा ततो एतेसि निसेज्जा अणुण्णाता।

(ख) जि० चू० पृ० २३०-३१ जराभिभूओ 'वाहिअस्स तवस्सिणो' त्ति अभिभूयग्गहण जो अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जइ, जो सो पुण वुड्ढभावेऽवि सति समत्थो ण तस्स गहण कयति, एते तिन्निवि न हिंडाविज्जति, तिन्नि हिंडाविज्जति सेघो अत्तलाभिओ वा अविकिट्ठतवस्सी वा एवमादि, तेहि कारणेहि हिंडेज्जा, तेसि च तिण्ह णिसेज्जा अणुन्नाया।

(ग) हा० टी० प० २०५ 'जरयाऽभिभूतस्य' अत्यन्तवृद्धस्य 'व्याधिमत' अत्यन्तमशक्तस्य 'तपस्विनो' विकृष्टक्षपकस्य। एते च भिक्षाटन न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषय।

३—(क) अ० चू० एतेसि बभविवत्ति वणीमगपडिघातातिजयणाए परिहरताण णिसेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २३१ तत्थ थेरस्स बभचेरस्स विवत्तीमादि दोसा नत्थि, सो मुहुत्त अच्छइ, जहा अन्तरातपडिघातादओ दोसा न भवति, वाहिओऽवि मग्गति किंचि त जाव निक्कालिज्जइ ताव अच्छइ, विस्समणट्ठ वा, तवस्सीवि आतवेण किलामिओ विसमिज्जा।

४—(क) जि० चू० पृ० २३१ आयारग्गहणेण कायकिलेसादिणो बाहिरतवस्स गहण कय।

(ख) हा० टी० प० २०५ 'आचारो' बाह्यतपोरूप, 'सयम' प्राणिरक्षणादिक।

५—हा० टी प० २०५ 'जढ' परित्यक्तो भवति।

६—हैम० ४ २५८ 'जढ'—त्यक्तम्।

७—षड्भाषा चन्द्रिका पृ० १७८ त्यक्ते जडम्।

श्लोक ६१

९० श्लोक ६१

सचित्त जल से स्नान करने में हिंसा होती है इसलिए उसका निषेध बुद्धिगम्य हो सकता है। किन्तु अचित्त जल से स्नान करने का निषेध क्यों ? सहज ही यह प्रश्न होता है। प्रस्तुत श्लोक में इसी का समाधान है[1]।

९१ पोली भूमि (घसासु ख)

'घसा' का अर्थ है—शुषिर भूमि, पुराने भूसे की राशि[2] या वह प्रदेश जिसके एक सिरे का आक्रमण करने से सारा प्रदेश हिल उठे[3]।

९२ दरार-युक्त भूमि में (भिलुगासु ग) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है दरार[4]।

९३ जल से (वियडेण ग)

'वियड' का अर्थ जल या[5] प्रासुक जल है[6]।

श्लोक ६२

९४ श्लोक ६२

सूक्ष्म प्राणी की जहाँ हिंसा न होती हो उस स्थिति में भी स्नान नहीं करना चाहिए। जिनदास महत्तर ने इसके कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि स्नान करने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, अस्नान रूप काय-क्लेश तप नहीं होता और विभूषा का दोष लगता है[7]।

९५ शीत या उष्ण जल से (सीएण उसिणेण वा ग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'शीत' का अर्थ जिसका स्पर्श सुखकर हो वह जल और 'उष्ण' का अर्थ आयु विनाशकारी जल किया है। टीकाकार ने 'शीत' और 'उष्ण' का अर्थ प्रासुक और अप्रासुक जल किया है।

१—हा० टी० प० २०५ : प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह ।
२—(क) अ० चू० : घसति अणुसरीरजीवविसेसा इति घसी ज्झुसिरो भूमिपदेसो पुराणभूसादिरासी वा ।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'घसासु' शुषिरभूमिषु ।
३—जि० चू० पृ० २३१ : घसा णाम जत्थ एगदेसे अक्कममाणे सो पदेसो सव्वो चलइ सा घसा भण्णइ ।
४—(क) जि० चू० पृ० २३१ : भिलुगा राई ।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'भिलुगासु च' तथाविधभूमिराजीषु च ।
५—जि० चू० पृ० २३१ : वियडं पाणयं भण्णइ ।
६—(क) अ० चू० : 'वियडेणं' फासुपाणिएण ।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'विकटेन' प्रासुकोदकेन ।
७—जि० चू० पृ० २३१ : कह उप्पीलावणादिदोसा ण भवंति ? तहावि अण्णे ण्हाणसमुब्भवा दोसा भवंति, कहं ? ण्हाणसमायरणे बंभचेरे अगुत्ति भवति, असिणाणजणिओ य कायकिलेसो तवो सो ण हवइ, विभूसादोसो य भवति ।
८—अ० चू० : सीतेण वा उदकजातेण उसिणेण वा ण्हाणविहाणकारिणा ।
९—हा० टी० प० २०५ : शीतेन प्रासुकोदकेन प्रासुकेनाप्रासुकेन चेत्यर्थः ।

९६. (असिणाणमहिट्ठगा [घ]) :

यहाँ 'मकार' अलाक्षणिक है।

श्लोक ६३ :

९७. गन्ध-चूर्ण (सिणाणं [क]) :

यहाँ 'स्नान' का अर्थ गन्ध-चूर्ण है। टीकाकार ने 'स्नान' को उसके प्रसिद्ध अर्थ अंग-प्रक्षालन में ग्रहण किया है[1]। वह सही नहीं है। चूर्णिद्वय में इसकी विस्तृत जानकारी नहीं मिलती फिर भी उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई उद्वर्तनीय गन्ध द्रव्य है[2]। उमास्वाति ने इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है[3]। उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है। मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है[4]।

९८. कल्क (कक्कं [क]) :

इसका अर्थ स्नान-द्रव्य, विलेपन-द्रव्य अथवा गन्धाट्टक—गन्ध-द्रव्य का आटा है। प्राचीन काल में स्नान में सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पहले तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम कल्क है[5]। इसे चूर्ण-कषाय भी कहा जाता है।

९९. लोध्र (लोद्धं [ख]) :

लोध—(गन्ध-द्रव्य) का प्रयोग ईषत् पाण्डुर छवि करने के लिए होता था[6]। 'मेघदूत' के अनुसार लोध्र-पुष्प के पराग का प्रयोग मुख की पाण्डुता के लिए होता था[7]। 'कालीदास का भारत' के अनुसार स्नान के बाद काला-गुरु, लोध्र-रेणु, धूप और दूसरे सुवासित द्रव्यों (कोषेय) के सुगन्धमय धूप में केश सुखाए जाते थे[8]। 'प्राचीन भारत' के प्रसाधन[9] के अनुसार लोध्र (पठानी लोध)

१—हा० टी० प० २०६ 'स्नान' पूर्वोक्तम्।

२—अ० चू० सिणाण सामायिग उवराहाण अधवा गधवट्टओ।

३—(क) प्र० प्र० ४३ स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति॥

(ख) प्र० प्र० ४३ अव० स्नानमङ्गप्रक्षालन चूर्णम्।

४—A Sanskrit English Dictionary Page 1266 Anything used in ablution (e g Water, Perfumed Powder)।

५—(क) अ० चू० कक्क राहाण सजोगो वा।

(ख) जि० चू० पृ० २३२ कक्को लवन्तयो कीरइ, वराणादी कक्को वा, उव्वलय अट्टगमादि कक्को भण्णइ।

६—(क) अ० चू० लोद्ध कसायादि आपडुरच्छवि करणत्य दिज्जति।

(ख) हा० टी० प० २०६ लोध्र—गन्धद्रव्यम्।

७—मेघ० उ० २ हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्ध,
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री।
चूडापाशे नवकुरबक चारुकर्णे शिरीष,
सीमन्ते च त्वदुपगमज यत्र नीप वधूनाम्॥

८—कालीदास का भारत पृ० ३२०।

९—प्राचीन भारत पृ० ७५।

वृक्ष की छाल का चूर्ण शरीर पर, मुख्यतः मुख पर लगाया जाता था। इसका रंग पाण्डुर होता है और पसीने को सुखाता है। संभवतः इन्हीं दो गुणों के कारण कवियों को यह प्रिय रहा होगा। इसका उपयोग श्वेतिमा गुण के लिए ही हुआ है। स्वास्थ्य की दृष्टि से सुश्रुत में लोध्र के पानी से मुख को धोना कहा है। लोध्र के पानी से मुख धोने पर झाँई फुंसी दाग मिटते हैं[1]।

लोध के वृक्ष बंगाल आसाम और हिमालय तथा खासिया पहाड़ियों में पाए जाते हैं। यह एक छोटी जाति का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष होता है। इसके पत्ते ३ से ६ इंच तक लम्बे भालाकृति और कंगूरेदार होते हैं। इसके फूल पीले रंग के और सुगन्धित होते हैं। इसके आधा आधा इंच लम्बा और अंडाकृति का फल लगता है। यह फल पकने पर बैंगनी रंग का होता है। इस फल के अन्दर एक कठोर गुठली रहती है। उस गुठली में दो-दो बीज रहते हैं। इसकी छाल गेरुए रंग की और बहुत मुलायम होती है। इसकी छाल और पत्तों में से रंग निकाला जाता है[2]।

१०० पद्म-केसर (पउमगाणि ग)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पद्मक' का अर्थ 'पद्म-केसर' अथवा कुंकुम[3] टीकाकार के अनुसार उसका अर्थ कुंकुम और केसर[4] तथा जिनदास चूर्णि[5] के अनुसार कुंकुम है। सर मोनियर मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है[6]।

'पद्मक' का प्रयोग महाभारत में मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा—'मैंने दूसरों के द्वारा काटे गए काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है। अलक्तक (वृक्ष विशेष की छाल) पद्मक (पद्माख) तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीद कर बेचता हूँ[7]। सुश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण में कहे आम्र से लेकर नन्दी वृक्ष पर्यन्त वृक्षों की त्वचा शङ्ख लाल चन्दन मुलेठी अमान गैरिक अञ्जन (सुरमा) मंजीठ कमलनाल पद्माख—इनको बारीक पीसकर दूध में घोलकर शर्करा मधु मिलाकर भली प्रकार छानकर ठण्डा करके नाभि अनुमान करते रोगी को बस्ति देवे[8]।

श्लोक ६४

१०१ नग्न (नगिणस्स ग)

चूर्णिद्वय में 'नगिण' का अर्थ नग्न किया है[9]। टीका में उसके दो प्रकार किए हैं—औपचारिक नग्न और निरुपचरित नग्न।

1—सु० चि० २४.८: नित्योदककषायेण तथैवामलकस्य वा।
प्रक्षालयेन्मुखं नित्यं स्वरसैः क्षीरवृक्षेण वा॥
पीडिकां मुखशोषं च पिडकां व्यंगमेव च।
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत्॥
2—व० च० भा० ४ पृ० २१।
3—अ० चू० : 'पउमं' कसरं कुंकुमं वा।
4—हा० टी० प० २०१: 'पद्मकानि च' कुङ्कुमकेसराणि।
5—जि० चू० पृ० २२२: पउमं कुंकुमं भण्णइ।
6—A Sanskrit English Dictionary Page 584 Padmaka—A Particular fragrant Substance
7—महा० शा० अ० २६२ श्लोक ७: परिच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम्।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा॥
8—सु० उत्तरमाय० ३८. १८८: आम्रादीनां त्वचं शङ्खं चन्दनामलकोत्पले॥
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
कल्कपिष्टं तु पयसा शर्करामधुसंयुतम्॥
9—(क) अ० चू० : 'णगिणो' नग्गो।
(ख) जि० चू० पृ० २२२: णगिणो—नग्गो भण्णइ।

जिनकल्पिक वस्त्र नहीं पहनते इसलिए वे निरुपचरित नग्न होते हैं। स्थविर-कल्पिक मुनि वस्त्र पहनते हैं किन्तु उनके वस्त्र अल्प मूल्य वाले होते हैं, इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहा जाता है[1]।

१०२. दीर्घ रोम और नख वाले (दीहरोमनहंसिणो [ख]) :

स्थविर-कल्पिक मुनि प्रमाणयुक्त नख रखते हैं जिससे अन्धकार में दूसरे साधुओं के शरीर में वे लग न जाए। जिन-कल्पिक मुनि के नख दीर्घ होते हैं[2]। अगस्त्य चूर्णि से विदित होता है कि नखों के द्वारा नख काटे जाते हैं किन्तु उनके कोण भलीभाँति नहीं कटते इसलिए वे दीर्घ हो जाते हैं[3]।

श्लोक ६७ :

१०३. अमोहदर्शी (अमोहदंसिणो [क]) :

मोह का अर्थ विपरीत है अमोह इसका प्रतिपक्ष है। जिसका दर्शन अविपरीत है उसे अमोहदर्शी कहते हैं[4]।

१०४. शरीर को (अप्पाणं [क]) :

'आत्मा' शब्द शरीर और जीव—इन दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। मृत शरीर के लिए कहा जाता है कि इसका आत्मा चला गया—आत्मा शब्द का यह प्रयोग जीव के अर्थ में है। यह कृशात्मा है, स्थूलात्मा है—आत्मा शब्द का यह प्रयोग शरीर के अर्थ में है। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शरीर अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ कार्मण शरीर का अधिकार है। कार्मण शरीर—सूक्ष्म शरीर को क्षय करने के लिए तप किया गया है तब औदारिक शरीर—स्थूल शरीर स्वय कृश हो जाता है अथवा औदारिक शरीर को तप के द्वारा कृश किया जाता है तब कार्मण शरीर स्वय कृश हो जाता है[5]।

श्लोक ६८ :

१०५. आत्म-विद्यायुक्त (सविज्जविज्जाणुगया [ख]) :

'स्वविद्या' का अर्थ अध्यात्म-विद्या है। 'स्वविद्या' ही विद्या है, उससे जो अनुगत—युक्त है उसे 'स्वविद्याविद्यानुगत' कहते हैं[6]। यह

१—हा० टी० प० २०६ 'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य निरुपचरितस्य नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्।

२—हा० टी० प० २०६ 'दीर्घरोमनखवत' दीर्घरोमवत कक्षादिषु दीर्घनखवतो हस्तादौ जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति यथाऽन्यसाधूना शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति।

३—अ० चू० दिहाणि रोमाणि कक्खादिष्ठु जस्स सो दीहरोमो आसीयगो णहाण आसीयो णहस्सीयो णहा जदिविपक्षिणहादीहिं अतिदीहा कप्पिज्जति तहवि असठविताओ णाहधूराओ दीहाओ भवति—दीहसद्दो पत्तेय भवति, दीहाणि रोमाणि णहस्सीयो य जस्स सो दीहरोमणहस्सी तस्स एवरुवस्स।

४—(क) अ० चू० मोह विवरीय, ण मोह अमोह। अमोह पस्सति अमोहदसिणो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ अमोह पासतित्ति अमोहदसिणो सम्मदिट्ठी।

५—(क) अ० चू० अप्पाण अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठप्पयोगो जीवे जधा मतसरीर भण्णति गतो सो अप्पा जस्सिम सरीर थूलप्पा किसप्पा इह पुण न खविज्जति, त्ति अप्पवयणे सरीर ओरालियसरीरखवणेण कम्मणासरीरखवणमिति उभयेणाधिकारो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ आह—किं ताव अप्पाण खवेंति उदाहु सरीरति ?, आयरिओ भणइ—अप्पसद्दो दोहिवि दीसइ—सरीरे जीवे य, तत्थ सरीरे ताव जहा एसो सतो दीसई मा ण हिंसिहिसि, जीवे जहा गओ सो जीवो जस्सेय सरीर, तेण भणित खवेति अप्पाणति, तत्थ सरीर औदारिक कम्मग च, तत्थ कम्मएण अधिगारो, तस्स य तवसा खए कीरमाणे औदारियमवि खिज्जइ।

६—अ० चू० सविज्जविज्जाणुगता 'स्व' इति अप्पा 'विज्जा' विन्नाण आत्मनि विद्या सविज्जा, अज्झप्पविज्जा विज्जागाणातो से सिज्जति। अज्झप्पविज्जा जाविज्जा ताए अणुगता सविज्जविज्जाणुगता।

सत्तमज्झयणं

वक्कसुद्धि

सप्तम अध्ययन

वाक्यशुद्धि

आमुख

आचार का निरूपण उसी को करना चाहिए जिसे वाक्य-शुद्धि का विवेक मिला हो। मौन गुप्ति है, वाणी का प्रयोग समिति। गुप्ति का लाभ अकेले साधक को मिलता है, समिति का लाभ वक्ता और श्रोता दोनों को मिलता है। वाणी का वही प्रयोग समिति है जो सावद्य और अनवद्य के विवेक से सम्वलित हो। जिसे सावद्य-अनवद्य का विवेक न हो उसे बोलना भी उचित नहीं फिर उपदेश देने की बात तो बहुत दूर है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और सत्यासत्य भाषा के प्रयोग का निषेध किया गया है[2]। क्योंकि भाषा के ये दोनों प्रकार सावद्य ही होते हैं। सत्य और असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) के प्रयोग का निषेध भी है[3] और विधान भी है[4]।

सत्य और व्यवहार-भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की होती है। वस्तु के यथार्थ रूप का स्पर्श करने वाली भाषा सत्य हो सकती है किन्तु वह वक्तव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जिससे कर्म-परमाणु का प्रवाह आए वह जीव-वधकारक-भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य है[5]। इस प्रकार निर्ग्रन्थ के लिये क्या वक्तव्य है और क्या अवक्तव्य—इसका प्रस्तुत अध्ययन में बहुत सूक्ष्म विवेचन है। अहिंसा की दृष्टि से यह बहुत ही मननीय है। दशवैकालिक सूत्र अहिंसा का आचार-दर्शन है। वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अङ्ग है। अहिंसक को बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए, यह अध्ययन उसका निदर्शन है।

भाषा के प्रकारों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। उसके लिए प्रज्ञापना (पद ११) और स्थानाङ्ग (स्था० १०) द्रष्टव्य हैं।

१—हा० टी० प० २०७ "सावज्जणवज्जाण, वयणाण जो न याणइ विसेस।
वोत्तु पि तस्स ण खम, किमग पुण देसण काउ॥"

२—दश० ७ १,२।

३—वही ७ २।

४—वही ७ ३।

५—वही ७ ११-१३।

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। अतः वाक्य-शुद्धि का विवेक देने के लिये स्वतन्त्र अध्ययन रचा गया है। प्रस्तुत अध्ययन सत्य-प्रवाद (छट्ठे) पूर्व से उद्धृत किया गया है[1]। निर्युक्तिकार ने मौन और भाषण दोनों को कसौटी पर कसा है। भाषा-विवेक-हीन मौन का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भाषा-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति दिन भर बोलकर भी मौन की आराधना कर लेता है। इसलिए पहले बुद्धि से विमर्श करना चाहिये फिर बोलना चाहिए। आचार्य ने कहा—शिष्य! तेरी वाणी बुद्धि का वैसे अनुगमन करे जैसे अन्धा आदमी अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है[2]।

१—द० नि० २७४ : जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो तेण इदं वक्कसुद्धित्ति॥
—वही १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।

२—वही २९०-२९२ : वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइवि न भासइ किंची न चेव वइगुत्तयं पत्तो॥
वयणविभत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसंपि भासमाणो तहावि वइगुत्तयं पत्तो॥
पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वयमुयाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा॥

सत्तमज्झयणं : सप्तम अध्ययन

वक्कसुद्धि : वाक्यशुद्धि

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चउण्हं खलु भासाणं परिसखाय पन्नवं। दोण्ह तु विणय सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो॥	चतसृणा खलु भाषाणा, परिसंख्याय प्रज्ञावान्। द्वाभ्या तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वश ॥१॥	१—प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग)[1] सीखे और दो सर्वथा न बोले।
२—जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा। जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना न त भासेज्ज पन्नव॥	या च सत्या अवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा। या च बुद्धैरनाचीर्णा, न ता भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥	२—जो अवक्तव्य-सत्य[2], जो सत्यमृषा, जो मृषा और जो (असत्याऽमृषा) भाषा बुद्धो के द्वारा अनाचीर्ण हो[3], उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले।
३—असच्चमोसं सच्च च अणवज्जमककसं। समुप्पेहमसंदिद्ध गिर भासेज्ज पन्नवं॥	असत्यामृषा सत्या च, अनवद्यामकर्कशाम्। समुत्प्रेक्षा (क्ष्य) असंदिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३॥	३—प्रज्ञावान् मुनि असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले।
४—[4] एयं च अट्ठमन्नं वा जं तु नामेइ सासयं[8]। स भास सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए॥	एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति शाश्वतम्। स भाषां सत्यामृषा अपि, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥४॥	४—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी[5] न बोले जो अपने आशय को 'यह[6] अर्थ है या दूसरा'[7]—इस प्रकार सदिग्ध बना देती हो।
५—[9]वितहं पि तहामुत्ति जं गिरं भासए नरो। तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुस वए॥	वितथामपि तथा-मूर्तिं, या गिरं भाषते नरः। तस्मात्स स्पृष्ट पापेन, किं पुनर्यो मृषा वदेत् ॥५॥	५—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले?
६—तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सई। अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सई॥	तस्माद् गच्छाम वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति। अहं वा इदं करिष्यामि, एष वा इदं करिष्यति ॥६॥	६-७—इसलिए[10]—'हम जाएंगे'[11], 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूंगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—यह और इस प्रकार की

१४—[19]तहेव होले गोले त्ति
साणे वा वसुले त्ति य।
दमए दुहए वा वि
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव 'होल' 'गोल' इति,
'श्वा' वा 'वृषल' इति च ।
'द्रमको' 'दुर्भग' श्चाऽपि,
नैव भाषेत प्रज्ञावान् ॥१४॥

१४—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !—ऐसा न बोले।

१५—[19]अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥

आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि,
अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च ।
पितृष्वसः ! भागिनेयि इति,
दुहितः ! नप्तृके ! इति च ॥१५॥

१६—[20]हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥

हले ! हला ! इति 'अन्ने' इति,
'भट्टे !' स्वामिनि ! गोमिनि !
'होले' ! गोले ! 'वृषले' ! इति,
स्त्रियं नैवमालपेत् ॥१६॥

१७—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण[21] वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

नामधेयेन तां ब्रूयात्,
स्त्री-गोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत् लपेत् वा ॥१७॥

१५-१६-१७—हे आर्यिके !, (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके !, (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब !, (हे मा !), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, हे हले !, हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे। किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर[22] एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

१८—अज्जए पज्जए वा वि
बप्पो चुल्लपिउ त्ति य।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥

आर्यक ! प्रार्यक ! वाऽपि,
वप्तः ! क्षुल्लपितः ! इति च ।
मातुल ! भागिनेय ! इति,
पुत्र ! नप्तः ! इति च ॥१८॥

१९—[23]हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥

हे ! भो ! हल ! इति 'अन्न !' इति,
भट्ट ! स्वामिक ! गोमिक ! ।
'होल !' 'गोल' 'वृषल !' इति
पुरुषं नैवमालपेत् ॥१९॥

२०—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ

नामधेयेन तं ब्रूयात्,
पुरुष-गोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत लपेत वा ॥२०॥

१८-१९-२०—हे आर्यक !, (हे दादा !, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता !, हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमन्त्रित न करे। किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

२१— पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे ॥

पञ्चेन्द्रियाणां प्राणानां
एषा स्त्री अयं पुमान्।
यावत्तां(त) न विजानीयात्
तावत् 'जाति' इत्यालपेत् ॥२१॥

२१—पंचेन्द्रिय प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा (निश्चित रूप से) न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

२२—[1] तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खिं वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए ॥

तथैव मनुष्यं पशुं,
पक्षिणं वाऽपि सरीसृपम्।
स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः (वाह्यः),
पाक्य (पात्य) इति च नो वदेत् ॥२२॥

२२-२३—इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और साँप को (देख कर) स्थूल, प्रमेदुर (बहुत चर्बी वाला) वध्य (या वाह्य)[1] अथवा पाक्य (पकाने योग्य) है ऐसा न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध कहा जा सकता है, उपचित[2] कहा जा सकता है अथवा संजात (युवा)[3] प्रीणित[4] और महाकाय कहा जा सकता है।

२३— परिवुड्ढे त्ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे ॥

परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयात्
ब्रूयादुपचित इति च।
संजातः प्रीणितो वाऽपि,
महाकाय इत्यालपेत् ॥२३॥

२४—तहेव गाओ दुज्झाओ
दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिमा रहजोग त्ति
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गावो दोह्याः
दम्या 'गोरहगा' इति च।
वाह्या रथयोग्या इति
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२४॥

२४-२५—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं[1] बैल[2] दमन करने योग्य हैं[3] हल में जोतने योग्य हैं, वहन करने योग्य हैं[4] (भार ढोने योग्य हैं) और रथ-योग्य हैं[5]—इस प्रकार न बोले।
(प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है—यों कहा जा सकता है। धेनु दूध देने वाली है—यों कहा जा सकता है। (बैल) छोटा है, बड़ा है अथवा संवहन—धुरा को वहन करने वाला है—यों कहा जा सकता है।

२५—[1] जुवं गवे त्ति णं बूया
धेणुं रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि
वए संवहणे त्ति य ॥

युवा गौरित्येनं ब्रूयात्
धेनुं रसदा इति च।
ह्रस्वो वा महान् वाऽपि
वदेत् संवहन इति च ॥२५॥

२६—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गत्वोद्यानं
पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२६॥

२६—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे—

२७—अलं पासायखंभाणं
तोरणाण गिहाण य।
फलिहग्गलनावाणं
अलं उदगदोणिणं ॥

अलं प्रासादस्तम्भाभ्यां
तोरणेभ्यो गृहेभ्यश्च।
परिघार्गलानौभ्यः,
अलं उदकद्रोण्यै ॥२७॥

२७—(ये वृक्ष) प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, परिघ, अर्गला[1], नौका और जल की कुंडी के लिए उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं।

२८—पीढए चंगबेरे य
नंगले मइयं सिया ।
जंतलट्ठी व नाभी वा
गंडिया[47] व अलं सिया ॥

पीठकाय 'चंगबेराय' च,
लाङ्गलाय 'मयिकाय' स्यात् ।
यन्त्रयष्टये वा नाभये वा,
गण्डिकायै वा अलं स्यात् ॥२८॥

२८—(ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री,[48] हल, मयिक[49] (बोये हुए बीजो के ढकने का उपकरण) कोल्हू, नाभि (पहिए का मध्य भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त हैं ।

२९—आसणं सयणं जाणं
होज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं
नेवं भासेज्ज पन्नव ॥

आसनं शयनं यानं,
भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये ।
भूतोपघातिनीं भाषा,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२९॥

२९—(इन वृक्षों में) आसन, शयन, यान और उपाश्रय के[48] उपयुक्त कुछ (काष्ठ) है—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान् भिक्षु न बोले ।

३०—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए
एवं भासेज्ज पन्नव ॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान वनानि च ।
वृक्षान महत प्रेक्ष्य,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३०॥

३१—जाइमंता इमे रुक्खा
दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा
वए दरिसणि त्ति य ॥

जातिमन्त इमे वृक्षा,
दीर्घवृत्ता महान्त ।
प्रजातशाला विटपिन,
वदेद् दर्शनीया इति च ॥३१॥

३०-३१—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान् भिक्षु यो कहे—ये वृक्ष उत्तम जाति के है, दीर्घ (लम्बे) हैं, वृत्त (गोल) हैं, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध युक्त) हैं[49], शाखा वाले है, प्रशाखा वाले हैं[50] और दर्शनीय हैं ।

३२—तहा फलाइं पक्काइं
पायखज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं
वेहिमाइ त्ति नो वए ॥

तथा फलानि पक्वानि,
पाकखाद्यानि नो वदेत् ।
वेलोचितानि 'टालाइं',
वेध्यानि इति नो वदेत् ॥३२॥

३२—तथा ये फल पक्व है, पकाकर खाने योग्य है[51]—इस प्रकार न कहे । (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोडने योग्य) हैं[52], इनमें गुठली नही पड़ी है[53], ये दो टुकडे करने योग्य हैं[54] (फाक करने योग्य है)—इस प्रकार न कहे ।

३३—[55]असंथडा इमे अंबा
बहुनिवट्टिमा[56] फला ।
वएज्ज बहुसंभूया
भूयरूव त्ति वा पुणो ॥

असस्कृता इमे आम्रा,
बहुनिर्वर्तित-फलाः ।
वदेद् बहुसंभूता,
भूतरूपा इति वा पुनः ॥३३॥

३३—(प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल-धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्राय निष्पन्न) फल वाले है, बहु-सभूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (कोमल) है—इस प्रकार कहे ।

३४—तहेवोसहीओ पक्काओ
नीलियाओ छवीइय ।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति
पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥

तथैवौषधयः पक्वा,,
नीलिका छविमत्यः ।
लवनीया भर्जनीया इति,
पृथु-खाद्या इति नो वदेत् ॥३४॥

३४—इस प्रकार औषधियाँ[57], पक गई हैं, अपक्व हैं[58], छवि (फली) वाली हैं[59], काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं, चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं—[60]इस प्रकार न बोले ।

३५—''रूढा बहुसंभूया
थिरा ऊसढा वि य ।
गब्भियाओ पसूयाओ
ससाराओ त्ति आलवे ॥

रूढा बहुसम्भूता
स्थिरा उच्छ्रिता अपि च ।
गर्भिताः प्रसूताः
ससाराः इत्यालपेत् ॥३५॥

३५—(प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियाँ अंकुरित हैं, निष्पन्न-प्रायः हैं, स्थिर हैं—ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों से सहित हैं, धान्य-कण सहित हैं—इस प्रकार बोले।

३६—तहेव संखडिं नच्चा
किच्चं कज्जं ति नो वए ।
तेणगं वा वि वज्झे त्ति
सुतित्थ त्ति य आवगा ॥

तथैव संस्कृतिं ज्ञात्वा,
कृत्यं कार्यमिति नो वदेत् ।
स्तेनकं वाऽपि वध्य इति
सुतीर्था इति आपगाः ॥३६॥

३७—संखडिं संखडिं बूया
पणियट्ठ त्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि
आवगाणं वियागरे ॥

संस्कृतिं संस्कृतिं ब्रूयात्
पणितार्थ इति स्तेनकम् ।
बहुसमानि तीर्थानि
आपगानां व्यागृणीयात् ॥३७॥

३६-३७—इसी प्रकार संखडि (जीमनवार)[१] और मृतभोज को जानकर—ये करणीय हैं[२], चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है—इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) संखडी को संखडी कहा जा सकता है, चोर को पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला)[४] कहा जा सकता है। 'नदी के घाट प्रायः सम हैं'—इस प्रकार कहा जा सकता है।

३८—तहा नईओ पुण्णाओ
कायतिज्ज[१] त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाओ त्ति
पाणिपिज्ज त्ति नो वए ॥

तथा नद्यः पूर्णाः
कायतार्या इति नो वदेत् ।
नौभिस्तार्या इति
प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥३८॥

३९—बहुवाहडा अगाहा
बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

बहुभृता अगाधा
बहुसलिलोत्पीलोदकाः ।
बहुविस्तृतोदकाश्चापि
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३९॥

३८-३९—तथा नदियाँ भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं—इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) (नदियाँ) प्रायः भरी हुई हैं, प्रायः अगाध हैं, बहुसलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है[११], बहुत विस्तीर्ण जल वाली हैं—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे।

४०—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥

तथैव सावद्यं योगं
परस्यार्थाय निष्ठितम् ।
क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा
सावद्यं न लपेन्मुनिः ॥४०॥

४०—इस प्रकार दूसरे के लिए किए गए अथवा किए जा रहे सावद्य व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले। जैसे—

४१—'सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति,
सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति
सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥४१॥

४१—बहुत अच्छा किया है[१] (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है। (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्र-शाक आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाक की तिक्तता आदि), बहुत अच्छा मरा है (दाल या सत्तू में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, बहुत ही इष्ट (प्रिय) है (चावल आदि)—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे।

—पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे
त्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
त्तलट्ठ त्ति व कम्महेउयं
रगाढ त्ति व गाढमालवे ॥

प्रयत्नपक्वमिति वा पक्वमालपेत्,
प्रयत्नछिन्नमिति वा छिन्नमालपेत् ।
प्रयत्नलष्टमिति वा कर्महेतुकम्,
गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत् ॥४२॥

४२—(प्रयोजनवश कहना हो तो) सुपक्व (पके हुए) को प्रयत्न-पक्व कहा जा सकता है। सुच्छिन्न (छेदे हुए) को प्रयत्नच्छिन्न कहा जा सकता है, कर्म-हेतुक[६९] (शिक्षा पूर्वक किए हुए) को प्रयत्न-लष्ट कहा जा सकता है। गाढ (गहरे घाव वाले) का प्रहार गाढ कहा जा सकता है।

—सव्वुक्कस परग्घ वा
अउल नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्व
अचियत्त चेव नो वए ॥

सर्वोत्कर्षं परार्घं वा,
अतुल नास्ति ईदृशम् ।
अविक्रेयमवक्तव्यम्,
'अचियत्त' चैव नो वदेत् ॥४३॥

४३—(क्रय-विक्रय के प्रसगों में) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना र[illegible] के समान दूसरी वस्तु कोई नहीं [illegible] विक्रेय (बेचने योग्य) नहीं है[७०], [illegible] न नहीं किया [illegible][७१],

—सव्वमेयं वइस्सामि
सव्वमेय त्ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ
एव भासेज्ज पन्नवं ॥

सर्वमेतद्[illegible]
[illegible]
[illegible]
एव भाषेत

—सुक्कीय वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥

सुक्रीतं वा [illegible]
अक्रेय [illegible]
इद गृहाण इद
पण्य नो [illegible]

५६—भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

भाषायाः दोषाश्च गुणाश्च ज्ञात्वा,
तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा ।
षट्सुसयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेद्बुद्ध हितामानुलोमिकीम् ॥५६॥

५६—भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति सयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले।

५७—[८५]परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥
—त्ति बेमि ॥

परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुष्कषायः अनिश्रितः ।
स निर्धूय धुन्नमलं पुराकृत,
आराधयेल्लोकमिम तथा परम् ॥५७॥
इति ब्रवीमि

५७—गुण दोष को परख कर बोलने वाला[८६], सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल[८७] को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करता है।

ऐसा मै कहता हूँ।

४९—नाणदंसणसंपन्नं
संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं
संजयं साहुमालवे॥

ज्ञानदर्शनसंपन्नं
संयमे च तपसि रतम्।
एवं गुणसमायुक्तं
संयतं साधुमालपेत्॥४९॥

४९—ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत—इस प्रकार गुण-समायुक्त संयमी को ही साधु कहे।

५०—देवाणं मणुयाणं च
तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुयाणं जओ होउ
मा वा होउ त्ति नो वए॥

देवानां मनुजानाञ्च
तिरश्चां च व्युद्ग्रहे।
अमुकानां जयो भवतु
मा वा भवतु इति नो वदेत्॥५०॥

५०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियों) का आपस में विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे।

५१—[१]वाओ वुट्ठं व सीउण्हं
खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु होज्ज एयाणि
मा वा होउ त्ति नो वए॥

वातो वृष्टं वा शीतोष्णं,
क्षेमं 'ध्रातं' शिवमिति वा।
कदा नु भवेयुरेतानि,
मा वा भवेयुरिति नो वदेत्॥५१॥

५१—वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम[१], सुभिक्ष[२] और शिव[३] ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे—इस प्रकार न कहे।

५२—[१]तहेव मेहं व नहं व माणवं
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं
न देव देव इति गिरं वदेत्।
संमूर्छितः उन्नतो वा पयोदः,
वदेद् वा वृष्टो बलाहक इति॥५२॥

५२—इसी प्रकार मेघ, नभ[४] और मानव[५] के लिए 'ये देव हैं'—ऐसी वाणी न बोले। मेघ समुच्छित हो रहा है, उमड़ रहा है अथवा उन्नत हो रहा है (झुक रहा है) अथवा बलाहक बरस पड़ा है—इस प्रकार बोले।

५३—अंतलिक्खे त्ति णं बूया
गुज्झाणुचरियं त्ति य।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स
रिद्धिमंतं ति आलवे॥

अन्तरिक्षमिति तद् ब्रूयात्
गुह्यानुचरितमिति च।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा,
ऋद्धिमान् इत्यालपेत्॥५३॥

५३—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। ऋद्धिमान् नर को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'—ऐसा कहे।

५४—तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भयसा व माणवो
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा॥

तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः
अवधारिणी या च परोपघातिनी।
स क्रोध-लोभ-भयेन वा मानवः
न हसन्नपि गिरं वदेत्॥५४॥

५४—इसी प्रकार सावद्य का अनुमोदन करनेवाली, अवधारिणी (शंकित अर्थ वाली)[६] और जीवघातकारक भाषा न बोले। मुनि[७] क्रोध, लोभ और भयवश न बोले। दूसरों की हँसी करता हुआ भी न बोले।

५५—सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए
सयाण मज्झे लहई पसंसणं॥

सवाक्यशुद्धिं समुत्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत् सदा।
मितामदुष्टां अनुविचिन्त्य भाषकः
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम्॥५५॥

५५—जो मुनि वाक्य-शुद्धि को भली भाँति समझ कर दोषयुक्त वाणी का प्रयोग न करे। मित और दोष-रहित वाणी सोच-विचार कर बोले। ऐसा करने वाला साधु सत्पुरुषों (भाषा के गुण-दोष जानने वालों) में प्रशंसा को प्राप्त होता है।

'सासय' का संस्कृत रूप 'स्वाशय' भी होता है। मोक्ष के लिए 'सासय ठाणं' शब्द व्यवहृत होता है, जब कि स्वाशय यहाँ स्वतन्त्र रहकर भी अपना पूर्ण अर्थ देता है। असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा के बारह प्रकार हैं उनमें दसवां प्रकार है—'संशयकरणी'[1]। जो भाषा अनेकार्थवाचक होने के कारण श्रोता को संशय में डाल दे उसे संशयकरणी कहा जाता है। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव लाओ।" सैन्धव का अर्थ—नमक और सिन्धु देश का घोड़ा, पुरुष और वस्त्र होता है[2]। श्रोता संशय में पड़ जाता है। वक्ता अपने सहजभाव से अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग करता है। वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण नहीं है। किन्तु आशय को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अनेकार्थ शब्द का प्रयोग (जैसे—अश्वत्थामा हत) किया जाए वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण है अथवा जो शब्द सामान्यत संदिग्ध हों—सन्देह-उत्पादक हों उनका प्रयोग भी अनाचीर्ण है।

टीकाकार ने चौथे श्लोक में सत्यासत्य[3], सावद्य एव कर्कश सत्य और पाँचवें में असत्य[4] का निषेध बतलाया है, किन्तु वह आवश्यक नहीं लगता। वे सर्वथा त्याज्य हैं। इसलिए उनके पुनर् निषेध की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। असत्य-भाषा सावद्य ही होती है इसलिए सावद्य आदि विशेषणयुक्त असत्य के निषेध का कोई अर्थ नहीं होता।

५. उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी (स भासं सच्चमोसं पि ग तं पि घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इस श्लोक में सत्य और असत्याऽमृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[5]। जिनदास महत्तर असत्याऽमृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[6] और टीकाकार सत्य तथा सत्य-मृषा का निषेध बतलाते हैं[7]।

हमारी धारणा के अनुसार ये दोनों श्लोक तीसरे श्लोक के 'असंदिग्ध' शब्द से संबन्धित होने चाहिए—वह व्यवहार और सत्य-भाषा अनाचीर्ण है जो संदिग्ध हो। अगस्त्य चूर्णि के आधार पर इसका अनुवाद यह होगा—यह (सावद्य और कर्कश) अर्थ या इसी प्रकार का दूसरा (सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि) अर्थ जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस असत्याऽमृषा-भाषा और सत्य भाषा का भी धीर पुरुष प्रयोग न करे।

६. यह (एयं क) :

दोनों चूर्णिकार और टीकाकार 'एयं' शब्द से सावद्य और कर्कश वचन का निर्देश करते हैं[8]।

१—पन्न० भा० ११ सू० १६५।

२—दश० नि० गाथा २७७, हा० टी० प० २१० संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्।

३—हा० टी० प० २१३ साम्प्रत सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह।

४—हा० टी० प० २१४ साम्प्रत मृषाभाषासरक्षणार्थमाह।

५—अ० चू० सापुण साधुणो अब्भणुण्णतात्ति सच्चा, असच्चामोसा मपि त पढम मणुण्णतामवि।

६—जि० चू० पृ० २४५-२४६ स भिक्खू ण केवल जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जावि असच्चमोसा भासा तमवि धीरो विविह अणेगप्पगार वज्जए विवज्जएत्ति।

७—हा० टी० प० २१३ 'स' साधु पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषा 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्यापि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भाव।

८—(क) अ० चू० एतमितिसावज्ज कक्कस च।

(ख) जि० चू० पृ० २४५ एय सावज्ज कक्कस च।

(ग) हा० टी० प० २१३ 'एत चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्ध सावद्यकर्कशविषयम्।

टिप्पणियाँ अध्ययन ७

श्लोक १

१ विनय (शुद्ध प्रयोग) (विणयं ग)

जिनदास चूर्णि के अनुसार भाषा का वह प्रयोग, जिसमें धर्म का अतिक्रमण न हो विनय कहलाता है[1]। टीकाकार ने भाषा के शुद्ध प्रयोग को विनय कहा है[2]। अगस्त्य चूर्णि में मूल पाठ 'विणयं' है और 'विनयं' को वहाँ पाठान्तर माना है[3]। विणय (विनय) अर्थात् निर्णय। यहाँ जो चार भाषाएँ बताई गई हैं उनमें से असत्य और मिश्र दो साधु को सर्वथा बोलनी ही नहीं चाहिए। शेष दो भाषाओं (सत्य और व्यवहार) का साधु को निर्णय करना चाहिए—उसे क्या और कैसे बोलना या नहीं बोलना है—इसका विवेक करना चाहिए।

श्लोक २

२ अवक्तव्य-सत्य (सच्चा अवत्तव्वा ख)

अवक्तव्य-सत्य भाषा का स्वरूप ग्यारहवें श्लोक से तेरहवें श्लोक तक बतलाया गया है।

३ जो भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो (जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना ग) :

श्लोक के इस चरण में असत्यामृषा का प्रतिपादन हुआ है। यह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवत्तव्वा' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्य-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद और क्रम-भेद हो सकता है। इसलिए यहाँ क्रम-भेद किया गया है[4]।

श्लोक ४

४ श्लोक ४ :

इस श्लोक का अनुवाद चूर्णि और टीका के अभिमत से भिन्न है। हमारे अनुवाद का आधार इसके पूर्ववर्ती दो श्लोक हैं। दूसरे के अनुसार असत्य और सत्य-मृषा भाषा सर्वथा वर्जनीय है तथा सत्य और असत्यामृषा जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण है वह वर्जनीय है। तीसरे श्लोक में आचीर्ण-सत्य और असत्यामृषा का स्वरूप बताकर उनके बोलने का विधान किया है। इसके पश्चात् क्रमशः चौथे में असत्यामृषा और पाँचवें में सत्य भाषा के अनाचीर्ण स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

१—जि० चू० पृ० २४४ : जं भासमाणो धम्मं नातिक्कमइ, एसो विणओ भण्णइ।

२—हा० टी० प० २१३ : 'विनयं' शुद्धप्रयोगं विनीयतेऽनेन कर्मेतिकृत्वा।

३—अ० चू० : विणयो समायरणविसाओ विकरिसणं। अथवा विणिओ णमिणमो। एत्थ सच्चासच्चामोसाविसेण विणयं सिक्खे केसिंचि आलावओ 'विणयं सिक्खे'। तंमि विसेसेण जो अत्थो भणितव्वो।

४—(क) जि० चू० पृ० २४४ : जा य बुद्धेहिं णाइन्नाएणं असच्चामोसावि गहिता सच्चमवत्तव्वे मोसावि गहिता एवं बंधाणुलोमत्थं इहरहा पच्छा उच्चरिया भाणियव्वा, बंधाणुलोमत्ताए विभत्तिभेदो होज्जा वयणभेदो वा (पी) लिङ्गभेदो वा होज्ज अत्थं अणुचिंतेत्ता।

(ख) हा० टी० प० २१३ : या च 'बुद्धैः' तीर्थकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।

टीकाकार 'वितथ' का अर्थ 'अतथ्य' करते हैं[1]। मूर्ति का अर्थ दोनों चूर्णिकारों के अनुसार शरीर[2] और टीकाकार के अनुसार स्वरूप है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अपि' शब्द को 'भी' के अर्थ में लिया है[4]। जिनदास महत्तर 'अपि' शब्द को सभावना के अर्थ में ग्रहण करते हैं[5]। हरिभद्रसूरि 'अपि' का अर्थ 'भी' मानते हैं किन्तु उसे तथामूर्ति के आगे प्रयुक्त मानते हैं[6]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ होता है—(१) जो पुरुष अन्यथावस्थित, किन्तु किसी भाव से तथाभूतरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है, (२) जिनदास महत्तर के अनुसार जो पुरुष वितथ-मूर्ति वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है और (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार इसका अर्थ होता है—तथामूर्ति होते हुए भी जो वितथ हो, उसका आश्रय लेकर जो बोलता है।

चूर्णिकार और टीकाकार के उदाहरणों में बहुत बडा अन्तर है[7]। जिनदास चूर्णि के अनुसार स्त्री-वेषधारी पुरुष को देखकर यह कहना कि स्त्री गा रही है तथा पुरुष-वेषधारी स्त्री को देखकर यह कहना कि पुरुष गा रहा है—सदोष है[8]। टीका के अनुसार—'पुरुष-वेषधारी स्त्री को स्त्री कहना सदोष है[9]। चूर्णिकार वेष के आधार पर किसी को पुरुष या स्त्री कहना सदोष मानते हैं और टीकाकार इसे निर्दोष मानते हैं। यह परस्पर विरोध है।

चूर्णि—पुरुष = स्त्रीवेप = स्त्री = सदोष
स्त्री = पुरुषवेष = पुरुष = सदोष
टीका—स्त्री = पुरुषवेष = स्त्री = सदोष

रूप-सत्य भाषा की अपेक्षा टीकाकार का मत ठीक लगता है। उनकी दृष्टि से पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहना चाहिए, स्त्री नहीं, किन्तु सातवें श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है कि जहाँ किसी व्यक्ति के बारे में उसके स्त्री या पुरुष होने का निश्चय न हो तब 'यह पुरुष है' ऐसा कहना वर्तमान शकित भाषा है[10]। इससे चूर्णिकार के मत की ही पुष्टि होती है। वे उसको सन्देह दशा की स्थिति में जोडते हैं। नाटक आदि के प्रसङ्ग में जहाँ वेष-परिवर्तन की सभावना सहज होती है वहाँ दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अथवा स्वय को सन्देह हो वैसी स्थिति में तथ्य के प्रतिकूल, केवल वेष के अनुसार, स्त्री या पुरुष कहना सदोष है।

सत्य-भाषा का चौथा प्रकार रूप-सत्य है[11]। जैसे—प्रव्रजित रूपधारी को प्रव्रजित कहना 'रूप-सत्य-सत्य भाषा' है। इस श्लोक में बतलाया है कि परिवर्तित वेष वाली स्त्री को स्त्री नहीं कहना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि जिसके स्त्री या पुरुष होने में सन्देह हो उसे केवल बाहरी रुप या वेष के आधार पर स्त्री या पुरुष नहीं कहना चाहिए किन्तु उसे स्त्री या पुरुष का वेष धारण करने

१—हा० टी० प० २१४ 'वितथम्' अतथ्यम्।
२—अ० चू०, जि० चू० पृ० २४६ 'मुत्ती सरीर भण्णइ।'
३—हा० टी० प० २१४ 'तथामूर्त्यपि' कथचित्तत्स्वरूपमपि वस्तु।
४—अ० चू० अविसद्देण केणतिभावेण तथाभूतमवि।
५—जि० चू० पृ० २४६ अविसद्दो सभावणे।
६—हा० टी० प० २१४ अपिशब्दस्य व्यवहित सम्बन्ध।
७—अ० चू० जहा पुरिस मित्थिनेवत्थ भणति—सोभणे इत्थी एवमादि।
८—जि० चू० पृ० २४६ तत्थ पुरिस इत्थिणेवत्थिय इत्थि वा पुरिसनेवत्थिय दट्ठूण जो भासइ—इमा इत्थिया गायति णच्चइ वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति।
९—हा० टी० प० २१४ पुरुषनेपथ्यस्थितवनिताद्यप्यङ्गीकृत्य या गिर भाषते नर', इय स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम्।
१०—हा० टी० प० २१४ साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति।
११—पन्न० पद ११।

७ दूसरा (अन्नं क)

अगस्त्यसिंह स्थविर अन्य शब्द के द्वारा सक्रिय, आस्रवकर और छेदनकर आदि का ग्रहण करते हैं[1]। इसकी तुलना आचाराङ्ग (२.४.१) से होती है। वहाँ भाषा के चार प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् बतलाया है कि मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, आस्रवकरी, छेदनकरी, भेदनकरी, परितापनकरी और भूतोपघातिनी सत्य-भाषा भी न बोले[2]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि ने लिखा है—'मृषा और सत्य-मृषा भाषा मुनि के लिए सर्वथा अवाच्य है। कर्कश आदि विशेषणयुक्त सत्य-भाषा भी उसे नहीं बोलनी चाहिए[3]।

८ (सासय ख) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में इसका अर्थ मोक्ष है[4]। हमने इसका अर्थ स्वाशय—अपना आशय किया है। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'सासव' का अर्थ स्वाश्रव—अपना श्रोता होना चाहिए[5]। आसव का अर्थ श्रोता भी है[6]। इसका अर्थ वचन, प्रतिज्ञा और अंगीकार भी है[7]। इसलिए इसका अर्थ अपना वचन, प्रतिज्ञा या अंगीकार भी हो सकता है।

श्लोक ५

९ श्लोक ५

इस श्लोक में बतलाया गया है कि प्रकट झूठ बोलने वाला पाप से स्पृष्ट होता ही है, किन्तु वस्तु का यथार्थ निर्णय किए बिना सत्य लगने वाली असत्य वस्तु को सहसा सत्य कहने वाला भी पाप से बच नहीं पाता। इसलिए सत्य-भाषी पुरुष को अनुविचिन्त्य भाषी (सोचविचार कर बोलने वाला) और निष्ठा भाषी (निश्चयपूर्वक बोलने वाला) होना चाहिए। इस श्लोक की तुलना आचाराङ्ग (२.४.१.४) से होती है।

अगस्त्यसिंह स्थविर वितथ का अर्थ अन्यथावस्थित करते हैं[8]। जिनदास महत्तर अतद्रूप वस्तु को 'वितथ' कहते हैं[9]।

१—अ० चू० : अन्नं सकिरियं अण्हयकरी च्छेयकरी एवमादि।

२—आचा० २.४.१.१३६ : तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा।

३—आचा० टी० २.४.१.१३६ : तत्र मृषा सत्यामृषा च साधूनां तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या, तां च दर्शयति—सहावद्येन वर्तत इति सावद्यां सत्यामपि न भाषेत, तथा सह क्रियया—अनर्थदण्डप्रवृत्तिरूपया वर्तत इति सक्रिया तामिति, तथा 'कर्कशां' चर्विताक्षरां तथा 'कटुकां' चित्तोद्वेगकारिणीं तथा 'निष्ठुरां' हक्काप्रधानां 'परुषां' मर्मोद्घाटनपराम् 'अण्हयकरिं' ति कर्मास्रवकरीम्, एवं छेदनभेदनकरीं यावत् अपद्रावणकरीमित्येवमादिकां 'भूतोपघातिनीं' प्राण्युपतापकारिणीम् 'अभिकाङ्क्ष्य' मनसा पर्यालोच्य सत्यामपि न भाषेतेति।

४—(क) अ० चू० : सासतो मोक्खो।

(ख) हा० टी० प० २११ : शाश्वतम्—मोक्षम्।

५—जि० चू० पृ० २५० : कहा जं सोयमवि वुच्चति तं च सोवासस्स अभिमुहं भवइ।

६—पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ११७०।

७—वृहत् हिन्दी कोष।

८—अ० चू० : अन्नं वितहं-अन्नहावत्थितं।

९—जि० चू० पृ० २५१ : वितहं नाम जं वत्थु न तेण सरूवेण अत्थि तं वितहं भन्नइ।

टीकाकार 'वितथ' का अर्थ 'अतथ्य' करते हैं[1]। मूर्ति का अर्थ दोनों चूर्णिकारों के अनुसार शरीर[2] और टीकाकार के अनुसार स्वरूप है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अपि' शब्द को 'भी' के अर्थ में लिया है[4]। जिनदास महत्तर 'अपि' शब्द को सभावना के अर्थ में ग्रहण करते हैं[5]। हरिभद्रसूरि 'अपि' का अर्थ 'भी' मानते हैं किन्तु उसे तथामूर्ति के आगे प्रयुक्त मानते हैं[6]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ होता है—(१) जो पुरुष अन्यथावस्थित, किन्तु किसी भाव से तथाभूतरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर वोलता है, (२) जिनदास महत्तर के अनुसार जो पुरुष वितथ-मूर्ति वाली वस्तु का आश्रय लेकर वोलता है और (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार इसका अर्थ होता है—तथामूर्ति होते हुए भी जो वितथ हो, उसका आश्रय लेकर जो वोलता है।

चूर्णिकार और टीकाकार के उदाहरणों में वहुत वड़ा अन्तर है[7]। जिनदास चूर्णि के अनुसार स्त्री-वेपधारी पुरुप को देखकर यह कहना कि स्त्री गा रही है तथा पुरुप-वेपधारी स्त्री को देखकर यह कहना कि पुरुप गा रहा है—सदोप है[8]। टीका के अनुसार—'पुरुष-वेषधारी स्त्री को स्त्री कहना सदोप है'[9]। चूर्णिकार वेष के आधार पर किसी को पुरुप या स्त्री कहना सदोप मानते हैं और टीकाकार इसे निर्दोप मानते हैं। यह परस्पर विरोध है।

चूर्णि—पुरुप = स्त्रीवेप = स्त्री = सदोप
स्त्री = पुरुपवेष = पुरुप = सदोष
टीका—स्त्री = पुरुपवेप = स्त्री = सदोप

रूप-सत्य भाषा की अपेक्षा टीकाकार का मत ठीक लगता है। उनकी दृष्टि से पुरुप-वेपधारी स्त्री को पुरुप कहना चाहिए, स्त्री नहीं, किन्तु सातवें श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है कि जहाँ किसी व्यक्ति के वारे में उसके स्त्री या पुरुप होने का निश्चय न हो तव 'यह पुरुष है' ऐसा कहना वर्तमान शकित भाषा है[10]। इससे चूर्णिकार के मत की ही पुष्टि होती है। वे उसको सन्देह दशा की स्थिति में जोडते हैं। नाटक आदि के प्रसङ्ग में जहाँ वेष-परिवर्तन की सभावना सहज होती है वहाँ दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अथवा स्वय को सन्देह हो वैसी स्थिति में तथ्य के प्रतिकूल, केवल वेष के अनुसार, स्त्री या पुरुष कहना सदोप है।

सत्य-भाषा का चौथा प्रकार रूप-सत्य है[11]। जैसे—प्रव्रजित रूपधारी को प्रव्रजित कहना 'रूप-सत्य-सत्य भाषा' है। इस श्लोक में वतलाया है कि परिवर्तित वेप वाली स्त्री को स्त्री नहीं कहना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि जिसके स्त्री या पुरुष होने में सन्देह हो उसे केवल वाहरी रुप या वेष के आधार पर स्त्री या पुरुष नहीं कहना चाहिए किन्तु उसे स्त्री या पुरुष का वेष धारण करने

१—हा० टी० प० २१४ 'वितथम्' अतथ्यम्।
२—अ० चू०, जि० चू० पृ० २४६ 'मुत्ती सरीर भण्णइ।'
३—हा० टी० प० २१४ 'तथामूर्त्यपि' कथचित्तत्स्वरूपमपि वस्तु।
४—अ० चू० अविसद्देण केणतिभावेण तथाभूतमवि।
५—जि० चू० पृ० २४६ अविसद्दो सभावणे।
६—हा० टी० प० २१४ अपिशब्दस्य व्यवहित सम्वन्ध।
७—अ० चू० जहा पुरिस मित्थिनेवत्थ भणति—सोभणे इत्थी एवमादि।
८—जि० चू० पृ० २४६ तत्थ पुरिसं इत्थिणेवत्थिय इत्थि वा पुरिसनेवत्थिय दट्ठूण जो भासइ—इमा इत्थिया गायति णच्चइ वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति।
९—हा० टी० प० २१४ पुरुषनेपथ्यस्थितवनितादयप्यङ्गीकृत्य या गिर भाषते नर', इय स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम्।
१०—हा० टी० प० २१४ साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुपाविनिश्चये एप पुरुप इति।
११—पन्न० पद ११।

बाला कहना चाहिए। आचाराङ्ग से भी इस आशय की पुष्टि होती है[1]।

श्लोक ६

१० इसलिए (तम्हा [क]) :

यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध है। अगस्त्यसिंह ने इनका सम्बन्ध इस प्रकार मिलाया है—शंकित वेष आदि के आधार पर बोलना भी सदोष है। इसलिए मृषावाद की सम्भावना हो वैसी शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए[2]।

हरिभद्रसूरि के अनुसार सत्य लगने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलने वाला पाप से लिप्त होता है इसलिए जहाँ मृषावाद की संभावना हो वैसी शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए[3]। तात्पर्य यह है कि पूर्व श्लोकोक्त वेष शंकित भाषा बोलने वाला पाप से लिप्त होता है इसलिए क्रिया-शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए।

११ हम जायेंगे (गच्छामो [ख]) :

यहाँ 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है[4]।

श्लोक ७

१२ वर्तमान और अतीत काल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित (संपयाईयमट्ठे [ग]) :

काल की दृष्टि से शंकित भाषा के तीन प्रकार होते हैं

(१) भविष्यत्कालीन (२) वर्तमानकालीन और (३) अतीतकालीन। भविष्यत्कालीन शंकित भाषा के उदाहरण छठे श्लोक में आ चुके हैं। निश्चित जानकारी के अभाव में—अमुक वस्तु अमुक की है—इस प्रकार कहना वर्तमानकालीन शंकित भाषा है।

टीकाकार के अनुसार—स्त्री या पुरुष है—ऐसा निश्चय न होने पर किसी को स्त्री या पुरुष कहना वर्तमान शंकित भाषा है। बैल देखा या गाय इसकी ठीक स्मृति न होते हुए भी ऐसा कहे कि मैंने गाय देखी थी—यह अतीतकालीन शंकित भाषा है[5]।

श्लोक ८-६

१३ श्लोक ८ १० :

दोनों चूर्णियों में आठवें नवें और दसवें श्लोक के स्थान पर दो ही श्लोक हैं और रचना-दृष्टि से वे इनसे भिन्न हैं।

१—आचा० २.४.१ सू० ३५५ : इत्थी वेस पुरिसो वेस णपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा—

वृत्ति—तथा स्त्र्यादिके दृष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा एवमेवैतदन्यथा तद्, एवम् 'अनुविचिन्त्य' विचिन्त्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत।

२—अ० चू० : जतो एवं वेसग्गहीयाय संकिए वि दोसो तम्हा।

३—हा० टी० प० २१४ : 'तम्हा' त्ति सूत्रं यस्माद्वितथं तथामूर्त्तमपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बध्यते तस्मात्।

४—सिद्ध० ५.४.१।

५—हा० टी० प० २१४ : तथा साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दादिनिश्चये तदाऽत्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति।

विषय-वर्णन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं जान पड़ता किन्तु शब्द-संकलन की दृष्टि से चूर्णि में व्याख्यात श्लोक गम्भीर हैं।

टीकाकार ने चूर्णि से भिन्न परम्परा के आदर्शों का अनुसरण किया है। अगस्त्य चूर्णिगत श्लोक और उनकी व्याख्या इस प्रकार है :

तहेव णागत अट्ठ ज वट्टा मणु (ण) व धारिय।
सकित पडुपण्ण वा 'एवमेय' ति णो वदे ॥८॥
तेहवाणागत अट्ठ जं वट्टा मु (म) वधारिय।
नीसकित पडुपण्णं थावथावाए णिद्दिसे ॥९॥

छाया

तथैवानागतमर्थं, य वान्यमनुप (नव) धारितम्।
शङ्कित प्रत्युत्पन्न वा, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् ॥८॥
तथैवानागतमर्थं, य वान्यमुप (मव) धारितम्।
निशङ्कित प्रत्युत्पन्न, स्थाप स्थाप निर्दिशेत् ॥९॥

अनुवाद

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के अज्ञात तथा वर्तमान के सदिग्ध अर्थ के बारे में यह इस प्रकार ही है—ऐसा न कहे।

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के सुज्ञात तथा वर्तमान के निश्चित अर्थ को हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थापित कर उसका निर्देश करे—जैसा हो वैसा कहे।

छट्ठे तथा सातवें श्लोक में जिस क्रिया का हो सकना सदिग्ध हो उसे निश्चयपूर्ण शब्दों में कहने का निषेध किया है और इन दो श्लोकों में अतीत, अनागत और वर्तमान की घटनाओं तथा व्यक्तियों की निश्चित जानकारी के अभाव में या सदिग्ध जानकारी की स्थिति में उनका निश्चित भाषा में प्रतिपादन करने का निषेध किया है। अगस्त्य चूर्णि में 'एष्यत्' का अर्थ निकट भविष्य और अनागत का अर्थ सुदूर भविष्य किया है[1]। कल्की होगा—यह सुदूर भविष्य का अविज्ञात अर्थ है[2]। दिलीप सुदूर अतीत में हुए हैं[3]। उनके बारे में निर्धारित बातें कहना असत्य वचन है।

उव(अव)धारित का अर्थ वस्तु की सामान्य जानकारी (उपलब्धिमात्र) और नि शङ्कित का अर्थ वस्तु की विशिष्ट जानकारी (सर्वोपलब्धि) है[4]।

अतीत और अनागत के साथ उपधारित और वर्तमान के साथ निःशकित का प्रयोग किया है वह सापेक्ष है। वर्तमान की जितनी पूर्ण जानकारी हो सकती है उतनी अतीत और भविष्य की नहीं हो सकती।

सामान्य बात यही है कि दोनों काल के अनवधारित और शकित अर्थ के बारे में 'यह इसी प्रकार है' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये किन्तु 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार कहना चाहिए। मिथ्या वचन और विवाद से बचने का यह उत्तम उपाय है।

जिनदास चूर्णि (पृ० २४८) में ये श्लोक इस प्रकार हैं

त तहेव अईयमि, कालमिऽणवधारिय।
ज चण्ण सकिय वावि, एवमेवति नो वए ॥
तहेवाणागय अद्ध, ज होइ उवहारिय।
निस्सकिय पडुप्पन्ने, एवमेयति निद्दिसे ॥

१—अ० चू० एसो आसण्णो, अणागतो विकिट्ठो।
२—अ० चू० अणुवधारित—अविण्णात।
३—अ० चू० जहा दिलीपादयो एव विधा आसी।
४—अ० चू० उवधारिय वत्थुमत्त, णीसकित सव्वपगार।

छाया

तथैव अतीते कालेऽनवधारितम् ।
यच्चान्यच्छङ्कितं वापि एवमेवमिति नो वदेत् ॥
तथैव अनागतां अर्थां यद् भवति उपधारितम् ।
निःशङ्कितं प्रत्युत्पन्ने एवमेतत् इति निर्दिशेत् ॥

अनुवाद

इसी प्रकार अतीतकाल के अनिश्चित अर्थ तथा अन्य (वर्तमान तथा भविष्य) के शंकित अर्थ के विषय में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे ।

इसी प्रकार भविष्यकाल तथा वर्तमान और अतीत के निश्चित अर्थ के बारे में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे ।

श्लोक १०

१४ श्लोक १०

छठे श्लोक से नवें श्लोक तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का निषेध किया है और इस श्लोक में उसके बोलने का विधान है । निश्चयात्मक भाषा बोलनी ही नहीं चाहिए, ऐसा जैन दृष्टिकोण नहीं है किन्तु जैन दृष्टिकोण यह है कि जिस विषय के बारे में वक्ता को सन्देह हो या जिस कार्य का होना संदिग्ध हो उसके बारे में निश्चयात्मक भाषा नहीं बोलनी चाहिए—ऐसा करूँगा, ऐसा होगा इस प्रकार नहीं कहना चाहिए । किन्तु मेरी कल्पना है कि मैं ऐसा करूँगा संभव है कि यह इस प्रकार होगा—यों कहना चाहिए । स्याद्वाद को जो लोग सन्देहवाद कहते हैं और जो कहते हैं कि जैन लोग निश्चयात्मक भाषा में बोलते ही नहीं उनके लिए यह श्लोक सहज प्रतिवाद है ।

श्लोक ११

१५ परुष (फरुसा क)

जिनदास और हरिभद्र ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित—रूखा किया है[१] । शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ मर्म का प्रकाशन करने वाली वाणी है[२] ।

१६ महान् भूतोपघात करने वाली (गुरुभूओवघाइणी ख) :

आचाराङ्ग (२ ४ १.६) में केवल 'भूओवघाइय' शब्द का प्रयोग मिलता है । यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग संभवतः पद-रचना की दृष्टि से हुआ है । 'गुरु' शब्द भूत का विशेषण हो तो अर्थ का विरोध आता है । छोटे या बड़े किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवाच्य है । इसलिए यह भूतोपघातिनी का विशेषण होना चाहिए । जिस भाषा के प्रयोग से महान् भूतोपघात हो उसे गुरु-भूतोपघातिनी भाषा कहा जा सकता है ।

१—(क) जि० चू० पृ० २५१ : 'फरुसा' णाम णेहवज्जिया ।
(ख) हा० टी० प० २१६ : 'परुषा भाषा' निष्ठुरा भावस्नेहरहिता ।
—आचा० २.१.४ सू० १६१ वृ० : 'परुषां' मर्मोद्घाटनपराम् ।
२—जि० चू० पृ० २५१ : जीए भासाए भासियाए गुरुओ भूओवघाओ भवइ ।

अगस्त्य चूर्णि में 'गुरु-भूतोपघातिनी' के तीन अर्थ किए गए हैं : (१) वृद्ध आदि गुरुजन या सब जीवों को उपतप्त करने वाली, (२) गुरु अर्थात् बड़े व्यक्तियों का उपघात करने वाली, जैसे—कोई विदेशागत व्यक्ति है। वह अपने को कुल-पुत्र या ब्राह्मण बतलाता है उसे दास आदि कहना उसके उपघात का हेतु बनता है। (३) गुरु अर्थात् बड़ी भूतोपघात करने वाली, जैसे—कोई ऐसी बात कहना जिससे विद्रोह भड़क जाए, अन्त पुर आदि को मार डाले[1]।

यहाँ उपघात के प्राणिवध, पीड़ा और अभ्याख्यान—ये तीन अर्थ हो सकते हैं[2]।

प्रस्तुत श्लोक में स्नेह-वर्जित, पीड़ा और प्राणिवधकारक तथा अभ्याख्यानात्मक सत्य वचन बोलने का निषेध है।

श्लोक १३ :

१७. आचार ''सम्बन्धी भाव-दोष को जानने वाला (आयारभावदोसन्नू ग) :

जिनदास चूर्णि और टीका में 'आयार' का कोई अर्थ नहीं किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'आयार' का अर्थ—'वचन-नियमन' किया है। भाव-दोष का अर्थ प्रदुष्ट चित्त है। काना किसी व्यक्ति का नाम हो उसे काना कहने में दोष नहीं है, किन्तु द्वेषपूर्ण चित्त से काने व्यक्ति को काना नहीं कहना चाहिए।

भाव-दोष का दूसरा अर्थ प्रमाद है। प्रमादवश किसी को काना नहीं कहना चाहिए[3]।

श्लोक १४ :

१८. श्लोक १४ :

होल, गोल आदि शब्द भिन्न-भिन्न देशों मे प्रयुक्त होने वाले तुच्छता, दुश्चेष्टा, विग्रह, परिभव, दीनता और अनिष्टता के सूचक हैं। एक शब्द में ये अवज्ञा-सूचक शब्द हैं[4]। होल—निष्ठुर आमत्रण। गोल—जारपुत्र। वृषल—शूद्र। द्रमक—रक। दुर्भग—भाग्यहीन[5]।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२ ४.१ ८) तथा 'होलावाय सहीवाय, गोयावाय च नो वदे' (सूत्रकृताङ्ग १ ६ २७)।

श्लोक १५ :

१९. श्लोक १५ :

इन शब्दों का प्रयोग करने से स्नेह उत्पन्न होता है। 'यह श्रमण अभी भी लोक-सज्ञा को नहीं छोड रहा है, यह चाटुकारी

१—अ० चू० विद्धादीण गुरुण सव्वभूताण वा उवघातिणी (उवतापिणी) अहवा गुरूणि जाणि भूताणि महती, तेसिं कुलपुत्तबभणत्त-भावित विदेसागत तहा जातीयकतसथव दासादि वदति जतो से उवघातो भवति। गुरु वा भूतोवघात जा करेति रायतोउराति अभिद्रोहातिणामरणतिय सव्वावि सा न वत्तव्वा, किमुत अलिया।

२—(क) स्था० १० १ सू० ७४१ वृ० उवघात निस्सते-उपघाते-प्राणिवधे निश्रितम्, आश्रितम्, दशम मृषा।

(ख) नि० चू० उपघात —पीड़ा व्यापादन वा।

(ग) प्र० वृ० ११ उवघाइय णिस्सिया—आघातनि सृता चौरस्त्वमित्याद्यभ्याख्यानम्।

३—अ० चू० वयण-नियमण मायारो, एयमि आयारे सति भाव दोसो—पदुट्ठ चित्त, तेण भावदोसेण न भासेज्जा जति पुण काण चोरोति कस्सति णाम ततो भासेज्जावि अहवा आयारे भाव दोसो-पमातो। पमातेण ण भासेज्जा।

४—हा० टी० प० २१५ इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचका।

५—अ० चू० होलेत्ति निठुर मामतण देसीए भविल वद्दणमिव, एच गोल इतिदुच्चेठितातो, छणएणोवमाणवदण वछलो छद्दपरिभव वयण, भोयण निमित्त घरे घरे द्रमति गच्छतीति दूमको रको दुभगो अणिट्ठो।

इस श्लोक में बताया गया है कि नाम याद हो तो नाम लेकर सम्बोधित करे, नाम याद न हो तो गोत्र से सम्बोधित करे अथवा नाम या गोत्र दोनों में से जो अधिक उचित हो उससे सम्बोधित करे। अवस्था आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उचित हो उसी शब्द से उसको सम्बोधित करे[1]। मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा' कहा जाता है, कहीं उसे 'धर्म-प्रिया' और कहीं 'धर्मशीला'। इस प्रकार जहाँ जो शब्द उचित हो, उसीसे सम्बोधित करे[2]।

२२. गुण-दोष का विचार कर (अभिगिज्झ ग) :

'अभिगिज्झ' शब्द की तुलना आचाराङ्ग (२ ४. १ ३५६) के 'अभिकख' शब्द से होती है। टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—'अभिकाङ्क्ष्य-पर्यालोच्य' अर्थात् पर्यालोचन कर। प्रस्तुत श्लोक के 'अभिगिज्झ' शब्द का चूर्णिकार और टीकाकार दोनों को यही अर्थ अभिमत है[3]।

श्लोक १६ :

२३. श्लोक १६ :

हे! और भो! सामान्य आमत्रण शब्द हैं। 'अण्ण' यह महाराष्ट्र मे पुरुष के सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होता था। 'भट्टि' 'सामि' और 'गोमि'—ये पूजावाची शब्द हैं। 'होल' प्रभुवाची शब्द हैं। 'गोल' और 'वसुल' युवा पुरुष के लिए प्रयुक्त प्रिय-शब्द हैं[4]।

श्लोक २१ :

२४. श्लोक २१ :

शिष्य ने पूछा—यदि पञ्चेन्द्रिय जीवों के बारे में स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति शब्द का प्रयोग करना चाहिए तब फिर चतुरिन्द्रिय तक के जीव जो नपुंसक ही होते हैं, उनके लिये स्त्री और पुरुष लिङ्गवाची शब्दों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? और यह जो प्रयोग किया जाता है, जैसे—

	पुरुष	स्त्री
पृथ्वी	पत्थर	मृत्तिका
जल	करक	उस्सा (अवश्याय)
अग्नि	मुर्मुर	ज्वाला
वायु	वात	वातुली (वात्या)
वनस्पति	आम्र	अंबिया

१—जि० चू० पृ० २५१ ज तीए नाम तेण नामधिज्जेण सा इत्थी आलवियव्वा, जाहे नाम न सरेज्जा ताहे गोत्तेण आलवेज्जा, जहा कासव गोत्ते। एवमादि, 'जहारिहं' नाम जा वुड्ढा सा अहोत्ति वा तुज्झेति वा भाणियव्वा, जा समाणवया सा तुमति वा वत्तव्वा, वच्छ पुणो पप्प ईसरीति वा, समाणवया ऊणा वा तहावि तुब्भेत्ति भाणियव्वा, जेणप्पगारेण लोगो आभासइ जहा भट्टा गोमिणित्ति वा एवमादि।

२—हा० टी० प० २१६ : तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघात।

३—(क) जि० चू० पृ० २५१ अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण।
(ख) हा० टी० प० २१६ 'अभिगृह्य' गुणदोषानालोच्य।

४—अ० चू० हे भो हरेत्ति सामण्ण मामतणवयण। 'अण्ण' इति मरहट्ठाण भट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि निद्देसाविछ सव्व विभत्तिछ। होल इति पहुवयण। गोल वसुल जवाणप्रियवयण।

है—ऐसा लोग अनुभव करते हैं इसलिए इनका निषेध किया गया है[1]।

श्लोक १६

२० श्लोक १६ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'हले' और 'अन्ने' तरुणी स्त्री के लिए सम्बोधन शब्द हैं। इनका प्रयोग महाराष्ट्र में होता था। लाट (मध्य और दक्षिणी गुजरात) देश में उसके लिए हला शब्द का प्रयोग हुआ करता था। 'भट्टे' पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था। 'सामिणी' यह लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन शब्द है और 'गोमिणी' प्रायः सब देशों में प्रयुक्त होता था। होले, गोले और वसुले—ये तीनों प्रिय वचन वाले आमंत्रण हैं, जो कि गोल देश में प्रयुक्त होते थे।

जिनदास के अनुसार 'हले' आमंत्रण का प्रयोग वरदा-तट में होता था 'हला' का प्रयोग लाट देश में। 'अन्ने' का प्रयोग महाराष्ट्र में वेश्याओं के लिए होता था। 'भट्टे' का प्रयोग लाट देश में ननद के लिए होता था। सामिणी और 'गोमिणी'—ये चाटुता के आमन्त्रण हैं। होले गोले और वसुले—ये तीनों मधुर आमन्त्रण हैं[2]।

श्लोक १७

२१ (नामधिज्जेण ण गोत्तेण ण) :

प्राचीन काल में व्यक्ति के दो नाम होते थे—गोत्र नाम और व्यक्तिगत-नाम। व्यक्ति को इन दोनों नामों से सम्बोधित किया जाता था। जैसे—भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य का नाम इन्द्रभूति था और वे आगमों में गौतम—इस गोत्र नाम से प्रसिद्ध हैं।

पाणिनी ने गोत्र का अर्थ—पौत्र आदि अपत्य किया है[3]। यशस्वी और प्रसिद्ध पुरुष के परंपर-वंशज गोत्र कहलाते थे। स्थानाङ्ग में काश्यप गौतम वत्स कुत्स कौशिक मण्डव वाशिष्ठ—ये सात गोत्र बतलाये हैं[4]।

वैदिक साहित्य में गोत्र शब्द व्यक्ति विशेष या रक्त-सम्बन्ध से संबद्ध जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[5]।

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र जमदग्नि भारद्वाज गौतम अत्रि वशिष्ठ और कश्यप—ये सात गोत्र कर्ता ऋषि हैं तथा आठवाँ गोत्र-कर्ता ऋषि अगस्त्य है। इनकी संतति या वंश-परम्परा को गोत्र कहा जाता है[6]।

1—जि० चू० पृ० २५८ : एयाणि अभिप्पाएणि वा भासेज्जा किं कारणं? जम्हा एवं भासमाणस्स दोसो भवइ परोप्परं कोवो य भवेज्ज एवं वा कोवो किच्चा एसणंपि कोगस्सं च मुसा वादुच्चरी वा।

२—अ० चू० : हले-अन्नेति मरहट्ठेसु तरुणित्थी आमंतणं। हलेति लाडेसु। भट्टेति अवच्च-रहित्त क्वचं पत्तो लाडेसु। सामिणि इति लाडेसु। गोमिणी गोल्ल विसए। होले गोले वसुलेत्ति देसिए लालणमत्याणीयाणि पियवयणामंतणाणि।

३—जि० चू० पृ० २५९ : तत्थ वरदातडे हलेति आमंतणं, लाडविसए समाणवयसाण्णं वा आमंतणं जहा हलित्ति, अन्नेति मरहट्ठविसए आमंतणं दोसूहत्तरगाणं चाडुवयणं अन्नेत्ति, भट्टि लाडाणं पतिभगिणी भण्णइ सामिणी गोमिणि भो चाडुए वयणं होलेत्ति आमंतणं जहा—'होलवणिभो तु मुण्डो, सणकक परमसामो हंदो। अण्णंपि किर वारसा हंसभवसतं समतिरेके'॥ एवं गोलवयणाणि महुरं सप्पिवासं आमंतणं।

४—पा० अष्टा० ४.१.१६२ : अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्।

५—स्था० ७.३.५५१ : सत्त मूलगोत्ता पं० तं०—कासवा गोयमा वच्छा कोच्छा कोसिता मंडवा वासिट्ठा।

६—अ० वे० ५.२१.३।

७—प्रवराध्याय ५४।

इस श्लोक में बताया गया है कि नाम याद हो तो नाम लेकर सम्बोधित करे, नाम याद न हो तो गोत्र से सम्बोधित करे अथवा नाम या गोत्र दोनों में से जो अधिक उचित हो उससे सम्बोधित करे। अवस्था आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उचित हो उसी शब्द से उसको सम्बोधित करे[1]। मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा' कहा जाता है, कहीं उसे 'धर्म-प्रिया' और कहीं 'धर्मशीला'। इस प्रकार जहाँ जो शब्द उचित हो, उसीसे सम्बोधित करे[2]।

२२. गुण-दोष का विचार कर (अभिगिज्झ ग) :

'अभिगिज्झ' शब्द की तुलना आचाराङ्ग (२ ४. १ ३५६) के 'अभिकख' शब्द से होती है। टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—'अभिकाङ्क्ष्य-पर्यालोच्य' अर्थात् पर्यालोचन कर। प्रस्तुत श्लोक के 'अभिगिज्झ' शब्द का चूर्णिकार और टीकाकार दोनों को यही अर्थ अभिमत है[3]।

श्लोक १६ :

२३. श्लोक १६ :

हे! और भो! सामान्य आमत्रण शब्द हैं। 'अण्ण' यह महाराष्ट्र मे पुरुष के सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होता था। 'भट्टि' 'सामि' और 'गोमि'—ये पूजावाची शब्द हैं। 'होल' प्रभुवाची शब्द हैं। 'गोल' और 'वसुल' युवा पुरुष के लिए प्रयुक्त प्रिय-शब्द हैं[4]।

श्लोक २१ :

२४. श्लोक २१ :

शिष्य ने पूछा—यदि पञ्चेन्द्रिय जीवों के बारे में स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति शब्द का प्रयोग करना चाहिए तब फिर चतुरिन्द्रिय तक के जीव जो नपुसक ही होते हैं, उनके लिये स्त्री और पुरुष लिङ्गवाची शब्दों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? और यह जो प्रयोग किया जाता है, जैसे—

	पुरुष	स्त्री
पृथ्वी	पत्थर	मृत्तिका
जल	करक	उस्सा (अवश्याय)
अग्नि	मुर्मुर	ज्वाला
वायु	वात	वातुली (वात्या)
वनस्पति	आम्र	अविया

१—जि० चू० पृ० २५१ ज तीए नाम तेण नामधिज्जेण सा इत्थी आलवियव्वा, जाहे नाम न सरेज्जा ताहे गोत्तेण आलवेज्जा, जहा कासव गोत्ते! एवमादि, 'जहारिह' नाम जा वुड्ढा सा अहोत्ति वा तुज्फेति वा भाणियव्वा, जा समाणवया सा तुमति वा वत्तव्वा, वच्छ पुणो पप्प ईसरीति वा, समाणवया ऊणा वा तहावि तुब्भेत्ति भाणियव्वा, जेणप्पगारेण लोगो आभासइ जहा भट्टा गोमिणित्ति वा एवमादि।

२—हा० टी० प० २१६ तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघात।

३—(क) जि० चू० पृ० २५१ अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण।
(ख) हा० टी० प० २१६ 'अभिगृह्य' गुणदोषानालोच्य।

४—अ० चू० हे भो हरेत्ति सामण्ण मामतणवयण। 'अण्ण' इति मरहट्ठाण भट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि निद्देसातिह्व सव्व विभत्तिष्ठ। होल इति पहुवयणं। गोल वहुल जवाणप्रियवयण।

श्लोक २३ :

२८. श्लोक २३ :

पूर्वोक्त श्लोक में स्थूल आदि जिन चार शब्दों के प्रयोग का निषेध किया है उनकी जगह आवश्यकता होने पर परिवृद्ध आदि शब्दों के प्रयोग का विधान इस श्लोक में किया गया है।

अवाच्य	वाच्य
स्थूल	परिवृद्ध
प्रमेदुर	उपचित
वध्य या वाह्य	सजात और प्रीणित
पाक्य	महाकाय

आचाराङ्ग (२ ४ २) में स्थूल आदि के स्थान पर परिवृद्ध-काय, उपचित-काय, स्थिर-सहनन, चित-मांस-शोणित और बहुप्रति-पूर्णेन्द्रिय शब्दों के प्रयोग का विधान है।

२९. परिवृद्ध (परिवुड्ढे [क])

हरिभद्रसूरि ने इसका संस्कृत रूप 'परिवृद्ध' किया है और शीलाङ्कसूरि भी आचाराङ्ग (२ ४ वृत्ति) में इसका यही रूप मानते हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार भी वृद्ध का वुड्ढ रूप बनता है[१]। चूर्णियों तथा कुछ प्राचीन आदर्शों में 'परिवूढ' ऐसा पाठ मिलता है।

उत्तराध्ययन (७ २, ६) में 'परिवूढ' शब्द का प्रयोग हुआ है। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और इसका अर्थ 'समर्थ' किया है[२]।

उपाध्याय कमलसंयम ने एक स्थल पर उसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और दूसरे स्थल पर 'परिवृद्ध' किया है[३]।

३०. उपचित (उवचिए [ख]) :

मांस के उपचय से उपचित[४]।

३१. संजात (युवा) (संजाए [ग]) :

सजात का अर्थ युवा है[५]।

३२. प्रीणित (पीणिए [ग]) :

प्रीणित का अर्थ है—आहार आदि से तृप्त[६]।

१—हैम० ८ २ ४० दग्धविदग्ध-वृद्धि वृद्धे ढ।
२—उत्त० बृ० बृ० पत्र २७३, २७४।
३—उत्त० स० पत्र १५८-१५९।
४—अ० चू० उवचितो मसोवचएण।
५—अ० चू० सजातो सम्मत्त—जोव्वणो।
६—अ० चू० पीणितो आहारातितित्तो।

अवाच्य	वाच्य
१ गाय दुहने योग्य है।	धेनु दूध देने वाली है।
२ बैल दम्य है।	बैल युवा है।
३ बैल हल में जोतने योग्य है।	बैल ह्रस्व है—छोटा है।
४ बैल वाह्य है।	बैल महालय—बड़ा है।
५ बैल रथ योग्य है।	बैल संवहन योग्य है।

३९. बैल युवा है (जुवं गवे क) :

युवा बैल—चार वर्ष का बैल[1]।

४०. बड़ा है (महल्लए ग) :

दोनों चूर्णियों में 'महल्लए' के स्थान पर 'महव्वए' पाठ है[2]। आचाराङ्ग (२४२) में 'महल्लेइवा', 'महव्वएइवा'—ये दोनों पाठ हैं।

४१. धुरा को वहन करने वाला है (संवहणे घ) :

संवहण—जो धुरा को धारण करने में क्षम हो उसे संवहन कहा जाता है[3]।

श्लोक २७

४२. प्रासाद (पासाय क) :

एक खमे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता है[4]। चूर्णिकारों ने इसका व्युत्पत्तिक-लभ्य अर्थ भी किया है—जिसे देखकर लोगों के मन और आँखें प्रसन्न हों वह प्रासाद कहलाता है[5]।

४३. परिघ, अर्गला (फलिहग्गल ग) :

नगर-द्वार की आगल को परिघ और गृहद्वार की आगल को अर्गला कहा जाता है[6]।

१—जि० चू० पृ० २५४ जुव गवो नाम जुवाणगोणोत्ति, चउहाणगो वा।
२—(क) अ० चू० वाहिम मवि महव्वय मालवे।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ जो वाहिमो त महव्वय भणेज्जा।
३—(क) दश० दी० ७.२५ सवहन धुर्यम्।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ जो रहजोगो त सवहण भणेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २१७ सवहनमिति रथयोग्य सवहन वदेत्।
४—(क) जि० चू० पृ० २५४ पासादस्स एगक्खभस्स।
(ख) हा० टी० प० २१८ एकस्तम्भ प्रासाद।
५—(क) अ० चू० पसीदंति जमि जणस्स मणोणयणाणि सो पासादो।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ पसीयति जमि जणस्स णयणाणि पासादो भण्णइ।
६—हा० टी० प० २१८ तत्र नगरद्वारे परिघ' गोपुरकपाटादिष्वर्गला।

४७. (गंडिया [घ]) :

गण्डिका अर्थात् अहरन[1], काष्ठफलक[2]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक स्थल पर गण्डिका को जल-संतरण का उपाय बतलाया है[3]। व्याख्याकार ने माधव को उद्धृत करते हुए उसका अर्थ प्लवन-काष्ठ किया है[4]।

श्लोक २६ :

४८. उपाश्रय के (उवस्सए [ख]) :

उपाश्रय—घर अथवा साधुओं के रहने का स्थान[5]।

श्लोक ३१ :

४६. दीर्घ ··हैं, वृत्त ··हैं, महालय···हैं (दीहवट्टा महालया [ख]) :

नालिकेर, ताड आदि वृक्ष दीघ होते हैं[6]। अशोक, नन्दि आदि वृक्ष वृत्त होते हैं[7]। बरगद आदि वृक्ष महालय होते हैं[8] अथवा जो वृक्ष बहु विस्तृत होने के कारण नानाविध पक्षियों के आधारभूत हों, उन्हे महालय कहा जाता है[9]।

५०. प्रशाखा वाले हैं (विडिमा [ग]) :

विटपी—जिसमें प्रशाखाए फूट गई हों[10]।

श्लोक ३२ :

५१. पकाकर खाने योग्य हैं (पायखज्जाइं [ख]) :

पाक-खाद्य—इन फलों में गुठलियाँ पड़ गई हैं, इसलिए ये भूसे आदि में पकाकर खाने योग्य हैं[11]।

१—(क) हा० टी० प० २१८ गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी।
(ख) कौटि० अर्थ० २ ३२ गण्डिका—काष्ठाधिकरणी।

२—कौटि० अर्थ० २ ३१ गण्डिकासु कुट्टयेत्, (व्याख्या) गण्डिकासु काष्ठफलकेषु कुट्टयेत्।

३—वही १० २।

४—वही १० २ गण्डिकाभि प्लवनकाष्ठैरिति माधव ।

५—अ० चू० उवस्सय साधुणिलयण।

६—जि० चू० पृ० २५५ दीहा जहा नालिएरतालमादी।

७—(क) जि० चू० पृ० २५५ वट्टा जहा असोगमाई।
(ख) हा० टी० प० २१८ वृत्ता नन्दिवृक्षादय ।

८—जि० चू० पृ० २५५ महालया नाम वडमादि।

९—जि० चू० पृ० २५५ अहवा महसद्दो बाहुल्ले वट्टइ, बहूण पक्खिसंघाण आलया महालया।

१०—(क) जि० चू० पृ० २५५ 'विडिमा' तत्थ जे खधओ ते साला भण्णति, सालाहिंतो जे णिग्गया ते विडिमा भण्णति।
(ख) हा० टी० प० २१८ 'विटपिन' प्रशाखावन्त ।

११—(क) जि० चू० पृ० २५६ पाइखज्जाणि णाम जहा पूताणि फलाणि बद्धट्ठियाणि सपय कारसपलादिसु पाइऊण खाइयव्वाणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २१८-१९ 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनीति गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति।

५२ वेलोचित हैं (वेलोइयाइं ग):

जो फल अति पक्व होने के कारण डाल पर लगा न रह सके—तत्काल तोड़ने योग्य हो उसे 'वेलोचित' कहा जाता है[1]।

५३ इनमें गुठली नहीं पड़ी है (टालाइं घ):

जिस फल में गुठली न पड़ी हो उसे 'टाल' कहा जाता है[2]।

५४ ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (वेहिमाइं घ):

जिन आमों में गुठली न पड़ी हो उनकी फाँकें की जाती हैं[3]। वैसे आमों को देखकर उन्हें वेध्य नहीं कहना चाहिए।

श्लोक ३३

५५ श्लोक ३३ :

मार्ग बताने के लिये वृक्ष का संकेत करना जरूरी हो तो—'वृक्ष पक्व हैं' के स्थान पर ये असंस्तृत हैं—फल धारण करने में असमर्थ हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[4]।

पाक-खाद्य के स्थान पर ये वृक्ष बहुनिर्वर्तित फल (प्रायः निष्पन्न फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[5]।

वेलोचित के स्थान पर ये वृक्ष बहु सम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[6]।

'टाल—इन फलों में गुठली नहीं पड़ी है' के स्थान पर ये फल भूत-रूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[7]।

'द्वैधिक—दो टुकड़े करने योग्य' के स्थान पर क्या कहना चाहिए। यह न तो यहाँ बतलाया गया है और न आचारांग में भी। इससे यह जाना जा सकता है कि 'टाल' और 'द्वैधिक' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। आचार के लिए केरी या अंबिया (बिना जाली—अन्दर का तन्तु पड़ा आम का कच्चा फल) तोड़ी जाती है और उसकी फाँकें की जाती हैं, इसलिए 'टाल' और 'वेहिम' कहने का निषेध है।

५६ (बहुनिवट्टिमा ग):

इसमें मकार दीर्घ है वह अलाक्षणिक है।

१—(क) हा० टी० प० २१९ : 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थः।

(ख) जि० चू० पृ० २५९ : 'वेलोइयाणि' नाम वेला-कालो तं कालं पत्ताणि वेला तेसिं ... एयाणि ... न ...।

२—(क) जि० चू० पृ० २५९ : टालाणि नाम अबद्धट्ठियाणि भण्णंति।

(ख) हा० टी० प० २१९ : 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति।

३—(क) जि० चू० पृ० २५९ : वेहिमं अबद्धट्ठियाणं अंबाणं पेसियाओ कीरंति।

(ख) हा० टी० प० २१९ : 'द्वैधिकानी'ति पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।

४—हा० टी० प० २१९ : असमर्था 'एते' आम्राः, अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।

५—हा० टी० प० २१९ : बहूनि निर्वर्तितानि—बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः।

६—हा० टी० प० २१९ : 'बहुसंभूता' बहूनि संभूतानि—पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा अनेन वेलोचितार्थ उक्तः।

७—(क) जि० चू० पृ० २५९ : 'भूतरूवा' नाम कोमलरूवा।

(ख) हा० टी० प० २१९ : भूतानि रूपाणि—अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा अनेन टालार्थ उक्तः।

श्लोक ३४ :

५७. औषधियाँ (ओसहीओ क) :

एक फसला पौधा, चावल, गेहूँ आदि[1]।

५८. अपक्व हैं (नीलियाओ ख) :

नीलिका का अर्थ हरी या अपक्व है[2]।

५९. छवि (फली) वाली हैं (छवी इय ग) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'नीलिका' औषधि का[3] और टीका के अनुसार 'छवि' का विशेषण है[4]।

टीकाकार को सम्भवतः 'फलियाँ नीली हैं, कच्ची हैं' यह अर्थ अभिप्रेत रहा है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पकाओ' और 'नीलियाओ' 'छवी इय' के भी विशेषण होते हैं, जैसे—फलियाँ पक गई हैं या अपक्व हैं[5]।

आचाराङ्ग के अनुसार पकाओ, नीलियाओ, छवीइ, लाइमा, भज्जिमा, पिहुखज्जा—ये सारे 'ओसहियों' के विशेषण हैं[6]।

६०. चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं (पिहुखज्ज घ) :

पृथुक का अर्थ चिड़वा है[7]। आचाराङ्ग (२।४।२) में 'बहुखज्जाइया' ऐसा पाठ है। शीलाङ्कसूरि ने इसका वैकल्पिक रूप में वही अर्थ किया है जो 'पिहुखज्ज' का है[8]।

श्लोक ३५ :

६१. श्लोक ३५ :

(१) रूढ　　(४) उत्सृत

(२) बहुसम्भूत　　(५) गर्भित

(३) स्थिर　　(६) प्रसूत

(७) ससार

वनस्पति की ये सात अवस्थाएँ हैं। इनमें बीज के अङ्कुरित होने से पुनर बीज बनने तक की अवस्थाओं का क्रम है।

१—(क) अ० चू० ओसहिओ फलपाकपज्जत्ताओ सालिमादिओ।
　(ख) हा० टी० प० २१६ 'ओषधय' शाल्यादिलक्षणा।

२—अ० चू० णवा पाकपत्ताओ णीलियाओ।

३—जि० चू० पृ० २५६ तत्थ सालिवीहिमादियातो ताओ पक्काओ नीलियाओ वा णो भणेज्जा, छविग्गहणेण णिप्पवालिसिंदगादीण सिंगातो छविमताओ णो भणेज्जा।

४—हा० टी० प० २१६ तथा नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणा।

५—अ० चू० छवीओ सपलीओ णिप्फावादीण तओ वि पक्काओ नीलिताओ वा।

६—आचा० २।४।२ सू० ३६१ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एवं वइज्जा, तजहा—पक्काइ वा नीलियाइ वा छवीइयाइ वा लाइमाइ वा भज्जिमाइ वा बहुखज्जाइ वा।

७—(क) अ० चि० ३।६५ पृथुकश्चिपिटस्तुल्यौ।
　(ख) जि० चू० पृ० २५६ पिहुखज्जाओ नाम जवगोधूमादीण पिहुगा कीरति ताधे खज्जति।
　(ग) हा० टी० प० २१६ पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते।

८—आचा० २।४।२ सू० ३६१ वृ० 'बहुखज्जा' बहुभक्ष्या पृथुकरणयोग्या वेति।

५२ वेलोचित हैं (वेलोइयाइं ग):

जो फल अति पक्व होने के कारण डाल पर लगा न रह सके—तत्काल तोड़ने योग्य हो उसे 'वेलोचित' कहा जाता है[1]।

५३ इनमें गुठली नहीं पड़ी है (टालाइं घ):

जिस फल में गुठली न पड़ी हो उसे 'टाल' कहा जाता है[2]।

५४ ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (वेहिमाइ घ):

जिन आमों में गुठली न पड़ी हो उनकी फाँकें की जाती हैं[3]। वैसे आमों को देखकर उन्हें 'वेध्य' नहीं कहना चाहिए।

श्लोक ३३

५५ श्लोक ३३

मार्ग बताने के लिये वृक्ष का संकेत करना जरूरी हो तो—'वृक्ष पक्व हैं' के स्थान पर ये असंस्कृत हैं—इनका धारण करने में असमर्थ हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[4]।

पाक-खाद्य के स्थान पर ये वृक्ष बहुनिर्वर्तित फल (प्रायः निष्पन्न फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[5]।

'वेलोचित' के स्थान पर ये वृक्ष बहु सम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुल फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[6]।

'टाल—इन फलों में गुठली नहीं पड़ी है' के स्थान पर ये फल भूत-रूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[7]।

द्वैधिक—दो टुकड़े करने योग्य के स्थान पर क्या कहना चाहिए? यह न तो यहाँ बतलाया गया है और न व्याख्याओं में भी। इससे यह जाना जा सकता है कि 'टाल' और 'द्वैधिक' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। आचार के लिए केरी या कालिका (बिना गुठली—कच्चा या तरुण पका आम का कच्चा फल) तोड़ी जाती है और उनकी फाँकें की जाती हैं, इसलिए 'टाल' और 'वेहिम' शब्दों का विवेक है।

५६ (बहुनिवट्टिमा घ):

इसमें मकार दीर्घ है वह अलाक्षणिक है।

१—(क) हा० टी० प० २१९ : 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, परं कालं न विसहन्ति इत्यर्थः।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : 'वेलोइयाणि' नाम वेला-कालो तं पत्ता जेसिं वेला होति [illegible] उच्चिणियव्वाणि।

२—(क) जि० चू० पृ० २५४ : टालाणि नाम अबद्धट्ठिगाणि भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति।

३—(क) जि० चू० पृ० २५४ : वेहिमं अबद्धट्ठिगाणं अंबाणं पेसियाओ कीरंति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'द्वैधिकानी'ति पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।

४—हा० टी० प० २१९ : असमर्था 'एते' आम्राः, अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।

५—हा० टी० प० २१९ : बहूनि निर्वर्तितानि—बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः।

६—हा० टी० प० २१९ : 'बहुसंभूता' बहूनि संभूतानि—पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः।

७—(क) जि० चू० पृ० २५४ : 'भूयरूवा' नाम अबद्धट्ठिया।
(ख) हा० टी० प० २१९ : भूतानि रूपाणि—अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालार्थ उपलक्षितः।

'कृत्य' शब्द का प्रयोग हरिभद्र सूरी ने भी किया है

सखडि-पमुहे किच्चे, सरसाहार खुजे पगिण्हति।
भत्तठ थुव्वति, वणीमगा ते वि न हु मुणिणो ॥

श्लोक ३७ :

६४. पणितार्थ (धन के लिए जीवन की वाजी लगाने वाला) (पणियट्ठ ख) :

चोर धन के अर्थी होते हैं। वे उसके लिए अपने प्राणों की भी वाजी लगा देते हैं[1]। इसीलिए उन्हें सांकेतिक भाषा में पणितार्थ कहा जाता है। प्रयोजन होने पर भी भाषा-विवेक सम्पन्न मुनि को वैसे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिससे कार्य भी सध जाए और कोई अनर्थ भी न हो।

श्लोक ३८ :

६५. (कायतिज्ज ख) :

इसका पाठान्तर 'कायपेज्ज' है। उसका अर्थ है काकपेया नदियाँ अर्थात् तट पर बैठे हुए कौए जिनका जल पी सकें वे नदियाँ[2]। किन्तु इसी श्लोक के चौथे चरण में 'पाणिपेज्ज' पाठ है। जिनके तट पर बैठे हुए प्राणी जल पी सकें वे नदियाँ 'पाणिपेज्ज' कहलाती हैं[3]। इसलिए उक्त पाठान्तर विशेष अर्थवान् नहीं लगता।

श्लोक ३९ :

६६. दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है (उप्पिलोदगा ख) :

दूसरी नदियों के द्वारा जिनका जल उत्पीड़ित होता हो वे या बहुत भरने के कारण जिनका जल उत्पीड़ित हो गया हो—दूसरी ओर मुड़ गया हो—वे नदियाँ 'उप्पिलोदगा' कहलाती हैं[4]।

श्लोक ४१ :

६७. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'सुकृत' सर्व क्रिया का प्रशंसक (अनुमोदक) वचन है। इसी प्रकार 'सुपक्व' पाक-क्रिया, 'सुच्छिन्न' छेद-क्रिया, 'सुहृत' हरण-क्रिया, 'सुमृत' लीन-क्रिया, 'सुनिष्ठित' सम्पन्न-क्रिया, 'सुलष्ट' शोभन या विशिष्ट-क्रिया के प्रशसक वचन हैं। दशवैकालिक-चूर्णिकार और टीकाकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते हैं और सामान्य भी।

१—हा० टी० प० २१६ पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थ, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थ ।

२—जि० चू० पृ० २५८ अण्णे पुण एव पढति, जहा-कायपेज्जत्ति नो वदे, काआ तडत्था पिवतीति कायपेज्जातो ।

३—जि० चू० पृ० २५८ तडत्थिएहिं पाणीहिं पिज्जतीति पाणिपिज्जाओ ।

४—जि० चू० पृ० २५८ 'उप्पिलोदगा' नाम जासि परनदीहिं उप्पीलियाणि उदगाणि, अहवा बहुउप्पिलोदओ जासि अइभरियत्तणेण अग्गओ पाणिय वच्चइ ।

ने इसका अर्थ 'असक्क' (अशक्य) किया है[1]। उसके आधार पर 'अचक्किय' पाठ की कल्पना भी की जा सकती है।

हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—असंस्कृत—दूसरी जगह सुलभ किया है[2]।

७१. इसका गुण वर्णन नहीं किया जा सकता (अचियत्तं घ) :

जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ अचिन्त्य[3] और टीका में अप्रीतिकर[4] किया गया है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह पाठ 'अचिंतित' होना चाहिए[5]।

श्लोक ४७ :

७२. श्लोक ४७ :

असंयमी को आ-जा आदि क्यों नहीं कहना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान में चूर्णिकार कहते हैं—असंयमी पुरुष तपे हुए लोहे के गोले के समान होते हैं। गोले को जिधर से छूओ वह उधर से जला देता है वैसे ही असंयमी मनुष्य चारों ओर से जीवों को कष्ट देने वाला होता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता फिर जागते हुए का तो कहना ही क्या[6] ?

श्लोक ४८ :

७३. जो साधु हो उसी को साधु कहे (साहुं साहु त्ति आलवे घ) :

साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं होता, वास्तव में साधु वह होता है जो निर्वाण-साधक-योग की साधना करे[7]।

श्लोक ५० :

७४. श्लोक ५० :

अमुक व्यक्ति या पक्ष की विजय हो, यह कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है और दूसरे पक्ष को द्वेष उत्पन्न होता है, इसलिए मुनि को ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए[8]।

१—(क) अ० चू० अवक्किय मसक्क।

(ख) जि० चू० पृ० २६० अविक्किय नाम असक्क, जहा कहएण विक्कायएण वा पुच्छिओ इमस्स मोल्लं करेहित्ति, ताहे भणियव्व—को एतस्स मोल्लं करेउं समत्थोत्ति, एवं अविक्किय भणइ।

२—हा० टी० प० २२१ 'अविक्किअति' असंस्कृत सुलभमीदृशमन्यत्रापि।

३—जि० चू० पृ० २६० अचिअत्तं णाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहिं पागएहिं चितिज्जति।

४—हा० टी० प० २२१ अवियत्त वा—अप्रीतिकरम्।

५—अ० चू० अचितित चिंतेतुं पि ण तीरति।

६—जि० चू० पृ० २६१ अस्संजतो सव्वतो दोसमावहति चिट्ठतो तत्तायगोलो, जहा तत्तायगोलो जओ छिवइ ततो डहइ तहा असंजओवि सुयमाणोऽवि णो जीवाण अणुवरोधकारओ भवति, किं पुण जागरमाणोत्ति।

७—जि० चू० पृ० २६१ जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णति।

८—(क) जि० चू० पृ० २६२ तत्थ अमुयाण जतो होउत्ति भणिए अणुमइए दोसो भवति, तप्पक्खिओ वा पओसमावज्जेज्जा, अओ एरिसं भासं णो वएज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२२ 'अमुकानां' 'जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेद्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति।

उत्तराध्ययन के टीकाकार कमल संयमोपाध्याय इनके सारे उदाहरण भोजन विषयक देते हैं[1]। नेमिचन्द्राचार्य इन सारे प्रयोगों की भोजन-विषयक व्याख्या कर विकल्प के रूप में सुपक्व शब्द को छोड़कर शेष शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या भी करते हैं[2]।

सुकृत आदि के प्रयोग सामान्य हो सकते हैं किन्तु इस श्लोक में मुख्यतया भोजन के लिए प्रयुक्त हैं—ऐसा लगता है।

आचाराङ्ग में कहा है—भिक्षु बने हुए भोजन को देखकर यह बहुत अच्छा किया है—इस प्रकार न कहे[3]।

दशवैकालिक के प्रस्तुत श्लोक की सूचना इसीसे होती है इससे यह सहज ही जाना जाता है कि यहाँ ये सारे प्रयोग भोजन आदि से सम्बन्धित हैं।

सुकृत आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—इसने बहुत अच्छी सेवा की इसका ब्रह्मचर्य पका हुआ है। इसने स्नेह-बन्धन को बहुत अच्छी तरह छेद डाला है आदि-आदि[4]।

६८ बहुत अच्छा किया है (सुकडे त्ति क)

जिसे स्नेह नमक कालीमिर्च आदि मसाले के साथ सिद्ध किया जाए वह 'कृत' कहलाता है। सुकृत अर्थात् बहुत अच्छा किया हुआ[5]।

श्लोक ४२ :

६९ कर्म-हेतुक (कम्महेउयं ग) :

कर्म-हेतुक का अर्थ है—शिक्षापूर्वक या सधे हुए हाथों से किया हुआ[6]।

श्लोक ४३ :

७० यह अभी विक्रेय (बेचने योग्य) नहीं है (अवक्किय ग)

हस्तलिखित (क और ख) आदर्शों में अवक्किय अगस्त्य चूर्णि में अपक्किय तथा कुछ आदर्शों में अविक्किय है। दोनों चूर्णिकारों

१—उत्त० स० १.३६ : सुकृतम्—अन्नादि, सुपक्वं—घृतपूर्णादि, सुच्छिन्नं—पत्रशाकादि, सुहृतं—शाकादेस्तिक्तत्वादि, सुमृतं—घृतादि सक्तुसूपादौ, सुनिष्ठितं—रसप्रकर्षतया निष्ठां गतम्, सुलष्टं—शोभनं शाल्यादिकमित्येवमादि प्रकारेणान्यदपि सावद्यं वर्जयेत् मुनिः।

—उत्त० ने० १.३६ : सुकृतं सुष्ठु कृतं यद्वेषाशनादेः प्रतिकृतं सुपक्वं घृतवत्, सुच्छिन्नोऽयं शाकादिः, सुहृतं कदर्यस्य धनं चौरादिभिः, सुमृतोऽयं प्रत्यनीकद्विजादिः सुनिष्ठितोऽयं प्रासादादिः सुलष्टोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेत् मुनिः।

३—आचा० २.४.२ सू० ३६ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए, तहावि तं णो एवं वएज्जा, तंजहा—सुकडे त्ति वा सुट्ठुकडे त्ति वा साहुकडे त्ति वा कल्लाणे त्ति वा करणिज्जे त्ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

४—उत्त० ने० १.३६ : निरवद्यं तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतोऽयमुपसर्गः ... सुमृतोऽयं पण्डितमरणेन सुनिष्ठितोऽयं साध्वाचारे सुलष्टोऽयं दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम्।

५—अ० (चू०) १०.३६४ की व्याख्या :

> 'स्नेहैर्लवणैः सर्वमसालैः मरिचादिभिः।
> सिद्धं यत्स्नेह-मधुरा संस्कृतं कृतम्॥

६—जि० चू० पृ० २५१ : कम्महेउयं नाम सिक्खागुणाति जुत्तं भवति।

ने इसका अर्थ 'असक्क' (अशक्य) किया है[१] । उसके आधार पर 'अचक्किय' पाठ की कल्पना भी की जा सकती है ।

हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—असस्कृत—दूसरी जगह सुलभ किया है[२] ।

७१. इसका गुण वर्णन नहीं किया जा सकता (अचियत्तं [घ]) :

जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ अचिन्त्य[३] और टीका में अप्रीतिकर[४] किया गया है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह पाठ 'अचिंतित' होना चाहिए[५] ।

श्लोक ४७ :

७२. श्लोक ४७ :

असयमी को आ-जा आदि क्यों नहीं कहना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान में चूर्णिकार कहते हैं—असयमी पुरुष तपे हुए लोहे के गोले के समान होते हैं। गोले को जिधर से छूओ वह उधर से जला देता है वैसे ही असयमी मनुष्य चारों ओर से जीवों को कष्ट देने वाला होता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता फिर जागते हुए का तो कहना ही क्या[६] ?

श्लोक ४८ :

७३. जो साधु हो उसी को साधु कहे (साहुं साहु त्ति आलवे [घ]) :

साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं होता, वास्तव में साधु वह होता है जो निर्वाण-साधक-योग की साधना करे[७] ।

श्लोक ५० :

७४. श्लोक ५० :

अमुक व्यक्ति या पक्ष की विजय हो, यह कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है और दूसरे पक्ष को द्वेष उत्पन्न होता है, इसलिए मुनि को ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए[८] ।

१—(क) अ० चू० अवक्किय मसक्क ।
(ख) जि० चू० पृ० २६० . अविक्किय नाम असक्क, जहा कइएण विक्कायएण वा पुच्छिओ इमस्स मोल्ल करेहित्ति, ताहे भणियव्व—को एतस्स मोल्ल करेउ समत्थोत्ति, एव अविक्किय भएणइ ।

२—हा० टी० प० २२१ 'अविक्किअति' असस्कृत सुलभमीदृशमन्यत्रापि ।

३—जि० चू० पृ० २६० अचिअत्त णाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहि पागएहि चिंतिज्जति ।

४—हा० टी० प० २२१ अविअत वा—अप्रीतिकरम् ।

५—अ० चू० अचिंतित चिंतेतुं पि ण तीरति ।

६—जि० चू० पृ० २६१ अस्सजतो सव्वतो दोसमावहति चिट्ठतो तत्तायगोलो, जहा तत्तायगोलो जओ छिवइ ततो डहइ तहा असजओवि सुयमाणोऽवि णो जीवाण अणुवरोधकारओ भवति, किं पुण जागरमाणोत्ति ।

७—जि० चू० पृ० २६१ जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णति ।

८—(क) जि० चू० पृ० २६२ तत्थ अमुयाण जतो होउत्ति भणिए अणुमइए दोसो भवति, तप्पक्खिओ वा पओसमावज्जेज्जा, अओ एरिस भास णो वएज्जा ।
(ख) हा० टी० प० २२२ 'अमुकाना' 'जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेद्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति ।

श्लोक ५१

७५ श्लोक ५१

जिसमें अपनी या दूसरों की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए अनुकूल स्थिति के होने और प्रतिकूल स्थिति के न होने की आशंसा हो वैसा वचन मुनि न कहे—इस दृष्टि से यह निषेध है[1]।

७६ क्षेम (खेमं)

शत्रु-सेना तथा इस प्रकार का और कोई उपद्रव नहीं होता उस स्थिति का नाम क्षेम है[2]। व्यवहार भाष्य की टीका में क्षेम का अर्थ शुभ लक्षण किया है। इससे राज्य भर में नीरोगता व्याप्त रहती है[3]।

७७ सुभिक्ष (धायं) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—सुभिक्ष[4]।

७८ शिव (सिवं)

शिव अर्थात् रोग मारी का अभाव, उपद्रव न होना[5]।

श्लोक ५२

७९ श्लोक ५२

मेघ, नभ और राजा देव नहीं हैं। इन्हें देव कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है इसलिए इन्हें देव नहीं कहना चाहिए[7]।

वैदिक साहित्य में आकाश, मेघ और राजा को देव माना गया है किन्तु यह वस्तु स्थिति से दूर है। जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया गया है।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२।४।१)।

१—अ० चू० : एतानि सरीर सह देव वचनाणि वा णो वदे।
२—(क) अ० चू० : खेमं परचक्कादिविरहितं।
　(ख) हा० टी० प० २२१ : 'क्षेमं' राजविड्वरशून्यम्।
३—व्य० ३ भाष्य गाथा २०९ : क्षेमं नाम सुभक्षं यद् वशात् सर्वत्र राज्ये नीरोगता।
४—(क) अ० चू० : धातं सुभिक्खं।
　(ख) हा० टी० प० २२१ : 'ध्रातं' सुभिक्षम्।
५—अ० चू० : कुमरोगमारीविरहितं सिवम्।
६—हा० टी० प० २२१ : 'शिवं' मिति चोपसर्गरहितम्।
७—(क) अ० चू० : मिच्छत्तथिरीकरणादयो दोसा इति।
　(ख) जि० चू० पृ० २६१ : तत्थ मिच्छत्तथिरीकरणादि दोसा भवंति।
　(ग) हा० टी० प० २२१ : मिथ्यात्वस्थिरीकरणादिदोषप्रसङ्गात्।

८०. नभ (नहं क) :

मिथ्यावाद से बचने के लिए 'आकाश' को देव कहने का निषेध किया गया है। प्रकृति के उपासक आकाश को देव मानते थे। प्रश्न उपनिषद् में 'आकाश' को देव कहा गया है। आचार्य पिप्पलाद ने उससे कहा—वह देव आकाश है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक् (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ), मन (अन्त करण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रिय-समूह) (ये भी देव हैं)। ये सभी अपनी महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं—हम ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करते हैं[1]।

८१. मानव (माणवं क) :

यहाँ मानव (राजा) को देव कहने का निषेध किया गया है। टीकाकार के अनुसार मानव को देव कहने से मिथ्यावाद, लाघव आदि दोष प्राप्त होते हैं[2]।

प्राचीन ग्रन्थों में राजा को देव मानने की परम्परा रही है। रामायण में स्पष्ट उल्लेख है कि राजा देव हैं, वे इस पृथ्वी तल पर मनुष्य-शरीर धारण कर विचरण करते हैं :

तान्नहिंस्यान्नचाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण, चरन्त्येते महीतले ॥
(वाल्मिकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८.४३)

महाभारत के अनुसार राजा एक परम देव है जो मनुष्य रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥
(महाभारत शांतिपर्व अ० ६८ ४०)

मनुस्मृति में भी राजा को परम देव माना गया है :

बालोऽपि नावमन्तव्यो, मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा, नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनुस्मृति अ० ७ ८)

चाणक्य ने भी ऐसा ही माना है

'न राज्ञः परं दैवतम्' (चाणक्य सूत्र ३७२)

श्लोक ५३ :

८२. श्लोक ५३ :

'अतलिक्खे त्ति णं बूया गुज्झाणुचरिय त्ति य'—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। अन्तरिक्ष और गुह्यानुचरित मेघ और नभ दोनों के वाचक हैं[3]। गुह्यानुचरित का अर्थ दोनों चूर्णिकारों ने नहीं किया है। हरिभद्रसूरि इसका अर्थ 'देवसेवित' करते हैं[4]।

१—प्र० उ० प्रश्न २ २ तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निराप पृथिवी वाङ्मनश्चक्षु श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयाम।

२—हा० टी० प० २२३ 'मानव' राजानं 'देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात्।

३—(क) जि० चू० पृ० २६३ : तत्थ नभं अतलिक्खति वा वदेज्जा, गुज्झाणुचरितति वा स 'मेहोवि अतरिक्खो भण्णइ, गुज्झाणुचरिओ भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २२३।

४—हा० टी० प० २२३ गुह्यानुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थः।

श्लोक ५४

८३ अवधारिणी (शंकित अर्थ वाली) (ओहारिणिं ख):

चूर्णियों में अवधारिणी का अर्थ शंकित भाषा अर्थात् संदिग्ध वस्तु के बारे में असंदिग्ध वचन बोलना किया गया है[1]। टीका में इसका मूल अर्थ निश्चयकारिणी भाषा और वैकल्पिक अर्थ संशयकारिणी भाषा किया गया है[2]। ७.९ के श्लोक ९ में आए हुए इस शब्द का अर्थ भी चूर्णि और टीका में ऐसा ही है[3]।

८४ मुनि (माणवो ग):

मुनि 'मानव' शब्द का भावानुवाद है। जिनदास चूर्णि के अनुसार मनुष्य ही मुनि बन सकते हैं। इसलिए यहाँ उन्हें 'मानव' शब्द से सम्बोधित किया है[4]।

श्लोक ५७

८५ श्लोक ५७ :

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावद्य और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय हित मित मनोहर वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती थी किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति से बहुत आगे जाती है। ऋग्वेद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि[6]॥

जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों से युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है।

"ऐसा मैंने सुना :

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ ! चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा; विज्ञों के अनुसार वह निरवद्य है दोष रहित है। कौन से

१—(क) अ० चू० : संकितं एवमिदं मिति निच्छयवयणमवधारणं।
(ख) जि० चू० पृ० २६१ : ओहारिणी नाम संकिया भणिई—से नूणं भंते! मन्नामीति ओहारिणी भासा? आलावगो।
२—हा० टी० प० २२१ : 'अवधारिणीं' इदमित्थमेवेति संशयकारिणीं वा।
३—(क) अ० चू० : ओधारिणी सव्वसंदिद्धवयणं संकितेसि भणितं च से णूणं भंते! मन्नामीति ओधारिणी भासा।
(ख) जि० चू० पृ० २६१ : तत्थ ओहारिणी संकिया भण्णति जहा एसो चोरो पारदारिओ? एवमादि, भणितं च 'से णूणं भंते! मन्नामिति ओहारिणी भासा' आलावगो।
(ग) हा० टी० प० २२३ : 'अवधारिणीम्' अशोभन एवायमित्यादिरूपाम्।
४—हा० टी० प० २२१ : 'मानव' पुमान् साधुः।
५—जि० चू० पृ० २६१ : माणवा इति मणुस्सजातीए एव सामुक्कमोयिताकम्म मणुस्सजातिग्गहणं कयं, जहा हे माणवा!
६—ऋग्वेद १। ७१।

चार अग ? भिक्षुओ । यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओ ! इन चार अगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, वह विज्ञों के अनुसार निरवद्य तथा दोष रहित है।' ऐसा बताकर भगवान् ने फिर कहा :

'सन्तों ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले न कि अधार्मिक वचन को—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले न कि अप्रिय वचन को—यह है तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को'—यह है चौथा ॥१॥

तब आयुष्मान् वगीस ने आसन से उठकर, एक कधे पर चीवर सभालकर, भगवान् को हाथ जोड़ अभिवादन कर उन्हें कहा—'भन्ते ! मुझे कुछ सूझता है।' भगवान् ने कहा—'वगीस ! उसे सुनाओ।' तब आयुष्मान् के सम्मुख अनुकूल गाथाओं में यह स्तुति की

'वह बात बोले जिससे न स्वय कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी ही बात सुन्दर है।'

'आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातों को छोड़कर दूसरों को प्रिय वचन ही बोले।'

'सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित सन्तों ने (ऐसा) कहा है।'

'बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनों में उत्तम है[1]।"

८६. गुण-दोष को परख कर बोलने वाला (परिक्खभासी [क]) :

गुण-दोष की परीक्षा करके बोलने वाला परीक्ष्य-भाषी कहलाता है[2]। जिनदास चूर्णि में 'परिज्जभासी' और एकार्थक माना गया है[3]।

८७. पाप-मल (धुन्नमलं [ग]) :

धन्न का अर्थ पाप है[4]।

१—सु० नि० सुभासित सुत्त २-५ पृ० ८६।

२—(क) अ० चू० परिक्ख सुपरिक्खित तधाभासितु सील यस्स सो ।

(ख) हा० टी० प० २२३ 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता।

३—जि० चू० पृ० २६४ 'परिज्जभासी' नाम परिज्जभासित्ति वा परिक्खभासित्ति

४—(क) अ० चू० धुण्ण पाप मेव।

(ख) जि० चू० पृ० २६४ तत्थ धुण्णति वा पावति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २२४ 'धून्नमल' पापमलम्।

अट्ठमज्झयणं

आयारपणिही

अष्टम अध्ययन

आचार-प्रणिधि

आमुख

आचार वही है जो सक्षेप में तीसरे और विस्तार से छट्ठे अध्ययन में कहा गया है[1]। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य आचार नहीं है। इसका अभिधेय अर्थ है—आचार की प्रणिधि या आचार-विषयक प्रणिधि। आचार एक निधि है। उसे पाकर निर्ग्रन्थ को जैसे चलना चाहिए उसका पथ-दर्शन इस अध्ययन में मिलता है। आचार की सरिता में निर्ग्रन्थ इन्द्रिय और मन को कैसे प्रवाहित करे, उसका दिशा-निर्देश मिलता है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ है—एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग। ये प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। उच्छृङ्खल-अश्व सारथि को उन्मार्ग में ले जाते हैं वैसे ही दुष्प्रणिहित (राग-द्वेष प्रयुक्त) इन्द्रियाँ श्रमण को उत्पथ में ले जाती हैं[2]। यह इन्द्रिय का दुष्प्रणिधान है।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में इन्द्रियों की मध्यस्थ प्रवृत्ति हो—राग और द्वेष का लगाव न हो—यह उनका सुप्रणिधान है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का सग्राहक शब्द है—कषाय। जिस श्रमण का कषाय प्रबल होता है उसका श्रामण्य ईक्षु-पुष्प की भांति निष्फल होता है[3]। इसलिए श्रमण को कषाय का निग्रह करना चाहिए। यही है मन का सुप्रणिधान।

"श्रमण को इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त-प्रयोग नहीं करना चाहिए, प्रशस्त-प्रयोग करना चाहिए"—यह शिक्षण ही इस अध्ययन की आत्मा है, इसलिए इसका नाम 'आचार-प्रणिधि' रखा गया है[4]।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में गूढ़-पुरुष-प्रणिधि, राज-प्रणधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि उत्तरपद वाले कई प्रकरण हैं। इस प्रकार के नामकरण की पद्धति उस समय प्रचलित थी—ऐसा जान पड़ता है। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना व व्यापार किया है। आचार में प्रवृत्त करना व व्यापार करना—ये दोनों अर्थ यहाँ सगत होते हैं। यह 'प्रत्याख्यान प्रवाद' नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[5]। इसकी दिशाए प्रकीर्ण हैं। वे दैनदिन व्यवहारों को बडे मार्मिक ढंग से छूती हैं।

१—दश० नि० २६३ जो पुव्वि उदिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।

२—दश० नि० २६६ जस्स खलु दुप्पणिहिआणि, इंदिआइ तव चरतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं, सारही वा तुरगेहिं॥

३—दश० नि० ३०१ सामन्नमणुचरतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्ल व, निप्फल तस्स सामन्न॥

४—दश० नि० ३०८ तम्हा उ अप्पसत्थ, पणिहाण उज्झिऊण समणेण।
पणिहाणमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि'त्ति॥"

५—दश० नि० १-१७

कान खुले रहते हैं, बहुत सुना जाता है; आँखें खुली रहती हैं, बहुत दीख पड़ता है; किन्तु सुनी और देखी गई सारी बातों को दूसरों से कहे—यह भिक्षु के लिए उचित नहीं है। श्रुत और दृष्ट बात के औपघातिक-अंश को पचा ले, उसे प्रकाशित न करे (श्लोक २०-२१)।

'देह में उत्पन्न दुःख को सहना महान् फल का हेतु है'—इस विचार-मन्थन का नवनीत है अहिंसा। एक दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का हृदय 'देहे दुक्खं महाफलं' (श्लोक २७) है। यह 'देहली दीपक न्याय' से अध्ययन के आर और पार—दोनों भागों को प्रकाशित करता है और श्रामण्य के रूप की शुद्धि के लिए शोधन-मंत्र का काम करता है।

इसमें कषाय विजय, निद्रा-विजय, अट्टहास्य विजय के लिए बड़े सुन्दर निर्देशन किए गए हैं।

श्रद्धा का सातत्य रहना चाहिए। भाव-विशुद्धि के जिस उत्कर्ष से पैर बढ़ चलें वे न रुकें और न अपने पथ से हटें—ऐसा प्रयत्न होना चाहिए (श्लोक ६१)।

स्वाध्याय और ध्यान—ये आत्म-दोषों को मांजने वाले हैं। इनके द्वारा आत्मा परमात्मा बने (श्लोक ६२)।

यहाँ पहुँचकर 'आचार-प्रणिधि' सम्पन्न होती है।

आयारपणिही : आचार-प्रणिधि

अट्ठमज्झयणं : अष्टम अध्ययन

मूल | **संस्कृत** | **हिन्दी अनुवाद**

१—आयारप्पणिहिं लद्धुं
जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तं भे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

आचार-प्रणिधिं लब्ध्वा,
यथा कर्तव्य भिक्षुणा ।
त भवद्भ्यः उदाहरिष्यामि,
आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

१—आचार-प्रणिधि को[1] पाकर[2] भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मैं तुम्हें कहूँगा । अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो ।

२—[3]पुढवि दग अगणि मारुय
तणरुक्ख सबीयगा[4] ।
तसा य पाणा जीव त्ति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

पृथिवीदकाग्निमारुताः,
तृणरुक्षाः सबीजकाः ।
त्रसाश्च प्राणाः जीवा इति,
इति उक्त महर्षिणा ॥२॥

२—पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीज-पर्यन्त तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी—ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ।

३—तेसिं अच्छणजोएण
निच्च होयव्वय सिया ।
मणसा कायवक्केण
एवं भवइ संजए ॥

तेषामक्षण-योगेन,
नित्य भवितव्य स्यात् ।
मनसा काय-वाक्येन,
एव भवति सयतः ॥३॥

३—भिक्षु को मन, वचन और काया से उनके प्रति अहिंसक[5] होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक रहने वाला सयत (सयमी) होता है ।

४—[6]पुढविं भित्तिं सिल लेलुं
नेव भिंदे न संलिहे ।
तिविहेण करणजोएण
संजए सुसमाहिए ॥

पृथिवीं भित्तिं शिला लेष्टुं,
नैव भिन्द्यात् न संलिखेत् ।
त्रिविधेन करण-योगेन,
सयतः सुसमाहितः ॥४॥

४—सुसमाहित सयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति[7] (दरार), शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हें कुरेदे ।

५—सुद्धपुढवीए न निसिए
ससरक्खम्मि[9] य आसणे ।
पमज्जित्तु निसीएज्जा
जाइत्ता जस्स ओग्गहं ॥

शुद्धपृथिव्या न निषीदेत्,
ससरक्षे च आसने ।
प्रमृज्य निषीदेत्,
याचित्वा यस्यावग्रहम् ॥५॥

५—मुनि शुद्ध पृथ्वी[8] और सचित्त-रज से ससृष्ट आसन पर न बैठे[10] । अचित्त-पृथ्वी पर प्रमार्जन कर[11] और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर[12] बैठे ।

६—सीओदगं न सेवेज्जा
सिलावुट्ठं[14] हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

शीतोदक न सेवेत,
शिलावृष्ट हिमानि च ।
उष्णोदक तप्तप्रासुकं,
प्रतिगृण्हीयात् सयतः ॥६॥

६—सयमी शीतोदक[13], ओले, बरसात के जल और हिम का[15] सेवन न करे । तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल[16] ले ।

७—उदउल्लं अप्पणो कायं
नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं
नो णं संघट्टए मुणी॥

उदकार्द्रमात्मनः कायं
नैव प्रोञ्छेत न संलिखेत्।
समुत्प्रेक्ष्य तथाभूतं,
नैनं संघट्टयेत् मुनिः॥७॥

७—मुनि जल से भीगे अपने शरीर को न पोंछे और न मले। शरीर को तथाभूत (भीगा हुआ) देखकर उसका स्पर्श न करे।

८—इंगालं अगणिं अच्चिं
अलायं वा सजोइयं।
न उंजेज्जा न घट्टेज्जा
नो णं निव्वावए मुणी॥

अङ्गारमग्निमर्चिः
अलातं वा सज्योतिः।
नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत्,
नैनं निर्वापयेद् मुनिः॥८॥

८—मुनि अङ्गार अग्नि अर्चि और ज्योतिसहित अलात (जलती लकड़ी) को न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाए।

९—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा।
न वीएज्ज अप्पणो कायं
बाहिरं वा वि पोग्गलं॥

तालवृन्तेन पत्रेण
शाखा विधुवनेन वा।
न व्यजेदात्मनः कायं
बाह्यं वाऽपि पुद्गलम्॥९॥

९—मुनि बीजन पत्र, शाखा या पंखे से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों पर हवा न डाले।

१०—तणरुक्खं न छिंदेज्जा
फलं मूलं व कस्सइ।
आमगं विविहं बीयं
मणसा वि न पत्थए॥

तृणरुक्षं न छिन्द्यात्
फलं मूलं च कस्यचित्।
आमकं विविधं बीजं
मनसापि न प्रार्थयेत्॥१०॥

१०—मुनि तृण वृक्ष तथा किसी भी (वृक्ष आदि के) फल या मूल का छेदन न करे और विविध प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

११—गहणेसु न चिट्ठेज्जा
बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं
उत्तिंगपणगेसु वा॥

गहनेषु न तिष्ठेत्
बीजेषु हरितेषु वा।
उदके तथा नित्यं
उत्तिङ्गपनकेषु वा॥११॥

११—मुनि वन निकुञ्ज के बीच बीज हरित अनन्तकायिक-वनस्पति सर्पच्छत्र और काई पर खड़ा न रहे।

१२—तसे पाणे न हिंसेज्जा
वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु
पासेज्ज विविहं जगं॥

त्रसान् प्राणान् न हिंस्यात्
वाचा अथवा कर्मणा।
उपरतः सर्वभूतेषु
पश्येद् विविधं जगत्॥१२॥

१२—मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सब जीवों के वध से उपरत होकर विभिन्न प्रकार वाले जगत् को देखे—आत्मौपम्य दृष्टि से देखे।

१३—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए
जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु
आस चिट्ठ सएहि वा॥

अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य
यानि ज्ञात्वा संयतः।
दयाधिकारी भूतेषु
आस्व तिष्ठ शयस्व वा॥१३॥

१३—संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म (शरीर वाले जीवों) को देखकर बैठे, खड़ा हो और सोए। इन सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों की दया का अधिकारी होता है।

१४—कयराइं अट्ठ सुहुमाइं
जाइं पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी
आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥

कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि,
यानि पृच्छेत् संयतः।
इमानि तानि मेधावी,
आचक्षीत विचक्षणः ॥१४॥

१४—वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं—

१५—[30]सिणेहं पुप्फसुहुमं च
पाणुत्तिगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च
अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

स्नेहं पुष्प-सूक्ष्मं च,
'प्राणोत्तिङ्गं' तथैव च।
'पनकं' बीज-हरितं च,
'अण्डसूक्ष्मं' च अष्टमम् ॥१५॥

१५—स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिङ्ग[31], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं।

१६—एवमेयाणि जाणित्ता
सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं
सव्विंदियसमाहिए ॥

एवमेतानि ज्ञात्वा,
सर्वभावेन संयतः।
अप्रमत्तो यतेत् नित्यं,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥१६॥

१६—सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से[32] जानकर अप्रमत्त-भाव से यतना करे।

१७—धुवं च पडिलेहेज्जा
जोगसा पायकंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च
संथारं अदुवासणं ॥

ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्,
योगेन पात्र-कम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च,
संस्तारमथवासनम् ॥१७॥

१७—मुनि पात्र[33], कम्बल[34], शय्या[35], उच्चार-भूमि[36], संस्तारक[37] अथवा आसन का[38] यथासमय[39] प्रमाणोपेत[40] प्रतिलेखन करे[41]।

१८—[42]उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं।
फासुयं पडिलेहित्ता
परिट्ठावेज्ज संजए ॥

उच्चारं प्रस्रवणं,
'खेलं' सिंघाणं 'जल्लियम्'।
प्रासुकं प्रतिलेख्य,
परिष्ठापयेत् संयतः ॥१८॥

१८—संयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का[43] का उत्सर्ग करे।

१९—पविसित्तु परागारं
पाणट्ठा भोयणस्स वा[44]।
जयं चिट्ठे मियं भासे
ण य रूवेसु मणं करे ॥

प्रविश्य परागारं,
पानार्थं भोजनाय वा।
यतं तिष्ठेत् मितं भाषेत्,
न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥१९॥

१९—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे[45], परिमित बोले[46] और रूप में मन न करे[47]।

२०—[48]बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

बहु शृणोति कर्णाभ्यां,
बह्वक्षीभिः प्रेक्षते।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं,
भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥२०॥

२०—कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं।

२१—सुय वा जइ वा दिट्ठ
न लवेज्जोवघाइय।
न य केणइ उवाएण
गिहिजोग समायरे॥

श्रुतं वा यदि वा दृष्टं,
न लपेदौपघातिकम्।
न च केनचिदुपायेन
गृहियोगं समाचरेत्॥२१॥

२१—सुना या देखा हुआ औपघातिक-वचन साधु न कहे और किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे।

२२—निट्ठाण रसनिज्जूढ
भद्दग पावग ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभ न निद्दिसे॥

निष्ठानं नियूढरसम्
भद्रकं पापकमिति वा।
पृष्टो वाप्यपृष्टो वा,
लाभालाभं न निर्दिशेत्॥२२॥

२२—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है यह नीरस है यह अच्छा है यह बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे।

२३—न य भोयणम्मि गिद्धो
चरे उंछ अयंपिरो।
अफासुय न भुंजेज्जा
कीयमुद्देसियाहड॥

न च भोजने गृद्धः,
चरेदुञ्छमजल्पिता।
अप्रासुकं न भुञ्जीत
क्रीतमौद्देशिकाहृतम्॥२३॥

२३—भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए किन्तु वाचालता से रहित होकर उञ्छ (अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा) ले। अप्रासुक क्रीत औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाने पर भी न खाए।

२४—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
अणुमाय पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे
हवेज्ज जगनिस्सिए॥

सन्निधिं च न कुर्यात्
अणुमात्रमपि संयतः।
मुधाजीवी असंबद्धः,
भवेत् 'जग' निश्रितः॥२४॥

२४—संयमी अणुमात्र भी सन्निधि न करे। वह मुधाजीवी असंबद्ध (अलिप्त) और जनपद के आश्रित हो।

२५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे
अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्त न गच्छेज्जा
सोच्चाण जिणसासण॥

रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः
अल्पेच्छः सुभरः स्यात्।
आसुरत्वं न गच्छेत्
श्रुत्वा जिन शासनम्॥२५॥

२५—मुनि रूक्षवृत्ति सुसंतुष्ट, अल्प इच्छा वाला और अल्पाहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिन शासन को सुनकर क्रोध न करे।

२६—''कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेम नाभिनिवेसए।
दारुण कक्कस फास
काएण अहियासए॥

कर्णसौख्येषु शब्देषु
प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं
कायेन अध्यासीत॥२६॥

२६—कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे।

२७—खुह पिवास दुस्सेज्ज
सीउण्ह अरई भय।
अहियासे अव्वहिओ
देहदुक्ख महाफल॥

क्षुधां पिपासां दुःशय्यां
शीतोष्णमरतिं भयम्।
अध्यासीताऽव्यथितः
देहे दुःखं महाफलम्॥२७॥

२७—क्षुधा प्यास दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) शीत उष्ण अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है।

२८—अत्थंगयम्मि आइच्चे
पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं[७८] सव्वं
मणसा वि न पत्थए॥

अस्तङ्गते आदित्ये,
पुरस्तात् चानुद्गते।
आहारमयं सर्वं,
मनसापि न प्रार्थयेत्॥२८॥

२८—सूर्यास्त से लेकर[७६] पुन सूर्य पूर्व में[७७] न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे[७९]।

२९—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए॥

'अतिंतिण' अचपल,
अल्पभाषी मिताशन।
भवेदुदरे दान्त,
स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्॥२९॥

२९—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर बकवास न करे[८०], चपल न बने, अल्पभाषी[८१], मितभोजी[८२] और उदर का दमन करने वाला[८३] हो। थोडा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे[८४]।

३०—[८५]न बाहिर परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवस्सिबुद्धिए॥

न बाह्यं परिभवेत्,
आत्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुतलाभे न माद्येत,
जात्या तपस्वि-बुद्ध्या॥३०॥

३०—दूसरे का[८६] तिरस्कार न करे। आत्मोत्कर्ष (गर्व) न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का[८७] मद न करे।

३१—[८८]से[८९] जाणमजाणं वा
कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं
बीयं तं न समायरे॥

अथ जानन्नजानन्वा,
कृत्वा अधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं,
द्वितीयं तं न समाचरेत्॥३१॥

३१—जान या अजान में[९०] कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार[९१] वह कार्य न करे।

३२—अणायारं परक्कम
नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे
असंसत्ते जिइंदिए॥

अनाचारं पराक्रम्य,
नैव गूहेत न निन्हुवीत।
शुचि सदा विकटभाव,
असंसक्तो जितेन्द्रिय॥३२॥

३२—अनाचार[९२] का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे[९३] किन्तु सदा पवित्र[९४], स्पष्ट[९५], अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३—अमोहं वयणं कुज्जा
आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

अमोघं वचनं कुर्यात्,
आचार्यस्य महात्मन।
तत्परिगृह्य वाचा,
कर्मणोपपादयेत्॥३३॥

३३—महात्मा-आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४—अधुवं जीवियं नच्चा
सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु[९७]
आउं परिमियमप्पणो॥

अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा,
सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्य,
आयु परिमितमात्मन॥३४॥

३४—मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का[९६] ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

* (बल थाम च पेहाए
सद्धामारोगमप्पणो ।
खेत्त काल च विन्नाय
तहप्पाणं निजुंजए) ॥

बलं स्थाम च प्रेक्ष्य,
श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय
तथात्मानं नियुञ्जीत ॥

अपने बल पराक्रम श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर आत्मा को लगाए—शक्ति के अनुसार तप आदि का आचरण करे।

३५—जरा जाव न पीलेइ
वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति
ताव धम्मं समायरे ॥

जरा यावन्न पीडयति
व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते
तावद्धर्मं समाचरेत् ॥३५॥

३५—जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इंद्रियाँ क्षीण न हों तब तक धर्म का आचरण करे।

३६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥

क्रोधं मानं च मायां च
लोभं च पापवर्धनम् ।
वमेच्चतुरो दोषांस्तु,
इच्छन् हितमात्मनः ॥३६॥

३६—क्रोध मान माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

३७— कोहो पीइं पणासेइ
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ
लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति
मानो विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति
लोभः सर्वविनाशनः ॥३७॥

३७—क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का नाश करने वाला है माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है ।

३८— उवसमेण हणे कोहं
माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण
लोभं संतोसओ जिणे ॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं,
मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां चार्जवभावेन
लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥३८॥

३८—उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

३९—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥३९॥

३९—वश में न किए हुए क्रोध और मान बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

---

* यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है कुछ में नहीं।

४०—राइणिएसु विणयं पउंजे
धुवसीलयं सययं न हावएज्जा ।
कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो
परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि ॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
ध्रुवशीलता सततं न हापयेत् ।
कूर्म इवालीनप्रलीनगुप्त,
पराक्रामेत् तपस्संयमे ॥४०॥

४०—पूजनीयों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति[१०६] विनय का प्रयोग करे। अष्टादश-सहस्र शीलाङ्गों की[१०७] कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त[१०८] हो तप और सयम में पराक्रम करे।

४१—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए ।
मिहोकहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया ॥

निद्रा च न बहु मन्येत,
सप्रहासं विवर्जयेत् ।
मिथ कथासु न रमेत,
स्वाध्याये रत सदा ॥४१॥

४१—निद्रा को बहुमान न दे[१०९], अट्टहास[११०] का वर्जन करे, मैथुन की कथा में[१११] रमण न करे, सदा स्वाध्याय में[११२] रत रहे।

४२—जोगं च समणधम्मम्मि[११३]
जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो य समणधम्मम्मि
अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥

योगं च श्रमणधर्मे,
युञ्जीतानलसो ध्रुवम् ।
युक्तश्च श्रमणधर्मे,
अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥४२॥

४२—मुनि आलस्य-रहित हो श्रमण-धर्म में योग (मन, वचन और काया) का यथोचित[११४] प्रयोग करे। जिस क्रिया का जो काल हो उसमें वह अवश्य करे। श्रमण-धर्म में लगा हुआ[११५] मुनि अनुत्तर फल[११६] को प्राप्त होता है।

४३—[११७]इहलोगपारत्तहियं
जेण गच्छइ सोग्गइं ।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा
पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं ॥

इहलोकपरत्रहितं,
येन गच्छति सुगतिम् ।
बहुश्रुतं पर्युपासीत,
पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥४३॥

४३—जिसके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत[११८] की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय[११९] के लिए प्रश्न करे।

४४—[१२०]हत्थं पायं च कायं च
पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसिए
सगासे गुरुणो मुणी ॥

हस्तं पादं च कायं च,
प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।
आलीनगुप्तो निषीदेत्,
सकाशे गुरोर्मुनि ॥४४॥

४४—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को सयमित कर[१२१], आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) होकर[१२२] गुरु के समीप बैठे।

४५—[१२३]न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरुं समासेज्जा
चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥

न पक्षत न पुरत,
नैव कृत्यानां पृष्ठत ।
न च ऊरुं समाश्रित्य,
तिष्ठेद् गुर्वन्तिके ॥४५॥

४५—आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर[१२४] न बैठे।

४६—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए ॥

अपृष्टो न भाषेत,
भाषमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमांस न खादेत्,
मायामृषा विवर्जयेत् ॥४६॥

४६—बिना पूछे न बोले[१२५], बीच में[१२६] न बोले, चुगली न खाए[१२७] और कपटपूर्ण असत्य का[१२८] वर्जन करे।

४७—अप्पत्तियं जेण सिया
आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा
भासं अहियगामिणिं॥

अप्रीतिर्येन स्यात्
आशु कुप्येद्वा परः।
सर्वशस्तां न भाषेत
भाषामहितगामिनीम्॥४७॥

४७—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा[1] न बोले।

४८—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं॥

दृष्टां मितामसंदिग्धां
प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम्।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां
भाषां निसृजेदात्मवान्॥४८॥

४८—आत्मवान् दृष्ट, मित[1], असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण[2,3], व्यक्त, परिचित, वाचालता रहित और भय रहित भाषा बोले।

४९—[13] आयारपन्नत्तिधरं
दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा
न तं उवहसे मुणी॥

आचार-प्रज्ञप्ति-धरं
दृष्टिवादाध्येतारम्।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा
न तमुपहसेन्मुनिः॥४९॥

४९—वाक्य-रचना के नियमों को तथा प्रज्ञापन की पद्धति को जानने वाला[1] और दृष्टिवाद का अध्येता मुनि बोलने में स्खलित हुआ है[2] (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जान कर भी मुनि उसका उपहास न करे।

५०—[1] नक्खत्तं सुमिणं जोगं
निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे
भूयाहिगरणं पयं॥

नक्षत्रं स्वप्नं योगं
निमित्तं मंत्र-भेषजम्।
गृहिणस्तन्नाचक्षीत
भूताधिकरणं पदम्॥५०॥

५०—नक्षत्र, स्वप्नफल, वशीकरण, निमित्त, मन्त्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए।

५१—अन्नट्ठं पगडं लयणं
भएज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं
इत्थीपसुविवज्जियं॥

अन्यार्थं प्रकृतं लयनं
भजेत शयनासनम्।
उच्चारभूमिसम्पन्नं
स्त्रीपशुविवर्जितम्॥५१॥

५१—मुनि अन्यार्थ प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए)[1] मल-मूत्र की भूमि से युक्त स्त्री और पशु से रहित[2] गृह, शयन और आसन का सेवन करे।

५२—विवित्ता य भवे सेज्जा
नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा
कुज्जा साहूहिं संथवं॥

विविक्ता च भवेच्छय्या
नारीणां न लपेत् कथाम्।
गृहि-संस्तवं न कुर्यात्
कुर्यात् साधुभिः संस्तवम्॥५२॥

५२—मुनि एकान्त स्थान हो वहाँ केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे। गृहस्थों से परिचय न करे, परिचय साधुओं से करे।

५३—जहा कुक्कुडपोयस्स
निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स
[illegible] भयं॥

यथा कुक्कुटपोतस्य
नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः
स्त्रीविग्रहतो भयम्॥५३॥

५३—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को सदा बिल्ली से भय होता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है।

५४—चित्तभित्तिं न निज्झाए
नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं
दिट्ठिं पडिसमाहरे॥

चित्रभित्तिं न निध्यायेत्,
नारीं वा स्वलङ्कृताम्।
भास्करमिव दृष्ट्वा,
दृष्टिं प्रतिसमाहरेत्॥५४॥

५४—चित्र-भित्ति[153] (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित[154] स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उन पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है।

५५—हत्थपायपडिच्छिन्नं
कण्णनासविगप्पियं[155]।
अवि [156]वाससइं नारिं
बंभयारी विवज्जए॥

प्रतिच्छिन्न-हस्तपादां,
विकल्पित-कर्णनासाम्।
अपि वर्षशतां नारीं,
ब्रह्मचारी विवर्जयेत्॥५५॥

५५—जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

५६—विभूसा इत्थिसंसग्गी
पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा॥

विभूषा स्त्री-संसर्गः,
प्रणीत-रसभोजनम्।
नरस्यात्मगवेषिणः,
विषं तालपुटं यथा॥५६॥

५६—आत्मगवेषी[157] पुरुष के लिए विभूषा[158], स्त्री का संसर्ग और प्रणीत-रस[159] का भोजन तालपुट-विष[160] के समान है।

५७—अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए
कामरागविवड्ढणं॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग-संस्थानं,
चारूल्लपितप्रेक्षितम्।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्,
कामरागविवर्धनम्॥५७॥

५७—स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान[161], चारु-भाषित (मधुर बोली) और कटाक्ष[162] को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।

५८—विसएसु मणुन्नेसु
पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय
परिणामं पोग्गलाण उ॥

विषयेषु मनोज्ञेषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
अनित्यं तेषां विज्ञाय,
परिणाम पुद्गलानां तु॥५८॥

५८—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलों के परिणमन को[163] अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे[164]।

५९—पोग्गलाण परीणामं
तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे
सीईभूएण अप्पणा॥

पुद्गलानां परिणामं,
तेषां ज्ञात्वा यथा तथा।
विनीततृष्णो विहरेत्,
शीतीभूतेनात्मना॥५९॥

५९—इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को, जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को शीतल बना[165] तृष्णा-रहित हो विहार करे।

६०—जाए[166] सद्धाए निक्खंतो
परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालेज्जा
गुणे आयरियसम्मए॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः
पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तामेवाऽनुपालयेत्,
गुणेषु आचार्यसम्मतेषु॥६०॥

६०—जिस श्रद्धा से[167] उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला, उसीका[168] अनुपालन करे। आचार्य-सम्मत[169] गुणों की आराधना में उसे पूर्ववत् बनाए रखे।

६१—तवं चिमं संजमजोगयं च
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥

तपश्चेदं संयमयोगं च,
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठाता।
शूर इव सेनया समाप्तायुधः,
अलमात्मने भवत्यलं परेभ्यः ॥६१॥

६१—जो तप, संयम-योग और स्वाध्याय-योग में सदा प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।

६२—सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य त्रायिणः,
अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुध्यते यदस्य मलं पुराकृतं,
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥६२॥

६२—स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३—से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा ॥
त्ति बेमि।

स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः,
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः।
विराजते कर्मघनेऽपगते,
कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमाः ॥६३॥

इति ब्रवीमि।

६३—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्म रूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ८

श्लोक १ :

१. आचार-प्रणिधि को (आयारप्पणिहिं क) :

प्रणिधि का अर्थ समाधि या एकाग्रता है[1]। आचार में सर्वात्मना जो अध्यवसाय (एकाग्र चिन्तन या दृढ मानसिक सकल्प) होता है, उसे 'आचार-प्रणिधि' कहा जाता है[2]।

२. पाकर (लद्धुं क) :

अगस्त्य चूर्णि[3] और टीका[4] के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि[5] के अनुसार यह 'तुम् प्रत्यय' का रूप है। 'तुम्' प्रत्यय का रूप मानने पर 'आयारपणिहिं लद्धु' का अनुवाद 'आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के लिए' होगा।

श्लोक २ :

३. श्लोक २ :

तुलना कीजिए—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥
अहावरा तसा पाणा, एव छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई॥
(सूत्रकृताङ्ग १.११.७-८)

४. (सबीयगा ख) :

देखिए ४८ की टिप्पणी सख्या २० पृष्ठ १३७।

श्लोक ३ :

५. अहिंसक (अच्छणजोएण क) :

'छण' का अर्थ हिंसा है[6]। न छण—अछण अर्थात् अहिंसा। 'योग' का अर्थ सम्बन्ध[7] या व्यापार है। जिसका प्रयत्न

१—अ० चि० ६ १४ अवधानसमाधानप्रणिधानानि तु समाधौ स्यु।
२—अ० चू० आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो।
३—अ० चू० 'लद्धु' पाविऊण।
४—हा० टी० प० २२७ 'लब्ध्वा' प्राप्य।
५—जि० चू० पृ० २७१ (लद्धु) प्राप्तये।
६—अ० चू० क्षणु हिंसायामिति एयस्स रूवं, क्षणारस्स य छकारता पाकते जधा अक्षीणि अच्छीणि।
७—अ० चू० जोगो सबन्धो।

अहिंसक (हिंसा-रहित) होता है उसे 'अप्रयोग' कहा जाता है[1]।

श्लोक ४

६ श्लोक ४

मर्दन और लेखन करने से पृथ्वी आदि अचित्त हो तो उसके आश्रित जीवों की और सचित्त हो तो उसकी और उसके आश्रित जीव—दोनों की हिंसा होती है[2] इसलिए इनका निषेध है।

७ भित्ति (भित्तिं क)

इसका अर्थ है—दरार[3]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ९९ पृष्ठ १६ ।

श्लोक ५

८ शुद्ध पृथ्वी (सुद्धपुढवीए क) :

'शुद्ध पृथ्वी' के दो अर्थ हैं—शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी अर्थात् सचित्त-पृथ्वी और शस्त्र से उपहत—अचित्त होने पर भी जिस पर कंबल आदि बिछा हुआ न हो वह पृथ्वी[4]। गात्र की ऊष्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है इसलिए सचित्त पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए और कंबल आदि बिछाए बिना जो अचित्त पृथ्वी पर बैठता है उसका शरीर धूलि से लिप्त हो जाता है अथवा उसके निम्न भाग में रहे हुए जीवों की गात्र की ऊष्मा से विराधना होती है इसलिए अचित्त पृथ्वी पर भी आसन आदि बिछाए बिना नहीं बैठना चाहिए[5]।

९ (ससरक्खम्मि ख)

सचित्त-रज से संसृष्ट[6]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ९९ पृष्ठ-संख्या १६०-६१।

१—(क) अ० चू० : अहिंसणेण अप्पणेण जोगो जस्स सो अप्पजोगो।
   (ख) जि० चू० पृ० २७४ : अकारो पडिसेहे वट्टइ, पकारो हिंसाए वट्टइ, जोगो मणवयणकायाणो तिविहो न पजोगो अप्पजोगो तेण अप्पजोगेण विहरियव्वं।
   (ग) हा० टी० प० २२८ : 'अल्पयोगेन' अहिंसाव्यापारेण।
२—जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ अचित्ताए तन्निस्सिया विराहिज्जंति सचित्ताए पुढवी जीवा तन्निस्सिया य विराहिज्जंति।
३—(क) अ० चू० : 'भित्ति' तडी।
   (ख) जि० चू० पृ० २७५ : भित्तिमादि नदितडीतो जयोवट्टकिया सा भित्ती भन्नति।
   (ग) हा० टी० प० २२८ : 'भित्तिं' तटीम्।
४—(क) अ० चू० : असत्थोवहता सुद्धपुढवी सत्थोवहतावि कंबलमादिहिं अणंतरिता।
   (ख) जि० चू० पृ० २७५ : सुद्धपुढवी नाम न सत्थोवहता अणन्तोवहयावि जा णो अणंतरिया सा सुद्धपुढवी भण्णइ।
   (ग) हा० टी० प० २२८ : 'शुद्धपृथिव्याम्' अशस्त्रोपहतायामनन्तरितायाम्।
५—जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ सचित्तपुढवीए गायउम्हाए विराहिज्जइ अचित्ताए पुणाए जति (गायथा) सजायी गुंडिज्जति हेट्ठिल्ला वा तन्निस्सिया तस्स उम्हाए विराहिज्जंति।
६—(क) जि० चू० पृ० २७५ : ससरक्खं नाम जंमि सचित्तरतो वातउद्धुतो समागतो ससरक्खं भण्णइ।
   (ख) हा० टी० प० २२८ : 'सरजस्के वा' पृथ्वीरजोऽवगुण्ठिते वा।

१०. न बैठे (न निसिए [क]) :

बैठने का स्पष्ट निषेध है। इसके उपलक्षण से खड़ा रहने, सोने आदि का भी निषेध समझ लेना चाहिए[१]।

११. प्रमार्जन कर (पमज्जित्तु [ग]) :

सचित्त-पृथ्वी पर बैठने का सर्वथा निषेध है। अचित्त पृथ्वी पर सामान्यत. आसन बिछाए बिना बैठने का निषेध है, किन्तु धूलि का प्रमार्जन कर बैठने का विधान भी है। यह उस सामान्य विधि का अपवाद है[२]।

१२. लेकर (जाइत्ता [घ]) :

चूर्णि और टीका के अनुसार यह पाठ 'जाणित्तु' रहा—ऐसा सभव है। उसके सस्कृत रूप 'ज्ञात्वा' और 'ज्ञपयित्वा' दोनों हो सकते हैं। ज्ञात्वा अर्थात् पृथ्वी को अचेतन जानकर, ज्ञपयित्वा अर्थात् वह जिसकी हो उसे जताकर—अनुमति लेकर या मागकर। टीका में 'जाइत्ता' की भी व्याख्या है[३]।

श्लोक ६ :

१३. शीतोदक (सीओदगं [क]) :

यहाँ इसका अर्थ है—भूम्याश्रित सचित्त जल[४]।

१४. (वुट्ठं [ख]) :

बरसात का पानी, अन्तरिक्ष का जल[५]।

१५. हिम का (हिमाणि [ख]) :

हिम-पात शीतकाल में होता है[६] और वह प्राय उत्तरापथ में हो

१—हा० टी० प० २२८ न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् ...

२—हा० टी० प० २२८ अचेतनाया तु प्रमृज्यतां रजोहरणेन ... दे...

३—(क) अ० चू० जाणित्तु सत्थोवहता इति लिंगतो पचविह वा ...

(ख) जि० चू० पृ० २७५ जाणिऊण जहा एसा अचित्तजयणा, घेऊण निसीदणादीणि कुज्जा।

(ग) हा० टी० प० २२८ 'ज्ञात्वे' त्यचेतनां ज्ञात्वा 'याचयित्वाऽवग्रह'

४—(क) अ० चू० 'सीतोदग' ... भौम पाणित।

(ख) जि० चू० पृ० २७... ...स्स उदयस्स गहण

(ग) हा० टी० प० २२... ...

५—(क) अ० चू० 'वुट्ठ' ... वारि

(ख) जि० चू० पृ० २७६ वुट्ठग्गहणेण

६—अ० चू० हिम हिमवति सीतकाले ...

७—(क) जि० चू० पृ० २७६ हिम पाउसे ...

(ख) हा० टी० प० २२८ हिम प्रतीत प्राय ...

श्लोक ८ :

२१. श्लोक ८ :

अङ्गार आदि शब्दों की विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.२० की टिप्पणी-सख्या ८९-१०० पृष्ट १६५-६ ।

श्लोक ९ :

२२. बाहरी पुद्गलों पर (बाहिरं······पोग्गलं घ) :

वाह्य पुद्गल का अर्थ शरीर व्यतिरिक्त वस्तु[1]—उष्णोदक आदि पदार्थ हैं[2] ।

श्लोक १० :

२३. तृण, वृक्ष (तणरुक्खं क) :

'तृण' शब्द से सभी प्रकार की घासों और 'वृक्ष' शब्द से सभी प्रकार के वृक्षों एव गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है[3] । तृणद्रुम सयुक्त शब्द भी है। कोश में नालिकेर, खर्जूर और पूग आदि ताल जाति के वृक्षों को तृणद्रुम कहा है[4], सभवत· इसीलिए कि तृणों के समान इनके भी रेशे समानान्तर और काटे नुकीले होते हैं। किन्तु यहाँ इनका वियुक्त अर्थ-ग्रहण ही अधिक सगत है।

श्लोक ११ :

२४. वन-निकुञ्ज के बीच (गहणेसु क) :

गहन का अर्थ है वृक्षाच्छन्न प्रदेश। गहन में हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की सभावना रहती है इसलिए वहाँ ठहरने का निषेध है[5] ।

२५. अनन्तकायिक वनस्पति (उदगम्मि ग) :

'उदक' के दो अर्थ किए गए हैं—अनन्तकायिक वनस्पति और जल[6] । किन्तु यह वनस्पति का प्रकरण है, इसलिए यहाँ इसका

१—अ० चू० सरीरवतिरित्त बाहिर पोग्गल।

२—(क) जि० चू० पृ० २७७ बाहिरपोग्गलग्गहणेण उसिणोदयादीण गहण।

(ख) हा० टी० प० २२९ 'बाह्य वापि पुद्गलम्' उष्णोदकादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २७७ तत्थ तण दब्भादि, रुक्खगहणेण एगट्ठियाण बहुबीयाण य गहण, 'एगग्गहणे गहण तज्जातीयाण' मितिकाउ सेसावि गुच्छगुम्मादि गहिया।

(ख) हा० टी० प० २२९ तृणानि—दर्भादीनि, वृक्षा —कदम्बादय·।

४—अमर० काण्ड २ वर्ग ४ श्लोक १७० खर्जूर केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमा·।

५—(क) जि० चू० पृ० २७७ तत्थ गहण गुविल भण्णइ, तत्थ उव्वत्तमाणो परियत्तमाणो वा साहादीणि घट्टेइ त गहण, तत्थ नो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२९ 'गहनेषु' वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत्, सघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्।

६—जि० चू० पृ० २७७ तत्थ उदग नाम अणतवणप्फई, से भणिय च—'उदए अवए पणए सेवाले' एवमादि, अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहण करेंति, कम्हा ?, जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि।

५—पनक सूक्ष्म—काई, यह पाँच वर्ण की होती है। वर्षा में भूमि, काठ और उपकरण (वस्त्र) आदि पर उस द्रव्य के समान वर्णवाली उत्पन्न होती है[1]।

६—बीज सूक्ष्म—सरसों और शाल के अग्रभाग पर होने वाली कणिका, जिसे लोग 'सुमधु' भी कहते हैं[2]। स्थानाङ्ग वृत्तिकार के अनुसार इसे लोक-भाषा में 'तुपमुख' भी कहा जाता है[3]।

७—हरित सूक्ष्म—जो तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला और दुर्ज्ञेय हो वह अंकुर[4]।

८—अण्ड-सूक्ष्म के पाँच प्रकार हैं—मधुमक्खी, कीड़ी, मकड़ी (स्थानाङ्ग ८२० में वृत्तिकार ने लूता—मकड़ी के स्थान में गृहकोकिला—गिलहरी का उदाहरण दिया है) ब्राह्मणी और गिरगिट के अंडे[5]।

३१. उत्तिङ्ग (उत्तिंग ख) :

स्थानाङ्ग में आठ सूक्ष्म बतलाए हैं[6]। दशवैकालिक और स्थानाङ्ग के सूक्ष्माष्टक में अर्थ-दृष्टि से अभेद है। जो क्रम-भेद है उसका कारण गद्य और पद्य रचना है। शब्द-दृष्टि से सात शब्द तुल्य हैं केवल एक शब्द में अन्तर है। स्थानाङ्ग में 'लेण' है वहाँ दशवैकालिक में 'उत्तिंग' है। स्थानाङ्ग वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने 'लेण' का अर्थ जीवों का आश्रय-स्थान किया है[7]। दशवैकालिक के टीकाकार हरिभद्र सूरि ने 'उत्तिंग' का अर्थ 'कीटिका नगर किया है[8]। इन दोनों सूत्रों के शाब्दिक-भेद और आर्थिक-अभेद से एक बड़ा लाभ हुआ है, वह है 'उत्तिंग' शब्द के अर्थ का निश्चय। विभिन्न व्याख्याकारों ने 'उत्तिंग' शब्द के विभिन्न अर्थ किए हैं (देखिए आचा० २ १ १ का टिप्पण)। किन्तु प्रस्तुत-श्लोक में प्रयुक्त 'उत्तिंग' का अर्थ वही होना चाहिए जो 'लयन' का है। इस प्रकार 'लयन' शब्द 'उत्तिंग' के अर्थ को कस देता है। इसी अध्ययन के ग्यारहवें श्लोक में जो 'उत्तिंग' शब्द आया है वह वनस्पति का वाचक है। प्रस्तुत प्रकरण त्रसकाय से सम्बन्धित है। प्रकरण-भेद से दोनों में अर्थ-भेद है।

श्लोक १६ :

३२. सब प्रकार से (सव्वभावेण ख) :

अगस्त्य चूर्णि में लिङ्ग, लक्षण, भेद, विकल्प—यह सर्वभाव की व्याख्या है[9]। लिङ्ग आदि सर्व साधनों से जानना, सर्वभाव से जानना कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ 'सर्वस्वभाव' किया है[10]। जिनदास चूर्णि में वर्ण, संस्थान आदि को 'सर्वभाव' माना गया है[11]।

१—जि० चू० पृ० २७८ पणगसुहुमं णाम पंचवन्नो पणगो वासासु भूमिकट्ठउवगरणादिसु तद्दव्वसमवन्नो पणगसुहुमं।

२—जि० चू० पृ० २७८ बीयसुहुमं नाम सरिसवादि सालिस्स वा मुहमूले जा कणिया सा बीयसुहुमं, सा य लोगेण उ सुमहु (धुम)त्ति भण्णइ।

३—स्था० ८ ३ सू० ६१७ वृ लोके या तुपमुखमित्युच्यते।

४—जि० चू० पृ० २७८ हरितसुहुमं णाम जो अहुणुट्ठिय पुढविसमाणवण्ण दुव्विभावणिज्ज त हरियसुहुमं।

५—अ० चू० ५ंडसुहुमं महुमच्छिगादीण, कीडिया अंडगं—पिपीलियाअंड, उक्कलिअंड लूया—पडागस्स, हलियंडबंभणियाअंड, सरडिअंडगं,—हल्लोहलिअंड।

६—स्था० ८ ३ सू० ६१५ अट्ठ सुहुमा प० त० पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरियसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे, सिणेहसुहुमे।

७—स्था० ८ ३ सू० ६१५ वृ० लयनम्—आश्रय सत्त्वानाम्, तच्च कीटिकानगरादि, कीटिकाश्चान्ये च सूक्ष्मा सत्त्वा भवन्तीति।

८—हा० टी० प० २३० उत्तिंगसूक्ष्म-कीटिका-नगरम्। तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति।

९—अ० चू० सव्वभावेण लिंगलक्खण भेदविकप्पेण।

१०—अ० चू० अहवा सव्वसभावेण।

११—जि० चू० पृ० २७८ सव्वप्पगारेहिं वण्णसठाणाईहिं णाऊणति।

यहाँ एक विशेष जानकारी दी गई है कि छद्मस्थ सब पर्यायों को नहीं जान सकता। इसलिए 'सर्वभाव' का अर्थ होगा जिसका जो विषय है उसे पूर्णरूप से (जानकर)[1]। टीकाकार ने इसका अर्थ अपनी शक्ति के अनुरूप स्वरूप-संरक्षण[2] किया है।

श्लोक १७

३३ पात्र (पाय क) :

यहाँ पात्र शब्द से काष्ठ, तुम्बा और मिट्टी—ये तीनों प्रकार के पात्र ग्राह्य हैं[3]।

३४ कम्बल (कंबलं क) :

यहाँ 'कम्बल' शब्द से ऊन और सूत—दोनों प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं[4]।

३५ शय्या (सेज्जं ख) :

शय्या का अर्थ है वसति—उपाश्रय। उसका दिन में दो या तीन बार प्रतिलेखन करने की परम्परा का उल्लेख है[5]।

३६ उच्चार-भूमि (उच्चारभूमिं ग) :

जहाँ लोगों का अनापात और असंलोक हो अर्थात् लोगों का गमनागमन न हो और लोग न दीखते हों वह उच्चार—मलोत्सर्ग करने योग्य भूमि है। साधु उसका प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर उसमें प्रवेश करे[6]।

३७ संस्तारक (संथार घ) :

संस्तारक-भूमि के लिए भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों का विधान है[7]।

१—जि० चू० पृ० २७८-७९ : अहवा न सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउं कि पुण जो जस्स विसओ ? तेण सव्वेण भावेण अभि-कंखंति।

२—हा० टी० प० २३१ : 'सर्वभावेन' सामर्थ्यानुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना।

३—(क) अ० चू० : पायं कट्ठतुंबमट्टियामयं।

(ख) जि० चू० पृ० २७८ : पायग्गहणेण दारुअलाउयमट्टियापायाणं गहणं।

(ग) हा० टी० प० २३१ : पात्रग्रहणात्—अलाबुदारुमृत्तिकापरिग्रहः।

४—(क) अ० चू० : कंबलोपदेसेण उण्णामयं वत्थादि सव्वमुपदिट्ठं।

(ख) जि० चू० पृ० २७८ : कंबलग्गहणेण उण्णियसोत्तियाण सव्वेसिं गहणं।

(ग) हा० टी० प० २३१ : कम्बलग्रहणादूर्णासूत्रमयपरिग्रहः।

५—(क) जि० चू० पृ० २७८ : सेज्जाओ वसइओ भण्णइ तमवि दुकालं तिकालं वा पडिलेहिज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'शय्यां' वसतिं द्विकालं त्रिकालं च।

६—(क) अ० चू० : उच्चारो सरीरमलो तस्स भूमी उच्चारभूमी तमवि अणावातमसंलोगादिगुणविहिया पडिलेहेज्जा पडिलेहितपमज्जित वा आयारेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : उच्चारभूमिमवि अणावायमसंलोयादिगुणेहिं जुत्त गवेसमाणो।

(ग) हा० टी० प० २३१ : उच्चारभुवं च—अनापातवदादि स्थण्डिलम्।

७—(क) जि० चू० पृ० २७९ : तहा संथारभूमिमवि पडिलेहिय पमज्जिय अत्थुरेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'संस्तारकं' तृणमयादिरूपम्।

३८. आसन का (आसणं घ) :

बैठते समय आसन का प्रतिलेखन करने का विधान है[1]।

३९. यथासमय (धुवं क) :

इसका अर्थ नित्य-नियत समय या यथासमय है[2]।

४०. प्रमाणोपेत (जोगसा ख) :

इसका अर्थ अन्यूनातिरिक्त अर्थात् प्रमाणोपेत है। प्रतिलेखन न हीन करना चाहिए और न अतिरिक्त, किन्तु प्रमाणोपेत करना चाहिए। जैसे योग-रक्त साड़ी का अर्थ प्रमाण-रक्त साड़ी होता है, वैसे ही जोगसा का अर्थ प्रमाण—प्रतिलेखन होता है[3]। व्याख्याओं में इसका मूल अर्थ—'सामर्थ्य होने पर' भी किया गया है[4]।

४१. प्रतिलेखन करे (पडिलेहेज्जा क) :

प्रतिलेखन का अर्थ है देखना। मुनि के लिए दिन में दो बार (प्रात और साय) वस्त्र आदि का प्रतिलेखन करना विहित है। प्रतिलेखन-विधि की जानकारी के लिए उत्तराध्ययन (२६ २२ ३१) और ओघनिर्युक्ति गाथा (२५६-२७५) द्रष्टव्य हैं।

श्लोक १८ :

४२. श्लोक १८ :

इस श्लोक में निर्दिष्ट उच्चार आदि की तरह अन्य शरीर के अवयव, आहार या उपकरण आदि का भी प्रासुक स्थान में उत्सर्ग करना चाहिए। यह उपाश्रय में उत्सर्ग करने की विधि का वर्णन है[5]।

४३. शरीर के मैल का (जल्लियं ख) :

'जल्लिय' का अर्थ है शरीर पर जमा हुआ मैल। चूर्णिद्वय के अनुसार मुनि के लिए उसका उद्वर्तन करना—मैल उतारना विहित

१—जि० चू० पृ० २७६ तहा आसणमवि पडिलेहिऊण उवविसेज्ज।

२—(क) अ० चू० धुव णियत।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ धुव णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो त तमि णिच्च।

(ग) हा० टी० प० २३० 'ध्रुव च' नित्य च यो यस्य काल उक्तोऽनागत परिभोगे च तस्मिन्।

३—जि० चू० पृ० २७६ जोगसा नाम सति सामत्थे, अहवा जोगसा णाम ज पमाण भणित ततो पमाणाओ ण हीणमहित वा पडिलेहिज्जा, जहा जोगरत्ता साडिया पमाणरत्तित्ति वुत्त भवइ तहा पमाणपडिलेहा जोगसा भण्णइ।

४—(क) अ० चू० जोगसा जोग सामत्थे सति अहवा उवउज्जिऊण पुव्वि तिजोगेण जोगसा उणातिरित्तपडिलेहणावज्जित वा जोगसा।

(ख) हा० टी० प० २३१ 'योगे सति' सति सामर्थ्ये अन्यूनातिरिक्तम्।

५—(क) जि० चू० पृ० २७६ अन्न वा सरीरावयव आहारोवकरणादि वा, फासुय ठाण 'पडिलेहिऊण परिट्ठवेज्ज सजए'त्ति, एस उवस्सए विधी भणिओ।

(ख) हा० टी० प० २३१ उपाश्रयस्थानविधिरुक्त।

श्लोक २० :

४८. श्लोक २० :

चूर्णिकार ने इस श्लोक के प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण दिया है :

एक व्यक्ति पर-स्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु किसी दूसरे को कह देगा, इसलिए मै उसे मार डालूँ। उसने आगे जाकर मार्ग रोका और मौका देखकर साधु से पूछा—'आज तूने मार्ग में क्या देखा ?' साधु ने कहा

वहु सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठ सुय सव्व, भिक्खु अक्खाउमरिहइ॥

यह सुनकर उसने मारने का विचार छोड दिया। इस प्रसग से यह स्पष्ट होता है कि सत्य भी विवेकपूर्ण बोलना चाहिए। साधु को झूठ नहीं बोलना चाहिए। किन्तु जहाँ सत्य बोलने से हिंसा का प्रसग हो वहाँ सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। वैसी स्थिति में मौन रखना ही अहिंसक का धर्म है। इसका सम्बन्ध आचाराङ्ग से भी है। वहाँ बताया गया है—पथिक ने साधु से पूछा : क्या तुमने मार्ग में मनुष्य, वृषभ, महिष, पशु, पक्षी, सांप, सिंह या जलचर को देखा ? यदि देखा हो तो बताओ। वैसी स्थिति में साधु जानता हुआ भी 'जानता हूँ'—ऐसा न कहे। किन्तु मौन रहे[1]।

श्लोक २१ :

४९. सुना (सुयं क) :

किसी के बारे में दूसरों से सुनकर कहना कि 'तू चोर है'—यह सुना हुआ औपघातिक वचन है[2]।

५०. देखा हुआ (दिट्ठं क) :

मैंने इसे लोगों का धन चुराते देखा है—यह देखा हुआ औपघातिक वचन है[3]।

५१. गृहस्थोचित कर्म का (गिहिजोगं घ) :

'गृहियोग' का अर्थ है—गृहस्थ का ससर्ग या गृहस्थ का कर्म—व्यापार। 'इस लड़की का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किया ?', 'इस लड़के को तूने काम में नहीं लगाया'—ऐसा प्रयत्न गृहियोग कहलाता है[4]।

१—आचा० २ १ ३ ३ सू० ३५२ तुसिणीए उवेहिज्जा, जाण वा नो जाणति वइज्जा।

२—(क) जि० चू० पृ० २८१ तत्थ सुत जहा तुमं मए सुओ अट्ठाबद्धो चोरो एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २३१ यथा—चौरस्त्वमित्यादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २८१ दिट्ठो—दिट्ठोसि मए परदव्व हरमाणो एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २३१ यदि वा दृष्टं स्वयमेव।

४—(क) अ० चू० गिहिजोग गिहिसंसग्गि गिहवावारं वा गिहिजोग।
(ख) जि० चू० पृ० २८१ गिहीहिं सम जोग गिहिजोग, ससग्गित्ति वुत्त भवति, अहवा गिहिकम्म जोगो भण्णइ, तस्स गिहिकम्माणं कयाण अकयाण च तत्थ उवेक्खण सय वाऽकरण, जहा एस दारिया किं न दिज्जइ ? दारगो वा किं न निवेसिज्जइ ?, एवमादि।
(ग) हा० टी० प० २३१ 'गृहियोग' गृहिसवन्ध तद्‌बालग्रहणादिरूप गृहिव्यापार वा।

दशवैकालिक में 'उञ्छ' शब्द का प्रयोग तीन स्थलों में 'अन्नाय' शब्द के साथ[1] और दो स्थलों में स्वतन्त्र रूप[2] से हुआ है।

श्लोक २४ :

५७. सन्निधि (सन्निहिं [क]) :

इसका शाब्दिक अर्थ है पास में रखना, जमा करना, संग्रह करना। इसका भावार्थ है रातवासी रखना[3]। मुनि के लिए आगामी काल की चिन्ता से प्रेरित हो संग्रह करने का निषेध किया गया है[4]।

५८. मुधाजीवी (मुहाजीवी [ग]) :

यहाँ अगस्त्यसिंह ने 'मुहाजीवी' का अर्थ मूल्य के विना जीने वाला अर्थात् अपने जीवन के लिए धन आदि का प्रयोग न करने वाला किया है[5]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.१ की टिप्पणी संख्या १०० पृष्ठ २८७।

५९. असंबद्ध (अलिप्त) (असंबद्धे [ग]) :

इसका एक अर्थ है—सरस आहार में आसक्त न हो—बद्ध न हो[6]। दूसरा अर्थ है—जिस प्रकार कमल-पत्र पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार गृहस्थों से निर्लिप्त[7]।

६०. जनपद के आश्रित (जगनिस्सिए [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मुनि एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे[8]। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'जगन्निश्रित' की व्याख्या इस प्रकार है—मुनि गृहस्थ के निश्रित रहे अर्थात् गृहस्थों के घर से जो भिक्षा प्राप्त हो वह ले, किन्तु मंत्र तन्त्र से जीविका न करे[9]। टीका के अनुसार इसका अर्थ है—त्रस और स्थावर जीवों के संरक्षण में संलग्न[10]। स्थानाङ्ग में श्रमण के लिए पाँच निश्रा—स्थान बतलाए गए हैं—छहकाय, गण—गणराज्य, राजा, गृहपति और शरीर[11]। भिक्षु इनकी निश्रा में विहार करता है। चूर्णियों के अर्थ टीका की अपेक्षा अधिक मूलस्पर्शी हैं।

१—दश० ६.३.४, १०.१६, चू० २.५।

२—दश० ८.२३, १०.१७।

३—जि० चू० पृ० २८२ सन्निधी—गुलघयतिल्लादीण दव्वाण परिवासणति।

४—अ० चू० सण्णिधाण सण्णिधी उत्तरकाल भुंजीहामित्ति सण्णिचय—करणमणेगदेवसियं त ण कुव्वेज्जा।

५—अ० चू० मुधा अमुल्लेण तधा जीवति मुधाजीवी जहा पढमपिंडेसणाए।

६—अ० चू० असबद्धो रसादिपडिबंधेहिं।

७—(क) जि० चू० पृ० २८२ असबद्धे णाम जहा पुक्खरपत्त तोएण न सयज्झइ एव गिहीहिं सम असबद्धेण भवियव्वति।

(ख) हा० टी० प० २३१ असंबद्ध पद्मिनीपत्रोदकवद्गृहस्थैः।

८—अ० चू० ण एक्क कुलं गामं वा णिस्सितो जणपदमेव।

९—जि० चू० पृ० २८२ 'जगनिनिस्सिए' णाम तत्थ पत्ताणि लभिस्सामोत्तिकाऊण गिहत्थाण णिस्साए विहरेज्जा, न तेहिं सम कुटलाइ करेज्जा।

१०—हा० टी० प० २३१ 'जगन्निश्रित' चराचरसंरक्षणप्रतिबद्धः।

११—स्था० ५.३.४४७ धम्म चरमाणस्स पच्च णिस्साथाणा प० त०—छक्काए गणे राया गिहवती सरीरं।

श्लोक २५

६१ रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती ^घ)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'रूक्षवृत्ति' के दो अर्थ हैं—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला और रूखे निष्पाव, कोद्रव आदि रूक्ष द्रव्यों से जीविका करने वाला[1]। जिनदास चूर्णि और टीका को दूसरा अर्थ अभिमत है[2]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२.३४ की टिप्पणी संख्या ५१ पृष्ठ ३११।

६२ अल्प इच्छा वाला (अप्पिच्छे ^घ) :

जिसके आहार की जितनी मात्रा हो उससे कम खाने वाला 'अल्पेच्छ' अल्प इच्छा वाला कहलाता है[3]।

६३ अल्पाहार से तृप्त होने वाला (सुहरे ^घ) :

रूक्षवृत्ति सुसंतुष्ट अल्पेच्छ और सुभर इनमें कारण भाव—फल भाव है। रूक्षवृत्ति का फल सुसंतोष, सुसंतोष का अल्पेच्छता और अल्पेच्छता का फल सुभरता है[4]।

६४ जिन-शासन को (जिणसासणं ^घ)

जिन-शासन को सुनकर—अक्रोध की शिक्षा के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जिन-वचन में क्रोध के बहुत ही कटु विपाकों का वर्णन किया है। जीव चार प्रकार से नारकीय कर्मों का बन्धन करता है। उनमें पहला है—क्रोध-शीलता। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर क्रोध न किया जाए इसके लिए जिन शासन में अनेक आलम्बन बतलाए गए हैं जैसे—कोई अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पुरुष भिक्षु को गाली दे मारे-पीटे तब वह सोचे कि यह मेरा अपराध नहीं कर रहा है। मुझे कष्ट दे रहे हैं मेरे किए हुए कर्म। इस प्रकार सोचकर जो गाली और मार-पीट को सहन करता है वह अपनी आत्मा का शोधन करता है[5]। देखिए उत्तराध्ययन (२.२४-२७)। अगस्त्यसिंह ने अक्रोध की आलम्बनभूत एक गाथा उद्धृत की है :

अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं ।
लाभं मन्नति धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥

इसका अर्थ है 'गाली देना पीटना और मारना—ये कार्य बालजनों के लिए सुलभ हैं। कोई आदमी गाली दे तब भिक्षु यह सोचे कि खैर अच्छा गाली ही दी पीटा तो नहीं। पीटे तो सोचे कि चलो पीटा पर मारा तो नहीं। मारे तब सोचे कि खैर, मेरा धर्म तो नहीं छूटा। इस प्रकार क्रोध पर विजय पाए।

६५ क्रोध (आसुरत्तं ^घ) :

'आसुर' शब्द का सम्बन्ध असुर जाति से है। आसुर अर्थात् असुर-संबन्धी। असुर क्रोध-प्रधान माने जाते हैं इसलिए 'आसुर'

१—अ० चू०: लूहं संजमो तस्स अणुरोहेण वित्ति जस्स सो लूहवित्ती अहवा लूहदव्वाणि णिप्फावकोद्दवादीणि वित्ती जस्स ।
२—(क) जि० चू० पृ० २८२: णिप्फावकोद्दवादिलूहदव्वेहिं वित्ती जस्स सो लूहवित्ती भवइ, जिणं वाउला लूहवित्तिया भवियव्वं ।
(ख) हा० टी० प० २३३: रूक्ष—वल्लचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः ।
३—(क) जि० चू० पृ० २८२: अप्पिच्छो णाम जो जस्स आहारो ताओ आहारमत्ताओ ऊणमाहारेमाणो अप्पिच्छो भवति ।
(ख) हा० टी० प० २३३: अल्पेच्छो न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी ।
४—हा० टी० प० २३३: सुभरः स्यात् अल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादावपि यत्र तत्रैव वा स्यात् ।
५—स्था० ४.४.३५४: चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति तं०—कोहसीलताए, पाहुडसीलताए, संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ताजीवयाए ।

शब्द क्रोध का पर्याय बन गया। आसुरत्व अर्थात् क्रोध-भाव[1]।

श्लोक २६ :

६६. श्लोक २६ :

श्लोक के प्रथम दो चरणों में श्रोत्र-इन्द्रिय के और अन्तिम दो चरणों मे स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह का उपदेश है। इससे मध्यवर्ती शेष इन्द्रिय चक्षु, घ्राण और रसन के निग्रह का उपदेश स्वयं जान लेना चाहिए। जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ शब्दों में राग न करे उसी प्रकार अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष न करे। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषयों में राग और द्वेष न करे। जैसे बाहरी वस्तुओं से राग और द्वेष का निग्रह कर्म-क्षय के लिए किया जाता है, वैसे ही कर्म-क्षय के लिए आन्तरिक दुःख भी सहने चाहिए[2]।

६७. कानों के लिए सुखकर (कण्णसोक्खेहिं [क]) :

वेणु, वीणा आदि के जो शब्द कानों के सुख के हेतु होते हैं, वे शब्द 'कर्णसौख्य' कहे जाते हैं[3]।

६८. दारुण और कर्कश (दारुणं कक्कस [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'दारुण' का अर्थ है विदारण करने वाला और कर्कश का अर्थ है शरीर को कृश करने वाले शीत, उष्ण आदि के स्पर्श। इन दोनों को एकार्थक भी माना है। तीव्रता बताने के लिए अनेक एकार्थक शब्दों का प्रयोग करना पुनरुक्त नहीं कहलाता[4]। टीका के अनुसार 'दारुण' का अर्थ अनिष्ट और 'कर्कश' का अर्थ कठिन है[5]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार शीत, उष्ण आदि दारुण स्पर्श हैं और ककड़ आदि के स्पर्श कर्कश हैं। पहले का सम्बन्ध ऋतु-विशेष और दूसरे का सम्बन्ध मार्ग-गमन से है[6]।

६६. स्पर्श (फास [ग]) :

स्पर्श का अर्थ स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय (कठोर आदि) है। इसका दूसरा अर्थ दुःख या कष्ट भी है[7]। यहाँ दोनों अर्थ किए जा सकते हैं।

१—(क) अ० चू० असुराण एस विसेसण ति आसुरो कोहो तब्भावो आसुरत्त।

(ख) जि० चू० पृ० २८२।

२—जि० चू० पृ० २८३ तत्थ कण्णसोक्खेहिं सद्देहिंति एतेण आदिल्लस्स सोइंदियस्स गहण कय, दारुण कक्कस फासंति—एतेण अतिल्लस्स फासिंदियस्स गहण कय, आदिल्ले अतिल्ले य गहिए सेसावि तस्स मज्झपडिया चक्खूघाणजीहा गहिया, कन्नेहिं विरूविहिं राग ण गच्छेज्जा, एव गरहा, सेसेसुवि राग न गच्छेज्जत्ति, जहा एतेसु सद्दाइसु मणुण्णेसु राग न गच्छेज्जा तहा अमणुण्णेसुवि दोस न गच्छेज्जा, जहा बाहिरवत्थूसु रागदोसनिग्गहो कम्मखवणत्थ कीरइ तहा कम्मखवणत्थमेव अन्तवट्टियमवि दुक्ख सहियव्व।

३—(क) जि० चू० पृ० २८३ कन्नाण सुहा कन्नसोक्खा तेसु कन्नसोक्खेसु वसीवीणाइसद्देसु।

(ख) हा० टी० प० २३२ कर्णसौख्यहेतव कर्णसौख्या शब्दा—वेणुवीणादिसवन्धिन।

४—जि० चू० पृ० २८३ दारुण णाम दारणसील दारुण, कक्कस नाम जो सीउण्हकोसादिफासो सो सरीर किस कुव्वईति कक्कस, त कक्कस फास उदिण्ण काएण अहियासएत्ति, अहवा दारुणसद्दो कक्कससद्दोऽविय एगट्ठा, अच्चत्थनिमित्त पउज्जमाणा णो पुणरुत्त भवइ।

५—हा० टी० प० २३२ 'दारुणम्' अनिष्ट 'कर्कश' कठिनम्।

६—अ० चू० दारुण तीव्र सीउण्हाति कक्कसो वयत्थो वयत्थाए जो फासो सावि वयत्थो त पुण रच्छादि सकडेसुवि पव्विमग्गेसु वा फरिसितो।

७—सूत्र० १ ५ २ २२।

श्लोक २७

७० दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) (दुस्सेज्जं [क]) :

जिन पर सोने से कष्ट होता है उन्हें दुःशय्या कहा जाता है। विषमभूमि, फलक आदि दुःशय्या हैं[1]।

७१ अरति (अरइं [क]) :

अरति भूख प्यास आदि से उत्पन्न होती है[2]। टीकाकार ने मोहजनित उद्वेग को 'अरति' माना है[3]।

७२ भय को (भयं [क])

सिंह साँप आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाला उद्वेग 'भय' कहलाता है[4]।

७३ अव्यथित (अव्वहिओ [ग])

अव्यथित का अर्थ—अदीन अक्षोभ और अदीनमन—विषाद न करता हुआ है[5]।

७४ देह में उत्पन्न कष्ट को (देहे दुक्खं [घ]) :

कष्ट दो प्रकार के होते हैं—उदीर्ण—स्वतः उत्पन्न और उदीरित—जान बूझ कर उत्पादित। यहाँ 'देह' शब्द में सप्तमी विभक्ति है। इसके आधार पर अगस्त्यसिंह ने 'देहे दुक्खं' का अर्थ देह में उत्पन्न दुःख किया है[6]। जिनदास इस विषय में मौन हैं[7]। हरिभद्र इसका सम्बन्ध इस प्रकार बतलाते हैं—देह होने पर दुःख होता है। देह असार है—यह सोचकर दुःख को सहन करना महा फल का हेतु होता है[8]।

मुनि की अनेक भूमिकाएँ हैं। जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि कष्टों की उदीरणा करते हैं। स्थविर-कल्पी का मार्ग इनसे भिन्न है। वे उत्पन्न कष्टों को सहन करते हैं। अगस्त्यसिंह की व्याख्या इस भूमिका भेद को 'उत्पन्न' शब्द के द्वारा स्पष्ट करती है।

१—(क) अ० चू० : विसमादिभूमिसमुप्पण्णं दुस्सेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : दुसिज्जा नाम विसमभूमि फलगमादी।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'दुःशय्यां' विषमभूम्यादिरूपाम्।
२—जि० चू० पृ० २८३ : अरती पुव्वेहिं छुप्पिवासादीहिं भवइ।
३—हा० टी० प० २३२ : 'अरतिं' मोहनीयोद्भवाम्।
४—(क) अ० चू० : भयमुव्वेगो सिंहसप्पादीतो।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : 'भयं' सप्पसीहवग्घादि वा भवति।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'भयं' व्याघ्रादिसमुत्थम्।
५—(क) जि० चू० पृ० २८३ : अव्वहिओ नाम अक्खोभो अविहीओ अदीणमाणसो त्ति वुत्तं भवति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'अव्यथितः' अदीनमनाः सन्।
६—अ० चू० : देहो सरीरं तंमि उप्पण्णं दुक्खं।
७—जि० चू० पृ० २८३ : देहे दुक्खं महाफलं।
८—हा० टी० प० २३२ : देहे दुःखं महाफलं संचिन्त्येति वाक्यशेषः। तथा च शरीरे सत्येतद्दुःखं शरीरं चासारं सम्यगधिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदम्।

७५. महाफल (महाफलं [घ]) :

आत्मवादी का चरम साध्य मोक्ष है। इसलिए वह उसीको सबसे महान् फल मानता है। उत्पन्न दु:ख को सहन करने का अंतिम फल मोक्ष होता है, इसलिए उसे महाफल कहा गया है[१]।

श्लोक २८ :

७६. सूर्यास्त से लेकर (अत्थंगयम्मि [क]) :

यहाँ 'अस्त' के दो अर्थ हो सकते हैं—सूर्य का डूबना—अदृश्य होना अथवा वह पर्वत जिसके पीछे सूर्य छिप जाता है[२]।

७७. पूर्व में (पुरत्था [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पुरस्तात्' का अर्थ पूर्व दिशा और टीका के अनुसार प्रातःकाल है[३]।

७८. (आहारमइयं [ग]) :

यहाँ 'मइय' मयट् प्रत्यय के स्थान में है[४]।

७९. मन से भी इच्छा न करे (मणसा वि न पत्थए [घ]) :

मन से भी इच्छा न करे तब वचन और शरीर के प्रयोग की कल्पना ही कैसे की जा सकती है—यह स्वयगम्य है[५]।

श्लोक २९ :

८०. बकवास न करे (अतितिणे [क]) :

तेन्दु आदि की लकड़ी को अग्नि में डालने पर जो तिण-तिण शब्द होता है उसे 'तितिण' कहते हैं। यह ध्वनि का अनुकरण है जो व्यक्ति मनचाहा कार्य न होने पर बकवास करता है उसे भी 'तितिण' कहा जाता है। आहार न मिलने पर या मनचाहा न मिलने पर जो बकवास नहीं करता वह 'अतितिण' होता है[६]।

१—(क) अ० चू० मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफल।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ महाफल—महा मोक्खो भण्णइ, त मोक्खपज्जवसाण फलमितिकाऊण खुहादिउग्गह (दुक्ख) मधियासेज्जा।

२—(क) अ० चू० आइच्चादितिरोभावकरण पव्वयो अत्थो खेत्तविप्पकरिस भावेण वा अदरिसणमत्थो त गते।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ अत्थो णाम पव्वओ, तमि गतो आदिच्चो अत्थगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्थो, अत्थगते आदिच्चे।
(ग) हा० टी० प० २३२ 'अस्त गत आदित्ये' अस्तपर्वत प्राप्ते अदर्शनीभूते वा।

३—(क) अ० चू० पुरत्था वा पुव्वाए दिसाए।
(ख) हा० टी० प० २३२ 'पुरस्ताच्चानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदिते।

४—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ८१८।

५—(क) जि० चू० पृ० २८४ किमग पुण वायाए कम्मुणा इति।
(ख) हा० टी० प० २३२ मनसापि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा वेति।

६—(क) अ० चू० तेंदुरु विकट्टडहणमिव तिणित्तिणण तितिण तहा अरसादि न हीलिडमिच्छवित्ति अतितिणे।
(ख) जि० चू० पृ० २८४ जहा टिबरुयदारुअ अगणिमि पक्खित्त तडतडेती ण साहुणा तहावि तडतडियव्व।
(ग) हा० टी० प० २३३ अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषयत्किञ्चनभाषी।

८१ अल्पभाषी (अप्पभासी ^क^)

अल्पभाषी का अर्थ है कार्य के लिए जितना बोलना आवश्यक हो उतना बोलने वाला[1]।

८२ मितभोजी (मियासणे ^ख^)

जिनदास चूर्णि के अनुसार इसका समास दो तरह से होता है।

१ मित+अशन = मिताशन

२ मित + आसन = मितासन

मिताशन का अर्थ मितभोजी और मितासन का अर्थ थोड़े समय तक बैठने वाला है। इसका आशय है कि श्रमण भिक्षा के लिए जाए तब किसी कारण से बैठना पड़े तो अधिक समय तक न बैठे[2]।

८३ उदर का दमन करने वाला (उयरे दंते ^ग^) :

जो जिस तिस प्रकार के प्राप्त भोजन से संतुष्ट हो जाता है वह उदर का दमन करने वाला कहलाता है[3]।

८४ थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे (थोवं लद्धुं न खिंसए ^घ^) :

थोड़ा आहार पाकर श्रमण देय—अन्न पानी आदि और दायक की खिंसना न करे, निन्दा न करे[4]।

श्लोक ३०

८५ श्लोक ३० :

श्रुत मद की तरह मैं कुल-सम्पन्न हूँ बल-सम्पन्न हूँ और रूप-सम्पन्न हूँ—इस प्रकार मुनि कुल बल और रूप का भी मद न करे[5]।

८६ दूसरे का (बाहिर ^क^)

बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति[6]।

१—(क) अ० चू० : अप्पभासी जो कारणमत्तं भासति

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : अप्पभासी नाम कज्जमेत्तभासी।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'अल्पभाषी' कारणे परिमितवक्ता।

२—(क) जि० चू० पृ० २८४ : मियासणे नाम मियं असतीति मियासणे, परिमियमाहारेतित्ति वुत्तं भवति अहवा मियासणे भिक्खट्ठाए निग्गओ कारणे उवट्ठाए मियं अच्छइ।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'मिताशनो' मितभोक्ता।

३—(क) जि० चू० पृ० २८४ 'उदरं दंते'—जेण वा तेण वा संतुस्सिज्जति।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'उदरे दान्तो' येन वा तेन वा वृत्तिशीलः।

४—(क) जि० चू० पृ० २८४ तं था अप्पं लद्धं दायगं वा णो खिंसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ 'स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्' देयं दातारं वा न हीलयेदिति।

५—हा० टी० प० २३३ : [illegible], कुलसंपन्नोऽहं बलसंपन्नोऽहं रूपसंपन्नोऽहमित्येवं न माद्येदिति।

६—(क) अ० चू० : अप्पाणवतिरित्तो बाहिरो।

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : बाहिरो नाम अप्पाणं मोत्तूण जो सो लोगो सो बाहिरो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'बाह्यम्' आत्मनोऽन्यम्।

८७. श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का (सुयलाभे ग …बुद्धिए घ) :

श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि—ये आत्मोत्कर्ष के हेतु हैं। मैं बहुश्रुत हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार श्रमण श्रुत का गर्व न करे। लाभ का अर्थ है—लब्धि, प्राप्ति। लब्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार लाभ का गर्व न करे। मैं उत्तम जातीय हूँ, बारह प्रकार के तप करने में और बुद्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार जाति, तप और बुद्धि का मद न करे[1]। लाभ का वैकल्पिक पाठ लज्जा है। लज्जा अर्थात् संयम में मेरे समान दूसरा कौन है—इस प्रकार लज्जा का मद न करे।

श्लोक ३१ :

८८. श्लोक ३१-३३ :

जान या अजान में लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधुओं के सामने निवेदन करना आलोचना है। अनाचार का सेवन कर गुरु के समीप उसकी आलोचना करे तब आलोचक को बालक की तरह सरल होकर सारी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए[2]। जो ऋजु नहीं होता वह अपने अपराध की आलोचना नहीं कर सकता[3]। जो मायावी होता है वह (आकंपयित्ता) गुरु को प्रसन्न कर आलोचना करता है। इसके पीछे भावना यह होती है कि गुरु प्रसन्न होंगे तो मुझे प्रायश्चित्त थोड़ा देंगे।

जो मायावी होता है वह (अणुमाणइत्ता) छोटा अपराध बताने पर गुरु थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोच अपने अपराध को बहुत छोटा बताता है। इस प्रकार वह भगवती (२५.७) और स्थानाङ्ग (१०.३.७३३) में निरूपित आलोचना के दश दोषों का सेवन करता है। इसीलिए कहा है कि आलोचना करने वाले को विकट-भाव (बालक की तरह सरल और स्पष्ट भाव वाला) होना चाहिए[4]। जिसका हृदय पवित्र नहीं होता, वह आलोचना नहीं कर सकता। आलोचना नहीं करने वाले विराधक होते हैं, यह सोचकर आलोचना की जाती है[5]। आलोचना करने पर अपराधी भी पवित्र हो जाता है अथवा पवित्र वही है जो स्पष्ट (दोष से निर्लिप्त) होता है[6]। आलोचना करने के पश्चात् आलोचक को असंसक्त और जितेन्द्रिय (फिर दोषपूर्ण कार्य न करने वाला) होना चाहिए[7]।

आलोचना करने योग्य साधु के दश गुण बतलाए हैं। उनमें आठवाँ गुण दान्त है[8]। दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय। जो जितेन्द्रिय और असंसक्त होता है वही आलोचना का अधिकारी है।

आलोचना के पश्चात् शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि गुरु जो प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे और तदनुकूल प्रवृत्ति करे, उसका निर्वाह करे[9]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८४ : एएण उक्करिसं गच्छेज्जा, जहा बहुस्सुतोऽहं को मए समाणोत्ति, (पाढंतरेण) लाभेणऽवि को मए अण्णो ?, लद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादिएअहियत्ति लज्जा (ह्री) संजमो भण्णइ, तेणवि संजमेण उक्करिसं गच्छेज्जा, को मए संजमेण सरिसोत्ति ?, जातीएवि जहा उत्तमजातीओऽहं तवेण को अण्णो बारसविधे तवे समाणो मएत्ति ?, बुद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादि, एतेहिं छयादीहिं णो उक्करिसं गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत पण्डितो लब्धिमानहमित्येव, तथा जात्या—तापस्व्येन बुध्या वा, न माद्येतेति वर्त्तते, जातिसंपन्नस्तपस्वी बुद्धिमानहमित्येवम्।

२—भग० २५.७.६८, स्था० १०.१.७३३।

३—स्था० ८.३.५९७।

४—अ० चू० : सदा विगडभावो सव्वावत्थ जधाबालो जपतो तहेव विगडभावो।

५—स्था० ८.३.५९७।

६—जि० चू० पृ० २८५ : अहवा सो चेव छई जो सदा वियडभावो।

७—अ० चू० : असंसत्तो दोसेहिं गिहत्थकज्जेहिं वा जितसोतादिदिओ ण पुण तहाकारी।

८—भग० २५.७.९९ स्था० १०.१.७३३।

९—अ० चू० : एवं सदरिसितसव्वसब्भावो अणायारविसोधणत्थं जं आणवेंति गुरवो तं।

अनाचार-सेवन, उसकी आलोचना-विधि और प्रायश्चित्त का निर्वाह—ये तीनों तथ्य क्रमशः ३१, ३२, ३३—इन तीन श्लोकों में प्रतिपादित हुए हैं।

८९ (से क)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'से' का अर्थ वाक्य का उपन्यास है[1]। जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'से' शब्द साधु का निर्देश करने वाला है[2]।

९० ज्ञान या अज्ञान में (जाणमजाणं वा क)

अधर्म का आचरण केवल अज्ञान में ही नहीं होता, किन्तु कभी कभी ज्ञानपूर्वक भी होता है। इसका कारण मोह है। मोह का उदय होने पर राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगा लेता है और कभी कल्प्य और अकल्प्य को न जानकर अकल्प्य का आचरण कर लेता है[3]।

९१ दूसरी बार (बीयं ग):

प्राकृत में कहीं-कहीं एक पद में भी सन्धि हो जाती है। इसके अनुसार 'बिइओ' का 'बीओ' बना है[4]।

श्लोक ३२

९२ अनाचार (अणायार क)

अनाचार अर्थात् अकरणीय वस्तु[5], उन्मार्ग[6], सावद्यप्रवृत्ति[7]।

९३ न छिपाए और न अस्वीकार करे (नेव गूहे न निण्हवे ग):

पूरी बात न कहना, थोड़ा कहना और थोड़ा छिपा लेना—यह 'गूहन' का अर्थ है[8]। 'निह्नव' का अर्थ है—सर्वथा अस्वीकार, इन्कार[9]।

१—अ० चू०: स इति वयणोवण्णासो।
२—(क) जि० चू० पृ० २८८: सत्ति साधुनिद्देसे।
(ख) हा० टी० प० २३३: 'स' साधुः।
३—(क) जि० चू० पृ० २८८-८९: तत्थ साधुणा कदाई जाणमाणेण रागद्दोसवसगएण मूलगुणउत्तरगुणाणं अण्णतरं आयरियव्वं एवं पडिसेवियं भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पियं बुद्धीए पडिसेवियं होज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३३: 'जानन्नजानन् वा' आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः।
४—देखें ८.१५।
५—अ० चू०: अणायारं अकरणीयं वत्थु।
६—जि० चू० पृ० २८८: अणायारो उम्मग्गोत्ति वुत्तं भवइ।
७—हा० टी० प० २३३: 'अनाचारं' सावद्ययोगम्।
८—(क) अ० चू०: गूहणं पडिच्छायणं।
(ख) जि० चू० पृ० २८८: गूहणं किंचि कहणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २३३: गूहनं किञ्चित्कथनम्।
९—(क) जि० चू० पृ० २८८: निण्हवो णाम पुच्छिओ संतो सव्वहा अवलवइ।
(ख) हा० टी० प० २३३: [illegible]

६४. पवित्र (सुई ग) :

शुचि अर्थात् आलोचना के दोषों को वर्जने वाला[1] अथवा अकलुषित मति[2]। शुचि वह होता है जो सदा स्पष्ट रहता है[3]।

६५. स्पष्ट (वियडभावे ग) :

जिसका भाव—मन प्रकट होता है—स्पष्ट होता है, वह 'विकटभाव' कहलाता है[4]।

श्लोक ३४ :

६६. सिद्धि-मार्ग का (सिद्धिमग्गं घ) :

सिद्धि-मार्ग—सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्रात्मक मोक्ष मार्ग[5]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (अ० २८)।

६७. (भोगेसु ग) :

यहाँ पञ्चमी के स्थान में सप्तमी विभक्ति है[6]।

श्लोक ३७ :

६८. श्लोक ३७ :

क्रोधादि को वश में न करने पर केवल पारलौकिक हानि ही नहीं होती किन्तु इहलौकिक हानि भी होती है। इस श्लोक में यही बतलाया गया है[7]।

६९. लोभ सब ··का नाश करने वाला है (लोहो सव्वविणासणो घ) :

लोभ से प्रीति आदि सब गुणों का नाश होता है। जिनदास चूर्णि में इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है। लोभवश पुत्र मृदु-स्वभाव वाले पिता से भी रुष्ट हो जाता है—यह प्रीति का नाश है। धन का भाग नहीं मिलता है तब वह उद्धत हो प्रतिज्ञा करता है कि धन का भाग अवश्य लूँगा—यह विनय का नाश है। वह कपटपूर्वक धन लेता है और पूछने पर स्वीकार नहीं करता, इस प्रकार मित्र-भाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुण नाशक वृत्ति है। लोभ से वर्तमान और आगामी दोनों जीवन नष्ट होते हैं। इस दृष्टि से

१—अ० चू० छती ण आकपतित्ता अणुमाणतित्ता।

२—हा० टी० प० २३३ 'शुचि' अकलुपितमति।

३—जि० चू० पृ० २८५ सुयीणाम अकलुसमयी, अहवा सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।

४—हा० टी० प० २३३ 'विकटभाव' प्रकटभाव।

५—(क) जि० चू० पृ० २८५ सिद्धिमग्ग च णाणदसणचरित्तमइय।

(ख) हा० टी० प० २३३ 'सिद्धिमार्ग' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम्।

६—हा० टी० प० २३३ भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्य।

७—जि० चू० पृ० २८६ तेसिं कोहादीणमणिग्गहियाण (च) इहलोइओ इमो दोसो भवइ।

भी यह उपनाश करने वाला है[9]।

श्लोक ३८

१०० श्लोक ३८

इस श्लोक में क्रोधादि चार कषायों के विजय का उपदेश है।

अनुदित क्रोध का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह क्रोध विजय है[1]।

अनुदित मान का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह मान विजय है[2]।

अनुदित माया का निरोध और उदय प्राप्त का विफलीकरण—यह माया विजय है[4]।

अनुदित लोभ का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह लोभ विजय है[5]।

१०१ उपशम से (उवसमेण क) :

उपशम का अर्थ है क्षमा शान्ति[6]।

१०२ (उवसमेण हणे कोहं क) :

तुलना कीजिए—

अक्कोधेन जिने कोधं धम्मपद-कोधवग्गो श्लोक ३

अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतो।

१०३ मृदुता से (मद्दवया ख) :

मृदुता का अर्थ है—अनुद्धतता—उद्धत न होना न अकड़ना[7]।

श्लोक ३९

१०४ संक्लिष्ट (कसिणा ग) :

टीकाकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—कृत्स्न और कृष्ण[8]। कृत्स्न अर्थात् सम्पूर्ण कृष्ण अर्थात् संक्लिष्ट कृष्ण का

१—(क) जि० चू० पृ० २८९ : कोहो पुण उप्पण्णो [illegible] —[illegible] कोहेण [illegible], कोमे य [illegible] [illegible] कोहो [illegible] कोहेण [illegible]।

(ख) हा० टी० प० २३५ : क्रोधः सर्वविनाशकः [illegible]।

२—जि० चू० पृ० २८९ : कोहस्स उदयनिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरणं।

३—जि० चू० पृ० २८९ : मायोदयनिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरणं।

४—हा० टी० प० २३५ : मायां च ऋजुभावेन—[illegible] उदयनिरोधादिनैव।

५—जि० चू० पृ० २८९ : लोभोदयनिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स विफलीकरणं।

६—(क) अ० चू० : खमा उवसमो तेण।

(ख) जि० चू० पृ० २८९ : उवसमो खमा भण्णइ, तीए।

(ग) हा० टी० प० २३५ : 'उपशमेन' शान्तिरूपेण।

७—हा० टी० प० २३५ : मार्दवेन—अनुद्धतत्वा।

८—हा० टी० प० २३५ : 'कृत्स्नाः' संपूर्णाः 'कृष्णा वा' क्लिष्टाः।

९—अ० चू० : कसिणो पडिपुण्णो।

[illegible]

प्रधान अर्थ काले रंग से सम्बन्धित है किन्तु मन के बुरे या दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार में ले जाते हैं, इसलिए कृष्ण शब्द मानसिक सक्लेश के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१०५. कषाय (कसाया ग) :

यह अनेकार्थक शब्द है। कुछ एक अर्थ, जो क्रोधादि की भावना से सम्बन्धित हैं, ये हैं—गेरुआ रंग, लेप, गोंद, मावावेश[१]। क्रोध, मान, माया और लोभ रंग हैं—इनसे आत्मा रंजित होता है। ये लेप हैं—इनके द्वारा आत्मा कर्म-रज से लिप्त होता है। ये गोंद हैं—इनके चेप से कर्म-परमाणु आत्मा पर चिपकते हैं। ये भावावेश हैं—इनके द्वारा मन का सहज सन्तुलन नष्ट होता है, इसलिए इन्हें 'कषाय' कहा गया है। प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार 'कष' का अर्थ है ससार। जो आत्मा को ससारोन्मुख बनाता है, वह 'कषाय' है। कषाय-रस से भींगे हुए वस्त्र पर मजीठ का रंग लगता है और टिकाऊ होता है, वैसे ही क्रोध आदि से भींगे हुए आत्मा पर कर्म परमाणु चिपकते हैं और टिकते हैं, इसलिए ये 'कषाय' कहलाते हैं।

श्लोक ४० :

१०६. पूजनीयों…के प्रति (राइणिएसु क) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि सर्व साधु, जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हों, रात्निक कहलाते हैं[२]। जिनदास महत्तर ने रात्निक का अर्थ पूर्व-दीक्षित अथवा सद्भाव (पदार्थ) के उपदेशक किया है[३]। टीकाकार के अनुसार चिर-दीक्षित[४] अथवा जो ज्ञान आदि भाव-रत्नों से अधिक समृद्ध हों वे रात्निक कहलाते हैं[५]।

रत्न दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-रत्न और भाव-रत्न। पार्थिव-रत्न द्रव्य-रत्न हैं। कारण कि ये परमार्थ-दृष्टि से अकिंचित्कर हैं। परमार्थ-दृष्टि से भाव-रत्न हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ये जिनके पास अधिक उन्नत हों उन्हें टीकाकार रत्नाधिक कहते हैं। अभदेवसूरि ने 'रायणिय' का सस्कृत रूप 'रात्निक' दिया है[६]। इसका सम्बन्ध रात्नी से है। रत्नी ज्येष्ठ, सम्मानित या उच्चाधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण (५.५ १.१) में ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, राजन्य, सेनानी, कोषाध्यक्ष, भागदुघ् (राजग्राह्य कर सचित करने वाला) आदि के लिए 'रत्नी' का प्रयोग हुआ है। इसलिए रात्निक का प्रवृत्ति-लभ्य-अर्थ, पूजनीय या विनयास्पद व्यक्ति होना चाहिए।

स्थानाङ्ग में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सभी के लिए 'राइणिते' और 'ओयरातिणिते'[७] तथा मूलाचार में साधुओं के लिए 'रादिणिय' और ऊणरादिणिय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं[८]। सूत्रकृताङ्ग में 'रातिणिय' और 'समव्वय' शब्द मिलते हैं[९]। ये दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से साधुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं·

१—वृ० हि० पृ० २६६।

२—अ० चू० रातिणिया पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतियेसु।

३—जि० चू० पृ० २८६ रायाणिआ पुव्वदिक्खिया सब्भावोवदेसगा वा।

४—हा० टी० प० २३५ 'रत्नाधिकेषु' चिरदीक्षितादिषु।

५—हा० टी० प० २५२-२५३ . 'रत्नाधिकेषु' ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु।

६—स्था० ५ १ सू० ३९९ वृ० रत्नानि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत कर्केतनादीनि भावतो ज्ञानादीनि तत्र रत्नै —ज्ञानादिभिर्व्य-वहरतीति रात्निक—बृहत्पर्याय·।

७—स्था० ४ ३ ३२० वृ० रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निक· पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थ·।

८—मूला० अधि० ५ गा० १८७ पृ० ३०३ रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ, अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो, कायव्वो अप्पमत्तेण॥

९—सूत्र० १ १४ ७।

१ रात्निक—पूर्वदीक्षित

२ समवय—सहदीक्षित

३ ऊनरात्निक—पश्चात्दीक्षित

श्रमण वसुनन्दी ने मूलाचार की टीका में 'रादिणिय' और 'ऊनरादिणिय' के संस्कृत रूप रात्निक और ऊनरात्निक किए हैं।

१०७ अष्टादश सहस्र शीलाङ्गों की (धुवसीलयं ख) :

ध्रुवशीलता का अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार ने अष्टादश-सहस्र-शीलाङ्ग किया है[1]। वह इस प्रकार है

जे नो करंति मणसा निज्जिय आहार सन्ना सोइंदिए।
पुढविकायारंभे, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे ॥ १ ॥

यह एक गाथा है। दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर 'मुत्ति' शब्द आएगा शेष शब्दों का त्यों रहेगा। तीसरे में 'अज्जव' आएगा। इस प्रकार १ गाथाओं में दश धर्मों के नाम क्रमशः आएंगे। फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ १ धर्मों का परिवर्तन हुआ था उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः तेउ 'वाउ', 'वणस्सइ' 'बेइंदिय' 'तेइंदिय' 'चउरिंदिय' 'पंचेंदिय' और 'अजीव' ये दश शब्द आएँगे। प्रत्येक के साथ दश धर्मों का परिवर्तन होने से (१ ×१ =) एक सौ गाथाएँ हो जाएँगी। १ १ गाथा में 'सोइंदिय' के स्थान पर 'चक्खुरिंदिय' शब्द आएगा। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों की (१ ×५ =) पाँच सौ गाथाएं होंगी। फिर ५ १ में 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुणसन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएँगे। एक संज्ञा के ५ होने से ४ संज्ञा के (५ ×४ =) २ होंगे। फिर 'मणसा' शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा।

एक-एक का २ होने से तीन कार्यों के (२ ×३) ६ होंगे। फिर 'करंति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करंति' के स्थान पर 'कारयंति' और 'समणुजाणंति' शब्द आयेंगे। एक-एक के ६ होने से तीनों के (६ ×३ =) १८ हो जायेंगे। संक्षेप में यों कह सकते हैं—दस धर्म क्रमशः बदलते रहेंगे। प्रत्येक धर्म १८ बार आएगा। १ धर्मों के बाद 'पुढविकाय' में परिवर्तन आएगा। प्रत्येक दशक के बाद ये दस काय बदलते रहेंगे। प्रत्येक काय १८ बार आएगा। फिर 'सोइंदिय' शब्द बदल जाएगा। प्रत्येक सौ के बाद 'इंदिय' परिवर्तन होगा। प्रत्येक इंदिय ३६ बार आएगा। फिर 'आहार सन्ना' में परिवर्तन होगा। चारों संज्ञाएँ क्रमशः बदलती जाएँगी। प्रत्येक ५ के बाद संज्ञा बदलेगी प्रत्येक संज्ञा ६ बार आएगी। फिर 'मणसा' शब्द में परिवर्तन होगा। तीन काय क्रमशः बदलती रहेंगी। प्रत्येक दो हजार के बाद काय का परिवर्तन होगा। प्रत्येक काय ६ बार आएगा। फिर 'करंति' में परिवर्तन होगा। प्रत्येक ६ के बाद तीनों करण का परिवर्तन होगा। प्रत्येक करण एक-एक बार आएगा। इस प्रकार एक गाथा के १८ गाथाएँ बन जाएँगी। ये अठारह हजार शील के अङ्ग हैं। इन्हें रथ के निम्न प्रकार उपमित किया जाता है :

१—(क) जि० चू० पृ० ३०० : धुवसीलयं नाम अट्ठारससीलंगसहस्साणि।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवशीलताम्' अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपाम्।

जे णो करति ६	जे णो कारवति ६···	जे णाणु मोयति ६ ·							
मणसा २ ·	वयसा २···	कायसा २···							
णिज्जिय आहार सन्ना ५००	णिज्जिय भय सन्ना ५००	णिज्जिय मेहुण सन्ना ५००	णिज्जिय परिग्रह सन्ना ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शनेन्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	सयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	अकिञ्चन १०

श्रमण सूत्र (परिशिष्ट)

१०८. कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त (कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गुप्त' शब्द 'आलीन' और 'प्रलीन' दोनों से सम्बद्ध है अर्थात् आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त। कूर्म की तरह काय-चेष्टा का निरोध करे, वह 'आलीन-गुप्त' और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे, वह 'प्रलीन-गुप्त' कहलाता है[1]। जिनदास चूर्णि के अनुसार आलीन का अर्थ थोड़ा लीन और प्रलीन का अर्थ विशेष लीन होता है। जिस प्रकार कूर्म अपने अङ्गों को गुप्त रखता है तथा आवश्यकता होने पर उन्हें धीमे से फैलाता है, उसी तरह श्रमण आलीन-प्रलीन-गुप्त रहे[2]।

१—अ० चू० कायचेट्ठं निसम्भिऊण अल्लीणगुत्तो। कारणे जतणाए ताणि चेव पवत्तयतो पल्लीणगुत्तो। गुत्तसद्दो पत्तेय परिसमप्पति।

२—(क) जि० चू० पृ० २८७ जहा कुम्मो सए सरीरे अगाणि गोवेऊण चिट्ठइ, कारणेवि सणियमेव पसारेइ, तहा साहूवि अल्लीणपलीणगुत्तो परक्कमेज्जा तवसजममित्ति, आह—आलीणाण पलीणाण को पइविसेसो ?, भण्णइ, ईसि लीणाणि आलीणाणि, अच्चत्थलीणाणि पलीणाणित्ति।

(ख) हा० टी० प० २३५ 'कूर्म इव' कच्छप इवालीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम्यक् संयम्येत्यर्थः।

श्लोक ४१

१०९ निद्रा को बहुमान न दे (निद्दं च न बहुमन्नेज्जा क) :

बहुमान न दे अर्थात् प्रकामशायी न बने—सोता ही न रहे[1]। सूत्रकृताङ्ग में बताया है कि सोने के समय में सोए "सयणं सयणकाले।"[2] वृत्तिकार के अनुसार अगीतार्थ दो प्रहर तक सोए और गीतार्थ एक प्रहर तक[2]।

११० अट्टहास (सप्पहासं क) :

संप्रहास अर्थात् समुदित रूप में होने वाला सशब्द हास्य[3]। जिनदास चूर्णि और टीका में 'सप्पहासं' पाठ है। उसका अर्थ है अट्टहास[4]।

१११ मैथुन की कथा में (मिहोकहाहिं ग) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी रहस्य-कथा किया है[5]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी या भक्त, देश आदि सम्बन्धी रहस्यमयी कथा है[6]। टीकाकार ने इसे राहस्यिक-कथा कहा है[7]। आचाराङ्ग उत्तराध्ययन और ओघनिर्युक्ति की टीका में भी इसका यह अर्थ मिलता है[8]।

११२ स्वाध्याय में (सज्झायम्मि घ) :

स्वाध्याय का अर्थ है—विधिपूर्वक अध्ययन। इसके पाँच प्रकार हैं[9] :

१ वाचना—पढ़ाना

२ प्रच्छना—संदिग्ध विषय को पूछना

१—(क) जि० चू० पृ० २८८ : बहुमन्निज्जा नाम नो पकामसायी भवेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'निद्रां च न बहुमन्येत' न प्रकामशायी स्यात्।
(ग) अ० चू० : निद्दा पमीला तं ण बहुमन्नेज्जा। बहुमतं प्रियं, ण तत्थ प्रीतिमासादेज्ज।

२—सूत्र० २.१.१५ वृ० [illegible] : सयणावसरे [illegible] सयनं—संस्तारकः स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानां प्रहरमेकमिति।

३—अ० चू० : समेच्च समुदियाणं पहसणं अतिहासादाय पुव्वं संपहासो।

४—(क) जि० चू० पृ० २८८ : सप्पहासो नाम अतीव पहासो सप्पहासो, परवाविराहणादिदोसा भवन्ति अतो इत्थिया तहावि सप्पहासं विवज्जए।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'सप्रहासं च' अतीवप्रहासरूपम्।

५—अ० चू० : मिहुकहाओ रहस्सकहाओ इत्थी संबद्धाओ तहाविहाओ वा।

६—जि० चू० पृ० २८८ : मिहोकहाओ रहस्सियकहाओ भण्णंति, ताओ इत्थिसंबद्धाओ वा होज्जा अण्णाओ वा भत्तदेसकहादियाओ ताउ।

७—हा० टी० प० २३५ : 'मिथः कथासु' राहस्यिकीषु।

८—(क) आचा० १.८.१ सू० २१ : गढिए मिहुकहासु समयंमि नायसुए विसोगे अदक्खु। टीका—'मिथः' अन्योऽन्यं 'कथासु' स्त्रीकथासु।
(ख) उत्त० २६.९ : पडिलेहणं कुणंतो मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा। (बृहद्वृत्ति) 'मिथः कथां' [illegible] स्त्र्यादिकथोपलक्षणमेतत्।
(ग) ओ० नि० वृ० पृ० १०२ : 'मिथः कथां' मिथुनसंबद्धाम्।

९—औप० ३० : सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते तं जहा—वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

३ परिवर्तना—कण्ठस्थ किए हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना

४ अनुप्रेक्षा—अर्थ-चिन्तन करना

५ धर्मकथा—श्रुत आदि धर्म की व्याख्या करना

जिनदास चूर्णि में 'अज्झयणमि रओ सया' पाठ है और 'अध्ययन' का अर्थ स्वाध्याय किया है[1]। हरिभद्रसूरि ने स्वाध्याय का अर्थ वाचना आदि किया है[2]।

श्लोक ४२ :

११३. (च समणधम्मम्मि क) :

यहाँ अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमण-चर्या को 'श्रमण-धर्म' कहा है। सूत्रकार का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा-काल में मन को, स्वाध्याय काल में वचन को और प्रतिलेखन-काल में काया को श्रमण-धर्म में लगा देना चाहिए और भङ्ग-प्रधान (विकल्प-प्रधान) श्रुत में तीनों योगों का प्रयोग करना चाहिए। उसमें मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन—ये तीनों होते हैं[3]।

११४. यथोचित (धुवं ख) :

ध्रुव का शब्दार्थ है निश्चित। यथोचित इसका भावार्थ है। जिस समय जो क्रिया निश्चित हो, जिसका समाचरण उचित हो उस समय वही क्रिया करनी चाहिए[4]।

११५. लगा हुआ (जुत्तो ग) :

युक्त का अर्थ है व्यापृत—लगा हुआ[5]।

११६. फल (अट्ठ घ) :

यहाँ अर्थ शब्द फलवाची है[6]। इसका दूसरा अर्थ है—ज्ञानादि रूप वास्तविक अर्थ[7]।

[illegible] ४३ :

११७. श्लोक ४३ :

पिछले श्लोक में कहा है—श्रमण-धर्म में

१—जि० चू० पृ० २८७ 'अज्झयणमि रओ

२—हा० टी० प० २३५ 'स्वाध्याये' वाचनादौ

३—अ० चू० जोगं मणोवयणकायमय
जुजे।

४—(क) अ० चू० अप्पणो काले

(ख) हा० टी० प० २३५ 'ध्रुव' [illegible]
वाग्योग [illegible]

५—हा० टी० प० २३५ पापृत।

६—अ० चू० अत्थो

७—हा० टी० प० २३५

में स्पष्ट किया है। श्रमण धर्म में मन, वाणी और शरीर का प्रयोग करने वाला इहलोक में वन्दनीय होता है। श्रमण-धर्म में एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते हैं और वह परलोक में उत्तम स्थान में उत्पन्न होता है[1]। आगामी दो चरणों में श्रमण-धर्म की उपलब्धि के दो उपाय बतलाए हैं—(१) बहुश्रुत की उपासना और (२) अर्थ विनिश्चय के लिए प्रश्न[2]।

११८ बहुश्रुत (बहुस्सुयं ग):

जो आगम-वृद्ध हो—जिसने श्रुत का बहुत अध्ययन किया हो वह बहुश्रुत कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि ने आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना है[4]। बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) का अध्ययन करने वाला जघन्य, चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तथा प्रकल्पाध्ययन और चतुर्दश पूर्वों के बीच का अध्ययन करने वाला मध्यम बहुश्रुत कहलाता है[5]।

११९ अर्थ विनिश्चय (अत्थविणिच्छयं घ)

अर्थ विनिश्चय—तत्त्व का निश्चय, तत्त्व की यथार्थता[6]।

श्लोक ४४

१२० श्लोक ४४

पिछले श्लोक में कहा है—बहुश्रुत की पर्युपासना करे। इस श्लोक में उसकी विधि बतलाई गई है[7]।

१२१ संयमित कर[8] (पणिहाय क)

इसका अर्थ है—हाथों को न नचाना, पैरों को न फैलाना और शरीर को न मोड़ना[9]।

१—अ० चू०: इहलोगे धम्मेण सम्मजुत्तम्मे एगदिवस पव्वइतोवि विणएण वंदिज्जते पूइज्जते य अधिरायरातीहिं, परलोए सुकुलसंभवादि तेण धम्मेण गच्छति।

२—अ० चू०: समत्तस्सेतस्स उवलंभत्थं बहुस्सुतं पज्जुवासेज्ज पज्जुवासेज्जमाणो पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं।

३—हा० टी० प० २३५: 'बहुश्रुतम्' आगमवृद्धम्।

४—जि० चू० पृ० २८८: बहुस्सुयग्गहणेणं आयरियउवज्झायादीणं गहणं।

५—नि० पी० भा० (गाथा ४९५): बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुओ सो तिविहो—जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो। जहण्णो जेण पकप्पज्झयणं अधीतं, उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

६—(क) अ० चू०: अत्थविणिच्छयो तम्मावणिच्छयो तं।
(ख) जि० चू० पृ० २८८: विणिच्छओ नाम विणिच्छओत्ति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्ठं।
(ग) हा० टी० प० २३५: 'अर्थविनिश्चयम्' अपायरक्षकं कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावमिति।

७—अ० चू०: पज्जुवासणे इमं विधी—'हत्थं पायं च कायं च' सिलोगो।

८—हा० टी० प० २३५: 'प्रणिधाये'ति संयम्य।

९—जि० चू० पृ० २८८: पणिहाय नाम हत्थेहिं हत्थनट्टयादीणि अकुव्वं पाएहिं पसारणादीणि अकुव्वंतो कायेण आसन्नकुंचणादीणि अकुव्वंतो।

१२२. आलीन...और गुप्त...होकर (अल्लीणगुत्तो ग) :

आलीन का शाब्दिक अर्थ है—थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के न अति-दूर और न अति-निकट बैठता है, उसे 'आलीन' कहा जाता है[1]। जो मन से गुरु के वचन में दत्तावधान[2] और प्रयोजनवश बोलने वाला होता है, उसे 'गुप्त' कहा जाता है[3]। शिष्य को गुरु के समीप आलीन-गुप्त हो बैठना चाहिए।

श्लोक ४५ :

१२३. श्लोक ४५ :

पिछले श्लोक में कहा है—गुरु के समीप बैठे। इस श्लोक में गुरु के समीप कैसे बैठना चाहिए उसकी विधि बतलाई गई है[4]। शिष्य के लिए गुरु के पार्श्व भाग में, आगे और पीछे बैठने का निषेध है। इसका तात्पर्य है कि पार्श्व-भाग में, कानों की समश्रेणि में न बैठे। वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कान में जाता है। उससे गुरु की एकाग्रता का भंग होता है। इस आशय से कहा है कि गुरु के पार्श्व-भाग में अर्थात् बराबर न बैठे[5]। आगे न बैठे अर्थात् गुरु के सम्मुख अत्यन्त निकट न बैठे। वैसा करने से अविनय होता है और गुरु को वन्दना करने वालों के लिए व्याघात होता है, इस आशय को 'आगे न बैठे' इन शब्दों में समाहित किया है[6]।

पीछे न बैठे—इसका आशय भी यही है कि गुरु से सटकर न बैठे अथवा पीछे बैठने पर गुरु के दर्शन नहीं होते[7]। उनके इङ्गित और आकार को नहीं समझा जा सकता, इसलिए कहा है—'पीछे न बैठे'। 'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु सटाकर बैठना' अविनय है। इसलिए इसका निषेध है। साराश की भाषा में असभ्य और अविनयपूर्ण ढंग से बैठने का निषेध है।

१२४. ऊरु से अपना ऊरु सटाकर (ऊरुं समासेज्जा ग) :

ऊरु का अर्थ है—घुटने के ऊपर का भाग। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप टीका में 'समाश्रित्य' है। समाश्रित्य अर्थात् करके[8]। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप 'समाश्रयेत्' होना चाहिए। समासि (समा+श्रि) धातु है। इसके आगे 'ज्जा' लगाने पर 'समासेज्जा' रूप बनता है। यदि 'समासाद्य' रूप माना जाए तो पाठ 'समास (सि) ज्ज' होना चाहिए। आचाराङ्ग (१ ८.८ १) में 'समासिज्ज' (या समासज्ज) शब्द मिलता है। उसका संस्कृत रूप 'समासाद्य' (प्राप्त करके) किया है[9]। इन दोनों का शाब्दिक अर्थ है—ऊरु

१—जि० चू० पृ० २८८ अल्लीणो नाम ईसिलीणो अल्लीणो, णातिदूरत्थो ण वा अच्चासण्णो।

२—अ० चू० मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।

३—जि० चू० पृ० २८८ वायाए कज्जमेत्त भासतो।

४—अ० चू० तस्स ट्ठाणनियमणमिम।

५—अ० चू० समुप्पहप्पेरिया सद्दपोग्गला कण्णविलमणुपविसतीति कण्णसमसेढी पक्खो ततो ण चिट्ठे गुरूण सतिए तधा अणेगग्गता भवति।

६—जि० चू० पृ० २८८ पुरओ नाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वदमाणाण च वग्घाओ, एवमादि दोसा भवतित्तिकाऊण पुरओ गुरूण नवि चिट्ठेज्जत्ति।

७—हा० टी० प० २३५ यथासख्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्।

८—हा० टी० प० २३५ समाश्रित्य ऊरोरुपर्यूरु कृत्वा।

९—आचा० वृ० १ ८ ८ १ : 'समासाद्य' प्राप्य।

को कर या प्राप्त कर और उनका भावार्थ अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अपने उरु से गुरु के उरु का स्पर्श कर'[1] तथा जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'उरु पर उरु रखकर'[2] इन शब्दों में है।

उत्तराध्ययन (१।१८) में 'न जुंजे ऊरुणा ऊरुं' पाठ है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार ने अगस्त्य चूर्णि के शब्दों का ही अनुसरण किया है[3]। शान्त्याचार्य ने भी इसका अर्थ—'गुरु के उरु से अपना उरु न सटाए'[4]—किया है। इनके द्वारा भी अगस्त्य चूर्णि के आशय की पुष्टि होती है।

श्लोक ४६

१२५ बिना पूछे न बोले (अपुच्छिओ न भासेज्जा [क]) :

यहाँ निष्प्रयोजन—बिना पूछे बोलने का वर्जन है, प्रयोजनवश नहीं[5]।

१२६ बीच में (भासमाणस्स अंतरा [ख]) :

'आपने यह कहा था यह नहीं' इस प्रकार बीच में बोलना असभ्यता है इसलिए इसका निषेध है[6]।

१२७ चुगली न खाए (पिट्ठिमंसं न खाएज्जा [ग]) :

परोक्ष में किसी का दोष कहना—'पृष्ठिमांसभक्षण' अर्थात् चुगली खाना कहलाता है[7]।

१२८ कपटपूर्ण असत्य का (मायामोसं [घ]) :

'मायामृषा' यह संयुक्त शब्द है। 'माया' का अर्थ है कपट और 'मृषा' का अर्थ है असत्य। असत्य बोलने से पहले माया का प्रयोग अवश्य होता है। जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह अयथार्थता को छिपाने के लिए अपने भावों पर माया का इस प्रकार से आवरण डालने का यत्न करता है जिससे सुनने वाले लोग उसकी बात को यथार्थ मान लें इसलिए चिन्तनपूर्वक जो असत्य बोला जाता है उसके लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है[8]। इसका दूसरा अर्थ कपट-सहित असत्य वचन भी किया जाता है[9]।

१—अ० चू० : ऊरुणा ऊरुगं संघट्टेऊण पुरमवि ण चिट्ठे।

२—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'ण य ऊरुं समासिज्जा' नाम ऊरुं ऊरुस्स उवरि काऊण य गुरुसगासे चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३५ : न च 'ऊरुं समाश्रित्य' ऊरोरुपरि कृत्वा तिष्ठेद्गुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गात्।

३—उत्त० चू० पृ० ३५ : ऊरुणा ऊरुगं संघट्टेऊण पुरमवि ण चिट्ठेज्जा।

४—उत्त० बृ० वृ० ११८ : 'न युञ्ज्यात्' न संघट्टयेत् अत्यासन्नोपवेशनादिभिः, 'ऊरुणा' आत्मीयेन 'ऊरुं' गुरुसंबन्धिनं, तथा—अत्यन्ताविनयसम्भवात्।

५—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'अपुच्छिओ' निक्कारणे ण भासेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३५ : अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत।

६—जि० चू० पृ० २८८ : भासमाणस्स अंतरा ण कुज्जा जहा एवं ण एवं ते भणियं एवं ण।

७—(क) जि० चू० पृ० २८८ : जं परंमुहस्स अवण्णोच्चरिज्जइ तं तस्स पिट्ठिमंसभक्खणं भवइ।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपम्।

८—जि० चू० पृ० २८८ : मायाए सह मोसं मायामोसं, ण मायामंतरेण मोसं भासइ, कहं? पुव्वि भासं कुडिलीकरेइ पच्छा भासइ।

९—(क) जि० चू० पृ० २८८ : अहवा जं मायासहियं मोसं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : मायाप्रधानां मृषावाचम्।

श्लोक ४७ :

१२६. सर्वथा (सव्वसो ग) :

सर्वश' अर्थात् सब प्रकार से—सब काल और सब अवस्थाओं में[1] ।

श्लोक ४८ :

१३०. आत्मवान् (अत्तवं घ) :

'आत्मा' शब्द (१) स्व, (२) शरीर और (३) आत्मा—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। सामान्यत' जिसमें-आत्मा है उसे 'आत्मवान्' कहते हैं[2] । किन्तु अध्यात्म-शास्त्र में यह कुछ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हो, उसे 'आत्मवान्' कहा जाता है[3] ।

१३१. दृष्ट (दिट्ठं क) :

जिस भाषा का विषय अपनी आँखों से देखा हो, वह 'दृष्ट' कहलाती है[4] ।

१३२. परिमित (मियं क) :

उच्च स्वर से न बोलना और जितना आवश्यक हो उतना बोलना[5]—यह 'मितभाषा' का अर्थ है।

१३३. प्रतिपूर्ण (पडिपुन्नं ख) :

जो भाषा स्वर, व्यञ्जन, पद आदि सहित हो, वह 'प्रतिपूर्णभाषा' कहलाती है[6] ।

१३४. परिचित (वियंजियं ख) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'विय जिय' इन शब्दों को पृथक् मानकर व्याख्या की गई है। 'वियं' का अर्थ व्यक्त है[7] ।

१—जि० चू० पृ० २८६ सव्वसो नाम सव्वकाल सव्वावत्थासु ।

२—(क) हा० टी० प० २३६ 'आत्मवान्' सचेतन इति ।

(ख) जि० चू० पृ० २८६ अत्तव नाम अत्तवति वा विन्नवति मा एगट्ठा ।

३—अ० चू० नाणदसणचरित्तमयो जस्स आया अत्थि, सो अत्तव ।

४—(क) जि० चू० पृ० २८६ दिट्ठ नाम ज चक्खुणा सय उवलद्ध ।

(ख) हा० टी० प० २३५ 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयाम् ।

५—(क) अ० चू० अणुच्च कज्जमेत्त च मित ।

(ख) जि० चू० पृ० २८६ मित दुविह—सद्दओ परिमाणओ य, सद्दओ अणउव्व उच्चारिज्जमाण मित, परिमाणओ कज्जमेत्त उच्चारिज्जमाण मित ।

(ग) हा० टी० प० २३५ 'मितां' स्वरूपप्रयोजनाभ्याम् ।

६—(क) जि० चू० पृ० २८६ पडुप्पन्न णाम सरवजणपयादीहिं उववेअ ।

(ख) हा० टी० प० २३५ 'प्रतिपूर्णां' स्वरादिभि ।

७—(क) अ० चू० विय व्यक्त ।

(ख) हा० टी० प० २३५ 'व्यक्ताम्' अलल्लाम् ।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'विचं' का अर्थ मोह उत्पन्न करने वाली अर्थात् स्पष्ट भाषा[1] और टीकाकार ने परिचित भाषा किया है[2]। 'व्यक्त' का प्राकृत रूप 'वत्त' या 'वियत्त' बनता है। उसका 'विय' रूप बहुत प्राचीन होना चाहिए। यजुर्वेद में व्यक्त करने के अर्थ में 'विय' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। संभव है यह 'विय' ही आगे चल कर 'विचं' बन गया हो।

जिनदास महत्तर 'वियंविचं' को एक शब्द मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ-तथ्य है[4]। अनुयोगद्वार के आधार पर 'वियंविचं' की एक कल्पना और हो सकती है। वहाँ 'सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं' ये पाँच शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। जो पद सीखा जाता है उस पद को 'शिक्षित', जिस शिक्षित पद की विस्मृति नहीं होती उसे 'स्थित', जो पद परिवर्तन करते समय या किसी के पूछने पर शीघ्र याद आ जाए वह 'जित', जिसके श्लोक, पद और वर्ण आदि की संख्या जानी हुई हो वह 'मित' तथा परिवर्तन करते समय जिसे क्रम या उत्क्रम से—किसी भी प्रकार से याद किया जा सके वह 'परिजित' कहलाता है[5]। दशवैकालिक का प्रस्तुत प्रकरण भी भाषा से सम्बन्धित है इसलिए कल्पना की जा सकती है कि लिपि भेद के कारण 'ठियं जियं' के स्थान पर 'वियंविचं' ऐसा पाठ हो गया हो जिसका होना बहुत सम्भव है। चूर्णिकार और टीकाकार के सामने यह परिवर्तित पाठ रहा है और यही उनके व्याख्या भेद का हेतु बना है।

श्लोक ४६

१३५ श्लोक ४६ :

प्रस्तुत श्लोक में आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—ये तीनों शब्द द्व्यर्थक हैं। चूर्णि और टीका काल तक इनका अर्थ व्याकरण से सम्बन्धित रहा। आगे चल यह आगमों से सम्बन्धित हो गया। द्वादशाङ्गी में पहला अङ्ग आचार, पाँचवाँ प्रज्ञप्ति और बारहवाँ दृष्टिवाद है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयों—नियमों को धारण करने वाला किया है[6]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'आचारधर' शब्दों के लिङ्ग (स्त्री पुरुष और नपुंसक) को जानता है[7]। टीकाकार ने 'आचारधर' का अर्थ यही किया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिङ्ग का विशेष जानकार और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति प्रत्यय लोप आगम वर्णविकार काल कारक आदि व्याकरण के अङ्गों को जानने वाला किया है[8]। दीपिकाकार टीकाकार का अनुगमन करते हैं। अवचूरिकार ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ क्रमशः आचाराङ्गधर और भगवतीधर किया है। आचार प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—इनका सम्बन्ध भाषा-कौशल से है इसलिए कहा गया है कि आचार और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक जाए तो उसका उपहास न किया जाए।

प्रस्तुत श्लोक में सैद्धान्तिक भूल का प्रसङ्ग नहीं है किन्तु बोलते समय लिङ्ग विभक्ति, कारक काल आदि का विपर्यास हो जाए अर्थात् वाक्य-रचना में कोई त्रुटि आए उसे सुनकर उपहास न करने का उपदेश है इसलिए अवचूरिकार ने आचार और प्रज्ञप्ति

१—अ० चू० : विचं व वा मोहकं अनेकार्थं।
२—हा० टी० प० २३५ : 'विचं' परिचितम्।
३—अध्याय ११ । ३ ।
४—जि० चू० पृ० २८८ : 'वियंविचं' नाम वियंविचंति वा तच्चंति वा एगट्ठा।
५—अनु० सू० पृ० १३।
६—अ० चू० : आयारधरो-आयारेण तेण विणीय भासा विणओ विसेसेण पण्णत्ति-धरो ..... एतं वयणविधाणमविदणाओ व आवज्जते।
७—जि० चू० पृ० २८८ : आयारधरो इत्थिपुरिसणपुंसगलिंगाणि जाणइ।
८—हा० टी० प० २३६ : आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृति-प्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

का जो अर्थ किया है, वह प्रकरणानुसारी नहीं लगता। प्रसङ्ग के अनुसार दिट्ठिवाय (दृष्टिपात या दृष्टिवाद) का अर्थ नयवाद या विभज्यवाद होना चाहिए। जो बात विभाग करके कही जानी चाहिए वह प्रमादवश अन्यथा कही जाए तो उपहास का विषय बन सकता है। प्रस्तुत श्लोक में उसका निषेध है। नदी (सू० ४१) में दृष्टिवाद का प्रयोग सम्यक्त्ववाद के अर्थ मे हुआ है जो नयवाद के अधिक निकट है। आचाराङ्ग और प्रज्ञप्ति का वर्तमान रूप भाषा के प्रयोग की कोई विशेष जानकारी नहीं देता। दृष्टिवाद में व्याकरण का समावेश होता है। सभव है आचार और प्रज्ञप्ति भी व्याकरण-ग्रन्थ रहे हों। दशवैकालिक निर्युक्ति में भी ये शब्द मिलते हैं

"आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठीवाए य।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ॥"

चूर्णिकार और टीकाकार ने आचार का अर्थ आचरण, प्रज्ञप्ति का अर्थ समझाना और दृष्टिवाद का अर्थ सूक्ष्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया है[१]। चूर्णिकारों ने यहाँ इन्हें द्वयर्थक नहीं माना है। टीकाकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए आचार आदि को शास्त्र-वाचक भी माना है[२]। स्थानाङ्ग में आक्षेपणी कथा के वे ही चार प्रकार बतलाए हैं जिनका उल्लेख निर्युक्ति की उक्त गाथा में हुआ है[३]। इसकी व्याख्या के शब्द भी हरिभद्रसूरि की उक्त व्याख्या से भिन्न नहीं हैं। अभयदेव सूरि ने मतान्तर का उल्लेख भी हरिभद्रसूरि के शब्दों में ही किया है। व्यवहार (३) के 'पन्नत्ति कुसले' की व्याख्या में वृत्तिकार ने प्रज्ञप्ति का अर्थ कथा किया है।

भाष्यकार यहाँ एक बहुत ही रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति-कुशल (कथा-कुशल) थे। एक दिन मुरुण्डराज ने पूछा—भगवन्! देवता गतकाल को कैसे नहीं जानते, इसे स्पष्ट कीजिए? राजा ने प्रश्न पूछा कि आचार्य यकायक खड़े हो गए। आचार्य को खड़ा होते देख राजा भी तत्काल खडा हो गया। आचार्य के पास क्षीराश्रवलब्धि थी। उन्होंने उपदेश प्रारभ किया। उनकी वाणी मे दूध की मिठास टपक रही थी। एक प्रहर बीत गया। आचार्य ने पूछा—राजन्! तुझे खड़े हुए कितना समय हुआ है? राजा ने उत्तर दिया—भगवन्! अभी-अभी खड़ा हुआ हूँ। आचार्य ने कहा—एक प्रहर बीत चुका है। तू उपदेश-वाणी में आनन्द-मग्न हो गतकाल को नहीं जान सका, वैसे ही देवता भी गीत और वाद्य में आनन्द-विभोर होकर गतकाल को नहीं जानते। राजा अब निरुत्तर था[४]। इसके अनुसार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—आचार[५] (वचन-नियमन) के शास्त्र का अभिज्ञ बोलने में स्खलित हुआ है—वचन, लिङ्ग और वर्ण का विपर्यास किया है—यह जानकर भी मुनि उसका उपहास न करे।

१३६. जानने वाला (अहिज्जगं ख) :

इसका संस्कृत रूप 'अधीयान' किया गया है[६]। चूर्णि और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण दृष्टिवाद को पढ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों का अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्खलना नहीं होती और जो वाणी के सब प्रयोगों को जानता है उसके लिए कोई शब्द अशब्द नहीं होता। वह अशब्द को भी सिद्ध कर देता है। प्रायः स्खलना वही करता है,

---

१—हा० टी० प० ११० आचारो—लोचास्नानादि व्यवहार·-कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षण प्रज्ञप्तिश्चैव—सशयापन्नस्य मधुरवचनै· प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च—श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनम्।

२—हा० टी० प० ११० अन्ये त्वभिदधति—आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति।

३—स्था० ४ २ २८२ आयार अक्खेवणी ववहार अक्खेवणी पन्नत्ति अक्खेवणी दिट्ठिवात अक्खेवणी।

४—व्य० भा० ४ ३ १४५-१४६।

५—अ० चू० · वयणनियमणमायारो।

६—(क) अ० चू० दिट्ठिवादमधिज्जग—दिट्ठिवादमज्झयणपर।

(ख) हा० टी० प० २३६ दृष्टिवादमधीयान प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम् ।

पल घी, एक पल मधु, एक आढक दही, बीस काली मिर्चे और दो भाग चीनी या गुड—ये सब चीजें मिलाने से राजा के खाने योग्य 'रसालू' नामक पदार्थ बनता है[1]। वशीकरण अर्थात् मन्त्र, चूर्ण आदि प्रयोगों से दूसरों को अपने वश में करना।

१४२. निमित्त (निमित्तं ख) :

निमित्त का अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य सबन्धी शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या[2]।

१४३. मन्त्र (मंत ख) :

मन्त्र का अर्थ है देवता या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति के लिए जपा जाने वाला शब्द या शब्द-समूह[3]।

१४४. जीवों की हिंसा के (भूयाहिगरणं घ) :

एकेन्द्रिय आदि भूत कहलाते हैं। उन पर सघट्टन, परितापन आदि के द्वारा अधिकार करना—उनका हनन करना, 'भूताधिकरण' कहलाता है[4]।

श्लोक ५१ :

१४५. अन्यार्थ-प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए) (अन्नट्ठं पगडं क) :

अन्यार्थ—प्रकृत अर्थात् साधु के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए बनाया हुआ[5]। यहाँ अन्यार्थ शब्द यह सूचित करता है कि जिस प्रकार गृहस्थों के लिए बने हुए घरों में साधु रहते हैं, उसी प्रकार अन्य तीर्थिकों के लिए निर्मित वसति में भी साधु रह सकते हैं[6]।

१४६. स्त्री और पशु से रहित (इत्थीपसुविवज्जियं घ) :

यहाँ स्त्री, पशु के द्वारा नपुसक का भी ग्रहण होता है। विवर्जित का तात्पर्य है जहाँ ये दीखते हों वैसे मकान में साधु को नहीं रहना चाहिए[7]।

१—जि० चू० पृ० २८६-२६० जोगो जहा—दो घयपला मधु पल दह्यिस्स य आढय मिरीय वीसा। खडगुला दो भागा एस रसालू निवइजोगो।

२—(क) जि० चू० पृ० २६० निमित्त तीतादी।
(ख) हा० टी० प० २३६ 'निमित्त' अतीतादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २६० मतो—असाहणो 'एगग्गहणे गहण तज्जातीयाण'मितिकाउ विज्जा गहिता।
(ख) हा० टी० प० २३६ 'मन्त्र' वृश्चिकमत्रादि।

४—(क) अ० चू० भूताणि उपरोधक्रियाए अधिकयंते जम्मि त भूताधिकरण।
(ख) जि० चू० पृ० २६० भूताणि—एगिदियाईणि तेसि सघट्टणपरितावणादीणि अहिय कीरति जमि त भूताधिकरण।
(ग) हा० टी० प० २३६ भूतानि-एकेन्द्रियादीनि सघट्टनादिनाऽधिक्रियतेऽस्मिन्निति।

५—हा० टी० प० २३६ 'अन्यार्थं प्रकृत' न साधुनिमित्तमेव निर्वर्त्तितम्।

६—जि० चू० पृ० २६० अन्नट्ठगहणेण अन्नउत्थिया गहिया, अट्ठाए नाम अन्ननिमित्त, पगड पकप्पिय भण्णइ।

७—(क) जि० चू० पृ० २६० तहा इत्थीहिं विवज्जिय पसूहि य महीसछट्ठियएडगगवादीहिं, 'एगग्गहणे गहण तज्जातीयाण'मितिकाउ णपुसगविवज्जियपि, विवज्जिय नाम जत्थ तेसि आलोयमादीणि णत्थि त विवज्जिय भण्णइ, तत्थ आतपरसमुत्था दोसा भवतित्ति-काउ ण ठाइयव्व।
(ख) हा० टी० प० २३७ स्त्रीपशुपण्डकविवर्जित स्त्र्याद्यालोकनादिरहितम्।

श्लोक ५३ :

१५०. श्लोक ५३ :

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! विविक्त-स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार आई हुई स्त्रियों को कथा कहने का निषेध है—इसका क्या कारण है ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुम सही मानो, चरित्रवान् पुरुष के लिए स्त्री बहुत बड़ा खतरा है।

शिष्य ने पूछा, कैसे ? इसके उत्तर में आचार्य ने जो कहा वही इस श्लोक में वर्णित है[1]।

१५१. बच्चे को (पोयस्स क) :

पोत अर्थात् पक्षी का बच्चा जिसके पख न आए हों[2]।

१५२. स्त्री के शरीर से भय होता है (इत्थीविग्गहओ भयं घ) :

विग्रह का अर्थ शरीर है[3]। 'स्त्री से भय है' ऐसा न कहकर 'स्त्री के शरीर से भय है' ऐसा क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर है—ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नहीं, किन्तु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए स्त्री के शरीर से भय है—यह कहा है[4]।

श्लोक ५४ :

१५३. चित्र-भित्ति (चित्तभित्ति क) :

जिस भित्ति पर स्त्री अङ्कित हो, उसे यहाँ 'चित्र-भित्ति' कहा है[5]।

१५४. आभूषणों से सुसज्जित (सुअलंकियं ख) :

सु-अलकृत अर्थात् हार, अर्धहार आदि आभूषणों से सज्जित[6]।

१—अ० चू० को पुण निबधो ज विवित्तलयणत्थितेणावि
कहचि उपगताण नारीण कहा ण कप्पणीया।
भगणति, वत्स ! नणु चरित्तवतो महाभयमिद
इत्थी णाम, कह—'जहा कुक्कड'॥

२—जि० चू० पृ० २६१ पोतो णाम अपक्खजायओ।

३—(क) जि० चू० पृ० २६१ विग्गहो सरीर भगणइ।
(ख) हा० टी० प० २३७ 'स्त्रीविग्रहात्' स्त्रीशरीरात्।

४—(क) जि० चू० पृ० २६१ आह—इत्थीओ भयति भाणियव्वे ता किमत्थ विग्गहग्गहण कयं ?, भगणइ, न केवल सजीवइत्थी-समीवाओ भय, किन्तु ववगतजीवाएवि सरीर ततोऽवि भय भवइ, अओ विग्गहग्गहण कयति।
(ख) हा० टी० प० २३७ विग्रहग्रहण मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति।

५—(क) अ० चू० जत्थ इत्थी लिहिता तहाविध चित्तभित्ति॰ ॰।
(ख) जि० चू० पृ० २६१ जाए भित्तीए चित्तकया नारी त चित्तभित्ति।

६—(क) जि० चू० पृ० २६१ जीवति च जाहे सोभणेण पगारेण हारद्धहाराईहि अलकिया दिट्ठा भवइ ताहे त नारि सुयलकित त।
(ख) हा० टी० प० २३७ नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतदनलङ्कृतां च न निरीक्षेत।

रहा हो वैसा भोजन) किया है[1]। नेमिचन्द्राचार्य ने 'प्रणीत' का अर्थ अतिवृंहक—अत्यन्त पुष्टिकर किया है[2]। प्रश्नव्याकरण में प्रणीत और स्निग्ध भोजन का प्रयोग एक साथ मिलता है[3]। इससे जान पडता है कि प्रणीत का अर्थ केवल स्निग्ध ही नहीं है, उसके अतिरिक्त भी है। स्थानाङ्ग में भोजन के छह प्रकार बतलाए हैं—मनोज्ञ, रसित, प्रीणनीय, वृंहणीय, दीपनीय और दर्पणीय[4]। इनमें वृंहणीय (धातु का उपचय करने वाला या बलवर्द्धक) और दर्पणीय (उन्मादकर या मदनीय—कामोत्तेजक) जो हैं उन्हीं के अर्थ में प्रणीत शब्द का प्रयोग हुआ है—ऐसा हमारा अनुमान है। इसका समर्थन हमें उत्तराध्ययन (१६.७) के 'पणीय भत्तपाण तु, खिप्प मयविवड्ढणं' इस वाक्य से मिलता है। प्रणीत-भोजन का त्याग ब्रह्मचर्य की सातवी गुप्ति है[5]। एक ओर प्रस्तुत श्लोक में प्रणीत-रस भोजन को ब्रह्मचारी के लिए ताल-पुट विष कहा है। दूसरी ओर मुनि के लिए विकृति—दूध, दही, घृत आदि का सर्वथा निषेध भी नहीं है। उसके लिए बार-बार विकृति को त्यागने का विधान मिलता है[6]। मुनिजन प्रणीत-भोजन लेते थे, ऐसा वर्णन आगमों में मिलता है[7]।

भगवान् महावीर ने भी प्रणीत-भोजन लिया था[8]। आगम के कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि मुनि को प्रणीत-भोजन नहीं करना चाहिए और कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि प्रणीत-भोजन किया जा सकता है। यह विरोधाभास है। इसका समाधान पाने के लिए हमें प्रणीत-भोजन के निषेध के कारणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। प्रणीत-भोजन मद-वर्धक होता है। इसलिए ब्रह्मचारी उसे न खाए[9]। ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँचवीं भावना (प्रश्नव्याकरण के अनुसार) प्रणीत—स्निग्ध—भोजन का विवर्जन है। वहाँ बताया है कि ब्रह्मचारी को दर्पकर—मदवर्धक आहार नहीं करना चाहिए, बार-बार नहीं खाना चाहिए, प्रतिदिन नहीं खाना चाहिए, शाक-सूप अधिक हो वैसा भोजन नहीं खाना चाहिए, डटकर नहीं खाना चाहिए। जिससे सयम-जीवन का निर्वाह हो सके और जिसे खाने पर विभ्रम (ब्रह्मचर्य के प्रति अस्थिर भाव) और ब्रह्मचर्य-धर्म का भ्रंश न हो वैसा खाना चाहिए। उक्त निर्देश का पालन करने वाला प्रणीत-भोजन-विरति की भावना से भावित होता है[10]। प्रणीत की यह पूर्ण परिभाषा है। उक्त प्रकार का प्रणीत-भोजन उन्माद बढाता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है। किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए स्निग्ध-पदार्थ आवश्यक हैं, इसलिए उनका भोजन विहित भी है। मुनि का भोजन सतुलित होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रणीत-भोजन का त्याग और जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उसका स्वीकार—ये दोनों सम्मत हैं। जो श्रमण प्रणीत-आहार और तपस्या का सतुलन नहीं रखता उसे भगवान् ने पाप-श्रमण कहा है[11] और प्रणीत-रस के भोजन को तालपुट-विष कहने का आशय भी यही है।

१—पि० नि० गाथा ६४५ ज पुण गलतनेह, पणीयमिति त बुहा वेंति, वृत्ति—यत् पुनर्गलत्स्नेह भोजन तत्प्रणीत, 'बुधा·' तीर्थकृदादयो ब्रुवते।

२—उत्त० ३० २६ ने० वृ० पृ० ३४१ 'प्रणीतम्' अतिबृंहकम्।

३—प्रश्न० सवरद्वार ४ आहार पणीय निद्ध भोयण विवज्जते।

४—स्था० ६ ३ सू० ५३३ छव्विहे भोयणपरिणामे पण्णत्ते—तजहा-मणुन्ने, रसिते, पीणणिज्जे, बिंहणिज्जे [मयणिज्जे दीवणिज्जे] दप्पणिज्जे।

५—उत्त० १६ ७ नो पणीय आहार आहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

६—दश० चू० २ ७ अभिक्खण निव्विगइ गया य।

७—अन्त० ८ १।

८—भग० १५।

९—उत्त० १६ ७।

१०—प्रश्न० सवरद्वार ४ 'ण दप्पण, न बहुसो, न नितिक, न सायसूपाहिक, न खद्ध, तहा भोत्तव्व जहा से जायामायाए भवइ, न य भवइ विब्भमो न भसणा य धमस्स। एव पणीयाहार विरति समिति जोगेण भावितो भवति।

११—उत्त० १७ १५ दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खण।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

१६० तालपुट विष (विस तालउडं ^ग) :

तालपुट अर्थात् ताल (हथेली) संपुटित हो उतने समय में भक्षण करने वाले को मार डालने वाला विष—तत्काल प्राणनाशक विष। जिस प्रकार जीवितकांक्षी के लिए तालपुट विष का भक्षण हितकर नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए विभूषा आदि हितकर नहीं होते[1]।

श्लोक ५७

१६१ अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान (अंगपच्चंगसंठाणं ^क) :

हाथ-पैर आदि शरीर के मुख्य अवयव 'अङ्ग' और आँख, दांत आदि शरीर के गौण अवयव 'प्रत्यङ्ग' कहलाते हैं। चूर्णिद्वय में संस्थान स्वतंत्र रूप में और अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्बन्धित रूप में भी व्याख्यात है जैसे—(१) अङ्ग प्रत्यङ्ग और संस्थान (२) अङ्ग और प्रत्यङ्गों के संस्थान। संस्थान अर्थात् शरीर की आकृति शरीर का रूप[2]।

१६२ कटाक्ष (पेहियं ^ख) :

प्रेक्षित अर्थात् अपाङ्ग-दर्शन—कटाक्ष[3]।

श्लोक ५८

१६३ परिणमन को (परिणामं ^ख)

परिणाम का अर्थ है वर्तमान पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय में जाना अवस्थान्तरित होना। शब्द आदि इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ होते रहते हैं। जो मनोज्ञ होते हैं वे विशेष मनोज्ञ या अमनोज्ञ हो जाते हैं और जो अमनोज्ञ होते हैं वे विशेष अमनोज्ञ या मनोज्ञ हो जाते हैं। इसीलिए उनके अनित्य-स्वरूप के चिन्तन का उपदेश दिया गया है[4]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८९ : तालपुडं नाम जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं, जहा जीवियकंखिणो नो तालपुडविसभक्खणं कहाणयं भवति तहा धम्मकामिणो नो विभूसाईणि कहाणयाणि भवंतित्ति।

(ख) हा० टी० प० २३६ : तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितम्।

२—(क) अ० चू० : अंगाणि हत्थादीणि पच्चंगाणि णयणदसणादीणि संठाणं समचउरंसादि सरीरस्स अहवा अंगपच्चंगाण संठाणं अंगपच्चंगसंठाणं।

(ख) जि० चू० पृ० २८९ : अंगाणि हत्थपायादीणि पच्चंगाणि णयणदसणादीणि, संठाणं समचउरंसाइ, अहवा तेसिं चेव अंगाणं पच्चंगाण य संठाणग्गहणं कयंति।

(ग) हा० टी० प० २३७ : अङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि—नयनादीनि एतेषां संस्थानं—विन्यासविशेषम्।

३—अ० चू० : पेहितं सावंगं निरिक्खणं।

४—(क) जि० चू० पृ० २८९-२९० : ते चेव इट्ठसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति दुब्भिसद्दा पोग्गला इट्ठसद्दत्ताए परिणमंति, ण पुण ते मणुण्णा ते मणुण्णा चेव भवंति, अमणुण्णा वा अच्चंतममणुण्णा एव भवंति, एवं रूवादिसुवि भाणियव्वं।

(ख) हा० टी० प० २३७ 'परिणाम' पर्यायान्तरापत्तिलक्षणं ते हि मनोज्ञा अपि सन्तो विषयाः क्षणादमनोज्ञतया परिणमन्ति अमनोज्ञा अपि मनोज्ञतया।

१६४. राग-भाव न करे (पेमं नाभिनिवेसए ख) :

प्रेम और राग एकार्थक हैं। जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ विषयों में राग न करे, उसी प्रकार अमनोज्ञ विषयों से द्वेष भी न करे[1]।

श्लोक ५९ :

१६५. शीतल बना (सीईभूएण घ) :

शीत का अर्थ है उपशान्त[2]। क्रोध आदि कषाय को उपशान्त करने वाला 'शीतीभूत' कहलाता है[3]।

श्लोक ६० :

१६६. (जाए क) :

जिस अर्थात् प्रव्रजित होने के समय होने वाली (श्रद्धा) से[4]।

१६७. श्रद्धा से (सद्धाए क) :

धर्म, आचार[5], मन का परिणाम[6] और प्रधान गुण का स्वीकार[7]—श्रद्धा के ये विभिन्न अर्थ किए गए हैं। इन सबको मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—जीवन-विकास के प्रति जो आस्था होती है, तीव्र मनोभाव होता है वही 'श्रद्धा' है।

१६८. उसीका (तमेव ग) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है[8] और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का[9]। आचाराङ्ग वृत्ति में इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है[10]।

१—(क) जि० चू० पृ० २९२ पेम नाम पेमति वा रागोत्ति वा एगट्ठा, 'एगग्गहणे गहण तज्जातीयाण'मितिकाउ अमणुन्नेछवि दोस न गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३७ 'प्रेम' रागम्।

२—अ० चू० सीतभूतेण सीतो उवसतो जधा निसरणो देवो अतो सीतभूतेण उवसंतेण।

३—हा० टी० प० २३८ 'शीतीभूतेन' क्रोधाद्यग्न्युपगमात्प्रशान्तेनात्मना।

४—अ० चू० जाएत्ति निक्खमण समकाल भणति।

५—अ० चू० सद्धा धम्मो आयारो।

६—जि० चू० पृ० २९३ सद्धा परिणामो भण्णइ।

७—हा० टी० प० २३८ 'श्रद्धया' प्रधानगुणस्वीकरणरूपया।

८—(क) अ० चू० त सद्ध पवज्जासमकालिणि अणुपालेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३८ तामेव श्रद्धामप्रतिपत्तितया प्रवर्द्धमानामनुपालयेत्।

९—जि० चू० पृ० २९३ तमेव परिआयट्ठाणमणुपालेज्जा।

१०—आचा० १ १ ३ सू० २० 'जाए सद्धाए निक्खतो तमेव अणुपालिज्जा, वृ०—'यया श्रद्धया' प्रवर्धमानसयमस्थानकण्डकरूपया 'निष्क्रान्त' प्रव्रज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्'—रक्षेत्।

१६९ आचार्य-सम्मत (आयरियसम्मए [घ])

आचार्य-सम्मत अर्थात् तीर्थंकर गणधर आदि द्वारा अनुमत[1]। यह गुण का विशेषण है। टीका में उल्लिखित मतान्तर के अनुसार यह श्रद्धा का विशेषण है। श्रद्धा का विशेषण मानने पर दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार होगा—आचार्य-सम्मत उसी श्रद्धा का अनुपालन करे[2]।

श्लोक ६१

१७० (सूर व सेणाए [ग]) :

जिस प्रकार शस्त्रों से सुसज्जित वीर चतुरङ्ग (घोड़ा हाथी रथ और पदाति) सेना से घिर जाने पर युद्ध में अपना और दूसरों का संरक्षण करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार जो मुनि तप संयम आदि गुणों से सम्पन्न होता है वह इन्द्रिय और कषाय रूप सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का बचाव करने में समर्थ होता है[3]।

१७१ (अल परेसिं [घ])

'अलं' का एक अर्थ निवारण भी है। इसके अनुसार अनुवाद होगा कि आयुधों से सुसज्जित वीर अपनी रक्षा करने में समर्थ और पर अर्थात् शत्रुओं का निवारण करने वाला होता है[4]।

१७२ संयम-योग (संजमजोगयं [क])

जीवकाय-संयम इन्द्रिय-संयम मन-संयम आदि के समाचरण को संयम-योग कहा जाता है। इससे सतरह प्रकार के संयम का ग्रहण किया है[5]।

१७३ स्वाध्याय-योग में (सज्झायजोग [क]) :

स्वाध्याय तप का एक प्रकार है। तप का ग्रहण करने से इसका ग्रहण सहज ही हो जाता है किन्तु इसकी मुख्यता बताने के लिए यहाँ पृथक् उल्लेख किया है[6]। स्वाध्याय बारह प्रकार के तपों में सब से मुख्य तप है। इस अभिमत की पुष्टि के लिए अगस्त्यसिंह ने एक गाथा उद्धृत की है :

बारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ (बृहत्कल्प भा० २ भाष्य गा० ११६९)

1—जि० चू० पृ० २९१ : 'आयरियसंमओ'त्ति आयरिया नाम तित्थगरगणधरादी तेसिं संमए नाम संमओत्ति वा अणुमओत्ति वा एगट्ठा।

2—हा० टी० प० २३८ : अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमेतदिति व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु किम्भूताम्? आचार्यसंमतां न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति।

3—(क) अ० चू० : सेणा चाउरंगी तीए परिवुडो ...

(ख) जि० चू० पृ० २९१ : जहा कोई पुरिसो चउरंगबलसमन्नागयाए सेणाए अभिरुद्धो संपन्नाउहो अप्पं (सूरो अ) सो अप्पाणं परं च ताओ संगामाओ नित्थारेउत्ति अलं नाम समत्थो तहा सो एवंगुणजुत्तो अप्पाणं परं च इंदियकसायसेणाए अभिरुद्धं नित्थारेउंति।

4—अ० चू० : अहवा अलं परेसिं परसद्दो अण्ण सत्तु वाइनि, अलं सद्दो निवारणे। सो अलं परेसिं वारणसमत्थो सत्तूण।

5—(क) अ० चू० : सत्तरसविधं संजमजोगं च।

(ख) हा० टी० प० २३८ : 'संयमयोगं च' पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च।

6—(क) जि० चू० पृ० २९१ : ननु तवग्गहणेण सज्झाओ गहिओ? आयरिओ आह—सच्चमेयं, किंतु तवमज्झोवदरिसणत्थं सज्झायग्गहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २३८ : इह च तपोऽभिधानादेवाभिहितेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानम्।

१७४. प्रवृत्त रहता है (अहिट्ठए ख) :

टीका में 'अहिट्ठए' का सस्कृत रूप 'अधिष्ठाता' है[1] किन्तु 'तवं' आदि कर्म हैं, इसलिए यह 'अहिट्ठा' धातु का रूप होना चाहिए।

१७५. आयुधों से सुसज्जित (समत्तमाउहे ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। जिसके पास पाँच प्रकार के आयुध होते हैं, उसे 'समाप्तायुध' कहा जाता है[2]।

श्लोक ६२ :

१७६. (सि ग) :

'सि' शब्द के द्वारा साधु का निर्देश किया गया है[3]।

१७७. सद्ध्यान में (सज्झाण क) :

ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें धर्म और शुक्ल—ये दो सद्ध्यान हैं[4]।

१७८. मल (मलं ग) :

'मल' का अर्थ है पाप[5]। अगस्त्य चूर्णि में 'मल' के स्थान में 'रय' पाठ है। अर्थ की दृष्टि से दोनों समानार्थक हैं[6]।

श्लोक ६३ :

१७९. (विरायई कम्मघणम्मि अवगए ग) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान में 'विसुज्झती पुव्वकडेन कमुणा' और जिनदास चूर्णि में 'विमुच्चइ पुव्वकडेण कम्मुणा' पाठ है। इनका अनुवाद क्रमश इस प्रकार होगा—पूर्वकृत कर्मों से विशुद्ध होता है, पूर्वकृत कर्मों से विमुक्त होता है।

१८०. (चंदिमा घ) :

इसका अर्थ व्याख्याओं में चन्द्रमा है[7]। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्द्रिका होता है[8]।

१—हा० टी० प० २३८ 'अधिष्ठाता' तप प्रभृतीनां कर्ता।
२—अ० चू० पचवि आठधाणि जस्स सो समत्तमायुधो।
३—जि० चू० पृ० २९४ सित्ति साहुणो निद्देसो।
४—(क) उत्त० ३० ३५ अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
घम्मसुक्काइ झाणाइ ।
(ख) अ० चू० सज्झाणे धम्मसुक्के।
५—जि० चू० पृ० २९४ मलति वा पावति वा एगट्ठा।
६—अ० चू० विसुज्झती ज से रय पुरेकड 'रयो मलो पावमुच्यते।
७—अ० चू०, जि० चू० पृ० २९४ चदिमा चन्द्रमा।
८—हैम० ८ १ १८५ चन्द्रिकाया म ।

१८१ दुःखों को सहन करने वाला (दुक्खसहे ^)

दुःखसह का अर्थ है शारीरिक और मानसिक दुःखों को सहन करने वाला[1] या परीषहों को जीतने वाला[2]।

१८२ ममत्व-रहित (अममे ^) :

जिसके ममकार—मेरापन नहीं होता वह 'अमम' कहलाता है[3]।

१८३ अकिञ्चन (अकिंचणे ^) :

जो हिरण्य आदि द्रव्य किञ्चन और मिथ्यात्व आदि भाव किञ्चन से रहित होता है वह 'अकिञ्चन' कहलाता है[4]।

१८४ अभ्रपटल से वियुक्त (अब्भपुडावगमे ^) :

अभ्रपुट का अर्थ—'बादल के परत' है। भावार्थ की दृष्टि से हिम, रज, तुषार, कुहासा—ये सब अभ्रपुट हैं। अभ्रपुट का अपगम अर्थात् बादल आदि का दूर होना[5]। शरद् ऋतु में आकाश बादलों से वियुक्त होता है इसलिए उस समय चांद अधिक निर्मल होता है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है—शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह शोभित होता है[6]।

१—अ० चू० : दुक्खं सारीरमाणसं सहतीति दुक्खसहो।

२—हा० टी० प० २४८ : 'दुःखसहः' परीषहजेता।

३—अ० चू० : णिम्ममत्ते अममे।

४—जि० चू० पृ० २९४ : दव्वकिंचणं हिरण्णादि, भावकिंचणं मिच्छत्ताविरतीमादि, तं दव्वकिंचणं भावकिंचणं च जस्स णत्थि सो अकिंचणो।

५—अ० चू० : अब्भमेवं अब्भपुडं पडलाइतादि। अभितस्स अब्भपुडस्स अवगमो—अब्भपुडावगमो हिमरओतुसारधूमियादीण अवगमो।

६—अ० चू० : जधा सरदि विगताब्भपडलमसि संपुण्णचंदमंडलमिव सोभते सो चन्दो।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(पढमो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(प्र० उद्देशक)

आमुख

धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम है 'मोक्ष'[1]। विन। तप है और तप धर्म है, इसलिए विनय का प्रयोग करना चाहिए[2]। जैन-आगमों में 'विनय' का प्रयोग आचार व उसकी विविध धाराओं के अथ में हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं है। नम्र-भाव आचार की एक धारा है। पर विनय को नम्रता में ही वाध दिया जाए तो उसकी सारी व्यापकता नष्ट हो जाती है। जैन-धर्म वैनयिक (नमस्कार, नम्रता को सर्वोपरि मानकर चलने वाला) नहीं है। वह आचार-प्रधान है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अणगार से पूछा—"भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है?" थावच्चापुत्त ने कहा—"सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह विनय दो प्रकार का है—(१) आगार-विनय (२) अणगार-विनय। पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—यह आगार-विनय है। पाँच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रि-भोजन-विरति, दस विध-प्रत्याख्यान और वारह भिक्षु-प्रतिमाएँ—यह अणगार-विनय है[3]।" प्रस्तुत अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। उत्तराध्ययन के पहले अध्ययन का नाम भी यही है। इनमें विनय का व्यापक निरूपण है। फिर भी विनय की दो धाराएँ—अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित हे।

विनय अतरग तप है। गुरु के आने पर खडा होना, हाथ जोडना, आसन देना, भक्ति और सुश्रूषा करना विनय है[4]।

औपपातिक सूत्र में विनय के सात प्रकार वतलाए हैं। उनमे सातवाँ प्रकार उपचार-विनय है। उक्त श्लोक में उसी की व्याख्या है। ज्ञान, दर्शन चारित्र, मन, वाणी और काय का विनय—ये छह प्रकार शेष रहते हैं। इन सवके साथ विनय की सगति उद्धत-भाव के त्याग के अर्थ में होती है। उद्धत-भाव और अनुशासन का स्वीकार—ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य और साधना के प्रति जो नम्र होता है, वही आचारवान् वन सकता है। इस अर्थ मे नम्रता आचार का पूर्वरूप है। विनय के अर्थ की व्यापता की पृष्ठ-भूमि मे यह दृष्टिकोण अवश्य रहा है।

बौद्ध-साहित्य मे भी विनय, व्यवस्था, विधि व अनुशासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध-भिक्षुओं के विधि-ग्रन्थ का नाम इसी अर्थ में 'विनयपिटक' रखा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं। आचार्य के साथ शिष्य का वर्तन कैसा होना चाहिए—इसका निरूपण पहले में है। "अणंतनाणोवगओ वि सतो"—शिष्य अनन्त-ज्ञानी हो जाए तो भी वह आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था—यह है विनय का उत्कर्ष। जिसके पास धर्म-पद सीखे उसके प्रति विनय का प्रयोग करे—मन, वाणी और

१—दश० ९ २ २ एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो

२—प्रश्न० सवरद्वार ३ पाँचवीं भावना विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउजियव्वो

३—ज्ञातृ० ५।

४—उत्त० ३० ३२ अब्भुट्ठाण अजलिकरण, तहेवासणदायण।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (पढमो उद्देसो) : विनय-समाधि (प्रथम उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे[1] । सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥	स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्, गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत । स चैव तु तस्याऽभूतिभाव, फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥१॥	१—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया[2] या प्रमादवश[3] गुरु के समीप विनय की[4] शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश[5] के लिए होती है, जैसे—कीचक (वास) का[6] फल उसके वध के लिए होता है ।
२—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति[7] मिच्छ पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं ॥	ये चापि "मन्द" इति गुरुं विदित्वा, "डहरो"ऽय "अल्पश्रुत" इति ज्ञात्वा । हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमानाः, कुर्वन्त्याशातना ते गुरूणाम् ॥२॥	२—जो मुनि गुरु को—'यह मद[8] (प्रज्ञा-विकल) है', 'यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है'—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना[9] करते हैं ।
३—पगईए मदा वि[10] भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया । आयारमंता गुण सुट्ठिअप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥	प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके, डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपेता । आचारवन्तो गुण सुस्थितात्मानः, ये हीलिता. शिखीव भस्म कुर्यु. ॥३॥	३—कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (प्रज्ञा-विकल) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और वुद्धि से सम्पन्न[11] होते हैं । आचारवान् और गुणो में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि इधन-राशि को ।
४—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥	ये चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा, आशातयेयु तस्याहिताय भवति । एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्, निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्द ॥४॥	४—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है । इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अव-हेलना करने वाला मन्द ससार में[12] परिभ्रमण करता है ।
५—[13]आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा । आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो ॥	आशीविषश्चापि परं सुरुष्ट, किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् । आचार्यपादा पुनरप्रसन्ना, अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ॥५॥	५—आशीविष सर्प[14] अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है ? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि करते है । अत गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता ।

शरीर से नम्र रहे (श्लोक १२)। जो गुरु मुझे अनुशासन देते हैं उनकी मैं पूजा करूँ (श्लोक १३), ऐसे मनोभाव विनय की परम्परा को सहज बना देते हैं। शिष्य के मानस में ऐसे संस्कार बैठ जाएँ तभी आचार्य और शिष्य का एकात्मभाव हो सकता है और शिष्य आचार्य से इष्ट-तत्त्व पा सकता है।

दूसरे में अविनय और विनय का भेद दिखलाया गया है। अविनीत विपदा को पाता है और विनीत सम्पदा का भागी होता है। जो इन दोनों को जान लेता है वही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है (श्लोक २१)। अविनीत असंविभागी होता है। जो संविभागी नहीं होता वह मोक्ष नहीं पा सकता (श्लोक २२)।

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करे वह पूज्य है (श्लोक २), जो अप्रिय-प्रसंग को धर्म-बुद्धि से सहन करता है वह पूज्य है (श्लोक ८)। पूज्य के लक्षणों का निरूपण—यह तीसरे का विषय है।

चौथे में चार समाधियों का वर्णन है। समाधि का अर्थ है—हित सुख या स्वास्थ्य। उसके चार हेतु हैं—विनय श्रुत, तप और आचार। अनुशासन को सुनने की इच्छा, उसका सम्यक् ग्रहण उसकी आराधना और सफलता पर गर्व न करना—विनय-समाधि के ये चार अङ्ग हैं। विनय का प्रारम्भ अनुशासन से होता है और अहंकार के परित्याग में उसकी निष्ठा होती है।

मुझे ज्ञान होगा मैं एकाग्र चित्त होऊँगा, सन्मार्ग पर स्थित होऊँगा दूसरों को भी वहाँ स्थित करूँगा, इसलिए मुझे पढ़ना चाहिए—यह श्रुत-समाधि है। तप क्यों तपा जाए ? आचार क्यों पाला जाए ? इनके उद्देश्य की महत्त्वपूर्ण जानकारी यहाँ मिलती है। इस प्रकार यह अध्ययन विनय की सर्वाङ्गीण परिभाषा प्रस्तुत करता है।

इसका उद्धार नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है ।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (पढमो उद्देसो) : विनय-समाधि (प्रथम उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे[1] । सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥	स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्, गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत । स चैव तु तस्याऽभूतिभाव', फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥१॥	१—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया[2] या प्रमादवश[3] गुरु के समीप विनय की[4] शिक्षा नही लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश[5] के लिए होती है, जैसे—कीचक (वास) का[6] फल उसके वध के लिए होता है ।
२—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति[7] मिच्छ पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं ॥	ये चापि "मन्द" इति गुरुं विदित्वा, "डहरो"ऽयं "अल्पश्रुत" इति ज्ञात्वा । हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमानाः, कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम् ॥२॥	२—जो मुनि गुरु को—'यह मंद[8] (प्रज्ञा-विकल) है', 'यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है'—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना[9] करते हैं ।
३—पगईए मंदा वि[10] भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया । आयारमंता गुण सुट्ठिअप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥	प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके, डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपेता । आचारवन्तो गुण सुस्थितात्मानः, ये हीलिता' शिखीव भस्म कुर्यु ॥३॥	३—कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (प्रज्ञा-विकल) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न[11] होते हैं । आचारवान् और गुणो में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि इधन-राशि को ।
४—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥	ये चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा, आशातयेयु तस्याहिताय भवति । एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्, निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्द ॥४॥	४—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है । इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द ससार में[12] परिभ्रमण करता है ।
५—[13]आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा । आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो॥	आशीविषश्चापि परं सुरुष्ट, किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् । आचार्यपादा पुनरप्रसन्ना', अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्ष ॥५॥	५—आशीविष सर्प[14] अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है ? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि करते हैं । अत गुरु की आशातना से मोक्ष नही मिलता ।

६—जो पावग जलियमवक्कमेज्जा
आसीविस वा वि हु कोवएज्जा।
जो वा विस खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूण ॥

यः पावकं ज्वलितमपक्रामेत्,
आशीविषं वाऽपि खलु कोपयेत्।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी
एषोपमाऽऽशातनया गुरूणाम् ॥६॥

६—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—वे जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती।

७—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे
सिया विस हालहल न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए॥

स्याद् खलु स पावको नो दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षेत्।
स्याद्विषं हालाहलं न मारयेत्
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥७॥

७—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

८—जो पव्वय सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्त व सीहं पडिबोहएज्जा।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहार
एसोवमासायणया गुरूण ॥

यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्,
सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत्।
यो वा दद्यात् शक्त्यग्रे प्रहारं,
एषोपमाऽऽशातनया गुरूणाम् ॥८॥

८—कोई सिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है गुरु की आशातना इनके समान है।

९—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्ग
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

स्यात् खलु शिर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात्,
स्यात् खलु सिंहः कुपितो न भक्षेत्।
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रम्
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥९॥

९—सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

१०—आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥

आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः।
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥१०॥

१०—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता—गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता। इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला मुनि गुरु-कृपा के लिए तत्पर रहे।

११—जहाहियग्गी जलण नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्त ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥

यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्येद्,
नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥११॥

११—जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।

१२—जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं॥

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत।
सत्कुर्वीत शिरसा प्राञ्जलिकः,
कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम् ॥१२॥

१२—जिसके समीप धर्मपदों की शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। सिर को झुकाकर हाथों को जोड़कर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

१३—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति
ते हं गुरू सययं पूययामि ॥

लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्यं,
कल्याणभागिनः विशोधिस्थानम् ।
ये मा गुरवः सततमनुशासति,
तानहं गुरून् सततं पूजयामि ॥१३॥

१३—लज्जा[२०], दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं । जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ ।

१४—जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥

यथा निशान्ते तपन्नर्चिर्माली,
प्रभासते केवलं भारतं तु ।
एवमाचार्यः श्रुत-शील-बुद्ध्या,
विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥१४॥

१४—जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत[२१] (भरत क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होता है ।

१५—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो
नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥

यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः,
नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा ।
खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते,
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥१५॥

१५—जिस प्रकार मेघयुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत्त, कार्तिक-पूर्णिमा[२२] में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है ।

१६—महागरा आयरिया महेसी
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्मकामी ॥

महाकरान् आचार्यान् महैषिणः,
समाधियोगस्य श्रुतशीलबुद्ध्याः ।
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि,
आराधयेत् तोषयेद्धर्मकामी ॥१६॥

१६—अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के[२३] महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे ।

१७—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥
त्ति बेमि ।

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि,
शुश्रूषयेत् आचार्यमप्रमत्तः ।
आराध्य गुणाननेकान्,
स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥१७॥
इति ब्रवीमि ।

१७—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे । इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

५. विनाश (अभूइभावो ग) :

अभूतिभाव—'भूति' का अर्थ है विभव या ऋद्धि। भूति के अभाव को 'अभूतिभाव' कहते हैं। यह अगस्त्य चूर्णि और टीका की व्याख्या है[1]। जिनदास चूर्णि में अभूतिभाव का पर्याय शब्द विनाशभाव है[2]।

६. कीचक (वांस) का (कीयस्स घ) :

हवा से शब्द करते हुए वास को कीचक कहते हैं[3]। वह फल लगने पर सूख जाता है। इसकी जानकारी चूर्णि में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक से मिलती है। जैसे कहा है—चींटियों के पर, ताड़, कदली, वंश और वेत्र के फल तथा अविद्वान्—अविवेकशील व्यक्ति का ऐश्वर्य उन्ही के विनाश के लिए होता है[4]।

तुलना—यो सासन अरहत अरियान धम्मजीविन।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठि निस्साय पापिक।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्ञाय फुल्लति॥ (धम्मपद १२८)

—जो दुर्बुद्धि मनुष्य अरहन्तों तथा धर्म-निष्ठ आर्य-पुरुषों के शासन की, पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर, अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए वास के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

श्लोक २ :

७. (हीलंति ग) :

सस्कृत मे अवज्ञा के अर्थ में 'हील्' धातु है। अगस्त्य चूर्णि में इसका समानार्थक प्रयोग 'हेपयति' और 'अहिपालेंति' है।

८. मद (मंदि क) :

मन्द का अर्थ सत्प्रज्ञाविकल—अल्पबुद्धि है। प्राणियों में ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विचित्रता होती है। उसके अनुसार कोई तीव्र बुद्धि वाला होता है—तन्त्र, युक्ति आदि की आलोचना में समर्थ होता है और कोई मन्द बुद्धि होता है—उनकी आलोचना में समर्थ नहीं होता[5]।

९. आशातना (आसायण घ) :

आशातना का अर्थ विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की लघुता करने का प्रयत्न या जिससे अपने सम्यग्-दर्शन का ह्रास हो, उसे आशातना कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों में इसके प्रतिकूल वर्तन, विनय-भ्रंश, प्रतिषिद्धकरण, कदर्थना आदि ये भिन्न-भिन्न अर्थ भी मिलते हैं

१—(क) अ० चू० भूती विभवो ऋद्धी भूतीए अभावो अभूतिभावो तस्स अविणीयस्स एव अभूतिभावो अभूतिभवण।
(ख) हा० टी० प० २४३ 'अभूतिभाव' इति अभूतेर्भावोऽभूतिभाव, असपद्भाव इत्यर्थ।

२—जि० चू० पृ० ३०२ अभूतिभावो नाम अभूतिभावोत्ति वा विणासभावोत्ति वा एगट्ठा।

३—अ० चि० ४ २१६ स्वनन् वातात् स कीचक।

४—अ० चू० सो य फलेण सुक्खति, उक्त च—
पक्षा पिपीलिकानां, फलानि तलकदलीवंशवेत्राणाम्।
ऐश्वर्यञ्चाऽविदुषामुत्पद्यन्ते विनाशाय॥

५—हा० टी० प० २४३ क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थ सत्प्रज्ञाविकल इति।

श्लोक ३

१० (पगईए मंदा वि ग)

इसका अनुवाद 'वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मंद (प्रज्ञा विकल)' किया है। इसका आधार टीका है[1]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अनुवाद—स्वभाव से मंद होते हुए भी उपशान्त होते हैं—यह होता है[2]।

११ श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न (सुयबुद्धोववेया ग)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ बहुश्रुत पण्डित किया है[3]। परन्तु टीकाकार ने भविष्य में होने वाली बहुश्रुतता के आधार पर वर्तमान में उसको अल्पश्रुत माना है[4]।

श्लोक ४

१२ संसार में (जाइपहं घ):

इसका अर्थ है संसार। अगस्त्य चूर्णि में जातिवध को मूल और जातिपथ को वैकल्पिक पाठ माना है। जातिवध का अर्थ—जन्म मरण और जातिपथ का अर्थ जातिमार्ग (संसार) है[5]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ द्वीन्द्रिय आदि की योनियों में भ्रमण करना किया है[6]।

श्लोक ५

१३ श्लोक ५

इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण और दसवें श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण तुल्य हैं। टीकाकार अबोधि को कर्म मानते हैं और 'कुर्वन्ति' क्रिया का अध्याहार करते हैं[7]। इसमें प्रयुक्त 'आसायण' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है। उसे तीन विभक्तियों में परिवर्तित किया जा सकता है: 'आशातनया आशातनातः, सप्तम्यामाशातनायाम्—आशातना से आशातना के द्वारा आशातना में। जिनदास चूर्णि (पृ० ३०९) में 'आसायणा होयणाए' ऐसा किया है।

१—हा० टी० प० २४४ : 'पगइ'त्ति सूत्रं 'प्रकृत्या' स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् 'मन्दा अपि' सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्ति 'एके' केचन वयोवृद्धा अपि।

२—अ० चू० : समाणो पगती वीए मंदावि जातिवाससम उवसंता।

३—अ० चू० : सुयबुद्धोववेता "" बहुस्सुता पंडिता।

४—हा० टी० प० २४४ : भाविनीं वृत्तिमाश्रित्याल्पश्रुता इति।

५—अ० चू० : जाति पसूप्पत्ती जाती मरणं—जम्ममरणाणि अहवा जातिपहं—जातिमग्गं संसारं।

६—(क) जि० चू० पृ० ३०७ : बेइंदियादीसु जातीसु।

(ख) हा० टी० प० २४४ : 'जातिपन्थानं' द्वीन्द्रियादिजातिमार्गम्।

७—(क) दश० ९.१.५ हा० टी० प० २४४ : कुर्वन्ति 'अबोधिम्'।

(ख) वही ९.१.१ हा० टी० प० २४४ : पूर्वार्धं कुर्वन्ति।

१४. आशीविष सर्प (आसीविसो क) :

इसका अर्थ सर्प है। अगस्त्य चूर्णि में 'आसी' का अर्थ सर्प की दाढा किया है। जिसकी दाढा में विष हो, उसे 'आसीविस' कहा जाता है[1]।

श्लोक ११ :

१५. आहिताग्नि ब्राह्मण (आहियग्गी क) :

वह ब्राह्मण जो अग्नि की पूजा करता है और उसको सतत ज्वलित रखता है, आहिताग्नि कहलाता है[2]।

१६. आहुति (आहुई ख) :

देवता के उद्देश्य से मन्त्र पढकर अग्नि में घी आदि डालना[3]।

१७. मन्त्रपदों से (मंतपय ख) :

मन्त्रपद का अर्थ 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्र वाक्य हैं[4]। जिनदास चूर्णि में 'पद' का अर्थ 'क्षीर' किया है[5]।

श्लोक १२ :

१८. धर्मपदों की (धम्मपयाइ क) :

वे धार्मिक वाक्य जिनका फल धर्म का बोध हो[6]।

१६. शिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर (सक्कारए सिरसा पंजलीओ ग) :

ये शब्द 'पञ्चाङ्ग-वदन' विधि की ओर सकेत करते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे—यह पञ्चाङ्ग—(दो पैर, दो हाथ और एक शिर) वन्दन की विधि है[7]। टीकाकार ने इस विधि का कोई उल्लेख नहीं किया है। बगाल में नमस्कार की यह विधि आज भी प्रचलित है।

१—अ० चू० आसी सप्पस्स दाढा, आसीए विस जस्स सो आसीविसो।

२—(क) अ० चू० आहिअग्गी—एस वेदवादो जधा हव्ववाहो सव्वदेवाण हव्व पावेति अतो ते त परमादरेण हुणति।
(ख) जि० चू० पृ० ३०६ आहियअग्गी-बभणो।
(ग) हा० टी० प० २४५ 'आहिताग्नि' कृतावसथादिर्ब्राह्मण ।

३—(क) जि० चू० पृ० ३०६ णाणाविहेणघयादिणा मत उच्चारेऊण आहुय वलयइ।
(ख) हा० टी० प० २४५ आहुतयो—घृतप्रक्षेपादिलक्षणा।

४—हा० टी० प० २४५ मत्रपदानि—अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि।

५—जि० चू० पृ० ३०६ पय खीर भण्णइ।

६—हा० टी० प० २४५ 'धर्मपदानि' धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि।

७—(क) अ० चू० सिरसा पजलितोत्ति—एतेण पचगितस्स वदण गहण……जाणुदुवकपाणिततणदुत सिर च भूमिए णिमेऊण।
(ख) जि० चू० पृ० ३०६ पचगीएण वदणिएण, तजहा—जाणुदुग भूमीए निवडिएण हत्थदुएण भूमीए अवट्ठमिय ततो सिर पचम निवाएज्जा।

श्लोक १३

२० लज्जा (लज्जा [क])

अकरणीय का भय या अपवाद का भय[1]।

श्लोक १४

२१ भारत (भारहे [ख]) :

यहाँ भारत का अर्थ जम्बूद्वीप का दक्षिण भाग है[2]।

श्लोक १५

२२ कार्तिक-पूर्णिमा (कोमुइ [ग])

दशवैकालिक की व्याख्या में इसका अर्थ कार्तिक-पूर्णिमा किया है[3]। मोनियर विलियम्स ने इसके कार्तिक-पूर्णिमा और आश्विन-पूर्णिमा—ये दोनों अर्थ किए हैं[4]। 'से चोइए विमले अब्भमुक्के' इसके साथ आश्विन-पूर्णिमा की कल्पना अधिक संगत है। शरद्-पूर्णिमा की विमलता अधिक प्रचलित है।

श्लोक १६

२३ समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के (समाहिजोगे ... बुद्धिए [घ])

चूर्णि द्वय में इनका अर्थ षष्ठी विभक्ति और टीका में तृतीया विभक्ति के द्वारा किया है तथा सप्तमी के द्वारा भी हो सकता है। चूर्णि के अनुसार समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि का सम्बन्ध 'महागर' शब्द से होता है—जैसे—समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर। टीका के अनुसार इनका सम्बन्ध 'महेसी' शब्द से है—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के द्वारा महान् की एषणा करने वाले[5]।

१—(क) अ० चू० : अकरणिज्जासंकणं लज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१६ : लज्जा अववायभयं।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'लज्जा' अपवादभयरूपा।

२—अ० चू० : सव्वं दक्खिणं जंबुद्दीवमिति।

३—(क) अ० चू० : कुमुदाणि उप्पलविसेसो कुमुदेहिं महुप्पण्णेहिं सोहणं जिए सा कोमुदी कुमुदाणि वा जत्थि सा पुण कत्तिय पुण्णिमा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१७।
(ग) हा० टी० प० २५६।

४—A Sanskrit English Dictionary P 316.

५—(क) अ० चू० : महागरा समाहिजोगाणं सुतस्स सीलस्स य बुद्धीए य अहवा एतेसिं उवरि समाधिजोगाणं महागरा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१८।

६—हा० टी० प० २५६ : 'महेसिणो' मोक्षैषिणः, कथं महैषित्वमित्याह—'समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः' समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः श्रुतेन—द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(बीओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(द्वितीय उद्देशक)

श्लोक १३

२० लज्जा (लज्जा)

अकरणीय का भय या अपवाद का भय[1]।

श्लोक १४

२१ भारत (भारहं):

यहाँ भारत का अर्थ जम्बूद्वीप का दक्षिण भाग है[2]।

श्लोक १५

२२ कार्तिक-पूर्णिमा (कोमुइ)

दशवैकालिक की व्याख्या में इसका अर्थ कार्तिक-पूर्णिमा किया है[3]। मोनियर विलियम्स ने इसके कार्तिक-पूर्णिमा और आश्विन-पूर्णिमा—ये दोनों अर्थ किए हैं[4]। 'से सोहइ विमले अब्भमुक्के' इसके साथ आश्विन-पूर्णिमा की कल्पना अधिक संगत है। शरद्-पूर्णिमा की निर्मलता अधिक प्रचलित है।

श्लोक १६

२३ समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के (समाहिजोग सुय सील बुद्धिए)

चूर्णि-द्वय में इनका अर्थ षष्ठी विभक्ति और टीका में तृतीया विभक्ति के द्वारा किया है तथा सप्तमी के द्वारा भी हो सकता है। चूर्णि के अनुसार समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि का सम्बन्ध 'महागर' शब्द से होता है—जैसे—समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर[5]। टीका के अनुसार इनका सम्बन्ध 'महेसी' शब्द से है—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के द्वारा महान् की एषणा करने वाले[6]।

1—(क) अ० चू०: अकरणिज्जकरणसंकाए लज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३०६: लज्जा अपवादभयं।
(ग) हा० टी० प० २३९: 'लज्जा' अपवादभयरूपा।

2—अ० चू०: सव्वं दक्खिणड्ढं जंबुद्दीवस्सेति।

3—(क) अ० चू०: कुमुदाणि उप्पलविसेसो कुमुदेहिं सहचरणाओ कत्तियं वा कोमुदी कुमुदाणि वा अस्यां सा पुण कत्तिय पुण्णिमा।
(ख) जि० चू० पृ० ३०७।
(ग) हा० टी० प० २३९।

4—A Sanskrit English Dictionary P 316.

5—(क) अ० चू०: महागरा समाधिजोगाणं सुतस्स य सीलस्स य बुद्धीए य अथवा सुतसीलबुद्धीए समाधिजोगाण महागरा।
(ख) जि० चू० पृ० ३०८।

6—हा० टी० प० २३९: 'महेसिणो' मोक्षैषिणः, कथं महैषिणः इत्याह—'समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः' समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः श्रुतेन—द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन—परद्रोहविरतिलक्षणेन बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (बीओ उद्देसो) : विनय-समाधि (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा। साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य।।	मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात्पश्चात्समुपयन्ति शाखाः। शाखाभ्यः प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्प च फलं च रसश्च ।।१।।	१—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती है, शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है।
२—एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्ति सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई ।।	एवं धर्मस्य विनयो, मूलं परमस्तस्य मोक्ष·। येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं, नि शेषं चाधिगच्छति ।।२।।	२—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम (अन्तिम) फल[1] है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय[2] श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को[3] प्राप्त होता है।
३—जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे। वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा ।।	यश्च चण्डो मृगस्तब्धः, दुर्वादी निकृति· शठ·। उह्यते सोऽविनीतात्मा, काष्ठं स्रोतोगतं यथा ।।३।।	३—जो चण्ड, अज्ञ (मृग[4]), स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ[5] है, वह अविनीतात्मा ससार-स्रोत में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पडा हुआ काठ।
४—विणयं पि जो उवाएणं चोइओ कुप्पई नरो। दिव्वं सो सिरिमेज्जंति दंडेण पडिसेहए ।।	विनयमपि य· उपायेन, चोदित कुप्यति नरः। दिव्यां स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधति ।।४।।	४—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डडे से रोकता है।
५—तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया। दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ।।	तथैवाऽविनीतात्मान, उपवाह्या हया गजा। दृश्यन्ते दु खमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिता ।।५।।	५—जो औपवाह्य[6] घोडे और हाथी अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दु ख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।
६—तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया। दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ।।	तथैव सुविनीतात्मान, उपवाह्या हया गजा। दृश्यन्ते सुखमेधमाना, ऋद्धिं प्राप्ता महायशस ।।६।।	६—जो औपवाह्य घोडे और हाथी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१४—[13]जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया॥

येन बन्धं वधं घोरं,
परितापं च दारुणम्।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति,
युक्तास्ते ललितेन्द्रिया.॥१४॥

करने मे लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय[14] होते हुए भी शिक्षा-काल में घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं।

१५—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देसवत्तिणो॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति,
तस्य शिल्पस्य कारणाय।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति,
तुष्टा निर्देशवर्तिन·॥१५॥

१५—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते है, सत्कार करते है[15], नमस्कार करते है[16] और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

१६—किं पुण जे सुयग्गाही
अणतहियकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए॥

किं पुनर्य श्रुतग्राही,
अनन्तहितकामक।
आचार्या यद् वदेयु· भिक्षु,
तस्मात्तन्नातिवर्तयेत॥१६॥

१६—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे।

१७—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अंजलिं॥

नीचा शय्या गतिं स्थानं,
नीच चासनानि च।
नीचं च पादौ वन्देत,
नीच कुर्याच्चाञ्जलिम्॥१७॥

१७—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे[17], नीची गति करे[18], नीचे खड़ा रहे[19], नीचा आसन करे[20], नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे[21] और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े[22]।

१८—[23]संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि[24]।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य॥

संघट्य कायेन,
तथोपधिनापि।
क्षमस्वापराधं मे,
वदेन्नपुनरिति च॥१८॥

१८—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से[25] आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

१९—[26]दुग्गओ वा पओएणं।
चोइओ वहई रहं।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं[27]
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई॥

दुर्गवो वा प्रतोदेन,
चोदितो वहति रथम्।
एवं दुर्बुद्धि कृत्यानां,
उक्त उक्त प्रकरोति॥१९॥

१९—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर काम करता है।

७—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
छाता विकलितेन्द्रियाः॥७॥

८—दंडसत्थपरिजुण्णा
असब्भवयणेहि य।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया॥

दण्डशस्त्रपरिजीर्णाः,
असभ्यवचनैश्च।
करुणा व्यापन्नच्छन्दसः,
क्षुत्पिपासया परिगताः॥८॥

७-८—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं वे क्षत विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

९—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः॥९॥

९—लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१०—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
आभियोग्यमुपस्थिताः॥१०॥

१०—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

११—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः॥११॥

११—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१२—जे आयरियउवज्झायाणं
सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जलसित्ता इव पायवा॥

ये आचार्योपाध्याययोः,
शुश्रूषावचनकराः।
तेषां शिक्षाः प्रवर्धन्ते,
जलसिक्ता इव पादपाः॥१२॥

१२—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष।

१३—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
शिल्पानि नैपुण्यानि च।
गृहिण उपभोगार्थम्,
इहलोकस्य कारणाय॥१३॥

१३-१४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते हैं, वे शिक्षा ग्रहण

१४—[13]जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥

येन बन्ध वधं घोरं,
परितापं च दारुणम्।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति,
युक्तास्ते ललितेन्द्रिया· ॥१४॥

करने में लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय[14] होते हुए भी शिक्षा-काल मे घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते है।

१५—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति,
तस्य शिल्पस्य कारणाय।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति,
तुष्टा निर्देशवर्तिन. ॥१५॥

१५—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते है, सत्कार करते हैं[15], नमस्कार करते है[16] और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

१६—किं पुण जे सुयग्गाही
अणतहियकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए ॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही,
अनन्तहितकामक ।
आचार्या यद् वदेयु भिक्षु,
तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥१६॥

१६—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे।

१७—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य।
नीय च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अजंलिं ॥

नीचा शय्यां गतिं स्थानं,
नीच चासनानि च।
नीचं च पादौ वन्देत,
नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम् ॥१७॥

१७—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे[17], नीची गति करे[18], नीचे खड़ा रहे[19], नीचा आसन करे[20], नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे[21] और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े[22]।

१८—[23]संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि[24]।
खमेह अवराह मे
वएज्ज न पुणो त्ति य ॥

संघट्य कायेन,
तथोपधिनापि।
क्षमस्वापराधं मे,
वदेन्नपुनरिति च ॥१८॥

१८—अपनी काया से तथा उपकरणों से एव किसी दूसरे प्रकार से[25] आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

१६—[26]दुग्गओ वा पओएणं।
चोइओ वहई रहं।
एव दुबुद्धि किच्चाणं[27]
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥

दुर्गवो वा प्रतोदेन,
चोदितो वहति रथम्।
एवं दुर्बुद्धि· कृत्यानां,
उक्त उक्त प्रकरोति ॥१६॥

१६—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है।

* (आलवंते लवंते वा
न निसेज्जाए पडिस्सुणे।
मोत्तूण आसणं धीरो
सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥)

आलपन्तं लपन्तं वा,
न निषद्यायां प्रतिशृणुयात्।
मुक्त्वा आसनं धीरः
शुश्रूषया प्रतिशृणुयात् ॥)

(बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे किन्तु आसन को छोड़कर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे।)

२०—कालं छंदोवयारं च
पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएण
तं तं संपडिवायए ॥

कालं छन्दोपचारं च
प्रतिलेख्य हेतुभिः।
तेन तेनोपायेन
तत्तत्सम्प्रतिपादयेत् ॥२०॥

२०—काल, अभिप्राय और आराधन विधि[1] को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे।

२१—विवत्ती अविणीयस्स
संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं
सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

विपत्तिरविनीतस्य
सम्पत्ति (सम्प्राप्ति) र्विनीतस्य च।
यस्यैतद्द्विधा ज्ञातं,
शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥२१॥

२१—'अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति[1] होती है'—ये दोनों जिसे ज्ञात है वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

२२—जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥

यश्चापि चण्डो मतिऋद्धिगौरवः
पिशुनो नरः साहसो हीनप्रेषणः।
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः,
असंविभागी न खलु तस्य मोक्षः ॥२२॥

२२—जो नर चण्ड है जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है[1] जो पिशुन है जो साहसिक है[2] जो गुरु की आज्ञा का यथा समय पालन नहीं करता जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है जो विनय में अकोविद है जो असंविभागी है[3] उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

२३—निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥
त्ति बेमि।

निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणां
श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः।
तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तरं,
क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः ॥२३॥
इति ब्रवीमि।

२३—और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं जो गीतार्थ हैं[1] जो विनय में कोविद हैं वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

---

*यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ९ (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक २ :

१. परम (अंतिम) फल (परमो ख) :

उपमा में मूल और परम की मध्यवर्ती अपरम अवस्थाओं का उल्लेख है। परन्तु उपमेय में केवल मूल और परम का उल्लेख है। देवलोक-गमन, सुकुल में उत्पन्न होना, क्षीरास्रव, मध्वास्रव आदि यौगिक-विभूतियों को प्राप्त होना विनय के अपरम तत्त्व हैं[1]।

२. श्लाघनीय (सिग्घं ग) :

प्राकृत में श्लाघ्य के 'सग्घ' और 'सिग्घ' दोनों रूप बनते हैं। यह श्रुत का विशेषण है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सग्घ' का प्रयोग किया है[2]। सूत्रकृताङ्ग (३ २.१६) में भी 'सग्घ' रूप मिलता है—'भुज भोगे इमे सग्घे'।

३. समस्त इष्ट तत्त्वों को (निस्सेसं घ) :

जिनदास चूर्णि में इसका प्रयोग 'कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत इत्यादि समस्त' इस अर्थ में किया है[3]। टीका के अनुसार यह श्रुत का विशेषण है[4]। अगस्त्य चूर्णि में इसे 'णिसेयस' (निश्रेयस्—मोक्ष) शब्द माना है[5]।

श्लोक ३ :

४. मृग (मिए क) :

मृग-पशु की तरह जो अज्ञानी होता है, उसे मृग कहा गया है[6]। मृग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। आरण्यक-पशु[7] या सामान्य पशुओं[8] को भी मृग कहा जाता है।

५. मायावी और शठ (नियडी सढे ख) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ 'माया के द्वारा शठ' किया है[9]। टीका में इन दोनों को पृथक् मानकर 'नियडी' का अर्थ मायावी और 'सढे' का अर्थ सयम-योग में उदासीन किया है[10]।

१—(क) जि० चू० पृ० २०६ अपरमाणि उ खधो साहा पत्तपुप्फफलाणित्ति, एव धम्मस्स परमो मोक्खो, अपरमाणि उ देवलोगसुकुल-पच्चायाया—दीणि खीरासवमधुयासवादीणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २४७।

२—(क) अ० चू० सुत च सग्घ साघणीयमविगच्छति।
(ख) हा० टी० प० २४७ 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्य' प्रशसास्पदभूतम्।

३—जि० चू० पृ० ३०६ एवमादि, निस्सेस अभिगच्छतीति।

४—हा० टी० प० २४७ 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्य' प्रशसास्पदभूत 'निःशेष' सम्पूर्णम्' 'अधिगच्छति'।

५—अ० चू० णिसेयस च मोक्खमधिगच्छति।

६—अ० चू० मदबुद्धी मितो।

७—सूत्र० १ १ २ ६ वृ० मृगा आरण्या पशव।

८—An animal in general (A Sanskrit English Dictionary Page 689

९—अ० चू० नियडी मातातीए सढो नियडी सढो।

१०—हा० टी० प० २४७ 'निकृतिमान्' मायोपेत 'शठ' सयमयोगेष्वनादृत।

श्लोक १२ :

६. आचार्य और उपाध्याय की (आयरियउवज्झायाणं [क]) :

जैन परम्परा में आचार्य और उपाध्याय का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परम्परा एक प्रवाह है। उसका स्रोत सूत्र है। उसकी आत्मा है अर्थ। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ की वाचना आचार्य देते हैं। उपाध्याय का कार्य है सूत्र की वाचना देना[1]। स्मृतिकार की भाषा में भी आचार्य और उपाध्याय की सही व्याख्या मिलती है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु-पद पर स्थापित होता है, वह आचार्य कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ को जानने वाला आचार्य होता है और सूत्र तथा अर्थ का जानकार हो किन्तु गुरु-पद पर स्थापित न हो वह भी आचार्य कहलाता है[4]।

टीका के अनुसार सूत्रार्थ दाता अथवा गुरु—स्थानीय ज्येष्ठ-आर्य 'आचार्य' कहलाता है[5]। इन सबका तात्पर्य यही है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ प्रदाता है, वह आचार्य है। इससे गुरु और आचार्य के तात्पर्यार्थ में जो अन्तर है, वह स्पष्ट होता है।

१०. शिक्षा (सिक्खा [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहण-शिक्षा और (२) आसेवन-शिक्षा। कर्तव्य का ज्ञान ग्रहण-शिक्षा और उसका आचरण या अभ्यास आसेवन-शिक्षा कहलाता है[6]।

श्लोक १३ :

११. शिल्प (सिप्पा [ख]) :

कारीगरी। स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार आदि का कर्म[7]।

१—ओ० नि० वृ० 'अत्थ वाएइ आयरिओ'
'सुत्त वाएइ उवज्झाओ'
वृत्ति—सूत्रप्रदा उपाध्याया', अर्थप्रदा आचार्या।

२—वृ० गौ० स्मृ० अ० १४ ५६,६० "इहोपनयन वेदान् योऽध्यापयति नित्यश।
एकस्पान् इतिहासांश्च स उपाध्याय उच्यते॥
साङ्गान् वेदांश्च योऽध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्य सोऽभिधीयते॥"

३—अ० चू० ६.३ १ सुत्तत्थ तदुभयादि गुणसम्पन्नो अप्पणो गुरुहि गुरुपदेत्थावितो आयरिओ।

४—जि० चू० पृ० ३१८ आयरिओ सुत्तत्थतदुभअविऊ, जो वा अन्नोऽवि सुत्तत्थतदुभयगुणेहि अ उववेओ गुरुपए ण ठाविओ सोऽवि आयरिओ चेव।

५—हा० टी० प० २५२ 'आचार्य' सूत्रार्थप्रद तत्स्थानीय वाऽन्य ज्येष्ठार्यम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१३ सिक्खा दुविहा—गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।
(ख) हा० टी० प० २४६ 'शिक्षा' ग्रहणासेवनालक्षणा।

७—(क) अ० चू० सिप्पाणि सुवण्णकारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१३ सिप्पाणि—कुमारलोहारादीणि।
(ग) हा० टी० प० २४६ 'शिल्पानि' कुम्भकारक्रियादीनि।

१२ नैपुण्य (णेउणियाणि ख) :

कौशल या विद्या[1], लौकिक-कला[2], शिल्प-कला[3]।

श्लोक १४

१३ श्लोक :

इसमें बन्ध, वध और परिताप के द्वारा अध्यापन की उस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है जिस युग में अध्यापक अपने विद्यार्थियों को सांकल से बाँधते थे, चाबुक आदि से पीटते थे और कठोर वाणी से भर्त्सना देते थे[4]।

१४ ललितेन्द्रिय (ललिइंदिया ग) :

जिनकी इन्द्रियाँ ललित—क्रीड़ाशील या रमणीय होती हैं, वे ललितेन्द्रिय कहलाते हैं[5]। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक व्याख्या 'लालितेंदिय' शब्द की हुई है। जिनकी इन्द्रियाँ सुख के द्वारा लालित होती हैं, उन्हें लालितेन्द्रिय कहा जाता है। 'लकार' को इस्वादेश करने पर ललितेन्द्रिय हो जाता है[6]।

श्लोक १५ :

१५ सत्कार करते हैं (सक्कारंति ग) :

किसी को भोजन, वस्त्र आदि से सम्मानित करना 'सत्कार' कहलाता है[7]।

१—अ चू : ईसत्थ सिक्खाकोसलादीणि।

२—जि चू पृ० ३११ : णिउणियाणि कारुयाओ कलाओ।

३—हा टी प २५१ : 'निपुणानि च' आलेख्यादिविज्ञानकलानि।

४—(क) अ चू : बंधं णिगलादीहिं वधं कसादीहिं घोरं पाणविणास समावण्णं परितावणं तहादीहिं।

(ख) जि चू पृ ३११-३१२ : तत्थ णिगलादीहिं बंधं पावेंति वेत्तलयादीहिं य वधं घोरं पावेंति तओ तहिं बंधेहिं वधेहि य परितावो उप्पज्जइ अहवा परितावो विसूरणोवचयणिमित्तस्स जो मणि संतावो सो परितावो भण्णइ।

(ग) हा टी प २५१ : 'बन्धं' निगडादिभिः 'वधं' कषादिभिः 'घोरं' रौद्रं परितापं च 'दारुणम्' एतज्जनितमनिष्टं निर्भर्त्सनादि-वचनजनितम्।

५—(क) अ चू : ललिताणि सादयाणि सुहोवगमुदिताणि इंदियाणि जेसिं रायपुत्तप्पभीतीण ते ललितिंदिया।

(ख) जि चू पृ ३१२ : ललिइंदिया नाम जाणि ललियाणि इंदियाणि जेसिं ते ललिइंदिया अवच्चमत्तहितत्ति वुत्तं भवति, ते य रायपुत्तादि।

(ग) हा टी प २५१ : 'ललितेन्द्रियाः' गर्भेश्वरा राजपुत्रादयः।

६—अ चू : लालितेंदिया वा छंदेहिं लकारस्स ह्स्सादेसो।

७—(क) अ चू : भोयणच्छादणाइणा सक्कारेंति।

(ख) जि चू पृ ३१२ : सक्कारो भोयणच्छादणमादिणा भवइ।

(ग) हा टी प २५१ : सत्कारयन्ति वस्त्रादिना।

१६. नमस्कार करते हैं (नमसंति ग) :

गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोड़ना आदि 'नमस्कार' कहलाता है[१]। अगस्त्यसिंह चूर्णि में इसके स्थान पर 'समार्णेति' पाठ है और उसका अर्थ स्तुति-वचन, चरण स्पर्श आदि किया है[२]।

श्लोक १७ :

१७. नीची शय्या करे (नीयं सेज्जं क) :

आचार्य की शय्या (बिछौने) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करना[३]।

१८. नीची गति करे (गइं क) :

नीची गति अर्थात् शिष्य आचार्य से आगे न चले पीछे चले। अति समीप और अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजें उड़ती हैं और अति दूर चलना प्रत्यनीकता तथा आशातना है[४]।

१६. नीचे खड़ा रहे (ठाणं क) :

मुनि आचार्य खड़े हों उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे[५]। आचार्य के आगे और पार्श्वभाग में खड़ा न हो[६]।

२०. नीचा आसन करे (नीयं च आसणाणि ख) :

आचार्य के आसन—पीठ, फलक आदि से अपना आसन नीचा करना[७]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१४ णमसणा अब्भुट्ठाणजलिपग्गहादी।
(ख) हा० टी० प० २५० 'नमस्यन्ति' अञ्जलिप्रग्रहादिना।
२—अ० चू० थुतिवयणपादोवफरिस समयक्करणादीहिं य समाणेंति।
३—(क) अ० चू० सेज्जा सथारवो त णीयतरमायरियसथारगाओ कुज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४ सेज्जा सथारओ भराणइ, सो आयरियस्सतियाओ णीयतरो कायव्वो।
(ग) हा० टी० प० २५० नीचा 'शय्या' सस्तारकलक्षणामाचार्यशय्याया सकाशात्कुर्यादिति योग।
४—(क) अ० चू० न आयरियाण पुरतो गच्छेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४-३१५ 'णीया' नाम आयरियाण पिट्ठओ गतव्व, तमवि णो अच्चासण्ण, न वा अतिदूरत्थेण गतव्व, अच्चासन्ने ताव पादरेणुण आयरियसघट्टणदोसो भवइ, अइदूरे पडिणीय आसायणादि बहवे दोसा भवतीति, अतो णच्चासण्णे णातिदूरे य चकमितव्व।
(ग) हा० टी० प० २५० नीचा गतिमाचार्यगते, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुत यायादित्यर्थ।
५—(क) जि० चू० पृ० ३१५ तहा जमिवि ठाणे आयरिया उवचिट्ठा अच्छति तत्थ ज नीययर ठाण तमि ठाइयव्व।
(ख) हा० टी० प० २५० नीच स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमितिभाव।
६—अ० चू० ठाणमवि ज ण पक्खतो ण पुरतो एवमादि अविरुद्ध त णीत तहा कुज्जा।
७—(क) अ० चू० एव पीढफलगादिमवि आसण।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ तहा नीययरे पीढगाइमि आसणे आयरिमणुन्नाए उवविसेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २५० 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्कारणजाते 'आसनानि' पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञात सेवेत।

१६. नमस्कार करते हैं (नमसंति ग) :

गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोड़ना आदि 'नमस्कार' कहलाता है[1]। अगस्त्यसिंह चूर्णि में इसके स्थान पर 'समार्णेति' पाठ है और उसका अर्थ स्तुति-वचन, चरण स्पर्श आदि किया है[2]।

श्लोक १७ :

१७. नीची शय्या करे (नीयं सेज्जं क) :

आचार्य की शय्या (बिछौने) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करना[3]।

१८. नीची गति करे (गइं क) :

नीची गति अर्थात् शिष्य आचार्य से आगे न चले पीछे चले। अति समीप और अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजें उड़ती हैं और अति दूर चलना प्रत्यनीकता तथा आशातना है[4]।

१९. नीचे खड़ा रहे (ठाणं क) :

मुनि आचार्य खड़े हों उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे[5]। आचार्य के आगे और पार्श्वभाग में खड़ा न हो[6]।

२०. नीचा आसन करे (नीयं च आसणाणि ख) :

आचार्य के आसन—पीठ, फलक आदि से अपना आसन नीचा करना[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१४ णमसणा अब्भुट्ठाणजलिपग्गहादी।
(ख) हा० टी० प० २५० 'नमस्यन्ति' अञ्जलिप्रग्रहादिना।
२—अ० चू० थुतिवयणपादोवफरिस समयक्करणादीहि य समाणेंति।
३—(क) अ० चू० सेज्जा सथारवो त णीयतरमायरियसथारगाओ कुज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४ सेज्जा सथारओ भएणइ, सो आयरियस्सतियाओ णीयतरो कायव्वो।
(ग) हा० टी० प० २५० नीचा 'शय्यां' सस्तारकलक्षणामाचार्यशय्याया सकाशात्कुर्यादिति योग।
४—(क) अ० चू० न आयरियाण पुरतो गच्छेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४-३१५ 'णीया' नाम आयरियाण पिट्ठओ गतव्व, तमवि णो अच्चासएण, न वा [illegible], अच्चासन्ने ताव पादरेणुण आयरियसघट्टणदोसो भवइ, अइदूरे पडिणीय आसायणादि बहुले दोसा [illegible], [illegible] णातिदूरे य चकमितव्व।
(ग) हा० टी० प० २५० नीचा गतिमाचार्यगते, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुत यायादित्यर्थ।
५—(क) जि० चू० पृ० ३१५ तहा जमिवि ठाणे आयरिया उवचिट्ठा अच्छति तत्थ ज नीययर ठाण तमि [illegible]।
(ख) हा० टी० प० २५० नीच स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने [illegible]।
६—अ० चू० . ठाणमवि ज ण पक्खतो ण पुरतो एवमादि अविरुद्ध त णीत तहा कुज्जा।
७—(क) अ० चू० एव पीढफलगादिमवि आसण।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ तहा नीययरे पीढगाइमि आसणे आयरिअणुन्नाए उवविसेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २५० 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्

२७. (किच्चाणं ग) :

'कृत्य' का अर्थ वन्दनीय या पूजनीय है। आचार्य, उपाध्याय आदि वन्दनीय गुरुजन 'कृत्य' कहलाते हैं[१]। चूर्णियों में और वैकल्पिक रूप में टीका में 'किच्चाइ' पाठ माना है। उसका अर्थ है—आचार्य, उपाध्याय के द्वारा अभिलषित कार्य[२]।

श्लोक २० :

२८. काल (कालं क) :

'काल को जानकर'—इसका आशय यह है कि शिष्य आचार्य के लिए शरद् आदि ऋतुओं के अनुरूप भोजन, शयन, आसन आदि लाए[३]। जैसे—शरद् ऋतु में वात-पित्त हरने वाले द्रव्य, हेमन्त में ऊष्ण, वसन्त में श्लेष्म हरने वाले, ग्रीष्म में शीतकर और वर्षा में ऊष्ण आदि-आदि[४]।

२९. अभिप्राय (छंदं क) :

शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य की इच्छा को जाने। देशकाल के आधार पर इच्छाएँ भी विभिन्न होती हैं, जैसे—किसी को छाछ आदि, किसी को सत्तू आदि इष्ट होते हैं। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि की भिन्नता होती है, जैसे—कोकण देश वालों को पेया प्रिय होती है, उत्तरापथ वासियों को सत्तू आदि-आदि[५]।

३०. आराधन-विधि (उवयारं क) :

अगस्त्य चूर्णि में 'उवयार' का अर्थ आज्ञा[६], जिनदास चूर्णि में 'विधि[७]' और टीका में 'आराधना का प्रकार[८]' किया है।

श्लोक २१ :

३१. सम्पत्ति (संपत्ती ख) :

इसका अर्थ है सम्पदा[९]। अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ कार्य-लाभ[१०] और टीका में सम्प्राप्ति किया है[११]।

१—हा० टी० प० २५० 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनाम्।
२—(क) अ० चू० आयरिय करणीयाणि।
 (ख) जि० चू० पृ० ३१५ जाणि आयरियउवज्झायाईण किच्चाइ मणस्सइयाणि ताणि।
 (ग) हा० टी० प० २५० 'कृत्यानि वा' तदभिरुचितकार्याणि।
३—अ० चू० जधा काल जोग्ग भोजणसयणासणादि उवणेय।
४—जि० चू० पृ० ३१५-१६ तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमन्ते उण्हाणि, वसते हिंभरहाणि (सिंभहराणि), गिम्हे सीयकरणानि, वासासु उण्हवणाणि (उण्णवण), एव ताव उडु उडु पप्प गुरूण अट्ठाए दव्वाणि आहरिज्जा, तहा उडु पप्प सेज्जमवि आणेज्जा।
५—जि० चू० पृ० ३१६ छन्दो णाम इच्छा भण्णइ, कयाइ अणुदुप्पयोगमवि दव्व इच्छति, भणिय च—'अण्णस्स पिया छासी मासी अण्णस्स आसुरी किसरा। अण्णस्स वारिया पूरिया य बहुडोहलो लोगो॥' तहा कोई सत्तुए इच्छइ कोति एगरस इच्छइ, देस वा पप्प अण्णस्स पिय जहा कुडुक्काण कोंकणयाण पेज्जा, उत्तरापहगाण सत्तुया, एवमादि।
६—अ० चू० . उवयारो आणा कोति आणत्तिआए तूसति।
७—जि० चू० पृ० ३१६ 'उवयार' णाम विधी भण्णइ।
८—हा० टी० प० २५० 'उपचारम्' आराधनाप्रकारम्।
९—जि० चू० पृ० ३१६ अट्ठेहि विणीयस्स सपदा भवति।
१०—अ० चू० : सपत्ती कज्जलाभो।
११—हा० टी० प० २५१ सप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादि

२१ नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना कर (नीयं च पाए वंदेज्जा ग)

आचार्य आसन पर आसीन हों और शिष्य निम्न भूभाग में खड़ा हो फिर भी सीधा खड़ा-खड़ा वन्दना न करे, कुछ झुककर करे। शिर से चरण स्पर्श कर सके उतना झुककर वन्दना करे[1]।

२२ नीचा होकर अंजलि करे—हाथ जोड़े (नीयं कुज्जा य अंजलिं घ)

वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े, किन्तु कुछ झुककर वैसा करे[2]।

श्लोक १८

२३ श्लोक १८ :

आशातना होने पर क्षमा-याचना करने की विधि इस प्रकार है—शिर झुकाकर गुरु से कहे—मेरा अपराध हुआ है उसके लिए मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' का प्रायश्चित्त लेता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मैं फिर से इसे नहीं दोहराऊँगा[3]।

२४ (उवहिणामवि ख) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२५ किसी दूसरे प्रकार से (अवि ख)

यह अपि शब्द का भाषानुवाद है। यहाँ अपि संभावना के अर्थ में है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'समय से उत्पन्न वायु से' और जिनदास चूर्णि के अनुसार काया और उपधि—दोनों से एक साथ स्पर्श हो जाने पर यह 'अपि' का संभावित अर्थ है।

श्लोक १९

२६ पाठान्तर

उन्नीसवें श्लोक के पश्चात् कुछ आदर्शों में आलवंते यह श्लोक है। किन्तु चूर्णि और टीका में यह व्याख्यात नहीं है। उत्तराध्ययन (१।११) में यह श्लोक है। प्रकरण की दृष्टि से व्याख्या के रूप में प्रयुक्त होते-होते मूल में प्रक्षिप्त हो गया—ऐसा संभव है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१९ : जइ आयरिओ आसणे इतरो भूमिए नीयतरे भूमिप्पदेसे संठाओ उवट्ठिओ न वंदेज्जा किन्तु जाव सिरेण छिप्पे पादे ताव णीयं वंदेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २५५ : 'नीचं' च सम्यक्प्रणतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत नावज्ञया।

२—(क) जि० चू० पृ० ३१९ : तहा अंजलिमवि कुव्वमाणेण णो पहावंति उवट्ठिएण अंजली कायव्वा, किंतु ईसिणयपुव्वं कायव्वा।

(ख) हा० टी० प० २५५ : 'नीचं' नम्रकायं 'कुर्यात्' संपादयेदञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति।

३—जि० चू० पृ० ३१९ : सो य खामणो इमो—सिरं भूमीए निवाडेऊण एवं वएज्जा जहा—अवराहो मे मिच्छामि दुक्कडं [illegible] णाई पुणो करिहामित्ति।

४—अ० चू० : अविसद्देण [illegible] समय वाउणा वा।

५—जि० चू० पृ० ३१९ : अविसद्दो संभावणे किं संभावयति ? जहा दोहिवि कायोवहीहिं अवा अणंतरं घट्टिओ भवइ।

२७. (किच्चाणं ग) :

'कृत्य' का अर्थ वन्दनीय या पूजनीय है। आचार्य, उपाध्याय आदि वन्दनीय गुरुजन 'कृत्य' कहलाते हैं[१]। चूर्णियों में और वैकल्पिक रूप में टीका में 'किच्चाइ' पाठ माना है। उसका अर्थ है—आचार्य, उपाध्याय के द्वारा अभिलषित कार्य[२]।

श्लोक २० :

२८. काल (कालं क) :

'काल को जानकर'—इसका आशय यह है कि शिष्य आचार्य के लिए शरद् आदि ऋतुओं के अनुरूप भोजन, शयन, आसन आदि लाए[३]। जैसे—शरद्-ऋतु में वात-पित्त हरने वाले द्रव्य, हेमन्त में ऊष्ण, वसन्त में श्लेष्म हरने वाले, ग्रीष्म में शीतकर और वर्षा में ऊष्ण आदि-आदि[४]।

२९. अभिप्राय (छंदं क) :

शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य की इच्छा को जाने। देशकाल के आधार पर इच्छाएँ भी विभिन्न होती हैं, जैसे—किसी को छाछ आदि, किसी को सत्तू आदि इष्ट होते हैं। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि की भिन्नता होती है, जैसे—कौंकण देश वालों को पेया प्रिय होती है, उत्तरापथ वासियों को सत्तू आदि-आदि[५]।

३०. आराधन-विधि (उवयारं क) :

अगस्त्य चूर्णि में 'उवयार' का अर्थ आज्ञा[६], जिनदास चूर्णि में 'विधि[७]' और टीका में 'आराधना का प्रकार[८]' किया है।

श्लोक २१ :

३१. सम्पत्ति (सपत्ती ख) :

इसका अर्थ है सम्पदा[९]। अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ कार्य-लाभ[१०] और टीका में सम्प्राप्ति किया है[११]।

१—हा० टी० प० २५० 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनाम्।
२—(क) अ० चू० आयरिय करणीयाणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ जाणि आयरियउवज्झायाईण किच्चाइ मणस्इयाणि ताणि।
(ग) हा० टी० प० २५० 'कृत्यानि वा' तदभिरुचितकार्याणि।
३—अ० चू० जधा काल जोग्ग भोजणसयणासणादि उवणेय।
४—जि० चू० पृ० ३१५-१६ तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमन्ते उण्हाणि, वसते हिंभरहाणि (सिंभहराणि), गिम्हे सीयकरणानि, वासासु उण्हवण्णाणि (उण्णवण), एव ताव उडु उडु पप्प गुरूण अट्ठाए दव्वाणि आहरिज्जा, तहा उडु पप्प सेज्जमवि आणेज्जा।
५—जि० चू० पृ० ३१६ छन्दो णाम इच्छा भण्णइ, कयाइ अणुदुप्पयोगमवि दव्व इच्छति, भणिय च—'अण्णस्स पिया छासी मासी अण्णस्स आसुरी किसरा। अण्णस्स घारिया पूरिया य वहुडोहलो लोगो॥' तहा कोई सत्तुए इच्छइ कोति एगरस इच्छइ, देस वा पप्प अण्णस्स पिय जहा कुदुक्काण कोंकणयाण पेज्जा, उत्तरापहगाण सत्तुया, एवमादि।
६—अ० चू० उवयारो आणा कोति आणत्तिआए तूसति।
७—जि० चू० पृ० ३१६ 'उवयार' णाम विधी भण्णइ।
८—हा० टी० प० २५० 'उपचारम्' आराधनाप्रकारम्।
९—जि० चू० पृ० ३१६ अट्ठेहि विणीयस्स सपदा भवति।
१०—अ० चू० सपत्ती कज्जलाभो।
११—हा० टी० प० २५१ सप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानाम्।

२१ नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे (नीयं च पाए वंदेज्जा ग)

आचार्य आसन पर आसीन हों और शिष्य निम्न भूभाग में खड़ा हो फिर भी सीधा खड़ा-खड़ा वन्दना न करे कुछ झुककर करे। शिर न चरण स्पर्श कर सके उतना झुककर वन्दना करे[1]।

२२ नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े (नीयं कुज्जा य अञ्जलिं घ)

वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े किन्तु कुछ झुककर वैसा करे[2]।

श्लोक १८

२३ श्लोक १८ :

आशातना होने पर क्षमा-याचना करने की विधि इस प्रकार है—शिर झुकाकर गुरु से कहे—'मेरा अपराध हुआ है उसके लिए मैं "मिच्छामि दुक्कडं" का प्रायश्चित्त लेता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मैं फिर से इसे नहीं दोहराऊँगा[3]।

२४ (उवहिणामवि ख) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२५ किसी दूसरे प्रकार से (अवि ख)

यह अपि शब्द का भावानुवाद है। यहाँ अपि संभावना के अर्थ में है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गमन से उत्पन्न वायु से' और जिनदास चूर्णि के अनुसार 'काया और उपधि—दोनों से एक साथ स्पर्श हो जाने पर' यह 'अपि' का संभावित अर्थ है[5]।

श्लोक १९

२६ पाठान्तर

उन्नीसवें श्लोक के पश्चात् कुछ आदर्शों में 'आसणे ... ' यह श्लोक है। किन्तु चूर्णि और टीका में यह व्याख्यात नहीं है। उत्तराध्ययन (१।२१) में यह श्लोक है। प्रकरण की दृष्टि से व्याख्या के रूप में उद्धृत होते-होते मूल में प्रविष्ट हो गया—ऐसा संभव है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : जइ आयरिओ आसणे ठिओ भूमिए सीसो भूमिप्पदेसे संपत्तो उद्धट्ठिओ न वंदिज्जा किन्तु जाव सिरेण फुसइ पादे ताव सीसं वंदिज्जा।

(ख) हा० टी० प० २४५ : 'नीचं' च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत नावज्ञया।

२—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा अंजलिमवि कुव्वमाणेण णो उद्धट्ठिएण अंजली कायव्वा किंतु ईसिओणएण कायव्वा।

(ख) हा० टी० प० २४५ : 'नीचं नम्रकायं 'कुर्यात्' संपादयेदञ्जलिम्, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति।

३—जि० चू० पृ० ३१५ : सो य एवमाह खमो—सिरं भूमीए णिवाएऊण एवं वएज्जा जहा—अवराहो मे मिच्छामि दुक्कडं न पुणो करिस्सामित्ति।

४—अ० चू० : अविसद्देण गमणसमुत्थेण वाउणा वा।

५—जि० चू० पृ० ३१५ : अविसद्दो संभावणे, कहं ? जहा दोहिँवि कायोवहीहिं समगमेव संघट्टिओ भवइ।

श्लोक २३ :

३६. जो गीतार्थ हैं (सुयत्थधम्मा ख) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ गीतार्थ किया है और इसकी व्युत्पत्ति 'जिसने अर्थ और धर्म सुना है' की है[1]। जिनदास चूर्णि में भी इसकी दो व्युत्पत्तियाँ (जिसने अर्थ धर्म सुना है अथवा धर्म का अर्थ सुना है) मिलती हैं[2]। टीकाकार दूसरे व्युत्पत्तिक अर्थ को मानते हैं[3]।

१—(क) अ० चू० सुतो अत्थो धम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा ।

२—जि० चू० पृ० ३१७ सुयोऽत्थधम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा, गीयत्थित्ति वुत्त भवइ, अहवा सुओ अत्थो धम्मस्स जेहिं ते सुतत्थधम्मा ।

३—हा० टी० प० २५१ 'श्रुतार्थधर्मा' इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः ।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(तइओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(तृतीय उद्देशक)

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (तइओ उद्देसो) : विनय-समाधि (तृतीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा। आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥	आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात्। आलोकितं इङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥१॥	१—जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इङ्गित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है[1], वह पूज्य है।
२—आयारमट्ठा विणय पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं। जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥	आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत, शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम्। यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥२॥	२—जो आचार के लिए[2] विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नही करता, वह पूज्य है।
३—राइणिएसु विणय पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा। नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥	रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, डहरा अपि ये पर्यायज्येष्ठा। नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥३॥	३—जो अल्पवयस्क[3] होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ[4] हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहने वाला है[5] और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।
४—अन्नायउंछं चरई विसुद्धं जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं। अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा ॥ लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥	अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम्। अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥४॥	४—जो जीवन-यापन के लिए[6] अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ (भिक्षा) की[7] सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर विलखा नहीं होता[8], मिलने पर श्लाघा नहीं करता[9], वह पूज्य है।
५—संथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते। जो एवमप्पाणभितोसएज्जा संतोसपाहन्न रए स पुज्जो ॥	संस्तार-शय्यासन-भक्तपाने, अल्पेच्छताऽतिलाभेपि सति। य एवमात्मानमभितोपयेत्, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्य. ॥५॥	५—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता[10], जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है, जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (तइओ उद्देसो) : विनय-समाधि (तृतीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा। आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥	आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात्। आलोकितं इङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥१॥	१—जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इङ्गित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है[1], वह पूज्य है।
२—आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं। जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥	आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत, शुश्रूषमाण परिगृह्य वाक्यम्। यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्य ॥२॥	२—जो आचार के लिए[2] विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नही करता, वह पूज्य है।
३—राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा। नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्करे स पुज्जो ॥	रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, डहरा अपि ये पर्यायज्येष्ठा। नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥३॥	३—जो अल्पवयस्क[3] होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ[4] हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहने वाला है[5] और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।
४—अन्नायउंछं चरई विसुद्धं जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं। अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा ॥ लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥	अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम्। अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥४॥	४—जो जीवन-यापन के लिए[6] अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ (भिक्षा) की[7] सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर बिलखा नहीं होता[8], मिलने पर श्लाघा नही करता[9], वह पूज्य है।
५—संथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते। जो एवमप्पाणभितोसएज्जा संतोसपाहन्न रए स पुज्जो ॥	संस्तार-शय्यासन-भक्तपाने, अल्पेच्छताऽतिलाभेपि सति। य एवमात्मानमभितोषयेत्, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्य. ॥५॥	५—सस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नही लेता[10], जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है, जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है।

६—सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥

शक्याः सोढुमाशया कण्टकाः,
अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः॥६॥

६—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय काँटों को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए[११] वचनरूपी काँटों को सहन करता है वह पूज्य है।

७—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः।
वाग्-दुरुक्तानि दुरुद्धराणि
वैरानुबन्धीनि महाभयानि॥७॥

७—लोहमय काँटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं[१] किन्तु दुर्वचनरूपी काँटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले[१] और महाभयानक होते हैं।

८—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः,
कर्णगता दौर्मनस्यं जनयन्ति।
धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरः
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः॥८॥

८—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'इन्हें सहन करना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हें सहन करता है वह पूज्य है।

९—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो॥

अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः॥९॥

९—जो पीठ से अवर्णवाद नहीं बोलता जो सामने विरोधी[११] वचन नहीं कहता जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता वह पूज्य है।

१०—अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः।
नो भावयेत् नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः॥१०॥

१०—जो रसलोलुप नहीं होता जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता जो माया नहीं करता जो चुगली नहीं करता जो दीनभाव से याचना नहीं करता जो दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता जो स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता जो कुतूहल नहीं करता[११] वह पूज्य है।

११—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः
गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधून्।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः॥११॥

११—गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधुओं के गुणों को ग्रहण कर और असाधुओं के गुणों को छोड़[२०]। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है वह पूज्य है।

१२—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइय गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

तथैव डहरं च 'महान्तं' वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्,
स्तम्भञ्च क्रोधञ्च त्यजेत् स पूज्य ॥१२॥

१२—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नही करता, उनकी निन्दा नही करता[२५], जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है ।

१३—[२६]जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए[२७] स पुज्जो ॥

ये मानिता सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान्मानयेन्मानार्हांस्तपस्विनः,
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्य ॥१३॥

१३—अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यो को सतत सम्मानित करते है—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते है, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते है, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है ।

१४—तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

तेषा गुरूणा गुणसागराणा,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः,
अपगत-चतुष्कषाय स पूज्यः ॥१४॥

१४—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त[२८] तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है[२९], वह पूज्य है ।

१५—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥
त्ति बेमि ।

गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनि,
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशल ।
धूत्वा रजोमलं पुरा कृतं,
भास्वरामतुलां गतिं गत ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

१५—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर[३०], जिनमत-निपुण[३१] (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल[३२] मुनि पहले किए हुए रज और मल को[३३] कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

६—"सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥

शक्याः सोढुमाशया कण्टकाः
अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥६॥

६—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए वचनरूपी कांटों को सहन करता है वह पूज्य है।

७—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः।
वाग्-दुरुक्तानि दुरुद्धराणि
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥७॥

७—लोहमय कांटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचनरूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले[1] और महाभयानक होते हैं।

८—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः
कर्णगता दौर्मनस्यं जनयन्ति।
धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरः
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥८॥

८—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'इन्हें सहन करना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हें सहन करता है वह पूज्य है।

९—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो॥

अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥९॥

९—जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता वह पूज्य है।

१०—अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी,
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः।
नो भावयेत् नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥१०॥

१०—जो रसलोलुप नहीं होता जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता जो माया नहीं करता जो चुगली नहीं करता जो दीनभाव से याचना नहीं करता जो दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता जो स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता जो कुतूहल नहीं करता वह पूज्य है।

११—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः
गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधून्।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः ॥११॥

११—गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधुओं के गुणों को ग्रहण कर और असाधुओं के गुणों को छोड़। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है वह पूज्य है।

१२—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

तथैव डहरं च 'महान्तं' वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्,
स्तम्भश्च क्रोधश्च त्यजेत् स पूज्यः ॥१२॥

१२—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता[२५], जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है।

१३—[२६]जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए[२७] स पुज्जो ॥

ये मानिता सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान्मानयेन्मानार्हांस्तपस्विनः,
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्यः ॥१३॥

१३—अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यो को सतत सम्मानित करते है—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते है, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्न-पूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते है, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

१४—तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनि पञ्चरतस्त्रिगुप्तः,
अपगत-चतुष्कषायः स पूज्यः ॥१४॥

१४—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओ के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त[२८] तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है[२९], वह पूज्य है।

१५—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥
त्ति बेमि ।

गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः,
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ।
धूत्वा रजोमलं पुरा कृतं,
भास्वरामतुलां गतिं गतः ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

१५—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर[३०], जिनमत-निपुण[३१] (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल[३२] मुनि पहले किए हुए रज और मल को[३३] कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

६—सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥

शक्याः सोढुमाशया कण्टकाः
अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥६॥

६—पुरुष धन आदि की आशा से लोह-मय काँटों को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए वचनरूपी काँटों को सहन करता है वह पूज्य है।

७—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

मुहूर्त्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टका
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः।
वाग्दुरुक्तानि दुरुद्धराणि
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥७॥

७—लोहमय काँटे अल्पकाल तक दुःख-दायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं, किन्तु दुर्वचनरूपी काँटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं।

८—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः
कर्णगता दौर्मनस्यं जनयन्ति।
धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरः,
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥८॥

८—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'इन्हें सहन करना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हें सहन करता है वह पूज्य है।

९—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो॥

अवर्णवादञ्च पराङ्मुखस्य
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकाञ्च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीञ्च
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥९॥

९—जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता वह पूज्य है।

१०—अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः।
नो भावयेत् नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥१०॥

१०—जो रसलोलुप नहीं होता जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता जो माया नहीं करता जो चुगली नहीं करता जो दीनभाव से याचना नहीं करता जो दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता जो स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता जो कुतूहल नहीं करता वह पूज्य है।

११—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः
गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधून्।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन,
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः ॥११॥

११—गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधु के गुणों को ग्रहण कर और असाधुओं के गुणों को छोड़। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है वह पूज्य है।

४. दीक्षा-काल में ज्येष्ठ (परियायजेट्ठा[ख]) :

ज्येष्ठ या स्थविर तीन प्रकार के होते हैं :

(१) जाति-स्थविर—जो जन्म से ज्येष्ठ होते हैं।

(२) श्रुत-स्थविर—जो ज्ञान से ज्येष्ठ होते हैं।

(३) पर्याय-स्थविर—जो दीक्षा-काल से ज्येष्ठ होते हैं।

यहाँ इन तीनों में से 'पर्याय ज्येष्ठ' की विशेषता बतलाई गई है[1]। जो जाति और श्रुत से ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो उसके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए।

५. जो गुरु के समीप रहने वाला है (ओवायवं [घ]) :

आगम-टीकाओं में 'ओवाय' के संस्कृत रूप 'उपपात और अवपात' दोनों दिए जाते हैं। उपपात का अर्थ है समीप व आज्ञा और अवपात का अर्थ है वन्दन, सेवा आदि। अगस्त्य चूर्णि में 'ओवायव' का अर्थ 'आचार्य का आज्ञाकारी' किया है[2]। जिनदास चूर्णि में भी 'ओवाय' का अर्थ आज्ञा—निर्देश किया है[3]। टीकाकार ने 'ओवायव' के दो अर्थ किए हैं—वन्दनशील या समीपवर्ती[4]। 'अव' को 'ओ' होता है परन्तु 'उप' को प्राकृत व्याकरण में 'ओ' नहीं होता। आर्ष प्रयोगों में 'उप' को 'ओ' किया जाता है, जैसे—उपवास=ओवास (पउमचरिय ४२, ८६)।

वन्दनशील के अतिरिक्त 'समीपवर्ती या आज्ञाकारी' अर्थ 'उपपात' शब्द को ध्यान में रखकर ही किए गए हैं। 'ओवायव' से अगला शब्द 'वक्ककर' है। इसका अर्थ है—गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला[5]। इसलिए 'ओवायव' का अर्थ 'वन्दनशील' और 'समीपवर्ती' अधिक उपयुक्त है। जिनदास महत्तर ने 'आज्ञायुक्त वचन करने वाला'—इस प्रकार संयुक्त अर्थ किया है। परन्तु 'ओवायव' शब्द स्वतन्त्र है, इसलिए उसका अर्थ स्वतंत्र किया जाए यह अधिक संगत है।

श्लोक ४ :

६. जीवन-यापन के लिए (जवणट्ठया [ख]) :

संयम-भार को वहन करने वाले शरीर को धारण करने के लिए—यह अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार की व्याख्या है[6]। जिनदास महत्तर इसी व्याख्या को कुछ और स्पष्ट करते हैं, जैसे—यात्रा के लिए गाड़ी के पहिए में तेल चुपड़ा जाता है, वैसे ही संयम-यात्रा को निभाने के लिए भोजन करना चाहिए[7]।

१—अ० चू० जातिसुत थेर भूमीहितो परियागथेरे भूमि मुक्करिस्सतेहिं विसेसिज्जति डहरावि जो वयसा परियायं जेट्ठा पव्वज्जा महेल्ला।

२—अ० चू० आयरिअ आणाकारी ओवायव।

३—जि० चू० पृ० ३१६ उवातो नाम आणानिद्देसो।

४—हा० टी० प० २५३ 'अवपातवान्' वन्दनशीलो निकटवर्त्ती वा।

५—हा० टी० प० २५३ 'वाक्यकरो' गुरुनिर्देशकरणशील'।

६—(क) अ० चू० संजम भारुव्वह सरीरधारणत्थ जवणट्ठता।

(ख) हा० टी० प० २५३ 'यापनार्थं' संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा।

७—जि० चू० पृ० ३१६ 'जवणट्ठया' णाम जहा सगडस्स अब्भंगो जत्तत्थ कीरइ, तहा संजमजत्तानिव्वहणत्थ आहारेयव्वति।

टिप्पणियाँ अध्ययन ६ (तृतीय उद्देशक)

श्लोक १

१ अभिप्राय की आराधना करता है (छन्दमाराहयइ ग)

छन्द का अर्थ है इच्छा। विनीत शिष्य केवल गुरु का कहा हुआ काम ही नहीं किन्तु उनके निरीक्षण और इंगित को समझ कर स्वयं समयोचित कार्य कर लेता है। शीतकाल की ऋतु है। आचार्य ने वस्त्र की ओर देखा। शिष्य समझ गया। आचार्य को शीत लग रहा है वस्त्र की आवश्यकता है। उसने वस्त्र लिया और आचार्य को दे दिया—यह आलोकित[1] को समझ कर छन्द की आराधना का प्रकार है।

आचार्य को कफ का प्रकोप हो रहा है। औषध की अपेक्षा है। उन्होंने कुछ भी नहीं कहा फिर भी शिष्य उनका इङ्गित—मन का भाव बताने वाली अङ्ग चेष्टा देखकर सूंठ ला देता है। यह इङ्गित के द्वारा छन्द की आराधना का प्रकार है[2]। आलोकित और इङ्गित से जैसे अभिप्राय जाना जाता है वैसे और-और साधनों से भी जाना जा सकता है। कहा भी है

इङ्गिताकारितैश्चैव क्रियाभिर्भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ अ० चू०॥

इङ्गित आकार, क्रिया भाषण नेत्र और मुँह का विकार—इनके द्वारा आन्तरिक चेष्टाएँ जानी जाती हैं।

श्लोक २

२ आचार के लिए (आयारमट्ठा क)

ज्ञान दर्शन तप चारित्र और वीर्य—ये पाँच आचार कहलाते हैं। विनय इन्हीं की प्राप्ति के लिए करना चाहिए[3]। यह परमार्थ का उपदेश है। ऐहिक या पारलौकिक पूजा प्रतिष्ठा आदि के लिए विनय करना परमार्थ नहीं है।

श्लोक ३

३ अल्पवयस्क (डहरा ग)

'डहर' और 'दहर' एक ही शब्द है। वेदान्तसूत्र में 'दहर' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ छोटा है (इसके लिए १.३.१४ से १.३.२१ तक का प्रकरण द्रष्टव्य है)। छान्दोग्य उपनिषद् में भी 'दहर' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]।

शाङ्करभाष्य के अनुसार उसका अर्थ अल्प—लघु है[5]।

१—हा० टी० प० २४९ : यथा शीतं पतति प्रावरणमालोकते तदानयने।

२—हा० टी० प० २४९ : इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्यानयनेन।

३—जि० चू० पृ० ३१८ : दंसणचरित्तादि आयारहेतुं साधु आयरियस्स विणयं पउंजेज्जा।

४—छान्दो० ८.१.१ : अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

५—वही, शा० भा० : दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं वेश्मेव वेश्म द्वारपालादिमत्त्वात्। 'दहर' अर्थात् थोड़ा-सा कमल-सदृश घर है—द्वारपालादि से युक्त होने के कारण जो घर के समान घर है।

श्लोक ५ :

१०. जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता (अप्पिच्छया ख) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[1] ।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है—यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के कांटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[2] ।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए बाण जैसे तीखे'[3] । जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है[4] ।

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ख) :

जो विना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[5] ।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि घ) :

अनुबन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटुवाणी से वैर आगे से आगे बढ़ता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[6] ।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२० अप्पिच्छया णाम णो मुच्छं करेइ, ण वा अत्तिरित्ताण गिण्हइ।

(ख) हा० टी० प २५३ 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितु मरिसेतु, लाभो आसा, ताए कटगा बब्बूल पभीतीण अधा केति तित्थादित्थाणेछ लोभेण अवस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितित्ति कटक सयण मा जहा तताए धणासाए सक्का सहितु वधा अतो मतावपहरण विसेसा सगामादिछ सामियाण पुरतो धणासाए चेव।

(ख) जि० चू० पृ० ३२० जहा कोयि लोहमयकटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छहमाणा ण परामियोगेण तेसि लोहकटगाण उवरिं णुविज्जति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्थहेउ इम आवइ पतत्ति भन्नति जहा उट्ठेह उट्ठेहति, ज मग्गह त भे पयच्छामो, तओ तिक्खकटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति।

३—अ० चू० कयण सरति पावति कण्णसरा अथवा सरीरस्स दुस्सह मायुध सरो तहा ते कण्णस्स एव कण्णसरा।

४—(क) जि० चू० पृ० ३१६ कन्न सरतीति कन्नसरा, कन्न पविसतीति वुत्त भवइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ 'कर्णसरान्' कर्णगामिन ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० छह च उद्धरिज्जति, वणपरिकम्मणादीहि य उवाएहि रुज्झविज्जति।

(ख) हा० टी० प० २५३ 'सूद्धरा' छखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते।

६—हा० टी० प० २५३ तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति।

७ अपना परिचय न देते हुए उञ्छ (भिक्षा) की (अन्नायउञ्छं क) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अज्ञात' और 'उञ्छ' की व्याख्याएँ भिन्न भिन्न स्थलों में इस प्रकार की हैं—जो भिक्षु स्वजन आदि न हो वह 'अज्ञात' कहलाता है[१]। पूर्व-संस्तव—मातृ पितृपक्षीय परिचय और पश्चात्-संस्तव—श्वसुरपक्षीय परिचय के बिना प्राप्त भैक्ष 'अज्ञात-उञ्छ' कहलाता है[२]। उद्गम उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित जो भैक्ष उपलब्ध हो वह 'अज्ञात-उञ्छ' है[३]। अज्ञात उञ्छ' की ८.२३ में भी यही व्याख्या है[४]। उक्त व्याख्याओं के आधार पर 'अज्ञात उञ्छ' के फलितार्थ दो हैं :

१ अज्ञात घर का उञ्छ।

२ अज्ञात—अपना परिचय दिए बिना प्राप्त उञ्छ।

जिनदास महत्तर के अनुसार भी 'अज्ञात उञ्छ' के ये दोनों अर्थ फलित होते हैं[५]। टीकाकार 'अज्ञात' को केवल मुनि का ही विशेषण मानते हैं[६]। शीलाङ्काचार्य ने 'अज्ञातपिण्ड' का अर्थ अन्त-प्रान्त और पूर्वापर अपरिचितों का पिण्ड किया है[७]। उत्तराध्ययन की वृत्ति में 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने विशेष गुणों का परिचय न देकर गवेषणा करने वाला किया है[८]। प्रश्नव्याकरण में शुद्ध उञ्छ की गवेषणा के प्रकरण में 'अज्ञात' शब्द भिक्षु के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है[९]। यहाँ 'अज्ञात' मुनि का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि मुनि अपना परिचय दिए बिना शुद्ध उञ्छ की गवेषणा करे।

अनुसन्धान के लिए देखिए दशवैकालिक ८.२३।

८ खिन्न न होता (परिदेवएज्जा ग)

भिक्षा न मिलने पर खिन्न होना—"मैं मन्दभाग्य हूँ यह देश अच्छा नहीं है"—इस प्रकार विलाप या खेद करना[१०]।

६ श्लाघा करता (विकत्थयई घ)

भिक्षा मिलने पर "मैं भाग्यशाली हूँ या यह देश अच्छा है"—इस प्रकार श्लाघा करना[११]।

१—अ० चू० ९.३.४ : अन्नातं जं न सिज्जायगादि।

२—अ० चू० चूलिका २.५ : तमेव समुदाणं पुव्वपच्छा संथवादीहिं न उप्पादियमिति ... अन्नातउंछं।

३—अ० चू० १०.१६ : 'उग्गमुप्पायणेसणा सुद्धं अन्नायमन्नायेण समुप्पादितं' ... अन्नातउंछं।

४—अ० चू० : भावुंछं 'अन्नातमेसणा सुद्धमुप्पादितं'।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : भावुंछं अन्नातेण उवणायं उंछं चरति।

६—हा० टी० प० २५३ : 'अज्ञातोञ्छं' परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं पुलाकाद्युद्धृतादि।

७—सूत्र० १.७.२७ वृ० : अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातपिण्डः।

८—उत्त० १५.१ बृ० वृ० : अज्ञातः तपस्वित्वादिभिर्गुणैरनवगतः एषते ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी।

९—प्रश्न० संवरद्वार १.५ : अन्नाते आहारएसणाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अन्नाए अकहिए असिट्ठे अबुद्धेमाणे ....।

१०—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : परिदेवणा नाम अहं मंदभग्गो न लभामि अहो देसो एस अधन्नो एवमादि।

(ख) हा० टी० प० २५३ : परिदेवेत खेदं यायात्, यथा—मन्दभाग्योऽहमशोभनो वायं देश इति।

११—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : तत्थ विकत्थणा नाम सलाघा भण्णति, जहा अहो पुण्णो सम्मं हियमाणो अहो बहुयं वा अहं लभामि को अन्नो एवं लभिहिति।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'विकत्थते' श्लाघां करोति—सपुण्योऽहं शोभनो वायं देश इति।

श्लोक ५ :

१०. जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता (अप्पिच्छया ख) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[1] ।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है—यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के कांटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[2] ।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए बाण जैसे तीखे'[3] । जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है[4] ।

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ख) :

जो बिना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[5] ।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि घ) :

अनुबन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटुवाणी से वैर आगे से आगे बढता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[6] ।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२० अप्पिच्छया णाम णो मुच्छ करेइ, ण वा अत्तिरित्ताण गिण्हइ ।
(ख) हा० टी० प २५३ 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहण वा ।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितु मरिसेतु, लाभो आसा, ताए कटगा वब्बूल पमीतीण जधा केति तित्थादित्थाणेछ लोभेण अवस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितितित्ति कटक सयण मा जहा तताए धणासाए सक्का सहितु तधा अतो मतावपहरण विसेसा सगामादिछ सामियाण पुरतो धणासाए चेव ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२० जहा कोयि लोहमयकटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छहमाणा ण पराभियोगेण तेसि लोहकटगाण उवरि णुविज्जति, ते य अयणे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्यहेउ इम आवइ पतत्ति भन्नति जहा उट्ठेह उट्ठेहति, ज मग्गह त भे पयच्छामो, तओ तिक्खकटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति ।

३—अ० चू० कण्ण सरति पावति कण्णसरा अधवा सरीरस्स दु स्सह मायुध सरो तहा ते कण्णस्स एव कण्णसरा ।

४—(क) जि० चू० पृ० ३१६ कन्न सरतीति कन्नसरा, कन्न पविसतीति वुत्त भवइ ।
(ख) हा० टी० प० २५३ 'कर्णसरान्' कर्णगामिन ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० छह च उद्धरिज्जति, वणपरिकम्मणादीहि य उवाएहि रुज्झविज्जति ।
(ख) हा० टी० प० २५३ 'सूद्धरा' सुखेनैवोद्धियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते ।

६—हा० टी० प० २५३ तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैर[illegible]ीनि भवन्ति ।

७ अपना परिचय न देते हुए उञ्छ (भिक्षा) की (अन्नायउञ्छं क):

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अज्ञात' और 'उञ्छ' की व्याख्याएँ भिन्न भिन्न स्थलों में इस प्रकार की हैं—जो मित्र स्वजन आदि न हो वह 'अज्ञात' कहलाता है[1]। पूर्व-संस्तव—मातृ पितृपक्षीय परिचय और पश्चात्-संस्तव—श्वसुरपक्षीय परिचय के बिना प्राप्त भैक्ष 'अज्ञात-उञ्छ' कहलाता है[2]। उद्गम उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित जो भैक्ष उपलब्ध हो वह अज्ञात-उञ्छ है[3]। 'अज्ञात उञ्छ' की ८.२३ में भी यही व्याख्या है[4]। उक्त व्याख्याओं के आधार पर 'अज्ञात-उञ्छ' के फलितार्थ दो हैं:

१ अज्ञात घर का उञ्छ।

२ अज्ञात—अपना परिचय दिए बिना प्राप्त उञ्छ।

जिनदास महत्तर के अनुसार भी 'अज्ञात उञ्छ' के ये दोनों अर्थ फलित होते हैं[5]। टीकाकार 'अज्ञात' को केवल मुनि का ही विशेषण मानते हैं[6]। शीलांकाचार्य ने 'अज्ञातपिण्ड' का अर्थ अन्त-प्रान्त और पूर्वापर अपरिचितों का पिण्ड किया है[7]। उत्तराध्ययन की वृत्ति में 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने विशेष गुणों का परिचय न देकर गवेषणा करने वाला किया है[8]। प्रश्नव्याकरण में शुद्ध उञ्छ की गवेषणा के प्रकरण में 'अज्ञात' शब्द भिक्षु के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है[9]। यहाँ 'अज्ञात' मुनि का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि मुनि अपना परिचय दिए बिना शुद्ध उञ्छ की गवेषणा करे।

अनुसन्धान के लिए देखिए दशवैकालिक ८.२३।

८ खिन्न होना (परिदेवएज्जा ग)

भिक्षा न मिलने पर खिन्न होना—"मैं मन्दभाग्य हूँ यह देश अच्छा नहीं है"—इस प्रकार विलाप या खेद करना[10]।

९ श्लाघा करना (विकत्थयई ग)

भिक्षा मिलने पर "मैं भाग्यशाली हूँ या यह देश अच्छा है"—इस प्रकार श्लाघा करना[11]।

१—अ चू० ६.३.४ : अज्ञातं जं ण मित्तसयणादि।
२—अ चू चूलिका २.५ : तमेव समुदाणं पुव्वपच्छा संथवादीहि ण उप्पादितमिति ... अण्णातउंछं।
३—अ चू १ ११ : 'उग्गमुप्पायणेसणा सुद्धं अण्णातमण्णातेण समुप्पादितं' ... अण्णातउंछं।
४—अ चू : भावुंछं 'अण्णातमेसणा सुद्धमुप्पादितं'।
५—जि चू पृ ३११ : भावुंछं अन्नातेण समुप्पायं तं चरति।
६—हा टी प २५१ : 'अज्ञातोञ्छं' परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि।
७—सूत्र १.७.२७ वृ : अज्ञातपिण्डेन अज्ञातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा—पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा भिक्षोऽज्ञातपिण्डः।
८—उत्त १५.१ बृ वृ० : अज्ञातः तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत एवमेव ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी।
९—प्रश्न संवरद्वार १.५ : अन्नायं आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अन्नाए अकहिए असिट्ठे......।
१०—(क) जि चू पृ ३११ : परिदेवणं णाम अहं मंदभागो ण लभामि अहो पंतो एस देसो एवमादि।
(ख) हा टी प २५१ : परिदेवयेत् खेदं यायात्, यथा—मन्दभाग्योऽहमशोभनो वाऽयं देश इति।
११—(क) जि चू पृ ३११ : तत्थ विकत्थणा णाम सलाघा भण्णति जहा अहो एसो लद्धिसंपण्णो अहो ... अहं वा एवं लभामि को अन्नो एवं लभिहिति।
(ख) हा टी प २५१ : 'विकत्थते' श्लाघां करोति—सपुण्योऽहं शोभनो वाऽयं देश इति।

श्लोक ५ :

१०. जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता (अप्पिच्छया ख) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[1]।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है—यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के काटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[2]।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए वाण जैसे तीखे'[3]। जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है[4]।

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ख) :

जो विना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[5]।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि घ) :

अनुवन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटुवाणी से वैर आगे से आगे बढ़ता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२० अप्पिच्छया णाम णो मुच्छ करेइ, ण वा अत्तिरित्ताण गिण्हइ।
(ख) हा० टी० प २५३ 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहण वा।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितु मरिसेतु, लाभो आसा, ताए कटगा वब्बूल पभीतीण जधा केति तित्थादित्थाणेछ लोभेण अवस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितित्ति कटक सयण मा जहा तताए धणासाए सक्का सहितु तधा अतो मताविपहरण विसेसा सगामादिछ सामियाण पुरतो धणासाए चेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२० जहा कोयि लोहमयकटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छहमाणा ण परामियोगेण तेसि लोहकटगाण उवरि णुविज्जति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्थहेउ इम आवइ पतत्ति भन्नति जहा उट्ठेह उट्ठेहवि, ज मग्गह त भे पयच्छामो, तओ तिक्खकटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति।

३—अ० चू० कण्ण सरति पावति कण्णसरा अधवा सरीरस्स दु'स्सह मायुध सरो तहा ते कण्णस्स एव कण्णसरा।

४—(क) जि० चू० पृ० ३१६ कन्न सरतीति कन्नसरा, कन्न पविसतीति वुत्त भवइ।
(ख) हा० टी० प० २५३ 'कर्णसरान्' कर्णगामिन।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० छह च उद्धरिज्जति, वणपरिकम्मणादीहि य उवाएहि रुज्भविज्जति।
(ख) हा० टी० प० २५३ 'सूद्धरा' सुखेनैवोद्धियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते।

६—हा० टी० प० २५३ तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति।

श्लोक ८

१५ जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी (परमग्गसूरे ग) :

स्थानाङ्ग सूत्र (४।३।३१७) में चार प्रकार के शूर बतलाए हैं :

(१) युद्ध शूर (२) तपस्या शूर, (३) दान-शूर और (४) धर्म-शूर ।

इन सब में धर्म-शूर (धार्मिक श्रद्धा से कष्टों को सहन करने वाला) परमाग्र शूर होता है[1] । अग्र का एक अर्थ लक्ष्य भी है[2] । परम (मोक्ष) के लक्ष्य में जो शूर होता है वह 'परमाग्र-शूर' कहलाता है ।

श्लोक ९

१६ विरोधी (पडिणीय ख) :

प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी अपमानजनक या आपत्तिजनक[3] ।

१७ निश्चयकारिणी (ओहारिणिं ग) :

देखिए ७.५४ की टिप्पणी संख्या ८८ पृष्ठ ३६८ ।

श्लोक १०

१८ जो रसलोलुप नहीं होता (अलोलुए क) :

इसका अर्थ है— आहार आदि में लुब्ध न होने वाला[4]—स्वदेह में अप्रतिबद्ध रहने वाला ।

१९ (अक्कुहए क) :

देखिए १.२ की 'कुहक' शब्द की टिप्पणी ।

२० जो चुगली नहीं करता (अपिसुणे क) :

अपिशुन अर्थात् मिले हुए मनों को न फाड़ने वाला चुगली न करने वाला[5] ।

१—(क) जि० चू० पृ० ३११ : परमग्गसूरे नाम जुद्धसूर-तवसूर दाणसूरादीणं सूराणं सो धम्मसद्धाए सहमाणो परमग्गसूरो भवइ, एवसूराणं पाहण्णयाए उवरि वट्टति इत्ति भवति ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'परमाग्रशूरो' दानसंग्रामशूरापेक्षया ——— ।

२—Sanskrit English Dictionary P. 6.

३—हा० टी० प० २५३ : 'प्रत्यनीकाम्' अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिकाम् ।

४—(क) अ० चू० : आहारादिसु अपडिबद्धे अलोलुए ।

(ख) जि० चू० पृ० ३११ : अलोलो नाम आहारादिसु अलुद्धो ।

(ग) हा० टी० प० २५३ : 'अलोलुप' आहारादिष्वलुब्धः ।

५—(क) अ० चू० : अपेसुण्णए ।

(ख) जि० चू० पृ० ३११ ।

(ग) हा० टी० प० २५३ ।

२१. जो दीन-भाव से याचना नहीं करता (अदीणवित्ती ख) :

अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की अप्राप्ति होने पर जो दीन न हो, जो दीन-भाव से याचना न करे, उसे अदीन-वृत्ति कहा जाता है[१]।

२२. जो दूसरों से आत्म-श्लाघा......करवाता (भावए ग) :

'भाव' धातु का अर्थ है—वासित करना, चिन्तन करना, पर्यालोचन करना। 'नो भावए नो वि य भावियप्पा'—इसका शाब्दिक अर्थ है—न दूसरों को अकुशल भावना से भावित—वासित करे और न स्वय अकुशल भावना से भावित हो। 'जो दूसरों से आत्म-श्लाघा नहीं करवाता और जो स्वय भी आत्म-श्लाघा नहीं करता'—यह इसका उदाहरणात्मक भावानुवाद है[२]।

'भावितात्मा' मुनि का एक विशेषण भी है। जिसकी आत्मा धर्म-भावना से भावित होती है, उसे 'भावितात्मा' कहा जाता है। यहाँ भावित का अभिप्राय दूसरा है। प्रकारान्तर से इस चरण का अर्थ—नो भापयेद् नो अपि च भापितात्मा—न दूसरों को डराए और न स्वय दूसरों से डरे—भी किया जा सकता है।

२३. जो कुतूहल नहीं करता (अकोउहल्ले घ) :

कुतूहल का अर्थ है—उत्सुकता, किसी वस्तु या व्यक्ति को देखने की उत्कट इच्छा, क्रीडा। जो उत्सुकता नहीं रखता, क्रीडा नहीं करता अथवा नट-नर्तक आदि के करतबों को देखने की इच्छा नहीं करता, वह अकुतूहल होता है[३]।

श्लोक ११ :

२४. असाधुओं के गुणों को छोड़ (मुचऽसाहू ख) :

यहाँ 'असाहू' शब्द के अकार का लोप किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर कितत (कृतान्त—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररूप' ही रखा है[४]। जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाघव के लिए अकार का लोप किया है—ऐसा माना है[५]। टीकाकार ने 'प्राकृतशैली' के अनुसार 'अकार' का लोप माना है[६]। यहाँ गुण शब्द का अध्याहार होता है—मुचासाधुगुणा अर्थात् असाधु के गुणों को छोड़[७]।

१—(क) अ० चू० आहारोवहिमादीसु विरूवेसु लब्भमाणेसु अलब्भमाणेसु ण दीण वत्तए अदीणवित्ती।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२ अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु णो दीणभाव गच्छइ, तेसु लद्धेसुवि अदीणभावो भवइत्ति।

२—(क) अ० चू० धरत्थेण अण्णतित्थियेण वा मए लोगमज्झे गुणमत भावेज्जासित्ति एव णो भावये देतेसि वा कचि अप्पणा णो भावये। अहमेव गुण इति अप्पणा वि ण भावितप्पा।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२।

(ग) हा० टी० प० २५४।

३—(क) जि० चू० पृ० ३२२ तहा नडनट्टगादिसु णो कुउहल करेइ।

(ख) हा० टी० प० २५४ अकौतुकश्च सदा नटनर्त्तकादिषु।

४—अ० चू० एत्थ ण समाणदीर्घता किंतु पररूव कतत वदिति।

५—जि० चू० पृ० ३२२ गथलाघवत्थमकारलोव काऊण एव पढिज्जइ जहा मुचऽसाधुत्ति।

६—हा० टी० प० २५४।

७—अ० चू० मुचासाधु गुणा इति वयण सेसो।

श्लोक ८

१५ ओशूर व्यक्तियों में अग्रणी (परमग्गसूरे ग)

स्थानाङ्ग सूत्र (४.३.३१७) में चार प्रकार के शूर बतलाए हैं :

(१) युद्ध-शूर (२) तपस्या-शूर, (३) दान शूर और (४) धर्म-शूर।

इन सब में धर्म शूर (धार्मिक श्रद्धा से कष्टों को सहन करने वाला) परमाग्र-शूर होता है[1]। अग्र का एक अर्थ लक्ष्य भी है[2]। परम (मोक्ष) के लक्ष्य में जो शूर होता है वह 'परमाग्र-शूर' कहलाता है।

श्लोक ९

१६ विरोधी (पडिणीय ख) :

प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी अपमानजनक या आपत्तिजनक[3]।

१७ निश्चयकारिणी (ओहारिणिं ग):

देखिए ७.५४ की टिप्पणी संख्या ८३ पृष्ठ ३९८।

श्लोक १०

१८ जो रसलोलुप नहीं होता (अलोलुए क) :

इसका अर्थ है—'आहार आदि में लुब्ध न होने वाला'—स्वदेह में अप्रतिबद्ध रहने वाला[4]।

१९ (अक्कुहए क) :

देखिए १ २ की 'कुहक' शब्द की टिप्पणी।

२० जो चुगली नहीं करता (अपिसुणे क) :

अपिशुन अर्थात् मिले हुए मनों को न फाड़ने वाला चुगली न करने वाला[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३११ : परमग्गसूरे णाम जुद्धसूर-तवसूर-दाणसूराणं सूराणं सो धम्मसद्धाए सहमाणो परमग्गसूरो भवति, सव्वसूराणं पहाणभावाए उवरि वट्टति मुद्धं भवति।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'परमाग्रशूरः' दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानः शूरः।

२—A Sanskrit English Dictionary P. 6.

३—हा० टी० प० २५३ : 'प्रत्यनीकाम्' अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिरूपाम्।

४—(क) अ० चू० : आहारादिसु अलंपडो अलोलुए।

(ख) जि० चू० पृ० ३११ : अलोलुए णाम आहारादिसु अलुद्धो भवइ, अहवा जो अप्पणोवि देहे अप्पडिबद्धो सो अलोलुओ भवइ।

(ग) हा० टी० प० २५३ : 'अलोलुपः' आहारादिष्वलुब्धः।

५—(क) अ० चू० : अपेसुण्णए।

(ख) जि० चू० पृ० ३११ : 'अपिसुणे' णाम जो मणोपीतिविभेदकारए।

(ग) [illegible] ।

श्लोक १४ :

२८. मन, वाणी और शरीर से गुप्त (तिगुत्तो ग) :

गुप्ति का अर्थ है—गोपन, संवरण। वे तीन हैं :

(१) मन गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति[1]।

इन तीनों से जो युक्त होता है, वह 'त्रिगुप्त' कहलाता है[2]।

२९. क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है (चउक्कसायावगए घ) :

कषाय की जानकारी के लिए देखिए ८ ३६-३९।

श्लोक १५ :

३०. सेवा कर (पडियरिय क) :

प्रतिचर्य अर्थात् विधिपूर्वक आराधना करके, शुश्रूषा करके, भक्ति करके[3]।

३१. जिनमत-निपुण (जिणमयनिउणे ख) :

जो आगम में प्रवीण होता है, उसे 'जिनमत-निपुण' कहा जाता है[4]।

३२. अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल (अभिगमकुसले ख) :

अभिगम का अर्थ है अतिथि—साधुओं का आदर-सम्मान व भक्ति करना। इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह 'अभिगम-कुसल' कहलाता है[5]।

३३. रज और मल को (रयमलं ग) :

आश्रव-काल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित काल में 'मल' कहलाता है[6]। यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है। कहीं कहीं 'रज' का अर्थ आश्रव द्वारा आकृष्ट होने वाले 'कर्म' और 'मल' का अर्थ आश्रव किया है।

१—उत्त० २४ १९-२५।

२—हा० टी० प० २५५ 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान्।

३—(क) अ० चू० जधा जोग सुस्सूसिऊण पडियरिय।

(ख) जि० चू० पृ० ३२४ जिणोववइट्ठेण विणएण आराहेऊण।

(ग) हा० टी० प० २५५ 'परिचर्य' विधिना आराध्य।

४—हा० टी० प० २५५ 'जिनमतनिपुण' आगमे प्रवीण।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२४ अभिगमो नाम साधूणमायरियाण जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तम्मि कुसले।

(ख) हा० टी० प० २५५ 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्ष।

६—अ० चू० आश्रवकालेरयो बद्धपुट्ठनिकाइय कम्म मलो।

श्लोक १२

२५ जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता (हीलए खिंसएज्जा ग)

अगस्त्यसिंह ने किसी को उसके दुश्चरित्र की स्मृति कराकर लज्जित करने को हीलना और बार-बार लज्जित करने को खिंसना माना है[1]। जिनदास महत्तर ने—दूसरों को लज्जित करने के लिए अनीश्वर को ईश्वर और दुष्ट को भद्र कहना हीलना है—ऐसा माना है और खिंसना के पाँच कारण माने हैं :

(१) जाति से, यथा—तुम म्लेच्छ जाति के हो।

(२) कुल से यथा—तुम जार से उत्पन्न हुए हो।

(३) कर्म से यथा—तुम मूर्खों से सेवनीय हो।

(४) शिल्प से, यथा—तुम चमार हो।

(५) व्याधि से यथा—तुम कोढ़ी हो।

आगे चलकर हीलना और खिंसना का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं

दुर्वचन से किसी व्यक्ति को एक बार लज्जित करना 'हीलना' और बार-बार लज्जित करना 'खिंसना' है अथवा अतिपरुष वचन कहना 'हीलना और सुनिष्ठुर वचन कहना 'खिंसना' है[2]।

टीकाकार ने ईर्ष्या या अनीर्ष्या से एक बार किसी को 'दुष्ट' कहना हीलना और बार बार कहना खिंसना—ऐसा माना है[3]।

श्लोक १३

२६ श्लोक १३ :

अगस्त्य चूर्णि[4] और टीका[5] के अनुसार 'तवस्सी जिइंदिए सच्चरए'—ये 'पूज्य' के विशेषण हैं और जिनदास चूर्णि के अनुसार ये आचार्य—आचार्य के विशेषण हैं[6]। अनुवाद में हमने इस अभिमत का अनुसरण किया है। पूर्वोक्त अभिमत के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा— जो तपस्वी है जो जितेन्द्रिय है जो सत्यरत है।

२७ (सच्चरए ग)

सत्यरत अर्थात् संयम में रत। देखिए, पूर्वोक्त टिप्पणी के पादटिप्पण सं ४६।

१—अ चू : दुच्चरितादि कज्जावयं हीलणं अंबाडणादि खिंसणं।

२—जि० चू पृ ३२१ तत्थ हीलणा जहा सुयाभिगीसरं ईसरं भण्णइ दुट्ठं भद्दगं भण्णइ एवमादि खिंसणा असूयाए जाइतो कुलओ कम्माओ सिप्पओ वाहिओ वा भवति, जाइओ जहा तुमं मच्छजाइजाओ कुलओ जहा तुमं जारजाओ कम्मओ जहा तुमं मोक्खि मवजीज्जो सिप्पओ जहा तुमं सो चम्मगारो वाहिओ जहा तुमं सो कोढिओ अहवा हीलणाखिंसणाणं इमो विसेसो—हीलणा नाम एक्कवारं दुव्वयणियस्स भवइ पुणो २ खिंसणा भवइ।

३—हा टी प ५४ : सूयया असूयया वा सकृद्दुष्टाभिधानं हीलनं तदेवासकृत् खिंसनमिति।

४—अ चू : बारस विहे तवोरते तवस्सी जितसोतादिइंदिए सच्चं संजमो तंमि जधा भणित विणयसमाहिते वा रते सच्चरते स एव पुज्जो भवति।

५—हा टी प ५५ : तपस्वी सन् जितेन्द्रियः सत्यरत इति प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणत्रयम्।

६—जि चू पृ ३३ : तवस्सी नाम तवो बारसविहो सो जस्स आयरियस्स अत्थि स तवस्सिमो जिइंदिए नाम जियाणि सोयादीणि इंदियाणि जेहिं ते जिइंदिया सच्चं पुण भणियं जहा गमि एतो सच्चरओ।

श्लोक १४ :

२८. मन, वाणी और शरीर से गुप्त (तिगुत्तो ग) :

गुप्ति का अर्थ है—गोपन, सवरण। वे तीन हैं ·
(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति[1]।
इन तीनों से जो युक्त होता है, वह 'त्रिगुप्त' कहलाता है[2]।

२९. क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है (चउक्कसायावगए घ) :

कषाय की जानकारी के लिए देखिए ८ ३६-३९।

श्लोक १५ :

३०. सेवा कर (पडियरिय क) :

प्रतिचर्य अर्थात् विधिपूर्वक आराधना करके, शुश्रूषा करके, भक्ति करके[3]।

३१. जिनमत-निपुण (जिणमयनिउणे ख) :

जो आगम में प्रवीण होता है, उसे 'जिनमत-निपुण' कहा जाता है[4]।

३२. अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल (अभिगमकुसले ख) :

अभिगम का अर्थ है अतिथि—साधुओं का आदर-सम्मान व भक्ति करना। इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह 'अभिगम-कुसल' कहलाता है[5]।

३३. रज और मल को (रयमलं ग) :

आश्रव-काल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित काल में 'मल' कहलाता है[6]। यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है। कहीं कहीं 'रज' का अर्थ आश्रव द्वारा आकृष्ट होने वाले 'कर्म' और 'मल' का अर्थ आश्रव किया है।

१—उत्त० २४ १९-२५।
२—हा० टी० प० २५५ 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान्।
३—(क) अ० चू० जधा जोग सुस्सूसिऊण पडियरिय।
(ख) जि० चू० पृ० ३२४ जिणोवदइट्ठेण विणएण आराहेऊण।
(ग) हा० टी० प० २५५ 'परिचर्य' विधिना आराध्य।
४—हा० टी० प० २५५ 'जिनमतनिपुण' आगमे प्रवीण।
५—(क) जि० चू० पृ० ३२४ अभिगमो नाम साधूणमायरियाण जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तमि कुसले।
(ख) हा० टी० प० २५५ 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्ष।
६—अ० चू० आश्रवकालेरयो बद्धपुट्ठनिकाइय कम्म मलो।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(चउत्थो उद्देसो)

विणयसमाही (चउत्थो उद्देसो) : विनय-समाधि (चतुर्थ उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सुय मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु[2] थेरेहिं भगवतेहि चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० १	श्रुत मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥१॥	आयुष्मन्! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[1] स्थविर[3] भगवान् ने विनय-समाधि[4] के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है।
कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० २	कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥२॥	वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं? जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है।
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा— (१) विणयसमाही (२) सुयसमाही (३) तवसमाही (४) आयारसमाही।	इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—(१)विनय-समाधिः, (२) श्रुत समाधि, (३) तपः समाधिः, (४) आचार समाधिः।	वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये हैं, जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।
१—[5]विणए सुए अ तवे आयारे निच्च पंडिया। अभिरामयंति अप्पाण जे भवति जिइंदिया। सू० ३	विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्य पण्डिताः। अभिरामयन्त्यात्मान, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥१॥	१—जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं[6]।
चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा—(१) अणुसासिज्जतो सुस्सूसइ (२) सम्म सपडिवज्जइ (३) वेयमाराहयइ (४) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थ पय भवइ।	चतुर्विधः खलु विनय-समाधिर्भवति। तद्यथा—(१) अनुशास्यमान' शुश्रूषते, (२) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते, (३) वेदमाराधयति, (४) न च भवति सम्प्रगृहीतात्मा,—चतुर्थं पद भवति।	विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे— (१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है[7]। (२) अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है। (३) वेद (ज्ञान)[8] की आराधना करता है[9] अथवा (अनुशासन अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है)।

४—विविहगुणतवोरए य निच्चं
भवइ निरासए[21] निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
जुत्तो सया तवसमाहिए॥
सू० ६

विविधगुणतपोरतश्च नित्य,
भवति निराशक: निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराण-पापक,
युक्त सदा तपः-समाधिना ॥४॥

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (४) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा। चउत्थ पयं भवइ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति। तद्यथा—(१) नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्राहर्तेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत्, चतुर्थं पद भवति।

भवति चाऽत्र श्लोकः —

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे-

(१) इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए

४—आर्हत-हेतु से[22] अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थपद है और यहाँ (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है —

५—जिणवयणरए अतिंतिणे
पडिपुण्णाययमायट्ठिए।
आयारसमाहिसवुडे
भवइ य दंते भावसंधए[26]॥
सू० ७

जिनवचनरतोऽतिन्तिणः,
प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः।
आचारसमाधिसवृतः,
भवति च दान्तो भावसन्धकः ॥५॥

५—जो जिनवचन[23] मे रत होता है, जो वकवास नही करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है[24], जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा सवृत्त होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला[25] तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६—अभिगम चउरो समाहिओ
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावह पुणो
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्,
सुविशुद्ध: सुसमाहितात्मकः।
विपुलहितसुखावह पुनः,
करोति स पद क्षेममात्मनः ॥६॥

६—जो समाधियों को जानकर[27] सुविशुद्ध और सुसमाहित-चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

७—जाइमरणाओ मुच्चई
इत्थंथ च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥
त्ति बेमि।

जातिमरणात् मुच्यते,
इत्थस्थ च त्यजति सर्वशः।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वाऽल्परजा महर्द्धिकः ॥७॥
इति ब्रवीमि।

७—वह जन्म-मरण से[28] मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को[29] पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला[30] महर्द्धिक देव[31] होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता — यह चतुर्थ पद है और यहाँ (विनय-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है —

२—पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ
विणयसमाही आययट्ठिए ॥
सू० ४

प्रेक्षते हितानुशासनं,
शुश्रूषते तच्च पुनरधितिष्ठति।
न च मान-मदेन माद्यति,
विनयसमाधावायतार्थिकः ॥२॥

मोक्षार्थी मुनि[१] (१) हितानुशासन की अभिलाषा करता है[१] —सुनना चाहता है।
(२) शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है।
(३) अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है[१३]।
(४) मैं विनय-समाधि में कुशल हूँ— इस प्रकार गर्व के उन्माद से[१४] उन्मत्त नहीं होता।

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ तंजहा—(१) सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (४) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थं पयं भवइ।
भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति। तद्यथा —(१) श्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्यं भवति (२) एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति, (३) आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति (४) स्थितः परं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति—चतुर्थं पदं भवति।

श्रुत समाधि के चार प्रकार हैं जैसे—
(१) मुझे श्रुत 'प्राप्त होगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
(२) 'मैं एकाग्र चित्त होऊँगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
(३) 'मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
(४) 'मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूँगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए। यह चतुर्थ पद है और यहाँ (श्रुत-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

भवति चात्र श्लोकः —

३—नाणमेगग्गचित्तो य
ठिओ ठावयई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता
रओ सुयसमाहिए ॥
सू० ५

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च,
स्थितः स्थापयति परम्।
श्रुतानि चाधीत्य
रतः श्रुतसमाधौ ॥३॥

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है चित्त की एकाग्रता होती है धर्म में स्थित होता है और दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है।

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ तंजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, (४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ।
भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु तपः समाधिर्भवति। तद्यथा (१) नो इहलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्ति-वर्ण-शब्द-श्लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोऽधितिष्ठेत् चतुर्थं पदं भवति।

भवति चात्र श्लोकः —

तप-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—
(१) इहलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
(२) परलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए।
(४) निर्जरा के अतिरिक्त [illegible] किसी भी प्रयोजन से तप नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (तप-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है —

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुन: श्लोक में कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति) :

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोतना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४ :

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ) :

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है—सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है—सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) की (वेयं) :

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

९. आराधना करता है (आराहयइ) :

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष······नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए) :

जिसकी आत्मा गर्व से सप्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सप्रगृहीतात्मा (आत्मोत्कर्ष करने वाला) कहा जाता है। मैं विनीत हूँ, यथोक्त कार्यकारी हूँ—ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थ सुभणणत्थ सिलोग बधो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्त अविकप्पणानिमित्त च।

२—(क) अ० चू० गद्येनोक्त पुन श्लोके, योऽर्थ समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थ, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ "यदुक्तो य (ऽत्र) पुन श्लोकैरर्थस्समनुगीयते।

३—जि० चू० पृ० ३२५ . अप्पाण जोवति त्ति।

४—हा० टी० प० २५६ 'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते।

५—(क) अ० चू० सुस्सूसतीय परमेणादरेण आयरि ओवज्झाए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ आयरियउवज्झायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्तिकाऊण सुस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ 'शुश्रूषती' त्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते।

६—(क) अ० चू० विदति जेण अत्थिविसेसे जमि वा भणिते विदत्ति सो वेदो त पुण णाणमेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ · वेदो—नाण भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ वेद्यतेऽनेनेति वेदः—श्रुतज्ञानम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२६ तत्थ ज जहा भणित तहेव कुव्वमाणो समायरइत्ति।
(ख) हा० टी० प० २५६ आराधयति 'यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति।

८—(क) अ० चू० सपग्गहितो गव्वेण जस्स अप्पासो अत्तसपग्गहितो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ अतुक्करिस करेइत्ति, जहा विणीयो जहुत्तकारी य एवमादि।

टिप्पणियाँ अध्ययन ६ (चतुर्थ उद्देशक)

सूत्र १

१ इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में (इह)

'इह' शब्द के द्वारा दो अर्थ गृहीत किए गए—(१) निर्ग्रन्थ-प्रवचन में और (२) इस लोक में—इस क्षेत्र में[1]।

२ (खलु) :

यहाँ 'खलु' शब्द से अतीत और अनागत स्थविरों का ग्रहण किया गया है[2]।

३ स्थविर (थेरेहिं) :

यहाँ स्थविर का अर्थ गणधर किया है[3]।

४ समाधि (समाही) :

समाधि शब्द अनेकार्थक है। टीकाकार ने यहाँ इसका अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है[4]। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए समाधि के चार रूप बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणों के समाधान (स्थिरीकरण या स्थापन) को समाधि कहा है। उनके अनुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या उनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि कहा जाता है।

सूत्र ३

५ (विणए सुए अ तवे) :

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस श्लोक से पूर्व गद्य भाग में चार समाधियों का नामोल्लेख हो चुका है तो फिर उनकी पुनरावृत्ति क्यों की गई। अगस्त्यसिंह स्थविर एवं जिनदास महत्तर इस शंका का निरसन करते हुए कहते हैं कि उक्त अर्थ की बात

1—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : इहेति नाम इह सासणे।

(ख) अ० चू० : इहेति इहलोगे सासणे वा।

(ग) हा० टी० प० २५५ : इह क्षेत्रे प्रवचने वा।

2—(क) अ० चू० : खलु सद्दो अतीतानागत थेराण वि एवं पण्णत्ताण विसेसणत्थं।

(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : खलुसद्दो " " विसेसणत्थे।

(ग) हा० टी० प० २५५ : खलुशब्दो विशेषणार्थः न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यतीतानागतकालेष्वपीति।

3—(क) अ० चू० : थेरा गुणथेरा।

(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : थेरग्गहणेण गणहराणं गहणं कयं।

(ग) हा० टी० प० २५५ : स्थविरैः गणधरैः।

4—हा० टी० प० २५६ : समाधानं समाधिः—परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम्।

5—अ० चू० : तं विणय समारोवणं विणयेण वा तं गुणाण समाहाणं एस विणय समाही भण्णति।

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुनः श्लोक में कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति):

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोतना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४:

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ):

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है—सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है—सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) की (वेयं):

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

९. आराधना करता है (आराहयइ):

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष······नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए):

जिसकी आत्मा गर्व से सप्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सप्रगृहीतात्मा ([illegible] करने वाला) कहा [illegible] विनीत हूँ, यथोक्त कार्यकारी हूँ—ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थ छमणणत्थ सिलोग [illegible]।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्त [illegible]
२—(क) अ० चू० गद्येनोक्तः पुन श्लोके, योऽर्थ समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थं, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ "यदुक्तो य (अ) पुन [illegible]
३—जि० चू० पृ० ३२५ अप्पाण जोयति त्ति।
४—हा० टी० प० २५६ 'अभिरमयन्ति' [illegible]।
५—(क) अ० चू० सुस्सूसतीय परमेणादरेण [illegible]
(ख) जि० चू० पृ० ३२८ [illegible] एस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० [illegible] 'शुश्रूषति' [illegible]
६—(क) अ० चू० [illegible] पुण णाणमेव
(ख) जि० चू० पृ० [illegible]
(ग) हा० टी० प० [illegible]
७—(क) जि० चू० पृ० [illegible] [illegible] आराहेति।
(ख) हा० टी० प० [illegible] आराधयति [illegible]
८—(क) अ० चू० [illegible] णालीकरेइ
(ख) जि० चू० पृ० [illegible] [illegible] [illegible] विणीया [illegible]

११ मोक्षार्थी मुनि (आययट्ठिए)

आयतार्थी—मोक्षार्थी[1]। इसका दूसरा अर्थ है भविष्यकालीन सुख का इच्छुक[2]।

१२ अभिलाषा करता है (पेहेइ) :

इसके संस्कृत रूप तीन होते हैं :

१ प्र+ईक्ष—प्रेक्षते—देखना

२ प्र+ईह—प्रेहते

३ स्पृह्—स्पृहयति—प्रार्थना करना, इच्छा करना, चाहना[3]।

१३ आचरण करता है (अहिट्ठए) :

अनुशासन के अनुकूल आचरण करना[4]।

१४ गर्व के उन्माद से (माणमएण)

मान का अर्थ गर्व और मद का अर्थ उन्माद है[5]। टीका में मद का अर्थ गर्व किया है[6]।

१५ (विणयसमाही आययट्ठिए)

इस चरण में विनय-समाधि और आयतार्थिक—इन दोनों का समास है। विनय-समाधि में आयतार्थिक है—इसका विग्रह इस प्रकार किया है[7]।

सूत्र ५

१६ श्रुत (सुयं)

गणिपिटक[8]।

१—(क) अ० चू० : विणयसमाधिमतस्स विणयसमाधीए आयतमट्ठाय विप्पकरिसतो मोक्खो तेण तंमि वा अत्थी आयतत्थी एवं आयतट्ठिकः।

(ख) जि० चू० पृ० ३२ : आयओ मोक्खो भण्णइ तं आययं अहिलसतीति आययट्ठिए।

२—अ० चू० : अहवा आयती आगामीकालो तंमि अट्ठत्थी आयतत्थी।

३—(क) अ० चू० : पत्थयति पीहेति।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : पेहतित्ति वा पेच्छतित्ति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २५६ : 'प्रार्थयते हितानुशासनम्' इच्छति।

४—(क) अ० चू० : जधा भणितं करेति।

(ख) जि० चू० पृ० ३ : अहिट्ठति नाम अहिट्ठयतित्ति वा आयरइत्ति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २५६ : अधितिष्ठति—यथावत् करोति।

५—अ० चू० : अप्पाणं असमाणं मण्णमाणो माण एव मतो माणमतो।

६—हा० टी० प० २५६ : मानगर्वेण।

७—(क) हा० टी० प० २५६ 'विनयसमाधौ' विनयसमाधिविषये 'आयतार्थिको' मोक्षार्थी।

(ख) अ० चू० : विणय समाधीए वा छट्ठी आदेसेण अत्थी विणयसमाधी आययट्ठिए।

८—(क) जि० चू० पृ० ३२ : सुयक्खंधं गणिपिडगं।

(ख) हा० टी० प० २५७ : आचारादि द्वादशाङ्गम्।

सूत्र ६ :

१७. इहलोक के निमित्त...परलोक के निमित्त (इहलोगट्ठयाए.. परलोगट्ठयाए) :

उत्तराध्ययन में कहा है—धर्म करने वाला इहलोक और परलोक दोनों की आराधना कर लेता है और यहाँ बतलाया है कि इहलोक और परलोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। इनमें कुछ विरोधाभास जैसा लगता है। पर इसी सूत्र के श्लोकगत 'निरासए' शब्द की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो इनमें कोई विरोध नहीं दीखता। इहलोक और परलोक के लिए जो तप का निषेध है उसका सम्बन्ध पौद्‌गलिक सुख की आशा से है। तप करने वाले को निराश (पौद्‌गलिक सुखरूप प्रतिफल की कामना से रहित होकर) तप करना चाहिए। तपस्या का उद्देश्य ऐहिक या पारलौकिक भौतिक सुख-समृद्धि नहीं होना चाहिए। जो प्रतिफल की कामना किए बिना तप करता है उसका इहलोक भी पवित्र होता है और परलोक भी। इस तरह वह दोनों लोकों की आराधना कर लेता है[1]।

१८. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (कित्तिवण्णसद्दसिलोग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इन चार शब्दों के अलग-अलग अर्थ करते हैं[2]

कीर्ति—दूसरों के द्वारा गुणकीर्तन।

वर्ण—लोकव्यापी यश।

शब्द—लोक-प्रसिद्धि।

श्लोक—ख्याति।

हरिभद्र के अर्थ इनसे भिन्न हैं। सर्व दिग्व्यापी प्रशसा कीर्ति, एक दिग्व्यापी प्रशसा वर्ण, अर्द्ध दिग्व्यापी प्रशसा शब्द और स्थानीय प्रशसा श्लोक[3]।

जिनदास महत्तर ने चारों शब्दों को एकार्थक माना है[4]।

१६. निर्जरा के (निज्जरट्ठयाए) :

निर्जरा नव-तत्त्वों में एक तत्त्व है। मोक्ष के ये दो साधन हैं—सवर और निर्जरा। सवर के द्वारा अनागत कर्म-परमाणुओं का निरोध और निर्जरा के द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-परमाणुओं का विनाश होता है। कर्म-परमाणुओं के विनाश और उससे निष्पन्न आत्म-शुद्धि—इन दोनों को निर्जरा कहा जाता है[5]। भगवान् ने कहा—'केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करना चाहिए।' यह वचन उन सब मतवादों के साथ अपनी असहमति प्रगट करता है जो स्वर्ग या ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का विधान करते थे, जैसे—'स्व कामोऽग्निं यथा यजेत्' आदि।

२०. अतिरिक्त (अन्नत्थ) :

अतिरिक्त, छोड़कर, वर्जकर[6]। देखिए अ० ४ सू० ८ का टिप्पण।

१—उत्त० ८ २० इह एस धम्मे अक्खाए, कविलेण च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोग॥

२—अ० चू० परेहिं गुणससद्दण कित्ती, लोकव्यापी जसोवण्णो, लोके विदितया सद्दो, परेहिं पूर (य) ण सिलोगो।

३—हा० टी० प० २५७ सर्वदिग्व्यापी साधुवाद कीर्त्ति, एकदिग्व्यापी वर्ण, अर्द्धदिग्व्यापी शब्द, तत्स्थान एव श्लाघा।

४—जि० चू० पृ० ३२८ कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठया एगट्ठा।

५—जैन० सि० ५ १३,१५।

६—जि० चू० पृ० ३२८ अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ।

२१ (निरामए)

पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित[1]।

सूत्र ७

२२ आर्हत-हेतु के (आरहंतेहिं हेऊहिं) :

आर्हत-हेतु—अर्हन्तों के द्वारा मोक्ष-साधना के लिए उपदिष्ट या आचीर्ण हेतु। वे दो हैं—संवर और निर्जरा[2]।

२३ जिनवचन (जिणवयण) :

इसका अर्थ जिनसूत्र या आगम है[3]।

२४ जो सूत्रार्थ से परिपूर्ण होता है (पडिपुण्णायय)

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'पूर्ण अविस्मृतकारक' किया है[4]।
जिनदास और हरिभद्र ने 'पडिपुण्ण' का अर्थ सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण और 'आयय' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है[5]।

२५ इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला (दंते)

इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय का दमन करने वाला 'दान्त' कहलाता है[6]।

२६ (भावसंधए) :

मोक्ष को निकट करने वाला[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२८: निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।
(ख) हा० टी० प० २५७: 'निरासो' निष्प्रत्याश इहलोकादिषु।
२—(क) अ० चू०: जे आरहंतेहिं अणासवत्तकम्मनिज्जरणादयो गुणा भणिता आचिण्णा वा ते आरहंतिया हेतवो कारणाणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३२८: जे आरहंतेहिं अणासवत्तकम्मनिज्जरणमादि मोक्खहेतवो भणिता आचिण्णा वा ते आरहंतिए हेऊ।
(ग) हा० टी० प० २५८: 'आर्हतैः' अर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः।
३—(क) अ० चू०: जिणाणं वयणं जिणवयणं मतं।
(ख) हा० टी० प० २५८: 'जिनवचनरत' आगमे सक्तः।
४—अ० चू०: पडिपुण्णं आयतं अण्णामिस्सकं सव्वं आगामिकालं पडिपुण्णायतं।
५—(क) जि० चू० पृ० ३२९: पडिपुण्णं नाम पडिपुण्णंति वा निरवसेसंति वा एगट्ठा, सुत्तत्थेहिं पडिपुण्णो आयया अच्चत्थं।
(ख) हा० टी० प० २५८: प्रतिपूर्णः सूत्रादिना आयतम्—अत्यन्तम्।
६—(क) अ० चू०: इंदियं नोइंदियं दमेण दंते।
(ख) जि० चू० पृ० ३२९: दंते दुविहे—इंदिएहि य नोइंदिएहि य।
(ग) हा० टी० प० २५८: दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्याम्।
७—(क) जि० चू० पृ० ३२९: भावो मोक्खो तं पुरतमप्पणा तह संधए।
(ख) हा० टी० प० २५८: 'भावसंधकः' भावो—मोक्षस्तत्संधक आत्मनो मोक्षासन्नकारी।

श्लोक ६ :

२७. जानकर (अभिगम) :

टीका के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया का रूप है[१]। 'अभिगम्य' के 'य' का लोप होने पर 'अभिगम्म' ऐसा होना चाहिए। किन्तु प्राप्त सभी प्रतियों में 'अभिगम' ऐसा पाठ मिलता है। इसलिए लिखित आधार के अभाव में इसी को स्थान दिया गया है।

श्लोक ७ :

२८. जन्म-मरण से (जाइमरणाओ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—जन्म-मृत्यु और ससार[२]। जिनदास और हरिभद्र ने जाति-मरण का अर्थ ससार किया है[३]।

२९. नरक आदि अवस्थाओं को (इत्थंथं) :

इत्थ का अर्थ है—इस प्रकार। जो इस प्रकार स्थित हो—जिसके लिए 'यह ऐसा है'—इस प्रकार का व्यपदेश किया जाए उसे 'इत्थस्थ' कहा जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ, शरीर, वर्ण, सस्थान आदि जीवों के व्यपदेश के हेतु हैं। इत्थस्थ को त्याग देता है अर्थात् उक्त हेतुओं के द्वारा होने वाले अमुक-अमुक प्रकार के निश्चित रूपों को त्याग देता है[४]। अगस्त्य चूर्णि में 'इत्थत्त' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है—इस प्रकार की अवस्था का भाव[५]।

३०. अल्प कर्म वाला (अप्परए) :

इसका सस्कृत रूप है—'अल्परजा' और इसका अर्थ है—थोड़े कर्म वाला[६]। टीकाकार ने इसका सस्कृत रूप 'अल्परतः' देकर इसका अर्थ 'अल्प आसक्ति वाला' किया है[७]।

३१. महर्द्धिक देव (महिड्ढिए) :

महान् ऋद्धि वाला, अनुत्तर आदि विमानों में उत्पन्न[८]।

१—हा० टी० प० २५८ 'अभिगम्य' विज्ञायासेव्य च।

२—अ० चू० जाती सामुप्पत्ती, देहपरिच्चागो मरण अहवा जातीमरण ससारो।

३—(क) जि० चू० पृ० ३२६ जातीमरण ससारो।

(ख) हा० टी० प० २५८ 'जातिमरणात्' ससारात्।

४—(क) हा० टी० प० २५८ इद प्रकारसापन्नमित्थम् इत्थ स्थितमित्थस्थ नारकादिव्यपदेशबीज वर्णसस्थानादि।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ 'इत्थत्थ' णाम जेण भण्णइ एस नरो वा तिरिओ मणुस्सो देवो वा एवमादि।

५—अ० चू० अय प्रकार इत्थ—तस्स भावो इत्थत्त।

६—(क) अ० चू० अप्परते अप्पकम् मावसेसे।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ थोवावसेसेसु कम्मत्तणेण।

७—हा० टी० प० २५८ 'अल्परत' कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतरहित।

८—हा० टी० प० २५८ 'महर्द्धिक'—अनुत्तरवैमानिकादि।

दसमज्झयणं

स-भिक्खु

आमुख

सदृश वेष और रूप के कारण मूलत भिन्न-भिन्न वस्तुओं की संज्ञा एक पड़ जाती है।

जात्य-सोने और यौगिक-सोने—दोनों का रंग सदृश (पीला) होने से दोनों 'सुवर्ण' कहे जाते हैं।

जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा साधु भी भिक्षा कर खाता है और ढोंगी साधु भी भिक्षा कर खाता है, इससे दोनों की सज्ञा 'भिक्षु' बन जाती है।

पर असली सोना जैसे अपने गुणों से कृत्रिम सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्-भिक्षु असद्-भिक्षु से अपने गुणों के कारण सदा पृथक् होता है।

कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वह सुवर्ण होता है। जिसमें सोने की युक्ति—रग आदि तो होते हैं पर जो कसौटी पर अन्य गुणों से खरा नहीं उतरता, वह सोना नहीं कहलाता।

जैसे नाम और रूप से यौगिक-सोना सोना नहीं होता, वैसे ही केवल नाम और वेष से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। गुणों से ही सोना होता है और गुणों से ही भिक्षु। विष की घात करने वाला, रसायन, मांगलिक, विनयी, लचीला, भारी, न जलने वाला, काट रहित और दक्षिणावर्त्त—इन गुणों से उपेत सोना होता है।

जो कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार परीक्षाओं में विषघाती आदि गुणों से सयुक्त ठहरता है, वह भाव-सुवर्ण—असली सुवर्ण है और अन्य द्रव्य-सुवर्ण—नाम मात्र का सुवर्ण।

संवेग, निर्वेद, विवेक (विषय-त्याग), सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, क्षांति, मार्दव, आजव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक-शुद्धि—ये सच्चे भिक्षु के लिङ्ग हैं।

जो इनमें खरा ठहरता है, वही सच्चा भिक्षु है। जो केवल भिक्षा मांगकर खाता है पर अन्य गुणों से रहित है, वह सच्चा भिक्षु नहीं होता। वर्ण से जात्य-सुवर्ण के सदृश होने पर भी अन्य गुण न होने से जैसे यौगिक-सोना सोना नहीं ठहरता।

सोने का वर्ण होने पर भी जात्य-सुवर्ण वही है जो गुण-सयुक्त हो। भिक्षाशील होने पर भी सच्चा भिक्षु वही है जो इस अध्ययन में वर्णित गुणों से सयुक्त हो।

भिक्षु का एक निरुक्त है—जो भेदन करे वह 'भिक्षु'। इस अर्थ से जो कुल्हाडा ले वृक्ष का छेदन-भेदन करता है वह भी भिक्षु कहलाएगा। पर ऐसा भिक्षु द्रव्य-भिक्षु (नाम मात्र से भिक्षु) होगा। भाव-भिक्षु (वास्तविक भिक्षु) तो वह होगा जो तपरूपी कुल्हाड़े से संयुक्त हो। वैसे ही जो याचक तो है पर अविरत है—वह भाव-भिक्षु नहीं द्रव्य-भिक्षु है।

जो भीख मांगकर तो खाता है पर सदार और आरभी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर मिथ्या-दृष्टि है, त्रस-स्थावर जीवों का नित्य वध करने में रत है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर सचय करने वाला है, परिग्रह में मन, वचन, काया और कृत, कारित अनुमोदन रूप से निरत—आसक्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर सचित्त-भोजी है, स्वय पकाने वाला है, उद्दिष्ट-भोजी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर तीन करण तीन योग से आत्म, पर और उभय के लिए सावद्य प्रवृत्ति करता है तथा अर्थ-अनथ पाप में प्रवृत्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

दसमज्झयणं : दशम अध्ययन

स-भिक्खु : सभिक्षु

मूल

१—निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे
निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा।
इत्थीण वस न यावि गच्छे
वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू॥

संस्कृत छाया

निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने,
नित्यं समाहितचित्तो भवेत्।
स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेत्,
वान्तं न प्रत्यापिबति (प्रत्यादत्ते)
य: स भिक्षुः ॥१॥

हिन्दी अनुवाद

१—जो तीर्थङ्कर के उपदेश से[2] निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले[3]), निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[4] सदा समाहित-चित्त[5] (समाधि-युक्त मन वाला) होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वमे हुए को वापस नहीं पीता[6] (त्यक्त भोगों का पुनः सेवन नहीं करता)—वह भिक्षु[7] है।

२—[8]पुढविं न खणे न खणावए
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू॥

पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्,
शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत्।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं,
तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षुः ॥२॥

२—जो पृथ्वी का खनन न करता है[9] और न कराता है, जो शीतोदक[10] न पीता है और न पिलाता है[11], शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण[12] अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है[13]—वह भिक्षु है।

३—अनिलेण न वीए न वीयावए
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयंतो
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू॥

अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत्,
हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत्।
बीजानि सदा विवर्जयन्,
सचित्तं नाहरेत् य: स भिक्षुः ॥३॥

३—जो पंखे आदि से[14] हवा न करता है और न कराता है[15], जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है[16], जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके संस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता[17]—वह भिक्षु है।

४—वहणं तसथावराण होइ
पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे
नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू॥

हननं त्रसस्थावराणां भवति,
पृथ्वीतृणकाष्ठनिश्रितानाम्।
तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत,
नो अपि पचेन्न पाचयेत्
य: स भिक्षुः ॥४॥

४—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अतः जो औद्देशिक[18] (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वयं न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है[19]—वह भिक्षु है।

५—रोइय नायपुत्तवयणे
अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू॥

रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनम्,
आत्मसमान्मन्येत षडपि कायान्।
पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि,
पंचाश्रवान् संवृणुयात् य: स भिक्षुः ॥५॥

५—जो ज्ञात-पुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है[20], जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है[21], जो पाँच आस्रवों का संवरण करता है[22]—वह भिक्षु है।

प्रश्न है फिर भाव भिक्षु (सद् भिक्षु) कौन है ?

उत्तर है—जो आगमतः उपर्युक्त और भिक्षु के गुणों को जानकर उनका पालन करता है वही भाव-भिक्षु है।

वे गुण कौन से हैं ? इस अध्ययन में इसी प्रश्न का उत्तर है।

इस अध्ययन का नाम 'स भिक्षु' या 'सद्-भिक्षु' है[1]। यह प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार है। पूर्ववर्ती ९ अध्ययनों में वर्णित आचारनिधि का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है वही भिक्षु है, केवल उदर पूर्ति करने वाला भिक्षु नहीं है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है[2]। 'स' और 'भिक्खु' इन दोनों के योग से भिक्षु शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसके अनुसार भिक्षाशील व्यक्ति भिक्षु नहीं है। किन्तु जो अहिंसक जीवन के निर्वाह के लिए भिक्षा करता है वही भिक्षु है। इससे भिखारी और भिक्षु के बीच की भेद रेखा स्पष्ट हो जाती है। इस अध्ययन की २१ गाथाएँ हैं। सबके अन्त 'सभिक्खु' शब्द का प्रयोग है। उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन में भी ऐसा ही है। उसका नाम भी यही है। विषय और पदों की भी कुछ समता है। संभव है शय्यम्भवसूरि ने दसवें अध्ययन की रचना में उसे आधार माना हो।

भिक्षु-वर्ग विश्व का एक प्रभावशाली संगठन रहा है। धर्म के उत्कर्ष के साथ धार्मिकों का उत्कर्ष होता है। धार्मिकों का नेतृत्व भिक्षु-वर्ग के हाथ में रहा। इसलिए सभी आचार्यों ने भिक्षु की परिभाषाएं दीं और उसके लक्षण बताए। महात्मा बुद्ध ने भिक्षु के अनेक लक्षण बतलाए हैं। 'धम्मपद' में 'भिक्खुवग्ग' के रूप में उनका संकलन भी है। उसकी एक गाथा 'स-भिक्खु' अध्ययन की १५वें श्लोक से तुलनीय है :

> हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो वाचायसञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
> अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खु॥ (धम्म० २५.३)
> हत्थ-संजए पाय-संजए वाय-संजए, संजइंदिए।
> अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू॥ (दश० १०.१५)

भिक्षु-चर्या की दृष्टि से इस अध्ययन की सामग्री बहुत ही अनुशीलन योग्य है। वोसट्ठचत्तदेहे (श्लोक १३) अन्नाय उंछं (श्लोक १६), पजहे पुण्णपावं (श्लोक १८) आदि-आदि वाक्यांश यहाँ प्रयुक्त हुए हैं जिनके पीछे श्रमणों का त्याग और विचार-मन्थन का इतिहास झलक रहा है।

यह नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[3]।

१—हैम० ८.१.११ : सद्-भिक्षु का भी प्राकृत रूप सभिक्खू बनता है। [illegible] ......सभिक्षुः=सभिक्खू।

२—(क) दश० नि० ३३ : जे भावा दसवेआलियम्मि करणिज्ज वण्णिय जिणेहिं।
तेसिं समावणम्मिति (मी) जो भिक्खू भण्णइ स भिक्खू॥
(ख) दश० नि० ३४१ : जो भिक्खइ गुणरहिओ भिक्खत्थं भिक्खुओ न होइ सो भिक्खू।

३—दश० नि० गा० १७

दसमज्झयणं : दशम अध्ययन

स-भिक्खु : सभिक्षु

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा । इत्थीण वस न यावि गच्छे वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू ॥	निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने, नित्यं समाहितचित्तो भवेत् । स्त्रीणा वश न चापि गच्छेत्, वान्तं न प्रत्यापिबति (प्रत्यादत्ते) यः स भिक्षुः ॥१॥	१—जो तीर्थङ्कर के उपदेश से[2] निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले[3]), निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[4] सदा समाहित-चित्त[5] (समाधि-युक्त मन वाला) होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वमे हुए को वापस नही पीता[6] (त्यक्त भोगों का पुन सेवन नही करता)—वह भिक्षु[7] है ।
२—[8]पुढविं न खणे न खणावए सीओदग न पिए न पियावए । अगणिसत्थं जहा सुनिसियं तं न जले न जलावए जे म भिक्खू ॥	पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् । अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं, तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्य स भिक्षु ॥२॥	२—जो पृथ्वी का खनन न करता है[9] और न कराता है, जो शीतोदक[10] न पीता है और न पिलाता है[11], शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण[12] अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है[13]—वह भिक्षु है ।
३—अनिलेण न वीए न वीयावए हरियाणि न छिंदे न छिंदावए । बीयाणि सया विवज्जयंतो सच्चित्त नाहारए जे स भिक्खू ॥	अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत्, हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् । बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहरेत् य स भिक्षु ॥३॥	३—जो पंखे आदि से[14] हवा न करता है और न कराता है[15], जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है[16], जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके सस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता[17]—वह भिक्षु है ।
४—वहणं तसथावराण होइ पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं । तम्हा उद्देसियं न भुंजे नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥	हननं त्रसस्थावराणा भवति, पृथ्वीतृणकाष्ठनि श्रितानाम् । तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत, नो अपि पचेन्न पाचयेत् यः स भिक्षुः ॥४॥	४—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ट के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अत जो औद्देशिक[18] (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वय न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है[19]—वह भिक्षु है ।
५—रोइय नायपुत्तवयणे अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए । पंच य फासे महव्वयाइं पंचासवसंवरे जे स भिक्खू	रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनम्, आत्मसमान्मन्येत षडपि कायान् । पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि, पंचाश्रवान् संवृणुयात् य स भिक्षुः ॥५॥	५—जो ज्ञात-पुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है[20], जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है[21], जो पाँच आस्रवों का सवरण करता है[22]—वह भिक्षु है ।

१२—पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भयभेरवाइं दिस्स ।
विविहगुणतवोरए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ॥

प्रतिमा प्रतिपद्य श्मशाने,
नो बिभेति भयभैरवानि दृष्ट्वा ।
विविधगुणतपोरतश्च नित्य,
न शरीर चाभिकाङ्क्षति
यः स भिक्षुः ॥१२॥

१२—जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर[४३] अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है[४४], जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता[४५]—वह भिक्षु है ।

१३—असइं वोसट्ठचत्तदेहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स
भिक्खू ॥

असकृद् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः,
आक्रुष्टो वा हतो वा लूपितो वा ।
पृथ्वीसमो मुनिर्भवेत्,
अनिदानोऽकौतूहलो
यः स भिक्षुः ॥१३॥

१३—जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है[४६], जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्व-सह[४७] होता है, जो निदान नहीं करता[४८], जो नाटक आदि देखने की इच्छा नहीं करता—वह भिक्षु है।

१४—अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं
तवे[५२] रए सामणिए जे स भिक्खू ॥

अभिभूय कायेन परिषहान्,
समुद्धरेज्जातिपथादात्मकम् ।
विदित्वा जातिमरण महाभय,
तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः॥१४॥

१४—जो शरीर के[४९] परीषहों को[५०] जीतकर (सहनकर) जाति-पथ (ससार) से[५१] अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—वह भिक्षु है ।

१५—हत्थसजए पायसंजए
वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥

हस्तसयतः पादसयतः,
वाक्सयतः सयतेन्द्रियः ।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा,
सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः॥१५॥

१५—जो हाथों से सयत है, पैरों से सयत[५३] है, वाणी से सयत[५४] है, इन्द्रियों से सयत[५५] है, जो अध्यात्म[५६] में रत है, जो भलीभाँति समाधिस्थ है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है ।

१६—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥

उपधौ अमूर्च्छितोऽगृद्ध ,
अज्ञातोञ्छ पुलोनिष्पुलाकः ।
क्रयविक्रयसन्निधितो विरतः,
सर्वसङ्गापगतो यः स भिक्षुः ॥१६॥

१६—जो मुनि वस्त्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है[५७], जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो सयम को असार करने वाले दोषों से रहित है[५८], जो क्रय विक्रय और सन्निधि से[५९] विरत[६०] है, जो सब प्रकार के सगों से रहित है (निर्लेप है)[६१]—वह भिक्षु है ।

१७—अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं[६३] चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥

अलोलोभिक्षुर्न रसेषु गृद्धः,
उञ्छ चरे ज्जीवित नाभिकाङ्क्षेत् ।
ऋद्धिं च सत्कारण पूजनञ्च,
त्यजति स्थितात्मा अनिभो
यः स भिक्षुः ॥१७॥

१७—जो अलोलुप है[६२], रसों में गृद्ध नहीं है, जो उञ्छचारी है (अज्ञात कुलों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है), जो असयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि[६४], सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा[६५] है, जो माया रहित है—वह भिक्षु है ।

१८—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

न परं वदेदयं कुशीलः,
येनान्यः कुप्येन्न तद् वदेत्।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं,
आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः॥१८॥

१८—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं[११]—ऐसा जानकर जो दूसरे को[१] 'यह कुशील (दुराचारी)' है[१२] ऐसा नहीं कहता जिससे दूसरा (सुनने वाला) कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता (मद नहीं करता)—वह भिक्षु है।

१९—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥

न जातिमत्तो न च रूपमत्तः,
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः॥१९॥

१९—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को[१] वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०—पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयइ परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू॥

प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं
न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः॥२०॥

२०—जो महामुनि आर्य (धर्म)[१४] का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिङ्ग का[१५] वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहल-पूर्ण चेष्टा नहीं करता[१६]—वह भिक्षु है।

२१—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं॥
त्ति बेमि।

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं
सदा त्यजेन्नित्यहितः स्थितात्मा।
छित्त्वा जातिमरणस्य बन्धनम्
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम्॥२१॥
इति ब्रवीमि।

२१—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को[१७] सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन १०

श्लोक १ :

१. (निक्खम्ममाणाए क) :

यहाँ म्कार अलाक्षणिक है।

२. तीर्थकर के उपदेश से (आणाए क) :

आज्ञा का अर्थ वचन, सन्देश[१], उपदेश[२] या आगम है[३]। इसका पाठान्तर 'आदाय' है। उसका अर्थ है ग्रहणकर अर्थात् तीर्थङ्करों की वाणी को स्वीकार कर[४]।

३. निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले) (निक्खम्म क) :

निष्क्रम्य का भावार्थ—

अगस्त्य चूर्णि[५] में घर या आरम्भ-समारम्भ से दूर होकर, सर्वसंग का परित्याग कर किया है।

जिनदास चूर्णि[६] में गृह से या गृहस्थभाव से दूर होकर द्विपद आदि को छोड़कर किया है।

टीका[७] में द्रव्य-गृह और भाव-गृह से निकल (प्रव्रज्या ग्रहण कर) किया है।

द्रव्य-गृह का अर्थ है—घर। भाव-गृह का अर्थ है गृहस्थ-भाव—गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपंच और सम्बन्ध। इस तरह चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। टीकाकार ने चूर्णिकार के ही अर्थ को गूढ़ रूप में रखा है।

४. निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (बुद्धवयणे क) :

तत्त्वों को जानने वाला[८] अथवा जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो[९], वह व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। जिनदास महत्तर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित करते हैं। शिष्य ने कहा कि 'बुद्ध' शब्द से शाक्य आदि का बोध होता है। आचार्य ने कहा—यहाँ द्रव्य-बुद्ध-पुरुष (और द्रव्य-भिक्षु) का नहीं, किन्तु भाव-बुद्ध पुरुष (और भाव-भिक्षु) का ग्रहण किया है। जो ज्ञानी कहे जाते हैं पर सम्यक् दर्शन के अभाव से जीवाजीव के भेद को नहीं जानते और पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करते हैं, वे द्रव्य बुद्ध (और द्रव्य-भिक्षु) हैं—नाम मात्र के बुद्ध (और

१—अ० चू० आणा वयण सदेसो वा।

२—हा० टी० प० २६५ 'आज्ञया' तीर्थकरगणधरोपदेशेन।

३—जि० चू० पृ० ३३८ आणा वा आणत्ति नाम उववायोत्ति वा उवदेसोत्ति वा आगमोत्ति वा एगट्ठा।

४—जि० चू० पृ० ३३७ अथवा निष्क्रम्य—आदाय, 'बुद्धवयण' बुद्धा —तीर्थंकरा तेषां वचनमादाय गृहीत्वेत्यर्थः।

५—अ० चू० निक्खम्म निक्खम्मिऊण निग्गच्छिऊण गिहातो आरभातो वा।

६—जि० चू० पृ० ३३७ निष्क्रम्य, तीर्थकरगणधराज्ञया निष्क्रम्य सर्वसंगपरित्यागं कृत्वेत्यर्थः · ··निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थ भावाओ वा दुपदादीणि य चइऊण।

७—हा० टी० प० २६५ 'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः।

८—देखें पृ० ५२२ पाद-टि० ३।

९—देखें पृ० ५२२ पाद-टि० २।

१८—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

न परं वदेदयं कुशीलः
येनान्यः कुप्येन्न तद् वदेत्।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं,
आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः॥१८॥

१८—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं—ऐसा जानकर जो दूसरे को यह कुशील (दुराचारी) है ऐसा नहीं कहता जिससे दूसरा (सुनने वाला) कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता (गर्व नहीं करता)—वह भिक्षु है।

१९—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥

न जातिमत्तो न च रूपमत्तः,
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य,
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः॥१९॥

१९—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०—पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू॥

प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं
न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः॥२०॥

२०—जो महामुनि आर्य (धर्म) पद का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील लिङ्ग का वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहल पूर्ण चेष्टा नहीं करता—वह भिक्षु है।

२१—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं॥
त्ति बेमि।

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं,
सदा त्यजेन्नित्यहितस्थितात्मा।
छित्त्वा जातिमरणस्य बन्धनम्
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम्॥२१॥
इति ब्रवीमि।

२१—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

गया है। उसी को यहाँ दोहराया है। प्रश्न होता है एक ही आगम में इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ क्यों ? आचार्य ने उत्तर दिया—शिष्य को स्थिर मार्ग पर आरूढ करने के लिए ऐसा किया गया है, इसलिए यह पुनरुक्त दोष नहीं है।

(१) पुत्र विदेश जाता है तब पिता उसे शिक्षा देता है। कर्तव्य की विस्मृति न हो जाए, इसलिए वह अपनी शिक्षा की कई पुनरावृत्तियाँ कर देता है।

(२) सभ्रम या स्नेहवश पुनरुक्ति की जाती है, जैसे—साँप है—आ, आ, आ।

(३) रोगी को बार-बार औषध दिया जाता है।

(४) मन्त्र का जप तब तक किया जाता है जब तक वेदना का उपशम नहीं होता। इन सबमें पुनरावर्तन है पर उनकी उपयोगिता है, इसलिए वे पुनरुक्त नहीं माने जाते। वही पुनरावर्तन या पुनरुक्ति दोष माना जाता है जिसकी कोई उपयोगिता न हो।

लौकिक और वैदिक-साहित्य में भी अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। तात्पर्य यही है कि प्रकृत विषय की स्पष्टता, उसके समर्थन या उसे अधिक महत्त्व देने के लिए उसका उल्लेख किया जाता है, वह दोष नहीं है।

६. पृथ्वी का खनन न करता है (पुढविं न खणे क) :

पृथ्वी जीव है[१]। उसका खनन करना हिंसा है। जो पृथ्वी का खनन करता है, वह अन्य त्रस-स्थावर जीवों का भी वध करता है। खनन शब्द यहाँ सांकेतिक है। इसका भाव है—मन, वचन, काया से ऐसी कोई भी क्रिया न करना, न कराना और न अनुमोदन करना जिससे पृथ्वी-जीव की हिंसा हो।

देखिए—४ सू० १८, ५ १ ३, ६ २७,२८,२९, ८.४,५।

१०. शीतोदक (सीओदगं ख) :

जो जल शस्त्र-हत नहीं होता (सजीव होता है) उसे शीतोदक कहते हैं[२]। इसी सूत्र के चौथे अध्ययन (सू० ५) में कहा है—'आऊ चित्तमतमक्खाया '' अन्नत्थ सत्थ परिणएणं।'

११. न पीता है और न पिलाता है (न पिए न पियावए ख) :

पीना-पिलाना केवल सांकेतिक शब्द हैं। इनका भावार्थ है—ऐसी कोई क्रिया या कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जल की हिंसा हो।

देखिए—४ सू० १९, ६ २९,३०,३१, ७ ३९, ८ ६,७,५१,६२।

१२. शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण (सुनिसियं ग) :

जैसे शस्त्र की तेज धार घातक होती है, वैसे ही अग्नि छह जीवकाय की घातक है। इसलिए इसे 'सुनिशित' कहा जाता है[३]।

१—दश० ४ सू० ४ पुढवी चित्तमतमक्खाया 'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

२—(क) अ० चू० सीतोदग अविगतजीवं।

(ख) जि० चू० पृ० ३३९ 'सिओदगं' नाम उदगं असत्थहयं सजीवं सीतोदगं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २६५ 'शीतोदकं' सचित्तं पानीयम्।

३—अ० चू० जधाखग्गपरछुरिगादि सत्थं मणुधारं छेदगं तधा समततो दहणरूवं।

नाम मात्र के भिक्षु) हैं। जो पृथ्वी आदि जीवों को जानकर उनकी हिंसा का परिहार करते हैं वे भाव-बुद्ध (और भाव भिक्षु) कहलाते हैं अर्थात् वे ही वास्तव में बुद्ध हैं[1] (और वे ही वास्तव में भिक्षु हैं)। इसलिए यहाँ बुद्ध का अर्थ तीर्थङ्कर या गणधर है[2]। चूर्णिकार ने इस आशंका में उत्तरकालीन प्रसिद्धि को प्रधानता दी है। महात्मा गौतम बुद्ध उत्तरकाल में बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गए। जैन-साहित्य में प्राचीनकाल से ही तीर्थङ्कर या आगम निर्माता के अर्थ में बुद्ध शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा है।

बुद्ध-प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) है[3]। द्वादशाङ्गी और उसके आधारभूत धर्मशासन के लिए 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' शब्द आगम विश्रुत है। इसलिए हमने 'बुद्धवयणे' का अनुवाद नहीं किया।

५ समाहित चित्त (चित्तसमाहिओ [क]) :

जिसका चित्त सम्—अच्छी तरह से आहित—लीन होता है उसे समाहित चित्त कहते हैं[4]। जो चित्त से अतिप्रसन्न होता है उसे समाहित चित्त कहते हैं[5]। समाहित चित्त अर्थात् चित्त की समाधि वाला—प्रसन्नता वाला।

चित्त-समाधि का सबसे बड़ा विघ्न विषय की अभिलाषा है। स्पर्श रस आदि विषयों में स्त्री-सम्बन्धी विषयेच्छा सर्वाधिक दुर्जेय है इसलिए श्लोक के अगले दोनों चरणों में चित्त-समाधि की सबसे बड़ी व्याधि से बचने का मार्ग बताया गया है[6]।

६ जो वमे हुए को वापस नहीं पीता (वंत नो पडियायई [ख]) :

इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए २.६,७,८ का अर्थ और टिप्पण। यह यहाँ प्रयुक्त—'नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे'। 'वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे'—वाक्यों की याद दिलाता है।

७ भिक्षु (भिक्खू [ग])

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार भिक्षु की व्याख्या इस प्रकार है—जो निरभिमान विनीत पाप-मल को धोने वाला दान्त बन्धन-मुक्त होने योग्य निर्मम, नाना प्रकार के परीषह और उपसर्गों से अपराजित अध्यात्मयोगी विशुद्ध-चारित्र-सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा यशस्वी या विवेकशील और परदत्त भोजी हो वह भिक्षु कहलाता है[7]।

श्लोक २

८ श्लोक २-३ :

पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति की हिंसा के परिहार का उपदेश चौथे, पाँचवें छठे और आठवें अध्ययन में दिया

१—जि० चू० पृ० ३४९ : भाव—बुद्धा पुढवादीहिं व समतत्थं ण जहत्थं जाणइ, भावतिओ भाव—ण पुण दव्वबुद्धाणं दव्वभिक्खूण व पढमं कथं भई ते दव्वबुद्धा दव्वभिक्खुणो ? जम्हा ते सम्मदंसणाभावेण जीवाजीवविसेसं अजाणमाणा पुढविमाई जीवे हिंसमाणा दव्वबुद्धा दव्वभिक्खू य भवंति कहं तेहिं चित्तसमाहियत्तं भविस्सइ जे जीवाजीवविसेसं ण याणंतीति ? जे पुढविमादि जीवे जाणिऊण परिहरंति ते भावबुद्धा भावभिक्खू य भण्णंति छज्जीवनिकायजाणओ य रक्खणपरो य भावभिक्खू भवति।

२—हा० टी० प० २६६ : 'बुद्धवयणे' अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने।

३—अ० चू० : बुद्धा जाणगा तेसिं वयणं—बुद्धवयणं दुवालसंगं गणिपिडगं।

४—जि० चू० पृ० ३३८ : चित्तं पसिद्धं तं सम्मं आहितं जस्स सो चित्तसमाहिओ।

५—हा० टी० प० २६६ : 'चित्तसमाहितः' चित्तातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः।

६—अ० चू० : चित्त समाधाण विग्घभूता विसया तत्थवि पाहण्णेण इत्थिविसयत्ति भण्णति—इत्थीणवसं।

७—सूत्र० १.१६.३ : एत्थवि भिक्खू अणुण्णए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोग-सुद्धादाणे उवट्ठिए ठियप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खुत्ति वच्चे।

भक्षण करना अनाचीर्ण है। प्रश्न हो सकता है शस्त्र-परिणत अचित्त वनस्पति कहाँ मिलेगी ? इसका समाधान यह है—गृहस्थों के यहाँ नाना प्रयोजनों से कन्द, मूल, फल और बीज का स्वाभाविक रूप से छेदन-भेदन होता ही रहता है। खाने के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियाँ छेदी-भेदी और पकाई जाती हैं। साधु ऐसी अचित्त (प्रासुक—निर्जीव) वनस्पतियाँ प्राप्त हों तो ले, अन्यथा नहीं। कहा है—'भूख से पीड़ित होने पर भी संयम बल वाले तपस्वी साधु को चाहिए कि वह फल आदि को स्वयं न तोड़े, न दूसरों से तुड़ाए, न स्वयं पकाए, न दूसरों से पकवाए[1]।'

इस विषय में बौद्धों का नियम जान लेना भी आवश्यक है। विनयपिटक में कहा है—"जो भिक्षुणी कच्चे अनाज को माँगकर या मगवाकर, भूनकर या भूनवाकर, कूटकर या कुटवाकर, पकाकर या पकवाकर, खाए उसे 'पाचित्तिय' कहा है[2]।" इसी तरह वहाँ कहा है—"जो भिक्षुणी पेशाब या पाखाने को, कूड़े या जूठे को हरियाली पर फेंके उसे 'पाचित्तिय' कहा है[3]।" इसी तरह वृक्ष काटने को 'पाचित्तिय' कहा है[4]।

एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। उनके पेट में वायु की पीड़ा उत्पन्न हुई। आनन्द ने स्वयं तिल, तन्दुल और मूग को माँग, आराम के भीतर ला, स्वयं पका यवागू (खिचड़ी) बुद्ध के सामने उपस्थित की। बुद्ध ने यवागू कहाँ से आई, यह जाना। उसकी उत्पत्ति की बात जान फटकारते हुए बोले—"आनन्द! अनुचित है, अकरणीय है। आनन्द! जो कुछ भीतर रखा गया है वह भी निषिद्ध है, जो कुछ भीतर पकाया गया है वह भी निषिद्ध है, जो स्वयं पकाया गया है वह भी निषिद्ध है। जो भीतर रखे, भीतर पकाए और स्वयं पकाए को खाए उसे दुक्कट का दोष हो और द्वार पर पकाए तो दोष नहीं, बाहर रखे, बाहर पकाए किन्तु दूसरों द्वारा पकाए का भोजन करे तो दोष नहीं[5]।"

एक बार राजगृह में दुर्भिक्ष पड़ा। बाहर रखने से दूसरे ले जाते थे। बुद्ध ने भीतर रखने की अनुमति दी। भीतर रखवाकर बाहर पकाने में भी ऐसी ही दिक्कत थी। बुद्ध ने भीतर पकाने की अनुमति दी। दूसरे पकाने वाले बहु भाग ले जाते थे। बुद्ध ने स्वयं पकाने की अनुमति दी। नियम हो गया—"भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ भीतर रखे, भीतर पकाए और हाथ से पकाए की[6]।"

श्लोक ४ :

१८. औद्देशिक (उद्देसियं ग) :

इसके अर्थ के लिए देखिए दश० ३.२ का अर्थ और टिप्पण।

१९. न पकाता है और न पकवाता है (नो वि पए न पयावए घ) :

'पकाते हुए की अनुमोदना नहीं करता' इतना अर्थ यहाँ और जोड़ लेना चाहिए। पकाने और पकवाने में त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा होती है अतः मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से पाक का वर्जन किया गया है।

श्लोक २ और ३ में स्थावर जीव (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) का खनन आदि क्रियाओं

१—उत्त० २.२।
२—भिक्खुनी पात्तिमोक्ख अ० ४.७।
३— ,, ,, ४.८।
४— ,, ,, ५.११।
५—वि० पि० म० अ० ३.८।
६—वि० पि० म० अ० ६।

१३ न जलाता है और न जलवाता है (न जले न जलावए [ग])

'जलाना' केवल सांकेतिक शब्द है। भाव यह है कि ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे अग्नि का नाश हो।
देखिए—४ सू० २० ६ ३२,३३ ३४,३५ ८.८

श्लोक ३

१४ पंखे आदि से (अनिलेण [क])

चूर्णिद्वय में 'अनिल' का अर्थ वायु[1] और टीका में उसका अर्थ 'अनिल' के हेतुभूत वस्त्र-कोण आदि किया है[2]।

१५ हवा न करता है और न कराता है (न वीए न वीयावए [ख]):

हवा लेना केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वायु का हनन हो।
देखिए—४ सू० २१; ६ ३६,३७ ३८,३९; ८.९

१६ छेदन न करता है और न कराता है (न छिंदे न छिंदावए [ग]):

छेदन शब्द केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वनस्पतिकाय का हनन हो।
देखिए—४ २२; ६ ४१ ४२ ४३ ८.१ ११

१७ सचित्त का आहार नहीं करता (सचित्तं नाहारए [घ]):

जैन-दर्शन के अनुसार वनस्पतिकाय सजीव है। भगवान् ने कहा है—सुसमाहित संयमी मन वचन काय द्वारा तीन प्रकार से (करने कराने और अनुमोदन रूप से) वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते। जो साधु वनस्पतिकाय की हिंसा करता है वह तदाश्रित दिखे जाते हुए और नहीं दिखे जाते हुए विविध त्रस प्राणियों की भी हिंसा करता है। साधु दुर्गति को बढ़ाने वाले इस वनस्पतिकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग करे (दश० ६ ४१ ४२)। दश० ४ सूत्र २२ में वनस्पति की तीन करण तीन योग से विराधना न करने की व्रत-प्रज्ञप्ति दी है। दश० ८.१० ११ में कहा है—'साधु तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादि के फल और मूल को न काटे तथा नाना प्रकार के सचित्त बीजों के सेवन की मन से भी इच्छा न करे। वृक्षों के कुंज में एवं गहन वन में बीजों पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर उदक पर, सर्पच्छत्रा पर पनक पर एवं शैवाल-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न हो।"

सूत्रकृताङ्ग १ ७ ८,९ में कहा है—"हरित वनस्पति सजीव है। मूल शाखा और पत्रादि में पृथक्-पृथक् जीव हैं। जो अपने सुख के लिए—आहार और देह के लिए उसका छेदन करता है वह प्रगल्भ बहुत प्राणियों का अतिपात करता है। जो बीज का नाश करता है वह जाति-अंकुर और उसकी वृद्धि का विनाश करता है वह अनार्यधर्मी है। इसी तरह आचाराङ्ग १ १ ५ में वनस्पतिकाय के आरम्भ-त्याग का उपदेश दिया है। इस श्लोक में मुनि के लिए सचित्त वनस्पति खाने का निषेध है[3]।

जो वनस्पति सचित्त है—शस्त्रादि के प्रयोग से पूर्ण परिणत नहीं (अचित्त नहीं हुई) है उसका भक्षण साधु न करे। उसका

१—(क) अ० चू०: अनिलो वायू।
(ख) जि० चू० पृ० ३३ : अनिलो वाऊ भण्णइ।
२—हा० टी० प० २६५ : 'अनिलेन' अनिलहेतुना चेलकर्णादिना।
३—जि० चू० पृ० ३३१ : सचित्तग्गहणेण सव्वस्स पत्तेयसाहारणस्स वणस्सइकायस्स गहणं कयं, तं सचित्तं णो आहारेज्जा।

भक्षण करना अनाचीर्ण है। प्रश्न हो सकता है शस्त्र-परिणत अचित्त वनस्पति कहाँ मिलेगी? इसका समाधान यह है—गृहस्थों के यहाँ नाना प्रयोजनों से कन्द, मूल, फल और बीज का स्वाभाविक रूप से छेदन-भेदन होता ही रहता है। खाने के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियाँ छेदी-भेदी और पकाई जाती हैं। साधु ऐसी अचित्त (प्रासुक—निर्जीव) वनस्पतियाँ प्राप्त हों तो ले, अन्यथा नहीं। कहा है—'भूख से पीड़ित होने पर भी संयम बल वाले तपस्वी साधु को चाहिए कि वह फल आदि को स्वयं न तोड़े, न दूसरों से तुड़ाए, न स्वयं पकाए, न दूसरों से पकवाए[1]।'

इस विषय में बौद्धों का नियम जान लेना भी आवश्यक है। विनयपिटक में कहा है—"जो भिक्षुणी कच्चे अनाज को माँगकर या मंगवाकर, भूनकर या भूनवाकर, कूटकर या कुटवाकर, पकाकर या पकवाकर, खाए उसे 'पाचित्तिय' कहा है[2]।" इसी तरह वहाँ कहा है—"जो भिक्षुणी पेशाब या पाखाने को, कूड़े या जूठे को हरियाली पर फेंके उसे 'पाचित्तिय' कहा है[3]।" इसी तरह वृक्ष काटने को 'पाचित्तिय' कहा है[4]।

एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। उनके पेट में वायु की पीड़ा उत्पन्न हुई। आनन्द ने स्वयं तिल, तन्दुल और मूंग को माँग, आराम के भीतर ला, स्वयं पका यवागू (खिचड़ी) बुद्ध के सामने उपस्थित की। बुद्ध ने यवागू कहाँ से आई, यह जाना। उसकी उत्पत्ति की बात जान फटकारते हुए बोले—"आनन्द! अनुचित है, अकरणीय है। आनन्द! जो कुछ भीतर रखा गया है वह भी निषिद्ध है, जो कुछ भीतर पकाया गया है वह भी निषिद्ध है, जो स्वयं पकाया गया है वह भी निषिद्ध है। जो भीतर रखे, भीतर पकाए और स्वयं पकाए को खाए उसे दुक्कट का दोष हो और द्वार पर पकाए तो दोष नहीं, बाहर रखे, बाहर पकाए किन्तु दूसरो द्वारा पकाए का भोजन करे तो दोष नहीं[5]।"

एक बार राजगृह में दुर्भिक्ष पड़ा। बाहर रखने से दूसरे ले जाते थे। बुद्ध ने भीतर रखने की अनुमति दी। भीतर रखवाकर बाहर पकाने में भी ऐसी ही दिक्कत थी। बुद्ध ने भीतर पकाने की अनुमति दी। दूसरे पकाने वाले बहु भाग ले जाते थे। बुद्ध ने स्वयं पकाने की अनुमति दी। नियम हो गया—"भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ भीतर रखे, भीतर पकाए और हाथ से पकाए की[6]।"

श्लोक ४:

१८. औद्देशिक (उद्देसियं ग):

इसके अर्थ के लिए देखिए दश० ३ २ का अर्थ और टिप्पण।

१९. न पकाता है और न पकवाता है (नो वि पए न पयावए घ):

'पकाते हुए की अनुमोदना नहीं करता' इतना अर्थ यहाँ और जोड़ लेना चाहिए। पकाने और पकवाने में त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा होती है अतः मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से पाक का वर्जन किया गया है।

श्लोक २ और ३ में स्थावर जीव (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) का खनन आदि क्रियाओं

१—उत्त० २ २।

२—भिक्खुनी पातिमोक्ख अ० ४ ७।

३— ,, ,, ४ ८।

४— ,, ,, ५ ११।

५—वि० पि० म० अ० ३ ८।

६—वि० पि० म० अ० ६।

गणीपिटक में जिसका योग (मन, वचन और काया) हो, जो पाँच प्रकार के स्वाध्याय में रत हो, जिसके धन (चतुष्पद) आदि न हों, वह 'ध्रुवयोगी' है[1]।

जिनदास महत्तर के अनुसार जो क्षण, लव और मुहूर्त में जागरूकता आदि गुणयुक्त हो, प्रतिलेखन आदि संयम के कार्य को नियमित रूप से करने वाला हो, सावधान होकर मन, वचन और काया से प्रवृत्ति करने वाला हो, बुद्ध-वचन (द्वादशाङ्गी) में निश्चल योग वाला हो, सदा श्रुत में उपयुक्त हो, वह 'ध्रुवयोगी' कहलाता है[2]।

२४. गृहियोग (गिहिजोगं [घ]) :

चूर्णियों में गृहियोग का अर्थ पचन-पाचन, क्रय-विक्रय आदि किया है[3]। हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—मूर्च्छावश गृहस्थ-सम्बन्ध किया है[4]।

श्लोक ७ :

२५. सम्यक्-दर्शी (सम्मद्दिट्ठी [क]) :

जिसका जिन-प्रतिपादित जीव, अजीव आदि पदार्थों में सम्यग्-विश्वास होता है, उसे सम्यक्-दर्शी—सम्यक् दृष्टि कहा जाता है[5]।

२६. अमूढ़ है (अमूढे [क]) :

मिथ्या विश्वासों में रत व्यक्तियों का वैभव देखकर मूढ भाव लाने वाला अपने दृष्टिकोण को सम्यक् नहीं रख सकता। इसलिए सम्यग्-दृष्टि बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह अमूढ़ बना रहे। ज्ञान, तप और संयम हैं—यह श्रद्धा अमूढ दृष्टि के ही होती है। मूढ-दृष्टि को इस तत्त्व-त्रयी में विश्वास नहीं होता। इसलिए भिक्षु को अमूढ रहना चाहिए[6]।

२७. (अत्थि हु [ख]) :

'ज्ञान, तप और संयम जिनशासन में ही हैं, कुप्रवचनों में नहीं हैं'—इस प्रकार भिक्षु को अमूढ-दृष्टि होना चाहिए। यह जिनदास

१—अ० चू० बुद्धा जा तेसिं वयणं बुद्धवयणं तम्मि जोगो कायवातमणेमत कम्म सो धुवो जोगो जस्स सो धुवजोगीति जोगेण जहा करणीयमायुत्तेण पडिलेहणादि जो जोगो तत्थ निच्चजोगिणाण पुण कदापि करेति कदापि न करेति, भणितं च—

जोगो जोगो जिणसासणमि दुक्खक्खुद्धवयणे।
दुवालसगे गणिपिडए धुवजोगी पचविध सज्झायपरो॥

२—जि० चू० पृ० ३४१ धुवजोगी णाम जो खणलवमुहुत्त पडिबुज्झमाणादिगुणजुत्तो सो धुवजोगी भवइ, अहवा जे पडिलेहणादि संजम-जोगा तेहि धुवजोगी भवेज्जा, ण ते अण्णदा कुज्जा' 'अहवा मणवयणकायए जोगे जुजेमाणो आउत्तो जुजेज्जा, अहवा बुद्धाण वयण दुवालसंग तमि धुवजोगी भवेज्जा, उवओवउत्तो सव्वकाल भवेज्जत्ति।

३—(क) अ० चू० · गिहिजोगो—जो तेसिं वायारो पयण पयावण त।

(ख) जि० चू० पृ० ३४२ गिहिजोगो नाम पयणविक्कयमादि।

४—हा० टी० प० २६६ 'गृहियोग' मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धम्।

५—अ० चू० सब्भाव सद्दहणा लक्खणा समादिट्ठी जस्स सो सम्मदिट्ठी।

६—(क) अ० चू० परतित्थिविभवादीहि अमूढे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४२ अण्णतित्थियाण सोऊण अण्णेसिं रिद्धीओ दट्ठूण अमूढो भवेज्जा, अहवा सम्मद्दिट्ठिणा जो इदाणिं अत्थो भण्णइ तमि अत्थि सया अमूढा दिट्ठी कायव्वा।

(ग) हा० टी० प० २६६ 'अमूढ' अविप्लुत।

चूर्णि में 'अत्थि हु' का अर्थ किया है[1] और टीका में—'ज्ञान तप और संयम है' भिक्षु अमूढ़ भाव से इस प्रकार मानता है—यह किया है[2]।

२८ मन, वचन तथा काय से सुसंवृत्त (मणवयकायसुसंवुडे [ग])

अकुशल मन का निरोध अथवा कुशल मन की उदीरणा करना मन से सुसंवृत्त होना है। अकुशल वचन का निरोध और प्रशस्त वचन की उदीरणा अथवा मौन रहना वचन से सुसंवृत्त होना है। विहित नियमों के अनुसार आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ करना—काया से अकरणीय क्रियाएँ नहीं करना—काय से सुसंवृत्त होना है[3]।

श्लोक ८

२९ परसों (परे [ग])

इसका मूल 'परे' है। टीका में इसका अर्थ 'परसों' किया है[4] और जिनदास चूर्णि में तीसरा चौथा आदि दिन किया है[5]।

३० न सन्निधि (संचय) करता है (न निहे [घ]):

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—बासी नहीं रखता[6]। टीका में इसका अर्थ है—स्थापित कर नहीं रखता। भावार्थ है—संग्रह नहीं करता[7]।

इस श्लोक के साथ मिलाएँ :

अन्नानमथो पानानं खादनीयानमथोऽपि वत्थानं ।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा न च परित्तसे तानि अलभमानो ॥ सुत्तनिपात ५२.१० ।

श्लोक ९

३१ साधर्मिकों को (साहम्मियाण [ग])

साधर्मिक का अर्थ समान धार्मिक साधु है। साधु भोजन के लिए विषम-धर्मी साधु तथा गृहस्थ को निमन्त्रित नहीं कर सकता। अपने संघ के साधुओं को—जो महाव्रत तथा अन्य नियमों की दृष्टि से समान धर्मी हैं उन्हें ही निमन्त्रित कर सकता है[8]।

१—जि० चू० पृ० ३४७ : अत्थि हु जोगे नाणे य तस्स नाणस्स फलं संजमे य संजमस्स फलं तानि य इहमवि चेव जिणवयणे संवुज्झाणि जो अमूढ़ कुव्वावभेयाति।

२—हा० टी० प० २६६ 'अमूढ़' अविप्लुत सम्यग्दृष्टि सन्नव—मन्येत ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलकल्पं संयमं च नवकर्मानुपादानफलं।

३—जि० चू० पृ० ३४७ : मणवयणकायजोगा जस्स संवुडा भवंति सो मणवयणकायसुसंवुडे, तत्थ मणेणं ताव अकुसलमणनिरोधं करेइ, कुसलमणउदीरणं च, वायाएवि पसत्थाणि वायाणि उदीरेइ अपसत्थाणि निरुंभइ मोणं वा आसेवति, काएण सयणासणादाणनिक्खेवठाणचंकमणाइसु कायचेट्ठाविसेसं कुव्वति सेसाणि य अकरणिज्जाणि य न कुव्वइ।

४—हा० टी० प० २६६ : परश्वः।

५—जि० चू० पृ० ३४७ : परग्गहणेण तइयचउत्थमादीण दिवसाणं गहणं कयं।

६—जि० चू० पृ० ३४७ : 'न निहे न निहावए' नाम न परिवासियं भुंजतीति भवति।

७—हा० टी० प० २६६ : 'न निधत्ते' न स्थापयति।

८—अ० चू० : साधम्मिया समानधम्मिया साधवो।

३२. निमन्त्रित कर (छंदिय ग) :

छद का अर्थ इच्छा है। इच्छापूर्वक निमन्त्रित कर—यह 'छंदिय' का अर्थ है[१]। इसका भावार्थ है—जो आहार आदि प्राप्त किया हो उसमें समविभाग के लिए समान-धर्मी साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए और यदि कोई लेना चाहे तो बांटकर भोजन करना चाहिए[२]। इस नियम के अर्थ को समझने के लिए देखिए—५ १ ९४,९५,९६ का अर्थ और टिप्पण।

श्लोक १० :

३३. कलहकारी कथा (वुग्गहियं कहं क) :

विग्रह का अर्थ कलह, युद्ध या विवाद है। जिस कथा, चर्चा या वार्ता से विग्रह उत्पन्न हो, उसे वैग्रहिकी-कथा कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अमुक राजा, देश या और कोई ऐसा है—इस प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए। प्राय. ऐसा होता है कि एक व्यक्ति किसी के बारे में कुछ कहता है और दूसरा तत्काल उसका विरोध करने लग जाता है। बात ही बात में विवाद बढ जाता है, कलह हो जाता है[३]।

जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ कलह-प्रतिबद्ध-कथा किया है[४]। सारांश यह है कि युद्ध-सम्बन्धी और कलह या विवाद उत्पन्न करने वाली कथा नहीं करनी चाहिए। सुत्तनिपात (तुवटक सुत ५२.१६) में भिक्षु को शिक्षा देते हुए प्राय' ऐसे ही शब्द कहे गए हैं :

न च कत्थिता सिया भिक्खु, न च वाच पयुतं भासेय्य।
'पागब्भियं' न सिक्खेय्य, कथ विग्गाहिक न कथयेय्य॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ किया है—कलह की बात न करे। गुजराती अनुवाद में (पृ० २०१) अ० धर्मानन्द कोसम्बी ने अर्थ किया है—'भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।'

३४. जो कोप नहीं करता (न य कुप्पे ख) :

इसका आशय है कोई विवाद बढाने वाली चर्चा छेड़े तो उसे सुन मुनि क्रोध न करे अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क उपस्थित करे तो उसे सुन क्रोध न करे[५]।

१—(क) अ० चू० छदो इच्छा इच्छाकारेण जोयण छवण। एव छंदिय।
(ख) हा० टी० प० २६६ 'छन्दित्वा' निमन्त्र्य।

२—जि० चू० पृ० ३४३ अणुग्गहमिति मन्नमाणो धम्मयाते साहम्मियाते छदिया भुंजेज्जा, छदिया णाम निमतिऊण, जइ पडिगाहता तओ तेसिं दाऊण पच्छा सय भुंजेज्जा।

३—अ० चू० विग्गहो कलहो। तम्मि तस्स वा कारण विग्गहिता जधा अमुगो, एरिसो रायादेसो वा। एत्थ सज्जं कलहो समुपज्जति।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ वुग्गहिया नाम कुसुम (कलह) जुत्ता, त वुग्गहिय कह णो कहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २६६ न च 'वैग्रहिकीं' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति।

५—(क) अ० चू० जति वि परो कहेज्ज तधावि अम्ह रायाण देस वा णि दसिति ण कुपेज्जा। वादादौ सयमवि कहेज्जा विग्गह कह ण य पुण कुप्पेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३४३ जयावि केणई कारणेण वादकहा जल्पकहादी कहा भवेज्जा, ताहे त कुव्वमाणो नो कुप्पेज्जा।

चूर्णि में 'अत्थि हु' का अर्थ किया है[1] और टीका में—'ज्ञान, तप और संयम है' भिक्षु अमूढ़ भाव से इस प्रकार मानता है—यह किया है[2]।

२८ मन, वचन तथा काय से सुसंवृत (मणवयकायसुसंवुडे घ)

अकुशल मन का निरोध अथवा कुशल मन की उदीरणा करना मन से सुसंवृत होना है। अकुशल वचन का निरोध और प्रशस्त वचन की उदीरणा अथवा मौन रहना वचन से सुसंवृत होना है। विहित नियमों के अनुसार आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ करना—काया से अकरणीय क्रियाएँ नहीं करना—काय से सुसंवृत होना है[3]।

श्लोक ८

२९ परसों (परे ग)

इसका मूल 'परे' है। टीका में इसका अर्थ 'परसों' किया है[4] और जिनदास चूर्णि में तीसरा चौथा आदि दिन किया है[5]।

३० न सन्निधि (संचय) करता है (न निहे घ)

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—बासी नहीं रखता[6]। टीका में इसका अर्थ है—स्थापित कर नहीं रखता। तात्पर्य है—संग्रह नहीं करता[7]।

इस श्लोक के साथ मिलाएँ

अन्नानमथो पानानं खादनीयानमथोऽपि वत्थानं ।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा न च परित्तसे तानि अलभमानो ॥ सुत्तनिपात ५२ १ ।

श्लोक ९

३१ साधर्मिकों को (साहम्मियाण ग)

साधर्मिक का अर्थ समान धार्मिक साधु है[8]। साधु भोजन के लिए विषम-भोजी साधु तथा गृहस्थ को निमन्त्रित नहीं कर सकता। अपने संघ के साधुओं को—जो महाव्रत तथा अन्य नियमों की दृष्टि से समान-धर्मी हैं उन्हें ही निमन्त्रित कर सकता है।

१—जि० चू० पृ० ३३५ : जहा अत्थि हु जोग भावेण तस्स [illegible] एवं संजमे य संजमस्स [illegible] तावि य इमंमि चेव जिणवयणे सपुण्णाणि, जो [illegible]।

२—हा० टी० प० २६६ : 'अमूढः' अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते—अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः।

३—जि० चू० पृ० ३३५ : मणवयणकायजोगा जस्स सुसंवुडा, [illegible]। तत्थ मणेणं ताव अकुसलमणनिरोधं करेइ, कुसलमणउदीरणं च, वायाएवि पसत्थाणि वायकरणिज्जाणि कुव्वइ मोणं वा आसेवइ कायेण सयणासणठाणादिसु [illegible] कायचिट्ठं कुव्वति तत्थावि य अकरणिज्जाणि य न कुव्वइ।

४—हा० टी० प० २६६ : परश्वः।

५—जि० चू० पृ० ३३५ : परग्गहणेण तइयचउत्थमाईण दिवसाण गहणं कयं।

६—जि० चू० पृ० ३३५ : 'न निहे न निहावए' नाम न परिवासियमिति वुत्तं भवति।

७—हा० टी० प० २६६ : 'न निधत्ते' न स्थापयति।

८—अ० चू० : साहम्मिया समाणधम्मिया साहुणो।

३२. निमन्त्रित कर (छंदिय ग) :

छद का अर्थ इच्छा है। इच्छापूर्वक निमन्त्रित कर—यह 'छंदिय' का अर्थ है[1]। इसका भावार्थ है—जो आहार आदि प्राप्त किया हो उसमें समविभाग के लिए समान-धर्मी साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए और यदि कोई लेना चाहे तो बांटकर भोजन करना चाहिए[2]। इस नियम के अर्थ को समझने के लिए देखिए—५ १ ६४,६५,६६ का अर्थ और टिप्पण।

श्लोक १० :

३३. कलहकारी कथा (वुग्गहियं कहं क) :

विग्रह का अर्थ कलह, युद्ध या विवाद है। जिस कथा, चर्चा या वार्ता से विग्रह उत्पन्न हो, उसे वैग्रहिकी-कथा कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अमुक राजा, देश या और कोई ऐसा है—इस प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि एक व्यक्ति किसी के बारे में कुछ कहता है और दूसरा तत्काल उसका विरोध करने लग जाता है। बात ही बात में विवाद बढ जाता है, कलह हो जाता है[3]।

जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ कलह-प्रतिबद्ध-कथा किया है[4]। सारांश यह है कि युद्ध-सम्बन्धी और कलह या विवाद उत्पन्न करने वाली कथा नहीं करनी चाहिए। सुत्तनिपात (तुवटक सुत ~५.२ १६) में भिक्षु को शिक्षा देते हुए प्रायः ऐसे ही शब्द कहे गए हैं

न च कत्थिता सिया भिक्खु, न च वाच पयुतं भासेय्य।
'पागब्भिय' न सिक्खेय्य, कथ विग्गाहिक न कथयेय्य॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ किया है—कलह की बात न करे। गुजराती अनुवाद में (पृ० २०१) अ० धर्मानन्द कोसम्बी ने अर्थ किया है—'भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पडना चाहिए।'

३४. जो कोप नहीं करता (न य कुप्पे ख) :

इसका आशय है कोई विवाद बढाने वाली चर्चा छेड़े तो उसे सुन मुनि क्रोध न करे अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क उपस्थित करे तो उसे सुन क्रोध न करे[5]।

१—(क) अ० चू० छदो इच्छा इच्छाकारेण जोयण छवण। एव छंदिय।
(ख) हा० टी० प० २६६ 'छन्दित्वा' निमन्त्र्य।

२—जि० चू० पृ० ३४३ अणुग्गहमिति मन्नमाणो धम्मयाते साहम्मियाते छंदिया भुंजेज्जा, छंदिया णाम निमंतिऊण, जइ पडिगाहंता तओ तेसिं दाऊण पच्छा सय भुंजेज्जा।

३—अ० चू० विग्गहो कलहो। तम्मि तस्स वा कारण विग्गहिता जधा अमुगो, एरिसो रायादेसो वा। एत्थ सज्ज कलहो समुपज्जति।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ वुग्गहिया नाम कुलम (कलह) जुत्ता, त वुग्गहिय कह णो कहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २६६ न च 'वैग्रहिकीं' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति।

५—(क) अ० चू० जति वि परो कहेज्ज तधावि अम्ह रायाणं देस वा णि दसित्ति ण कुपेज्जा। वादादौ सयमवि कहेज्जा विग्गह कह ण य पुण कुप्पेज्जा।

३५ जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं (निहुइंदिए ग) :

निभृत का अर्थ विनीत है[1]। जिसकी इन्द्रियाँ विनीत हैं—उद्धत नहीं हैं उसे निभृतेन्द्रिय कहा जाता है[2]।

३६ जो संयम में ध्रुवयोगी है (संजमधुवजोगजुत्ते घ)

'ध्रुव' का अर्थ अवश्य करणीय[3] और सदा है[4]। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया। संयम में मन, वचन, काया—इन तीनों योगों से सदा संयुक्त रहने वाला ध्रुवयोगी कहलाता है[5]।

३७ जो उपशान्त है (उवसंते घ)

इसका अर्थ अनाकुल अव्याक्षिप्त[6] और काया की चपलता आदि से रहित है[7]।

३८ जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता (अविहेडए घ) :

विग्रह विकथा आदि के प्रसंगों में समर्थ होने पर भी जो ताड़ना आदि के द्वारा दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता उसे 'अविहेडक' कहा जाता है—यह चूर्णि की व्याख्या है[8]। टीका के अनुसार जो उचित के प्रति अनादर नहीं करता उसे 'अविहेडक' कहा जाता है। क्रोध आदि का परिहार करने वाला अविहेडक कहलाता है—यह टीका में व्याख्यान्तर का उल्लेख है[9]।

श्लोक ११

३९ कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय विषयों (गामकंटए क) :

विषय शब्द करण इन्द्रिय भूत और गुण से आगे समूह के अर्थ में ग्राम शब्द का प्रयोग होता है—यह शब्दकोश का अभिमत है[10]। आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में ग्राम का अर्थ इन्द्रिय किया है[11]। जो इन्द्रियों को कांटों की भांति चुभें उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जाता है। जैसे शरीर में लगे हुए कांटे उसे पीड़ित करते हैं उसी तरह अनिष्ट शब्द आदि श्रोत्र आदि इन्द्रियों में प्रविष्ट होने पर उन्हें

१—अ० चि० ६.९५ : विनीतस्तु निभृतः प्रश्रितोऽपि च।

२—हा० टी० प० २६६ : 'निभृतेन्द्रिय' अनुद्धतेन्द्रिय।

३—अ० चू० : संजमे धुवो जोगो ... संजमं धुवजोगो कायवायमणो-मतेण जोगेण जुत्ते संजमधुवजोगजुत्ते।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : 'धुवं' नाम सव्वकालं।

(ख) हा० टी० प० २६६ : 'ध्रुवं' सर्वकालम्।

५—जि० चू० पृ० ३४३ : संजमधुवजोगजुत्तो भवेज्जा संजमो पुव्वभणिओ 'धुवं' नाम सव्वकालं जोगो मणमादि, तंमि संजमे सव्वकालं तिविहेण जोगेण जुत्तो भवेज्जा।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : 'उवसंते' नाम अणाउलो अव्वक्खित्तो भवेज्जत्ति।

७—हा० टी० प० २६६ : 'उपशान्तः' अनाकुलः कायचापलादिरहितः।

८—अ० चू० : जो विग्गह विकहादि पसंगेसु समत्थो वि ण ताडणादिणा विहेडयति एवं स अविहेडए।

९—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : 'अविहेडए' नाम जं परं अक्कोसतप्पणादीहिं न विहेडयति से अविहेडए।

(ख) हा० टी० प० २६६ : 'अविहेठकः' न क्वचिदुचितेऽनादरवान् क्रोधादीनां विबाधक इत्यन्ये।

१०—अ० चि० ६.४९ : ग्रामो विषयशब्दास्त्रभूतेन्द्रियगुणाद् व्रजे।

११—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : गामगहणेण इंदियगहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २६७ : ग्रामा—इन्द्रियाणि।

तु खदायी होते हैं अत कर्कश शब्द आदि ग्राम-कण्टक (इन्द्रिय-कण्टक) कहलाते हैं[१]। जो व्यक्ति ग्राम में काँटे के समान चुभने वाले हों, उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जा सकता है। सभव है ग्राम-कण्टक की भाँति चुभन उत्पन्न करने वाली स्थितियों को 'ग्राम-कण्टक' कहा हो। यह शब्द उत्तराध्ययन (२ २५) में भी प्रयुक्त हुआ है .

सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गामकटगा।
तुसिणीउ उवेहेज्जा ण ताउ मणसीकरे॥

४०. आक्रोश वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं (अक्कोसपहारतज्जणाओ [ख]) :

आक्रोश का अर्थ गाली है। चाबुक आदि से पीटना प्रहार[२] और 'कर्मों से डर साधु बना है'—इस प्रकार भर्त्सना करना तर्जना[३] कहलाता है। जिनदास चूर्णि और टीका में आक्रोश, प्रहार, तर्जना को ग्राम-कण्टक कहा है[४]।

४१. वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को (भयभेरवसद्दसंपहासे [ग]) :

भय-भैरव का अर्थ अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला है। 'अत्यन्त भयोत्पादक शब्द से युक्त सप्रहास उत्पन्न होने पर'—इस अर्थ में 'भयभेरवसद्दसपहासे' का प्रयोग हुआ है[५]। टीका में 'सप्रहास' को शब्द का विशेषण मान कर व्याख्या की है—जिस स्थान में अत्यन्त रौद्र भयजनक प्रहास सहित शब्द जहाँ हो, उस स्थान में[६]।

मिलाएँ सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथाओं से —

भिक्खुनो विजिगुच्छतो भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूल सुसान वा पब्बतान गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने॥ (५४४-५)

४२. सहन करता है (सहइ [क]) :

आक्रोश, प्रहार, वध आदि परीषहों को साधु किस तरह सहन करे, इसके लिए देखिए—उत्तराध्ययन २ २४-२७।

श्लोक १२ :

४३. जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहणकर (पडिमं पडिवज्जिया मसाणे [क]) :

यहाँ प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग और अभिग्रह (प्रतिज्ञा) दोनों सभव हैं[७]। कुछ विशेष प्रतिज्ञाओं को स्वीकार कर कायोत्सर्ग

१—जि० चू० पृ० ३४३ जहा कटगा सरीरानुगता सरीर पीडयति तथा अणिट्ठा विपयकटका सोताइदियगामे अणुप्पविट्ठा तमेव इदिय पीडयति।

२—हा० टी० प० २६७ प्रहारा कशादिभि।

३—जि० चू० पृ० ३४३ तज्जणाए जहा एते समणा किवणा कम्मभीता पव्वतिया एवमादि।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ ते य कटगा इमे 'अक्कोसपहारतज्जणाओ।
(ख) हा० टी० प० २६७ 'ग्रामकण्टकान्' ग्रामा—इन्द्रियाणि तद्दु खहेतव कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह—आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति।

५—अ० चू० पच्चवायो भय। रोद्द भैरव वेतालकालिवादीण सद्दो। भयभेरव सद्देहि समेच्च पहसण भयभेरव सद्द सपहासो। तम्मि समुवत्थिते।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४३-३४४ भय पसिद्ध, भय च भेरव, न सव्वमेव भय भेरव, किन्तु ?, तत्थवि ज अतीव दारुण भय त भेरव भण्णइ, वेतालगणादयो भयभेरवकायेण महता सद्देण जत्थ ठाणे पहसति सप्पहासे, त ठाण भयभेरवसप्पहास भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २६७ 'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनका शब्दा सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते तत्तथा तस्मिन्, वेतालादिकृतार्त्तनादाट्टहास इत्यर्थ।

७—हा० टी० प० २६७ 'प्रतिमा' मासादिरूपाम्।

की मुद्रा में स्थित हो श्मशान में ध्यान करने की परम्परा जैन मुनियों में रही है। इसका सम्बन्ध उसी से है[१]।

श्माशानिकाङ्ग बौद्ध भिक्षुओं का ग्यारहवाँ धुताङ्ग है। देखिए—विशुद्धिमार्ग पृ० ७५, ७६।

४४ जो विविध गुणों और तपों में रत होता है (विविहगुणतवोरए ग)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार बौद्ध भिक्षुओं को श्माशानिक होना चाहिए। उनके आचार्यों का ऐसा उपदेश है[२]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सब बहुचारी संन्यासी श्मशान में रहते हैं वे भी नहीं डरते। केवल श्मशान में रहकर नहीं डरना ही कोई बड़ी बात नहीं है। उसके साथ साथ विविध गुणों और तपों में नित्य रत भी रहना चाहिए[३]। निर्ग्रन्थ भिक्षु के लिए यह विशिष्ट मार्ग है।

४५ जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता (न सरीरं चाभिकंखई घ) :

भिक्षु शरीर के प्रति निस्पृह होता है[४]। उसे कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा शरीर उपसर्गों से बच जाये जिससे मेरे शरीर को दुःख न हो या विनाश को प्राप्त न हो[५]।

श्लोक १३

४६ जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है (असइं वोसट्ठचत्तदेहे क)

जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह कहा जाता है[६]। व्युत्सर्ग और त्याग—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं फिर भी आगमों में इनका प्रयोग विशेष अर्थ में रूढ़ है। अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार कर शारीरिक क्रिया का त्याग करने के अर्थ में व्युत्सर्ग का और शारीरिक परिकर्म (मर्दन स्नान और विभूषा) के परित्याग के अर्थ में त्याग शब्द का प्रयोग होता है[७]।

जिनदास महत्तर ने वोसट्ठ का केवल पर्याय-शब्द दिया है[८]। जो कायोत्सर्ग मौन और ध्यान के द्वारा शारीरिक अस्थिरता से निवृत्त होना चाहता है वह 'वोसिरइ' क्रिया का प्रयोग करता है[९]।

हरिभद्रसूरि ने प्रतिबन्ध के अभाव के साथ व्युत्सृष्ट का सम्बन्ध जोड़ा है[१०]। व्यवहार भाष्य की टीका में भी यही अर्थ मिलता है[११]।

१—दशा ७।

२—अ० चू० : जधा सक्कभिक्खूण एस उवदेसो सासाणिएण भवितव्वं। ण य ते तम्मि बिभेंति तस्सातिविसेसमत्थं विसेसिज्जति।

३—जि० चू० पृ० ३४३ : जहा रत्तपडादीवि सुसाणेसु अच्छंति, ण य बीहिंति तप्पविसेसणत्थमिदं भण्णइ।

४—हा० टी० प० २६७ : न शरीरमभिकाङ्क्षते निःस्पृहतया वाञ्छामात्रं नापि च।

५—जि० चू० पृ० ३४३ : ण य सरीरं तदि उवसग्गेहिं वाहिज्जमाणोऽवि अभिकंखइ, जहा अह मम एतं सरीरं न दुक्खाविज्जेज्जा व मा विविधिसिज्जेज्जा।

६—अ० चू० : वोसट्ठो चत्तो य देहो जेण सो वोसट्ठचत्तदेहो।

७—अ० चू० : वोसट्ठो पडिमादिसु णिप्पडिकम्मो। चत्तो ण्हाणुमद्दणादिविभूसाविरहितो चत्तो।

८—जि० चू० पृ० ३४३ : वोसट्ठंति वा वोसिरियंति वा एगट्ठा।

९—आव० ४ : ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

१०—हा० टी० प० २६७ : व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः।

११—व्य० भा० टी० : व्युत्सृष्ट प्रतिबन्धाभावतः त्यक्तः परिकर्म करणतो देहो येन स व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः।

व्यवहार भाष्य में वोसट्ठ, निसट्ठ और चत्त—इन तीनों का भी एक साथ प्रयोग मिलता है[१]। तप के बारह प्रकारों में व्युत्सर्ग एक प्रकार का तप है। उसका संक्षिप्त अर्थ है—शरीर की चेष्टाओं का निरोध[२] और विस्तृत अर्थ है—गण (सहयोग), शरीर, उपधि और भक्त-पान का त्याग तथा कषाय, संसार और कर्म के हेतुओं का परित्याग[३]।

शरीर, उपधि और भक्त-पान के व्युत्सर्ग का अर्थ इस प्रकार है

शरीर की सार-सम्हाल को त्यागना या शरीर को स्थिर करना काय-व्युत्सर्ग कहलाता है। एक वस्त्र और एक पात्र के उपरान्त उपधि न रखना अथवा पात्र न रखना तथा चुल्लपट्ट और कटिबन्ध के सिवाय उपधि न रखना उपधि-व्युत्सर्ग है। अनशन करना भक्त-पान व्युत्सर्ग है[४]।

निशीथ भाष्य में संलेखना, व्युत्सृष्टव्य और व्युत्सृष्ट के तीन तीन प्रकार बतलाये हैं[५]। वे आहार, शरीर और उपकरण हैं[६]।

भगवान् महावीर ने अभिग्रह स्वीकार किया तब शरीर के ममत्व और परिकर्म के परित्याग की संकल्प की भाषा में उन्होंने कहा—'मैं सब प्रकार के उपसर्गों को सहन करूँगा।' यह उपसर्ग-सहन ही शरीर का वास्तविक स्थिरीकरण है और जो अपने शरीर को उपसर्गों के लिए समर्पित कर देता है, उसीको व्युत्सृष्ट-देह कहा जाता है। भगवान् ने ऐसा किया था[७]।

भिक्षु को बार-बार देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसे काया का स्थिरीकरण या कायोत्सर्ग और उपसर्ग सहने का अभिग्रह करते रहना चाहिए।

४७. पृथ्वी के समान सर्वसह (पुढवि समे [ग]) :

पृथ्वी आक्रोश, हनन और भक्षण करने पर भी द्वेष नहीं करती, सबको सह लेती है। उसी प्रकार भिक्षु आक्रोश आदि को निर्वैर भाव से सहन करे[८]।

४८. जो निदान नहीं करता (अनियाणे [घ]) :

जो ऋद्धि आदि के निमित्त तप-संयम नहीं करता[९] जो भाविफलाशंसा से रहित होता है[१०], जो किए हुए तप के बदले में ऐहिक फल की कामना नहीं करता, उसे अनिदान कहते हैं।

१—व्य० भा० वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहाओ।

२—उत्त० ३० ३६ सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

३—भग० २५ ७ औप० तपोधिकार।

४—भग० जोड़ २५ ७।

५—गाथा १७२० संलिहित पि य तिविध, वोसिरियव्व च तिविह वोसट्ठ।

६—नि० चू० आहारो सरीर उवकरण च।

७—आचा० २ ३ १५ सू० ४०२ तओ ण समणे भगव महावीरे 'इम एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ—बारस वासाइ वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जति, तजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्म सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि।

८—जि० चू० पृ० ३४४ जहा पुढवी अक्कुस्समाणी हम्ममाणी भक्खिज्जमाणी च न य किंचि पओस वहइ, तहा भिक्खुणावि सव्वफास-विसहेण होयव्व।

९—जि० चू० पृ० ३४५ माणुसरिद्धिनिमित्त तवसजम न कुव्वइ, से अनियाणे।

१०—हा० टी० प० २६७ 'अनिदानो' भाविफलाशसारहित।

श्लोक १४

४९ शरीर से (काएण क)

अधिकांश परीषह काया से सहे जाते हैं इसलिए यहाँ—काया से परीषहों को जीतकर—ऐसा कहा है। बौद्ध आदि मन को ही सब कुछ मानते हैं। उनसे मतभेद दिखाने के लिए भी 'काय' का प्रयोग हो सकता है[१]। जैन-दृष्टि यह है कि जैसे मन का नियन्त्रण आवश्यक है वैसे काया का नियंत्रण भी आवश्यक है और सच तो यह है कि काया को समुचित प्रकार से नियंत्रित किए बिना मन को नियंत्रित करना हर एक के लिए संभव भी नहीं है।

५० परीषहों को (परीसहाइ क) :

निर्जरा (आत्म-शुद्धि) के लिए और मार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियाँ और मनोभाव सहे जाते हैं, वे परीषह कहलाते हैं[२]। वे क्षुधा, प्यास आदि बाईस हैं[३]।

५१ जाति-पथ (संसार) से (जाइपहाओ ख)

दोनों चूर्णियों में 'जातिवह' और टीका में 'जातिपह'—ऐसा पाठ है। 'जातिवह' का अर्थ जन्म और मृत्यु[४] तथा 'जातिपथ' का अर्थ संसार किया है[५]। 'जातिपथ' शब्द अधिक प्रचलित एवं गम्भीर अर्थ वाला है इसलिए मूल में यही स्वीकृत किया है।

५२ (तवे ग) :

चूर्णिद्वय में 'भवे' और टीका में 'तवे' पाठ है। यह सम्भवतः लिपिदोष के कारण वर्ण विपर्यय हुआ है। श्रामण्य में रत रहता है यह सहज अर्थ है[६]। किन्तु 'तवे' पाठ के अनुसार—श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—यह अर्थ करना पड़ा[७]। श्रामण्य को तप का विशेषण माना है पर वह विशेष अर्थवान् नहीं है।

श्लोक १५

५३ हाथों से संयत, पैरों से संयत (हत्थसंजए पायसंजए क)

जो प्रयोजन न होने पर हाथ-पैरों को कूर्म की तरह गुप्त रखता है और प्रयोजन होने पर प्रतिलेखन प्रमार्जन कर सम्यक् रूप से

१—(क) अ० चू० : परीसहा पायेण काएण सहणीया अतो काएणेति भण्णति। जे बौद्धादयो चित्तमेवमिति तप्पडिसेहत्थं कायग्गहणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सव्वाणं चेयणेतसिया पम्मा इति तं निसेहणत्थमिदमुच्यते।

—हा० टी० प० २६६ : 'कायेन' शरीरेणापि न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनाप्यभिमते तत्त्वतस्तद्भावानभिमतत्वात्।

२—तत्त्वा० ९.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

३—उत्त० २।

४—(क) अ० चू० : जातिवहो पुण भणितो।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : जातिग्गहणेण जम्मणस्स गहणं कयं वहग्गहणेण मरणस्स गहणं कयं।

५—हा० टी० प० २६७ : 'जातिपथात्' संसारमार्गात्।

६—(क) अ० चू० : भवे रत सामण्णे—समणभावो सामण्णं तम्मि रतो भवे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सामण्णम्मि रत भवेज्जा समणभावो सामण्णं भण्णइ।

७—हा० टी० प० २६७ : 'तपसि रतः' तपसि सक्तः, किंभूते इत्याह—'श्रामण्ये' श्रमणानां सम्बन्धिनि शुद्ध इति भावः।

व्यवहार करता है, उसे हाथों से सयत, पैरों से सयत कहते हैं[१]।

देखिए—'सजइदिए' का टिप्पण ५५।

५४. वाणी से संयत (वायसंजए [ख]) :

जो अकुशल वचन का निरोध करता है और कार्य होने पर कुशल वचन की उदीरणा करता है, उसे वाणी से सयत कहते हैं[२]।

देखिए—'सजइदिए' का टिप्पण ५५।

५५. इन्द्रियों से संयत (संजइंदिए [ख]) :

जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा विषय प्राप्त होने पर जो उनमे राग-द्वेष नहीं करता, उसे इन्द्रियो से सयत कहते हैं[३]।

मिलाएँ—

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन सवरो।
घाणेन सवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो॥
कायेन सवरो साधू साधु वाचाय संवरो।
मनसा सवरो साधु साधु सब्बत्थ सवरो।
सब्बत्थ सवुतो भिक्खू सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ धम्मपद २५ १-२।

५६. अध्यात्म (अज्झप्प [ग]) :

अध्यात्म का अर्थ शुभ ध्यान है[४]।

श्लोक १६ :

५७. जो मुनि वस्त्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है (उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे [क]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार मूर्च्छा और गृद्धि एकार्थक भी हैं। जहाँ बलपूर्वक कहना हो या आदर प्रदर्शित करना हो वहाँ एकार्थक शब्दों का प्रयोग पुनरुक्त नहीं कहलाता और उन्होंने इनमें अन्तर बताते हुए लिखा है कि—'मूर्च्छा' का अर्थ मोह और 'गृद्धि'

१—(क) जि० चू० पृ० ३४५ हत्थपाएहि कुम्मो इव णिक्कारणे जो गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावार कुव्वइ, एव कुव्वमाणो हत्थसजओ पायसजओ भवइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ हस्तसयत पादसयत इति-कारण विना कूर्मवल्लीन आस्ते कारणे च सम्यग्गच्छति।

२—(क) जि० चू० पृ० ३४५ वायाएवि सजओ, कह ?, अकुसलवइनिरोध कुव्वइ, कुसलवइउदीरण च कज्जे कुव्वइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ वाक्सयत अकुशलवाग्निरोधकुशलवागुदीरणेन।

३—(क) जि० चू० पृ० ३४५ 'सजइदिए' नाम इदियविसयपयारणिरोध कुव्वइ, विसयपत्तेछ इदियत्थेछ रागद्दोसविणिग्गह च कुव्वतित्ति।

(ख) हा० टी० प० २६७ 'सयतेन्द्रियो' निवृत्तविषयप्रसर।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४५ 'अज्झप्परए' नाम सोभणज्झाणरए।

(ख) हा० टी० प० २६७ 'अध्यात्मरत' प्रशस्तध्यानासक्त।

श्लोक १७ :

६२. जो अलोलुप है (अलोल क) :

जो अप्राप्त रसों की अभिलाषा नहीं करता, उसे 'अलोल' कहा जाता है[१]। दश० ६ ३ १० में भी यह शब्द आया है। यह शब्द बौद्ध-पिटकों में भी अनेक जगह प्रयुक्त हुआ है।

मिलाएँ—

चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोत।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मिं ॥ सुत्तनिपात ५२.८

६३. (उंछं ख) :

पिछले श्लोक में 'उछ' का प्रयोग उपधि के लिए हुआ और इस पद्य में आहार के लिए हुआ है। इसलिए पुनरुक्त नहीं है[२]।

६४. ऋद्धि (इड्ढि ग) :

यहाँ इड्ढि—ऋद्धि का अर्थ योगजन्य विभूति है। इसे लब्धि भी कहा जाता है। ये अनेक प्रकार की होती हैं[३]।

६५. स्थितात्मा (ठियप्पा घ) :

जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थित होती है, उसे स्थितात्मा कहते हैं[४]।

श्लोक १८ :

६६. प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं (पत्तेयं पुण्णपावं ग) :

सबके पुण्य-पाप अपने अपने हैं और सब अपने-अपने कृत्यों का फल भोग रहे हैं—यह जानकर न दूसरे की अवहेलना करनी चाहिए और न अपनी बड़ाई। हाथ उसीका जलता है जो अग्नि हाथ में लेता है। उसी तरह कृत्य उसी को फल देते हैं जो उन्हें करता है। जब ऐसा नियम है तब यह समझना चाहिए कि मैं क्यों दूसरे की निन्दा करूँ और क्यों अपनी बड़ाई[५]।

पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा—ये दोनों महान् दोष हैं। मुनि को मध्यस्थ होना चाहिए, इन दोनों से बचकर रहना चाहिए। इस श्लोक में इसी मर्म का उपदेश है और उस मर्म का आलम्बन सूत्र 'पत्तेय पुण्णपाव' है। जो इस मर्म को समझ लेता है, वह पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा नहीं करता।

१—(क) जि० चू० पृ० ३४६ जइ तित्तकडुअकसायाई रसे अप्पत्ते णो पत्थेइ से अलोले।
(ख) हा० टी० प० २६८ अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपर।

२—हा० टी० प० २६८ तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यम्।

३—जि० चू० पृ० ३४७ इड्ढि-विउव्वणमादि।

४—जि० चू० पृ० ३४७ णाणदसणचरित्तेसु ठिओ अप्पा जस्स सो ठियप्पा।

५—(क) जि० चू० पृ० ३४७ आह—किं कारण परो न वत्तव्वो ?, जहा जो चेव अग्गिं गिण्हइ सो चेव डज्झइ, एव नाऊण पत्तेयं पत्तेय पुण्णपाव अत्ताण ण समुक्कसइ, जहाऽहं सोभणो एस असोभणोत्ति एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २६८ प्रत्येक पुण्यपाप, नान्यसम्बन्ध्यन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्।

सग्राहक है, इसलिए मूल मे वही स्वीकृत किया है[१]।

७१. कुशील-लिङ्ग का (कुसीललिंगं ग) :

इसका अभिप्राय यह है कि परतीर्थिक या आचार रहित स्वतीर्थिक साधुओं का वेप धारण न करे। इसका दूसरा अर्थ है जिस आचरण से कुशील है, ऐसी प्रतीति हो, वैसे आचरण का वर्जन करे[२]। टीका के अनुसार कुशीलों द्वारा चेष्टित आरम्भ आदि का वर्जन करे[३]।

७२. जो दूसरो को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता (न यावि हस्सकुहए घ) :

कुहक शब्द 'कुह्' धातु से बना है। इसका प्रयोग विस्मय उत्पन्न करने वाला, ऐन्द्रजालिक, वञ्चक आदि अर्थों में होता है। यहाँ पर विस्मित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हास्यपूर्ण कुतूहल न करे अथवा दूसरों को हसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा न करे—ये दोनो अर्थ अगस्त्यसिंह स्थविर करते हैं[४], जिनदास-महत्तर और हरिभद्रसूरि केवल पहला[५]।

दश० ६ ३.१० में 'अक्कुहए' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ इन्द्रजाल आदि न करने वाला[६] तथा वादित्र न वजाने वाला किया है[७]।

श्लोक २१ :

७३. अशुचि और अशाश्वत देहवास को (देहवासं असुइं असासयं क) :

अशुचि अर्थात् अशुचिपूर्ण और अशुचि से उत्पन्न। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध में सुत्तनिपात अ० ११ में निम्न अर्थ की गाथाएँ मिलती हैं

"हड्डी और नस से सयुक्त, त्वचा और मास का लेप चढा तथा चाम से ढँका यह शरीर जैसा है वैसा दिखाई नहीं देता।

"इस शरीर के भीतर हैं—आंत, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुप्फुस, वक्क—तिल्ली, नासा-मल, लार, पसीना, मेद, लोहू, लसिका, पित्त और चर्बी।

१—हा० टी० प० २६६ 'आर्यपदम्' शुद्धधर्मपदम्।

२—अ० चू० पडुरगादीण कुसीलाणलिग वज्जेज्जा। अणायारादिवा कुसीललिग न रक्खए।

३—(क) जि० चू० पृ० ३४८ कुसीलाण पडुरगाईण लिग अथवा जेण आयरिएण कुसीलो सभाविज्जति त।

(ख) हा० टी० प० २६६ 'कुशीललिङ्गम्' आरम्भादि कुशीलचेष्टितम्।

४—अ० चू० हस्समेव कुहग, त जस्स अत्थि सो हस्सकुहगो। तधा न भवे। हस्सनिमित्त वा कुहग तधाकरेति जधा परस्स हस्स मुप्पज्जति। एव णयावि हस्सकुहए।

५—(क) जि० चू० पृ० ३४८ हासकुहए णाम ण ताणि कुहगाणि कुज्जा जेण अन्ने हसतीति।

(ख) हा० टी० प० २६६ न हास्यकारिकुहकयुक्त।

६—(क) अ० चू० इद-जाल कुहेडगादीहि ण कुहावेति णति कुहाविज्जति अकुहए।

(ख) जि० चू० पृ० ३२१ कुहग—इदजालादीय न करेइत्ति अक्कुहएत्ति।

(ग) हा० टी० प० २४४ 'अकुहक' इन्द्रजालादिकुहकरहित।

७—जि० चू० पृ० ३२२ अहवा वाइत्तादि कुहग भण्णइ, त न करेइ अकुहएत्ति।

'इसके नौ द्वारों से हमेशा गन्दगी निकलती रहती है। आँख से आँख की गन्दगी निकलती है और कान से कान की गन्दगी।

"नाक से नासिका-मल मुख से पित्त और कफ, शरीर से पसीना और मल निकलते हैं।

"इसके सिर की खोपड़ी गुदा से भरी है। अविद्या के कारण मूढ़ इसे शुभ मानता है।

'मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूजकर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो उसे बन्धु-बान्धव भी छोड़ देते हैं।

ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में शरीर की अशाश्वतता के बारे में कहा गया है कि "यह देह जल के फेन की तरह अध्रुव है, बिजली के चमत्कारे की तरह अशाश्वत है दर्भ की नोक पर ठहरे हुए जल बिन्दु की तरह अनित्य है।" देह जीवरूपी-पक्षी का अस्थिरवास कहा गया है क्योंकि जल्दी या देर से उसे छोड़ना ही पड़ता है।

पढमा चूलिया
रइवक्का

प्रथम चूलिका
रतिवाक्या

'इसके नौ द्वारों से हमेशा गन्दगी निकलती रहती है। आँख से आँख की गन्दगी निकलती है और कान से कान की गन्दगी।

'नाक से नासिका-मल, मुख से पित्त और कफ, शरीर से पसीना और मल निकलते हैं।

'इसके सिर की खोपड़ी गूदा से भरी है। अविद्या के कारण मूढ़ इसे शुभ मानता है।

'मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूजकर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो उसे बन्धु-बान्धव भी छोड़ देते हैं।

ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में शरीर की अशाश्वतता के बारे में कहा गया है कि 'यह देह जल के फेन की तरह अध्रुव है; बिजली के चमत्कारे की तरह अशाश्वत है; दर्भ की नोक पर ठहरे हुए जल बिन्दु की तरह अनित्य है।" देह जीवरूपी-पक्षी का अस्थिरवास कहा गया है क्योंकि जल्दी या देर से उसे छोड़ना ही पड़ता है।

आमुख

इस चूलिका का नाम 'रतिवाक्या-अध्ययन' है। असंयम मे सहज ही रति और संयम में अरति होती है। भोग में जो सहज आकर्षण होता है वह त्याग मे नहीं होता। इन्द्रियों की परितृप्ति में जो सुखानुभूति होती है वह उनके विषय-निरोध में नहीं होती।

सिद्ध योगी कहते हैं—'भोग सहज नहीं है, सुख नहीं है।' साधना से दूर जो हैं वे कहते हैं—'यह सहज है, सुख है।' पर वस्तुत सहज क्या है? सुख क्या है? यह चिन्तनीय रहता है। खुजली के कीटाणु शरीर में होते हैं तब खुजलाने मे सहज आकर्षण होता है और वह सुख भी देता है। स्वस्थ आदमी खुजलाने को न सहज मानता है और न सुखकर भी। यहाँ स्थिति-भेद है और उसके आधार पर अनुभूति-भेद होता है। यही स्थिति साधक और असाधक की है। मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब भोग सहज लगता है और वह सुख की अनुभूति भी देता है। किन्तु अल्प-मोह या निर्मोह व्यक्ति को भोग न सहज लगता है और न सुखकर भी। इस प्रकार स्थिति-भेद से दोनों मान्यताओं का अपना-अपना आधार है।

आत्मा की स्वस्थदशा मोहशून्य स्थिति या वीतराग भाव है। इसे पाने का प्रयत्न ही संयम या साधना है। मोह अनादिकालीन रोग है। वह एक बार के प्रयत्न से ही मिट नहीं जाता। इसकी चिकित्सा जो करने चलता है वह सावधानी से चलता है किन्तु कहीं-कहीं बीच में वह रोग उभर जाता है और साधक को फिर एक बार पूर्व स्थिति में जाने को विवश कर देता है। चिकित्सक कुशल होता है तो उसे सम्हाल लेता है और उभार का उपशमन कर रोगी को आरोग्य की ओर ले चलता है। चिकित्सक कुशल न हो तो रोगी की डावाडोल मनोदशा उसे पीछे ढकेल देती है। साधक मोह के उभार से न डगमगाए, पीछे न खिसके—इस दृष्टि से इस अध्ययन की रचना हुई है। यह वह चिकित्सक है जो सयम से डिगते चरण को फिर से स्थिर बना सकता है और भटकते मन पर अंकुश लगा सकता है।

इसीलिए कहा है—"हयरस्सिगयकुसपोयपडागाभूयाइ इमाइ अट्ठारसठाणाइ"—इस अध्ययन में वर्णित ये अठारह स्थान—घोडे के लिए बल्गा, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पताका जैसे हैं। इसके वाक्य संयम में रति उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है[१]।

प्रस्तुत अध्ययन मे स्थिरीकरण के अठारह सूत्र हैं। उनमे गृहस्थ-जीवन की अनेक दृष्टियों से अनुपादेयता बतलाई है। जैन और वैदिक परम्परा में यह बहुत बड़ा अन्तर है। वैदिक व्यवस्था मे चार आश्रम हैं। उनमे गृहस्थाश्रम सबका मूल और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्मृतिकारों ने उसे अति महत्त्व दिया है। गृहस्थाश्रम उत्तरवर्ती विकास का मूल है। यह जैन-सम्मत भी है। किन्तु वह मूल है, इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, यह अभिमत जैनों का नहीं है। समाज-व्यवस्था में इसका जो स्थान है, वह निर्विवाद है। आध्यात्मिक-चिन्तन में इसकी उत्कर्षपूर्ण स्थिति नहीं है। इसलिए 'गृहवास बन्धन है और सयम मोक्ष'[२], यह विचार स्थिर रूप पा सका।

१—हा० टी० प० २७० 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' रतिजनकानि तानि च वाक्यानि येन कारणेन 'अस्यां' चूडायां तेन निमित्तेन – रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तृणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या।

२—चू० १ सूत्र १ स्था० १२ धधे गिहवासे मोक्खे परियाए।

पढमा चूलिया : प्रथमा चूलिका

रइवक्का : रतिवाक्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
इह खलु भो! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणु[२]प्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि-गयंकुसं-पोयपडागाभूयाइं इमाइ अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडि-लेहियव्वाइं भवंति । तंजहा—	इह खलु भोः ! प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन सयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधा-वनोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मिगजाकुशपोतपताकाभूतानि इमान्यष्टादशस्थानानि सम्यक् सं-प्रतिलेखितव्यानि भवन्ति । तद्यथा :—	मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्र-जित है किन्तु उसे मोहवश दु ख उत्पन्न हो गया[१], सयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह सयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे सयम छोड़ने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पताका[३] का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं.
१—हं भो! दुस्समाए दुप्पजीवी ॥	(१) ह हो ! दुष्षमायां दुष्प्रजीविनः ।	(१) ओह ![४] इस दुष्षमा (दुःख बहुल पाँचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं[५] ।
२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ॥	(२) लघुस्वका इत्वरिका गृहिणा कामभोगाः ।	(२) गृहस्थों के काम भोग स्वल्प-सार-सहित[६] और अल्पकालिक हैं ।
३—भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ॥	(३) भूयश्च साचि (ति) बहुला मनुष्याः ।	(३) मनुष्य बड़े कुटिल हैं[७] ।
४—इमे य मे दुक्खे न चिरकालो वट्ठाई भविस्सइ ॥	(४) इद च मे दुःख न चिरकालो-पस्थायि भविष्यति ।	(४) यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिर-काल स्थायी नहीं होगा ।
५—ओमजणपुरकारे ॥	(५) अवमजनपुरस्कारः ।	(५) गृहवासी को नीच जनों का पुर-स्कार करना होता है—सत्कार करना होता है ।
६—वंतस्स य पडियाइयणं ॥	(६) वान्तस्य च प्रत्यापानम् (दानम्)	(६) सयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना ।
७—अहरगइवासोवसंपया ॥	(७) अधरगतिवासोपसपदा ।	(७) सयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय-जीवन का अङ्गीकार ।
८—दुल्लभे खलु भो! गिहीण धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥	(८) दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ।	(८) ओह ! गृहवास[८] में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है ।
९—आयके से वहाय होइ ॥	(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ।	(९) वहाँ आतक[९] वध के लिए होता है।
१०—संकप्पे से वहाय होइ ॥	(१०) सकल्पस्तस्य वधाय भवति ।	(१०) वहाँ सकल्प[१०] वध के लिए होता है।

'पुण्य-पाप का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपना अपना है।' "किए हुए पाप-कर्मों को भोग बिना अथवा तपस्या के द्वारा उनको निर्वीर्य किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती[1]।" ये दोनों विचार अध्यात्म व नैतिक परम्परा के मूल हैं।

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने जैसे आत्मा, उसका अमरत्व और ईश्वर को नैतिकता का आधार माना है वैसे ही जैन-दर्शन सम्यक्-ज्ञान को अध्यात्म का आधार मानता है। आत्मा है, वह ध्रुव है, कर्म (पुण्य-पाप) की कर्ता है, भोक्ता है, सुचीर्ण और दुश्चीर्ण कर्म का फल है, मोक्ष का उपाय है और मोक्ष है—ये सम्यक्-दर्शन के अंग हैं। इनमें से दो-एक अंगों को यहाँ वस्तु-स्थिति के सम्यक् निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया है। संयम का बीज वैराग्य है। पौद्‌गलिक पदार्थों से राग हटता है तब आत्मा में लीनता होती है, यही विराग है। "काम-भोग जन-साधारण के लिए सुप्राप्य हैं। किन्तु संयम वैसा सुलभ नहीं है। मनुष्य का जीवन अनित्य है।" ये वाक्य वैराग्य की धारा को वेग देने के लिए हैं। इस प्रकार ये अठारह स्थान बहुत ही अथवाम् और स्थिरीकरण के अमोघ आलम्बन हैं। इनके बाद संयम-धर्म से भ्रष्ट होने वाले मुनि की अनुतापपूर्ण मनोदशा का चित्रण मिलता है।

भोग अतृप्ति का हेतु है या अतृप्ति ही है। तृप्ति संयम में है। भोग का आकर्षण साधक को संयम से भोग में घसीट लेता है। वह चला जाता है। जाता है एक आकांक्षा लिए। किन्तु भोग में अतृप्ति बढ़ती है, संयम का सहज आनन्द नहीं मिलता तब पूर्व दशा से हटने का अनुताप होता है। उस स्थिति में ही संयम और भोग का यथार्थ मूल्य समझ में आता है।

'आकांक्षा-हीन व्यक्ति के लिए संयम देवलोक सम है और आकांक्षावान् व्यक्ति के लिए वह नरकोपम है।'

इस स्याद्वादात्मक-पद्धति से संयम की उभयरूपता दिखा संयम में रमण करने का उपदेश जो दिया है, वह सहसा मन को खींच लेता है। आकांक्षा का उन्मूलन करने के लिए अनेक आलम्बन बताए हैं। उनका उत्कर्ष "चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं"—शरीर को त्याग दे पर धर्म-शासन को न छोड़े—इस वाक्य में प्रस्फुटित हुआ है। समग्र-दृष्टि से यह अध्ययन अध्यात्म-आरोह का अनुत्तम सोपान है।

1—चू० १ सूत्र १ स्था० १८ : पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

रइवक्का : रतिवाक्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणु[2]प्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि-गयंकुसं-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडि-लेहियव्वाइं भवंति । तंजहा—	इह खलु भोः ! प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन सयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधा-वनोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मिगजाकुशपोतपताकाभूतानि इमान्यष्टादशस्थानानि सम्यक् स-प्रतिलेखितव्यानि भवन्ति । तद्यथा :—	मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्र-जित है किन्तु उसे मोहवश दु ख उत्पन्न हो गया[1], सयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह सयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे सयम छोड़ने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पताका[3] का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं.
१—हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ॥	(१) ह हो ! दुष्पमाया दुष्प्रजीविनः ।	(१) ओह ![4] इस दुष्पमा (दुःख बहुल पाँचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं[5] ।
२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ॥	(२) लघुस्वका इत्वरिका गृहिणा कामभोगाः ।	(२) गृहस्थों के काम भोग स्वल्प-सार-सहित[6] और अल्पकालिक हैं ।
३—भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ॥	(३) भूयश्च साचि (ति) बहुला मनुष्याः ।	(३) मनुष्य बड़े कुटिल हैं[7] ।
४—इमे य मे दुक्खे न चिरकालो-वट्ठाई भविस्सइ ॥	(४) इद च मे दुःख न चिरकालो-पस्थायि भविष्यति ।	(४) यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिर-काल स्थायी नहीं होगा ।
५—ओमजणपुरक्कारे ॥	(५) अवमजनपुरस्कारः ।	(५) गृहवासी को नीच जनों का पुर-स्कार करना होता है—सत्कार करना होता है ।
६—वंतस्स य पडियाइयणं ॥	(६) वान्तस्य च प्रत्यापानम् (दानम्)	(६) सयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना ।
७—अहरगइवासोवसपया ॥	(७) अधरगतिवासोपसपदा ।	(७) सयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय-जीवन का अङ्गीकार ।
८—दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥	(८) दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ।	(८) ओह ! गृहवास[8] में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है ।
९—आयके से वहाय होइ ॥	(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ।	(९) वहाँ आतक[9] वध के लिए होता है ।
१०—संकप्पे से वहाय होइ ॥	(१०) सकल्पस्तस्य वधाय भवति ।	(१०) वहाँ सकल्प[10] वध के लिए होता है ।

११—सोवक्केसे[11] गिहवासे ॥
निरुवक्केसे परियाए ॥

(११) सोपक्लेशो गृहवासः। निरु पक्लेशः पर्यायः।

(११) गृहवास क्लेश सहित है[1] और मुनि-पर्याय[11] क्लेश रहित।

१२—बंधे गिहवासे ॥
मोक्खे परियाए ॥

(१२) बन्धो गृहवासः। मोक्षः पर्यायः।

(१२) गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।

१३—सावज्जे गिहवासे ॥
अणवज्जे परियाए ॥

(१३) सावद्यो गृहवासः। अनवद्यः पर्यायः।

(१३) गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।

१४—बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ॥

(१४) बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः।

(१४) गृहस्थों के काम-भोग बहुजन सामान्य हैं—सर्व सुलभ हैं।

१५—पत्तेयं पुण्णपावं ॥

(१५) प्रत्येकं पुण्यपापम्।

(१५) पुण्य और पाप अपना अपना होता है।

१६—अणिच्चे खलु भो! मणुयाण
जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले ॥

(१६) अनित्यं खलु भो! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम्।

(१६) ओह! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चंचल है।

१७—बहुं च खलु पाव कम्मं पगडं ॥

(१७) बहु च खलु भो! पापं-कर्म प्रकृतम्।

(१७) ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं।

१८—पावाणं च खलु भो! कडाणं
कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्प
डिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो,
नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा
झोसइत्ता। अट्ठारसमं पयं भवइ ॥

चू० १

(१८) पापानां च खलु भो! कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रति क्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः—ना स्त्यऽवेदयित्वा, तपसा वा शोषयित्वा। अष्टादशपदं भवति।

(१८) ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट-पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल में अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है —उनसे छुटकारा होता है उन्हें भोगे बिना (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किए बिना) मोक्ष नहीं होता—उनसे छुटकारा नहीं होता। यह अठारहवाँ पद है।

भवइ य इत्थ सिलोगो[1]—

भवति चाऽत्र श्लोकः—

अब यहाँ श्लोक है।

१—जया य चयई धम्मं
अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले
आयइं नावबुज्झइ ॥

यदा च त्यजति धर्मं
अनार्यो भोगकारणात्।
स तत्र मूर्च्छितो बालः,
आयतिं नावबुध्यते ॥१॥

१—अनार्य साधु[1] जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता।

२—जया ओहाविओ होइ
इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदाऽवधावितो भवति
इन्द्रो वा पतितः क्ष्माम्।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः,
स पश्चात्परितप्यते ॥२॥

२—जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र।

३—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च वन्द्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यवन्द्यः ।
देवतेव च्युता स्थानात्,
स पश्चात् परितप्यते ॥३॥

३—प्रव्रजित काल मे साधु वदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता ।

४—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च पूज्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्ट',
स पश्चात्परितप्यते ॥४॥

४—प्रव्रजित काल मे साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य भ्रष्ट राजा ।

५—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च मान्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यमान्यः ।
श्रेष्ठीव कर्वटे क्षिप्तः,
स पश्चात्परितप्यते ॥५॥

५—प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्वट (छोटे से गाँव) में[१८] अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी[१९] ।

६—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च स्थविरो भवति,
समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गल गिलित्वा,
स पश्चात्परितप्यते ॥६॥

६—यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कांटे को निगलने वाला मत्स्य ।

७—जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य,
कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः,
स पश्चात्परितप्यते ॥७॥

७—वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बधा हुआ हाथी ।

८—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥

पुत्रदारपरिकीर्णः,
मोहसन्तानसन्ततः ।
पङ्कावसन्नो यथा नागः,
स पश्चात्परित

८—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त[२०] वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फँसा हुआ

९—अज्ज आइ गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ॥

अद्य तावदहं गणी अभविष्यं,
भावितात्मा बहुश्रुतः।
यद्यहमरंस्ये पर्याये,
श्रामण्ये जिनदेशिते ॥९॥

९—आज मैं भावितात्मा¹ और बहुश्रुत² गणी होता¹³ यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) में रमण करता।

१०—देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु
महानिरयसारिसो ॥

देवलोकसमानस्तु,
पर्यायो महर्षीणाम्।
रतानामरतानां च,
महानरकसदृशः ॥१०॥

१०—संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-जीवन) महानरक के समान दुःखद होता है।

११—अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाए पंडिए ॥

अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं,
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम्।
निरयोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं,
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ॥११॥

११—संयम में रत साधुओं का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे।

१२—धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिव ऽप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला
दाढुड्ढियं घोरविसं व नागं ॥

धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेतं
यज्ञाग्निं विध्यातमिवाल्पतेजसम्।
हीलयन्ति एनं दुर्विहितं कुशीलाः,
उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥१२॥

१२—जिसकी दाढ़ें उखाड़ ली गई हों उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं वैसे ही धर्म भ्रष्ट, चारित्र रूपी श्री से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज और दुर्विहित साधु की¹⁴ निम्नशील आचार वाले लोग भी निन्दा करते हैं।

१३—इहेवधम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥

इहैवाधर्मोऽयशोऽकीर्तिः,
दुर्नामधेयं च पृथग्जने।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः,
संभिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ॥१३॥

१३—धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र को खण्डन करने वाला साधु इसी मनुष्य-जीवन में अधर्म का आचरण करता है, उसका अयश और अकीर्ति होती है। साधारण लोगों में भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है।

१४—भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ॥

भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा
तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम्।
गतिं च गच्छेदनभिध्यातां दुःखां
बोधिश्च तस्य नो सुलभा पुनः पुनः ॥१४

१४—वह संयम से भ्रष्ट साधु आवेशपूर्ण चित्त से¹ भोगों को भोगकर और तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट² एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

१५—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ? ॥

अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः,
उपनीतदुःखस्य क्लेशवृत्तेः।
पल्योपम क्षीयते सागरोपम,
किमङ्ग पुनर्ममेद मनोदुःखम ॥१५॥

१५—दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है ?

१६—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

न मे चिर दुःखमिद भविष्यति,
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः।
न चेच्छरीरेणानेनापैष्यति,
अपैष्यति जीवित-पर्यवेण मे ॥१६॥

१६—यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय[३४] तो अवश्य ही मिट जाएगी।

१७—जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥

यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः,
त्यजेद्देह न खलु धर्मशासनम्।
त तादृश न प्रचालयन्तीन्द्रियाणि,
उपयद्वाता इव सुदर्शन गिरिम् ॥१७॥

१७—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ सकल्पयुक्त होती है)—"देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए"—उस दृढ-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविह वियाणिया।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिजासि॥
त्ति बेमि ॥

इत्येव सदृश्य बुद्धिमान्नरः,
आयमुपाय विविध विज्ञाय।
कायेन वाचाऽथ मानसेन,
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥१८॥
इति ब्रवीमि।

१८—बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को[३५] जानकर त्रिगुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले।

ऐसा मैं कहता हूँ।

रतिवाक्या प्रथम चूलिका

सूत्र १

१ किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया (उप्पन्नदुक्खेण सू० १) :

दुःख दो प्रकार के होते हैं :

१ शारीरिक और

२ मानसिक

शीत उष्ण आदि परीषह शारीरिक दुःख हैं और काम भोग सत्कार पुरस्कार आदि मानसिक। संयम में ये दोनों प्रकार के दुःख उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

२ (ओहाण सू० १)

अवधावन का अर्थ पीछे हटना है। यहाँ इसका आशय है संयम को छोड़ वापस गृहवास में जाना[2]।

३ पोत के लिए पताका (पोयपडागा सू० १)

पताका का अर्थ पतवार होना चाहिए। पतवार नौका के नियंत्रण का एक साधन है। जिनदास महत्तर और टीकाकार ने 'पताका' तथा अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'पडागार' का अर्थ नौका का पाल किया है। पवन के लगे इस पाल के कारण नौका लहरों से क्षुब्ध नहीं होती और उसे इच्छित स्थान की ओर ले जाया जा सकता है[3]।

४ ओह ! (हं भो सू०१स्था०१)

'हं' और 'भो'—ये दोनों आदर सूचक सम्बोधन हैं। चूर्णिकार इन दोनों को भिन्न मानते हैं और टीकाकार अभिन्न[4]।

५ लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं (दुप्पजीवी सू०१स्था०१) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दुप्पजीव' पाठ है। इसका अर्थ है—जीविका के साधनों को जुटाना बड़ा दुष्कर है। चूर्णिकार ने आगे

१—(क) जि० चू० पृ० ३५२ : दुक्खं दुविहं-सारीरं माणसं वा, तत्थ सारीरं सीउण्हदंसमसगाइ, माणसं इत्थीनिसीहियसक्कारादी सहाईणि एवं दुविहं दुक्खं उप्पन्नं जस्स तेण उप्पन्नदुक्खेण।

(ख) हा० टी० प० २७२ : 'उत्पन्नदुःखेन' संजातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन।

२—(क) जि० चू० पृ० ३५२-३५३ : [illegible] संजमाओ [illegible]।

(ख) हा० टी० प० २७२ : अवधावितुम्—अपसर्तुं संयमात्।

३—(क) जि० चू० पृ० ३५३ : जाणवत्तं-पोतो तस्स पडागा सीतपडो, पोतोऽवि सीतपडेण विततेण वीचीहिं न खोभिज्जइ इच्छियं च देसं पाविज्जइ।

(ख) हा० टी० प० २७२ : [illegible]।

(ग) अ० चू० : जाणवत्तं पोतो तस्स पडागारो सीतपडो। पोतो वि सीतपडेण विततेण वीचीहिं ण खोभिज्जति इच्छितं च देसं पाविज्जति।

४—जि० चू० पृ० ३५३ : हंति भोत्ति संबोधणदुगमादराय।

५—हा० टी० प० २७२ : हंभो—शिष्यामन्त्रणे।

बताया है कि समर्थ व्यक्तियों के लिए भी जीविका का निर्वाह कठिन है तब औरों की बात ही क्या ? राज्याधिकारी, व्यापारी और नौकर—ये सब अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयों में फँसे हुए हैं[1]।

६. स्वल्प-सार-सहित (लहुस्सगा सू०१स्था०२) :

जिन वस्तुओं का स्व (आत्म-तत्त्व) लघु (तुच्छ या असार) होता है, उन्हें 'लघुस्वक' कहा जाता है। चूर्णि और टीका के अनुसार काम-भोग कदलीगर्भ की तरह[2] और टीका के शब्दों में तुषमुष्टि की तरह असार हैं[3]।

७. बड़े कुटिल हैं (साइबहुला सू०१स्था०३) :

'साचि' का अर्थ कुटिल है[4]। 'बहुल' का प्रयोग चूर्णियों के अनुसार प्राय.[5] और टीका के अनुसार प्रचुर के अर्थ में है[6]। 'साइ' असत्य-वचन का तेरहवाँ नाम है[7]। प्रश्न व्याकरण की वृत्ति में उसका अर्थ अविश्वास किया है[8]। असत्य-वचन अविश्वास का हेतु है, इसलिए 'साइ' को भी उसका नाम माना गया। टीका में इसका संस्कृत रूप 'स्वाति' किया है। डा० वाल्थर शुब्रिंग ने 'स्वाति' को त्रुटिपूर्ण माना है[9]। 'स्वाद' का एक अर्थ कलुषता है[10]। चूर्णि और टीका में यही अर्थ है।

'साय' (स=स्वाद) का अर्थ भी माया हो सकता है। हमने इसका संस्कृत रूप 'साचि' किया है। 'साचि' तिर्यक् का पर्यायवाची नाम है[11]।

'साइबहुला' का आशय यह है कि जो पारिवारिक लोग हैं, वे एक दूसरे के प्रति विश्वस्त नहीं होते, वैसी स्थिति में जा क्या सुख पाऊँगा—ऐसा सोच धर्म में रति करनी चाहिए। संयम को नहीं छोड़ना चाहिए[12]।

१—(क) अ० चू० दुक्खं एत्थ पजीवं साधगाणि संपातिज्जतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं ? रायादियाण चिंता भरेहिं, वणियाण भंडविणएहिं, सेसाण पेसणेहिं य जीवणं संपादणं दुक्खं।

(ख) जि० चू० पृ० ३५३ दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवणं, आजीविआ।

(ग) हा० टी० प० २७२ दु खेन—कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितु शीला दुष्प्रजीविन ।

२—अ० चू० लहुसगाइत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थ भोगे चतिऊण रतिं कुणइ धम्मे।

३—हा० टी० प० २७२ सन्तोऽपि 'लघव ' तुच्छा' प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसारा ।

४—अ० चू० साति कुडिलं।

५—(क) अ० चू० बहुलमिति पायो वृत्ति।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ बहुला इति पायसो।

६—हा० टी० प० २७२ 'स्वातिबहुला' मायाप्रचुरा।

७—प्रश्न ० आस्रवद्वार २।

८—प्रश्न ० आस्रवद्वार २ साति—अविश्रम्भ ।

९—दशवेआलिय सुत्त पृ० १२६ साय-बहुल=स्वाति (wrong for स्वात्ति)-बहुल, मायाप्रचुर H I think that the sense of this phrase is as Translated

१०—A Dictionary of Urdu, Classical Hindi, and English Page 691 Blackness, The black or inner part of the heart

११—अ० वि० ६ १५१ तिर्यक् साचि ।

१२—(क) अ० चू० पुणो २ कुडिल हियया प्रायेण भुज्जो साति बहुला मणुस्सा।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ सातिकुडिला, बहुला इति पायसो, कुडिलहियओ पाएण भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा।

(ग) हा० टी० प० २७२ न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहिताना च कीदृक्सुखम् ? तथा मायाबन्धहेतुत्वेन दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति सप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीय स्थानम् ३।

८ गृहवास (गिहिवास सू०१स्था०८)

चूर्णियों में 'गिहिवास' का अर्थ गृहवास[1] और टीका में गृहपाश[2] किया है। चूर्णि के अनुसार गृहवास प्रमाद-बहुल होता है और टीका के अनुसार 'गृह' पाश है। उसमें पुत्र पुत्री आदि का बन्धन है।

९ आतंक (आयंके सू०१स्था०९) :

हैजा आदि रोग जो शीघ्र ही मार डालते हैं वे आतङ्क कहलाते हैं[3]।

१० सङ्कल्प (संकप्पे सू०१स्था०१०)

आतंक शारीरिक रोग है और संकल्प मानसिक। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जो मानसिक आतंक होता है उसे यहाँ संकल्प कहा गया है[4]।

११ (सोवक्केसे सू०१स्था०११) :

टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय का उल्लेख किया है। उसके अनुसार प्रतिपक्ष सहित 'सोवक्केसे निरुवक्केसे' आदि छह स्थान होते हैं और 'पत्तेयंपुण्णपावं' से लेकर 'मोत्तव्वा' तक एक ही स्थान है। दूसरा मत यह है कि 'सोवक्केसे' आदि प्रतिपक्ष सहित तीन स्थान हैं और 'पत्तेयंपुण्णपावं' आदि स्वतन्त्र हैं[5]। *वृद्ध शब्द का प्रयोग चूर्णिकारों के लिए किया गया है[6]। दूसरा मत किन का है*—यह स्पष्ट नहीं होता। टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय को ही मान्य किया है[7]।

१२ क्लेश सहित है (सोवक्केसे सू०१स्था०११) :

कृषि वाणिज्य पशुपालन सेवा पुत्र-लालन आदि की चिन्ता—ये गृहि-जीवन के उपक्लेश हैं इसलिए उसे सोपक्लेश कहा गया है[8]।

१—(क) अ० चू० : ....गिहत्थवासे।
(ख) जि० चू० पृ० ३५५ : ...... 'गिही (ह) वासे।

२—हा० टी० प० २७३ : 'गृहवासमध्ये वसतां' मिथ्या गृहपाशेन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते।

३—हा० टी० प० २७३ : 'आतङ्कः' सद्योघाती विषूचिकादिरोगः।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ : आयंको सारीरं दुक्खं संकप्पो माणसं तं च पियविप्पओगमयं संपायप्पओगमयविसायादिकम्मोदया संभवति।
(ख) हा० टी० प० २७३ : 'संकल्पः' इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानसआतङ्कः।

५—हा० टी० प० २७३ : एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषमन्या समस्तोऽप्येक अन्ये तु व्याचक्षते—सोपक्लेशो गृहिवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानकत्रयं गृह्यते एवं च अष्टादशस्थानकपूर्तिः इति स्थानम्।

६—जि० चू० पृ० ३५६-५७ : सिलोइए—'सोवक्केसे गिहवासे' ...... पढमं पदं गतं।
'निरुवक्केसे परियाए' ...... बीयं पदं गतं।
'बंधे गिहवासे' .... तइयं पदं गतं।
'मोक्खे परियाए' ...... चउत्थं पदं गतं।
'सावज्जे गिहवासे' .... पंचमं पदं गतं।
'अणवज्जे परियाए' .... छट्ठं पदं गतं।

७—हा० टी० प० २७३ : 'प्रत्येकं पुण्यपापमिति' ...... पृथक्स्थानकं स्थानम्।

८—हा० टी० प० २७३ : उपक्लेशा—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेति।

१३. मुनि-पर्याय (परियाए सू०१स्था०११) :

पर्याय का अर्थ प्रव्रज्याकालीन-दशा या मुनि-व्रत है[1]। प्रव्रज्या में चारों ओर से (परित.) पुण्य का आगमन होता है, इसलिए इसे पर्याय कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह प्रव्रज्या शब्द का अपभ्रंश है[2]।

१४. भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है (वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता सू०१स्था०१८) :

किया हुआ कर्म भुगते विना उससे मुक्ति नहीं होती—यह कर्मवाद का ध्रुव सिद्धान्त है। वद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं—स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगकर अथवा तपस्या के द्वारा उसे क्षीण-वीर्य कर नष्ट कर देना। सामान्य स्थिति यह है कि कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है। किन्तु तपस्या के द्वारा स्थिति पकने से पहले ही कर्म को भोगा जा सकता है। इससे फल-शक्ति मद हो जाती है और वह फलोदय के विना ही नष्ट हो जाता है।

१५. श्लोक (सिलोगो सू०१स्था०१८) :

श्लोक शब्द जातिवाचक है, इसलिए इसमें अनेक श्लोक होने पर भी विरोध नहीं आता[3]।

श्लोक १ :

१६. अनार्य-साधु (अणज्जो ख) :

अनार्य का अर्थ म्लेच्छ है। जिसकी चेष्टाएँ म्लेच्छ की तरह होती हैं, वह अनार्य कहलाता है[4]।

१७. भविष्य को (आयइं घ) :

आयति का अर्थ भविष्यकाल है[5]। चूर्णि में इसका वैकल्पिक अर्थ 'गौरव'[6] व 'आत्महित'[7] भी किया है।

श्लोक ५ :

१८. कर्वट (छोटे से गाँव) में (कब्बडे ग) :

कर्वट के अनेक अर्थ हैं

१ कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो[8]।

१—हा० टी० प० २७३ प्रव्रज्या पर्याय ।

२—अ० चू० परियातो, समतयो पुन्नागमण पव्वज्जासद्दस्सेव अवब्भंसो परियातो।

३—हा० टी० प० २७४ श्लोक इति च जातिपरो निर्देश, तत श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोध ।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ अणज्जा मेच्छादयो, जो तव्वाठिओ अणज्ज इव अणज्जो।

(ख) हा० टी० प० २७४,२७५ 'अनार्य' इत्यनार्य इवानार्यो—म्लेच्छचेष्टित ।

५—हा० टी० प० २७५ 'आयतिम्' आगामिकालम्।

६—अ० चू० आतती आगामीकाल त आततिहित आयति क्षममित्यर्थ 'व्येयी भणति—आयती गौरव त।

७—जि० चू० पृ० ३५६ 'आयती' आगामिको कालो त अथवा आयतीहित आत्मनो हितमित्यर्थ ।

८—जि० चू० पृ० ३६० कब्बड कुनगर, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभंडविणियोगो णत्थि।

२ बहुत छोटा सन्निवेश[1]।

३ वह नगर जहाँ बाजार हो।

४ जिले का प्रमुख नगर[2]।

चूर्णियों में कर्बट का मूल अर्थ माया कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है[3]।

१९ श्रेष्ठी (सेट्ठि [4])

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बाँधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो वह श्रेष्ठी कहलाता है।

हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं हिन्दुओं के काल में वह 'श्रेष्ठिन्' या प्रधान कहलाता था[5]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ 'श्रेष्ठी' को वणिक्-ग्राम का महत्तर कहा है[6]। इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। यह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है। संभवतः नैगम के समान ही पौर संस्था का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा किन्तु श्रेष्ठी तथा पूग के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड़ दिया जाता होगा जैसे—राजगृह श्रेष्ठी तथा श्रावस्ती श्रेष्ठी (निशीथ भाष्य ४४१) में राजगृह सेट्ठी तथा एक अन्य साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है[7]।

श्लोक ८

२० परम्परा से परिव्याप्त (संताणसंतओ [8]) :

संताण का अर्थ अव्यवच्छित्ति या प्रवाह है और संतत का अर्थ है व्याप्त[9]।

१—हा टी प० २७८ : 'कर्बटं' महाक्षुद्रसंनिवेशः।

२—A Sanskrit English Dictionary-P 259 By Sir Monier Williams Market-Town, the Capital of District (of two or four hundred Villages.)

३—(क) अ चू० जाव ... सेट्ठी तम्मि 'पट्टो' ... परिकप्पति अथवा कब्बडं कुणगरं ... ... परिहीणो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९ : ... (...) ... कब्बडं जहा सिट्ठी तम्मि पट्टो ... परिकप्पइ अहवा कब्बडं कुणगरं ... ... परिहीणो।

४—नि भा ४ १५ ३ चूर्णि : जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति तं वेढणगं तं जस्स रण्णा अणुण्णातं सो सेट्ठी भण्णति।

५—दूसरा खण्ड पृ० १११।

६—(क) अ चू० : ... वणिग्गाममहत्तरो य सेट्ठी।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९।

७—'धर्म-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परंपराएं' पृ० १ ६।

८—अ चू० : संताणो अवोच्छित्ती।

९—हा टी प० २७८ : 'संततः' कर्मावरिमोहनीयकर्मप्रवाहेन व्याप्तः।

श्लोक ६ :

२१. भावितात्मा (भावियप्पा ख) :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विविध प्रकार की अनित्य आदि भावनाओं से जिसकी आत्मा भावित होती है, उसे भावितात्मा कहा जाता है[1] ।

२२. बहुश्रुत (बहुस्सुओ ख) :

बहुश्रुत का अर्थ है—द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) का जानकार[2] या बहुआगम-वेत्ता[3] ।

२३. होता (हुंतो क) :

'अभविष्यत्' और 'भवन्', इन दोनों के स्थान मे 'हुतो' रूप बनता है[4] । अनुवाद में 'अभविष्यत्' का अर्थ ग्रहण किया है । 'भवन्' के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होऊँ, यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय चरित्र में रमण करूँ ।

श्लोक १२ :

२४. चारित्र-रूपी श्री से (सिरिओ क) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ श्रामण्यरूपी लक्ष्मी या शोभा और हरिभद्रसूरि ने तप रूपी लक्ष्मी किया है[5] ।

२५. निस्तेज (अप्पतेयं ख) :

इसमें अल्प शब्द अभाववाची है[6] । अल्पतेज अर्थात् निस्तेज । समिधा, चर्बी, रुधिर, मधु, घृत आदि से हुत अग्नि जैसे दीप्त होती है और हवन के अन्त में बुझकर वह निस्तेज हो जाती है, वैसे ही श्रमण-धर्म की श्री को त्यागने वाला मुनि निस्तेज हो जाता है[7] ।

२६. दुर्विहित साधु की (दुव्विहियं ग) :

जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, उसे दुर्विहित कहा जाता है । सामाचारी का विधिवत् पालन करने वाले भिक्षुओं के लिए सुविहित और उसका विधिवत् पालन न करने वालों के लिए दुर्विहित शब्द का प्रयोग होता है[8] ।

१—अ० चू० सम्मद्दसणेण बहुविहेहिय तवोजोगेहिं अणिच्चयादिभावणाहि य भावितप्पा ।

२—जि० चू० पृ० ३६१ 'बहुस्सुओ'त्ति जइ ण ओहावतो तो दुवालसगगणिपिडगाहिज्जणेण अज्ज बहुस्सुओ ।

३—हा० टी० प० २७६ 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबह्वागमयुक्त ।

४—हैम० ८ ३ १८०,१८१ ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३६२ सिरी लच्छी सोभा वा, सा पुण जा समणभावाणुरूवा सामण्णसिरी ।
   (ख) हा० टी० प० २७६ 'श्रियोऽपेत' तपोलक्ष्म्या अपगतम् ।

६—हा० टी० प० २७६ अल्पशब्दोऽभावे, तेज शून्य भस्मकल्पमित्यर्थ ।

७—अ० चू० जधामघमुहेळसमिधासमुदायवसारुहिर मद्दुघतादीहिं हूयमाणो अग्गी सभावदित्तीओ अधिगं दिप्पति हवणावसाणे परिविज्झाण मुम्मुरगारावत्यो भवति ।

८—(क) अ० चू० विहितो उप्पादितो, दुट्ठु विधितो—दुव्विहितो ।
   (ख) हा० टी० प० २७६ 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनम् ।

२७ निन्दा करते हैं (हीलंति [ग])

चूर्णिद्वय के अनुसार 'हील्' धातु का अर्थ लज्जित करना है और यह नाम धातु है[1]। टीका में इसका अर्थ कदर्थना करना किया है[2]।

श्लोक १३

२८ चरित्र को खण्डित करने वाला साधु (संभिन्नवित्तस्स [ग]) :

वृत्त का अर्थ शील या चारित्र है। जिसका शील संभिन्न—खण्डित हो जाता है, उसे संभिन्न-वृत्त कहा जाता है[3]।

२९ अधर्म (अधम्मो [क])

श्रमण-जीवन को छोड़ने वाला व्यक्ति छह काय के जीवों की हिंसा करता है, श्रमण-गुण की हानि करता है, इसलिए श्रमण-जीवन के परित्याग को अधर्म कहा है[4]।

३० अयश (अयसो [क])

'यह भूतपूर्व श्रमण है'—इस प्रकार दोष-कीर्तन अयश कहलाता है[5]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपराक्रम से उत्पन्न न्यूनता' किया है[6]।

श्लोक १४

३१ आवेगपूर्ण चित्त से (पसज्झ चेयसा [क])

प्रसह्य का अर्थ हठात्, वेगपूर्वक, बलात्कारपूर्वक या प्रकट है। विषयों के भोग के लिए हिंसा, असत्य आदि में मन का अभिनिवेश करना होता है। भोग्य एक होती है पर जब उसकी चाह अनेकों में होती है तब उसकी प्राप्ति और संरक्षण के लिए बलात्कार का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार भोगों में चित्त की हठधर्मिता होती है[7]।

१—(क) अ० चू० : ह्री इति लज्जा लज्जामुपनयंति हीलेंति, धातुस्य—ह्र पर्वति।
(ख) जि० चू० पृ० ३६१ : ह्री इति लज्जा लज्जं पावंति हीलेंति—ह पावंति।
२—हा० टी० प० २७६ : 'हीलयन्ति' कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति परुषमसारमादिना।
३—(क) अ० चू० : वृत्तं शीलं।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'संभिन्नवृत्तस्य च' अत्यन्तखण्डितचारित्रस्य च।
४—(क) अ० चू० : समणधम्मपरिच्चागा छक्कायारंभेण अणुक्कमागति एस अधम्मो—सामण्ण गुणपरिहाणी।
(ख) जि० चू० पृ० ३६१ : समणधम्मपरिच्चत्तो छक्कायारंभेण अणुक्कमागइ-दयए, अधम्मो सामण्णपरिहाणी।
५—(क) अ० चू० : अयसो एस समणभूतपुव्व इति दोसकित्तणं।
(ख) जि० चू० पृ० ३६१ : अयसो य स अहो समणभूतपुव्वो इति दोसकित्तणं।
६—हा० टी० प० २७७ : 'अयशः' अपराक्रमकृतं न्यूनत्वम्।
७—(क) अ० चू० : बलिहाकारेनकारेति एग इत्यादिविधिविकृत्य बलात्कारेन एवं पसज्झं चित्तसंरक्खणेण हिंसामोसादि निविट्ठचित्ता।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'प्रसह्यचेतसा' धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन।

३२. अनिष्ट (अणभिज्झियं ग) :

इसका अर्थ अनभिलषित, अनभिप्रेत या अनिष्ट है[1]।

३३. बोधि (बोही घ) :

अर्हत धर्म की उपलब्धि को बोधि कहा जाता है[2]।

श्लोक १६ :

३४. जीवन की समाप्ति के समय (जीवियपज्जवेण घ) :

पर्यय और पर्याय एकार्थक हैं। यहाँ पर्यय का अर्थ अन्त है। जीवित का पर्याय अर्थात् मरण[3]।

श्लोक १८ :

३५. लाभ और उनके साधनों को (आयं उवायं ख) :

आय अर्थात विज्ञान, सम्यग्-ज्ञान आदि की प्राप्ति और उपाय अर्थात् आय के साधन[4]।

१—(क) अ० चू० अभिलासो अभिज्ञा, सा जत्थ समुप्पण्णा त अभिज्झित, तव्विवरीय अणभिज्झित मणभिलसित मणभिप्रेत।

(ख) हा० टी० प० २७७ 'अनभिध्याताम्' अभिध्याता—इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थ ।

२—जि० चू० पृ० ३६४ अरहतस्स धम्मस्स उवलद्धी बोधी।

३—अ० चू० परिगमणं पज्जायो अयणगमण त पुण जीवितस्स पज्जायो मरणमेव।

४—(क) जि० चू० पृ० ३६६ आओ विन्नाणादीण आगमो, उवायो तस्स साहण अणुव्वात।

(ख) हा० टी० प० २७८ आय सम्यग्ज्ञानादेरुपाय —तत्साधनप्रकार कालविनयादि ।

बिइया चूलिया

बिवित्तचरिया

द्वितीय चूलिका

विविक्तचर्या

आमुख

इस अध्ययन में श्रमण की चर्या, गुणों और नियमा का निरूपण है[१]। इसलिए इसका नाम विविक्त-चर्या है। 'रति-वाक्या' से इसका रचना-क्रम भिन्न है। उसका प्रारम्भ वर्णनीय विषय से होता है—"इह खलु भो। पव्वइएणं उपन्नदुक्खेणं • ।" इसके आदि-वाक्य में चूलिकाकार विविक्त-चर्या के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं और उसके केवली-भाषित होने का उल्लेख करते हैं—"चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं।" हरिभद्रसूरि ने इस दूसरे चरण की व्याख्या में प्रस्तुत अध्ययन को सीमधर स्वामी से प्राप्त कहा है[२]।

इसमें अनुकरण की अन्ध-प्रवृत्ति पर तीव्र प्रहार किया गया है। जनता का बहुमत अनुस्रोतगामी होता है। इन्द्रिय और मन के मनोज्ञ विषयों के आसेवन में रत रहता है। परन्तु साधक ऐसा न करे। वह प्रतिस्रोतगामी बने। उसका लक्ष्य अनुस्रोत-गामियों से भिन्न है। साधना के क्षेत्र में बहुमत और अल्पमत का प्रश्न व्यर्थ है। यहाँ सत्य की एषणा और उपलब्धि का ही महत्त्व है। उसके साधन चर्या, गुण और नियम हैं। नियतवास न करना, सामूहिक भिक्षा करना, एकान्तवास करना, यह चर्या है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य चर्या है। बीच-बीच में गुणों और नियमों की ओर भी सकेत किया गया है। गुण मूल और उत्तर—इन दो भागों में विभक्त हैं। पाँच महाव्रत मूल गुण हैं और नमस्कार, पौरुषी आदि प्रत्याख्यान उत्तर-गुण हैं। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि नियम हैं। इनका जागरूक-भाव से पालन करने वाला श्रमण ही 'प्रतिबुद्धजीवी' हो सकता है।

चर्या का स्वत प्रमाणभूत नियामक व्यक्ति (आगम-विहारी) वर्तमान में नहीं है। इस समय चर्या का नियमन आगम सूत्रों स हो रहा है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू"—भिक्षु को सूत्रोक्त मार्ग से चलना चाहिए। सूत्र का अर्थ है विशाल-भावों को सक्षेप में कहना। इसमें अर्थ अधिक होता है और शब्द कम। इस स्थिति में शब्दों की खींचातान होती है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ" सूत्र का अर्थ जैसे आज्ञा दे वैसे चलना चाहिए। चूर्णिकार ने बताया है कि गुरु उत्सर्ग (सामान्य-विधि) और अपवाद (विशेष विधि) से जो मार्गदर्शन दे उसके अनुसार चलना चाहिए[३]।

पहले सूत्र होता है फिर अर्थ—सूत्रकर्त्ता एक व्यक्ति होता है किन्तु अर्थकार अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। सूत्र की प्रामा-णिकता के लिए विशेष मर्यादा है। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन -पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और अभिन्न-दशपूर्वधर द्वारा रचित शास्त्र ही सूत्र—आगम होते हैं। किन्तु अर्थ की प्रामाणिकता के लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं है। साधारण ज्ञानी की व्याख्या को भी अर्थ कहा जाता है। आगमविहारी का किया हुआ अर्थ भी सूत्रवत् प्रमाण होता है। वे अर्थ-आगम अभी अनुपलब्ध हैं। इसीलिए सूत्रकार ने निर्दिष्ट मार्ग से चलने की अनुमति दी है। निर्दिष्ट मार्ग कोई है ही नहीं। मार्ग सूत्र का ही है। अर्थ तो उसीका स्पष्टीकरण मात्र है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह सूत्र—सूचित मार्ग से प्रवृत्त होता

१—श्लोक ४ "चरिया गुणा य नियमा, य होंति साहूण दट्ठव्वा।

२—देखिए पृ० ५६६ श्लोक १ टिप्पण २।

३—अ० चू० "सूयणामेत्तेण सव्व ण बुज्झति त्ति विसेसो विकीरति—[illegible]

सउस्सग्गापवाया गुरुहि निरूविज्जंति ठ

बिइया चूलिया : द्वितीय चूलिका

विवित्तचरिया : विविक्तचर्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चूलियं तु[1] पवक्खामि सुयं केवलिभासियं । जं सुणित्तु सपुन्नाणं धम्मे उप्पज्जए मई ॥	चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् । यां श्रुत्वा स पुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥१॥	१—जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है[2], जिसे सुन पुण्यवान् जीवों की[3] धर्म में मति उत्पन्न होती है, उस चूलिका को मैं कहूँगा ।
२—अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ॥	अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण । प्रतिस्रोत एवात्मा, दातव्यो भवितुकामेन ॥२॥	२—अधिकांश लोग स्रोत के अनुकूल प्रस्थान कर रहे हैं[4]—भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं । किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत[5] में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है[6], जो विषय भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है[7], उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए—विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए ।
३—अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥	अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम् । अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः ॥३॥	३—जन-साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है । किन्तु जो सुविहित साधु हैं उनका आश्रव[8] (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है । अनुस्रोत संसार है[9] (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है[10] (जन्म-मरण का पार पाना है) ।
४—तम्हा आयारपरक्कमेण संवरसमाहिबहुलेणं । चरिया गुणा य नियमा य होंति साहूण दट्ठव्वा ॥	तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन । चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ॥४॥	४—इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले[11], संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले[12] साधुओं को चर्या[13] गुणों[14], तथा नियमों की[15] ओर दृष्टिपात करना चाहिए ।
५—अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥	अनिकेतवासः समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च । अल्पोपधिः कलहविवर्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ताः ॥५॥	५—अनिकेतवास[16] (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना[17], एकान्तवास[18], उपकरणों की अल्पता[19] और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या[20] (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।

है। यह विचार व्याख्याकार की व्याख्या-पद्धति के आधार पर किया गया है। सूत्र-रचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो सूत्र और अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। उनमें कोई विरोध नहीं होता। विरोध का प्रश्न व्याख्याकार के लिए है। वह सूत्रकार की संक्षिप्त भाषा द्वारा उसके प्रतिपाद्य को यथार्थतया पकड़ नहीं पाता वहाँ सूत्र और अर्थ परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं। वहीं सतर्क रहने की आवश्यकता है। सूत्र का आशय समझने के लिए उसके पौर्वापर्य उत्सर्ग-अपवाद आदि सारी दृष्टियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही यथार्थ अर्थ का ग्रहण हो सकता है। सूत्र के कोरे एक शब्द या वाक्य को पकड़ कर चले वह उसका हृदय नहीं समझ सकता।

छठे अध्ययन (श्लोक ६७) में कहा है—अठारह स्थानों का वर्जन बाल, वृद्ध और रोगी—सभी निर्ग्रन्थों के लिए अनिवार्य है। इसका अखण्ड और अस्फुटित रूप से पालन होना चाहिए। अठारह में से किसी एक स्थान की विराधना करने वाला निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। इस शब्दावलि में जो हृदय है वह पूर्ण अध्ययन को पढ़े बिना नहीं पकड़ा जा सकता। पर्यङ्क (पन्द्रहवें स्थान) और गृहान्तर निषद्या (सोलहवें स्थान) के अपवाद भी हैं। विशेष स्थिति में अवलोकनपूर्वक पर्यङ्क आदि पर बैठने की अनुमति भी दी है (देखो ६५४)।

वृद्ध रोगी और तपस्वी के लिए गृहान्तर निषद्या की भी अनुमति है (देखो ६५९)। उनके लिए गृहान्तर-निषद्या का विधान भी है। इस सामान्य और विशेष विधियों को विधिवत् जाने बिना सूत्र का आशय प्राप्त नहीं बनता। छठे और सातवें श्लोक की भाषा में मृत-दोष का निषेध भी है। उसके लिए भाषा की रचना नहीं होनी चाहिए। किन्तु पर्यङ्क और निषद्या उपर दोष हैं। इनके निषेध की भाषा इतनी कठोर नहीं हो सकती। इनमें अपवाद का भी अवकाश है। परन्तु सबका निषेध एक साथ है इसलिए सामान्य विधि से निषेध की भाषा भी सम है। विशेष-विधि का अवसर आने पर जिनके लिए अपवाद का स्थान था उनके लिए अपवाद वक्तव्य किया गया है। इस प्रकार उत्सर्ग-अपवाद आदि अनेकान्त-दृष्टि से सूत्र के आशय का निरूपण ही अर्थ है। यह सूत्र के मार्ग का आलोक है। इसे जानकर ही साधक सूत्रोक्तमार्ग पर चल सकता है।

अध्ययन के उपसंहार में आत्म-रक्षा का उपदेश है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए वह देह-रक्षा भी संयम है। आत्मा को गँवाकर देह-रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नहीं होता। आत्मा की अरक्षा व सुरक्षा ही दुःख और दुःख-मुक्ति का हेतु है। इसलिए सर्व यत्न से आत्मा की ही रक्षा करनी चाहिए। समग्र दशवैकालिक के उपदेश का फल यही है।

१—अ चू : "अक्खुद्दस्स कामेण अप्पो वत्तव्व।"

१२—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले,
सम्प्रेक्षते आत्मकमात्मकेन।
किं मया कृत किं च मे कृत्यशेष,
किं शकनीय न समाचरामि ॥१२॥

१२—जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने आप अपना आलोचन करता है—मैने क्या किया ? मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है ? वह कौन सा कार्य है जिसे मै कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ ?

१३—किं मे परो[३३] पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागय नो पडिबंध कुज्जा ॥

किं मम परः पश्यति किं वात्मा,
किं वाऽह स्खलित न विवर्जयामि।
इत्येव सम्यगनुपश्यन्,
अनागत नो प्रतिबन्ध कुर्यात् ॥१३॥

१३—क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वय देख लेता हूँ ? वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नही छोड़ रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक्-प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे—असयम में न बँधे, निदान न करे।

१४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं
काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥

यत्रैव पश्येत् कचिद्दुष्प्रयुक्त,
कायेन वाचाऽथ मानसेन।
तत्रैव धीरः प्रतिसहरेत्,
आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥१४॥

१४—जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए। जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खीचते ही सम्हल जाता है।

१५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स
धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं ॥

यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य,
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम्।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविन,
स जीवति सयमजीवितेन ॥१५॥

१५—जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही सयमी-जीवन जीता है।

१६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥
त्ति बेमि।

आत्मा खलु सतत रक्षितव्यः,
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः।
अरक्षितो जातिपथमुपैति,
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥१६॥
इति ब्रवीमि।

१६—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए[३४]। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दु खों से मुक्त हो जाता है।

ऐसा मै कहता हूँ।

प्रस्थित काठ आदि की भाँति जो लोग इन्द्रिय-विषयों के स्रोत में बहे जाते हैं, वे भी अनुस्रोत-प्रस्थित कहलाते हैं[1]।

५. प्रतिस्रोत (पडिसोय [ख]) :

प्रतिस्रोत का अर्थ है—जल का स्थल की ओर गमन। शब्दादि विषयों से निवृत्त होना प्रतिस्रोत है[2]।

६. गति करने का लक्ष्य प्राप्त है (लद्धलक्खेणं [ख]) :

जिस प्रकार धनुर्वेद या बाण-विद्या में निपुण व्यक्ति बालाग्र जैसे सूक्ष्मतम लक्ष्य को बींध देता है (प्राप्त कर लेता है) उसी प्रकार विषय-भोगों को त्यागने वाला सयम के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है[3]।

७. जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है (होउकामेणं [घ]) :

यहाँ 'होउकाम' का अर्थ है—निर्वाण पाने योग्य व्यक्ति[4]। यह शब्द परिस्थितिवाद के विजय की ओर सकेत करता है। आध्यात्मिक वही हो सकता है जो असदाचारी व्यक्तियों के जीवन को अपने लिए उदाहरण न बनाए, किन्तु आगमोक्त विधि के अनुसार ही चले। कहा भी है—मूर्ख लोग परिस्थिति के अधीन हो स्वधर्म को त्याग देते हैं किन्तु तपस्वी और ज्ञानी साधुपुरुष घोर कष्ट पड़ने पर भी स्वधर्म को नहीं छोड़ते, विकृत नहीं बनते[5]।

श्लोक ३ :

८. आश्रव (आसवो [ख]) :

जिनदास चूर्णि में 'आसव' (स=आश्रव) पाठ है। इसका अर्थ इन्द्रिय-जय किया गया है। टीका में 'आसमो' को पाठान्तर माना है[6]। अगस्त्य चूर्णि में वह मूल है। उसका अर्थ तपोवन या व्रतग्रहण, दीक्षा या विश्राम-स्थल है[7]।

१—(क) अ० चू० अणुसद्दो पच्छाभावे। सोयमिति पाणियस्स णिण्णप्पदेसाभिसप्पण। सोतेण पाणियस्स गमणेपवत्ते ज जत्थ पडित कट्ठाति वुज्झति, त सोत मणुजातीति अणुसोतपट्ठित। एव अणुसोत पट्ठित इव। इव सद्द लोवो एत्थ दट्ठव्वो।
(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

२—(क) अ० चू० प्रतीपसोत पडिसोत, ज पाणियस्स थल प्रतिगमण। सद्दादि विसय पडिलोमा प्रवृत्ती दुक्करा।
(ख) जि० चू० पृ० ३६६ प्रतीप श्रोत प्रतिश्रोत, ज पाणियस्स थल प्रति गमन, त पुण न साभावित, देवतादिनियोगेण होज्जा, जहा त असक्क एव्व सद्दादीण विसयाण पडिलोमा प्रवृत्ति दुक्करा।

३—(क) अ० चू० जधा ईसत्थ छसिक्खितो सुहुमहमवि वालादिग लक्ख लभते तधा कामछहभावणाभाविते तप्परिचागेण सजमलक्ख जो लभते सो पडिसोतलद्धलक्खो तेण पडिसोतलद्धलक्खेण।
(ख) जि० चू० पृ० ३६६।

४—जि० चू० पृ० ३६६ णिव्वाणगमणारुहो 'भविउकामो' होउकामो तेण होउकामेण।

५—हा० टी० प० २७६ 'भवितुकामेन' ससारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्गप्रवण चेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति, उक्त च—"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन, स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशा। तप श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो, न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्॥"

६—(क) जि० चू० पृ० ३६६ आसवो नाम इंदियजओ।
(ख) हा० टी० प० २७६ 'आश्रव' इन्द्रियजयादिरूप परमार्थपेशल कायवाङ्मनोव्यापार 'आश्रमो वा' व्रतग्रहणादिरूप'।

विविक्तचर्या द्वितीय चूलिका

श्लोक १

१ (सुयं क) :

इसे भावचूला का विशेषण माना गया है[1]। इसके तीसरे चरण में आया हुआ 'जं' सर्वनाम सहज ही 'चूलियं तु' पाठ की कल्पना करा देता है।

२ जो सुनी हुई है, केवली भाषित है (सुयं केवलिभासियं क) :

श्रुत और केवली-भाषित—ये दो शब्द उस इतिवृत्त की ओर संकेत करते हैं जिसमें इस चूलिका को 'सीमंधर केवली के द्वारा भाषित और एक साध्वी के द्वारा श्रुत' कहा गया है[3]। चूर्णियों के अनुसार शास्त्र के गौरव-समुत्पादन के लिए इसे केवली कृत कहा है। तात्पर्य यह है कि यह केवली की वाणी है किसी का निरूपण नहीं है।

काल-क्रम की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह श्रुत-केवली की रचना है—ऐसी संभावना की जा सकती है। 'सुयं केवलि-भासियं' इस पाठ को 'सुयकेवलिभासियं' माना जाए तो इसका आधार भी मिलता है। 'सुयं' का अर्थ 'श्रुत ज्ञान' किया है। यह अर्थ यहाँ कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। टीकाकार केवली-भाषित के लिए इतिवृत्त का उल्लेख करते हैं, उसकी चर्चा चूर्णियों में नहीं है। इसलिए 'श्रुतकेवलिभाषित' इसकी संभावना और अधिक प्रबल हो जाती है।

३ पुण्यवान् जीवों की (सपुन्नाणं ग) :

चूर्णियों में यह 'सपुण्ण' है जब कि टीका में यह 'सुपुण्य' है। सपुण्य का अर्थ पुण्य-सहित और सुपुण्य का अर्थ उत्तम पुण्य वाला होता है[6]।

श्लोक २

४ स्रोत के अनुकूल प्रस्थान कर रहे हैं (अणुसोयपट्ठिए क) :

अनुस्रोत अर्थात् स्रोत के पीछे, स्रोत के अनुकूल। जब जल की निम्न प्रदेश की ओर गति होती है तब उसमें पड़ने वाली वस्तुएँ बह जाती हैं। इसलिए उन्हें अनुस्रोत-प्रस्थित कहा जाता है। यह उपमा है। यहाँ 'इव' शब्द का लोप माना गया है। अनुस्रोत-

---

१—हा० टी० प० २७७ : [illegible] भावचूडाम्।

२—अ० चू० : सुयत इति सुतं [illegible]।

३—हा० टी० प० २७८,२७९।

४—(क) अ० चू० : केवलिय भासितमिति [illegible]।
  (ख) जि० चू० पृ० ३६८।

५—(क) अ० चू० : सह पुण्णेण सपुण्णो।
  (ख) जि० चू० पृ० ३६८।

६—हा० टी० प० २७९ : 'सुपुण्यानां' कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनाम्।

१४. गुणों (गुणा [ग]) :

चारित्र की रक्षा के लिए जो भावनाएँ हैं, उन्हें गुण कहा जाता है[१]।

१५. नियमों की (नियमा [ग]) :

प्रतिमा आदि अभिग्रह नियम कहलाते हैं[२]। आगमों में भिक्षु के लिए बारह प्रतिमाओं का निरूपण मिलता है[३]।

श्लोक ५ :

१६. अनिकेतवास (अणिएयवासो [क]) :

निकेत का अर्थ घर है। व्याख्याकारों के अनुसार भिक्षु को घर में नहीं किन्तु उद्यान आदि एकान्त स्थान में रहना चाहिए[४]। आगम-साहित्य में सामान्त भिक्षुओं के उद्यान, शून्यगृह आदि में रहने का वर्णन मिलता है। यह शब्द उसी स्थिति की ओर सकेत करता है। इसका तात्पर्य 'विविक्त-शय्या' से है। मनुस्मृति में मुनि को अनिकेत कहा है[५]। 'अनिकेतवास' का अर्थ गृह-त्याग भी हो सकता है। चूर्णि और टीका में इसका अर्थ अनियतवास—सदा एक स्थान में न रहना भी किया है[६]।

१७. अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना (अन्नायउंछं [ख]) :

पूर्व परिचित पितृ-पक्ष और पश्चात् परिचित श्वशुर पक्ष से गृहीत न हो किन्तु अपरिचित कुलों से प्राप्त हो, उस भिक्षा को अज्ञातोञ्छ कहा जाता है[७]। टीकाकार ने इसका अर्थ विशुद्ध उपकरणों का ग्रहण किया है[८]।

१८. एकान्तवास (पइरिक्कया [ख]) :

इसका अर्थ है—एकान्त स्थान जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुसक, पशु आदि रहते हों वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों की साधना में विघ्न उपस्थित हो सकता है, इसलिए उन्हें विजन स्थान में रहने की शिक्षा दी गई है[९]।

१—जि० चू० पृ० ३७० गुणा तेसिं सारक्खणनिमित्त भावणाओ।

२—जि० चू० पृ० ३७० नियमा—पडिमादयो अभिग्गहविसेसा।

३—दशा० ७वीं दशा।

४—जि० चू० पृ० ३७० अणिएयवासोत्ति निकेत-घर तमि ण वसियव्व, उज्जाणाइवासिणा होयव्व।

५—म० स्मृ० अ० ६ ४३ अनग्निरनिकेत स्यात्।

६—(क) अ० चू० अणिययवासो वा जतो ण, निच्चमेगत्थ वसियव्व किन्तु विहरितव्व।

(ख) जि० चू० पृ० ३७० अणियवासो वा अनिययवासो, निच्च एगते न वसियव्व।

(ग) हा० टी० प० २८० अनियतवासो मासकल्पादिना 'अनिकेतवासो वा' अगृहे उद्यानादौ वास।

७—जि० चू० पृ० ३७० पुव्वपच्छासथवादीहिं ण उप्पाइयमिति भावओ, अन्नाय उछ।

८—हा० टी० प० २८० 'अज्ञातोञ्छ' विशुद्धोपकरणग्रहणविषयम्।

९—(क) जि० चू० पृ० ३७० पइरिक्क विवित्त भण्णइ, दव्वे ज विजण भावे रागाइ विरहित, सपक्खपरपक्खे माणवजिय वा, तब्भावा पइरिक्कयाओ।

(ख) हा० टी० प० २८० 'पइरिक्कया य' विजनैकान्तसेविता च।

९ अनुस्रोत ससार है (अणुसोओ ससारो [ग])

अनुस्रोत-गमन संसार (जन्म मरण की परम्परा) का कारण है। अभेद दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे संसार कहा है[1]।

१० प्रतिस्रोत उसका उतार है (पडिसोओ तस्स उत्तारो [घ])

प्रतिस्रोत-गमन संसार-मुक्ति का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे संसार से उत्तरण या मुक्ति कहा है। चूर्णि में 'उत्तारो' के स्थान में 'निप्फाओ' पाठ है। इसका भावार्थ यही है।

श्लोक ४

११ आचार में पराक्रम करने वाले (आयारपरक्कमेण [क])

आचार का अर्थ है—आचार को धारण करने का सामर्थ्य। आचार में जिनका पराक्रम होता है, उन्हें आचार-पराक्रम कहा जाता है। यह साधु का विशेषण है[3]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'ज्ञानादि में प्रवर्त्तमान शक्ति वाला' किया है[4]।

१२ सवर में प्रभूत समाधि रखने वाले (संवरसमाहिबहुलेणं [ख])

संवर का अर्थ इन्द्रिय और मन का संवर है[5]। समाधि का अर्थ समाधान संवर-धर्म में अप्रकम्प[6] या अनाकुल रहना है। बहुल अर्थात् प्रभूत। संवर में जिनकी समाधि बहुल होती है वे संवर-समाधि-बहुल कहलाते हैं[7]।

१३ चर्या (चरिया [ग])

चर्या का अर्थ मूल व उत्तरगुण रूप चरित्र है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : अणुसोओ संसारो जहा अणुसोतगमणमुच्छिओ लोगो पवत्तमाणो संसारे निवडइ संसारकारणं तहावि अणुसोओ इति कारणे कारणोवयारो।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'अनुस्रोतः संसारः' शब्दादिविषयानुकूल्यं संसार एव कारणे कार्योपचारात्, यथा विषं मृत्युः इति अनुसी प्रत्यक्षो ज्वरः।

२—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : तप्पडिवक्खकारणे य पुण पडिसोओ तस्स निप्फाओ जहा पडिसोतं गच्छंतो ण वाहिज्जइ तहावि पडि-सोएण तहेव सत्तादिसु अमुच्छिओ संसारपाराभिमुहो भवइ।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'उत्तारः' उत्तरणमुत्तारः इत्यौ फलोपचारात्, यथाऽऽयुर्घृतं तदनुसारेणेति भावना।

३—(क) अ० चू० : आचारोमूलगुणा परक्कमो बलं आचार धारणे सामत्थं आचारपरक्कमो जस्स अत्थि सो आचारपरक्कमवान् मतु लोवे कए आचारपरक्कमो साहुरेव।

(ख) जि० चू० पृ० ३६६ : आयारपरक्कमेणं आयारो-मूलगुणो परक्कमो-बलं आयारधारणे समत्थं, आयारे परक्कमो जस्स अत्थि सो आयारपरक्कमवान् मतु लोपे कए आयारपरक्कमो साहुरेव।

४—हा० टी० प० २७९ : 'आचारपराक्रमेण' आचारे—ज्ञानादौ पराक्रम—प्रवृत्ति बलं यस्य स तथाविध इति।

५—जि० चू० पृ० ३६६ : संवरो इंदियसंवरो नोइंदियसंवरो य।

६—जि० चू० पृ० ३६६ : संवरे समाहाणं तओ अकंपणं बहु जाणि-बहु निरवहु संवरे समाहि बहु वहितया संवरसमाहिबहुले, सा संवरसमाहिबहुलेण।

७—हा० टी० प० २७९ : संवरो—इन्द्रियादिसंवरो समाधि—अनाकुलत्वं बहुलं—प्रभूतं यस्य सः।

८—जि० चू० पृ० ३६६ : चरिया चरित्तमेव मूलुत्तरगुण समुदायो।

हो, वह ले, उससे आगे का न ले'।

२४. भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (समट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू ग , तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा घ) :

लिप्त हाथ या भाजन से आहार लेना 'संसृष्ट कल्प' कहलाता है। सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना मुनि के लिए निषिद्ध है अतः वह 'तज्जात संसृष्ट' होना चाहिए। जात का अर्थ प्रकार है। जो एक ही प्रकार के होते हैं वे 'तज्जात' कहलाते हैं[2]।

स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार 'तज्जात संसृष्ट' का अर्थ है—देय वस्तु के समान—जातीय वस्तु से लिप्त[3]।

सजीव वस्तु से संसृष्ट हाथ और भाजन से लेना निषिद्ध है और पश्चात् कर्म-दोष टालने के लिए तज्जातीय वस्तु से असंसृष्ट हाथ और भाजन से लेना भी निषिद्ध है।

इसके लिए देखिए दशवैकालिक ५.१ ३५।

श्लोक ७ :

२५. मद्य और माँस का अभोजी (अमज्जमंसासि क) :

चूर्णिकारों ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है—"पिण्डेषणा—अध्ययन (५ १ ७३) में केवल बहु-अस्थि वाले माँस लेने का निषेध किया है और यहाँ माँस-भोजन का सर्वथा वर्जन किया है यह विरोध है?" और इसका समाधान ऐसा किया है—"यह उत्सर्ग सूत्र है तथा वह कारणिक—अपवाद सूत्र है। तात्पर्य यह है कि मुनि माँस न ले सामान्य विधि यही है किन्तु विशेष कारण की दशा में लेने को बाध्य हो तो परिशाटन-दोषयुक्त (दे० ५ १ ७४) न ले[4]।"

यह चूर्णिकारों का अभिमत है। टीकाकार ने यहाँ उसकी चर्चा नहीं की है। हमारा अभिमत आचाराङ्ग (श्रुतस्कन्ध २) की टिप्पणियों में ही व्यक्त होगा—ऐसा संभव है। चूर्णि गत उल्लेखों से भी इतना स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति जैन-भिक्षुओं के लिए माँस-भोजन सामान्यतः विहित नहीं किन्तु अत्यन्त निषिद्ध है। अपवाद विधि कब से हुई—यह अन्वेषणीय विषय है। आज के जैन-समाज का बहुमत इस अपवाद को मान्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३७१ दिट्ठाहडं जं जत्थ उवयोगो कीरइ, तिआइघरतराओ परतो, णाणिसि (दि) ट्ठाभिहडकरण, एयं ओसण्ण दिट्ठाहडभत्तपाण गेण्हिज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २८१ इदं चोत्सन्नदृष्टाहृत यत्रोपयोग शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थ , 'भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बीओ अ दोसुमुवओग' मिति वचनात्।

२—अ० चू० तज्जाय संसट्ठमिति जात सद्दो प्रकारवाची, तज्जात तधा प्रकार जधा आमगोरसो आमस्स न गोरसस्स तज्जातो कुसणादि पुण अतज्जात।

३—स्था० ५ १ वृ० तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्ट हस्तादि।

४—(क) अ० चू० ननुपिंडेसणाए भणित—बहुअट्ठित पोग्गल, अणिमिस वा बहुकटग (५ १) इति तत्थ बहुअट्ठित निसिद्धमिह सव्वहा। विरुद्धमिह परिहरण, सेइम उस्सग्ग सुत्त। त कारणीय जताकारणे गहण तदा परिसाडी परिहरणत्थ सद्ध घेतव्व—ण बहुअट्ठितमिति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ अमज्जमंसासी भवेज्जा एवमादि, आह-णणु पिंडेसणाए भणिय 'बहुअट्ठिय पोग्गल अणिमिस वा बहुकटक ?', आयरिओ आह—तत्थ बहुअट्ठिय णिसिद्धमिविऽत्थ सव्व णिसिद्ध, इम उस्सग सुत्त, त तु कारणीय, जदा कारणे गहण तदा पडिसाडिपरिहरणत्थ सुत्त घेत्तव्व-न बहुपट्ठि (अट्ठि) यमिति।

३०. संक्लेश रहित (असंकिलिट्ठेहिं ग):

गृहि-वैयापृत्य आदि राग-द्वेष के द्वारा जिसका मन बाधित होता है, उसे संक्लिष्ट कहा जाता है। असंक्लिष्ट इसका प्रतिपक्ष है[१]।

श्लोक १०:

३१. श्लोक १०:

एकाकी-विहार प्रत्येक मुनि के लिए विहित नहीं है। जिसका ज्ञान समृद्ध होता है, शारीरिक संहनन सुदृढ होता है, वह आचार्य की अनुमति पाकर ही एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार कर सकता है। इस श्लोक में आपवादिक स्थिति की चर्चा है। इसका आशय है कि क्वचित् संयम-निष्ठ साधुओं का योग प्राप्त न हो तो संयमहीन के साथ न रहे, भले कदाचित् अकेला रहने की स्थिति आ जाए। जो मुनि रस-लोलुप हो आचार्य के अनुशासन की अवहेलना कर, संयम-विमुख बन अकेले हो जाते हैं और इस सूत्र के आशय को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं, वह अभीष्ट नहीं है।

श्लोक ११:

३२. काल (संवच्छरं क):

मुनि कारण के विना एक स्थान में नहीं रह सकता[२]। उसके लिए अनियतवास को प्रशस्त कहा गया है[३]। विहार की दृष्टि से वर्षाकाल को दो भागों में बाँटा गया है—वर्षाकाल और ऋतु-बद्ध-काल। वर्षाकाल में मुनि एक स्थान में चार मास रह सकता है और ऋतु-बद्ध-काल में एक मास। चातुर्मास का काल मुनि के एक स्थान में रहने का उत्कृष्ट काल है, इसलिए यहाँ उसे संवत्सर कहा गया है[४]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि का अभिमत भी यही है। चूर्णिकार 'अवि' को सम्भावनार्थक मानते हैं[५]। इनके अनुसार कारण विशेष की स्थिति में उत्कृष्ट-वास मर्यादा से अधिक भी रहा जा सकता है—'अपि' शब्द का यह अर्थ है। हरिभद्रसूरि 'अपि' शब्द के द्वारा एक मास का सूचन करते हैं[६]। आचाराङ्ग में ऋतु-बद्ध और वर्षाकाल के कल्प का उल्लेख है। किन्तु वर्षाकाल और शेषकाल में एक जगह रहने का उत्कृष्ट कल्प (मर्यादा) कितना है, इसका उल्लेख वहाँ नहीं है। वर्षावास का परम-प्रमाण चार मास का काल है[७] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक मास का है[८]। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल का वास किया हो वहाँ दूसरी बार वास नहीं करना चाहिए और तीसरी बार भी। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु यहाँ चकार के द्वारा

१—(क) जि० चू० पृ० ३७३ गिहिवेयावडियादिरागदोसविबाहितपरिणामा संकिलिट्ठा, तहा भूते परिहरिऊण असंकिलिट्ठेहिं वसेज्जा, सपरिहारी संवसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २८२ 'असंक्लिष्टैः' गृहिवैयावृत्त्यकरणसंक्लेशरहितैः।

२—बृहत्० भा० १ ३६ कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा हेमत गिम्हासु चारए।

३—दश० चू० २ ५ अ० चू० जतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्वं किन्तु विहरितव्वं।

४—अ० चू० संवच्छर इति कालपरिमाणं। त पुण णेह बारसमासिगसवज्झति किन्तु वरिसा रत्त चातुमासित। स एव जेट्ठोग्गहो।

५—(क) अ० चू० अपि सद्दो कारण विसेस दरिसयति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७४ अविसद्दो संभावणे, कारणे अच्छितव्वति एवं संभावयति।

६—हा० टी० प० २८३ अपिशब्दान्मासमपि।

७—बृहत्० भा० १ ३६।

८—बृहत्० भा० १ ६ ७ ८।

२६ बार-बार विकृतियों को न खाने वाला (अभिक्खणं निव्विगइ गया क) :

मद्य और मांस भी विकृति हैं[1]। कुछ विकृति-पदार्थ भक्ष्य हैं और कुछ अभक्ष्य। चूर्णियों के अनुसार भिक्षु के लिए मद्य-मांस का जैसे अत्यन्त निषेध है वैसे दूध-दही आदि विकृतियों का अत्यन्त निषेध नहीं है। फिर भी प्रतिदिन विकृति खाना उचित नहीं होता इसलिए भिक्षु बार-बार निर्विकृतिक (विकृति रहित रूखा) भोजन करने वाले होते हैं।

चूर्णियों में पाठान्तर का उल्लेख है—'केचिपठंति'—अभिक्खणिव्विगतिया जोगया य (अ० चू०)। इसका अर्थ यही है कि भिक्षु को बार-बार निर्विकृतिक-योग स्वीकार करना चाहिए[2]।

२७ बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला (अभिक्खणं काउस्सग्गकारी ग) :

गमनागमन के पश्चात् मुनि ईर्यापथिक (प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग) किए बिना कुछ भी न करे—यह टीका का आशय है।

चूर्णियों के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के कर्म-क्षय होता है इसलिए उसे गमनागमन विहार आदि के पश्चात् बार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए[3]।

मिलाएं—१ ११।

२८ स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में (सज्झायजोगे घ) :

स्वाध्याय के लिए योग-वहन (आचामाम्ल आदि तपोनुष्ठान) करने की एक विशेष विधि है। आगम अध्ययन के समय मुनि इस तपोयोग को वहन करते हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—विधिप्रपा।

श्लोक ६

२९ साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे (गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा क)

गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ का आदर करना प्रीतिजनक उपकार करना—ये असंयम का अनुमोदन करने वाले हैं, इसलिए मुनि इसका आचरण न करे[4]।

देखिए पृ० ८४ १ ६ का टिप्पण १४।

१—मज्ज संथार ५ भावना ५।

२—(क) अ० चू० : अभिक्खणं मिति पुणो पुणो णिव्विइयं करणीयं। न अधामज्जमंसाणं अच्चंत पडिसेधो तधा विगतीणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : 'अभिक्खणं निव्विगइं गया' य त्ति अप्पो कालविसेसो अभिक्खणमिति अभिक्खणंणिव्विगयं करणीयं, जहा मज्जमंसाणं अच्चंतपडिसेधो (न) तहा वीयाणं।

३—जि० चू० पृ० ३७२ : केई पठंति—'अभिक्खणं निव्विगीया जोगो पडिवज्जियव्वो' इति।

४—देखिए ५.१ ८८ में 'हरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे' का टिप्पण।

५—हा० टी० प० २८ : 'कायोत्सर्गकारी भवेत् ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत् कुर्यात् तदशुद्धतापत्तेः।

६—(क) अ० चू० : काउस्सग्गो द्वितस्स कम्मनिज्जरा भवतीति गमणागमणविहारादिसु अभिक्खणं काउस्सग्गकारिणा भवितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : काउस्सग्गे ठियस्स कम्मणिज्जरा भवइ गमणागमणविहारादिसु अभिक्खणं काउस्सग्गे 'सउक्कियं भवितव्वं' पडिवज्जियव्वं भवइ।

७—(क) जि० चू० पृ० ३७२ : वायणादिसु सज्झायो सज्झायो तस्स जं विहाणं आयंबिलाइजोगो तंमि।

(ख) हा० टी० प० २८१ : 'स्वाध्याययोगे' वाचनाद्युपचारव्यापार आचाम्लादिकरणे।

८—जि० चू० पृ० ३७३ : वेयावडियं नाम तस्साऽऽदरकरणं तेसिं वा पीतिजणणं, उवकारं असंजमाणुमोयणं न कुज्जा।

परिशिष्ट

यह प्रतिपादित हुआ है ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है[1]। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि एक मास रहे वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना न रहे। इसी प्रकार जहाँ चातुर्मास करे वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किए बिना चातुर्मास न करे।

श्लोक १३

३३ (किं मे परो *)

हा० टी० प० २८० : 'किं मे कृत'मिति छान्दसत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी।

श्लोक १६

३४ आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए (अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो *) :

इस चरण में कहा गया है कि आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। कुछ लोग देह-रक्षा को मुख्य मानते हैं। उनकी धारणा है कि आत्मा को गंवाकर भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए। शरीर आत्म-साधना करने का साधन है। किन्तु यहाँ इस मत का खण्डन किया गया है और आत्म-रक्षा को सर्वोपरि माना गया है। महाव्रत के ग्रहण-काल से मृत्यु-पर्यन्त आत्म-रक्षा में लगे रहना चाहिए। आत्मा मरती नहीं अमर है फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों? यह प्रश्न हो सकता है। किन्तु इसका उत्तर भी स्पष्ट है। यहाँ आत्मा से संयमात्मा (संयम जीवन) का ग्रहण अभिप्रेत है। संयमात्मा की रक्षा करनी चाहिए। श्रमण के लिए कहा भी गया है कि वह संयम से जीता है[2]। संयमात्मा की रक्षा कैसे हो? इस प्रश्न के समाधान में बताया गया है इन्द्रियों को सुसमाहित करने से—उनकी विषयोन्मुखी या बहिर्मुखी वृत्ति को रोकने से आत्म-रक्षा होती है।

१—अ० चू० : सिसिरं च वासं—सिसिरं कतो अन्नतरं च ततो बितियमवि ततो वसिउं चाउम्मासं दुगुणेण अपरिहरिया ण वसति। सिसिरं तसियं च परिहरिऊण अन्नत्थे होज्जा।

२—दस० चू० २.१५ : जो जीवइ संजमजीविएणं।

परिशिष्ट-१

शब्द-सूची

शब्द सूची

अ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अ	६।४। सू० ३ गा० १	च	और
अइउक्कस	५।२।४२	अत्युत्कर्ष	गर्वरहित
अइक्कमित्तु	५।२।११	अतिक्रम्य	लाघकर
अइक्कम्म	५।२।२५	अतिक्रम्य	लाघकर
अइदूर	५।१।२३	अतिदूर	बहुत दूर
अइभूमि	५।१।२४	अतिभूमि	वह स्थान जहाँ भिक्षुओं का जाना अनुमत न हो
अइचार	५।१।८९	अतिचार	व्रत या विधि का उल्लघन
अइलाभ	६।३।५	अतिलाभ	अधिक लाभ
अइवत्त	६।२।१६	अति+वृत्	उल्लघन करना
अइवाय	४। सू० ११	अति+पातय्	नाश करना, वियोग करना
अइवायत	४। सू० ११	अति+पातयत्	वियोग करता हुआ
अइहील	५।१।६९	अति हेलय्	अवज्ञा करना
अईअ	७।८, ६।१०	अतीत	भूतकाल
अउल	७।४३, ६।३।१५	अतुल	तुलना-रहित
अओमय	६।३।६,७	अयोमय	लोहमय
अकुस	२।१०, चू०१। सू०१	अङ्कुश	अकुश
अग	८।५७	अङ्ग	अङ्ग
	चू० १। श्लो० १५		कोमल आमत्रण
अगुलिया	४। सू० १८	अङ्गुलिका	उगली
अजण	३।९	अञ्जन	काजल
	५।१।३३	,,	सुरमा
अजली	६।२।१७	अञ्जलि	हाथ जोडना
अड	८।१५	अण्ड	अण्डा
अडय	४। सू० ९	अण्डज	अण्डों से उत्पन्न
अतरा	८।४६	अन्तरा	बीच मे
अतलिक्ख	७।५३	अन्तरिक्ष	आकाश
अतिय	८।४५, ६।१।१२	अन्तिक	निकट
अधगवण्हि	२।८	अधकवृष्णि	यदुवश का एक राजा
अब	७।३३	आम्र	आम
अबिल	५।१।९७	अम्ल	खट्टा
अकक्कस	७।३	अकर्कश	कोमल
अकप्प	५।१।४४	अकल्प्य	अग्राह्य

परिशिष्ट-१ : शब्द-सूची

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अचित्त	५।१।८१,८६ , ६।१३	अचित्त	निर्जीव, प्रासुक
अचित्तमत	४। सू० १३,१५	अचित्तवत्	,, ,,
अचियत्त	५।१।१७	देशी	अप्रीतिकर या अप्रतीतिकर
	७।४३		अचिन्त्य
अच्चबिल	५।१।७८,७९	अत्यम्ल	बहुत खट्टा
अच्चि	४। सू० २०, ८।८	अर्चिस्	अग्नि से टूटी हुई झाल
अच्चिमालि	६।१।१४	अर्चिर्मालिन्	सूर्य
अच्छणजोय	८।३	अक्षणयोग	अहिंसक
अच्छंद	२।२	अच्छन्द	परवश
अच्छि	८।२०	अक्षि	आँख
अजय	४।१,२,३,४,५,६	अयत	असयत
अजाइया	५।१।१८ , ६।१३	अयाचित्वा	मागे बिना
अजाण	६।९, ८।३१	अजानत्	नही जानता हुआ
अजीव	४।१२,१३,१४ , ५।१।७७	अजीव	अचेतन
अज्ज	६।५३	आर्य	मुनि
अज्ज	चू०१। श्लो० ९	अद्य	आज
अज्जपय	१०।२०	आर्यपद	धर्मपद
अज्जय	७।१८	आर्यक	नाना, दादा
अज्जव	६।६७	आर्जव	सरलता
अज्जवभाव	८।३८	आर्जवभाव	सरल भाव
अज्जिया	७।१५ , १०।१५	आर्यिका	पितामही, मातामही
अज्झप्परय	१०।१५	अध्यात्मरत	आत्मलीन, ध्यानमग्न
अज्झयण	४। सू ० १,२,३	अध्ययन	ग्रन्थ-विभाग, अध्याय, परिच्छेद
अज्झाइयव्व	६।४। सू० ५	अध्येतव्य	अध्ययन करने योग्य
अज्झोयर	५।१।५५	अध्यवतर	वह भोजन जो गृहस्थ द्वारा मुनि को ध्यान मे रखकर अपनी आवश्यकता से अधिक पकाया जाय
अट्ठ	३।४,१३ , ४। सू० १७ ; ५।१।३०,४०,४७, ४९,५१,५३,५६,६५,६७,७८,९४,९७ , ६।११, १९,३४,५२,५५,६३ , ७।७,८,१३,४० , ८।५१ , ९।२।१३ , ९।३।२,४ , ९।४। सू०६,७ , १०।८	अर्थ	प्रयोजन
	७।४		वाच्य
	७।४६		वस्तु

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अकप्पिय	५।१।२७ ४१ ४३ ४८ ५०,५२,५४ ५८ ६ ६२,६४ ५।२।१५,१७; ६।४७	अकल्पिक	अकल्पनीय अग्राह्य
अकाम	५।१।८	अकाम	अनिच्छा
अकाल	५।२।४ ५	अकाल	असमय
अकिंचण	६।६८ ८।६	अकिंचन	परिग्रह-रहित
अकीत्ति	चू १ श्लो० १३	अकीर्ति	अश्लाघा
अकेज्ज	७।४५	अक्रेय	नहीं खरीदने योग्य
अकोउहल	९।३।१　१ ।१३	अकौतूहल	अनुत्सुक
अकोविय	९।२।२२	अकोविद	अपंडित
अक्कम	५।१।७	आ+क्रम्	लांघना
अक्कुट्ठ	१ ।१२	आक्रुष्ट	कठोर वचनों से तर्जित
अक्कुहअ	९।३।१	अकुहक	इन्द्रजाल नहीं करने वाला
अक्कोस	१ ।११	आक्रोश	गाली
अक्खाउं	८।२	आख्यातुम्	कहने के लिये
अक्खाय	४सू १ २,३ ४,५,६,७ ८ ९।४ सू १	आख्यात	कहा हुआ
अक्खोड	४ सू १९	आ+स्फोटय्	थोड़ा या एक बार झाड़ना
अक्खोडंत	४ सू १९	आस्फोटयत्	एक बार झाड़ता हुआ
अखंडफुडिय	६।६	अखण्डास्फुटित	अखंड और अस्फुटित
अगंधण	२।६	अगन्धन	सर्प की एक जाति
अगणि	४।सू २ ८।२,८　१ ।२	अग्नि	अग्नि
अगारि	६।५७	अगारिन्	गृहस्थ
अगाह	७।३९	अगाध	अथाह
अगिद्ध	१ ।१६	अगृद्ध	अनासक्त
अगुण	५।२।४४ ९।३।११	अगुण	अवगुण
अगुणप्पेहि	५।२।४१	अगुणप्रेक्षिन्	अवगुणों में दृष्टि रखने वाला
अगुत्ति	६।५८	अगुप्ति	अगुप्तता
अग्ग	५।१।२ ९।१।८ १	अग्र	प्रधान नोक
अग्गबीय	४ सू ८	अग्रबीज	वह वनस्पति जिसका अग्र ही बीज हो
अग्गला	५।२।९ ७।२७	अर्गला	आगल
अग्गि	९।१।१ चू १। श्लो १२	अग्नि	अग्नि
अचक्खुविसय	५।१।२	अचक्षुर्विषय	चक्षु अगोचर
अचक्खुस	६।२७ १ ४१ ४४	अचाक्षुष	चक्षु द्वारा अदृश्य
अचल	८।२१	अचल	स्थिर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अणुचिट्ठ	५।२।३०	अनु+स्था	ठहरना
अणुजाण	६।१४	अनु+ज्ञा	अनुमोदन करना
अणुत्तर	४। श्लो० १६,२०, ८।४२, ६।१।१६,१७	अनुत्तर	श्रेष्ठ
अणुदिसा	६।३३	अनुदिशा	दिक्कोण, विदिशा
अणुन्नय	५।१।१३	अनुन्नत	अभिमान-रहित, नतदृष्टि
अणुन्नविय	५।१।१९	अनुज्ञाप्य	आज्ञा लेकर
अणुन्नवेत्तु	५।१।८३	,,	,
अणुपाल	६।४६, ८।६०	अनु+पालय्	पालन करना
अणुपासमाण	चू० २।१३	अनुपश्यत्	देखता हुआ
अणुप्पत्त	३।१५	अनुप्राप्त	प्राप्त
अणुफास	६।१८	अनुस्पर्श	प्रभाव
अणुबंधि	६।३।७	अनुबंधिन्	अविच्छिन्न
अणुमाय	५।२।४६, ८।२४	अणुमात्र	थोडा
अणुमोयणी	७।५४	अनुमोदनी	अनुमोदन करने वाली
अणुवीइ	७।४४,५५	अनुविविच्य	विचार कर
अणुव्विग्ग	५।१।२,९० , ८।४८	अनुद्विग्न	शान्त
अणुसास	६।१।१३	अनु+शास्	अनुशासन करना
अणुसासण	६।४। सू०४ श्लो० २	अनुशासन	शिक्षा
अणुसासिज्जत	६।४। सू० ४	अनुशास्यमान	अनुशासन को प्राप्त होता हुआ
अणुसोय	चू० २।२,३	अनुश्रोतस्	अनुकूल प्रवाह
अणुस्सिन्न	५।२।२१	अनुत्स्विन्न	अग्नि द्वारा अपक्व, जो उबाला हुआ न हो
अणेग	४।सू० ४ से ९ तक, ५।२।४३ , ६।१।१७	अनेक	अनेक
अणोहाइय	चू०१। सू० १	अनवधावित	सयम से बाहर नही गया हुआ
अतिंतिण	८।२९, ६।४। सू० ७ श्लो० ५	अतिन्तिन	बकवास न करने वाला
अत्त	४। सू० १७ , ८।३०, १०।५	आत्मन्	आत्मा
अत्तकम्म	५।२।३९	आत्म-कर्मन्	अपना किया हुआ कर्म
अत्तगवेसि	८।५६	आत्म-गवेषिन्	आत्महित की खोज करने वाला
अत्तट्ठागुरुअ	५।२।३२	आत्मार्थगुरुक	अपने प्रयोजन को सर्वोपरि मानने वाला
अत्तव	८।४८	आत्मवत्	आत्मवान्
अत्तसपग्गहिय	६।४। सू०४	सप्रगृहीतात्मन्	जिसने आत्म-निग्रह को सबसे उत्कृष्ट मान रखा हो
अत्थ	१०।१५, चू०२।११	अर्थ	अर्थ
अत्थ	३।१४	अत्र	यहाँ
अत्थगय	८।२८	अस्तगत	अस्तगत

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अट्ठ	६।७, ८।१३ १४	अष्टन्	आठ
अट्ठम	८।१५	अष्टम	आठवां
अट्ठया	४।७ सू ६	अर्थ	प्रयोजन
अट्ठारस	चू०१। सू १	अष्टादशन्	अठारह
अट्ठारसम	चू०१। सू १	अष्टादश	अट्ठारहवां
अट्ठावय	३।४	अष्टापद	शतरंज
अट्ठिय	५।१।८४	अस्थिक	गुठली
अट्ठियप्प	२।६	अस्थितात्मन्	अस्थिरात्मा
अणंतनाण	९।१।११	अनंतज्ञान	निरावरणज्ञान केवलज्ञान
अणंतहियकामय	९।२।१६	अनन्तहितकामक	मोक्ष का इच्छुक
अणगारिया	७।१८ १९	अनगारिता	अनगारवृत्ति
अणज्ज	चू १। श्लो १	अनार्य	विवेकहीन
अणभिज्झिय	चू १। श्लो० १४	अनभिध्यात	अनिष्ट
अणलस	८।४२	अनलस	आलस्य-रहित
अणवज्ज	७।२ ४६ चू १। सू १	अनवद्य	पाप-रहित
अणाइण्ण	३।१ १	अनाचीर्ण	साधुओं के लिए अकरणीय कार्य
अणाइन्न	७।२	अनाचीर्ण	जिसका आचरण नहीं किया गया
अणाउल	५।१।१३	अनाकुल	आकुलता-रहित
अणागय	७।८ ९ चू २।१३	अनागत	भविष्य
अणाबाह सुहाभिकंखि	९।१।१	अनाबाध सुखाभिकांक्षिन्	मोक्ष का अभिलाषी
अणायण	५।१।१	अनायतन	अस्थान अगमनीय स्थान
अणायरिय	६।५३	अनाचरित	असेवित
अणायार	६।१६, ८।३२	अनाचार	अनाचार
अणासय	९।३।६	अनाशय	निरपेक्ष मनोभाव
अणिएयवास	चू २।५	अनिकेतवास	गृहमुक्तवास
अणिग्गहीय	८।३९	अनिगृहीत	वश में नहीं किया हुआ
अणिच्च	८।५८ चू १। सू १	अनित्य	अशाश्वत
अणिमिस	५।१।७३	अनिमिष	अननास का पेड़
अणिस्सिय	७।२७	अनिश्रित	अप्रतिबद्ध
अणिह	१०।१३	अनिभ	दम्भ-रहित
अणु	४। सू ११ १५	अणु	छोटा
अणुगय	६।६८	अनुगत	युक्त
अणुगाय	८।२८	अनुद्गत	नहीं उगा हुआ
अणुग्गह	५।१।९४	अनुग्रह	प्रसाद कृपा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अपासत	६।२३	अपश्यत्	नही देखता हुआ
अपि	२।४	अपि	भी
अपिसुण	६।३।१०	अपिसुन	चुगली नही करने वाला
अपुच्छिय	८।४६	अपृष्ट	बिना पूछा हुआ
अपुट्ठ	८।२२	"	"
अपुणागम	१०।२१	अपुनरागम	पुनरागमन-रहित
अपूइय	चू०१। गा० ४	अपूज्य	अपूज्य
अप्प	४। सू०१० से १६, १८ से २३, ४। श्लो० ६, ५।१।१८,८०,५।२।५,३६, ६।१३,१४,२१,६७, ८।७,६,३१,३४,३६, ५८,६१,६।१।१५, ६।२।३,५,७, १०, ६।३।५, ६।४। सू०३ गा०१, ६।४। सू०५ श्लो० ६, १०।१५, चू०। १ गा० १७, चू० २।२,१३,१६	आत्मन्	आत्मा
अप्प	४। सू० १३,१५, ५।१।७४,६६, ६।१३, चू० २।५	अल्प	थोडा
अप्पग	६।३।११, चू०२।१२	आत्मक	आत्मा
अप्पग्घ	७।४६	अल्पार्घ	अल्प मूल्य वाला
अप्पण	६।११, ६।२।१३	आत्मन्	आत्मा,स्व
अप्पतेय	चू०१। गा०१२	अल्पतेजस्	निस्तेज
अप्पत्तिय	५।२।१२, ८।४७	देशी	अप्रेम
अप्पभासि	८।२६	अल्पभाषिन्	मितभाषी
अप्पभूय	४।६	आत्मभूत	आत्मतुल्य
अप्पमत्त	८।१६, ६।१।१७	अप्रमत्त	प्रमाद-रहित
अप्पय	१।२, १०।१४	आत्मक	आत्मा
अप्परय	६।४ श्लो० ७	अल्परजस्	अल्पकर्मी
अप्पसन्न	६।१।५,७,१०	अप्रसन्न	अप्रसन्न
अप्पसुय	६।१।२	अल्पश्रुत	अल्प विद्यावान्
अप्पहिट्ठ	५।१।१३	अप्रहृष्ट	उत्सुकता-रहित
अप्पिच्छ	८।२५	अल्पेच्छ	थोडी इच्छा वाला
अप्पिच्छया	६।३।५	अल्पेच्छता	अल्प इच्छा का भाव
अप्पियकारिणी	६।३।६	अप्रियकारिणी	अप्रियकर-भाषा
अप्पोवहि	चू०२।५	अल्पोपधि	वस्त्र, पात्र आदि कम रखने वाला
अफासुय	८।२३	अप्रासुक	सजीव

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अत्थविणिच्छय	८।४३	अर्थ विनिश्चय	अर्थ का निश्चय
अत्थ-संजुत्त	५।२।४३	अर्थ-संयुक्त	आत्म-शुद्धि-युक्त
अत्थिय	५।१।७३	अस्थिक	अस्थिक वृक्ष का फल
अदिट्ठधम्म	९।२।२३	अदृष्टधर्मन्	धर्म से अपरिचित
अदिन्न	४ सू १३	अदत्त	नहीं दिया हुआ
अदिन्नादाण	४ सू १३	अदत्तादान	बिना दी हुई वस्तु लेना, चोरी
अदीण	५।२।२६	अदीन	दैन्य-रहित
अदीणवित्ति	९।३।१०	अदीनवृत्ति	दीन भाव से याचना न करने वाला
अदु	चू १।गा १८ चू०२।१४	अथ	या, वा, किंवा
अदुट्ठ	७।५५	अदुष्ट	निर्दोष
अदुव	५।१५, ६।२, ६,२३ ८।१२	अथवा	अथवा
अदुवा	५।१।७५ ६।६३ ८।१७		
अदेंत	५।२।२८	अददत्	नहीं देता हुआ
अधुव	८।३४	अध्रुव	अनित्य
अनियाण	१०।१३	अनिदान	निदान नहीं करने वाला
अनिल	६।२६ १ ।३	अनिल	वायु
अनिव्वाण	५।२।३८	अनिर्वाण	अतृप्ति, मोक्षाभाव
अनिव्वुड	५।७	अनिर्वृत	अपरिणत वह सचित्त पदार्थ जो किसी विरोधी शस्त्र द्वारा निर्जीव न हुआ हो
	५।२।१८		असक्त
अन्न	४ सू १ से १६ तक और १८ से २३ तक, ५।१।६,७१ ८ ८४ ६७ ५।२।१४ १६ १६,३६, ६।११ १४ ७।४ ११ ८।५१ १ ।१८	अन्यत्	दूसरा
अन्न	७।११	देशी	पितृ स्थानीय व्यक्ति
अन्नत्थ	४ सू ४ से ८ १५, ६।४ सू० ६।७	अन्यत्र	वर्ज कर
अन्नयर	४ सू २३ ६।७ १८ ६२	अन्यतर	कोई एक
अन्नयराग	६।५६	अन्यतरक	" "
अन्ना	७।१६	देशी	माय, माता
अन्नाणि	४।१२	अज्ञानिन्	ज्ञान-रहित
अन्नायउंछ	९।३।४ १० ।१६; चू०२।५	अज्ञातोञ्छ	अपना परिचय दिए बिना अथवा अपरिचित घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेने वाला
अन्नेसमाण	५।२।३०	अन्वेषयत्	अन्वेषण करता हुआ
अपडिलेहिया	६।५५	अप्रतिलेख्य	देखे बिना
अपरिसाडय	५।१।९६	अपरिशाटयत्	नीचे नहीं गिराता हुआ
अणाविलमण	८।६३	अनाविलमनस्	पवित्र चित्त वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अपासत	६।२३	अपश्यत्	नही देखता हुआ
अपि	२।४	अपि	भी
अपिसुण	६।३।१०	अपिसुन	चुगली नही करने वाला
अपुच्छिय	८।४६	अपृष्ट	बिना पूछा हुआ
अपुट्ठ	८।२२	,,	,,
अपुणागम	१०।२१	अपुनरागम	पुनरागमन-रहित
अपूइय	चू०१। गा० ४	अपूज्य	अपूज्य
अप्प	४। सू०१० से १६, १८ से २३ , ४। श्लो० ६, ५।१।१८,८०,५।२।५,३६, ६।१३,१४,२१,६७, ८।७,६,३१,३४,३६, ५८,६१,६।१।१५, ६।२।३,५,७, १०, ६।३।५, ६।४। सू०३ गा०१, ६।४। सू०५ श्लो० ६, १०।१५, चू०। १ गा० १७, चू० २।२,१३,१६	आत्मन्	आत्मा
अप्प	४। सू० १३,१५, ५।१।७४,६६, ६।१३, चू० २।५	अल्प	थोडा
अप्पग	६।३।११, चू०२।१२	आत्मक	आत्मा
अप्पग्घ	७।४६	अल्पार्घ	अल्प मूल्य वाला
अप्पण	६।११, ६।२।१२	आत्मन्	आत्मा,स्व
अप्पतेय	चू०१। गा०१२	अल्पतेजस्	निस्तेज
अप्पत्तिय	५।२।१२, ८।४७	देशी	अप्रेम
अप्पभासि	८।२६	अल्पभाषिन्	मितभाषी
अप्पभूय	४।६	आत्मभूत	आत्मतुल्य
अप्पमत्त	८।१६, ६।१।१७	अप्रमत्त	प्रमाद-रहित
अप्पय	१।२, १०।१४	आत्मक	आत्मा
अप्परय	६।४ श्लो० ७	अल्परजस्	अल्पकर्मी
अप्पसन्न	६।१।५,७,१०	अप्रसन्न	अप्रसन्न
अप्पसुय	६।१।२	अल्पश्रुत	अल्प विद्यावान्
अप्पहिट्ठ	५।१।१३	अप्रहृष्ट	उत्सुकता-रहित
अप्पिच्छ	८।२५	अल्पेच्छ	थोडी इच्छा वाला
अप्पिच्छया	६।३।५	अल्पेच्छता	अल्प इच्छा का भाव
अप्पियकारिणी	६।३।६	अप्रियकारिणी	अप्रियकर-भाषा
अप्पोवहि	चू०२।५	अल्पोपधि	वस्त्र, पात्र आदि कम रखने वाला
अफासुय	८।२३	अप्रासुक	सजीव

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अबंभचरिय	६।१५	अब्रह्मचर्य	अब्रह्मचर्य
अबोहि	४।२०,२१ ९।१।५,१०	अबोधि	मिथ्यात्व, अज्ञान
अबोहिय	६।५६	अबोधिक	मिथ्यात्व
अब्भ	८।५१	अभ्र	आकाश
	९।१।१५		बादल
अब्भिंतर	४।१७,१८	अभ्यन्तर	भीतर
अभिकंख	१।१२,१७	अभि+काङ्क्ष	चाहना
अभिकंखमाण	९।३।२	अभिकाङ्क्षत्	चाहता हुआ
अभिक्कंत	४। सू० १	अभिक्रान्त	सामने आना
अभिक्खणं	५।१।१० चू २।७	अभीक्ष्णं	बार-बार
अभिगच्छ	४।२१,२२; ५।१।१४; ९।२।२१	अभि+गम्	पाना
अभिगम	९।३।१५	अभिगम	विनय-प्रतिपत्ति
अभिगम्म	९।४ श्लो० ६	अभिगम्य	जानकर
अभिगिज्झ	७।१७,२	अभिगृह्य	आलोचनाकर
अभिघाय	९।३।८	अभिघात	प्रहार
अभितोस	९।३।५	अभि+तोषय्	सन्तुष्ट करना
अभिधार	५।२।२९	अभि+धारय्	जाना
अभिनिवेस	८।२६,५८	अभि+नि+वेशय्	स्थापित करना
अभिभूय	६।२१	अभिभूत	ग्रस्त, पराभूत
अभिभूय	१०।१४	अभिभूय	पराजित कर
अभिमुह	९।१।१	अभिमुख	सम्मुख, तत्पर
अभिरम	९।४ सू० १ गा० १	अभि+रमय्	लगाना, रमाना
अभिवायण	चू २।९	अभिवादन	वाचिक नमस्कार
अभिसित्त	९।१।११	अभिषिक्त	सींचा हुआ
अभिहड	३।२	अभिहृत	सामने लाया हुआ
अभूइभाव	९।१।१	अभूतिभाव	ऐश्वर्य-हानि
अभोज्ज	६।४९	अभोज्य	भोगने के अयोग्य
अमच्छरि	चू २।७	अमत्सरिन्	मात्सर्य-रहित
अमज्जमंसासि	चू २।७	अमद्यमांसाशिन्	मद्य और मांस नहीं खाने वाला
अमम	६।६८ ८।६३	अमम	ममत्व-रहित
अमर	चू १। गा ११	अमर	देवता
अमाइ	९।३।१	अमायिन्	माया नहीं करने वाला
अमाणिम	चू १। गा ५	अमान्य	सम्मान करने के अयोग्य
अमुग	७।६	अमुक	अमुक
अमुच्छिय	५।१।१; ५।२।२६; १०।१६	अमूर्च्छित	मूर्च्छा-रहित

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अमुय	७।५०	अमुग	अमुक
अमूढ	१०।७	अमूढ	मोह-रहित, यथार्थदर्शी
अमोह	८।३३	अमोघ	सफल
अमोहदसि	६।६७	अमोहदर्शिन्	अमोहदर्शी
अम्मा	७।१५	अम्बा	माता
अम्हे	१४	अस्मन्	हम
अयपिर	५।१।२३, ८।२३,४८	अजल्पितृ	अजल्पनशील, मौनी
अयस	५।२।३८, चू०१।गा०१३	अयशस्	असयम, अयश
अयाणत	४।१२	अजानत्	नही जानता हुआ
अरइ	८।२७, चू०१।सू०१	अरति	मोह कर्म के उदय से होने वाला मानसिक खेद
अरक्खिय	चू० २।१६	अरक्षित	रक्षा नही किया हुआ
अरय	चू०१।गा० १०,११	अरत	नही रमा हुआ, अप्रवृत्त
अरस	५।१।९८	अरस	रस-वर्जित, बघार-रहित
अरिह	८।२०	अर्ह	समर्थ होना, सकना
अरोगि	६।६०	अरोगिन्	स्वस्थ
अल	५।१।७८, ७९, ७।२७, ८।६१	अलम्	पर्याप्त
अलकार	२।२	अलकार	आभूषण
अलद्धुम	६।३।४	अलब्ध्वा	प्राप्त नही कर
अलाभ	५।२।६, ८।२२	अलाभ	अप्राप्ति
अलाय	४।२०, ८।८	अलात	जलता हुआ ठूठ
अलोग	४।२२,२३	अलोक	शेष-द्रव्य-शून्य आकाश
अलोल	१०।१७	अलोल	अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा नही करने वाला, अलोलुप
अलोलुअ	६।३।१०	अलोलुप	लोलुपता-रहित
अल्लीणगुत्त	८।४४	आलीन गुप्त	इन्द्रिय और मन से सयत
अल्लीणपलीणगुत्त	८।४०	आलीनप्रलीन गुप्त	इद्रिय और मन से सयत
अवदिम	चू०१।गा०३	अवन्द्य	अवन्दनीय
अवक्कम	५।१।८५	अव+क्रम्	जाना
अवक्कमित्ता	५।१।८१,८६, ५।२।११	अवक्रम्य	जाकर
अवगम	८।६३	अपगम	नाश
अवक्कम	६।१।६	अप+क्रम्	लाघना
अवगय	७।५७, ८।६३, ६।३।१४, १०।१६	अपगत	दूर हुआ
अवणय	५।१।१३	अवनत	भुका हुआ
अविक्किय	७।४३	अविक्रेय	बेचने योग्य नही
अविणीय	६।२।३,५,७,१०,२१	अविनीत	उद्धत, विनय-शून्य

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अविस्सास	६।१२	अविश्वास्य	अविश्वसनीय विश्वास के अयोग्य
अविहेडअ	१०।१०	अविहेठक	जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता
अवे	चू०१।गा०१६	अप+इ	दूर करना
अवेयइत्ता	चू०१।सू०१	अवेदयित्वा	नहीं वेद कर भोगे बिना
अव्वक्खित्त	५।१।२ ९०	अव्याक्षिप्त	अव्याकुल स्वस्थ
अव्वहिय	८।२७	अव्यथित	व्यथा-रहित
अस	१।३ २।८ ४।सू० ११ से १६ ५।२।२७ ६।२२ ६१ ७।४१ ९।२।१० १ १७ चू १ सू १	अस्	होना
असइ	१ ।११	असकृत्	बार-बार
असंकिलिट्ठ	चू २।९	असंक्लिष्ट	संक्लेश-रहित शुद्ध आचार वाला
असंजम	५।१।२६,९६,६।५१ चू १।गा १४	असंयम	संयम का अभाव
असंजय	७।४७	असंयत	असंयमी
असंथड	७।३३	असंस्तृत	फलों को धारण करने में असमर्थ
असंदिद्ध	७।३; ८।४८	असंदिग्ध	सन्देह-रहित
असंबद्ध	८।२४	असम्बद्ध	अलिप्त
असंभंत	५।१।१	असंभ्रान्त	संभ्रम-रहित
असंविभागि	९।२।२२	असंविभागिन्	आहारादि का अपने साधर्मिक श्रमणों को समुचित विभाग न देने वाला
असंसट्ठ	५।१।३४ ३५	असंसृष्ट	अन्न आदि से अलिप्त
असंसत्त	५।१।२३ ८।३२	असंसक्त	आसक्ति-रहित अलिप्त
असच्चमोसा	७।३	असत्यामृषा	व्यवहार भाषा वह भाषा जिसके द्वारा आमन्त्रण उपदेश आदि दिये जायें
असज्जमाण	चू २।१	असजत्	आसक्त न होता हुआ
असण	४।सू १९;५।१।४७ ४९,५१ ५३ ५७ ५९,६१ ६।४९,२ १ ।८१	अशन	आहार
असत्थपरिणय	५।१।२३	अशस्त्रपरिणत	वह वस्तु जिसकी सजीवता विरोधी वस्तु के द्वारा नष्ट न हुई हो
असब्भवयण	९।२।८	असभ्यवचन	असभ्य वचन
असावज्ज	५।१।९२	असावद्य	निरवद्य, पाप-रहित
असासय	१ ।२१ चू १।गा १६	अशाश्वत	अनित्य
असाहु	७।४८ ९।३।११	असाधु	असाधु
असाहुया	५।२।३८	असाधुता	असाधुता

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
असुइ	१०।२१	अशुचि	अपवित्र
असूइय	५।१।९८	असूपिक	व्यजन-रहित
अस्सिय	५।१।११	आश्रित	आश्रित
अह	४। सू० ११ से १६, ५।१।७७,९६	अथ	यदि
अहण	१०।६	अधन	धन-रहित
अहम्म	६।१६	अधर्म	अधर्म
अहम्मसेवि	चू०१। गा०१३	अधर्म-सेविन्	हिंसक कर्म करने वाला
अहर	चू०१। सू०१	अधर	नीचे
अहागड	१।४	यथाकृत	गृहस्थ द्वारा अपने लिये बनाया भोजन
अहिंसा	१।१, ६।८	अहिंसा	अहिंसा
अहिगरण	८।५०	अधिकरण	हिंसा
अहिज्जग	८।४९	अभिज्ञ	पढनेवाला
अहिज्जिउ	४। सू०१,२,३	अध्येतुम्	पढने के लिए
अहिज्जित्ता	६।४। सू० ५ श्लो०३	अधीत्य	पढकर
अहिट्ठ	८।६१, ६।४। सू०४ श्लो० २, ६।४ सू० ६,७ , चू०१। गा० १८	अधि+स्था	आचरण करना
अहिट्ठग	६।५४,६२	अधिष्ठक—अधिष्ठातृ	आचरण करने वाला
अहिय	६।१।४	अहित	अहित
अहिय	चू० २।१०	अधिक	अधिक
अहियगामिणी	८।४७	अहितगामिनी	अहित की ओर जाने वाली भाषा
अहियास	५।२।६, ८।२६,२७	अधि+आस्+सह	सहना
अहुणाधोय	५।१।७५	अधुनाधौत	तत्काल का धोवन, अपरिणत, वह धोवण जो अचित्त नही हुआ हो
अहुणोवलित्त	५।१।२१	अधुनोपलिप्त	तत्काल का लिपा हुआ
अहे	६।३३	अधम्	नीची दिशा
अहो	५।१।९२, ६।२२	अहो	आश्चर्य-सूचक, अव्यय

आ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आ	चू० १। गा० ९	तावत्	तक
आइ	६।४६, ७।७	आदि	इत्यादि
आइक्ख	६।३, ८।१४,५०	आ+ख्या	कहना
आइच्च	८।२८	आदित्य	सूर्य
आइद्ध	२।९	आविद्ध	प्रेरित
आइण्ण	चू० २।६	आकीर्ण	व्याप्त
आइन्नअ	चू०२।१४	आकीर्णक	[illegible]

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आउ	४।सू०५	अप्	पानी
आउ	८।१४	आयुस्	आयुष्य
आउकाइय	४।सू० ३	अप्कायिक	जल शरीर वाला जीव
आउकाय	६।२६,३० ३१	अप्काय	,,
आउरस्सरण	३।६	आतुरस्मरण	आतुर-अवस्था में पूर्व भुक्त सुख-सुविधा की सामग्री का स्मरण करना
आउलग	४।२६	आकुलक	आकुल
आउस	४।सू १ ६।४।सू०१	आयुष्मत्	चिरजीवी एक संबोधन आमंत्रण
आगय	५।१।८८	आगत	आया
आगइ	४।सू ९	आगति	आगति
आगम	६।१	आगम	अंग-उपांग आदि
	७।११		आना
आगमण	५।१।८९	आगमन	आना
आगम्म	५।१।८६	आगम्य	प्राप्त कर
आगाहइत्ता	५।१।३१	आगाह्य	अवगाहन कर
आघाय	६।१४	आघात	वध
आजीववित्तिया	३।६	आजीववृत्तिता	जाति कुल आदि का गौरव बताकर भिक्षा लेना
आणव	चू २।११	आ+ज्ञापय्	आज्ञा देना
आणा	१ ।१	आज्ञा	तीर्थंकर का उपदेश
आणुपुव्वी	८।१	आनुपूर्वी	क्रम
आणुलोमिया	७।५६	आनुलोमिका	अनुकूल भाषा
आभिओग	९।२।५,१	आभियोग्य	सेवा चाकरी
आभोएत्ताण	५।१।८१	आभोग्य	जानकर
आम	५।१।७० ५।२।२३	आम	अपक्व
आमग	३।७ ८; ५।१।७० ५।२।१९,२१ २२ २४ ८।१	आमक	
आमिया	५।२।२	आमिका	
आमुस	४।सू १९	आ+मृश्	थोड़ा या एक बार स्पर्श करना
आमुसंत	४।सू १९	आमृशत्	स्पर्श करता हुआ
आय	चू १।गा १८	आय	लाभ
आयइ	चू १।गा १	आयति	भविष्य
आयंक	चू १।सू १	आतङ्क	शीघ्र घाती रोग
आयय	६।४।सू०७ श्लो ४	आयत	विस्तार

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आययट्ठि	५।२।३४	आयतार्थिन्	मोक्षार्थी
आययट्ठिय	६।४। सू० ४ श्लो० २	आयतार्थिक	,,
आययण	४।१५	आयतन	स्थान
आयर	६।१५,२१,६३	आ+चर्	आचरण करना
आयरिय	५।२।४०,४५, ८।३३,६०, ९।१।४,५, १०,११,१४,१६,१७, ९।२।१२,१६, ९।३।१	आचार्य	आचार्य
आया	५।२।३१	आ+दा	लेना
आयाण	५।१।२६	आदान	मार्ग
आयाय	५।१।८८	आदाय	लेकर
आयार	६।५०,६०, ९।३।२, ९।४। सू०३ गा० १, ९।४। सू० ७, चू०२।४	आचार	मर्यादा, कल्प
	७।१३, ८।४९		वाक्यरचना के नियम
आयारगोयर	६।२,४	आचार-गोचर	क्रिया-कलाप
आयारपणिहि	८	आचार-प्रणिधि	दशवैकालिक का आठवाँ अध्ययन
	८।१		आचार की समाधि
आयारभावतेण	५।२।४६	आचार-भावस्तेन	आचार और भाव का चोर
आयारमत	९।१।३	आचारवत्	चरित्र-सम्पन्न
आयारसमाहि	९।४। सू० ३,७, ९।४। सू० ७ श्लो० ५	आचार-समाधि	आचारात्मक स्वास्थ्य
आयाव	२।५	आ+तापय्	आतप आदि को सहन करना
	३।१२, ४।सू०१९		धूप मे सुखाना
आयावत	४।सू०१९	आतापयत्	धूप मे सुखाता हुआ
आयावयट्ठ	५।२।२	अयावदर्थ	अपर्याप्त
आरभ	६।३४	आ+रभ्	आरम्भ करना
आरक्खिय	५।१।१६	आरक्षिक	पुलिस, दण्डनायक
आरहत	९।४। सू०७	आर्हत	अर्हत्-सम्बन्धी
आराह	५।२।३९,४०,४५, ७।५७, ९।१।१६, ९।३।१, ९।४। सू०४	आ+राधय्	आराधना करना
आराहइत्ताण	९।१।१७	आराध्य	आराधना कर
आरुह	५।१।६७	आ+रुह्	चढना
आलव	७।१६,१७,२०,२१,२३,३५,४२, ४८,५३	आ+लप्	कहना
आलिह	४। सू०१८	आ+लिख्	रेखा खीचना
आलिहत	४। सू०१८	आलिखत्	रेखा खीचता हुआ
आलोइय	५।१।९१	आलोचित	गुरु के सामने निवेदित
आलोइय	९।३।१	आलोकित	निरीक्षण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आउ	४सू ५	अप्	पानी
आउ	८।१४	आयुस्	आयुष्य
आउकाइय	४सू० ६	अप्कायिक	जल शरीर वाला जीव
आउकाय	६।२९,३० ३१	अप्काय	„ „
आउरस्सरण	३।६	आतुरस्मरण	आतुर-अवस्था में पूर्व भुक्त सुख-सुविधा की सामग्री का स्मरण करना
आउलग	४।२६	आकुलक	आकुल
आउस	४सू०१ ९।४सू०१	आयुष्मस्	चिरजीवी एक मंगलमय आमंत्रण
आगय	५।१।८८	आगत	आया
आगइ	४सू ९	आगति	आगति
आगम	६।१ ७।११	आगम	अंग-उपांग आदि आज्ञा
आगमण	५।१।८९	आगमन	आना
आगम्म	५।१।८६	आगम्य	प्राप्त कर
आगाहइत्ता	५।१।३१	आगाह्य	अवगाहन कर
आघाय	६।१४	आघात	वध
आजीववित्तिया	३।६	आजीववृत्तिता	जाति कुल आदि का गौरव बताकर भिक्षा लेना
आणव	चू २।११	आ+ज्ञापय्	आज्ञा देना
आणा	१ ।१	आज्ञा	तीर्थंकर का उपदेश
आणुपुव्वी	८।१	आनुपूर्वी	क्रम
आणुलोमिया	७।५६	आनुलोमिका	अनुकूल भाषा
आभिओग	९।२।५ १	आभियोग्य	सेवा चाकरी
आभोएत्ताण	५।१।८९	आभोग्य	जानकर
आम	५।१।७० ५।२।२३	आम	अपक्व
आमग	३।७ ८; ५।१।७०; ५।२।१९,२१ २२ २४ ८।१	आमक	„
आम्बिया	५।२।२	आम्बिका	
आमुस	४सू १९	आ+मृश्	थोड़ा या एक बार स्पर्श करना
आमुसंत	४सू १९	आमृशत्	स्पर्श करता हुआ
आय	चू १।गा०१८	आय	लाभ
आयइ	चू १।गा १	आयति	भविष्य
आयंक	चू १।सू १	आतङ्क	शीघ्र घाती रोग
आयय	९।४।सू०७ श्लो ५	आयत	विस्तार

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आहियग्गि	६।१।११, ६।३।१	आहिताग्नि	अग्नि का उपासक, अग्नि को सदा प्रज्वलित रखने वाला
आहुइ	६।१।११	आहुति	हवन-सामग्री
		इ	
इ	७।४७, ८।१३	इ	जाना
इ	१।४, ३।१४, ५।१।६५,६६	चित्	किम् आदि शब्दों के आगे जुड़ने वाला अव्यय
इइ	२।४	इति	इति
इगाल	४।सू० २०, ८।८	अङ्गार	जलता हुआ कोयला
इगाल	५।१।७	आङ्गार	अङ्गार-सम्बन्धी
इगिय	६।३।१	इगित	हा, ना सूचक अग-सचालन
इद	६।१।१४, चू० १। श्लो०२	इन्द्र	इन्द्र
इदिय	५।१।१३,२६,६६, ८।१६,३५, १०।१५, चू० १। श्लो० १७, चू० २।१६	इन्द्रिय	इन्द्रिय
इच्छ	२।७, ५।१।२७,३५,३६,३७,३८,८२,८६, ६५,६६, ६।१०,१७,३२,३७,४७, ६।१।८	इष्	इच्छा करना
इच्छत	८।३६	इच्छत्	चाहता हुआ
इच्छा	५।२।२७	इच्छा	अभिलाषा
इट्ठाल	५।१।६५	देशी	ईंट का टुकड़ा
इड्ढि	४।१०,१७,२३, ६।२।६,६,११,२२, १०।१७	ऋद्धि	ऋद्धि
इति	२।२	इति	समाप्ति
इत्तरिय	चू०१। सू०१	इत्वरिक	क्षणिक, नश्वर, अल्पकालिक
इत्थ	३।१४, ६।४। सू० ४,५,६,७, चू०१।सू०१	अत्र	यहाँ
इत्थथ	६।४।श्लो०७	इत्थस्थ	नियत सस्थान
इत्थी	२।२, ५।२।२६, ७।१६,१७,२१, ८।५१, ५३,५६,५७, ६।३।१२, १०।१	स्त्री	स्त्री
इत्थीओ	६।५८	स्त्रीतस्	स्त्री से
इम	४।सू०३	इद	यह
इमेरिस	६।५६	एतादृश्	ऐसा
इरियावहिया	५।१।८८	ऐर्यापथिकी	गमनागमन का प्रतिक्रमण
इव	६।२।१२	इव	तरह
इसि	६।४६, चू० २।५	ऋषि	मुनि
इह	४। सू०१	इह	यहाँ
इहलोग	८।४३, ६।२।१३, ६।४।सू०६,७	इहलोक	इहलोक, वर्तमान जीवन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आलोअ	५।१।९१	आ+लोच्	गुरु के सामने निवेदित करना
आलोय	५।१।१५	आलोक	गवाक्ष झरोखा
	५।१।९६		चौड़े मुँह वाला भाजन
आवगा	७।३६ ३७ ३९	आपगा	नदी
आवज्ज	४सू २३ ६।५६	आ+पद्	प्राप्त करना
आवण	५।१।७२	आपण	दूकान
आविअ	१।२	आ+पा	पीना
आवील	४सू १९	आ+पीड्	थोड़ा या एक बार निचोड़ना
आवीलित्ता	४।१९	आपीडयत्	निचोड़ता हुआ
आवेउं	२।७	आपातुम्	पीने के लिये
आस	४ श्लो ७ ७।४७ ८।१२	आस्	बैठना
आसइत्तु	६।५४	आसितुम्	बैठने के लिये
आसंदी	३।५, ६।५३ ५४ ५५	आसंदी	मद्रासन
आसण	५।२।२८ ७।२९, ८।५,१७ ५१	आसन	आसन
	९।२।१७ ९।३।५ चू २।८		
आसमाण	४।३	आसीन	बैठता हुआ
आसय	५।१।८५	आस्यक	मुँह
आसव	३।११ १।५ ४श्लो ९	आस्रव	कर्म-पुद्गलों के आकर्षक आत्मपरिणाम
	चू २।३		इन्द्रिय-विषय-युक्त प्रवृत्ति
आसा	९।३।६	आशा	किसी वस्तु को पाने की इच्छा
आसाय	९।१।४ ९।३।२	आ+शातय्	अवज्ञा या असभ्य व्यवहार करना
आसाइत्ताण	५।१।७७	आस्वाद्य	चखकर
आसायंत	५।१।७८	आस्वादयत्	चखना
आसायणा	९।१।२,५ ६, ८।१०	आशातना	अबहुमान असभ्य व्यवहार
आसालय	६।५३	आसालक	अवष्टम्भ-सहित आसन आराम कुर्सी
आसीविस	९।१।५,६,७	आशीविष	जहरीला साँप
आसु	८।४७	आशु	शीघ्र
आसुरत्त	८।२५	आसुरत्व	क्रोधभाव
आहड	५।१।५५, ६।४८ ४९ ८।२३	आहृत	सामने लाया हुआ
आहम्मिय	८।३१	अधार्मिक	अधर्म-युक्त
आहर	५।१।२७ ३१ ४२, ५।२।११ १०।१	आ+हृ	लाना
आहार	६।२५,४९	आहार	आहार
आहारमइय	८।२८	आहारमय	आहाररूप
आहरित्तु	५।१।२८	आहरत्	लाया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आहियग्गि	६।१।११, ६।३।१	आहिताग्नि	अग्नि का उपासक, अग्नि को सदा प्रज्वलित रखने वाला
आहुइ	६।१।११	आहुति	हवन-सामग्री
		इ	
इ	७।४७, ८।१२	इ	जाना
इ	१।४, ३।१४, ५।१।६५,६६	चित्	किम् आदि शब्दों के आगे जुड़ने वाला अव्यय
इइ	२।४	इति	इति
इगाल	४।सू० २०, ८।८	अङ्गार	जलता हुआ कोयला
इगाल	५।१।७	आङ्गार	अङ्गार-सम्बन्धी
इगिय	६।३।१	इगित	हा, ना सूचक अग-सचालन
इद	६।१।१४, चू० १। श्लो०२	इन्द्र	इन्द्र
इदिय	५।१।१३,२६,६६, ८।१६,३५, १०।१५, चू० १। श्लो० १७, चू० २।१६	इन्द्रिय	इन्द्रिय
इच्छ	२।७, ५।१।२७,३५,३६,३७,३८,८२,८६, ६५,६६, ६।१०,१७,३२,३७,४७, ६।१।८	इष्	इच्छा करना
इच्छत	८।३६	इच्छत्	चाहता हुआ
इच्छा	५।२।२७	इच्छा	अभिलाषा
इट्टाल	५।१।६५	देशी	ईंट का टुकड़ा
इड्ढि	४।१०,१७,२३, ६।२।६,६,११,२२, १०।१७	ऋद्धि	ऋद्धि
इति	२।२	इति	समाप्ति
इत्तरिय	चू०१। सू०१	इत्वरिक	क्षणिक, नश्वर, अल्पकालिक
इत्थ	३।१४, ६।४। सू० ४,५,६,७, चू०१।सू०१	अत्र	यहाँ
इत्थथ	६।४।श्लो०७	इत्थस्थ	नियत सस्थान
इत्थी	२।२, ५।२।२६, ७।१६,१७,२१, ८।५१, ५३,५६,५७, ६।३।१२, १०।१	स्त्री	स्त्री
इत्थीओ	६।५८	स्त्रीतस्	स्त्री से
इम	४।सू०३	इद	यह
इमेरिस	६।५६	एतादृश्	ऐसा
इरियावहिया	५।१।८८	ऐर्यापथिकी	गमनागमन का प्रतिक्रमण
इव	६।२।१२	इव	तरह
इसि	६।४६, चू० २।५	ऋषि	मुनि
इह	४। सू०१	इह	यहाँ
इहलोग	८।४३, ६।२।१३, ६।४।सू०६,७	इहलोक	इहलोक, वर्तमान जीवन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ई	५।१।७५, ८।१० २१	चित्	किम् आदि शब्दों के आगे जुड़ने वाला अव्यय

उ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उ	७।१		अवधारणात्मक अव्यय
उईर	६।१८	उद्+ईरय्	उदीरणा करना
उउप्पसन्न	६।५८	ऋतुप्रसन्न	शरद् ऋतु में प्रसन्न
उंछ	८।२३ १ ।१७	उञ्छ	नाना घरों से लिया हुआ थोड़ा-थोड़ा आहार
उंज	४सू०२० ८।८	उत्+सिच्	सींचना
उंजंत	४सू०२०	उत्सिञ्चत्	सींचता हुआ
उंडग	४सू २३	देशी	उंडापात्र, स्थंडिलपात्र
उंडुय	५।१।८७	देशी	स्थान
उक्कट्ठ	५।१।३४	उत्कृष्ट	फल के सूक्ष्म खण्ड, इमली आदि पत्तों के टुकड़े
उक्किट्ठ	१।१ ७।१६,२	उत्कृष्ट	उत्कृष्ट
उक्का	४सू०२०	उल्का	वह ज्योति-पिण्ड जिसके गिरने के साथ रेखा खिंचती हो
उक्खिवित्तु	५।१।८५	उत्क्षिप्य	फेंक कर
उग्गम	५।१।५५	उद्गम	उत्पत्ति
उच्चार	८।१८	उच्चार	मल
उच्चार-भूमि	८।१७,५१	उच्चार-भूमि	शौच-भूमि
उच्चावय	५।१।१४ ५।२।२५	उच्चावच	ऊँच-नीच
	५।१।७२		मनोज्ञ-अमनोज्ञ
	५।२।७		नाना प्रकार
उच्छह	६।३।६	उत्सहमान	उत्साहित होता हुआ
उच्छुखण्ड	३।७ ५।१।७३ ५।२।१८	इक्षुखण्ड	गंडेरी
उच्छोलणा	४।२६	उत्क्षालना	प्रक्षालन
उज्जाण	६।१ ७।२६ १	उद्यान	उद्यान
उज्जाल	४सू २	उद्+ज्वालय्	जलाना
उज्जालंत	४सू २	उज्ज्वालयत्	जलाता हुआ
उज्जालिया	५।१।६३	उज्ज्वाल्य	जला कर
उज्जुदंसि	३।११	ऋजुदर्शिन्	संयमदर्शी
उज्जुपन्न	५।१।१	ऋजुप्रज्ञ	ऋजुप्रज्ञा वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उज्जुमइ	४।२७	ऋजुमति	सरल मतिवाला, मार्ग-गामी-बुद्धिवाला
उट्ठ	५।१।४०	उत्+स्था	खडा होना
उट्ठिअ	५।१।४०	उत्थित	खडा हुआ
उड्ढ	६।३३	ऊर्ध्व	ऊँची दिशा
उड्ढिय	चू०१।श्लो०१२	उद्धृत	निकाला हुआ
उण्ह	७।५१, ८।२७	उष्ण	गर्मी
उत्तम	८।६०, ९।२।२३	उत्तम	उत्तम
	चू०१।श्लो०११		उत्कृष्ट
उत्तर	५।२।३	उत्तर	अगला
उत्तरओ	६।३३	उत्तरतस्	उत्तर दिशा मे
उत्तार	चू०२।३	उत्तार	पार
उत्तिग	५।१।५९, ८।११,१५	उत्तिङ्ग	कीडी-नगरा
उद+उल्ल	६।२४, ८।७	उद्+आर्द्र	पानी से भीगा हुआ
उदओल्ल	४।सू०१९, ५।१।३३	,,	,, ,, ,,
उदग	४।सू०१९, ५।१।३०,५८,७५	उदक	जल
	८।११		अनन्त कायिक वनस्पति
उदगदोणी	७।२७	उदकद्रोणी	जल की कुण्डी
उदर	४।सू०२३	उदर	पेट
उदाहर	८।१	उद्+आ+हृ	कथन करना
उद्देसिय	३।२, ५।१।५५, ६।४८,४९, ८।२३, १०।४	औद्देशिक	साधुओं को उद्दिष्ट कर किया हुआ आहार
उन्नय	७।५२	उन्नत	उन्नत
उप्पज्ज	चू०२।१	उत्+पद्	उत्पन्न होना
उप्पण्ण	५।१।९९	उत्पन्न	विधिपूर्वक प्राप्त
	५।२।३, चू०१।सू०१		उत्पन्न
उप्पल	५।२।१४,१६,१८	उत्पल	नील कमल
उप्पिलाव	६।६१	उत्+प्लावय्	वहाना
उप्पिलोदगा	७।३९	उत्पीडोदका	दूसरी नदियों के द्वारा जिसका वेग बढे वह नदी
उप्पेहि	चू०१।सू०१	उत्प्रेक्षिन्	इच्छा करने वाला
उप्फुल्ल	५।१।२३	उत्फुल्ल	विकस्वर
उब्भिंदिया	५।१।४६	उद्भिद्य	भेदकर, खोलकर
उब्भिय	४।सू०९	उद्-भिद्	भूमि को फोडकर निकलने वाला जीव
उब्भेइय	६।१७	उद्भेद्य	समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला नमक
उभय	४।११, ५।२।१२	उभय	दोनों
उम्मीस	५।१।५७	उन्मिश्र	मिला हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उयर	८।२९	उदर	पेट
उल्ल	५।१।२१ ६८	आर्द्र	गीला
उल्लंघिया	५।१।२२	उल्लंघ्य	लांघ कर
उवइट्ठ	९।३।२	उपदिष्ट	उपदेश दिया हुआ
उवगय	९।१।११	उपगत	सहित
उवगरण	४सू०२३	उपकरण	उपकरण
उवघाइणी	७।११ २६,५४	उपघातिनी	हिंसा करने वाली
उवचिट्ठ	९।१।११	अप+स्था	सेवा करना
उवचिय	७।२३	उपचित	पुष्ट
उवज्झाय	९।२।१२	उपाध्याय	उपाध्याय
उवट्ठाइ	चू १सू०१	उपस्थायिन्	रहने वाला
उवट्ठिय	४सू ११ १२,१३,१४ १५,१६ ९।२।५।१ १	उपस्थित	प्रस्तुत तत्पर
उवणीय	चू १श्लो १५	उपनीत	प्राप्त किया हुआ
उवक्खड	५।१।३९	उपस्कृत	तैयार किया हुआ
उवभोग	९।२।१३	उपभोग	काम में लाना आसेवन
उवमा	९।१।६,८ चू १श्लो०११	उपमा	समानता तुलना
उवयार	९।२।२	उपचार	शिष्टाचार, आराधना, विधि
उवरय	८।१२	उपरत	विरत
उववज्झ	९।२।५।६	उपवाह्य	राजा आदि की सवारी में काम आने वाला वाहन
उववन्न	५।२।४७	उपपन्न	उत्पन्न
उववाइय	४सू ९	औपपातिक	देव और नारकीय जीव
उववाय	८।४३	उप+पादय्	आचरण करना
उवेय	९।१।३	उपेत	युक्त
उवसंकम	५।२।१३	उप+सं+क्रम्	भीतर जाना
उवसंकमंत	५।२।१	उपसंक्रामत्	भीतर जाता हुआ
उवसंत	६।६४ ६८ १०।१०	उपशान्त	उपशान्त
उवसंपज्जित्ताणं	४सू १७	उपसंपद्य	अंगीकार कर
उवसंपया	चू १सू १	उप+संपद्	संप्राप्ति
उवसम	८।३८	उपशम	उपशमन, शान्ति
उवस्सय	७।२६	उपाश्रय	साधुओं के रहने का स्थान
उवहण	१।४ ७।११	उप+हन्	विनाश करना
उवहस	८।४९	उप+हस्	उपहास करना
उवहि	६।२१ ९।२।१८ १ ।१६; चू २।८	उपधि	वस्त्र पात्र आदि उपकरण
उवाय	८।२१; ९।२।४२ ; चू १श्लो १८	उपाय	साधन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उवे	६।६८,१०।२१, चू०२।१६	उप+इ	पाना, समीप आना,
उवेत	चू०१। श्लो० १७	उपयत्	आता हुआ
उव्वट्टण	३।५,६।६३,६।१।१२	उद्वर्तन	उबटन
उव्विग्ग	५।२।३६	उद्विग्न	उद्विग्न
उसिण	६।६२	उष्ण	गर्म
उसिणोदग	८।६	उष्णोदक	उबला हुआ जल
उस्सक्किया	५।१।६३	उत्ष्वष्क्य	जलते हुए चूल्हे मे ईंधन डालकर
उस्सवित्ताण	५।१।६७	उत्सृत्य	ऊँचा कर
उस्सिंचिया	५।१।६३	उत्सिच्य	अधिक भरे पात्र मे से कुछ निकाल कर
ऊरु	४। सू० २३,८।४५	ऊरु	घुटने के ऊपर का भाग
ऊस	५।१।३३	ऊष	खारी मिट्टी
ऊसढ	५।२।२५	उत्सृत	उच्च, ऐश्वर्य सम्पन्न
	७।३५		ऊपर उठा हुआ

ए

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
एक्क	चू० २।१०	एक	एक
एक्कय	५।१।९६	एक्क	अकेला
एग	५।१।३७,६।१।३	एक	एक
एगअ	४।सू०१८,१९,२०,२१,२२,२३	एकक	अकेला
एगइय	५।२।३१,३३,३७	,,	,,
एगंत	४।सू०२३,५।१।११,८१,८५,८६, ५।२।११	एकान्त	एकान्त
एगग्गचित्त	६।४।सू०५,६।४।सू०५ श्लो०३	एकाग्रचित्त	स्थिर चित्त वाला
एकभत्त	६।२२	एकभक्त	एक बार भोजन, दिवा-भोजन
एगया	५।१।६५	एकदा	कभी
एज्जत	६।२।४	आयत्	आता हुआ
एय	१।३	एत्	यह
एयारिस	५।१।६६	एतादृश	ऐसा
एरिस	६।५, ७।४३, चू० २।२५	ईदृश	इस प्रकार का
एलग	५।१।२२	एडक	भेड
एलमूयया	५।२।४८	एडमूकता	भेड की तरह गूगापन
एव	४।सू०१०	एव	अवधारण
एव	१।३	एवम्	ऐसे
एस	५।२।२६	आ+इष्	खोज करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उवे	६।६८,१०।२१, चू०२।१६	उप+इ	पाना, समीप आना,
उवेत	चू०१। श्लो० १७	उपयत्	आता हुआ
उव्वट्टण	३।५,६।६३,६।११२	उद्वर्तन	उबटन
उव्विग्ग	५।२।३६	उद्विग्न	उद्विग्न
उसिण	६।६२	उष्ण	गर्म
उसिणोदग	८।६	उष्णोदक	उबला हुआ जल
उस्सक्किया	५।१।६३	उत्ष्वष्क्य	जलते हुए चूल्हे मे ईंधन डालकर
उस्सवित्ताण	५।१।६७	उत्सृत्य	ऊँचा कर
उस्सिचिया	५।१।६३	उत्सिच्य	अधिक भरे पात्र मे से कुछ निकाल कर
ऊरु	४। सू० २३,८।४५	ऊरु	घुटने के ऊपर का भाग
ऊस	५।१।३३	ऊष	खारी मिट्टी
ऊसढ	५।२।२५	उत्सृत	उच्च, ऐश्वर्य सम्पन्न
	७।३५		ऊपर उठा हुआ

ए

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
एक्क	चू० २।१०	एक	एक
एक्कय	५।१।९६	एक	अकेला
एग	५।१।३७,६।१।३	एक	एक
एगअ	४।सू०१८,१६,२०,२१,२२,२३	एकक	अकेला
एगइय	५।२।३१,३३,३७	,,	,,
एगत	४।सू०२३,५।१।११,८१,८५,८६, ५।२।११	एकान्त	एकान्त
एगग्गचित्त	६।४।सू०५,६।४।सू०५ श्लो०३	एकाग्रचित्त	स्थिर चित्त वाला
एकभत्त	६।२२	एकभक्त	एक बार भोजन, दिवा-भोजन
एगया	५।१।६५	एकदा	कभी
एज्जत	६।२।४	आयत्	आता हुआ
एय	१।३	एत्	यह
एयारिस	५।१।६६	एतादृश	ऐसा
एरिस	६।५, ७।४३, चू० २।२५	ईदृश	इस प्रकार का
एलग	५।१।२२	एडक	भेड
एलमूयया	५।२।४८	एडमूकता	भेड की तरह गूगापन
एव	४।सू०१०	एव	अवधारण
एव	१।३	एवम्	ऐसे
एस	५।२।२६	आ+इष्	खोज करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उयर	८।२९	उदर	पेट
उल्ल	५।१।२१ ६८	आर्द्र	गीला
उल्लंघिया	५।१।२२	उल्लंघ्य	लांघ कर
उवइट्ठ	६।३।२	उपदिष्ट	उपदेश दिया हुआ
उवगय	९।१।११	उपगत	सहित
उवगरण	४सू २३	उपकरण	उपकरण
उवघाइणी	७।११ २९,५४	उपघातिनी	हिंसा करने वाली
उवचिट्ठ	९।१।११	उप+स्था	सेवा करना
उवचिय	७।२३	उपचित	पुष्ट
उवज्झाय	९।२।१२	उपाध्याय	उपाध्याय
उवट्ठाइ	चू०१सू १	उपस्थायिन्	रहने वाला
उवट्ठिय	४सू ११ १२ १३,१४ १५,१६, ९।४।सू १	उपस्थित	प्रस्तुत तत्पर
उवणीय	चू०१श्लो १५	उपनीत	प्राप्त किया हुआ
उवण्णत्थ	५।१।२९	उपन्यस्त	तैयार किया हुआ
उवभोग	९।२।१३	उपभोग	काम में लाना आसेवन
उवमा	९।१।६,८ चू १श्लो०११	उपमा	समानता तुलना
उवयार	९।२।२	उपचार	शिष्टाचार, आराधना विधि
उवरय	८।१२	उपरत	विरत
उववज्झ	९।२।५,६	उपवाह्य	राजा आदि की सवारी में काम आने वाला वाहन
उववन्न	५।२।४७	उपपन्न	उत्पन्न
उववाइय	४सू ९	औपपातिक	देव और नारकीय जीव
उववाय	८।३३	उप+पादय्	आचरण करना
उवेय	९।१।३	उपेत	युक्त
उवसंकम	५।२।१३	उप+सं+क्रम्	भीतर जाना
उवसंकमंत	५।२।१	उपसंक्रामत्	भीतर जाता हुआ
उवसंत	३।१४ ६८ १०।१०	उपशान्त	उपशान्त
उवसंपज्जित्ताणं	४सू १७	उपसंपद्य	अंगीकार कर
उवसंपया	चू १सू १	उप+संपद्	संप्राप्ति
उवसम	८।३८	उपशम	उपशमन, शान्ति
उवस्सय	७।२६	उपाश्रय	साधुओं के रहने का स्थान
उवहण	१।४ ७।१२	उप+हन्	विनाश करना
उवहस	८।४९	उप+हस्	उपहास करना
उवहि	६।२१ ९।२।१८ १०।१६ चू २।५	उपधि	वस्त्र, पात्र आदि उपकरण
उवाय	८।२१; ९।२।४२ ; चू १श्लो १८	उपाय	साधन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
		क	
क	१।४	किम्	कोई
कइ	चू०२।१४	क्वचित्	कही
कटय	५।१।८४, ६।३।६,७	कण्टक	काटा
कत	२।३	कान्त	कमनीय
कद	३।७, ५।१।७०	कन्द	कद
कवल	४।सू० ।२३, ६।१६,३८ , ८।१७	कम्बल	कम्वल
कस	६।५०	कास्य	कासी की कटोरी
कसपाय	६।५०	कास्य-पात्र	कासी का पात्र
कक्क	६।६३	कल्क	चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य-चूर्ण
कक्कस	८।२६	कर्कश	कठोर
कज्ज	७।३६	कार्य	कार्य
कट्टु	८।३१, चू०१।श्लो०१४	कृत्वा	करके
कट्ठ	४।सू०१८, ५।१।६५,८४, ६।२।३, १०।४	काष्ठ	काठ
कड	४।२०,२१ , ५।१।५६,६१ , चू०१।सू०१ चू०२।१२	कृत	किया हुआ
कडुय	४।१ से ६,५।१।९७	कटुक	कडवा
कण्ण	८।२०,२६, ५५,६।३।८	कर्ण	कान
	४।सू०२१		किनार, पल्ला
कण्णसर	६।३।६	कर्णग (स) र	कानो मे तीर की भाति चुभने वाला (कानो मे पैठने वाला)
कत्थइ	५।२।८	कुत्रचित्	कही
कन्ना	६।३।१३	कन्या	कुमारी
कप्प	५।१।२८,३१,३२,४१,४३,४४,४६,४८, ५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२,७४, ७६, ५।२।१५,१७,२०, ६।५२,५६,५९	कृप्	करना
कप्प	५।१।४४	कल्प्य	कल्पनीय, ग्राह्य
कप्पिय	५।१।२७, ६।४७	कल्पिक	कल्पनीय, ग्राह्य
कव्वड	चू०१।श्लो०५	कर्वट	कुनगर
कम	२।५	क्रम्	उल्लघन करना
कम	५।१।१	क्रम	परिपाटी
	५।१।४		मार्ग
कमिय	२।५	क्रान्त	लाघा हुआ
कम्म	३।१५, ४।श्लो०१ मे ६, ४।२०,२१, २४,२५,२८, ६।६५, ८।१२,३३,६३, ६।२।२३, चू०१।सू०१	कर्मन्	क्रिया, आचार, कर्म

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कामय	५।२।३५	कामक	इच्छुक
काय	४।सू०१०से१६,१८ सेर२३, ६।२६, २९,४०,४३, ८।३,७,९,२६,४४, ६।१।१२, ६।२।१८, १०।५,७,२४, चू०१।श्लो०१८, चू०२।१४	काय	शरीर
कायतिज्ज	७।३८	कायतार्य	तैरकर पार करने योग्य
कायव्व	६।६, ८।१	कर्त्तव्य	करने योग्य
कारण	२।७,५।२।३,६।२।१३,१५, चू०१।श्लो०१	कारण	प्रयोजन, हेतु
कारिय	६।६४	कार्य	प्रयोजन
काल	५।१।१, ५।२।४,५,६, ७।८, ६।२।२०, चू०२।१२	काल	समय, अवसर
कालमासिणी	५।१।४०	कालमासिनी	पूर्ण गर्भवती
कालालोण	३।८	काल-लवण	काला नमक
कासव	४।सू०१,२,३	काश्यप	काश्यप नाम का एक गोत्र
कासव-नालिआ	५।२।२१	काश्यपनालिका	श्रीपर्णी वृक्ष का फल
कि	३।१४, ४।१०, ५।२।४७, ६।६४, ७।५, ६।१।५, ६।२।१६, चू०२।१२,१३	किम्	क्या, प्रश्नवाचक अव्यय
किंचि	६।२४, ७।२९	किंचित्	थोडा
किच्च	७।३६, चू०२।१२	कृत्य	भोज
किच्चा	५।२।४७, ६।२।१९, ६।३।८	कृत्वा	करके
किच्चाण	८।४५	,,	,,
कित्त	५।२।४३	कीर्तय्	कहना
कित्ति	६।२।२, ६।४।सू०६,७	कीर्ति	व्यापक प्रशसा
किमिच्छय	३।३	किमिच्छक	'तुम क्या लेना चाहते हो', यो पूछकर दिया जाने वाला भोजन
किलाम	१।२, ५।२।५	क्लामय्	खिन्न करना
किलिच	४।सू०१८	देशी	खपाच
किलेस	चू०१।श्लो०१५	क्लेश	कष्ट
किविण	५।२।१०	कृपण	कृपण
कीड	४।सू०९,२३	कीट	कीडा, कृमि
कीय	६।४८,४९, ८।२३	क्रीत	खरीदा हुआ
कीय	६।१।१	कीच	वास
कीयगड	३।२, ५।१।५५	क्रीत-कृत	साधु के लिये खरीदा हुआ
कीरमाण	७।४०	क्रियमाण	किया जाता हुआ
कील	५।१।६७	कील	खभा, खूटी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कम्महेउअ	७।४२	कर्महेतुक	शिक्षा पूर्वक किया हुआ
कय	५।१।१४	कृत	किया हुआ
कय	७।४५ १ ।१६	क्रय	खरीदना
कयर	४सू०२ ८।१४·९।४सू०२	कतर	कौन-सा
कया	७।५१	कदा	कब
कयाइ	६।६३	कदाचित्	कभी
कर	५।१।१६ २९	कर	करने वाला
कर	२।९·३।१० ५।१।६४ ५।२।६;६।६७ ७।६,४७ ८।१६,३३ ५२ ९।१।२,५ ९।२।७ चू २।८ ६,११	कृ	करना
करंत	४सू १ से १६, १८ से २३	कुर्वत्	करता हुआ
करग	४सू०१९	करक	ओला
करण	६।२६,२९,४ ४२ ८।४	करण	मन वाणी और शरीर की प्रवृत्ति वीर्य का स्फुरण
करेत्ता	५।१।९३	कृत्वा	करके
करेत्ताणं	३।१४	,,	
कलह	५।१।१२ चू०२।५	कलह	वाग्युद्ध
कलुण	९।२।८	करुण	करुण
कलुस	७।२ २१	कलुष	पाप
कल्लाण	४।११ ५।२।४३	कल्याण	कल्याण
कल्लाणभागि	९।१।१३	कल्याणभागिन्	कल्याण प्राप्त करने वाला, मोक्ष का इच्छुक
कवाड	५।१।१८ ५।२।९	कपाट	किवाड़
कविट्ठ	५।२।२३	कपित्थ	कैथ
कसाय	५।१।९७ ७।५७ ८।३९ ९।३।१४ १ ।६	कषाय	कसैला
कसिण	८।३९,६३	कृत्स्न	सम्पूर्ण
कह	१०।१	कथय्	कहना
कहं	२।१ ४।७ १२ ६।२,२३ २४	कथम्	कैसे
कहा	५।२।८ ८।४१, १ ।१०	कथा	बातचीत
कहिं	चू०२।८	क्व	कहाँ
काउस्सग्गकारि	चू०२।७	कायोत्सर्गकारिन्	कायोत्सर्ग करने वाला
काण	७।१२	काण	काना
काम	२।१ ९ ८।५७ चू १सू०१ चू २।११ ६।१८	काम	काम भोग की अभिलाषा इच्छुक

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कामय	५।२।३५	कामक	इच्छुक
काय	४।सू०१०से१६,१८ से२३, ६।२६, २६,४०,४३, ८।३,७,६,२६,४४ , ६।१।१२, ६।२।१८, १०।५,७,१४, चू०१।श्लो०१८, चू०२।१४	काय	शरीर
कायतिज्ज	७।३८	कायतार्य	तैरकर पार करने योग्य
कायव्व	६।६, ८।१	कर्त्तव्य	करने योग्य
कारण	२।७,५।२।३,६।२।१३,१५, चू०१।श्लो०१	कारण	प्रयोजन, हेतु
कारिय	६।६४	कार्य	प्रयोजन
काल	५।१।१, ५।२।४,५,६, ७।८, ६।२।२० , चू०२।१२	काल	समय, अवसर
कालमासिणी	५।१।४०	कालमासिनी	पूर्ण गर्भवती
कालालोण	३।८	काल-लवण	काला नमक
कासव	४।सू०१,२,३	काश्यप	काश्यप नाम का एक गोत्र
कासव-नालिआ	५।२।२१	काश्यपनालिका	श्रीपर्णी वृक्ष का फल
कि	३।१४, ४।१०, ५।२।४७, ६।६४, ७।५, ६।१।५, ६।२।१६, चू०२।१२,१३	किम्	क्या, प्रश्नवाचक अव्यय
किंचि	६।३४, ७।२६	किंचित्	थोड़ा
किच्च	७।३६, चू०२।१२	कृत्य	भोज
किच्चा	५।२।४७, ६।२।१६, ६।३।८	कृत्वा	करके
किच्चाण	८।४५	,,	,,
कित्त	५।२।४३	कीर्तय्	कहना
कित्ति	६।२।२, ६।४।सू०६,७	कीर्त्ति	व्यापक प्रशंसा
किमिच्छय	३।३	किमिच्छक	'तुम क्या लेना चाहते हो', यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन
किलाम	१।२, ५।२।५	क्लामय्	खिन्न करना
किलिंच	४।सू०१८	देशी	खपाच
किलेस	चू०१।श्लो०१५	क्लेश	कष्ट
किविण	५।२।१०	कृपण	कृपण
कीड	४।सू०६,२३	कीट	कीड़ा, कृमि
कीय	६।४८,४६, ८।२३	क्रीत	खरीदा हुआ
कीय	६।१।१	कीच	वास
कीयगड	३।२, ५।१।५५	क्रीत-कृत	साधु के लिये खरीदा हुआ
कीरमाण	७।४०	क्रियमाण	किया जाता हुआ
कील	५।१।६७	की—	े

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कुंभीय	६।५	देशी	कुंभे के आकार या हाथी के पैर के आकार वाला मिट्टी का पात्र
कुंथु	४सू०६,२३	कुन्थु	त्रीन्द्रिय जाति का एक सूक्ष्म जन्तु
कुकुडुंब	चू०१श्लो०७	कुकुटुम्ब	दुष्ट कुटुम्ब
कुक्कुड	८।५३	कुक्कुट	मुर्गा
कुक्कुस	५।१।३४	कुक्कुस	धान्य-कण युक्त तुष-भूसा
कुतत्ति	चू १श्लो ७	कुतप्ति	दुश्चिन्ता
कुप्प	५।२।२७ २८ ३० ८।४७ ६।२।४ १ ११ १८	कुप्	कोप करना
कुमारिया	५।१।४२	कुमारिका	कुमारी
कुमुय	५।२।१४ १६,१८	कुमुद	श्वेतकमल चन्द्रविकासी कमल
कुम्म	८।४०	कूर्म	कछुआ
कुम्मास	५।१।६८	कुल्माष	उड़द
कुल	२।६,८	कुल	कुल वंश
	५।१।१४ १७ २४ ५।२।२५ चू २।८		घर
कुसक्कओ	८।२३	कुशस्थस्	किल्ली से
कुविय	६।१।७ १	कुपित	क्रुद्ध
कुव्व	५।२।३५,४२,४६ ६।४श्लो०६	कृ	करना
कुसग्ग	चू १सू १	कुशाग्र	दर्भ का अग्र भाग
कुसल	६।३।१५	कुशल	कुशल
कुसील	६।५८ १ ।१८ चू १श्लो १२	कुशील	गर्हित आचार वाला
कुसीललिंग	१ ।२	कुशीललिङ्ग	कुशील लिङ्ग
केज्ज	७।४५	क्रय	खरीदने योग्य
केवल	६।३।१४	केवल	सम्पूर्ण
केवलि	४।२२,२३ चू २।१	केवलिन्	सर्वज्ञ
कोट्ठग	५।१।२१ २२	कोष्ठक	कोठा
कोट्ठय	५।१।२ ८२		
कोमुई	६।१।१५	कौमुदी	चांदनी
कोल	४सू २२	कोल	घुन
	५।२।२१		बेर
कोलचुण्ण	५।१।७१	कोल चूर्ण	बेर का चूर्ण
कोविय	६।२।२१	कोविद	पंडित
कोह	४सू १२, ६।११ ७।५४ ८।३६ से ३६ ६।३।११ ; ६।३।१२	क्रोध	क्रोध

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
		ख	
ख	६।१।१५	ख	आकाश
खति	४।२७	क्षान्ति	क्षमा
खध	६।२।१	स्कन्ध	वृक्ष के तने का वह ऊपरी भाग जिसमे से डालियाँ निकलती हैं
खधबीय	४।सू०८	स्कन्ध-बीज	वह वनस्पति जिसका स्कन्ध ही बीज हो
खभ	७।२७	स्कम्भ	खभा
खण	५।१।६३	क्षण	पलभर
खण	१०।२	खन्	खोदना
खणाव	१०।२	खानय्	खुदवाना
खत्तिय	६।२	क्षत्रिय	क्षत्रिय
खम	६।२।१८	क्षम्	क्षमा करना
खलिय	चू०२।१३	स्खलित	स्खलित
खलीण	चू०२।१४	खलिन	घोडे की लगाम
खलु	४।सू०१,२,३,६, ७।१ , ६।४।सू०१ से ७ , चू०१।सू०१ , चू०२।१६	खलु	अवधारण अव्यय
खव	६।६७	क्षपय्	नाश करना
खवित्ता	३।१५	क्षपयित्वा	खपा कर
खवित्ताण	४।२४,२५	,,	,,
खवित्तु	९।२।२३	,,	,,
खाअ	८।४६,६।१।६	खाद्	खाना
खाइम	४।सू०१६ , ५।१।४७,४६,५१,५३,५७, ५६,६१ , ५।२।२७ , १०।८,६	खादिम, खाद्य	खाजा आदि खाद्य
खाणु	५।१।४	स्थाणु	कुछ ऊपर उठा हुआ काठ, ठूठ
खिस	८।२६ , ६।३।१२	खिस्	निन्दा करना
खिप्प	८।३१ , चू०२।१४	क्षिप्र	शीघ्र
खु	२।५	खलु	निश्चय
खु	६।२।८	क्षुत्	भूख
खुड्डग	६।६	क्षुद्रक	बाल, अपरिपक्व अवस्था वाला
खुड्डियायारकहा	३	क्षुद्रकाचार-कथा	दशवैकालिक का तीसरा अध्ययन
खुहा	८।२७	क्षुधा	भूख
खेम	७।५१ , ६।४।श्लो०८	क्षेम	क्षेम

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
खेल	८।१८	क्ष्वेल	श्लेष्म
		ग	
गअ	४सू १८ से २३ ५।१।२ २४ ८१ ५।२।६	गत	उपस्थित जाना
गइ	४सू ६ ४।१४ १५ ६।२।१७ चू १श्लो०१३ २१ ६।३।१५ १०।२१ चू १सू १	गति	गति
गंडिया	७।२८	गण्डिका	अहरन
गंतु	७।२६,१०	गत्वा	जाकर
गंध	२।२ ६।२	गन्ध	सुगन्धी द्रव्य
गंधण	२।८	गन्धन	सर्प की एक जाति इस जाति के सर्प वमन किये हुए विष को पी लेते हैं
गंभीर	५।१।६६	गम्भीर	प्रकाश-रहित
गंभीर विजय	६।५५	गम्भीर विज (च)य	ऊँचे छेद वाला
गच्छ	४सू०२२ ४।२४ २५ ५।१।४५, १४ २४ ६६,१ ५।२।१२ ७।६ ८।२५,४३ १।१ चू १श्लो०१४	गम्	जाना
गच्छंत	४सू २२	गच्छत्	जाता हुआ
गण	९।१।१५	गण	समूह
गणि	६।१ ९।१।१५ चू १श्लो १	गणि	आचार्य गण के अधिपति
गब्भिय	७।३५	गर्भित	गुठली से रहित
गमण	५।१।८६	गमन	जाना
गय	५।१।१२ ९।२।५,६ चू १सू १	गज	हाथी
गरह	५।२।४	गर्ह्	निन्दा करना
गरहिय	६।१२	गर्हित	निन्दित
गरिह	४सू १० से १६ १८ से २२ ५।२।५	गर्ह्	गर्हा करना
गल	चू १श्लो ६	गल	मछली फँसाने का काँटा
गव	७।२५	गो	बैल
गवेस	५।१।१ ५।२।३ ; ८।२७	गवेषय्	गवेषणा करना
गहण	८।११	गहन	वन निकुञ्ज
गहिय	५।१।६	गृहीत	ग्रहण किया हुआ
गहेऊण	५।१।८५	गृहीत्वा	ग्रहण कर
गा	७।२४	गौ	गाय
गाइ	७।४२	गाड	गहरा
गाम	४सू ११ १५ ५।१।२ चू० २।८	ग्राम	गाँव

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
गाम कटअ	१०।११	ग्राम-कटक	काटों के समान चुभने वाले इन्द्रिय विषय
गाय	३।५ ६।६३	गात्र	शरीर
गायाभग	३।९	गात्राभ्यङ्ग	तैलादि का मर्दन
गारव	९।२।२२	गौरव	मद
गावी	५।१।१२	देशी	गाय
गिण्ह	४।सू०१३ , ७।४५ , ९।३।११	ग्रह्	ग्रहण करना
गिद्ध	८।२३ , १०।१७	गृद्ध	आसक्त, लोलुप
गिम्ह	३।१२	ग्रीष्म	गर्मी
गिरा	७।३५,५२,५४,५५ , ९।१।१२	गिर्	वाणी
गिरि	९।१।९ , चू०१।श्लो०१७	गिरि	पर्वत
गिलित्ता	चू०१।श्लो०६	गिलित्वा	निगल कर
गिह	७।२७	गृह	घर
गिहतर निसेज्जा	३।५	गृहान्तर-निषद्या	घर के अन्तर्वर्ती भाग मे बैठना, दो घरों के बीच मे बैठना
गिहत्थ	५।२।४०,४५	गृहस्थ	गृहस्थ
गिहवई	५।१।१६	गृहपति	घर का स्वामी
गिहवास	चू०१।सू०१	गृहवास (पाश)	घर मे रहना (घर का बन्धन)
गिहि	३।६ , ६।१८ , ८।५० , ९।२।१३, ९।३।१२ , चू०१।सू०१ , चू०२।९	गृहिन्	गृहस्थ
गिहिजोग	८।२१ , १०।६	गृहियोग	गृहस्थ-सम्बन्धी व्यापार
गिहिभायण	६।५२	गृहि-भाजन	गृहस्थ का वर्तन
गिहिमत्त	३।३	गृहामत्र	गृहस्थ का वर्तन
गिहिसथव	८।५२	गृहिसस्तव	गृहस्थ के साथ परिचय
गुज्झग	९।२।१०,११	गुह्यक	देव
गुज्झाणुचरिअ	७।५३	गुह्यानुचरित	आकाश
गुण	४।२७ ५।२।४१ , ६।६,६७ , ७।४९,५६ , ८।६० , ९।१।३,१७ , ९।३।११,१४, ९।४।सू०६ श्लो०४ , १०।१२ , चू०२।४,१०	गुण	ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि गुण
गुणओ	चू०२।१०	गुणतस्	गुण से
गुणप्पेहि	५।२।४४	गुण-प्रेक्षिन्	गुणग्राही
गुणव	५।२।५०	गुणवत्	गुणवान्
गुत्त	८।४०,४४ , चू०१।श्लो०१८	गुप्त	गुप्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
चउ	६।४६ , ७।१,५७ , ८।३६,३६ , ६।३।१४ , ६।४।सू०१,२,३श्लो०६ , १०।६	चतुर्	चार
चउत्थ	४।सू०१४ , ६।४७ , ६।४।सू०४,५,६,७	चतुर्थ	चौथा
चउरिंदिय	४।सू०६	चतुरिन्द्रिय	चार इन्द्रिय (स्पर्श, रसन, घ्राण, और चक्षु) वाला जीव
चउव्विह	६।४।सू०४ से ७	चतुर्विध	चार प्रकार का
चगवेर	७।२८	देशी	काष्ठ-पात्री
चचल	चू०१।सू०१	चञ्चल	चचल
चड	६।२।३,२२	चण्ड	क्रोधी
चदिम	६।६८ , ८।६३	चन्द्रमस्	चन्द्रमा
चक्खुगोयर	५।२।११	चक्षुर्गोचर	दृष्टि-गम्य
चक्खुस	६।२७,३०,४१,४४	चाक्षुष	चक्षु द्वारा दृश्य
चय	२।३,५ , ४।१७,१८ , ६।३।१२ , ६।४।श्लो०७,१०।१७,२१,चू०१।सू०१	त्यज्	छोडना
चर	८।२	चर्	सेवन करना
	४।श्लो०७ , ५।१।२,३,८,६,१३, ५।२।५,६,२५ , ६।२३,२४, ८।२३, ६।३।४		चलना
	६।३।१४		पर्यटन करना
	१०।१७,चू०२।६,११		आचरण, भिक्षा लेना
चरत	५।१।१०,१५	चरत्	चलता हुआ
चरमाण	४।१	,,	,,
चरित्त	चू०२।६	चरित्र	सयम
चरिया	चू०२।४,५	चर्या	नियम-पूर्वक चरण
चलइत्ता	५।१।३१	चालयित्वा	चलाकर
चलाचल	५।१।६५	चलाचल	कम्पमान, झूलता हुआ
चाइ	२।२,३	त्यागिन्	त्यागी
चाउल	५।२।२२	देशी	तन्दुल, चावल
चाउलोदग	५।१।७५	देशी	तन्दुलोदक, चावल का धोवन
चारु	८।५७	चारु	सुन्दर
चि	४।सू०६ , चू०२।८	चित्	अनिश्चय-बोधक अव्यय
चित	५।१।६४,६६	चितय्	चिन्तन करना
चिक्कण	६।६५	चिक्कण	चिकना
चिट्ठ	४।सू०२२श्लो०७,१० , ५।१।२६ , ५।२।१०,११ , ७।४७ , ८।११,१३, १६,४५	स्था	ठहरना

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
छाय	६।२।७	छात	जिसके शरीर मे कशाघात के व्रण हो गए हों, भूखा
छारिय	५।१।७	क्षारिक	क्षार (भस्म) सम्बन्धी
छिंद	२।५ , ८।१० , १०।३	छिद्	छेदना
छिंदाव	१०।३	छेदय्	छिदवाना
छिंदित्तु	१०।२१	छित्वा	छेदकर
छिन्न	४।सू०२२ , ५।१।७० , ७।४२	छिन्न	छेदा हुआ
छिवाडी	५।२।२०	देशी	मूग आदि की फली
छूढ	चू०१।श्लो०५	क्षिप्त	फेंका हुआ, बन्दी किया हुआ
छेय	४।श्लो०१०,११	छेक	हित

ज

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
ज	१।१	यत्	जो
जअ	७।५०	जय	विजय
जइ	२।६ , ५।१।६४,६५,६८ , ५।२।२ , ६।११,१३ , ८।२१ , चू०१।श्लो०६	यदि	यदि
जइ	चू०२।६	यति	मुनि
जओ	७।११	यतस्	जिससे
	चू०२।६		[illegible]
जतलट्ठि	७।२८	यत्र-यष्टि	
जतु	चू०१।श्लो०१५,१६	जन्तु	
जक्ख	६।२।१०,११	यक्षस्	देवों की तीसरी [illegible]
जग	५।१।६८	देशी	
जग	८।१२	जगत्	
जगनिस्सिय	८।२६	जगनिश्रित	मे [illegible] इति वृत्तौ)
जढ	६।६०	त्यक्त	[illegible] हुआ
जण	६।३।८	जनय्	[illegible] करना
[illegible]ण	चू०२।२	जन	[illegible]
जत्त	६।३।१३	यत्न	[illegible]
जत्थ	५।१।२०,२१ , ५। [illegible] चू०२।१४	यत्र	जहाँ
जन्न	[illegible]१।श्लो०१२		
जय	[illegible] ८,२८ , ५। [illegible] [illegible]८ ,		

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
जाइपह	६।१।४ , १०।१४ , चू०२।१६	जाति-पथ	ससार
जाइमत	७।३१	जातिमत्	जात्य, उत्तम जाति वाला
जागरमाण	४।सू०१८ से २३	जाग्रत्	जागता हुआ
जाण	४।११,२२,२३ , ५।१।४७,७६ , ५।२।३४,४०,४५ , ७।८	ज्ञा	जानना
जाण	६।६,८।३१	जानत्	जानता हुआ
जाण	७।२६	यान	वाहन
जाणिऊण	५।१।६६	ज्ञात्वा	जान कर
जाणित्ता	५।१।२४ , ८।१६	ज्ञात्वा	जान कर
जाणित्तु	८।१३	,,	,,
जाणिय	१०।१८ , चू०१।श्लो०११	,,	,,
जाणिया	५।२।२४ , ७।५६	,,	,,
जाय	२।६ , ४।सू०२२,२३	जात	उत्पन्न, समूह
जाए	५।२।२६	याच्	मागना
जायतेय	६।३२	जात-तेजस्	अग्नि
जाला	४।सू०२०	ज्वाला	अग्नि से लगी हुई शिखा
जाव	७।२१ , ८।३५	यावत्	जब तक
जावत	६।६	यावत्	जितना
जावज्जीव	४।सू०१० से १६, १८ से २३ , ६।२८,३१,३५,३६,४२,४५,६२	यावज्जीव	जीवन-पर्यन्त
जिइदिय	३।१३ , ८।३२,४४,६३ , ६।३।८,१३, ६।४।सू०२श्लो०१ , चू०२।१५	जितेन्द्रिय	जितेन्द्रिय
जिण	४।२२,२३ , ५।१।६२	जिन	राग-द्वेष को जीतने वाला
जिण	८।३८	जि	जीतना
जिणत	४।२७	जयत्	जीतता हुआ
जिणदेसिय	चू०१।श्लो०६	जिनदेशित	जिन द्वारा कथित
जिणमय	६।३।१५	जिन-मत	जैन शासन
जिणवयण	६।४।सू०७ श्लो०५ , चू०१।श्लो०१८	जिन वचन	जिन-वाणी
जिणसथव	५।१।६३	जिनसस्तव	तीर्थंकर-स्तुति, चतुर्विशतिस्तव
जिणसासण	८।२५	जिनशासन	जैन शासन
जिय	८।४८	जित्	परिचित
जीव	चू०२।१५	जीव्	जीना
जीव	४।सू०४ से १८ श्लो०१२,१३,१४,१५, ५।१।६८ , ६।१० , ८।२ , ६।१।१५	जीव	जीव
जीविउ	६।१०	जीवितुम्	जीने के लिये

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ठवय	६।४।सू०५श्लो०३	स्थापय्	स्थापित करना
ठिअ	६।४।सू०५श्लो०३ , १०।२०	स्थित	ठहरा हुआ
ठियप्प	६।४६ , १०।१७,२१	स्थितात्मन्	स्थिर चित्तवाला
		ड	
डह	६।१।७	दह्	जलाना
डहर	६।१।२,३,४ , ६।३।३,१२	डहर	अल्पवयस्क
		ण	
ण	५।२।२	न	नही
ण	५।२।२६	ण	वाक्यालकार मे प्रयुक्त
णमस	१।१	नमस्य्	नमस्कार करना
णु	७।५१	नु	वितर्क या आक्षेप वाचक अव्यय
णो	६।२ , ७।६	नो	नही
		त	
त	१।२	तत्	वह
त	२।८,६	त्वत्	तू
तउज्जुय	५।२।७	तदृजुक	उसके सामने
तओ	४।सू०२३, ४।१०, ५।१।९६, ५।२।३, १३ , ६।२।१ , ६।३।७	ततस्	तत्पश्चात्
तजहा	४।सू०३	तद्-यथा	वह, जैसे
तच्च	४।सू०१३	तृतीय	तीसरा
तज्जणा	१०।११	तर्जना	डाटना
तज्जायससट्ठ	२।६	तज्जात-ससृष्ट	समान जातीय द्रव्य से लिप्त
तण	४।सू०८, ५।१।८४, ८।२,१०, १०।४	तृण	वनस्पति का एक प्रकार, घास
तणग	५।१।१६	तृणक	तृण
तण्हा	५।१।७,८,७९	तृष्णा	प्यास
तत्तो	५।२।४८	ततस्	वहा से
तत्तनिव्वुड	५।२।२२	तप्त-निर्वृत	वह वस्तु जो गर्म होकर ठडी हो गई हो
तत्तफासुय	८।६	तप्तप्रासुक	जो पूर्ण मात्रा मे गर्म होने पर निर्जीव हो गया हो

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
जीविय	२।७ ८।३४ १०।१७; चू०१। चू १ श्लो०१६	जीवित	जीवन
जीवियपट्ठि	६।११६	जीवितार्थिन्	जीवन का इच्छुक
जुगमाया	५।१।३	युग-मात्रा	चार हाथ परिमित
जुत्त	६।१०	युक्त	समाहित
	८।४२		व्यापृत
	८।६३ ९।१।१५, ६।४सू ६, श्लो ४ १०।१०		युक्त
	६।२।१४		नियुक्त
जुद्ध	५।१।१२	युद्ध	युद्ध
तुम्हे	२।८ ६	युष्मद्	तू
जुव	७।२५	युवन्	युवा
जोइ	२।६ ३।४ ८।६२	ज्योतिष्	अग्नि
जोग	७।२३ २४; ८।४ चू०२।५	योग	शरीर, वाणी और मन का व्यापार
	७।४ ८।४२ ६।१।१६		प्रवृत्ति
	८।१७		सामर्थ्य
	८।५		वशीकरण के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला चूर्ण
	५।१।१ ६।१।१५		सम्बन्ध
जोगसा	८।६०	योगक	प्रवृत्ति समाधि
जोय	६।२६,४ ४३	योग	शरीर, वाणी और मन का व्यापार
जोव्वण	चू०१।श्लो०६	यौवन	जवानी

झ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
झुसिर	५।१।६६	शुषिर	पोला
झोसइत्ता	चू १।सू०१	क्षोषयित्वा	सुखाकर

ट

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
टाल	७।३२	देशी	कोमल फल—गुठली उत्पन्न होने से पहले अवस्था का फल

ठ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ठविय	५।१।५५	स्थापित	रखा हुआ
ठाण	५।१।१६	स्थान	खेत
	६।० ८,२८ ६।२।१८ ६।४सू १,२ १ चू १।सू १ १		स्थान

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तत्तानिव्वुड भोइत्त	३।६	तप्तानिर्वृत-भोजित्व	एक अनाचार, तप्त होने पर भी जो पूर्ण तप्त न होने के कारण निर्जीव न हुआ हो वैसा भोजन करना
तत्थ	५।२।५,६,२५,२६,२७,२८ ३६ ३७ ३८ ६६,८३ ८४ ६५;५।२। ११ २० ४७ ५० ६।७ ८ २४ ५१ ५२, चू०१श्लो०१ चू०२।१४	तत्र	वहाँ
तन्निस्सिय	५।१।६८	तन्निःश्रित	उसके आश्रित
तमस	५।१।२०	तामस	अन्धकारपूर्ण
तयस्सिय	६।२७ ३० ४१ ४४	तदाश्रित	उसके आश्रित
तया	४।१४ से २५	तदा	तब
तरित्तु	९।२।२३	तीर्त्वा	तैरकर
तरुणग	५।२।१९	तरुणक	नया
तरुणिया	५।२।२०	तरुणिका	नई
तव	१।१ ३।१५ ४।२७ ५।२।६,४२ ६।१ ६७ ७।४९ , ८।४० ६१ ६२ ९।४चू ३श्लो १ ९।४चू ६श्लो ४ १०।७ १२,१४ चू०१।सू०१	तपस्	तपस्या
तवण	९।१।१४	तपन	तेजयुक्त
तवतेण	५।२।४६	तपस्तेन	तप चोर
तवसमाहि	९।४सू०२ ६ ९।४सू०६श्लो०४	तपस्समाधि	तपस्या से होनेवाली आत्मिक स्वस्थता
तवस्सि	५।२।४२ ६।५९ ८।३० ९।३।११	तपस्विन्	तपस्वी
तवोकम्म	६।२२	तपःकर्मन्	तपस्या
तस	४सू०९,११ ५।१।५ ६।८ २१ २७ ३० ४१ ४४ ८।२ ११ १२ १४	त्रस	गतिशील प्राणी
तसकाय	४सू०९	त्रसकायिक	गति योग्य शरीर वाला
तसपाण	४सू०९ ६।४३ ४४ ४५	त्रसप्राण	,,
तसिय	४सू ९	त्रसित	त्रास पाना
तह	७।२८	तथा	और
तहा	५।१।१ ४७ ४८ ५१ ५३ ५६,६१ ७१ ७५ ५।२।२१ ६।६ ७।१२,१८ ५७ ८।११ ५६ ; १०।१८ चू१ श्लो ११	तथा प्रकार	वैसा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तहाभूय	८।७	तथाभूत	वैसा
तहामुत्ति	७।५	तथा-मूर्त्ति	उस आकार वाला
तहाविह	५।१।७१,८४ , चू०१।श्लो०१४	तथा विध	उस प्रकार
तहिं	चू०२।११	तत्र	वहाँ
तहेव	५।१।७१	तथैव	उसी प्रकार
ता	५।२।३४ , चू०१।श्लो०१५	तावत्	तब तक
ताइ	३।१,१५ , ६।२०,३६,६६,६८ , ८।६२	तायिन्-त्रायिन्-तादृश्	रक्षक, वैसा मुनि
तारिय	५।१।६८	तारित	पार प्राप्त, निहाल
तारिम	७।३८	तार्य	तरने योग्य
तारा	६।१।१५	तारा	तारे
तारिस	५।१।२८,२९,३१,३२,४१,४३,४४,४६, ४८,५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२, ७४,७९ , ५।२।१५,१७,२०,३९,४०, ४१,४४,४५ , ६।३६,६६ , ८।६३	तादृश	वैसा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तिलपप्पडग	५।२।२१	तिलपर्पटक	तिल पपड़ी
तिलपिट्ठ	५।२।२२	तिलपिष्ट	तिल की पिट्ठी
तिविह	४सू १० से १६ १८ से २३ ६।२६ ४ ४३ ८।४	त्रिविध	तीन प्रकार का
तिव्व	५।२।५०	तीव्र	तीव्र
तु	५।१।३७	तु	पादपूर्ति अवधारण आदि अर्थों में प्रयुक्त एक अव्यय
तुंबाग	५।१।७०	तुम्बक	कद्दू का फल
तुयट्ट	४सू०२२	त्वग् + वृत्	सोना करवट लेना
तुयट्टंत	४सू०२२	त्वग्+वर्तयत्	करवट लेता हुआ
तुट्ठ	९।२।१५	तुष्ट	सन्तुष्ट
तुस	५।१।१७	तुष	भूसा
तेइंदिय	४सू ९	त्रीन्द्रिय	तीन इन्द्रिय (स्पर्शन रसन घ्राण) वाला जीव
तेउ	४सू ९ ५।१।६१	तेजस्	अग्नि
तेउकाइय	४सू ३	तेजस्कायिक	अग्नि शरीर वाला जीव
तेउकाय	६।३५	तेजस्काय	
तेगिच्छ	३।४	चैकित्स्य	रोग का प्रतिकार करना
तेण	५।२।३७ ३९ ७।१२	स्तेन	चोर
तेणग	७।३६,३७	स्तेनक	चोर
तेल्ल	६।१७	तैल	तैल
तो	५।१।९५	ततस्	उसके बाद
तोरण	७।२७	तोरण	नगर का दरवाजा (सिंहद्वार, बड़ा दरवाजा)
तोस	९।१।१६	तोषम्	सन्तुष्ट करना

थ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
थंभ	९।१।१ ९।३।१२	स्तम्भ	अकड़ाई, अहंकार
थणग	५।१।४२	स्तनक	स्तन
थद्ध	९।२।३	स्तब्ध	गर्वोन्मत्त
थावर	४सू ११ ५।१।८ ६।९,२९ १ ।४	स्थावर	गतिशून्य प्राणी
थिग्गल	५।१।१५	देशी	ईंट आदि से रोका हुआ द्वार

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
थिर	७।३५	स्थिर	स्थिर, अचल
थूल	४।सू०१३,१५	स्थूल	बडा
	७।२२		मांसल
थेर	६।४।सू०१,२,३	स्थविर	गणधर आदि
थेरअ	चू०१।श्लो०६	स्थविरक	वृद्ध
थोव	५।१।७८, ८।२९	स्तोक	थोडा

द

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दंड	४।सू०१०, ६।२।१४,८	दण्ड	परितापन, वध
दंडग	४।सू०२३	दण्डक	डण्डा, कधे तक की लाठी
दंत	१।५, ३।१३, ४।९, ५।१।१९, ६।३, ८।२९, ९।४।सू०७ श्लो०५	दान्त	जितेन्द्रिय
दंतपहोयणा	३।३	दन्त-प्रधावना	दान्त पखालना
दंतवण	३।९	देशी, दन्तपवन	दतौन
दंतसोहण	६।१३	दन्तशोधन	दात साफ करने का साधन, दतौन
दंसण	४।२१,२२, ५।१।७६, ६।१, ७।४९	दर्शन	सामान्य बोध
दग	५।१।४५, ८।२।१	दक	पानी
दगभवण	५।१।१५	दक-भवन	जल-गृह
दगमट्टिआ	५।१।३,२६	दक-मृत्तिका	चीखल, पंकिल मिट्टी
दच्छ	२।६	दृश्	देखना
दट्ठव्व	चू०२।४	द्रष्टव्य	देखने योग्य
दट्ठूण	५।१।२१, ५।२।३१,४९, ६।२५, ८।५४	दृष्ट्वा	देखकर
दमअ	७।१४	देशी	द्रमक—दरिद्र
दमइत्ता	५।१।१३	दमयित्वा	दमन करके
दम्म	७।२४	दम्य	वह बैल जो बोझ ढोने योग्य हो गया हो
दया	४।१०, ६।१।१३	दया	अहिंसा, कृपा
दयाहिगारि	८।१३	दयाधिकारिन्	दया का अधिकारी
दरिसणिय	७।३१	दर्शनीय	देखने योग्य
दलय	५।१।७८	दा	देना
दवदव	५।१।१४	द्रवद्रव	शीघ्रगति वाला गमन
दव्वी	५।१।३२,३५,३६	दर्वी	कडछी, डोव
दस	६।७	दशन्	दस

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दह	६।३३	दह्	दहन करना
दा	५।१।४९ ६१ ६३ ५।२।१४ १६ २७	दा	देना
दाइय	५।२।३१	दर्शित	दिखाया हुआ
दाढा	चू०१श्लो० १२	दाढा	दाढ
दाण	१।३ ५।१।४७	दान	दान
दायग	५।२।१२	दायक	देने वाला दाता
दायव्व	चू २।२	दातव्य	देने योग्य
दार	५।१।१५ ५।२।६	द्वार	दरवाजा
दार	चू०१श्लो०८	दार	स्त्री
दारग	५।१।२२,४२	दारक	बच्चा
दारुण	८।३६ ९।२।१४	दारुण	भयानक, रौद्र
दाव	५।१।८०	दापय्	दान करना
दावय	५।१।४९ ६७	दायक	देने वाला
दाहिणओ	६।३३	दक्षिणतस्	दक्षिण दिशा में
दिज्जमाण	५।१।५५,५६,५७ ५८	दीयमान	दिया जाता हुआ
दिट्ठ	५।१।६६ ६।६,२१ ८।२० २१ ४८	दृष्ट	देखा हुआ
दिट्ठि	८।५४	दृष्टि	दृष्टि
दिट्ठिवाय	८।४९	दृष्टिवाद	नयवाद
दित्त	५।१।१२	दृप्त, दीप्त	उन्मत्त
दिन्न	५।२।१३	दत्त	दिया हुआ
दिया	४सू १८ से २३ ६।२४	दिवा	दिवस
दिव्व	४सू १४ श्लो १६ १७ ; ९।२।४	दिव्य	देवता-सम्बन्धी
दिस्स	७।२१ ; १०।१२	दृष्ट्वा	देखकर
दीगय	५।२।२८	दृश्यमान	दीखने वाला
दीह	६।६४ ७।४१	दीर्घ	लम्बा
दु	८।४ ; ५।१।३७ ३८ १०० ७।१	द्वि	दो
दुक्कर	३।१४	दुष्कर	दुष्कर
दुक्ख	२।५ ; ९।२।६ ८।२७ १०।११ ; चू १सू १ चू १श्लो ११ १६	दुःख	दुःख
दुक्खसह	८।६३	दुःखसह	दुःख-सहिष्णु
दुग्गव	९।२।१९	दुर्गव	दुष्ट बैल
दुग्गइ	५।१।११ ६।२८ ३१ ३५,३६,४२,४८	दुर्गति	दुर्गति
दुग्गंध	५।२।१	दुर्गन्ध	बुरी गन्ध वाला, सड़ा हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दुच्चर	६।५	दुश्चर	जिसका आचरण कष्ट साध्य हो
दुच्चिण्ण	चू०१।सू०१	दुश्चीर्ण	दुराचरित
दुज्झ	७।२४	दोह्य	दोहने योग्य
दुट्ठ	७।५५,५६	दुष्ट	दुष्ट
दुत्तोसअ	५।२।३२	दुस्तोष (ष्य) क	जो सहजतया तृप्त न हो
दुन्नामधेज्ज	चू०१।श्लो०१३	दुर्नामधेय	वदनामी
दुप्पउत्त	चू०२।१४	दुष्प्रयुक्त	दुष्प्रयुक्त
दुप्पजीवि	चू०१।सू०१	दुष्प्रजीविन्	दुख से आजीविका करने वाला
दुप्पडिक्कत	चू०१।सू०१	दुष्प्रतिक्रान्त	जिनका प्रतिक्रमण—निवर्तन न किया गया हो
दुप्पडिलेहग	५।१।२०, ६।५५	दुष्प्रतिलेख्यक	जो कठिई सेना देखा जा सके
दुबुद्धि	६।२।१६	दुर्बुद्धि	दुष्ट वुद्धि वाला
दुम	१।२, ६।२।१	द्रुम	वृक्ष
दुमपुप्फिया	१	द्रुमपुष्पिका	दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन
दुम्मइ	५।२।३९	दुर्मति	दुर्बुद्धि
दुम्मणिय	६।३।८	दौर्मनस्य	दुष्ट मनोभाव
दुरहिट्ठिय	६।४	दुरधिष्ठित	दुर्धर
	६।१५		घृणा प्राप्त कराने वाला
दुरासय	२।६,६।३२	दुरासद—दुराश्रय	जिसे पराजित न किया जा सके
दुरुत्त	६।३।७	दुरुक्त	दुर्वचन
दुरुत्तर	६।६५, ६।२।२३	दुरुत्तर	दुस्तर, जो कठिनाई से तरा जा सके
दुरुद्धर	६।३।७	दुरुद्धर	जो सुविधापूर्वक न निकाला जा सके
दुरूहमाण	५।१।६८	आरोहत्	चढता हुआ
दुलह	४।२८	दुर्लभ	दुर्लभ
दुल्लभ	चू०१।सू०१	,,	,,
दुल्लह	४।२६, ५।१।१००	,,	,,
दुव्वाइ	६।२।३	दुर्वादिन्	अप्रियभाषी
दुव्विहिय	चू०१।श्लो०१२	दुर्विहित	जिसका आचरण विधि-विधाम के प्रतिकूल हो
दुस्समा	चू०१।सू०१	दुष्षमा	दुःखमयकाल, पचम अर
दुस्सह	३।१४	दुःसह	जिसे सहना कठिन हो
दुस्सेज्जा	८।२७	दुःशय्या	सोने की विषम-भूमि
दुह	६।२।५,७,१०, चू०१।श्लो०१४,१५,	दुःख	दुःख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दह	६।३३	दह्	दहन करना
दा	५।१।४१ ६१ ६३ ५।२।१४ १६,२७	दा	देना
दाइय	५।२।३१	दर्शित	दिखाया हुआ
दाढा	चू० १श्लो० १२	दाढा	दाढ
दाण	२।३ ५।१।४७	दान	दान
दायग	५।२।१२	दायक	देने वाला दाता
दायव्व	चू० २।२	दातव्य	देने योग्य
दार	५।१।१५ ५।२।९	द्वार	दरवाजा
दार	चू १श्लो० ८	दार	स्त्री
दारग	५।१।२२ ४२	दारक	बच्चा
दारुण	८।२६ ९।२।१४	दारुण	भयानक रौद्र
दाव	५।१।८०	दापय्	दान करना
दावय	५।१।४३,६७	दायक	देने वाला
दाहिणओ	६।३३	दक्षिणतस्	दक्षिण दिशा में
दिज्जमाण	५।१।३५,३६ ३७,३८	दीयमान	दिया जाता हुआ
दिट्ठ	५।१।६६ ६।१९,५१ ८।२० २१ ४८	दृष्ट	देखा हुआ
दिट्ठि	८।१४	दृष्टि	दृष्टि
दिट्ठिवाय	८।४९	दृष्टिवाद	नयवाद
दित्त	५।१।१२	दृप्त, दीप्त	उन्मत्त
दिन्न	५।२।१३	दत्त	दिया हुआ
दिया	४सू १८ से २३ ६।२४	दिवा	दिवस
दिव्व	४सू १४ ४श्लो १६ १७ ९।२।४	दिव्य	देवता-सम्बन्धी
दिस्स	७।१३ १।१२	दृष्ट्वा	देखकर
दीसंत	५।२।२८	दृश्यमान	दीखने वाला
दीह	६।६४ ७।४१	दीर्घ	लम्बा
दु	३।१४; ५।१।३७ ३८,४० ७।१	द्वि	दो
दुक्कर	३।१४	दुष्कर	दुष्कर
दुक्ख	२।५; ३।१३ ८।२७ १०।११; चू० १सू १ चू १श्लो० ११ १६	दुःख	दुःख
दुक्खसह	८।६३	दुःखसह	दुःख-सहिष्णु
दुगव	९।२।१९	दुर्गव	दुष्ट बैल
दुग्गइ	५।१।११ ६।२८,३१ ३५,३८,४२,४५	दुर्गति	दुर्गति
दुगंध	५।२।१	दुर्गन्ध	अप्रिय गन्ध वाला सड़ा हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धम्मकामी	६।१।१६	धर्म-कामिन्	निर्जरार्थी, आत्म-शुद्धि चाहने वाला
धम्मजीवि	६।४६	धर्म-जीविन्	सयमपूर्वक जीने वाला
धम्मज्झाण	१०।१६	धर्मध्यान	धर्म-चिन्तन
धम्मट्ठकहा	६	धर्मार्थकथा	दशवैकालिक का छट्ठा अध्ययन
धम्मत्थकाम	६।३	धर्मार्थकाम	मोक्षार्थी, मुमुक्षु
धम्मपण्णत्ति	४	धर्म-प्रज्ञप्ति	चतुर्थ अध्ययन का एक नाम
	४।सू०१,२,३		धर्म की प्ररूपणा
धम्मपय	६।१।१२	धर्म-पद	सिद्धान्त-वाणी
धम्मसासण	चू०१।१७	धर्म-शासन	धर्म की आज्ञा, धर्म उपदेश
धर	८।४६	धर	धारण करने वाला
धाय	७।५१	देशी	सुभिक्ष
धार	५।१।१६ , ६।१६	धारय्	धारण करना
धारण	३।४	धारण	,, ,,
	५।१।६२		टिकाए रखना
धिइमअ	चू०२।१५	धृतिमत्	धैर्यवान्
धिरत्थु	२।७	धिगस्तु	धिक्कार हो
धीर	३।११ , ७।४,७,४७ , चू०२।१४	धीर	स्थिर चित्तवाला
धुण	४।२० , ६।६७ , ६।४।सू०६ श्लो०४ , धू १०।७		झाड़ना, हिलाना
धुणिय	६।३।१५	धूत्वा	धुनकर, खपाकर
धुन्नमल	७।५७	धुतमल	जिसने मल को धुन डाला
धुयमोह	३।१३	धुतमोह	मोह को धूनने वाला
धुव	८।१७	ध्रुव	शास्त्र-विधि के अनुसार निश्चित किया हुआ क्रिया करने का समय
	८।४२		यथोचित
धुवयोग	१०।१०	ध्रुवयोग	मन, वचन और काया की स्थिर प्रवृत्ति
धुवजोगि	१०।६	ध्रुवयोगिन्	स्थिर प्रवृत्ति वाला
धुवसीलया	८।४०	ध्रुव शीलता	ध्रुव आचार, अठारह हजार शील के अङ्गों का पालन
धूमकेउ	२।६	धूमकेतु	अग्नि
धूया	७।१५	दुहितृ	बेटी
धूवणेत्ति	३।६	धूमनेत्र	धूम पीने की नली
धेणु	७।२५	धेनु	गाय
धोय	५।१।७६	धौत	धोया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धोयण	६।५१	धावन	धावन

न

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
न	१।२	न	नहीं
नई	७।३८	नदी	नदी
नंगल	७।२८	लाङ्गल	हल
नक्खत्त	८।५० ९।१।१५	नक्षत्र	अश्विनी आदि २७ नक्षत्र
नगर	४सू०११ १५ ५।१।२, चू २।८	नगर	नगर
नगिण	६।६४	नग्न	नंगा
नच्चा	५।१।१६,२६,७७ ७।३६,४ ८।३४ ४६,५६ ९।१।२४, ९।३।१	ज्ञात्वा	जानकर
नत्तुणिय	७।१८	नप्तृक	बेटी का बेटा धेवता
नत्तुणिया	७।१५	नप्तृका	बेटी की बेटी धेवती
नमंस	१।१ ९।१।११ ९।२।१५	नमस्य्	नमस्कार करना
नमोक्कार	५।१।९३	नमस्कार	नमस्कार महामंत्र
नर	५।२।४६ ७।५१ ८।५६ ९।२।४ ७ ९,२२ ९।३।६ चू १श्लो १८	नर	मनुष्य
नरय	५।२।४८ चू०१।१२	नरक	नरक
नव	६।६७	नव	नया
नह	७।५२	नभस्	आकाश
नहंसि	६।६४	नखवत्	नखवाला
ना	४।१ १२ १३	ज्ञा	जानना
नाग	२।१ चू १श्लो ८ ९।१।४ चू १श्लो १२	नाग	हाथी साँप
नाण	४।१ २१ २२ ६।१ ७।४९ ९।४सू ५श्लो०१ १ ७	ज्ञान	विशेष बोध
नाणा	९।१।११	नाना	विविध प्रकार
नाणापिंड	१।५	नानापिण्ड	विविध प्रकार का भोजन
नाभि	७।२८	नाभि	चक्र, मध्य पहिये के बीचों बीच बेलन के आकार का वह अङ्ग जिसमें धुरी पहनाई जाती हो
नाम	४सू १ २ ३	नाम	अभिधायक या वाचक-शब्द

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
नाम	७।४	नामय्	प्रतिकूल करना
नामधिज्ज	७।१७,२०	नामधेय	नाम
नाय	६।२।२१	ज्ञात	ज्ञात
नायपुत्त	५।२।४९	ज्ञात (नाग) पुत्र	भगवान् महावीर का एक नाम
नारी	२।९ , ८।५२, ५४,५५ , ६।२।७,९	नारी	स्त्री
नालिआ	५।२।१८	नालिका	कमल आदि की नाल
नालीय	३।४	नालीक	नली के द्वारा पासा डालकर खेला जाने वाला जुआ
नावा	७।२७,३८	नौ	नौका
नास	८।३७	नाशय	नाश करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धोयण	६।५१	धावन	धोवन

न

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
न	१।२	न	नहीं
नई	७।३८	नदी	नदी
नंगल	७।२८	लाङ्गल	हल
नक्खत्त	८।५० ९।१।१५	नक्षत्र	अश्विनी आदि २७ न
नगर	४सू०११ १५ ५।१।२ ; चू २।८	नगर	नगर
नगिण	६।६४	नग्न	नंगा
नच्चा	५।१।१६,२६,७७ ७।१६,४० ८।१४ ४६,५९ ९।१।२४ ९।३।१	ज्ञात्वा	जानकर
नत्तुणिय	७।१८	नप्तृक	
नत्तुणिया	७।१५	नप्तृका	
नमंस	१।१ ९।१।११ ९।२।१५	नमस्य्	
नमोक्कार	५।१।९३	नमस्कार	
नर	५।२।४९ ७।५,५३ ८।५६ ९।२।४ ७ ६,२२ ९।३।६ चू १श्लो १८	नर	
नरय	५।२।४८ चू १।१	नरक	
नव	६।६७	नव	
नह	७।५२	न	
नहंसि	६।६४	न	
ना	७।१ १२,१३		
नाग	२।१ चू १श्लो ८ ९।१।४ चू १श्लो १२		
नाण	४।१ २१ २२ ६।१ ७।२९ ९।४सू ५श्लो १ १ ७		
नाणा	९।१।११		
नाणापिंड	१।५		
नाभि	७।२८		
नाम	४सू १ २ ३		

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
निव्वाव	४।२० , ८।८	निर्+वापय्	बुझाना
निव्वावत	४।सू०२०	निर्वापयत्	बुझाता हुआ
निव्वाविया	५।१।६३	निर्वाप्य	बुझाकर
निव्विद	४।१६,१७	निर्+विद्	विरक्त होना
निव्विगइ	चू०२।७	निर्विकृति	दूध दही आदि रसो का परित्याग
निसत	६।१।१४	निशान्त	प्रभात
निसन्न	५।१।४०	निषण्ण	बैठा हुआ
निसिर	८।४८	नि+सृज्	बाहर निकालना
निसीज	४।सू०२२ , ५।१।४० , ५।२।८ ; ८।५,४४	नि + षद्	बैठना
निसीयत	४।सू०२२	निषीदत्	बैठता हुआ
निसीहिया	५।२।२	निषीधिका, नैषेधिकी	स्वाध्याय-भूमि
निसेज्जा	३।५ , ६।५६,५९ ६।५४	निषद्या	बैठना गद्दी
निस्सकिय	५।१।५६,७६,७।१०	निःशङ्कित	सदेह-रहित
निस्सर	२।४	निस्+सृ	बाहर निकालना
निस्सिचिया	५।१।६३	निषिच्य	पानी का छींटा देकर
निस्सिय	१०।४	निश्रित	आश्रित
निस्सेणि	५।१।६७	निःश्रेणि	नसैनी
निस्सेस	६।२।२	निःशेष	समस्त
निहा	१०।८	नि+धा	सचय करना
निहाव	१०।८	नि+धापय्	सचय करवाना
निहुअ	२।८ , ६।३	निभृत	निश्चल, स्थिर मन वाला
निहुअप्प	६।२	निभृतात्मन्	निश्चल आत्मा वाला
निहुइदिय	१०।१०	निभृतेन्द्रिय	जिसकी इन्द्रियाँ उद्धत न हों, स्थिर—शान्त इन्द्रिय वाला
नीम	५।२।२१	नीप	कदम्ब का फल
नीय	५।२।२५ ६।२।१७	नीच	नीच, तुच्छ नम्रता-सूचक प्रवृत्ति
नीयदुवार	५।१।२०	नीचद्वार	नीचे द्वार वाला घर
नीरय	३।१४ , ४।२४,२५	नीरजस्	कर्म-रज से रहित
नीलिआ	७।३४	नीलिका	हरी, अवपकी
नीसा	५।१।४५	देशी	चक्की का पाट

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
निच्छिय	चू १।श्लो १७	निश्चित	निश्चित
निज्जरट्ठिय	९।४।सू ६।श्लो० ४	निर्जरार्थिक	निर्जरा का अर्थी
निज्जरा	९।४।सू ६	निर्जरा	संचित कर्म का विलय और उससे होने वाली आत्मा की विशुद्धि
निज्जायरूवरयय	१०।६	निर्जातरूप-रजत	सोना-चांदी न रखने वाला
निज्झा	८।५४ ५७	नि+ध्यै	देखना
निट्ठाण	८।२२	निष्ठान	सरस भोजन
निट्ठिय	७।४	निष्ठित	कृत
निण्हव	८।३२	नि+ह्नु	मुकर जाना
निद्दा	८।४१	निद्रा	नींद
निद्दिस	७।१ ८।२२	निर्+दिश्	कहना निर्देश देना
निद्देसवत्ति	९।२।१५,२३	निर्देशवर्तिन्	आज्ञाकारी
निद्धमे	७।५७	निर्ध्म	ध्माकर
निप्पुलाय	१ ।१६	निष्पुलाक	निर्दोष
निमंत	५।१।३७ ३८ ६५	नि+मंत्रय्	निमंत्रण देना, बुलाना
निमित्त	८।५०	निमित्त	लाभ अलाभ सुख दुख आदि बताना
नियट्ट	५।१।२३	निर्+वृत्	लौटना निवृत्त होना
नियडि	५।२।३७	निकृति	माया
नियडि	९।२।३	निकृति (मत्)	कपटी
नियत्तण	९।३।३	नीचत्व	नम्र व्यवहार
नियत्तिय	५।२।१३	निवर्तित	लौट जाना
नियम	चू २।४	नियम	यथासमय क्रिया में किया जाने वाला प्रवर्तन
नियाग	३।२ ६।४८	नित्याग्र	आदरपूर्वक निमंत्रित कर प्रति दिन दिये जाने वाले वस्त्र भोजन आदि
निरय	चू १।श्लो ११	निरय	नरक
निरय	चू १।श्लो १		,,
निरासय	९।४।सू ६।श्लो ४	निराशक	प्रतिफल की आशा न रखने वाला
निरुंभित्ता	४।२१ २४	निरुध्य	निरोधकर
निरुवक्केस	चू १।सू १	निरुपक्लेश	क्लेश-रहित
निवार	२।१	नि+वारय्	निवारण करना
निवेस	९।१।१२	नि + वेशय्	स्थापित करना
निव्वडिय	६।२४	निपतित	पड़ा हुआ
निव्वाण	५।२।१२	निर्वाण	तुष्टि, मोक्ष

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
निव्वाव	४।२० , ८।८	निर+वापय्	बुझाना
निव्वावत	४।सू०२०	निर्वापयत्	बुझाता हुआ
निव्वाविया	५।१।६३	निर्वाप्य	बुझाकर
निव्विद	४।१६,१७	निर+विद्	विरक्त होना
निव्विगइ	चू०२।७	निर्विकृति	दूध दही आदि रसों का परित्याग
निसत	६।१।१४	निशान्त	प्रभात
निसन्न	५।१।४०	निषण्ण	बैठा हुआ
निसिर	८।४८	नि+सृज्	बाहर निकालना
निसीज	४।सू०२२ , ५।१।४० , ५।२।८ , ८।५,४४	नि + षद्	बैठना
निसीयत	४।सू०२२	निषीदत्	बैठता हुआ
निसीहिया	५।२।२	निषीधिका, नैषेधिकी	स्वाध्याय-भूमि
निसेज्जा	३।५ , ६।५६,५९	निषद्या	बैठना
	६।५४		गद्दी
निस्सकिय	५।१।५६,७६,७।१०	नि शङ्कित	सदेह-रहित
निस्सर	२।४	निस्+सृ	बाहर निकालना
निस्सिचिया	५।१।६३	निषिच्य	पानी का छींटा देकर
निस्सिय	१०।४	निश्रित	आश्रित
निस्सेणि	५।१।६७	निःश्रेणि	नसैनी
निस्सेस	६।२।२	नि शेष	समस्त
निहा	१०।८	नि+धा	सचय करना
निहाव	१०।८	नि+धापय्	सचय करवाना
निहुअ	२।८ , ६।३	निभृत	निश्चल, स्थिर मन वाला
निहुअप्प	६।२	निभृतात्मन्	निश्चल आत्मा वाला
निहुइदिय	१०।१०	निभृतेन्द्रिय	जिसकी इन्द्रियाँ उद्धत न हों, स्थिर—शान्त इन्द्रिय वाला
नीम	५।२।२१	नीप	कदम्ब का फल
नीय	५।२।२५	नीच	नीच, तुच्छ
	६।२।१७		नम्रता-सूचक प्रवृत्ति
नोयदुवार	५।१।२०	नीचद्वार	नीचे द्वार वाला घर
नीरय	३।१४ , ४।२४,२५	नीरजस्	कर्म-रज से रहित
नीलिआ	७।३४	नीलिका	हरी, अधपकी
नोसा	५।१।४५	?	चक्की का पाट

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
निस्सेस	५।१।८८	निःशेष	सम्पूर्ण
नु	२।१, ९।१।५	नु	वितर्क या आक्षेप वाचक अव्यय
नेउणिय	९।२।१३	नैपुण्य	निपुणता
नेरइय	४सू १९ चू १श्लो०१५	नैरयिक	नारक
नो	२।४	नो	देश-निषेध आंशिक-निषेध

प

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पइरिक्कया	चू०२।५	प्रतिरिक्तता	एकान्तता
पइट्ठिय	४सू २२	प्रतिष्ठित	रखा हुआ
पईव	६।३४	प्रदीप	प्रकाश
पउंज	८।४ ९।१।१२, ९।३।२३	प्र+युज्	प्रयोग करना
पउत्त	५।१।६७	प्रयुक्त	प्रयोग किया हुआ
पउम	५।२।१४,१६	पद्म	रक्त कमल
पउमग	६।६३	पद्मक	पद्माख
पओय	९।२।१९	प्रतोद	चाबुक
पओय	७।५२	पयोद	मेघ
पंक	चू १श्लो०७	पङ्क	कीचड़
पंच	३।११ ४सू०१७ ९।३।१४ १०।५	पञ्चन्	पांच
पंचम	४सू १५	पञ्चम	पांचवां
पंचिंदिय	४सू ९ ७।२१	पञ्चेन्द्रिय	पांच इन्द्रिय वाला जीव
पंजलि	९।१।१२	प्राञ्जलि	जुड़े हुए हाथ
पंडग	७।१२	पण्डक	नपुंसक
पंडिय	२।११ ५।२।२६,२७ ९।४सू १ श्लो १ चू १श्लो०११	पण्डित	पण्डित
पंत	५।२।३४	प्रान्त	असार
पंसुखार	३।८	पांशुक्षार	ऊसर का क्षार, लोनी मिट्टी
पकुव्व	५।२।३२ ९।२।१९	प्र+कृ, प्र+कुर्व्	करना
पक्क	७।३२,३४ ४२	पक्व	पका हुआ
पक्कम	३।१३	प्र+क्रम	समर्थ होना
पक्खओ	८।४५	पक्षतस्	पार्श्व भाग में
पक्खंद	२।६	प्र+स्कन्द्	प्रवेश करना
पक्खलंत	५।१।५	प्रस्खलत्	स्खलित होता हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पक्खि	७।२२	पक्षिन्	पक्षी
पक्खोड	४।सू०१९	प्र+स्फोटय्	बार-बार झटकना
पक्खोडत	४।सू०१९	प्रस्फोटयत्	बार-बार झाडता हुआ
पगइ	६।१।३	प्रकृति	स्वभाव
पगड	५।१।४७,४९,५१,५३ , ८।८१ चू०१।सू०१	प्रकृत	तैयार किया हुआ किया हुआ
पच्चग	८।५७	प्रत्यङ्ग	शरीर के गौण अवयव
पच्चक्खओ	६।३।६	प्रत्यक्षतस्	प्रत्यक्ष से
पच्चक्ख	५।२।२८	प्रत्यक्ष	सामने
पच्चक्ख	४।सू०१०	प्रति+आ+ख्या	त्याग करना
पच्चुपन्न	७।८,९,१०	प्रत्युत्पन्न	वर्तमान काल
पच्छा	५।१।९१ , ६।२।१ , चू०१।श्लो०२से ८	पश्चाद्	बाद मे
पच्छाकम्म	५।१।३५ , ६।५२	पश्चात्कर्मन्	साधु को भिक्षा देने के बाद सजीव जल से हाथ धोना आदि कार्य
पज्जय	७।१८	प्रार्यक	परदादा, परनाना, प्रपितामह, प्रमातामह
पज्जव	चू०१।श्लो०१६	पर्यव	अवस्था
पज्जालिया	५।१।६३	प्रज्वाल्य	चूल्हे मे बार-बार ईधन डालकर
पज्जिया	७।१५	प्रार्यिका	परदादी, परनानी
पज्जुवास	८।४३	परि+उप+आस्	उपासना करना
पट्ठवेत्ताण	५।१।६३	प्रस्थाप्य	प्रस्थापना करके
पट्ठिय	चू०२।२	प्रस्थित	जिसने प्रस्थान किया हो
पड	६।६५	पत्	गिरना
पडत	५।१।८	पतत्	गिरता हुआ
पडागा	चू०१।सू०१	पताका	पतवार
पडिआय	१०।१	प्रति+आ+पा (दा)	वापस पीना (वापस लेना
पडिकुट्ठ	५।१।१७	प्रतिक्रुष्ट	निषिद्ध
पडिकोह	६।५७	प्रतिक्रोध	क्रोध
पडिक्कत	४।सू०९	प्रतिक्रान्त	वापस जाना
पडिक्कम	४।सू०१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, १८,१९,२०,२१,२२ , ५।१।८१,९१	प्रति+क्रम्	निवृत होना
पडिगाह	५।१।२७,५६,७७ , ६।४७ , ८।६	प्रति+ग्रह्	ग्रहण करना
पडिग्गह	४।सू०२३ , ५।२।१	प्रतिग्रह	पात्र
पडिग्घाअ	६।५८	प्रतिघात	अन्तराय
पडिच्छ	५।१।३६,३८	प्रति+इष्	लेना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पडिमेहिय	५।२।१३	प्रतिसिद्ध	निषेध किया गया
पडिसोय	चू०२।२,३	प्रतिस्रोतस्	भोग-विरक्ति
पडिह्यपच्चक्खायपावकम्म	४।१८,१९,२०,२१,२२,२३	प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मन्	जिसने पूर्व सचित पाप कर्मों को उदीरणा के द्वारा मन्द किया हो और भविष्य मे वधने वाले पाप कर्मों का विरतीकरण के द्वारा निरोध किया हो, वह
पढम	४सू०११, ४।१०; ६।८	प्रथम	पहला
पणग	५।१।५९, ८।११,१५	पनक	काई
पणास	८।३७	प्र+नाशय्	नष्ट करना
पणिय	७।४५	पण्य	विक्रेय वस्तु
पणियट्ठ	७।३७	पण्यार्थ, पणितार्थ	स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने प्राणों को खतरे मे डालने वाला या प्राणों की वाजी लगाने वाला
	७।४६		लेवा-वेची
पणिहाय	८।४४	प्रणिधाय	सयत करके
पणीय	५।२।४२	प्रणीत	स्निग्ध, उपचय-कारक
पणीयरस	८।५६	प्रणीतरस	अतिस्निग्ध रस-पूर्ण भोजन
पणुल्ल	५।१।१८	प्र+णुद्	खोलना
पत्त	४सू०२१	पत्र	कमल आदि का पत्ता
	६।३७, ८।६, ६।२।१	,,	पत्र
पत्त	६।२।६, ६,११	प्राप्त	प्राप्त
पत्तेय	१०।१८, चू०१।सू०१	प्रत्येक	एक-एक
पत्थ	५।२।२३, ६।६०; ८।१०,२८	प्र+अर्थय्	चाहना, अभिलाषा करना
पन्नत्त	६।४।सू०१,२,३	प्रज्ञप्त	कथित
पन्नत्ति	८।४६	प्रज्ञप्ति	प्रज्ञापना की पद्धति
पन्नत्त	६।४।सू०१,२,३	प्रज्ञप्त	कथित
पन्नव	७।१,२,३,१३,१४,२४,२६,२९,३० ३९,४४,४७	प्रज्ञावत्	बुद्धिमान्
प्रबन्ध	५।२।८	प्र+बन्ध	विस्तारपूर्वक कहना
पब्भट्ठ	चू०१।४ श्लो०४	प्रभ्रष्ट	च्युत, भ्रष्ट
पभव	६।२।१	प्रभव	प्रादुर्भाव
पभास	६।१।१४	प्र+भास्	प्रकाशित करना
पमज्जित्तु	८।५	प्रमृज्य	पोंछकर, साफकर
पमज्जिय	४सू०२३	,,	,,

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पडिच्छन्न	५।१।८३	प्रतिच्छन्न	ऊपर से छाया हुआ
पडिच्छिन्न	८।५१	प्रतिच्छिन्न	कटा हुआ
पडिच्छिय	५।१।८०	प्रतीच्छित	गृहीत
पडिजागर	६।३।१	प्रति+जागृ	जागरूक रहना
पडीण	६।३३	प्रतीचीन	पश्चिम दिशा-सम्बन्धी
पडिणीय	६।३।६	प्रत्यनीक	विरोधी
पडिणिस्सिअ	४सू २२	प्रतिनिश्रित	आश्रित
पडिण्णव	चू०२।८	प्रति+ज्ञापय्	प्रतिज्ञा करवाना
पडिपुच्छिऊण	५।१।७६	प्रतिपृच्छ्य	पूछ करके
पडिपुण्ण	६।४सू०७श्लो ५	प्रतिपूर्ण	पूर्ण
पडिपुन्न	८।४८		
पडिबंध	चू०२।१३	प्रतिबन्ध	बंधन
पडिबुद्धजीवि	चू २।१५	प्रतिबुद्धजीविन्	जागरूक जीवन जीने वाला
पडिबोह	६।१।८	प्रति+बोधय्	जगाना
पडिमा	१ ।१२	प्रतिमा	विशेष प्रतिज्ञा अभिग्रह
पडिय	चू १श्लो २	पतित	गिरा हुआ
पडियरिय	६।३।१५	प्रतिचर्य	सेवा करके
पडियाइक्ख	५।१।२८ ३ १२ ४१ ४३,४४ ४६,४८ ५ ५२,५४ ५८,६० ६२,६४ ७२,७४ ७६ ५।२।१५,१७ २०	प्रति+आ+ख्या	प्रतिषेध करना
पडियाइक्खण	चू १सू १	प्रत्यापान, प्रत्यादान	वापस पीना वापस लेना
पडिलेह	५।१।२५,२७ ५।२।५	प्रति+लेखय्	निरीक्षण करना
पडिलेहित्ता	८।१८	प्रतिलेख्य	देखकर
पडिलेहित्ताण	५।१।८२ ६।२।२०		
पडिलेहिय	४सू २३		
पडिलेहिया	५।१।८१ ८६,८७	,,	
पडिवज्ज	४।२३ २४	प्रति+पद्	स्वीकार करना
पडिवज्जमाण	६।१।२	प्रतिपद्यमान	स्वीकार करता हुआ
पडिवज्जिया	१ ।१२	प्रतिपद्य	स्वीकार करके
पडिसंलीण	३।१२	प्रतिसंलीन	शारीरिक प्रवृत्ति का संवरण करने वाला
पडिसमाहर	८।५४	प्रति+सम्+आ+हृ	वापस खींचना निवृत्त करना
पडिसाहर	चू २।१४	प्रति+सम्+हृ	वापस खींचना
पडिसेह	६।२।४	प्रति+सिध्	निषेध करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
परलोग	६।४।सू०६,७	परलोक	आगामी जन्म
परागार	८।१९	परागार	गृहस्थ का घर
परिकिन्न	चू०१।श्लो०७	परिकीर्ण	घिरा हुआ
परिक्खभासि	७।५७	परीक्ष्यभाषिन्	सोच समझकर बोलने वाला
परिगय	६।२।८	परिगत	व्याप्त
परिगिज्झ	८।३३ , ६।३।२	परिगृह्य	ग्रहण करके
परिगेण्ह	४।सू०१५	परि+ग्रह्	ग्रहण करना
परिगेण्हत	४।सू०१५	परिगृण्हत्	सग्रह करता हुआ
परिग्गह	४।सू०१५ , ६।२०	परिग्रह	मूर्छा, ममत्व
परिग्गह	६।२१	परि+ग्रह	ग्रहण करना
परिज्जुण्ण	६।२।८	परिजीर्ण	जर्जर
परिट्ठप्प	५।१।८१,८६	परिस्थाप्य	डालना, परठना
परिणय	५।१।७७	परिणत	दूसरी वस्तु के सयोग से जिसका अवस्यातर हो गया हो, वह द्रव्य
परिणाम	८।५८	परिणाम	परिणमन
परिनिव्वुड	३।१५	परिनिर्वृत्त	शान्त, मोक्ष-प्राप्त
परितप्प	चू०१।श्लो०२ से ८	परि+तप्	सताप करना
परिदेव	६।३।४	परि+देव्	विलखा होना
परिन्नाय	३।११	परिज्ञात	ज्ञानपूर्वक परित्यक्त
परिब्भट्ठ	चू०१।श्लो०२	परिभ्रष्ट	भ्रष्ट
परिभव	८।३०	परि+भू	नीचा दिखाना
परिफासिय	५।१।७२	परिस्पृष्ट	स्पृष्ट, व्याप्त
परिभस्स	६।५०	परि+भ्रश्	भ्रष्ट होना
परिभोत्तुय	५।१।८२	परिभोक्तुम्	भोगने के लिये, खाने-पीने के लिये
परिमिय	८।३४	परिमित	सीमित
परियाय	चू०१।सू०१ , चू०१।श्लो०९,१०,११	पर्याय	सयम
परियायजेट्ठ	६।३।३	पर्यायज्येष्ठ	पूर्व दीक्षित
परियायट्ठाण	८।६०	पर्याय-स्थान	दीक्षा-स्थान
परियाव	६।२।१४	परिताप	सन्ताप
परिवज्ज	५।१।४,१२,१६,१७,२०,२१,२५,२९ ७० , ५।२।१९,२१,२२,२४ , ६।५८, ७।५५ , १०।६	परि+वर्जय्	वर्जना
परिवज्जत	५।१।२६	परिवर्जयत्	वर्जता हुआ
परिवज्जय	७।५६	परिवर्जक	वर्जने वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पमाण	चू २।११	प्रमाण	मर्यादा मान
पमाय	६।१५ ८।११	प्रमाद	प्रमाद
पमेइल	७।२२	प्रमेदस्विन्, प्रमेदुर	बहुत चर्बी वाला
पय	८।३१ ४० ९।४सू०४ ५,६,७ ९।४ श्लो ६,चू०१सू०१	पद	स्थान
	९।१।११	"	शब्द-समूह, वाक्य
पय	१०।४	पच्	पकाना
पयअ	चू०२।७	प्रयत	प्रयत्नशील
पयंग	४सू ६,२३	पतङ्ग	शलभ
पयत्तछिन्न	७।४२	प्रयत्नछिन्न	प्रयत्न से काटा गया
पयत्तपक्क	७।४२	प्रयत्न-पक्व	प्रयत्न से पकाया गया
पयत्तलट्ठ	७।४२	प्रयत्न-लष्ट	प्रयत्न से सुन्दर किया गया
पयल	चू १श्लो०१७	प्र+चल	कम्पित करना
पयाय	७।११	प्रजात	उत्पन्न
पयाव	४सू १९	प्र+तापय्	तपाना
पयाव	६।३४	प्रताप	तपना
पयावंत	४सू १९	प्रतापयत्	बार-बार सुखाता हुआ
पर	५।१।४	पर	अन्य
	५।११ १४ ३७-७।१३ ४० ५४ ५६ ८।४७ ६१-९।१।८ ९।२।१३ ९।४सू ५, १ १८२ चू २।११ १३		साधु से भिन्न असंयत गृहस्थ
	१ ।८	"	परसों
परक्कम	५।१।६ २४ ५।२।७ ८।४	परा+क्रम्	पार करना
परक्कम	चू २।४	पराक्रम	बल
परक्कम्म	८।३२	पराक्रम्य	सेवन करके
परग्घ	७।४३	परार्घ	बहुमूल्य
परघर	५।२।२७	परगृह	गृहस्थ का घर
परम	६।८ ९।२।२	परम	प्रधान उत्कृष्ट
परमाहम्मिय	४सू ९	परमधार्मिक	सुखेच्छुक
परमग्गसूर	९।३।८	परमाग्रसूर	सबसे अधिक शूर
परमदुच्चर	६।८	परमदुश्चर	अत्यन्त दुष्कर वह कार्य जिसका आचरण सुकर न हो
परम्मुह	९।३।९	पराङ्मुख	पराङ्मुख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पव्वय	७।२६,३० , ६।१।८	पर्वत	पहाड
पसत	१०।१०	प्रशान्त	प्रशात
पससण	७।५५	प्रशसन	प्रशसा
पसज्ज	चू०१।श्लो०१४	प्रसह्य	हठपूर्वक
पसढ	५।१।७२	प्रसृत	फैला हुआ
पसत्थ	चू०२।५	प्रशस्त	उचित, प्रशसनीय
पसव	५।२।३५	प्र+सू	पैदा करना, जन्म देना
पसाय	६।१।१०	प्रसाद	प्रसन्न
पसारिय	४।सू०६	प्रसारित	फैलना
पसाहा	६।२।१	प्रशाखा	छोटी टहनी
पसु	७।२२ , ८।५१	पशु	पशु
पसूय	७।३५	प्रसूत	भुट्टों सहित
पस्स	५।२।३७,४३	दृ	देखना
पहाण	४।२७	प्रधान	मुख्य
पहार	६।१।८ , १०।११	प्रहार	प्रहार
पहारगाढ	७।४२	प्रहारगाढ	गहरा घाव
पहीण	३।१३	प्रहाण	विनाश
पहोइ	४।२६	प्रधाविन्	धोने वाला
पाइम	७।२२	पाक्य, पक्त्रिम	पकाने योग्य
पाईण	६।३३	प्राचीन	पूर्व दिशा-सम्बन्धी
पाण	४।सू०६,११ , ४।श्लो०१ से ६ , ५।१।३,५,२०,२९ , ५।२।७ , ६।८, १०,२३,२४,२७,३०,४१,४४,५५,५७, ६१ , ७।२१ , ८।२,१२,१५	प्राण	प्राणी
पाण	४।सू०१६ , ५।१।१,२७,३१,३९,४१, ४२,४३,४४,४८,५०,५२,५४,५८,६०, ६२,६४,७५,८९ , ५।२।३,१०,१३, १५,१७,२८,३३ , ६।४९,५० , ८।१९ , ९।३।५ , चू०२।६,८	पान	पानी
पाणक	५।१।४७,४९,५३,५७,५९,६१	पानक	पान
पाणग	१०।८,९	,,	,,
पाणहा	३।४	उपानह्	जूता
पाणाइवाय	४।सू०११	प्राणातिपात	प्राण-वध, हिंसा
पाणिपेज्जा	७।३८	प्राणिपेया	तट पर बैठे हुए प्राणी जिसका जल पी सके
पामिच्च	५।१।५५	प्रामित्य	मुनि को भिक्षा देने के लिये उधार लिया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
परिवुड	९।१।१५	परिवृत	घिरा हुआ
परिवुड्ढ	७।२३	परिवृद्ध	बलिष्ठ
परिव्वयंत	२।४	परिव्रजत्	संयम में बरतता हुआ
परिसंखाय	७।१	परिसंख्याय	जानकर
परिसह	३।१३ ४।२७	परीषह	मोक्ष-मार्ग में स्थिर रहने के लिये और निर्जरा के लिये सहन किया जाने वाला कष्ट
परिसा	४सू०१८ से २३	परिषद्	सभा
परिसाड	५।१।२८	परि+शाटय्	नीचे डालना
परिहर	६।११	परि+हृ	त्यागना
परिहा	६।३८	परि+धा	परिभोग करना
परीणाम	८।५९	परीणाम	परिणमन
पलंब	५।१।७०	प्रलम्ब	फल
पलाइय	४सू०९	पलायित	दौड़ना
पलिओवम	चू०१श्लो०१५	पल्योपम	एक उपमा काल
पलियंक	३।५ ६।५३,५४,५५	पर्यंक	पलंग
पलोअ	५।१।२३	प्र+लोक	देखना
पवय	चू०२।१	प्र+वद्	कहना
पवड	५।१।६८	प्र+पत्	पड़ना
पवडंत	५।१।५,८	प्रपतत्	गिरता हुआ
पवड्ढ	९।२।१२	प्र+वृध्	बढ़ना
पवड्ढमाण	८।३९	प्रवर्द्धमान	बढ़ता हुआ
पवयण	५।२।१२	प्रवचन	जैन-शासन
पवाल	५।२।१९	प्रवाल	कोंपल
पविट्ठ	५।१।१९, ५।२।८ ६।५९	प्रविष्ट	प्रवेश-प्राप्त
पवियक्खण	२।११	प्रविचक्षण	प्रवक्ता
पविस	५।१।१७,२२ ५।२।११	प्र+विश्	प्रवेश करना
पविसित्ता	५।१।८८	प्रविश्य	प्रवेशकर
पविसित्तु	८।११		
पवील	४सू०१९	प्र+पीडय्	निचोड़ना
पवीलंत	४सू १९	प्रपीडयत्	बार-बार निचोड़ता हुआ
पवुच्च	४सू ९	प्र+वच्	कहना
पवेइय	४सू १,२,३	प्रवेदित	स्वयं ज्ञात
पवेय	१०।२	प्र+वेदय्	उपदेश देना कहना
पव्वइय	४श्लो १८,१९; ६।१८ ९।१।५२ चू०१सू १	प्रव्रजित	दीक्षित

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पिट्ठओ	८।४५	पृष्ठतस्	पीछे की ओर
पिट्ठिमस	८।४६	पृष्ठमास	चुगली
पिण्णाग	५।२।२२	पिण्याक	सरसों की खली
पिय	२।३	प्रिय	इष्ट
पियाल	५।२।२४	प्रियाल	चिरौंजी
पियाव	१०।२,४	पायय्	पिलाना
पिव	५।१।८ , ५।२।३६,३७	पा	पीना
पिव	८।५४	इव	तरह
पिवासा	८।२७ , ६।२।८ , चू०१।श्लो०१६	पिपासा	प्यास
पिवीलिया	४।सू०६,२३	पिपीलिका	चींटी
पिसुण	६।२।२२	पिशुन	चुगल
पिहिय	४।श्लो० ६,५।१।१०,४५	पिहित	ढका हुआ
पिहुखज्ज	७।३४	पृथुखाद्य	चिउडा बनाकर खाने योग्य
पिहुज्जण	चू०१।श्लो०१३	पृथग्जन	साधारण मनुष्य
पिहुण	४।सू०२१	देशी	मोर की पाँख
पिहुणहत्थ	४।सू०२१	,,	मोरपिच्छी
पीइ	८।३७	प्रीति	प्रेम
पीढ	५।१।६७	पीठ	पीढा, चौकी
पीढग	४।सू०२३	पीठक	पीढा, चौकी
पीढय	५।१।४५ , ६।५४ , ७।२८	,,	,, ,,
पीण	१।२	प्रीणय्	तृप्त करना
पीणिय	७।२३	प्रीणित	स्निग्ध काय
पील	८।३५	पीडय्	पीडित करना
पीला	५।१।१०	पीडा	कष्ट
पुछ	८।७,१४	प्र+उञ्छ	पौंछना
पुग्गल	४।सू०२१	पुद्गल	मूर्त द्रव्य
	५।१।७३	,,	फल
पुच्छ	५।१।५६ , ६।२ , ८।७	पृच्छ्	पूछना
पुज्ज	६।३।१,२,३,४,५,६,८,६,१०,११,१२,१३,१४	पूज्य	पूजनीय
पुड	८।६३	पुट	पटल
पुट्ठ	८।२२	पृष्ट	पूछा हुआ
पुट्ठ	७।५	स्पृष्ट	छूआ हुआ, प्राप्त
पुढविकाइय	४।सू०३	पृथिविकायिक	पृथ्वी शरीर वाला जीव
पुढविकाय	६।२६,२७,२८	पृथिविकाय	,, ,, ,, ,,

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पाय	३।४।४सू०१८,२३, ५।१।७९८, ८।४४,४५, ९।२।१७; १०।१५	पाद	पैर
	९।१।५,१०		पूज्य व्यक्ति के नाम के आगे बोला जाने वाला एक शब्द
पाय	६।१६,३८ ४७ ८।१७	पात्र	पात्र
पायखज्ज	७।३२	पाकखाद्य	वह फल जो भूसे आदि में रखकर पकाने के बाद खाने के योग्य हो
पायपुंछण	४सू०२३ ६।१६,३८	पादप्रोञ्छन	रजोहरण, ऊनी धागों की फलियों से बना हुआ एक उपकरण
पायव	९।२।१२	पादप	वृक्ष
पारत्त	८।४३	परत्र	परलोक
पारेत्ता	५।१।९३	पारयित्वा	पूराकर, समाप्तकर
पाव	४।७ ८ ९,१५,१६ ५।२।३२ ३५ ६।६७ ७।५,११, ८।३६ १०।१८ चू १सू १, चू २।२	पाप	अशुभ अकुशल क्लिष्ट
पाव	९।१।१७	प्र+आप्	प्राप्त करना
पावग	४।१० ११ ९।४सू श्लो०४ १०।७	पापक	अहित पाप
पावग	६।३३ ९।१।६,७	पावक	अग्नि
पावग	४श्लो १ से ९	पापक	पाप
	८।२२		बुरा
पावार	५।१।१८	प्रावार	कम्बल आदि वस्त्र
पास	८।१२ ९।२।५,६,७ चू०२।१३ १४	दृश्	देखना
पास	७।६	पश्यत्	देखता हुआ
पासवण	८।१८	प्रस्रवण	प्रस्रवण
पासाय	५।१।६७ ७।२७	प्रासाद	राजभवन देवभवन
पाहन्न	९।२।५	प्राधान्य	प्रधानता
पिय	१।२	पा	पीना
पिउस्सिया	७।१५	पितृष्वसृ	बुआ
पिंड	६।४७	पिण्ड	भोजन
पिंडवाय	५।१।८७	पिण्डपात	भिक्षा
पिंडेसणा	५	पिण्डैषणा	दशवैकालिक का पाँचवाँ अध्ययन
पिस्समाण	५।१।४२	पाययत्	पिसाता हुआ
पिट्ठ	५।१।३४ ५।२।२२	पिष्ट	आटा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पूइम	चू०१।श्लो०४	पूज्य	पूजनीय
पूय	५।१।७१	पूप	पूआ
पूयण	१०।१७ , चू०२।६	पूजन	पूजा
पूयणट्ठि	५।२।३५	पूजनार्थिन्	पूजा का अर्थी
पेच्छ	८।२०	प्र+ईक्ष्	देखना
पेम	८।२६,५८	प्रेमन्	राग, प्रेम
पेह	६।४।सू०४,श्लो०२	स्पृह्, प्र+ईक्षु	चाहना, देखना
पेहमाण	५।१।३	प्रेक्षमाण	देखता हुआ
पेहा	२।४	प्रेक्षा	दृष्टि
पेहाए	७।२६,३० , ८।१३	प्रेक्ष्य	देखकर
पेहिय	८।५०	प्रेक्षित	कटाक्ष
पोग्गल	८।६,५८,५६	पुद्गल	पुद्गल
पोय	८।५३	पोत	बच्चा
	चू०१।सू०१	,,	जहाज
पोयय	४।सू०६	पोतज	जो जन्म के समय झिल्ली से लिपटा हुआ न हो
पोरबीय	४।सू०८	पर्व-बीज	वह वनस्पति जिसका पर्व ही बीज हो

फ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
फरुस	५।२।२६ , ७।११	परुष	कठोर
फल	३।७ , ५।२।२४ , ७।३२,३३, ८।१०, ६।१।१ ; ६।२।१	फल	फल
	४।१ से ६ , ५।२।४७	,,	विपाक, परिणाम
फलग	४।सू०२३ , ५।१।६७	फलक	तख्ता, काठ का पाटिया
फलिह	५।२।६ , ७।२७	परिघ	फाटक या नगर के दरवाजे की आगल
फाणिय	५।१।७१ , ६।१७	फाणित	राब, द्रव-गुड
फास	८।२६	स्पर्श	स्पर्श
फास	४।१६,२० , १०।५	स्पृश्	स्पर्श करना
फासुय	५।१।१६,८२,६६ , ८।१६	प्रासुक	निर्जीव
फुम	४।सू०२१	देशी फूत्+कृ०	फूंक देना
फुमत	४।सू०२१	फूत्कुर्वत्	फूंक देता हुआ

ब

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
बध	४।१५,१६ , ६।२।१४, चू०१।सू०१	बन्ध	जीव और कर्म-पुद्गलों का सयोग

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पुढविजीव	५।१।६८	पृथिवीजीव	पृथ्वीकायिक जीव
पुढवी	४सू०४ १८ ८।२,४ १०।२ ४ ११	पृथ्वी	मिट्टी
पुढो	४सू०४ से ८	पृथक्	पृथक्, स्वतन्त्र
पुण	४सू०९	पुनर्	फिर
पुणब्भव	८।३९	पुनर्भव	पुनर्जन्म
पुण्ण	४।१५,१६, ५।१।४९ १०।१८ चू०१सू० १	पुण्य	शुभकर्म
पुण्ण	७।३८	पूर्ण	पूर्ण
पुन्न	चू०२।१	पुण्य	पुण्यशाली
पुत्त	७।१८ चू० १श्लो ७	पुत्र	बेटा
पुप्फ	१।२,३,४ ५।१।२१,५७ ५।२।१४ १६ ८।१५ ९।२।१	पुष्प	फूल
पुम	७।२१ ९।३।१२	पुंस्	पुरुष
पुरओ	५।१।३ ८।४५	पुरतस्	आगे
पुरक्कार	चू १सू १	पुरस्कार	आदर, पूजा सम्मान
पुरत्थ	८।२८	पुरस्तात्	पूर्व दिशा
पुराण	९।४सू ६श्लो ४ १०।७	पुराण	पुराना
पुरिस	५।२।२९ ७।१९,२	पुरुष	मानव
पुरिसकारिया	५।२।६	पुरुषकारिता	पौरुष उद्योग
पुरिसोत्तम	२।११	पुरुषोत्तम	श्रेष्ठ पुरुष
पुरेकड	६।६७ ७।४७ ८।६२ ९।३।१५	पुराकृत-पुरस्कृत	पूर्वकृत
पुरेकम्म	५।१।३२ ६।५३	पुरः कर्मन्	भिक्षा देने से पूर्व उसके निमित्त सचीत जल से हाथ धोना आदि कर्म
पुल	१।१६	पुल	उन्मत्त
पुव्व	३।१५	पूर्व	पूर्ववर्ती
पुव्वउत्त	५।२।३	पूर्वोक्त	पहले कहा हुआ
पुव्वरत्त	चू २।१२	पूर्वरात्र	रात का पहला भाग
पुव्विं	५।१।९१ चू १सू १	पूर्व	पहले
पूय	५।२।४५ ९।१।१३ १५	पूजम्	पूजा करना
पूई	५।१।५८,७९	पूति	दुर्गन्ध-युक्त
	५।२।२२	„	पूई का साग
पूइय	५।२।४३	पूजित	पूजित
पूइकम्म	५।१।५५	पतिकर्मन्	वह भोजन आदि जिसमें साधु के लिये बनाए भोजन आदि का अंश मिला हुआ हो

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विहेलग	५।२।२४	विभीतक	वहेडा
वीय	३।७, ४।सू०२२, ५।१।३,१७, २१,२६, २६,५७, ५।२।२४, ६।२४, ८।१०,११, १५, १०।३	वीज	वीज
वीय	८।३१ , चू०२।११	द्वितीय	दूसरा
वीयरुह	४।सू०८	वीजरुह	वीज से उत्पन्न होने वाले वनस्पति
वुद्ध	१।५,५।२।५०,६।२१,२२,,३६, ५४,६६,७।२,५६	वुद्ध	तत्वज्ञ
वुद्धवयण	१०।१,६	वुद्धवचन	जैन-शासन
वुद्धि	८।३०, ६।१।३,१४,१६	वुद्[illegible]	वुद्धि
वुद्धिम	चू०१श्लो०१८	वु[illegible]	वुद्धिमा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
बंध	४।१ से ६, ६।६५	बन्ध्	बांधना
बंधण	१०।२१, चू०१श्लो०७	बन्धन	बन्धन
बंभचेर	५।१।९, ६।५७,५८ ९।१।१३	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
बंभयारि	५।१।९ ८।५३,५५	ब्रह्मचारिन्	ब्रह्मचारी
बद्ध	चू०१श्लो०७	बद्ध	बंधा हुआ
बप्प	७।१८	बप्तृ	पिता
बलाहय	७।५२	बलाहक	मेघ
बहिया	२।४	बहिस्तात्	बाहर
बहु	४सू०९,१३	बहु	बहुत
बहुअट्ठिय	५।१।७३	बह्वास्थिक	बहुत बीज वाला
बहुउज्झियधम्मिय	५।१।७४	बहु-उज्झित-धर्मक	वह भोजन जिसका अधिक भाग फेंका जाए
बहुकंटय	५।१।७३	बहुकंटक	बहुत कांटों वाला
बहुनिव्वट्टिम	७।३३	बहुनिर्वर्तित	वह वृक्ष जिसके अधिकांश फलों में गुठलियां उत्पन्न हो गई हों
बहुवाहड	७।३९	बहुभृत	अधिकांशतया भरा हुआ
बहुल	६।३६ ६।६६	बहुल	प्रायः
	चू १सू १ चू २।४	"	प्रचुर
बहुवित्थडोदगा	७।३९	बहुविस्तृतोदका	बहुत विस्तीर्ण जल वाली
बहुविह	७।१४ १५	बहुविध	बहुत प्रकार
बहुसंभूय	७।३३ ३५	बहुसंभूत	वह वृक्ष जिसके अधिकांश फल पक गये हों निष्पन्न प्राय
बहुसम	७।३७	बहुसम	अधिकांश समान प्रायः सम
बहुसलिला	७।३९	बहुसलिला	बहुत सलिल वाली
बहुस्सुय	८।४३ चू १श्लो ९	बहुश्रुत	श्रुत-शास्त्र का जानकार, आगमधर, बहुत ज्ञान वाला
बायर	४सू ११	बादर	स्थूल
बाल	६।७ चू १श्लो १	बाल	अज्ञानी
बाहिर	४सू २१ ४।१७,१८ ८।९ ८।३	बाह्य	बाहरी वस्तु अपने से दूसरा
बाहु	चू १सू०१	बाहु	बाँह
बिंदु	चू १सू १	बिन्दु	बूंद
बिड	६।१७	बिड	कृत्रिम नमक
बिल्ल	५।१।७३	बिल्व	बेल का फल

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भिक्खुणी	४।सू०१८ से २३	भिक्षुकी	साध्वी
भित्ति	४।सू०१ , ८।४	भित्ति	नदी के तट की मिट्टी
भित्तिमूल	५।१।८२	भित्तिमूल	भित्ति के पास, दो घरों का अन्तर
भिलुगा	६।६१	देशी	भूमि की दरार, फटी हुई जमीन
भीम	६।४	भीम	भयंकर
भुज	२।२	भुज्	भोगना
	४।सू०१६ , ५।१।८३,९५,९६,९७,९९, ५।२।१ , ६।२५,५२ , ८।२३ , १०।४,९	,,	खाना
भुजत	४।सू०१६ , ४।७,८ , ६।५०	भुञ्जान	खाता हुआ
भुजमाण	४।श्लो०५ , ५।१।३७,३८,८४	,,	,,
भुजाव	४।सू०१६	भोजय्	भोजन करना
भुजित्तु	चू०१।श्लो०१४	भुक्त्वा	भोगकर
भुज्ज	चू०१।सू०१	भूयस्	वार-वार
भुज्जमाण	५।१।३९	भुज्यमान	खाया जाता हुआ
भुत्त	५।१।३९	भुक्त	खाया हुआ
भूमि	५।१।२४ , ८।५२	भूमि	पृथ्वी
भूमिभाग	५।१।२५	भूमिभाग	भू-भाग
भूय	४।श्लो०१ से ६,९,५।१।५,६।३,८।१२, ३४,५१,७।११,२९,८।१२,१३,५०	भूत	जीव
	६।५	,,	हुआ
	चू०१।सू०१	,,	तुल्यार्थक अव्यय जो उत्तर पद मे प्रयुक्त होता है
भूयरूव	७।३३	भूतरूप	वह वृक्ष जिसके फलों मे गुठलियाँ उत्पन्न न हुई हों
भेत्तु	६।१।८	भेत्तुम्	भग्न करने के लिये
भेयाययणवज्जि	६।१५	भेदायतनवर्जिन्	सयम-भग के स्थान को वर्जने वाला, मुनि का एक विशेषण
भेरव	१०।११,१२	भैरव	भयकर
भेसज	८।५०	भेषज	भैषज
भो	६।१।१२,चू०१।सू०१	भोस्	सम्बोधन-वाचक अव्यय
भोग	२।११ , ८।३४ , चू०१।सू०१ , चू०१। श्लो०१,१४,१६	भोग	भोग
भोच्चा	५।२।३३ , १०।९	भुक्त्वा	भोगकर, खाकर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भमर	१।२४	भ्रमर	भौंरा
भय	८।५१	भज्	ग्रहण करना
भय	४सू०१२, ६।११ ७।५४ ८।२७,५३ १।११।१२	भय	भय
भव	१।५	भू	होना
भवंत	६।२ ८।१	भवत्	आप
भवित्ताणं	४।१८,१९	भूत्वा	होकर
भस्स	६।७	भ्रंश्	भ्रष्ट होना
भाइणेज्ज	७।१८	भागिनेय	भानजा बहिन का पुत्र
भाइणेज्जा	७।१५	भागिनेयी	भानजी बहिन की पुत्री
भाय	१।१२	भी	डरना
भायण	५।१।३२,३५,३६,६६	भाजन	बर्तन
भारह	६।१।१४	भारत	भरतक्षेत्र
भाव	२।६, ७।११ चू २।८	भाव	अभिप्राय
भाव	६।३।१	भावय्	भावित होना
भावतेण	५।२।४६	भावस्तेन	दूसरों की भावना या जानकारी को अपनी बताने का ढोंग करने वाला
भावसंधय	६।४सू ७श्लो ५	भावसन्धक	आत्मलीन
भावियप्प	६।३।१० चू १श्लो १	भावितात्मन्	आत्म-स्थामी जिसकी आत्मा भावना से भावित हो
भास	६।१।	भस्म	राख
भास	७।१ २	भाष्	बोलना
भासंत	४।७	भाष्यमाण	बोलता हुआ
भासमाण	४।६ ५।१।१४ ८।४६		"
भासा	७।१ ४ ७ ११ २६,५६ ८।४७ ४८ ६।३।६	भाषा	मनोगत भावों को वचन-योग के द्वारा प्रकट करने का साधन
भासिय	५।२।४६ ६।२५, चू०२।१	भाषित	कहा हुआ
भासुर	६।१।१५	भास्वर	तेजोमय प्रकाशयुक्त
भिंद	४सू १८ ८।४ ६।१।६	भिद्	भेदन करना
भिंदंत	४सू १८	भिंदत्	भेदन करता हुआ
भिक्खा	५।१।१ ६६,५।२।५	भिक्षा	भिक्षा
भिक्खु	४सू १८ से २३ ५।१।६६,८७ ५।२।४ ५,६, २५,३६,३८,५ ६।६१	भिक्षु	संन्यासी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मणुण्ण	८।५८	मनोज्ञ	प्रिय
मणुय	४।सू०६,७।५०,चू०१।सू०१	मनुज	मनुज
मणोसिला	५।१।३३	मनःशिला	मैनसिल
मत्त	१०।१७	मत्त	मदोन्मत, मद-सहित
मत्त	६।५१	अमत्र	पात्र
मत्थयत्थ	४।२५,२६	मस्तकस्थ	अग्र भाग मे स्थित
मद्दव	८।३८	मार्दव	नम्रता
मन्न	६।३६,६६,१०।५	मन्	मानना
ममत्त	चू०२।८	ममत्व	ममकार
ममाइय	६।२१	ममायित	ममत्व
ममाय	६।४८	ममाय्	ममत्व करना, लेना
मय	६।४।सू०४श्लो०२,१०।१६	मद	गर्व
मया	६।१।१	माया	कपट
मरण	२।७,६।४।श्लो०७,१०।१४,२१	मरण	मौत
मरणत	५।२।३६,४१,४४	मरणान्त	मृत्यु-काल
मरिज्जिउ	६।१०	मर्तुम्	मरने के लिये
मल	८।६२	मल	कर्म-मल
	६।३।१५	,,	मल
मल्ल	३।२	माल्य	माला
मसाण	१०।१२	श्मशान	श्मशान
मह	५।१।६६,६।१६,१०।२०,चू०१।श्लो०१०	महत्	महान्
महग्घ	७।४६	महार्घ	बहुमूल्य
महप्प	८।३३	महात्मन्	महात्मा
महब्भय	६।३।७,१०।१४	महाभय	महाभय
महल्ल	७।२६,३०	महत्	महान्
महल्लग	५।२।२६,६।३।१२	,,	बडा, बूढा
महल्लय	७।२५	,,	बढा
महव्वय	४।सू०११ से १५,१७,१०।५	महाव्रत	महाव्रत
महाकाय	७।२३	महाकाय	विशालकाय, बडे शरीर वाला
महागर	६।१।१६	महाकर	महान् गुणों की खान
महाफल	८।२७	महाफल	महान् फल का हेतु
महायस	६।२।६,६,११	महायशस्	महान् यशस्वी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भोच्चाणं	५।२।२	भुक्त्वा	खाकर
भोत्तुं	२।६-५।१।८७	भोक्तुम्	खाने के लिये
भोग	२।३-७।११ १७	भोग	भोग
भोयण	५।१।२७ २८ ३१ ६६,४२,६८-५।२ २६ ३१ ६।२२ ८।१६,२३ ५६	भोजन	भोजन
भोयणजाय	५।१।७४	भोजन-जात	खाद्य-प्रकार
भोयराय	२।८	भोजराज	एक राजा का नाम
		म	
मइ	५।१।७६,६।२।२२-चू०२।१	मति	बुद्धि
मइय	७।२८	देशी	मतिक—बोए हुए बीजों को ढांकने का एक काष्ठ-उपकरण, खेती का एक औजार
मंगल	१।१	मङ्गल	मंगल
मंच	५।१।६७	मञ्च	मचान
	६।५३	"	खाट
मंत	८।५ -९।१।११	मन्त्र	मंत्र
मंथु	५।१।९८	मन्थु	बेर आदि का सत्तू
	५।२।२४		चूर्ण
मंद	५।१।२	मन्द	धीमे
	९।१।२,३४		अल्प बुद्धि
मगदंतिया	५।२।१४ १६	देशी (मदयन्तिका)	मालती पुष्प मेंहदी का पत्ता, मोगरे का फूल
मग्ग	५।१।६-चू २।११	मार्ग	मार्ग
मच्छ	चू १श्लो ६	मत्स्य	मच्छ
मज्ज	८।१ -९।१मू०१श्लो २	मद्	मद करना
मज्जग	५।२।३६	मादक	मादक
मज्जप्पमाय	५।२।४२	मद्य-प्रमाद	मद्यपानरूपी प्रमाद
मज्झ	७।५५;५।१।१४ १५-चू १सू १ चू १श्लो १५	मध्य	बीच में
मट्टिया	५।१।३३	मृत्तिका	कीचड़
मड	७।४१	मृत	मरा हुआ
मण	१।१;४।सू०१८ सू १ से १६,१८, से २१ ५।२।३१ ६।२६,२६,४० ४१ ८।१० १६,२८;९।१।१२ १३ चू १श्लो १५	मनस्	चित्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मणुण्ण	८।५८	मनोज्ञ	प्रिय
मणुय	४।सू०६,७।५०,चू०१।सू०१	मनुज	मनुज
मणोसिला	५।१।३३	मन'शिला	मैनसिल
मत्त	१०।१७	मत्त	मदोन्मत, मद-सहित
मत्त	६।५१	अमत्र	पात्र
मत्थयत्थ	४।२५,२६	मस्तकस्थ	अग्र भाग मे स्थित
मद्दव	८।३८	मार्दव	नम्रता
मन्न	६।३६,६६,१०।५	मन्	मानना
ममत्त	चू०२।८	ममत्व	ममकार
ममाइय	६।२१	ममायित	ममत्व
ममाय	६।४८	ममाय्	ममत्व करना, लेना
मय	६।४।सू०४श्लो०२,१०।१६	मद	गर्व
मया	६।१।१	माया	कपट
मरण	२।७,६।४।श्लो०७,१०।१४,२१	मरण	मौत
मरणत	५।२।३६,४१,४४	मरणान्त	मृत्यु-काल
मरिज्जिउ	६।१०	मर्तुम्	मरने के लिये
मल	८।६२	मल	कर्म-मल
	६।३।१५	,,	मल
मल्ल	३।२	माल्य	माला
मसाण	१०।१२	श्मशान	श्मशान
मह	५।१।६६,६।१६,१०।२०,चू०१।श्लो०१०	महत्	महान्
महग्घ	७।४६	महार्घ	बहुमूल्य
महप्प	८।३३	महात्मन्	महात्मा
मह०भय	६।३।७,१०।१४	महाभय	महाभय
महल्ल	७।२६,३०	महत्	महान्
महल्लग	५।२।२६,६।३।१२	,,	बडा, बूढा
महल्लय	७।२५	,,	बडा
महव्वय	४।सू०११ से १५,१७,१०।५	महाव्रत	महाव्रत
महाकाय	७।२३	महाकाय	विशालकाय, बडे शरीर वाला
महागर	६।१।१६	महाकर	महान् गुणों की खान
महाफल	८।२७	महाफल	महान् फल का हेतु
महायस	६।२।६,६,११	महायशस्	महान् यशस्वी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
महायारकहा	६	महाचार-कथा	दशवैकालिक का छट्ठा अध्ययन
महल्लय	७।३१	महत्	बहु विस्तार वाला
महावाय	६।१।८	महावात	तूफान
महावीर	४सू०१ २ ३ ६।८	महावीर	चौबीसवें तीर्थंकर, महावीर
महि	३।१।३ ६।२४	महि	पृथ्वी
महिड्डिय	९।४श्लो ७	महर्द्धिक	महान् ऋद्धि वाला
महिया	४सू १९,५।१।८	मिहिका	कुहरा धूंअर
महु	५।१।९७	मधु	शहद
महुकार	१।५	मधुकार	भौंरा
महुर	५।१।९७	मधुर	मीठा
महेसि	३।१ १ १३ ५।१।९६,८।२० ४८ ८।२ ९।१।१६;चू १श्लो १०	महर्षि महैषिन्	महान् ऋषि मोक्ष की खोज करने वाला
मा	२।८ ५।२।३१ ७।५० ५१	मा	मत निषेध नहीं
माउल	७।१८	मातुल	मामा माता का भाई
माउलिंग	५।२।२३	मातुलिङ्ग	बिजौरा
माउस्सिया	७।१५	मातृष्वसृ	मौसी
माण	५।२।३५,८।३६,३७ ३८,३९ ९।४सू ४श्लो २	मान	आदर अहंकार
माण	९।३।१२	मानय्	सम्मान करना
माणरिह	९।३।११	मानार्ह	पूजा के योग्य सम्मान्य
माणव	७।२२,४४	मानव	मानव
माणस	चू १श्लो १८;चू०२।१४	मानस	मन-सम्बन्धी
माणिय	चू १श्लो ५	मान्य	माननीय
माणिय	९।३।१३	मानित	पूजित
माणुस	४सू १४ ४श्लो १६,१७	मानुष	मनुष्य-सम्बन्धी
मामग	५।१।१७	मामक	'मेरे यहाँ मत आओ" इस प्रकार निषेध करने वाले का कुल
माया	५।२।१	माया	माया
माया	८।१६,३७ ३८,३९	माया	माया
मायण्ण	५।२।१ २६	मात्रज्ञ	भोजन-पानी आदि की मात्रा को जानने वाला
मायामोसा	५।२।१८ ४९,८।४६	माया-मृषा	छलना-सहित असत्य
मायासल्ल	५।२।३५	मायाशल्य	मायारूपी शल्य
मारुय	८।२	मारुत	हवा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मार	६।१।७	मारय्	मारना
मालोहड	५।१।६९	मालापहृत	ऊपर के माले या निचले तले से लाया हुआ
माहण	५।२।१०,६।२	माहन, ब्राह्मण	ब्राह्मण
मिअ	६।२।३	मृग	भोला, अज्ञानी
मिच्छा	६।१।२	मिथ्या	मिथ्या
मित्त	८।३७	मित्र	मित्र
मिय	५।१।२४,७।५५,८।१९,४८	मित	परिमित
मियासण	८।२९	मिताशन	परिमित आहार करने वाला, मितभोजी
मिहोकहा	८।४१	मिथ कथा	रहस्यपूर्ण बातचीत, विलास-सम्बन्धी बातचीत
मीसजाय	५।१।५५	मिश्रजात	गृहस्थ और साधु दोनों के लिये एक साथ पकाया हुआ भोजन
मुअ	६।४।श्लो०७,चू०२।१६	मुच्	छोड़ना
मुच	७।४५,६।३।११	मुञ्च	छोड़ना
मुड	४।१८,१९,६।६४	मुण्ड	शिर-मुण्डित
मुक्क	६।१।१५	मुक्त	मुक्त
मुच्छा	६।२०	मूर्च्छा	ममत्व
मुच्छिय	चू०१।श्लो०१	मूर्च्छित	मूर्च्छित
मुणालिया	५।२।१८	मृणालिका	कमल की नाल का तन्तु
मुणि	५।१।२,११,१३,२४,८८,९३,५।२।९, ३४,६।१५,७।४०,४१,५५,८।७,८, ४४,४९,६।३।१४,१५,१०।१३,२० , चू०२।९	मुनि	मुनि
मुत्त	१।३	मुक्त	मुक्त
मुत्त	५।१।१९	मूत्र	प्रस्रवण
मुत्तूण	६।२।२०	मुक्त्वा	छोड़कर
मुम्मुर	४।सू०२०	मुर्मुर	जिसमे विरल अग्नि कण हो वह भस्म
मुसा	४।सू०१२,६।११	मृषा	असत्य
	७।२,५	,,	मृषाभाषा
मुसावाय	४।सू०१२,६।१२	मृषावाद	असत्य वचन
मुह	४।सू०२१	मुख	मुख
मुहाजीवि	५।१।९९,१००,८।२४	मुधाजीविन्	अनिदान जीवी, अनासक्त भाव से जीने वाला
मुहादाइ	५।१।१००	मुधादायिन्	भौतिक फल की इच्छा किये विना देने वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मुहालद्ध	५।१।९९	मुधालब्ध	तन्त्र-मंत्र आदि किये बिना प्राप्त, अनायास भाव से प्राप्त
मुहुत्त दुक्ख	९।३।७	मुहूर्त दुःख	मुहूर्त मात्र दुःख देने वाला
मूल	३।७;५।१।७०	मूल	जड़
	६।१६-८।१० ६६	,,	मूल हेतु
	९।२।१ २		भूमि के नीचे वृक्ष का वह भाग जिससे इसको पोषण मिलता रहे
मूलय	३।७	मूलक	मूला
मूलग	५।२।२३	मूलक	मूली की फली
मूलगत्तिया	५।२।२३	मूलकर्तिका मूलक-पोतिका	मूली की पतली फाँक बालमूली
मूलबीय	४सू०८	मूलबीज	वह वनस्पति जिसका मूल ही बीज हो
मेत्त	६।१३	मात्र	प्रमाणार्थक एक प्रत्यय
मेरग	५।२।३६	मेरक-मैरेयक	वह मद्य जो पहली बार खींचा गया हो सरका
मेह	७।५२	मेघ	मेह
मेहावि	५।१।८३;५।२।४२,४६-८।१४;९।१।१७; ९।३।१४	मेधाविन्	मर्यादा को जानने वाला
मेहुण	४सू १४ ६।१६,६४	मैथुन	मैथुन
मोक्ख	३।१५,१६;५।१।९२,९।१८,७।६,१ ९।२।२,२२;चू १सू १	मोक्ष	मुक्ति
मोसा	६।१२	मृषा	असत्य
मोह	चू १सू०८	मोह	श्रद्धा और चरित्र को मूढ़ करने वाले कर्म पुद्गल

य

य	१।२	च	और
याण	७।१२;५।२।४०	ज्ञा	जानना

र

रइवक्का		रतिवाक्या	दशवैकालिक की प्रथम चूलिका
रमणिज्ज	चू २।१६	रमणीय	रमणीय

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
रज्ज	चू०१।श्लो०४	राज्य	राज्य
रण्ण	४।सू०१३,१५	अरण्य	अरण्य
रम	८।४१,९।१।१०,चू०१।श्लो०६,११	रम्	रमण करना, लगना
रय	१।३,५,४।२७,५।२।२६,६।१,१७,६७, ७।४६,८।४१,६२,९।३।५,१४,९।४। सू०५श्लो०३,९।४।सू०६श्लो०४,९।४। सू०७ श्लो०५,१०।६,१२,१४,१६, चू०१।श्लो०१०,११	रत	लीन
रय	४।२०,२१,५।१।७२	रजस्	रजकण
	६।३।१५	,,	कर्म-परमाणु
रयहरण	४।सू०२३	रजोहरण	ओघा
रस	१।२	रस	पराग, फूलों का रस
	५।२।३६	,,	मादक रस
	५।२।४२,१०।१७	,,	दूध-दही आदि स्निग्ध पदार्थ
	६।२।१	,,	फल का द्रव भाग
रसदया	७।२५	रसदा	दूध देने वाली
रसनिज्जूढ	८।२१	रसनिर्यूढ	रस-रहित
रसय	४।सू०९	रसज	रस मे उत्पन्न होने वाला जीव
रस्सि	चू०१।सू०१	रश्मि	लगाम
रह	९।२।१९	रथ	रथ
रहजोग्ग	७।२४	रथयोग्य	रथ के जुतने योग्य
रहस्स	५।१।१६	रहस्य	गुप्त स्थान
रहस्स	७।२५	ह्रस्व	छोटा
राइ	४।सू०१६	रात्रि	रात
राइणिय	८।४०,९।३।३	रात्निक	पूजनीय, दीक्षा-ज्येष्ठ
राइभत्त	३।२	रात्रिभक्त	रात्रि-भोजन
राइभोयण	४।सू०१६,१७,६।२५	रात्रिभोजन	रात मे जीमना
राओ	४।सू०१८ से २३,६।२३,२४	रात्री	रात मे
राग	२।४,५,८।५७,९।३।११	राग	राग
राय	५।१।१६,६।२,चू०१।श्लो०४	राजन्	राजा
रायपिंड	३।३	राजपिण्ड	राजा का आहार
रायमच्च	६।२	राजामात्य	राजा का मन्त्री
रासि	५।१।७	राशि	ढेर, समूह
रिऊ	३।१३	रिपु	शत्रु
रिद्धिमत	७।५३	ऋद्धिमत्	वैभव-युक्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
लह	७।५५,८।४२	लभ्	पाना, लाभान्वित होना
लहुत्त	५।२।१२	लघुत्व	लघुता, हल्कापन
लहुभूयविहारी	३।१०	लघुभूत-विहारिन्	उपकरण और भावना से हल्का होकर विहार करने वाला
लहुस्सग	चू०१।सू०१	लघुस्वक	तुच्छ
लाइम	७।३४	लवनीय	काटने योग्य
लाभ	८।२२,३०, १०।१६	लाभ	प्राप्ति
लाभमट्ठिअ	५।१।९४	लाभार्थिक	आध्यात्मिक लाभ का अर्थी
लुद्ध	५।२।३२	लुब्ध	आसक्त
लूस	५।१।६८	लूषय्	तोडना
लूसिए	१०।१३	लूषित	कटा हुआ
लूहवित्ती	५।२।३४,८।२५	रूक्षवृत्ति	सयमनिष्ठ, रुक्ष भोजन करने वाला
लेलु	४।सू०१८,८।४	लेष्टु	मिट्टी का ढेला
लेव	५।१।४५,५।२।१	लेप	मिट्टी आदि का लेप
लोग	४।२२,२३,२५,६।१२,७।५७,६।२।७	लोक	ससार
	चू०२।३	,,	लोग
लोण	३।८,५।१।३३,६।१७	लवण	साभर का नमक
लोद्ध	६।६३	लोध्र	लोध—एक सुगन्धित द्रव्य
लोभ	५।२।३१,६।१८,८।३६,३७,३८,३९	लोभ	लोभ
लोए	१।३,६।५,९,१५,७।४८,५७,चू०२।१५	लोक	लोक
लोह	४।सू०१२,७।५४	लोभ	लालच
व	५।१।५	वा	अथवा
व	१।३,८।६१,६२,६३,६।३।१३,चू०१। श्लो०३,४,७,१२,१७	इव	तरह
वइ	८।४९	वाच्	वाणी
वइमय	६।३।६	वाङ्मय	वाणीमय
वत	२।७,१०।१,चू०१।सू०१	वान्त	वमन किया हुआ
वतय	२।६	वान्तक	,, ,, ,,
वद	५।२।३०,६।२।१७	वन्द्	प्रणाम करना, स्वागत करना
वदण	चू०२।९	वन्दन	वन्दना
वदमाण	५।२।२९	वन्दमान	नमस्कार करता हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वंदिअ	५।२।३	वन्दित	वन्दना, नमस्कार पाया हुआ
वंदिम	चू १।श्लो०३	वन्द्य	वन्दनीय
वक्क	८।३,९।३।२	वाक्य	वचन
वक्ककर	९।३।१	वाक्यकर	आज्ञाकारी
वक्कसुद्धि	७	वाक्यशुद्धि	दशवैकालिक का सातवाँ अध्ययन
वच्च	५।१।१९,२५	वर्चस्	मल उच्चार
वच्छगा	५।१।२२	वत्सक	बछड़ा
वज्ज	५।१।११ ५५ ५।२।४२ ६।१० ११ २८ ३१ ३१ ३९,४२ ४५,४९;७।४१ १ ।२	वर्ज्य्	वर्जना
वज्जंत	५।१।३	वर्जयत्	वर्जता हुआ
वज्जिय	५।१।९	वर्जित	रहित
वज्झ	७।२२,३६	वध्य	मारने योग्य
वट्ट	७।११	वृत्त	गोल
वट्ट	९।१।३	वृत्	वर्तना
वड्ढ	५।२।३८ ८।३५	वर्ध	बढ़ना
वज्जण	५।१।११ ६।२८ ३१ ३५,३९,४२,४५, ५८ ८।३६	वर्जन	वर्जना
वण	७।२६,३०	वन	वन
वणस्सइ	४।सू ८ ६।४ ४१ ४२	वनस्पति	वनस्पति
वणस्सइकाइय	४।सू ३	वनस्पतिकायिक	वनस्पति शरीर वाला जीव
वणिमग	५।१।५१	[illegible]	कृपण
वणीमग	५।२।१ १२ ६।५७	[illegible]	कृपण
वण्ण	९।४।सू ६ ७	वर्ण	प्रशंसा
वण्णिय	६।२२	वर्णित	वर्णन किया हुआ
वण्णिया	५।१।३४	वर्णिका	पीली मिट्टी
वत्तव्व	७।११	वक्तव्य	वाच्य, बोलने योग्य
वत्ति	चू १।श्लो १५	वृत्ति	वृत्ति
वत्थ	२।२;४।सू १८ १९,२३;५।२।२८	वस्त्र	वस्त्र
वत्थिकम्म	३।९	वस्तिकर्मन्	एनिमा लेना
वमण	३।९	वमन	वमन
वम	८।३६;१ ।६	वम्	छोड़ना
वय	४।सू १२;७।६	वद	बोलना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वय	४।सू०१६,५।१।१०,६।७,६२	व्रत	व्रत
वय	५।२।२६,६।११,७।६,६,१२,२२,२५, ३१,३२,३३,३४,३६,३८,४३,४४,५०, ५१,५२,५४,५६,६।२।१६,१८,१०।१८	वद्	बोलना
वय	५।२।४६,६।१७,२६,२६,४०,४३,१०।७	वचस्	वचन
वय	७।४७	व्रज्	जाना
वयत	४।सू०१२	वदत्	कहता हुआ
वयण	२।१०,८।३३,६।२।१२,६।३।८,१०।५	वचन	वचन
वयणकर	६।२।१२	वचनकर	आज्ञाकारी
वयतेण	५।२।४६	वचस्स्तेन	वाक्-पटुता के द्वारा बहुश्रुत होने का दिखावा करने वाला
ववेय	चू०१।श्लो०१२	व्यपेत	रहित
वस	२।१,१०।१	वश	अधीन
वस	चू०२।६,११	वस्	रहना
वसत	चू०१।सू०१	वसत्	रहता हुआ
वसाणुअ	५।१।६	वशानुग	वशवर्ती
वसुल	७।१४,१६	देशी	वृषल—अपमान सूचक शब्द, शूद्र
वसुला	७।१६	देशी	वृषला, मधुर-आमन्त्रण
वह	६।१०,४८,५७,६।१।१,६।२।१४, चू०१।सू०१	वध	घात
वह	६।२।१६	वह्	वहन करना
वहण	१०।४	हनन	वध
वा	४।११	वा	अथवा
वा	चू०१।श्लो०२	इव	तरह
वाउ	४।सू०७	वायु	हवा
वाउकाइय	४।सू०३	वायुकायिक	वायु शरीर वाला जीव
वाउकाय	६।३६	वायुकाय	,, ,, ,, ,,
वाय	२।६,६।३८,७।५१,चू०१।श्लो०१७	वात	हवा
वाय	४।सू०१२	वाचय्	बोलना
वाय	१०।१५	वाच्	वाणी
वायत	५।१।८	वात्	चलता हुआ
वाया	४।सू०१० से १६, १८ से २३,८।१२, ३३,६।३।७,१०।१५,चू०१।श्लो०१८, चू०२।१४	वाच्	वाणी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वारधोयण	५।१।७५	वारधावन	गुड़ के घड़े का धोया हुआ पानी
वारय	५।१।७५	वारक	छोटा घड़ा
वास	५।१।८	वर्ष	वर्षा
	चू २।११		वय
वास	चू०।सू १	वास	रहना
वासंत	५।१।८	वर्षत्	बरसता हुआ
वाससइ	८।५५	वर्षशतिका	सौ वय की स्त्री
वासा	३।१२	वर्षा	बरसात
वाहि	८।३५	व्याधि	रोग
वाहिम	७।२४	वाह्य	वहन करने योग्य
वाहिय	६।६,५९,६० ७।१२	व्याधित	रोगी
विइत्ता	९।१।२	विदित्वा	जानकर
विइत्तु	१ ।१४		
विउल	५।२।४२ ९।४श्लो०६	विपुल	विस्तीर्ण
विउलट्ठाणभाइ	६।५	विपुलस्थानभागिन्	संयम-सेवी
विउहित्ताण	५।१।२२	व्यूह्य	हटाकर
विकत्थ	९।३।४	वि+कत्थ्	प्रशंसा करना
विक्कय	७।४५ १ ।४५	विक्रय	बेचना
विक्कायमाण	५।१।७२	विक्रीयमाण	बेचा जाता हुआ
विक्खसिय	८।४९	विस्खसित	स्खलित
विगप्पिय	८।५५	विकल्पित	छिन्न
विगलितेंदिय	९।२।७	विकलितेन्द्रिय	इन्द्रियहीन
विग्गहओ	८।५१	विग्रहतस्	शरीर से
विजाण	७।२१	वि+ज्ञा	जानना
विज्जमाण	५।१।४	विद्यमान	होता हुआ
विज्जल	५।१।४	विज्जल	कीचड़
विज्झाय	चू १श्लो १२	विध्यात	बुझा हुआ
विडिम	७।३१	विटपिन्	वह वृक्ष जिसके टहनियाँ निकल आई हों
विणय	५।१।८८	विनय	गुरु आदि बड़ों के आने पर खड़ा होना, वन्दना करना
	८।४० ९।१।१ ९।२।२,४ २२,२३		नम्रता आचार
	९।३।२,३ ९।४सू १श्लो०१		
	७।१		विशुद्ध प्रयोग यथार्थ प्रयोग

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विणय समाहि	९	विनय-समाधि	दशवैकालिक का ९ वा अध्ययन
	९।४।सू०१,२,३,४,	,,	विनय-समाधि
विणास	८।३७	वि+नाशय्	नाश करना
विणासण	८।३७	विनाशन	विनाशक
विणिगूह	५।२।३१	वि+नि+गूह्य	छुपाना
विणिच्छय	८।४३	विनिश्चय	निश्चय
विणिज्झा	५।१।१५,२३	वि+नि+ध्यै	देखना
विणित्तए	५।१।७८,७९	विनेतुम्	दूर करने के लिये
विणिय	९।२।२१	विनीत	विनीत
विणियट्ट	२।११,८।३४	वि+नि+वृत्	निवृत्त होना
विणी	२।४,५	वि+नी	दूर करना
विणीयतण्ह	८।५९	विनीततृष्ण	तृष्णा-रहित
वितह	७।४	वितथ	अयथार्थ
वित्ति	१।४,५।१।९२,५।२।२६	वृत्ति	जीवन-निर्वाह का साधन
	९।२२	,,	देह-पालन
विन्नाय	४।सू०९	विज्ञात	विदित
विन्नाय	८।५८	विज्ञाय	जानकर
विप्पइण्ण	५।१।२१	विप्रकीर्ण	छितरा हुआ
विप्पमुक्क	३।१	विप्रमुक्त	वाह्य और अन्तर्परिग्रह से मुक्त
विपिट्ठिकुव्व	२।३	विपृष्टी+कृ	ठुकराना
विभूसण	३।९	विभूषण	विभूषा
विभूसा	६।४६,८।५६	विभूषा	शृङ्गार, शोभा
विभूसावत्तिय	६।६५,६६	विभूषाप्रत्यय, प्रत्ययिक	विभूषा के निमित्त से होने वाला
विमण	५।१।८०	विमनस्	अन्यमनस्क
विमल	६।६८, ९।१।१५	विमल	स्वच्छ
विमाण	६।६८	विमान	देवताओ का निवासस्थान
विय	८।४८	व्यक्त	प्रकट
वियक्खण	५।१।२५,६।३,८।१४	विचक्षण	पण्डित
वियड	५।२।२२	विकट	शुद्धोदक
	६।६१	,,	जल
वियडभाव	८।३२	विकटभाव	स्पष्टता
वियत्त	६।६	व्यक्त	परिपक्व अवस्था वाला
वियागर	७।३७,४५,४६	वि+आ+कृ	वोलना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वियाण	४।११ १४;५।२।३७,१०।१५	वि+ज्ञा	जानना
वियाणंत	४।१२	विजानत्	जानता हुआ
वियाणित्ता	५।१।११ ६।२८ ३१ ३५,३६,४२,४५	विज्ञाय	जानकर
वियाणिया	८।३४ ६।३।११ चू०१श्लो०१८		
विरय	४सू०१८ से २३	विरत	पाप से निवृत्त विरक्त
विरस	५।१।६८ ५।२।३३ ४२ १०।१६	विरस	विकृत रसवाला
विराय	८।६१ ६।१।१४	वि+राज्	शोभित होना
विरालिया	५।२।१८	विरालिका	पलाश का कन्द और विराली
विराह	५।२८	वि+राधय्	विराधना करना
विरुह	६।२।१	वि+रुह्	उगना प्ररोहित होना
विरेयण	३।६	विरेचन	जुलाब
विलिह	४सू १८	वि+लिख्	विशेष रेखा खींचना
विलिहंत	४सू १८	विलिखत्	विशेष रेखा खींचता हुआ
विवज्ज	५।१।१५,३६,७५;५।२।४१ ४३ ४६, ६।२५-३४ ७-८।४१ ४६,५५;चू०२।१२	वि+वर्जय्	वर्जना
विवज्जइत्ता	१।१६	विवर्ज्य	छोड़कर
विवज्जंत	६।४६	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जग	चू २।५,६	विवर्जक	वर्जने वाला
विवज्जयंत	१०।३-चू २।१	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जिय	६।५५	विवर्जित	छोड़ा हुआ
	८।५१		रहित
विवज्जेत्ता	५।२।४	विवर्ज्य	छोड़कर
विवड्ढण	८।५७	विवर्धन	बढ़ाने वाला
विवण्ण	५।२।३३	विवर्ण	असार, विकृत वर्ण वाला निकृष्ट
विवण्णछंद	६।२।८	विपन्नच्छन्दस्	परवश
विवत्ति	६।२।७,६।२।२१	विपत्ति	विनाश
विवित्त	८।५२	विविक्त	एकान्त
विवित्तचरिया	चू २	विविक्तचर्या	दशवैकालिक की दूसरी चूलिका
विविह	३।१।३६;५।२।२७,३३ ६।२७,३ ४१ ४४-८।१ १२ ६।४सू ६श्लो ४१ ।८ ६,१२-चू १श्लो १८	विविध	अनेक प्रकार
विस	८।५६ ६।१।६-चू १श्लो १२	विष	जहर
विसम	५।१।४	विषम	ऊबड़-खाबड़

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
विसय	८।५८	विषय	इन्द्रियो द्वारा गृहीत होने वाले स्पर्श, रस आदि
विसीअ	५।२।२६	वि+षद्	खिन्न होना
विसीदत	२।१	विषीदत्	खिन्न होता हुआ
विसुज्झ	८।६२	वि+शुध्	शुद्ध करना
विसुद्ध	६।३।४	विशुद्ध	विशुद्ध
विसोत्तिया	५।१।९	विश्रोतसिका	स्रोत बन्द होने के कारण प्रवाह का मुडना, चित्त-विप्लुति, सयम से मन का मुडना
विसोहिठाण	६।१।१३	विशोधि-स्थान	पवित्रता का स्थान, कर्म-मल को दूर करने का स्थान
विह	६।४।सू०४	विध	प्रकार
विहगम	१।३	विहगम	भौरा
विहम्म	चू०१।श्लो०७	वि+हन्	सपीडित होना
विहर	४।सू०१७,५।२।५०,८।५९,चू०२।१०	वि+हृ	विहार करना
विहारचरिया	चू०२।५	विहारचर्या	रहन-सहन
विहि	५।२।३	विधि	रीति, प्रकार, व्यवस्था
विहिंस	५।१।६८	वि+हिंस्	मारना
विहिंसत	६।२७,३०,४१,४४	विहिंसत्	मारता हुआ
विहुयण	४।सू०२१,६।३७,८।९	विधुवन	पखा
वीअ	४।सू०२१,८।९,१०।३	व्यज्	पखा झलना
वीइउ	४।सू०२१	वीजितुम्	हवा करने के लिये
वीयण	३।२	वीजन	पखा
वीयाव	१०।३	वीजय्	पखा झलाना
वीयावेउण	६।३७	वीजयितुम्	हवा करवाने के लिये
विसम	५।१।९३	वि+श्रम्	विश्राम करना
वीसमत	५।१।९४	विश्राम्यत्	विश्राम करता हुआ
वुग्गह	७।५०	व्युद्ग्रह	कलह, लडाई
वुग्गहिय	१०।१०	व्युद्ग्राहिक, वैग्राहिक	कलह-कारक
वुच्च	१।३,७।४८	वच्	बोलना
वुज्झ	६।२।३	वह्	बहाया जाना
वुट्ठ	७।५१,५२,८।६	वृष्ट,	वर्षा हुआ
वुत्त	६।५,२०,४८,५४,८।२,६।२।१९	उक्त	कथित
वेणइय	६।१।१२	वैनयिक	विनय

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वेय	९।४सू०४	वेद	श्रुत-ज्ञान
वेयइत्ता	चू०१सू० १	वेदयित्वा	जानकर
वेयावडिय	३।६,चू०२।६	वैयापृत्य	सेवा
वेर	९।३।७	वैर	वैर
वेरमण	४सू०११ से १७ तक	विरमण	निवृत्त होना
वेलुय	५।२।२१	वेणुक	बांस करीर
वेलोइय	७।३२	वेलोचित	अविलम्ब तोड़ने योग्य
वेस	५।१।९,११	वेश	वेश्या का पाड़ा
वेहिम	७।३२	वेध्य द्वैधिक	दो टुकड़े करने योग्य फांक करने योग्य
वोक्कंत	६।६	व्युत्क्रान्त	उल्लंघित
वोसट्ठ	५।१।९३	व्युत्सृष्ट	कायोत्सर्ग में स्थित
वोसट्ठचत्तदेह	१०।१३	व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह	देह का व्युत्सर्ग और त्याग करने वाला
वोसिर	४सू० १० से १६, १८ से २२;५।१।९३	वि+उत्+सृज्	छोड़ना
व्व	२।९;८।४ चू०१।श्लो०१६	इव	तरह

स

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
स	४सू० ८;७।१७;१८;५।१।८७;६।६;८।२ चू २।१	स	सहित
सअ	५।१।५	सत्	होता हुआ
सआ	६।६८	सदा	सदा
सइं	५।२।२	सकृत्	एक बार
सइकाल	५।२।६	स्मृतिकाल	वह समय जब गृहस्थ भिक्षा देने के लिये मुनि को याद करे, भिक्षा का उचित काल
सइत्तु	६।५४	स्वप्तुम्	सोने के लिये
संकट्ठाण	५।१।१५	शङ्का-स्थान	आशंका का स्थान
संकण	६।५८	शङ्कन	शंका
संकप्प	२।१;चू १सू १	संकल्प	संकल्प
संकम	५।१।४	संक्रम	पुल, जल को लांघने के लिये रखा गया काष्ठ या पत्थर
	५।१।६५	"	पार करना
संका	७।९	शङ्का	संदेह
संकिय	५।१।४४;७।५,७	शङ्कित	संदिग्धोक्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सकिलेस	५।१।१६	सक्लेश	क्लेश
सकुचिय	४।सू०६	सङ्कुचित	सिकुडना
सखडि	७।३६,३७	सस्कृति	जीमनवार, भोज
सग	१०।१६	सङ्ग	आसक्ति
संघट्टइत्ता	६।२।१८	सघट्य	स्पर्श करके
सघट्ट	८।७	स+घट्ट	छूना
सघट्टिया	५।१।६१	सघट्य	छूकर
सघाय	४।सू०२३	सघात	एकत्रित, सहतिरूप से अवस्थान
सजइदिय	१०।१५	सयतेन्द्रिय	जिसकी इन्द्रियाँ सयत हों
सजम	१।१,२।८,३।१,१०,४।१२,१३,२७, ६।१,८,१६,४६,६०,६७,७।४६,८।४०, ६१,६।१।१३,१०।७,१०,चू०१।सू०१	सयम	सयम—इन्द्रिय और मन का नियमन
सजमजीविय	चू०२।१५	सयमजीवित	सयम-प्रधान जीवन
सजय	२।१०,३।११,१२,४।सू०१८ से २२, ४।श्लो०१०,५।१।५,६,७,२२,४१,४३, ४८,५०,५२,५४,५६,५८,६०,६२,६४, ६६,७७,८३,८६,६७,५।२।१,८,६,१०, ११,१३,१५,१७,२८,५०,६।१४,२६, २६,३४,४०,४३,७।४६,५६,८।३,४,६, १३,१४,१६,१८,२४	सयत	व्रती, सयमी, मुनि
	४।सू०२३	,,	
	१०।१५		
सजाय	७।२३	सजात	
सजोग	४।१७,१८	सयोग	
सठाण	८।५७	सस्थान	
सडिब्भ	५।१।१२	देशी	
सत	५।२।३१,६।१।११,	सत्	
सतअ	चू०१।श्लो०८	सन्तत	
सताण	चू०१।श्लो०८	सन्तान	
सतुट्ठ	५।२।३४	संतुष्ट	
सतोस	७।५	सन्तोष	
सतोसओ	[illegible]		

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
संथारग	४सू०२३	संस्तारक	अढ़ाई हाथ का बिछौना
संधि	५।१।१५	सन्धि	सेंध
संपडिलेहियव्व	चू०१सू०१	संप्रतिलेखितव्य	देखने योग्य
संपडिवज्ज	६।७सू०४	सं+प्रति+पद्	स्वीकार करना
संपडिवाइय	२।१	संप्रतिपादित	स्थापित
संपडिवाय	६।२।२०	सं+प्रति+पद्	करना
संपणोल्लिया	५।१।३०	संप्रणुद्य	हिलाकर
संपत्त	५।१।१	सम्प्राप्त	प्राप्त, आगत
संपत्ति	६।२।२१	सम्पत्ति	वैभव
संपन्न	६।१ ७।४९;८।५१	सम्पन्न	सहित
संपमज्जित्ता	५।१।८३	सम्प्रमृज्य	साफ कर
संपय	७।७	साम्प्रत	वर्तमान
संपराय	२।५	सम्पराय	परलोक, संसार
संपस्सिय	चू १श्लो०१८	संदृश्य	भलीभांति देखकर
संपहास	८।४१ १०।११	संप्रहास	अट्टहास
संपाविउकाम	६।१।१९	संप्राप्तुकाम	पाने की इच्छा वाला
संपिक्ख	चू २।१२	सम्+प्र+ईक्ष्	देखना
संपुच्छणा	३।३	संप्रश्न	कुशल पूछना
संफुस	४सू ११	सम्+स्पृश्	स्पर्श करना
संफुसंत	४सू ११	संस्पृशत्	स्पर्श करता हुआ
संबाहण	३।३	संबाधन	मर्दन
संबुद्ध	२।११	सम्बुद्ध	तत्त्वज्ञ
संभिन्नवित्त	चू १श्लो०१३	सम्भिन्नवृत्त	खण्डित चरित्र वाला
संमुच्छिम	४।२	सम्मूर्च्छिम	उभरा हुआ
संरक्खण	६।२१	संरक्षण	रक्षा
संलिह	८।४७	सम्+लिख्	कुरेदना
संलिहित्ताण	५।२।१	संलिख्य	चाट कर
संलुंचिया	५।२।१४	संलुञ्च्य	छेदन कर
संलोग	५।१।२५	संलोक	देखना
संवच्छर	चू २।११	संवत्सर	कालमान
संवर	३।११,२ ५।२।३९,४१ ४४ १०।५, चू २।४	संवर	आश्रव-निरोध
संवर	८।११	सम्+वृ	ढ़क्कर रोकना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सवहण	७।२५	सवहन	वहन करने वाला
सवुड	५।१।८३	सवृत	चारों ओर ढका हुआ
	६।४।सू०७ श्लो०५	,,	अनाश्रव
ससअ	५।१।१०, ६।३४	सशय	सन्देह
ससग्गि	५।१।१०, ६।१६, ८।५६	समर्ग	सपर्क
ससट्ठ	५।१।३४,३६	ससृष्ट	लिप्त
ससट्ठकप्प	चू०२।६	समृष्ट कल्प	खाद्य वस्तु से लिप्त कडछी आदि से आहार लेने की विधि
समक्त	६।२४	ससक्त	सलग्न
ससार	चू०२।३	ससार	ससार
ससारसायर	६।६५	समार सागर	ससाररूपी समुद्र
ससेइम	४।सू०६	सस्वेदज	सस्वेद से उत्पन्न होने वाला जीव
ससेइम	५।१।७५	संसेकिम	आटे का धोवन
सक्क	६।३।६	शक्य	साध्य
सक्कणिज्ज	चू०२।१२	शकनीय	शक्य
सक्करा	५।१।८४	शर्करा	वालु-कण
सक्कार	६।१।१२, ६।२।१५	सत्+कृ	सत्कार करना
सक्कारण	१०।१७	सत्करण	सत्कार
सक्कुलि	५।१।७१	शष्कुलि	तिल पपडी
सगास	५।१।८८,६०,५।२।५०,८।४४,६।१।१	सकाश	समीप
सच्चरय	६।३।१३	सत्यरत	सत्य लीन
सच्चवाइ	६।३।३	सत्यवादिन्	सत्य बोलने वाला
सच्चा	७।२,३,११	सत्या	सत्य भाषा
सच्चमोसा	७।४	सत्यामृषा	मिश्रभाषा—जिसमे सत्याश और असत्याश का मिश्रण हो
सच्चामोसा	७।२	,,	मिश्रभाषा—जिसमे सत्याश और असत्याश का मिश्रण हो
सच्चित्त	३।७,४।सू०२२,५।१।३०,५।२।१३, १६,१०।३	सचित्त	सजीव
सजोइय	८।८	सज्योतिष्	अग्नि सहित
सज्झाण	८।६२	सद्ध्यान	पवित्र ध्यान
सज्झाय	५।१।९३,८।४१,६१,६२,१०।६;चू०२।७	स्वाध्याय	स्वाध्याय
सढ	६।२।३	शठ	धूर्त
सत्त	४।सू०४ से ८	सत्त्व	अस्तित्व

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सत्ति	९।१।८ ९	शक्ति	भाला
सत्तुचुण्ण	५।१।७१	सक्तुचूर्ण	सत्तू का चूर्ण
सत्थ	६।३२ १ ।२	शस्त्र	मारने व हिंसा का साधन
	९।२।८	"	तलवार आदि
सत्थपरिणय	४सू०४ से ८	शस्त्रपरिणत	विरोधी शस्त्र के द्वारा आहत
सद्द	८।२६ १०।११	शब्द	शब्द
	९।४सू०६ ७		प्रशंसा
सद्धा	८।६०	श्रद्धा	श्रद्धा
सद्धिं	५।१।९५	सार्धम्	साथ में
सन्निर	५।१।७०	देशी	साकभाजी
सन्निवेस	५।२।५	सन्निवेश	गाँव
सन्निहि	३।३ ६।१७ १८ ८।२४	सन्निधि	खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह
सन्निहिओ	१०।१६	सन्निधितस्	सन्निधि से
सप्पि	६।१७	सर्पिष्	घी
सप्पुरिस	चू २।१५	सत्पुरुष	श्रेष्ठ पुरुष
सबीय	४सू ८	सबीज	बीज आदि दस अवस्थाओं से युक्त वनस्पति
सबीयग	४सू ८	सबीजक	बीज आदि दस अवस्थाओं से युक्त वनस्पति
सभिक्खु	१	सभिक्षु, सद्भिक्षुक	दशवैकालिक का दसवाँ अध्ययन
सम	१।५ २।४ ५।१।११ १ ।११ चू २।१	सम	समान
	१ ।५,११		तुल्य
समं	चू २।	समम्	साथ
समइक्कंत	चू १।श्लो १	समतिक्रान्त	बीता हुआ
समण	१।३ ४सू १ २ ३ ७।४२ ६।३।१।१० ४	श्रमण	साधु
	४६,५१ ६।७।५।२।१ ३४ ४० ४२		
समणधम्म	८।४२	श्रमणधर्म	साधुत्व
समणुजाण	४सू १ से १६,१८ से २३;६।४८	सम्+अनु+ज्ञा	अनुमोदन करना
समत्त	८।६१	समाप्त	सम्यक् प्रकार से प्राप्त
समाउत्त	७।४९	समायुक्त	समायुक्त
समागय	५।२।७	समागत	आया हुआ
समाण	चू १।श्लो १	समान	समान
समायर	७।११ ५।२।४ ८।२१ ३१ ३६;चू २।१२	सम्+आ+चर्	आचरण करना
समारंभ	३।४ ६।२८,३१ ३५,३६,३९,४२	समारम्भ	आरम्भ
	४५,५१		

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
समारभ	४।सू०१०	सम्+आ+रम्	हिंसा करना
समारभंत	४।सू०१०	समारम्भमाण	हिंसा करता हुआ
समावन्न	५।२।२	समापन्न	आया हुआ
	चू०१।सू०१	,,	व्याप्त
समावयंत	६।३।८	समापतत्	सामने आता हुआ
समासेज्ज	८।४५	समाश्रित्य	आश्रित करके
समाहि	६।१।१६, ६।४।सू०१,२,३,श्लो०६, चू०२।४	समाधि	समाधान
समाहिय	५।१।२६,६६, ८।१६,१०।१	समाहित	समाधि-सम्पन्न, समाधानयुक्त
समीरिय	८।६२	समीरित	प्रेरित
समुक्कस	५।२।३०, ८।३०, १०।१८	सम्+उत्+कृष्	अभिमान करना
समुद्धर	१०।१४	सम्+उद्+हृ	उद्धार करना
समुपेहिया	७।५५	समुत्प्रेक्ष्य	विचार कर
समुप्पन्न	७।४६	समुत्पन्न	उत्पन्न
समुप्पेह	७।३, ८।७	समुत्प्रेक्ष्य	विचार कर
समुयाण	५।२।२५, ६।३।४, चू०२।५	समुदान	भिक्षा
समुवे	६।२।१	सम्+उप+इ	निकलना, उगना
समुस्सय	६।१६	समुच्छ्रय	राशि
समोसढ	६।१	समवसृत	आया हुआ, प्रवेश किया हुआ
सम्म	४।६, ५।१।६१, ६।४।सू०४, चू०१।सू०१, चू०२।१३	सम्यक्	भलीभाति
सम्मद्दमाण	५।१।२६	सम्मर्दयत्	कुचलता हुआ
सम्मद्दिट्ठि	४।२८, १०।७	सम्यग्दृष्टि	सम्यक्दर्शी
सम्मद्दिया	५।२।१६	सम्मृद्य	कुचलकर
सम्मय	८।६०	सम्मत	सम्मत
सम्माण	५।२।३५	सम्मान	आदर
सम्मुच्छिम	सू०४।सू०८	सम्मूर्च्छिम	बीज वोये बिना उगने वाली वनस्पति
	४।सू०६	,,	जहाँ कही उत्पन्न होने वाला जीव
सय	५।१।६, ७।५५	सत्	सज्जन
सय	४।सू० १० से १६,५।२।३३	स्वय	अपने आप
सय	४।श्लो०७,८, ७।४७, ८।१३	शी	सोना
सयण	२।२, ५।२।२८, ७।२६, चू०२।८	शयन	शय्या
	८।५१	,,	शयन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सयमाण	७।२।२ ४	शयान	सोता हुआ
सयय	५।२।३८ ८।४० ९।१।१३ ९।३।१३ १५, चू०२।१६	सतत	निरन्तर
सयल	६।४	सकल	सम्पूर्ण
सया	१।१ ४।२८ ५।१।१४ ५।२।२५, ७।५५, ५६, ८।३२,४१ ६१, ९।३।९,१० ९।४।सू ५।श्लो ४; १०।३ ६,७ २१	सदा	सदा
सरीर	१।१२ चू०१श्लो०१६	शरीर	शरीर
सरीसिव	७।२२	सरीसृप	सांप
सलागा	४।सू १८	शलाका	लोहे या काठ की सलाई
सविज्जविज्जा	६।६६	स्वविद्यविद्या	आत्म-विद्या का ज्ञान
सव्व	१।१०	सर्व	सब
सव्वओ	६।३२ ७।१	सर्वतस्	सबसे
सवक्कसुद्धि	७।५५	सद्वाक्यशुद्धि स्ववाक्य-शुद्धि	वाणी की पवित्रता वाणी का परिमार्जन
सव्वत्तग	७।२१ २२	सर्वत्रग	सर्वत्रगामी सबको जानने वाला
सव्वत्थ	६।२१ ७।४४	सर्वत्र	सब जगह
सव्वभाव	८।१६	सर्वभाव	सिद्धान्त के अनुसार, सर्वथा
सव्वसो	७।१ ८।४७ ९।४श्लो ७	सर्वशस्	सब तरह से
सव्वुक्कस	७।४३	सर्वोत्कर्ष	सबसे उत्कृष्ट
ससक्ख	५।२।३६	स्वसाक्ष्य	वीतराग की साक्षी-सहित
ससरक्ख	४।सू १८ ५।१।७ ३३ ८।५	ससरक्ष	सजीव रजयुक्त
ससार	७।३५	ससार	भाग्य-कण-सहित
ससि	९।१।१५	शशि	शशांक, चन्द्र
ससिणिद्ध	४।सू १९ ५।१।३३	सस्निग्ध	स्नेह-युक्त जिसमें बूंदें न टपकती हों वैसा गीला
सह	१०।११	सह	सहने वाला
सह	९।३।६ ८ १ ।११	सह्	सहना
सहाय	चू २।१	सहाय	सहारा
सहेउं	९।३।६	सोढुम्	सहन करने के लिये
सहेत्तु	३।१४	सहित्वा	सहन करके
साइ	चू १।सू १	साति	माया-प्रधान
साइम	४।सू १६, ५।१।४७ ४९,५१ ५३ ५७ ५९,६१ ५।२।२८ १ ।८ ९	स्वाद्य	मेवा आदि

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सागर	६।३।१४	सागर	समुद्र
सागरोवम	चू०१।श्लो०१५	सागरोपम	दश कोडा कोडि पल्योपम परिमितकाल
साण	५।१।१२,२२	श्वन्	कुत्ता
	७।१६	,,	अपमान-सूचक शब्द
साणी	५।१।१८	शाणी	सन की बनी हुई चिक
सामत	५।१।९,११	सामन्त	निकट
सामणिय	७।५६,१०।१४	श्रामण्य	साधुत्व
सामण्ण	२।१,४।२८,५।१।१०,५।२।३०, चू०१।श्लो०९		,,
सामण्णपुव्वय	२	श्रामण्यपूर्वक	दशवैकालिक का दूसरा अध्ययन
सामिणी	७।१६	स्वामिनी	पूजनीया स्त्री
सामिय	७।१९	स्वामिक	पूजनीय व्यक्ति
सामुद्द	३।८	सामुद्र	समुद्र का नमक
साय	४।२६	सात	सुख
सायग	४।२६	स्वादक, शायक	स्वाद लेने वाला, सोने वाला
सारक्ख	५।२।३६	सरक्षत्	रक्षा करता हुआ
सारिस	चू०१।श्लो०१०	सदृश	समान
साला	७।३१	शाला	शाखा
सालुय	५।२।१८	शालूक	कमल का कन्द
सावज्ज	६।३६,६६,७।४०,४१,५४,चू०१।सू०१	सावद्य	पाप-सहित
सासय	४।२५,६।४।श्लो०७	शाश्वत	ध्रुव
सासय	७।४	स्वाशय	अपना अभिप्राय
सासवनालिआ	५।२।१८	सर्षपनालिका	सरसो की नाल
साहट्टु	५।१।३०	सहृत्य	लाकार
साहण	५।१।९२	साधन	साधन
साहम्मिय	१०।९	साधर्मिक	समान आचार वाला साधु, सविभागी साधु
साहस	९।२।२२	साहस	उतावली करने वाला
साहा	४।सू०२१,६।३७,८।९,९।२।१	शाखा	डाल
साहारण	चू०१।सू०१	साधारण	सामान्य
साहीण	२।३	स्वाधीन	स्वतन्त्र
साहु	१।३,५,५।१।५,९२,९४,९५,९६,५।२।४३, ६।१२,७।४८,४९,८।५२,९।३।११,चू०२।४	साधु	मुनि
सिअ	४।सू०२१	सित	श्वेत चवर
सिंगवेर	३।७,५।१।७०	श्रृगवेर	अदरक

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सिंघाण	८।१८	शिङ्घाण	नाक का मैल
सिंच	८।१९	सिच्	सींचना
सिंधव	३।८	सैन्धव	सिन्धु के पहाड़ की तलहटी में होने वाला खनिज नमक
सिंबलि	५।१।७३	शिम्बी	सेमल की फली
सिक्ख	७।१ ६।१।१ १२	शिक्षस्	सीखना
सिक्खमाण	९।२।१४	शिक्षमाण	सीखता हुआ
सिक्खा	६।३ ९।२।१२ २१	शिक्षा	शिक्षा
सिक्खिऊण	५।२।५	शिक्षित्वा	सीखकर
सिग्घ	९।२।२	श्लाघ्य	प्रशंसनीय
सिज्झ	३।१४	सिध्	सिद्ध होना
सिणाण	३।२ ५।१।२५,६।६० ६।६३	स्नान	स्नान स्नान करने का एक गंध-चूर्ण
सिणाय	६।६२	स्ना	स्नान करना
सिणायंत	६।६१	स्नात्	स्नान करता हुआ
सिणेह	८।१५	स्नेह	अत्यन्त सूक्ष्म जलकण
सित्त	९।२।१२	सिक्त	सींचा हुआ
सिद्ध	४।२५,९।४श्लो ७	सिद्ध	मुक्त
सिद्धि	४।२४ २५,६।६८-९।१।१७	सिद्धि	मोक्ष
सिद्धिमग्ग	३।१५,८।३४	सिद्धिमार्ग	मुक्ति का मार्ग
सिप्प	९।२।१३ १५	शिल्प	कला आदि कर्म कारीगरी
सिया	२।७-५।१।२८ ४ ७४ ८२,८७-५।२।१२ ११ १३ ६।१८,५२,७।२८-८।६,२५ ४५ ९।१।७ ९	स्यात्	कदाचित्
सिर	९।१।८ १२	शिरस्	माथा
सिरी	९।२।४-चू १श्लो १२	श्री	लक्ष्मी
सिला	४।१८-५।१।६६,८।४ ८।६	शिला	चट्टान ओला
सिलेस	५।१।४५	श्लेष	चपड़ी आदि संधानक द्रव्य
सिलोग	९।४सू ४ ५,६,७चू०१सू०१ ९।४सू ६,७	श्लोक	श्लोक छन्द का एक भेद प्रशंसा
सिव	७।५१	शिव	शिव
सिहि	९।१।३	शिखिन्	अग्नि

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सीईभूय	८।५६	शीतीभूत	प्रशान्त
सीओदय	६।५१,८।६,१०।२	शीतोदक	ठण्डा पानी
सीय	६।६२,७।५२,८।२७	शीत	ठण्डा
सील	६।१।१४,१६	शील	शील
सीस	४।सू०२३,६।१।१६	शीर्ष	माथा
सीह	६।१।८,९	सिंह	सिंह
सु	८।५४	सु	श्रेष्ठ
सुअलकिय	८।५४	स्वलकृत	आभूषण से सुसज्जित
सुइ	८।३२	शुचि	पवित्र
सुउद्धर	६।३।७	सूद्धर	जो सुविधापूर्वक निकाला जा सके
सुए	१०।८	श्वस्	आगामी दिन
सुकड	७।४१	सुकृत	वहुत अच्छा किया
सुक्क	५।१।९८	शुष्क	सूखा
सुक्कीय	७।४५	सुक्रीत	अच्छा खरीदा हुआ
सुगध	५।२।१	सुगन्ध	प्रिय गन्ध वाला
सुग्गइ	४।२६,२७	सुगति	सुगति
सुछिन्न	७।४१	सुछिन्न	वहुत अच्छा छेदा हुआ
सुट्ठिअप्प	३।१,६।१।१३	सुस्थितात्मन्	सयम मे स्थिर आत्मा वाला
सुण	५।१।४७,५।२।३७,४३,६।४,६,६।१।२०	श्रु	सुनाना
सुणित्तु	चू०२।१	श्रुत्वा	सुनकर
सुतित्था	७।३६	सुतीर्था	अच्छे घाट वाली
सुतोसअ	५।२।३४	सुतोषक	सहजतया तृप्त होने वाला
सुत्त	४।सू०१८ से २३,६।१।८	सुप्त	सोया हुआ
सुत्त	१०।१५,चू०२।११	सूत्र	आगम
सुदसण	चू०१।श्लो०१७	सुदर्शन	मेरु पर्वत
सुदुलह	५।२।४८	सुदुर्लभ	अत्यन्त दुर्लभ
सुद्ध	५।१।५६	शुद्ध	निर्दोष
सुद्धपुढवी	८।५	शुद्ध पृथ्वी	सचित्त पृथ्वी, जो विरोधी शस्त्र द्वारा विकार-प्राप्त न हो
सुद्धागणि	४।सू०२०	शुद्धाग्नि	इन्धन-रहित अग्नि, धूम और ज्वाला-रहित अग्नि
सुद्धोदग	४।सू०१९	शुद्धोदक	अन्तरिक्ष-जल
सुनिट्ठिय	७।४१	सुनिष्ठित	वहुत अच्छा निष्पन्न हुआ
सुनिसिय	१०।२	सुनिशित	तीक्ष्ण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सुपक्क	७।४१	सुपक्व	बहुत अच्छा पकाया
सुपन्नत्त	४सू १ से ३	सुप्रज्ञप्त	सम्यक् आचरित
सुप्पणिहिंदिय	५।२।५०	सुप्रणिहितेन्द्रिय	समाहित इन्द्रिय वाला
सुभासिय	२।१०,९।१।१७;९।३।१४	सुभाषित	सुभाषित
सुमिण	८।५	स्वप्न	स्वप्न-फल
सुय	४सू०१,८।२ २१ ९।४सू०१	श्रुत	सुना हुआ
	चू २।१		
	८।२० ६३,९।१।३ १४ १६,९।२।२,९।४		आगम
	सू ३ ५श्लो ३ १ ।१६		
सुयक्खाय	४सू०१ २,३	स्वाख्यात	भलीभाँति कहा हुआ
सुयग्गाहि	९।२।१६	श्रुत-ग्राहिन्	आगम ज्ञान पाने का इच्छुक
सुयत्थधम्म	९।२।२३	श्रुतार्थधर्मन्	गीतार्थ बहुश्रुत
सुयसमाहि	९।४सू ३ ५ ९।४सू०५श्लो०१	श्रुत-समाधि	ज्ञान के द्वारा होने वाला आत्मिक स्वास्थ्य
सुर	९।१।१४	सुर	देवता
सुरक्खिय	चू २।१६	सुरक्षित	सुरक्षा किया हुआ
सुरा	५।२।३६	सुरा	अनाज के पिष्ट (चूर्ण) से बना हुआ मद्य
सुरुट्ठ	९।१।५	सुरुष्ट	रूठा हुआ
सुलट्ठ	७।४१	सुलष्ट	बहुत सुन्दर
सुलह	चू०१श्लो०१४	सुलभ	सुलभ
सुविक्कीय	७।४५	सुविक्रीत	अच्छा बेचा हुआ
सुविणीय	९।२।६,९,११	सुविनीत	सुविनीत
सुविसुद्ध	९।४श्लो ६	सुविशुद्ध	अत्यन्त शुद्ध
सुविहिय	चू २।३	सुविहित	जिसका आचरण विधि-विधान सम्मत हो
सुसंतुट्ठ	८।२५	सुसन्तुष्ट	सन्तुष्ट
सुसंवुड	१ ।७	सुसंवृत	संवर-युक्त
सुसमाउत्त	६।३	सुसमायुक्त	दत्तचित्त
सुसमाहिइंदिय	७।५७	सुसमाहितेन्द्रिय	वह व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ पवित्र हो
सुसमाहिय	३।१२-५।१।६,६।२६,२९,४ ४१-८।४	सुसमाहित	समाधि-युक्त चित्त वाला
	९।४श्लो ६,१ ।१५,चू २।१६		
सुस्सूस	९।१।१७;९।४सू ४	शुश्रूष	सेवा करना
सुस्सूसमाण	९।३।१ २	शुश्रूषमाण	सेवा करता हुआ
सुस्सूसा	९।२।१२	शुश्रूषा	सेवा
सुह	७।२६-९।२।६,९, ११ १ ।११-चू २।१	सुख	सुख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सुहड	७।४१	सुहृत	बहुत अच्छा हरण किया हुआ
सुहर	८।२५	सुभर	अल्पाहार से तृप्त होने वाला
सुहावह	६।३,६।४।श्लो०६	सुखावह	हितकर
सुहि	२।५	सुखिन्	सुखी
सुहुम	४।सू०११,६।२३,६१,८।१३,१४,१५	सूक्ष्म	सूक्ष्म
सूइय	५।१।९८	सूपिक	मसालायुक्त, व्यजन
सूइया	५।१।१२	सूतिका	नव प्रसूत
सूर	८।६१	शूर	सुभट योद्धा
से	४।सू०६,११ से १६, १८ से २३	देशी अव्यय	वाक्य वा उपन्यास
सेज्जा	५।१।८७,५।२।२,६।४७,८।१७,५२, ६।२।१७,६।३।५,चू०२।८	शय्या	उपाश्रय
	४।सू०२३	,,	शरीर-प्रमाण बिछौना
सेज्जायर पिंड	३।५	शय्यातर पिंड	साधु जिसके घर मे रहे, उसका आहार
सेट्ठि	चू०१।श्लो०५	श्रेष्ठिन्	सेठ
सेडिया	५।१।३४	सेटिका	खड़िया मिट्टी
सेणा	८।६१	सेना	सेना
सेय	२।७,४।सू०१,२,३	श्रेयस्	कल्याण
सेव	४।सू०१४,५।२।३४,८।६	सेव्	सेवन करना
सेवत	४।सू०१४	सेवमान	सेवा करता हुआ
सेविय	६।३७,६६	सेवित	सेवा पाया हुआ
सेलेसी	४।२३,२४	शैलेशी	मेरु पर्वत की भाँति अडोल, अयोगी अवस्था
सेस	५।१।३६,चू०२।१२	शेष	बचा हुआ
सोउमल्ल	२।५	सौकुमार्य	सुकुमारता
सोअ	५।२।६	शुच्	सोच करना
सोडिया	५।२।३८	शौण्डिता	मदिरा-पान की आसक्ति, उन्मत्तता
सोक्ख	८।२६,चू०१।श्लो०११	सौख्य	सुखकर
सोग्गइ	५।१।१००,८।४३	सुगति	सुगति
सोच्चा	२।१०,४।११,५।१।५६,७६	श्रुत्वा	सुनकर
सोच्चाण	६।१।१७,६।३।१४	,,	,,
सोच्चाण	८।२५	,,	,,
सोय	६।२।३	स्रोतस्	प्रवाह
सोरट्ठिया	५।१।३४	सौराष्ट्रिका	सौराष्ट्र की मिट्टी, गोपी चन्दन
सोवक्केस	चू०१।सू०१	सोपक्लेश	कष्ट या चिन्तापूर्ण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सोवच्चल	३।८	सौवर्चल	संचल नमक
सोह	५।१।१५	शुभ्	शोभित होना
सोहि	५।२।५	शोधि	शुद्धि
		ह	
हं	चू १।सू०१	हम्	संबोधक अव्यय
हंदि	६।४	देशी	आमंत्रण अर्थक अव्यय
हड	२।९	हड	जलकुम्भी एक जलज वनस्पति
हण	६।९-८।२८	हन्	मारना
हत्थ	४सू १८ २१	हस्त	समूह, हाथा
	४सू०२१ २३-५।१।३२ ३५,३६,६८ ८२ ८।४४ ५५,१ ।१५		हाथ
हत्थग	५।१।७८	हस्तक	हाथ
	५।१।८३		मुख-वस्त्रिका
हत्थि	चू १।श्लो०७	हस्तिन्	हाथी
हय	५।१।१२ ५।२।५,६-चू०१।सू०१	हय	घोड़ा
हय	१ ।१३	हत	पीटा गया
हरतणुग	४सू १९	देशी	भूमि को भेदकर निकले हुए जल-बिन्दु
हरिय	४सू २२-५।१।३ २६,२९,५७-५।२।१९ ८।११ १५,१ ।२	हरित	दूब आदि घास
हरियाल	५।१।३३	हरिताल	हरताल
हल	७।१९	हल	मित्र को सम्बोधित करने का एक शब्द
हला	७।१६	हला	सखी को सम्बोधित करने का एक शब्द
हव	८।२४ २९ ९।३।७-१ ।११ ६,१३ चू १।श्लो १७ चू०२।७	भू	होना
हव्ववाह	६।३४	हव्यवाह	अग्नि
हसंत	५।१।१४	हसत्	हँसता हुआ
हस्सकुहअ	१ ।२	हास्यकुहक	हँसाने के लिये कुतूहलपूर्ण चेष्टा करने वाला
हाअ	८।३५,४	हा	क्षीण होना
हाणि	चू २।९	हानि	हानि
हालहल	५।१।१७	हलाहल	तीव्र विष
हाव	८।४	हापय्	त्यागना, छुड़ाना
हास	४सू १२	हास	हास्य

ूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
ासमाण	७।५४	हसत्	हसता हुआ
ङ्गुलय	५।१।३३	हिंगुलक	हिंगुल
ङ्स	४।श्लो०१,५।१।५,६।२६,२७,२९,३०, ४०,४१,४३,४४,८।१२	हिंस्	हिंसा-कारक
ङ्सग	६।११	हिंसक	हिंसा करना
ङ्म	४।सू०१९,८।६	हिम	पाला तुषार
ङ्य	४।सू०१७,५।१।९४,७।५६,८।३६,४३, ९।४।सू०४श्लो०२, ९।४।श्लो०६,१०।२१	हित	हित, सुख
ोणपेसण	९।२।२३	हीनप्रेषण	गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन करने वाला
ोल	९।१।२,९।३।११,चू०१श्लो०१२	हेलय्	अवज्ञा करना
ोलणा	९।१।७,९	हीलना	अवज्ञा, निन्दा
ोलयत	९।१।४	हीलयत्	अवज्ञा करता हुआ
ोलिय	९।१।३	हीलित	तिरस्कृत
	२।३	खलु	निश्चय
	७।१९	हे	सम्बोधन
उ	५।१।९२,९।२।२०,९।४।सू०७	हेतु	कारण
ट्ठ	चू०१।श्लो०१३	अधस्	नीचा
मत	३।१२	हेमन्त	हेमन्त ऋतु
ो	२।५,८,४।श्लो०१ से ६,४।२५,५।१।९, ५७,५९,८०,९१,९४,५।२।१२,३२, ६।६०, ७।२९,५०,५१, ८।१।१४, १०।४, चू०१।सू०१, चू०१।श्लो०२ से ६, चू०२।४	भू	होना
ो	७।१९	हो	सम्वोधन-सूचक
ोउकाम	चू०२।२	भवितुक	मुक्त होने की इच्छ
ोयव्वय	८।३	भवित	होना
ोल	७।१४,१९	देशी	पु०, अपमान
ोला	७।१६	देशी	स्त्री०, अपमान

परिशिष्ट-२

टिप्पणि-अनुक्रमणिका

टिप्पणियों का अनुक्रम

परिशिष्ट-३

पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-३

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-४
सूक्त और सुभाषित

सूक्त और सुभाषित

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं । (१।१)

धर्म सबसे बडा मगल है।

देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो । (१।१)

उसे देवता भी वन्दना करते है, जिसका मन धर्म मे रमता है।

कहं न कुज्जा सामण्णं
जो कामे न निवारए। (२।१)

वह क्या श्रमण होगा जो कामनाओं को नही छोडता ?

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ (२।२)

जो वस्त्र, गध, अलकार, स्त्रियों और पलगो का परवश होने से (या उनके अभाव मे) सेवन नही करता, वह त्यागी नही कहलाता।

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ (२।३)

त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है।

न सा महं नोवि अहं पि तीसे।
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ (२।४)

वह मेरी नही है, मैं उसका नही हूँ—इसका आलम्बन ले राग का निवारण करे।

आयावयाही चय सोउमल्ल
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराए ॥ (२।५)

अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर। काम—विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप क्रान्त होगा। (सयम के प्रति) द्वेष-भाव को छिन्न कर। (विषयों के प्रति) राग-भाव को दूर कर। ऐसा करने से तू ससार मे सुखी होगा।

वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे। (२।७)

वमन पीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥ (४।७)

कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो।

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥ (४।८)

यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खडा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पाप-कर्म का बन्धन नही करता।

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥ (४।९)

जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवो को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसके पाप-कर्म का बन्धन नही होता।

पढमं नाणं तओ दया। (४।१०)

आचरण से पहले जानो। पहले ज्ञान है फिर दया।

अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय पावग। (४।१०)

अज्ञानी क्या करेगा जो श्रेय और पाप को भी नहीं जानता।

सोच्चा जाणइ कल्लाण सोच्चा जाणइ पावग।
उभयं पि जाणई सोच्चा जं छेयं तं समायरे ॥ (४।११)

जीव सुन कर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमे जो श्रेय है, उसी का आचरण करे।

नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥ (७४६)

ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न-सयम और तप मे रत—इस प्रकार गुण-समायुक्त सयमी को ही साधु कहे।

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया।
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ॥ (७५६)

वाणी के दोष और गुण को जानो। जो दोषपूर्ण हो, उसका प्रयोग मत करो।

वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं। (७५६)

हित और अनुकूल वचन बोलो।

धुवं च पडिलेहेज्जा। (८१७)

शाश्वत की ओर देखो।

ण य रूवेसु मण करे। (८१६)

रूप मे झपा मत लो।

मियं भासे। (८१६)

कम बोलो।

बहुं सुणेइ कण्णेहिं बहु अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८२०)

वह कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिये उचित नही।

न य भोयणम्मि गिद्धो। (८२३)

जिह्वा-लोलुप मत बनो।

आसुरत्तं न गच्छेज्जा। (८२५)

क्रोध मत करो।

देहे दुक्खं महाफलं। (८२७)

जो कष्ट आ पडे, उसे सहन करो।

मियासणे। (८२६)

कम खाओ।

सुयलाभे न मज्जेज्जा। (८३०)

ज्ञान का गर्व मत करो।

से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाण बीयं तं न समायरे ॥ (८३१)

जान या अजान मे कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे।

अणायारं परक्कम्म।
नेव गूहे न निण्हवे (८३२)

अपने पाप को मत छिपाओ।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे ॥ (८३५)

जब तक जरा-पीडित न करे, व्याधि न बढे और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

कोह माण च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चतारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ॥ (८३६)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारो दोषों को छोडे।

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥ (८३७)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रो का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं माण मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥ (८३८)

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

राइणिएसु विणयं पउंजे। (८४०)

बडो का सम्मान करो।

निद्दं च न बहुमन्नेज्जा। (८४१)

नीद को बहुमान मत दो।

बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा। (८४३)

बहुश्रुत की उपासना करो।

अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ॥ (८४६)

बिना पूछे मत बोलो, बीच मे मत बोलो।

पिट्ठिमंसं न खाएज्जा। (८४६)

—ली मत करो।

जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं॥ (४।१२)

जो जीवों को भी नहीं जानता अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा ?

जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं॥ (४।१३)

जो जीवों को भी जानता है अजीवों को भी जानता है वही जीव और अजीव दोनों को जानने वाला संयम को जान सकेगा।

वच्चमुत्तं न धारए। (५।१।१९)

मल-मूत्र का वेग मत रोको।

अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा॥ (५।१।९२)

कितना आश्चर्य है—जिन भगवान् ने साधुओं को मोक्ष साधना के हेतु-भूत संयमी शरीर की धारणा के लिये निरवद्य-वृत्ति का उपदेश किया है।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गइं॥ (५।१।१००)

मुधादायी दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

काले कालं समायरे। (५।२।४)

हर काम ठीक समय पर करो।

अलाभो त्ति न सोएज्जा
तवो त्ति अहियासए। (५।२।६)

न मिलने पर चिन्ता मत करो, उसे सहज तप मानो।

अदीणो वित्तिमेसेज्जा। (५।२।२६)

मुँहलाज मत बनो।

जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे। (५।२।३)

सम्मान न मिलने पर क्रोध और मिलने पर गर्व न करो।

पूयणट्ठी जसोकामी माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वई॥ (५।२।३५)

यह पूजा का अर्थी यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य का आचरण करता है।

पणीयं वज्जए रसं। (५।२।४२)

विकार बढ़ाने वाली वस्तु मत खाओ।

मायामोसं विवज्जए। (५।२।४६)

झूठ-कपट से दूर रहो।

न भूयं न भविस्सई। (६।५)

न ऐसा हुआ है और न ऐसा होगा।

अहिंसा निउणा दिट्ठा
सव्वभूएसु संजमो। (६।८)

सब जीवों के प्रति जो संयम है वही अहिंसा है।

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ (६।१०)

सभी जीव जीना चाहते हैं मरना नहीं। इसलिये प्राण-वध को भयानक जान कर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

न ते सन्निहिमिच्छन्ति नायपुत्तवओरया। (६।१७)

भगवान् महावीर को मानने वाले संचय करना नहीं चाहते।

जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से। (६।१८)

जो संग्रह करता है वह गृही है साधक नहीं।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। (६।२)

मूर्च्छा ही परिग्रह है।

अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं। (६।२१)

अपने शरीर के प्रति भी ममत्व मत रखो।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो। (७।११)

वैसा सत्य भी मत बोलो, जिससे पाप लगे, दूसरों का दिल दुखे।

बहवे इमे असाहू लोए वुच्चन्ति साहुणो।
न लवे असाहुं साहु त्ति साहुं साहु त्ति आलवे॥ (७।४८)

ये बहुत सारे असाधु लोक में साधु कहलाते हैं। असाधु को साधु न कहे जो साधु हो उसी को साधु कहे।

नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥ (७४६)

ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न-सयम और तप मे रत—इस प्रकार गुण-समायुक्त सयमी को ही साधु कहे।

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया।
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ॥ (७५६)

वाणी के दोष और गुण को जानो। जो दोपपूर्ण हो, उसका प्रयोग मत करो।

वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं। (७५६)

हित और अनुकूल वचन वोलो।

धुवं च पडिलेहेज्जा। (८१७)

शाश्वत की ओर देखो।

ण य रूवेसु मण करे। (८१६)

रूप मे भपा मत लो।

मियं भासे। (८१६)

कम वोलो।

वहु सुणेइ कण्णेहिं वहु अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८२०)

वह कानो से वहुत सुनता है, आँखों से वहुत देखता है। किन्तु सव देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिये उचित नही।

न य भोयणम्मि गिद्धो। (८२३)

जिह्वा-लोलुप मत वनो।

आसुरत्तं न गच्छेज्जा। (८२५)

क्रोध मत करो।

देहे दुक्खं महाफलं। (८२७)

जो कष्ट आ पडे, उसे सहन करो।

मियासणे। (८२६)

कम खाओ।

सुयलाभे न मज्जेज्जा। (८३०)

ज्ञान का गर्व मत करो।

से जाणमजाण वा कट्टु आहम्मियं पयं।
सवरे खिप्पमप्पाण वीयं तं न समायरे ॥ (८३१)

जान या अजान मे कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे।

अणायारं परक्कम्म।
नेव गूहे न निण्हवे (८३२)

अपने पाप को मत छिपाओ।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे ॥ (८३५)

जव तक जरा-पीडित न करे, व्याधि न वढे और इन्द्रियाँ क्षीण न हो, तव तक धर्म का आचरण करे।

कोह माण च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ॥ (८३६)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को वढाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारो दोषों को छोडे।

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥ (८३७)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रो का विनाश करती है और लोभ सव (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं माण मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥ (८३८)

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

राइणिएसु विणयं पउंजे। (८४०)

वडों का सम्मान करो।

निद्दं च न वहुमन्नेज्जा। (८४१)

नीद को बहुमान मत दो।

वहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा। (८४३)

वहुश्रुत की उपासना करो।

अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ॥ (८४६)

बिना पूछे मत बोलो, बीच मे मत बोलो।

पिट्ठिमंसं न खाएज्जा। (८४६)

चुगली मत करो।

अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं ॥ (८।४७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं ॥ (८।४८)

आत्मवान् दृष्ट, परिमित असंदिग्ध प्रतिपूर्ण व्यक्त, परिचित वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले।

आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी ॥ (८।४९)

वाक्य-रचना के नियमों को तथा प्रज्ञापना की पद्धति को जानने वाला और नयवाद का अभिज्ञ मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने वचन लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जान कर भी मुनि उसका उपहास न करे।

गिहिसंथवं न कुज्जा। (८।५२)

गृह से परिचय मत करो।

कुज्जा साहूहिं संथवं। (८।५२)

भलों की संगत करो।

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥ (८।५५)

जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए। (९।१।६)

बड़ों की अवज्ञा करने वाला मुक्ति नहीं पाता।

जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥ (९।१।१२)

जिसके समीप धर्मपदों की शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर, (पंचांग वन्दन कर) काया वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

लज्जा दया संजम बंभचेरं।
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ॥ (९।१।१३)

विशोधी के चार स्थान हैं—लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्य।

सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो। (९।१।१७)

आचार्य की शुश्रूषा करो।

धम्मस्स विणओ मूलं। (९।२।२)

धर्म का मूल विनय है।

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ (९।२।२१)

अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति है—ये दोनों जिसे ज्ञात है वही शिक्षा को प्राप्त होता।

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। (९।२।२२)

संविभाग के बिना मुक्ति नहीं।

आयारमट्ठा विणयं पउंजे। (९।३।२)

चरित्र-विकास के लिये अनुशासित बनो।

नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई। (९।३।३)

सत्य का शोधक नम्र होता है।

वक्ककर स पुज्जो। (९।३।३)

अनुशासन मानने वाला ही पूज्य होता है।

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ (९।३।७)

लोहमय कांटे अल्पकाल तक दु:खदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचन रूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू। (९।३।११)

साधु और असाधु गुण से होता है जन्म से नहीं।

गिण्हाहि साहुगुण मुंचऽसाहू। (९।३।११)

साधु बनो असाधु नहीं।

सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं एकाग्रचित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं आत्मा को धर्म मे स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं धर्म मे स्थिर होकर दूसरो को उसमे स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। (९।४।सू०६)

(१) इहलोक के निमित्त तप नही करना चाहिए। (२) परलोक के निमित्त तप नही करना चाहिए। (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नही करना चाहिए। (४) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए।

निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा। (१०।१)

सदा प्रसन्न (आत्म-लीन) रहो।

वंत नो पडियायई। (१०।१)

वमन को मत पीओ।

अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए। (१०।५)

सबको आत्म-तुल्य मानो।

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा। (१०।१०)

कलह को बढाने वाली चर्चा मत करो।

समसुहदुक्खसहे। (१०।११)

सुख-दुःख मे समभाव रखो।

न सरीरं चाभिकंखई। (१०।१२)

शरीर मे आसक्त मत बनो।

पुढवि समे मुणी हवेज्जा। (१०।१३)

पृथ्वी के समान सहिष्णु बनो।

न रसेसु गिद्धे। (१०।१७)

स्वाद-लोलुप मत बनो।

न परं वएज्जासि अयं कुसीले। (१०।१८)

दूसरों को बुरा-भला मत कहो।

अत्ताणं न समुक्कसे। (१०।१८)

अहकार मत करो।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते। (१०।१९)

जाति, रूप, लाभ और श्रुत का गर्व मत करो।

पत्तेयं पुण्णपावं। (चू०१।सू०१ स्था०१५)

पुण्य और पाप अपना-अपना है।

मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले। (चू०१।सू०१ स्था०१६)

यह मनुष्य-जीवन कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की तरह चचल है।

देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं।
रयाण अरयाणं तु महानिरयसारिसो॥ (चू०१।१०)

सयम मे रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है। और जो सयम मे रत नही होते उनके लिए वही महानरक के समान दुःखद होता है।

संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई। (चू०१।१३)

आचार-भ्रष्ट की दुर्गति होती है।

न मे चिरं दुक्खमिण भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे॥ (चू०१।१६)

यह मेरा दुःख चिरकाल तक नही रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जाएगी।

चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं। (चू०१।१७)

शरीर को छोड दो पर धर्म को मत छोडो।

अणुसोओ संसारो। (चू०२।३)

जो लुभावना है, वह ससार है।

पडिसोओ तस्स उत्तारो। (चू०२।३)

प्रतिस्रोत मोक्ष का पथ है—प्रवाह के प्रतिकूल चलना मुक्ति का मार्ग है।

असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा। (चू०२।९)

संक्लेश न करने वालों के साथ रहो।

संपिक्खई अप्पगमप्पएणं। (चू०२।१२)

आत्मा से आत्मा को देखो।

तम्हाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं। (चू०२।१५)

वही प्रतिबुद्ध जीवी है, जो संयम से जीता है।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो।
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥ (चू०२।१६)

सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।